GURUKUL SHODH BHARTI

No. 11 - 12 2011 Mar. Sep.

॥ ओ३म् ॥

ISSN 0974-8830

गुरुकुल-शोध-भारती

मूल्यांकित शोधपत्रिका

A REFEREED RESEARCH JOURNAL

अंक ११ मार्च, २००९

सम्पादक

प्रो. ज्ञान प्रकाश शास्त्री
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
श्रद्धानन्द वैदिक शोध-संस्थान

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-249404

ISSN 0974 – 8830

ओ३म्

गुरुकुल-शोध-भारती

मूल्याङ्कित शोधपत्रिका

(A Refereed Research Journal)

अंक ११, मार्च २००९

सम्पादक

प्रो. ज्ञानप्रकाश शास्त्री
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
श्रद्धानन्द वैदिक शोध-संस्थान

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-249404

एक प्रति का मूल्य रु० ७५.०० पचहत्तर रुपये

वार्षिकमूल्य रु०१५०.०० एक सौ पचास रुपये

पञ्च-वार्षिकमूल्य रु०५००.०० पाँच सौ रुपये (ग्राहक बनने हेतु पुस्तकालयाध्यक्ष, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार, से सम्पर्क अथवा **कुलसचिव, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार**, के नाम धनादेश प्रेषित करें।) दूरभाष:-01334-243037

विषयानुक्रमणिका

विश्वशान्ति का वैदिक दर्शन

प्रो. ज्ञान प्रकाश शास्त्री[१]

जिस दिन से मानव ने इस धरा पर जन्म लिया है, वह समस्याओं से ग्रस्त रहा है और जब वह इस संसार से विदा से होता है, तब भी उसे समस्याओं से मुक्ति नहीं मिलती। जीवन की पहेली आज जितनी उलझी हुई है, उससे कम आदिकाल में भी कभी नहीं रही। कहने का आशय यह है कि मानव के साथ समस्याओं का चोली-दामन का साथ है। इसलिये इस विषय पर चिन्तन भी होता रहा है और उसके समाधान भी प्रस्तुत किये जाते रहे हैं।

पुरातन काल से ही जीवन को देखने के दो दृष्टिकोण रहे हैं-एक नियतिवादी और दूसरा पुरुषार्थवादी। नियतिवादी यह मानता है कि जीवन में जो कुछ भी घटित होता है, वह पूर्व से निर्धारित है। भविष्य पहले से नियत है, हम लोग उसके अनुसार चलने के लिये विवश हैं। परिणामत: वह शान्त होकर आने वाले कल की प्रतीक्षा करता रहता है, उसके उन्नयन के लिये प्रयत्नशील नहीं रहता। इसलिये इस पक्ष का अनुसरण करने वाले व्यक्ति और समाज निर्धन, दीन, दु:खी बने रहते हैं, क्योंकि भाग्यवादी होने के कारण यही उनकी नियति है। जिसने भी भविष्य को नियति पर छोड़ दिया, वह उसके निर्माण करने की आवश्यकता नहीं समझता। जो होना है, वह होगा ही। इसलिये ऐसे लोग भविष्य को परमात्मा पर छोड़ कर जितना भी और जो कुछ है, उसीमें आनन्द से जी लेते हैं।

दूसरा पक्ष पुरुषार्थवादियों का है। इनके लिये भविष्य अनिश्चित और परिवर्तनीय है। मनुष्य यदि प्रयास करे तो उसका भविष्य वैसा ही हो सकता है, जैसा उसने सोचा है। जैसे एक आर्किटेक्ट नक्शे के आधार पर घर बनाता है, उसी प्रकार भविष्य का भी निर्माण किया जा सकता है। जो भी व्यक्ति या समाज भविष्य को अनिश्चित मानकर चलेगा उसका अशान्त और व्यथित होना निश्चित है। उसे लगेगा कि अभी और आगे बढ़ा जा सकता है, अभी और बहुत कुछ पाया जा सकता है, अभी और आगे बढ़ने की सम्भावना है। जितना भी मिल जाये, उसे उससे तृप्ति नहीं मिलेगी। ऐसे लोगों के लिये नीतिकार कहते हैं-

जीर्य्यन्ते जीर्य्यत: केशा दन्ता जीर्य्यन्ति जीर्य्यत:।
चक्षु:श्रोत्रे च जीर्य्येति तृष्णैका तरुणायते।।[२]

वृद्ध हो जाने पर मनुष्य के केश पक जाते हैं, दाँत शिथिल होकर हिलते हैं और फिर गिर भी जाते हैं, नेत्रों के देखने की शक्ति कम हो जाती है और कान बहरे हो जाते हैं, फिर भी तृष्णा दिन-प्रतिदिन तरुण होती जाती है।

---

१. अध्यक्ष श्रद्धानन्द वैदिक शोधसंस्थान एवं सम्पादक गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.

२. पञ्चतन्त्र, अपरीक्षितकारकम्-१६

महाराज मनु भी कहते हैं-

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥ [३]

कामियों की इच्छाएँ कभी भी भोग से शान्त नहीं होतीं, अपितु जैसे घी डालने से आग और भड़कती है, वैसे भोगेच्छा और भी प्रबल होती जाती है।

यत्पृथिव्यां व्रीहियवौ हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
नालमेकेन तत्सर्वमिति मत्त्वा शमं व्रजेत्॥ [४]

संसार में जो भी उपभोग की वस्तुएँ चावल-जौ से लेकर सोना, पशु और स्त्रियाँ तक हैं, यदि मनुष्य की तृष्णा बढ़े तो ये सब एक को भी सन्तुष्ट नहीं कर सकतीं। अतः इस रहस्य को हृदयंगम करके मनुष्य को संयम और संतोष के मार्ग का अवलम्बन करना चाहिये।

मनुष्य के स्वभाव का यह सत्य बहुत पहले ही नीतिकारों ने समझ लिया था। वे जानते थे कि पुरुषार्थवादी होने का क्या परिणाम हो सकता है? इसलिये उन्होंने सावधान भी किया। वेद कहता है-

या मा लक्ष्मीः पतयालूरजुष्टाभिचस्कन्द वन्दनेव वृक्षम्।
अन्यत्रास्मत्सवितस्तामितो धा हिरण्यहस्तो वसु नो रराणः॥ [५]

संयमी और संतोषी पुरुष की पभु से प्रार्थना है कि हे प्रभो! प्रीति और सेवा के काम में न आने वाली अत एव मेरा पतन करने वाली यह लक्ष्मी मुझे इस प्रकार चिपट गयी है, जैसे आकाश बेल वृक्ष पर छा जाती है। वह बेल वृक्ष को कोई लाभ नहीं पहुँचाती, अपितु उसका रस अर्थात् जीवनतत्त्व चूसती रहती है और अन्त में उसे सुखा देती है। इसी प्रकार सेवा और प्रेम के काम न आने वाला धन पुरुष को कोई लाभ नहीं पहुँचाता। अपितु व्यर्थ का चिन्ता-भार बढ़ाकर उसकी मृत्यु का कारण बनता है।

वेद न तो पूरी तरह से नियतिवादी है और न पुरुषार्थवादी। उसमें न तो भोग की प्रधानता है और न त्याग की। इन दोनों का उचित सामञ्जस्य करते हुए वेद मनुष्य के लिये कल्याण का मार्ग प्रतिपादित करता है। वेद के विषय में मनु कहते हैं-

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता।
काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः॥ [६]

न अधिक कामना प्रशंसनीय है और न उनका सर्वथा परित्याग ही। वेद का अध्ययन भी कामना से ही हो

---

३. मनु०२.९४
४. महाभारत-१.७५.५१
५. अथर्व०७.११५.२
६. मनु०२.२.

पाता है और धार्मिक अनुष्ठान भी विना कामना नहीं हो सकते। इस प्रकार वेद की दृष्टि में संयम नियन्त्रित कामना मनुष्य के लिये अपेक्षित है।

यजुर्वेद में मनुष्य के कल्याण का मार्ग प्रशस्त करते हुए कहा गया है-

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥[७]

इस संसार के कण-कण में परमात्मा का वास है और जिसका जिसमें वास होता है, वही उसका स्वामी होता है। इसलिये इस जगत् का स्वामी परमात्मा है। यह समस्त संसार उस परमात्मा का है, इसलिये मनुष्य को त्यागभाव से भोग करना चाहिये और कभी किसी के धन की ओर ललचायी दृष्टि नहीं डालनी चाहिये।

मन्त्र की अन्तिम पङ्क्ति में वेद ने जीवन जीने की कला सिखायी है। वेद कहता है कि वस्तु का त्यागभाव से भोग और किसी अन्य के धन की इच्छा न करना ये दो सिद्धान्त मानव के जीवन में सुख और शान्ति स्थापित कर सकते हैं। आज के जीवन की विसङ्गति यही है कि हम आवश्यकता से अधिक संचय करते हैं तथा दूसरे का धन किस प्रकार हमारा हो जाए, इसके लिये अहर्निश प्रयत्नशील रहते हैं। हमने प्रबन्धन के नाम पर इस प्रकार की अध्ययन की विधाएँ चला रक्खी हैं, जिसमें दूसरे का धन किस प्रकार अपना बनाया जा सकता है। मनुष्य कहीं संयमी और शान्त न हो जाए, इसके लिये हम निरन्तर प्रयास करते रहते हैं। मनुष्य की इसी अशान्ति का शमन करने हेतु गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने कर्मसिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए कहा है-

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥[८]

हे अर्जुन! तेरा केवल कर्म करने में ही अधिकार है, फल में नहीं। तेरे मन में कभी कर्मफल की इच्छा भी न हो और तू कभी कर्म से विरत होने वाला भी न हो।

उक्त कर्मसिद्धान्त के मूल में भावना यह है कि कोई भी व्यक्ति किसी भी कर्म को एकाकी कर नहीं सकता, इसलिये फल पर उस अकेले का अधिकार नहीं है। जब समाज के प्रत्येक व्यक्ति के मन में यह धारणा स्थापित हो जायेगी कि जो आय हो रही है, उस पर मेरे साथ-साथ दूसरों का भी अधिकार है, तब अशान्ति की सम्भावना का बहुत कुछ शमन हो जाएगा। गीता ने बार-बार कई बार यह बात कही है कि मनुष्य का केवल कर्म का अधिकार है, फल का नहीं। कर्मफल से विरत करने के लिये उसने यहाँ तक कह दिया कि जो कर्म से उत्पन्न होने वाले कर्मफल का परित्याग कर देते हैं, उन्हींको मुक्ति की प्राप्ति होती है।[९]

यजुर्वेद में समग्र कर्म के सिद्धान्त को अतिसंक्षेप से प्रतिपादित करते हुए कहा है-

---

७. यजु०४०.१

८. गीता-२.४७

९. गीता-२.५१ कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः। जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥[१०]

'इस संसार में मनुष्य को निष्काम कर्म करते हुए सौ वर्ष तक जीवित रहने की कामना करनी चाहिये। इस प्रकार निष्काम कर्मों को करता हुआ मनुष्य कर्म के बन्धनों से लिप्त नहीं होता। यदि वह इससे भिन्न सकाम कर्मों को करता हुआ जीवन जीता है तो वह कर्मबन्धन के चक्र में पड़ जाता है।'

उक्त मन्त्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि मनुष्य को कर्म और वह कर्म भी निष्काम होना चाहिये। सकाम कर्म का परिणाम तत्काल तो अच्छा लगता है, लेकिन वह जन्म-मरण के बन्धन में डालने का कारण होने से त्याज्य है। इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि पुरुषार्थवादी और नियतिवादी इन दोनों धारणाओं में से कोई भी सिद्धान्त पूर्ण नहीं है। हमने देखा है कि पश्चिम जो पुरुषार्थवादी रहा है, वह समृद्ध होकर भी अशान्त है, बहुत कुछ पाकर भी वह अभी भूखा है और पूर्व की सभ्यता जो नियतिवाद के सिद्धान्त पर चल रही है, जिसने समृद्धि के दर्शन नहीं किये हैं, वह निर्धनता से उत्पन्न विपन्नता के कारण त्रस्त है। उसे लगता है कि हमारी सभी समस्याओं का समाधान पश्चिम की ओर देखने और उसका अनुकरण करने से हो सकता है।

उपर्युक्त दोनों सिद्धान्त एकाङ्गी होने से अपूर्ण हैं। मनुष्य को जहाँ एक ओर ईश्वर के प्रति समर्पित होना आवश्यक है, वहीं उसे निरन्तर कर्म करते हुए उन्नति के शिखर पर चढ़ते चले जाना है। वेद कहता है-

उद्यानं ते पुरुष नावयानं जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि।
आ हि रोहेममृतं सुखं रथमथ जिर्विर्विदथमा वदासि॥[११]

'हे पुरुष! तुझे जीवन में निरन्तर ऊपर उठना है, मैंने तेरे जीवन के लिये तुझे दक्षता प्रदान की है, हम जीवन में ऊपर उठते हुए अनश्वर सुख को प्राप्त करें। इसलिये तुझे ज्ञान दिया है।'

जीवन का लक्ष्य निरन्तर उन्नति के पथ पर आरूढ़ होना है, उसकी प्राप्ति का साधन ऐसा प्रयोगात्मक ज्ञान है, जिस पर चलकर मनुष्य मोक्ष तक की यात्रा कर सकता है। परन्तु जीवन को मात्र आदर्शों के सहारे नहीं जिया जा सकता, जीवन की वास्तविकता की अपेक्षा है कि विना अर्थ के हम जीवन में एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकते। अर्थ जीवन की मूलभूत आवश्यकता है, उसका अभाव असह्य है।

शरशय्या पर पड़े भीष्मपितामह से युधिष्ठिर ने प्रश्न किया कि आप इस समय धर्म का उपदेश दे रहे हैं, लेकिन जब द्रौपदी का चीरहरण हो रहा था, तब आपका यह धर्मज्ञान कहाँ था, इस प्रश्न के उत्तर में भीष्म पितामह कहते हैं-

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
इति सत्यं महाराज! बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः॥[१२]

---

१०. यजु०४०.२

११. अथर्व०८.१.६

'हे युधिष्ठिर! मनुष्य अर्थ का दास है, लेकिन अर्थ किसी का दास नहीं है। सब आवश्यकताओं की पूर्ति करके कौरवों ने मुझे अर्थ से बाँध लिया है। इसलिये तुम्हारा पक्ष सत्य होते हुए भी मैंने दुर्योधन के पक्ष से युद्ध किया है।' भीष्म पितामह के उक्त कथन से जीवन का यथार्थ धरातल समझ में आ जाता है। इस संसार में ऐसा कोई नहीं है, जो अर्थ का दास न हो। धन की आवश्यकता प्रत्येक मनुष्य को है। जन्म से लेकर मृत्यु तक हम सभी किसी न किसी रूप में धन पर आश्रित हैं। संस्कृत के एक नीतिकार ने धनार्जन के लिये कुछ सिद्धान्त प्रदान किये हैं, वह कहता है-

अकृत्वा परसन्तापमगत्वा खलमन्दिरम्।
अनुल्ल्यङ्घ्य सतां मार्गो यदल्पमपि तद्बहु॥[१३]

'दूसरों को विना सन्ताप पहुँचाये हुए, धनार्जन में दुष्ट का विना आश्रय लिए हुए और सज्ञनों के द्वारा स्थापित पद्धति का उल्लंघन किये विना जो मिल जाता है, वह अल्प होते हुए भी बहुत है।' केवल धन होने से शान्ति नहीं मिलती, शान्ति का सम्बन्ध धन अर्जन के साथ भी घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है। वेद में धन के लिये दो शब्द बहुधा प्रयुक्त हुए हैं-एक वसु और दूसरा रयि। जिस धन के मिलने से प्राप्त करने वाला बस जाये अर्थात् उजड़ न जाये, वह वसु है। रयि वह धन है जो देने के लिये अर्जित किया जाता है। धन के सम्बन्ध में इन दो धारणाओं को हृदयंगम करना विश्वशान्ति के लिये अपेक्षित है। आज की बात छोड़िये प्राचीनकाल में भी धनार्जन के प्रति दृष्टिकोण बहुत उचित-अनुचित के विवेक से परिपूर्ण नहीं था। भर्तृहरि के युग में धन के प्रति वही दृष्टि देखने को मिलती है, जो आज है। वे कहते हैं-

जातिर्यातु रसातलं गुणगणस्तस्याप्यधो गच्छतु
शीलं शैलतटात् पतत्वभिजनः संदह्यतां वह्निना।
शौर्ये वैरिणि वज्रमाशु निपतत्वर्थोऽस्तु नः केवलं
येनैकेन विना गुणास्तृणलवप्रायाः समस्ता इमे॥[१४]

'यदि धन मिलता हो तो जाति रसातल में चली जाये, गुणसमूह उससे भी नीचे चले जायें, श्रेष्ठ स्वभाव पर्वत से नीचे क्यों न पटकना पड़े, उच्चवंश में आग लगानी पड़े तो लगा दी जाए, शत्रुस्वरूप वीरता पर भले ही शीघ्र वज्रपात हो जाये। इस प्रकार सब कुछ भले ही नष्ट हो जाए, परन्तु केवल अर्थ की प्राप्ति हो जाए, जिसके विना ये सारे गुण तुच्छ तृण के समान हो जाते हैं।'

आज हम भी धन के लिये किसी सीमा तक गिर सकते हैं, यह प्रवृत्ति हमारी आदिम है और यही हमारी अशान्ति का कारण भी है। भले ही ऋषियों ने प्राचीन काल से ही चतुष्टय-पुरुषार्थ में अर्थ से पहले धन को स्थान दिया है। परन्तु हमारा सारा जोर अर्थ पर है, हम धर्माश्रित व्यवस्था को भूल चुके हैं। यदि धर्माश्रित अर्थ होगा तो

---

१२. महा०६.४१.३६

१३. अज्ञात

१४. भर्तृहरि, नीतिशतकम्-३८

अशान्ति के लिये कोई स्थान नहीं रह जाता है, जबकि आज अर्थाश्रित धर्म है। संभवतः जीवन में आए इसी व्यतिक्रम का संशोधन करने के लिये कुछ मनीषियों ने दीपावली पर्व पर लक्ष्मीपूजन की परम्परा का प्रारम्भ किया। दीपावली में दीपमालिका के आलोक में लक्ष्मी का आवाहन किया जाता है। इसके पीछे भाव यह है कि लक्ष्मी हमारे घरों में तो आये, परन्तु अपनी सवारी उल्लू पर बैठकर न आये। महाभारत में महर्षि व्यास ने इस सत्य को हृदयंगम कराने का प्रयास किया, जब लोग उनकी बात सुनने को तैयार नहीं हुए, तब वे चिल्लाकर उच्च स्वर से कहने लगे-

ऊर्ध्वबाहु विरोम्येष न कश्चित् शृणोति माम्।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किं नु सेव्यते।। [१५]

'हाथ ऊपर करके मैं चिल्ला रहा हूँ, लेकिन कोई मेरी सुनता नहीं है। धर्म से अर्थ और उस अर्थ से काम। हे दुनिया के लोगो! ऐसे धर्म का सेवन क्यों नहीं करते हो। हम धन का अर्जन करें, परन्तु धर्म की अवहेलना करके नहीं।' परिश्रम से अर्जित धन से सुख-शान्ति की प्राप्ति होती है। ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है-

नानाश्रान्ताय श्रीरस्ति पापो नृषद्वरो जनः।
इन्द्र इच्चरतः सखा। चरैवेति चरैवेति।। [१६]

'जो पूरी शक्ति से परिश्रम नहीं करते, उन्हें लक्ष्मी नहीं मिलती। आलसी मनुष्य पापी होता है। भगवान् श्रम करने वालों का मित्र बनता है। इसलिये श्रम करो, श्रम करो।'

आस्ते भग आसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः।
शेते निपद्यमानस्य चरति चरतो भगः।। [१७]

'बैठने वाले का भाग बैठ जाता है और जो खड़ा हो जाता है, उसका भाग्य भाग्य खड़ा हो जाता है। जो सो जाते हैं, उनका भाग्य भी सो जाता है और जो चलने लगते हैं, उनका भाग्य भी चलने लगता है। इसलिये सदा परिश्रम करो।' इस प्रकार वैदिक साहित्य में श्रम से अर्जित धन की प्राप्ति की कामना की गयी है। जहाँ विना श्रम के धन का आगम होता है, वहाँ नाना प्रकार के रोग तथा विभिन्न प्रकार की विपत्तियाँ आती रहती हैं। इसलिये श्रम की महत्ता प्रतिष्ठित की गयी है।

केवल श्रम से अर्जित धन मिल जाए, उससे समाज में शान्ति रहने वाली नहीं है। शान्ति के लिये आवश्यक है कि समाज में कोई भूखा, दरिद्र न रहे। वेद कहता है-

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी।। [१८]

---

१५. महाभारत

१६. ऐतरेय ब्राह्मण-७.१५

१७. ऐतरेय ब्राह्मण-७.१५

स्वार्थी और अविवेकी व्यर्थ ही अन्न ग्रहण करता है। तथ्य यह है कि यह उसका जीवन नहीं है, अपितु मृत्यु है। क्योंकि इस प्रकार का घोर स्वार्थी न अपना भला करता है और न मित्रों का। केवल अपने ही खाने-पीने का ध्यान रखने वाला अन्न नहीं खाता, पाप खाता है। इसी बात को गीता में बड़ काव्यमय ढ़ंग से कहा गया है-

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति।। [१९]

इस यज्ञचक्र को जो नहीं घुमाता अर्थात् जो भोग के साथ त्याग नहीं करता, वह पापी और विषयी है, और हे अर्जुन! उसका जीवन व्यर्थ है। वेद आगे कहता है-

स इद्भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय।
अरमस्मै भवति यामहूता उतापरीषु कृणुते सखायम्।। [२०]

उसीका खाना खाना है, जो घर आये भूखे को अन्न देकर स्वयं खाता है। ऐसे देने वाले के पास अन्न कभी कम नहीं होता और वह विरोधियों का भी मित्र बन जाता है।

न वा उ देवाः क्षुधमिद्वधं ददुरुताशितमुप गच्छन्ति मृत्यवः।
उतो रयिः पृणतो नोप दस्यत्युतापृणन् मर्डितारं न विन्दते।। [२१]

प्रभु ने मृत्यु का कारण केवल भूख को नहीं बनाया है, जो खाते हैं वे भी मरते हैं। देने वाले का धन नष्ट नहीं होता, अपितु वह एक प्रकार से उसकी भविष्यनिधि में जमा होता है। स्मरण रक्खो विना त्याग किये तुम अपने हितैषी नहीं बन सकते।

अर्थजन्य अशान्ति और दुःख के निवारण का प्रतिपादन करता हुआ वेद कहता है-

एन्द्र सानसिं रयिं सजित्वानं सदासहम्। वर्षिष्ठमूतये भर।। [२२]

'ऐश्वर्य का भण्डार परमात्मा हमें जीवन की रक्षा के लिये ऐसा धन प्रदान करे जिसका हम बाँटकर उपभोग करें, जो विजेता बनाने वाला हो, स्वावलम्बी बनाने में सक्षम हो तथा बहुत वर्षों तक टिकने वाला हो।' जब हम धन का बाँटकर उपभोग करते हैं तो अशान्ति का कोई कारण ही नहीं रहता। समस्त प्रकार की समस्याओं का मूल मनुष्य का व्यक्तिवादी हो जाना है। इसलिये तो वेद का ऋषि कहता है-**'केवलाघो भवति केवलादी'**[२३] एकाकी भोजन करने वाला केवल पाप खाता है। गीता इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए कहती है-

---

१८. ऋ०१०.११७.६
१९. गीता-३.१६
२०. ऋ०१०.११७.३
२१. ऋ०१०.११७.१
२२. ऋ०१.८.१
२३. ऋ०१०.११७.६

यज्ञशिष्टाशनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥[२४]

'दूसरों को खिलाकर खाने वाले सब पापों से छूट जाते हैं। जिनके घर में भोजन केवल अपने खाने के लिये बनता है, वे अन्न नहीं खाते, पाप खाते हैं।'

यदि मनुष्य आज सुखी होना चाहता है तो उसे वेद के इस सन्देश को स्वीकार करना होगा-

स्वधया परिहिता श्रद्धया पर्यूढा दीक्षया गुप्ता यज्ञे प्रतिष्ठिताः। लोको निधनम्।[२५]

कि 'हम सभी परिश्रम से उपार्जित भाग को ग्रहण करने वाले, सबके लिये हितकारी, सत्य पर आरूढ़, अच्छे-अच्छे व्रत धारण करने के संकल्प करने वाले तथा यज्ञ से प्रतिष्ठा को प्राप्त करें। इस प्रकार का आचरण करते हुए हम मृत्य पर्यन्त आनन्दपूर्वक रह सकते हैं।' यही वेद प्रतिपादित शान्ति का मार्ग।

---

२४. गीता-३.१३

२५. अथर्व०१२.५.३

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २००९ अङ्क ११ (पृ०९-१६)

शिक्षा के उद्देश्य और आयाम

स्वामी अनन्तभारती

सुख की कामना मानव की ही नहीं प्राणिमात्र की मूलकामना है। इस कामना को प्राचीन विचारकों ने ही कहीं आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक दुःखों की निवृत्ति के रूप में स्वीकार किया है[१] कहीं निःश्रेयस् के रूप में[२] कहीं अभ्युदय निःश्रेयस् की समष्टि के रूप में[३] और कहीं स्वर्ग के रूप में।[४] वैदिक ऋषियों ने भूः भुवः स्वः इन महाव्याहृतियों के रूप में इस कामना को व्यक्त किया है[५] और इसके लिए अपनी-अपनी दृष्टि से उपायों का उल्लेख किया है। आयुर्वेद के आचार्यों ने तो इसे शब्दशः स्वीकार करते हुए इसकी प्राप्ति का एकमात्र उपाय धर्माचरण बताया है:-

सुखार्थाः सर्वभूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः।
सुखञ्च न विना धर्मात्तस्माद् धर्मपरो भवेत्।[६]

महर्षि चाणक्य ने भी सुख और उसकी प्राप्ति के उपायों का निर्देश चाणक्यसूत्र के आदि में ही **सुखस्य मूलं धर्मः, धर्मस्य मूलमर्थः, अर्थस्य मूल वाणिज्यम्, वाणिज्यस्य मूलं राज्यस्य मूलम् इन्द्रिय जयः**[७] अर्थात् सुख का मूल धर्म है। धर्म के विना सुख नहीं मिलता, धर्म का मूल धन है। धन का मूल व्यापार और व्यापार का मूल राज्य है और राज्य का मूल इन्द्रियों पर विजय है, दूसरे शब्दों में भौतिक सुखों के प्रति उपेक्षा (इन्द्रियों के आकर्षण पर विजय) इन प्रारम्भिक पांच सूत्रों में किया गया है। नीतिकारों ने भी इन उपायों को विविध सुखों की प्राप्ति के लिए तो स्वीकार ही किया है और इनकी सिद्धि के लिए विद्या को, शिक्षा प्राप्ति को आवश्यक माना है:-

विद्या ददाति विनयं विनयाद् याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद् धनमाप्नोति धनाद् धर्मं ततः सुखम्॥[८]

---

१. (क) त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः। सांख्यसूत्र १.१ (ख)दुःखत्रयाभिधाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ। दृष्टे साऽपार्था चेत्रैकान्तात्यन्तयोरभावात्। दृष्टवदानुश्रविकः सहाविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः। तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ता व्यक्तज्ञ विज्ञानात्। सांख्यकारिका १-२

२. प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्व ज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः। न्याय सूत्र १.१.१.१

३. यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। वैशेषिक सूत्र १.१.१

४. स्वर्ग कामो यजेत्। अग्निष्टोमेन जुहुयात्स्वर्गकामः। अर्थसंग्रह

५. यजुर्वेद ३/५, ३७//३६/३

६. अष्टांग हृदयम्, सूत्रस्थान २/४

७. चाणक्य सूत्र १.१-५

८. नीतिशतक

अर्थात् विद्या से मनुष्य विनयशील होता है, विनय से वह धन प्राप्ति के योग्य बनता है, जिसके फलस्वरूप उसे धन मिलता है और धन का समुचित उपयोग करते हुए धर्म करता है और उसके फलस्वरूप वह सुखी होता है।

विद्या अर्थात् शिक्षा का आरम्भ यद्यपि माता के गर्भ से ही होता है और किसी न किसी रूप में उसका क्रम जीवन भर चलता रहता है, इसी कारण यह भी माना जाता है कि स्वाध्याय के प्रति कभी भी प्रमाद नहीं करना चाहिए[९] तथापि उसके लिए गुरु के सान्निध्य में रहना आवश्यक होता है तथा गुरु से साक्षात् प्राप्त की हुई विद्या ही सद्य: फल प्रदायिनी होती है।[१०] ऐसा स्वीकार किया गया है।

सुख का मूल क्योंकि धर्म है, अत: सुख की कामना करने के लिए धर्म की जिज्ञासा होना स्वाभाविक है, उस स्थिति में मनु के इस वचन पर ध्यान जाना स्वाभाविक है, जहाँ उन्होंने कहा है-**'धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुति:'**[११] अर्थात् धर्म विषयक जानकारी चाहने वालों के लिए सर्वश्रेष्ठ प्रमाण श्रुति अर्थात् वेद है, क्योंकि वेद ही समस्त धर्म के मूल है और वेदों में जो अत्यन्त अभीष्ट है किन्तु स्पष्ट नहीं हो सका है, वह स्मृतियों में प्राप्त हो जाता है। अत: वेदों और स्मृतियों से धर्म सम्बन्धी विस्तृत जानकारी प्राप्त करनी चाहिए। जो व्यक्ति किन्हीं कारणों से वेदों और स्मृतियों को समझने में समर्थ नहीं है, उन्हें वेदानुकूल आचरण करने वाले सत्पुरुषों के आचरण को देखकर धर्माचरण को सीखना चाहिए।[१२] ऐसी घोषणा मनु करते हैं।

स्मृतिकार मनु तो यह भी मानते हैं कि जो मानव वेदों और उनकी अनुगामी स्मृतियों में प्रतिपादित धर्म का अनुष्ठान करते हैं, वे संसार में अखण्ड कीर्ति प्राप्त करते हुए लोक और परलोक दोनों में सर्वोत्तम सुख प्राप्त करते हैं।[१३]

ज्ञानार्जन के प्रसङ्ग में स्मरणीय है कि शिक्षा के चार सोपान हैं, तभी विद्या पूर्णता को प्राप्त होती है; प्रथम है आगमकाल अर्थात् गुरुमुख से ज्ञान प्राप्त करना अथवा पुस्तकों के माध्यम से ज्ञानार्जन। द्वितीय सोपान है स्वाध्याय अर्थात् चिन्तन मनन। तृतीय सोपान प्रवचन है अर्थात् अर्जित ज्ञान पर परिचर्चा। इसके दो रूप हैं समान अथवा वरिष्ठ लोगों के मध्य में परिचर्चा जिसका अवसर मुझे इस समय मिल रहा है और दूसरा रूप है कनिष्ठ लोगों के मध्य परिचर्चा जैसा कि विद्यालयों, महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में अध्यापक वर्ग को मिलता है अथवा जनसभाओं आर्यसमाज आदि में प्रवचनकर्ताओं को मिलता है। अन्तिम सोपान है व्यवहार जो सीखा है, उसे व्यवहार में लाना जीवन में उतारना। इन चारों सोपानों को पार करने पर ही विद्यापूर्णता को प्राप्त करती है,

---

९. स्वाध्यायान्मा प्रमद:। तैत्तिरीयोपनिषद् शिक्षा ११/१

१०. आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधितं प्रापयति। छान्दोग्य ४/९/३॥

११. मनुस्मृति २/१३॥

१२. (क) वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्। आचारश्चैव साधूनामात्मन: तुष्टिरेव च। मनुस्मृति २/६ (ख) वेद: स्मृति: सदाचार: स्वस्य च प्रियमात्मन:। एतच्चतुर्विधं प्राहु: साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥ वही २/१२

१३. श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानव:। इह कीर्त्तिमवाप्नोति प्रेत्यचानुत्तमं सुखम्॥ वही २/९॥

ज्ञान परिपक्व और पुष्ट होता है।[१४]

जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है कि धर्म के मुख्य प्रतिपादक वेदों का अध्ययन गुरु (आचार्य) के सान्निध्य में ही होता है और उसकी पूर्णता (परिपक्वता) व्यवहार से ही होती है, अतः आचार्य शिक्षार्थी ब्रह्मचारी को सर्वप्रथम उपनयन करके अर्थात् अपने पास लेकर शौचसहित आचार की ही शिक्षा देता है।[१५] यहाँ स्मरणीय है कि शौच/शुचिता-पवित्रता आचार का प्रवेशद्वार है। शुचिता का पूर्ण पालन करने वाला दूसरों के संसर्ग से अनायास बचने लगता है, इससे वह अनेक बुराईयों से बच जाता है, क्योंकि वह जानता है कि निरन्तर प्रयत्न करने पर भी उसके शरीर में स्वेद आदि से दुर्गन्ध आने लगती है। दूसरा व्यक्ति पता नहीं शुचिता के लिए सावधान है भी या नहीं, फलतः उसकी काया तो अतिशय मलिन हो सकती है, अतः अन्य के संसर्ग से उसे दूर ही रहना चाहिए, इस विचार के चित्त में जन्म लेते ही वह अन्य के संसर्ग से (सम्भोग के अंगभूत आलिंगन चुम्बन आदि से) कोसों दूर रहेगा फलतः ब्रह्मचर्य आदि कठिन व्रत भी उसके लिए अनायास सिद्ध होंगे। इसीलिए योगसूत्रकार पतञ्जलि ने शौचसाधना के फल का उल्लेख करते हुए स्पष्ट कहा है- **'शौचात् स्वांगजुगुप्सा परैरसंसर्गः।** शौच साधना के फल का अन्त यहीं नहीं है वे पुनः कहते हैं-**'सत्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च।'**[१६] अर्थात् पूर्वोक्त फल के अतिरिक्त शुचिता की साधना में चित्त की शुद्धि मन की पवित्रता अर्थात् मन में लोभ मोह क्रोध राग द्वेष का अभाव मन और चित्त में एकाग्रता इन्द्रियों पर विजय और आत्मसाक्षात्कार की योग्यता भी प्राप्त हुआ करती है।

शिक्षा प्राप्ति के क्रम में मनु ने आचरण की शिक्षा को सर्वप्रथम और अनिवार्य इसलिए स्वीकार किया है कि आचरण के निर्मल होने से मनुष्य को दीर्घ आयु, अभीष्ट सन्तान, अक्षय धन और अशुभ का विनाश आदि की अनायास प्राप्ति होती है और उसका पतन कभी नहीं होता वह अन्य गुणों के न रहने पर भी आचारवान् और श्रद्धावान् होने के कारण सौ वर्ष तक जीवित रहता है।[१७] साथ ही मनु यह भी कहते हैं कि जो व्यक्ति कल्याणमय आचरण वाला है, नित्य प्रयत्नशील है अर्थात् आलसी नहीं है, जप और यज्ञ करता है, उसका पतन कभी नहीं होता।[१८] इसके विपरीत जो व्यक्ति दुराचारी है, उसकी संसार में सर्वत्र निन्दा होती है, वह सदा दुःखी रहता है और शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त करता है।[१९] इसलिए शिक्षा के क्रम में आचार की शिक्षा सर्वप्रथम और अनिवार्य रूप से होनी चाहिए।

अध्ययन के क्रम में सब सत्य विद्याओं के आगार वेदों का अध्ययन ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् तथा वेदाङ्गों, उपाङ्गों के साथ प्राथमिकता देकर करना चाहिए। साथ ही ज्ञान और विज्ञान और करुणा कौशल की

---

१४. चतुर्भिः प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवति, आगमकालेन प्रवचनकालेन व्यवहारकालेनेति। पातंजल महाभाष्य १.१.१

१५. उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः। आचारमग्निकार्यं च सन्ध्योपासनमेव च।। मनु० २/६९

१६. योगसूत्र २/४०-४१।।

१७. (क) आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः। आचाराद् धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम्।। मनु. ४/१५६

१८ (ख) सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान्नरः। श्रद्धानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति।। वही ४/१५८।।

१९. षडंग मिश्रिताः वेदाः धर्मशास्त्रम्पुराणकम्। मीमांसा तर्कमपि च एताः विद्याश्चतुर्दश। आप्टे संस्कृत-हिन्दी कोश

अधिक से अधिक शाखाओं का अभ्यास करना चाहिए। इस प्रसङ्ग में मुझे हितोपदेश के मित्रलाभ में उपलब्ध कपोतराज चित्रग्रीव मूषकराज हिरण्यक और लघुपतनक कौए की कथा का स्मरण हो आता है जिसमें हिरण्यक के लिए कहा गया है **'हिरण्यकः शतद्वारं विवरं कृत्वा तिष्ठति'** अर्थात् हिरण्यक सौ द्वार वाला बिल बनाकर रहता था, जिससे अगली स्थिति में उसके पास अपनी रक्षा के लिए अनेक मार्ग थे। इसी प्रकार जो व्यक्ति विद्या और कला-कौशल की अनेक शाखाओं में पारंगत या प्रवीण होता है, वह किसी भी प्रकार की परिस्थिति में दुःखी नहीं होता, विपरीत परिस्थितियों में भी उसे उससे निकलने का मार्ग सुलभ रहता है। प्राचीन काल में निम्नलिखित चौदह विद्याएं अध्ययन का विषय रही हैं-चार वेद, शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष ये छः वेदाङ्ग तथा धर्मशास्त्र, पुराण, मीमांसा और तर्क। महर्षि वरतन्तु का शिष्य कौत्स इन चौदह विद्याओं का अध्ययन करके ही गुरुदक्षिणा हेतु अभीष्ट चौदह कोटि स्वर्ण मुद्राएं प्राप्त करने के लिए राजा रघु के निकट आया था।[२०]

'छान्दोग्योपनिषद्' में विद्या (शिक्षा) की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि विद्या के द्वारा जो कुछ भी किया जाता है, वह अमृत अर्थात् अविनाशी होता है।[२१] बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार विद्या से देवलोक की प्राप्ति होती है, जो सभी लोकों में श्रेष्ठ है, इसलिए विद्या की प्रशंसा की जाती है।[२२] 'ईशावास्योपनिषद्' के अनुसार पुरुष विद्या के द्वारा अमृत को प्राप्त करता है।[२३]

'कठोपनिषद्' का कथानक नचिकेता यम से आत्मा के स्वरूप को जानने की इच्छा करता है, यम आत्मविद्या को गोपनीय मानते हुए आत्मविद्या के स्थान पर सर्वविध प्रलोभन उसकी समस्त कामनाओं की पूर्ति, सर्व साधनों सहित सेवा के लिए रमणियाँ भी देने का प्रस्ताव उसके समक्ष रखते हैं, किन्तु वह **'श्वो भावाः मर्त्यस्य यदन्तकैतत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः, अपि सर्वं जीवितमल्पमेव, तवैव वाहास्तव नृत्यगीते।**[२४] अर्थात् समस्त भोगसाधन सर्वथा अनित्य हैं, साथ ही ये इन्द्रियों के तेज को क्षीण करते हैं। जीवन कितना भी लम्बा हो एक दिन उसका अन्त होना ही है। इसलिए हे यम देव! ये भोग साधन और नृत्य, गीत तुमको ही मुबारक हो' यह कहकर जब उन्हें ठुकरा देता है, तब आत्मविद्या के उपदेश की भूमिका में वे नचिकेता से कहते हैं कि ये परस्पर विरोधी दो ज्ञातव्य हैं, जिन्हें विद्या और अविद्या के नाम से जाना जाता है। तुम विद्या की कामना करने वाले हो, विविध काम्य (भोग के साधन तुम्हें आकर्षित नहीं कर पाते[२५] कहते हुए ज्ञातव्य के रूप में विद्या तथा भोग साधनों को देन वाली अविद्या का संकेत करते हैं। 'ईशावास्योपनिषद्' जो 'यजुर्वेद' का अन्तिम (चालीसवां) अध्याय है, में भी विद्या है और अविद्या की चर्चा हुई है। यहाँ भी इन दोनों को परस्पर अत्यन्त भिन्न बताते हुए

---

२०. निर्बन्ध संजातरुषाऽर्थकार्श्यमचिन्तयित्वा गुरुणामुक्तः। वित्तस्य विद्यापरिसंख्यया मे कोटीश्चतस्र दश चाहरेति। रघुवंश ५/२१

२१. यदेव विद्यया करोति तदमृतम्भवति। छान्दोग्य १/१/१०

२२. विद्यया देव लोकः। देवलोको लोकानां श्रेष्ठस्तस्माद् विद्यां प्रशंसन्ति। बृहदारण्यक १/५/१६

२३. विद्यया विन्दतेऽमृतम्। ईशावास्योपनिषद् ११॥ यजु. ४०/१४

२४. कठोपनिषद् १/१/२६

२५. दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता। विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये नरुत्वा कामा बहवो लोलुपन्त। कठोपनिषद् १/२/४॥

कहा गया है कि जो अविद्या की उपासना करते हैं, वे गहन अन्धकार में गिरते हैं। इसके विपरीत जो विद्या की उपासना करते हैं, उससे भी अधिक गहनतम अन्धकार में प्रवेश करते हैं, किन्तु जो व्यक्ति विद्या और अविद्या दोनों की उपासना करते हैं, वे अविद्या की उपासना के परिणामस्वरूप मृत्यु को पार करके विद्या की उपासना से अमृत को प्राप्त करते हैं।[२६] इससे संकेत मिलता है कि मनुष्य को दोनों का ज्ञान ही नहीं, अपितु उसकी दोनों धाराओं में दक्षता होनी चाहिए।

'मुण्डकोपनिषद्' में ज्ञातव्य (ज्ञान के विषय) की चर्चा के प्रसङ्ग में महाशौनक को प्रश्नकर्त्ता के रूप में और महर्षि अंगिरस को उपदेष्टा के रूप में निबद्ध करके कथानक के माध्यम से विद्या और अविद्या दो ज्ञातव्यों का नाम न लेकर परा और अपरा को विद्या के ही दो प्रकार माने गये हैं। इसके अनुसार ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, निरुक्त, व्याकरण, छन्द और ज्योतिष आदि उस काल में प्रचलित शिक्षा की शाखाओं को अपरा विद्या और ब्रह्मज्ञान विषयक शिक्षा की शाखा को परा विद्या कहा गया है।[२७]

आधुनिक काल में शिक्षा की अनेक शाखाएं प्रचलित हैं। इन शाखाओं का छः सात समूहों में वर्गीकरण किया जाता है, जैसे कला संकाय, वाणिज्य संकाय, विधि संकाय, विज्ञान संकाय इत्यादि ये संकाय प्रायः सभी सामान्य विश्वविद्यालयों में होते हैं। इन प्रत्येक संकायों में अनेक विषयों का अध्ययन-अध्यापन होता है। अनेक बार किसी संकाय विशेष के एक विषय को लेकर भी स्वतन्त्र विश्वविद्यालय की स्थापना हुई है और उनमें उस विषय की अनेक शाखा-प्रशाखाओं का अध्ययन अध्यापन होता है, जैसे संस्कृत और संगीत कला संकाय के विषय हैं; किन्तु संस्कृत और संगीत के अनेक विश्वविद्यालय हैं। चिकित्सा विज्ञान एवं तन्त्र विज्ञान (इन्जीनियरिंग) के स्वतन्त्र शिक्षा संस्थान हैं और उनके मानवीकरण के अलग संगठन भी हैं। सैन्य विज्ञान भी शिक्षा की एक स्वतन्त्र शाखा है, जिसे विज्ञान संकाय में सम्मिलित नहीं किया गया है। अन्य विज्ञानों की भी अनेक नवीन-नवीन शाखाएं अध्ययन का विषय बन रही हैं।

चिकित्सा विज्ञान में एलोपैथी, आयुर्वेद, होम्योपैथी, सिद्ध यूनानी प्राकृतिक चिकित्सा तो अनेक वर्षों से प्रचलित है। इधर कुछ वर्षों से योगविद्या का भी चिकित्सा विज्ञान की शाखा के रूप में अध्ययन और इस क्षेत्र में अनुसन्धान तीव्र गति से हो रहा है। इस प्रकार से हम कह सकते हैं कि उपनिषद् काल में अपरा विद्या के अध्ययन की संभवतः दश शाखाएं रही हैं और अब उसकी अधिसंख्य शाखा प्रशाखाएं होती चली आ रही हैं। जबकि परा विद्या का अध्ययन क्रमशः छूटता या उपेक्षित होता गया है और आज उसकी चर्चा भी नहीं होती।

शिक्षा की इन विविध शिक्षा संस्थाओं और उनके पाठ्यक्रम का संचालन और निर्धारण राजतन्त्र से ही हो

---

२६. अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते। ततो भूय इव ते तमो ये विद्यायां रताः॥ विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयं सह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते। ईशावास्योपनिषद् ९, ११ यजुर्वेद ४०/२२, १४

२७. शौनको ह महाशालोऽङ्गिरसं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ-भगवन्। कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति। तस्मै सहोवाच- द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति, परा चैवापरा च। तत्रापरा ऋग्वेदो, यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते। मुण्डकोपनिषद् १/२/४-५

रहा है, केवल कुछ का प्रबन्धन मात्र निजी हाथों में होता है और इस सम्पूर्ण शिक्षा का उद्देश्य विगत दो ढाई सौ वर्षों (अंग्रेजों के शासन काल) से अधिक से अधिक अर्थोपार्जन करने के योग्य बनाना रहा है। ब्रिटिश शासन काल में महर्षि दयानन्द सरस्वती की प्रेरणा से जब शिक्षा के लिए गुरुकुलों की स्थापना प्रारम्भ हुई उस काल में अवश्य उनमें शिक्षा का उद्देश्य अर्थोपार्जन नहीं था, किन्तु उनमें भी अब उद्देश्य में पूर्ण शुद्धता नहीं रह गई है।

इधर कुछ वर्षों से जब से व्यापार का वैश्वीकरण प्रारम्भ हुआ है अर्थोपार्जन में तीव्र प्रतिद्वन्द्विता प्रारम्भ हुई है, तब से छात्र और उनके अभिभावक दोनों में ही अधिकाधिक अर्थोपार्जन की कामना से होटल प्रबन्धन और व्यापार प्रबन्धन शिक्षा को अधिकाधिक प्रचार मिल रहा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्तमान काल में शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य अर्थोपार्जन बन गया है।

मध्यकालीन नीति ग्रन्थों से हमें संकेत मिलता है कि उस काल (मध्य काल) में भी जीवन के सुखों में अर्थकारी विद्या का होना सम्मिलित हो गया था। इसके प्रमाण के रूप में निम्नलिखित पद्य को देखा जा सकता है-

अर्थोगमो नित्यमरोगिता च प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च।
वश्यश्च पुत्रो अर्थकरी च विद्या षड्जीवलोकस्य सुखानि राजन्॥

स्मरणीय है कि अर्थ (धन) का चार पुरुषार्थो में एक सदा से परिगणित किया गया है किन्तु उसे साध्य कोटि में न रखकर साधन कोटि में ही स्वीकार किया जाता रहा है, क्योंकि प्राचीन मनीषी यह मानते रहे हैं कि अर्थ साध्य कोटि में आने पर अनर्थ का कारण बन जाता है। उस काल में अर्थ को धर्म का साधन ही स्वीकार किया जाता रहा है, इसका प्रमाण **'धर्मस्य मूलमर्थः'** और **'धनाद् धर्मं ततः सुखम्'** इत्यादि पूर्व संकेतित उद्धरण हैं। जबकि वर्तमान काल में धन का उपयोग धर्म के लिए न होकर सर्वविध भोग साधनों को सुलभ बनाने उन्हें प्राप्त करने में रह गया है।

यह कहना अनुचित होगा कि साध्य और साधन के रूप में धन की प्रधानता घटीयन्त्र (रहट) की भांति कभी एक की और कभी दूसरे की चिरकाल से होती रही है। इसका संकेत हमें शतपथ ब्राह्मण के प्रथम काण्ड में उपलब्ध एक कथानक से मिलता है। उस कथानक से यह संकेत भी मिलता है कि उस काल में शिक्षा निजी हाथों में थी, राजसत्ता द्वारा संचालित नहीं। कथानक इस प्रकार है-

एक समय की बात है आर्यावर्त्त के राजा ने अग्नि को अपने मुख में बन्द कर लिया। अग्नि के अभाव में ब्राह्मण कार्यहीन होने के कारण उससे दुःखी होने लगे। उन्होंने राजा के मुख से अग्नि को बाहर निकालने के लिए इस मन्त्र से अग्नि की स्तुति प्रारम्भ की-**'ओं वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तं समिधीमहि। अग्ने बृहन्तमध्वरे।'**[२८] इस मन्त्र से स्तुति के बाद भी अग्नि राजा के मुख से बाहर नहीं आयी। तब उन्होंने दूसरे मन्त्र से स्तुति प्रारम्भ की- **ओम् उदग्ने शुचयस्तव शुक्रा भ्राजन्त ईरिते। तव ज्योतींषि अर्चय।**[२९] अब भी अग्नि प्रकट नहीं हुई। तब उन्होंने

२८. सामवेद १५२३ (उत्तर १४/३/११)
२९. सामवेद १५३४ (उत्तर १४/४/११)

तीसरे मन्त्र से स्तुति प्रारम्भ की-**ओं तं त्वा घृतस्नवीमहे चित्रभानो स्वर्दृशम्। देवाँ आ वीतये वह।**[३०] इस तृतीय मन्त्र में '**घृतस्नवीमहे**' पद के मुख से निकलते ही राजा के मुख से अग्नि वेग से बाहर आ गयी और आनन्दित होर ब्राह्मण उस अग्नि में यजन करते हुए पूर्व में सदानीश (गण्डक) नदी तक बढ़ते चले गये।

अब इस कहानी के तात्पर्यार्थ का अनुसन्धान करें। कथानक की तह तक पहुंचने के लिए इसमें ही दो कुंजियाँ निहित हैं। प्रथम यह कि भौतिक अग्नि को मुख में बन्द नहीं किया जा सकता, इसके लिए प्रयत्न करने पर या तो मुख जल जायेगा या अग्नि बुझ जायेगी। अत: यहाँ अग्नि शब्द का तात्पर्य भौतिक अग्नि न होकर कुछ और ही होना चाहिए। द्वितीय यह है कि अग्नि राजा के मुख में बन्दी है और राजा बन्दी बनाने वाला है। अब प्रश्न यह कि किसी बन्दी को छुड़ाने के लिए बन्दी बनाने वाले की प्रार्थना अपेक्षित होती है या बन्दी की स्तुति? इसका एक ही उत्तर होगा कि प्रार्थना करने पर बन्दी बनाने वाला ही प्रसन्न होकर बन्दी को मुक्त कर सकता है। अत: बन्दी की स्तुति उचित नहीं हो सकती। किन्तु यहाँ बन्दी की ही स्तुति मन्त्रों द्वारा की गयी है और तृतीय मन्त्र के घृतस्नवी पद के निकलते ही अग्नि राजा के मुख से बाहर आ गयी। अत: यहाँ यह सोचना उचित होगा कि यहाँ अग्नि शब्द से तात्पर्य है। ज्ञानरूप प्रकाश का मूल केन्द्र शिक्षा, और मुख में बन्द करने का तात्पर्य है राजाज्ञा द्वारा शिक्षा पर प्रतिबन्ध। जब जनता (जन सामान्य) की कोई क्रिया प्रक्रिया समाज या राष्ट्र के लिए हानिकर होती है तो राजा (शासक) के आदेश से उस पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाता है। यह है अग्नि को राजा द्वारा मुख में बन्द कर लेना, शिक्षा पर प्रतिबन्ध लगा देना।

अग्नि की स्तुति के लिए प्रयुक्त तीन मन्त्रों से शिक्षा के तीन उद्देश्य प्रणीत होते हैं। प्रथम मन्त्र में उसे वीति होत्र कहकर उसे समिद्ध प्रसारित प्रचारित करने की कामना की गयी है। वीतिहोत्र पद का अर्थ है, अन्न आदि ऐश्वर्य और उसके द्वारा भोगसाधन प्रदान करने वाली शिक्षा (अग्नि), राजा ने ऐसी शिक्षा को प्रसारित करने की स्वीकृति नहीं दी। राजा के मुख से अग्नि प्रकट नहीं हुई। दूसरे मन्त्र में अग्नि (शिक्षा) का वर्णन उन्नत तेजयुक्त प्रदीप्त अतिशय तेजस्विता प्रदान करने वाली शिक्षा का है। जिससे व्यक्ति बहुत रोबदाब वाला और ऐसा प्रशासक कि जिसके समक्ष दूसरा मुख भी न खोल सके। ऐसी शिक्षा भी सर्वसामान्य के लिए उपयोगी नहीं हो सकती। इसी कारण द्वितीय स्तुति को सुनकर भी राजा के मुख से अग्नि प्रकट नहीं हुई अर्थात् राजा ने इस प्रकार की शिक्षा के प्रचार की भी अनुमति प्रदान नहीं की।

अग्नि की तृतीय मन्त्र से स्तुति प्रारम्भ करने पर '**घृतस्नवीमहे**' पद निकलते ही राजा के मुख से अग्नि स्फुटित होकर बाहर आ गई अर्थात् ब्राह्मणों ने जब शिक्षा का घृतस्नु रूप प्रस्तावित किया अर्थात् जिस प्रकार घृत आयु भी देता है, बलवीर्य की वृद्धि भी करता है, पोषक भी है, स्नेह भी प्रदान करता है। दूसरे शब्दों में वह अनेकानेक गुणों से युक्त है, उसी प्रकार जो शिक्षा समाज का सर्वाङ्गीण विकास करती है, समाज में स्नेह और सौमनस्य का विस्तार करती है, वह प्रशस्त शिक्षा है। ऐसी शिक्षा का प्रस्ताव हुआ तो राजा ने ऐसी शिक्षा के प्रचार प्रसार की आज्ञा तत्काल दे दी।

---

३०. सामवेद १५२२ (उत्तर १४/३/१०)

वर्तमान काल में ब्रिटिश शासन काल से शिक्षा का उद्देश्य धनार्जन हो गया है। उसका परिणाम है कि शासन के उच्चतम पद पर बैठे व्यक्ति से लेकर सर्व साधारण तक में भ्रष्टाचार व्याप्त है। कोई गबन कर रहा है तो कोई शोषण, कोई चैन हार आदि छीन रहा है तो कोई चोरी डकैती। कोई व्यक्ति का अपहरण करके धन प्राप्त करना चाहता है तो कोई हत्या करके किडनी, आंखें आदि बेच रहा है। प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में वेश्यावृत्ति करके धनार्जन तो मानो कोई अपराध रह ही नहीं गया है। धन वैभव की होड़ में आज समाज में लोग अपने अभाव के कारण उतने दुःखी नहीं हैं, जितने अपने पड़ोसी के धन वैभव को देखकर ईर्ष्यावश पीड़ा पा रहे हैं।

धन के लोभ में व्यापारी खाद्य पदार्थों में मिलावट करके समाज को दुःखी कर रहे हैं तो कोई नकली वस्तुएं बनाकर समाज को धोखा दे रहे हैं। औषधि निर्माता प्राणरक्षक औषधियों के स्थान पर न केवल सर्वथा अनुपयोगी दवा प्रस्तुत कर रहे हैं, अपितु हानिकर पदार्थ भी औषधियों के नाम पर देकर जन सामान्य के प्राणहरण के दोषी बन रहे हैं। इस प्रकार के भ्रष्टाचार और अनैतिक व्यापार के स्वरूपों का वर्णन करना सर्वथा असम्भव है।

इन सब अनर्थों का मूल शिक्षा के लक्ष्य का बिगड़ जाना है। साक्षात् धर्म के लक्षण में मनु ने सदाचार और जो दूसरों का व्यवहार स्वयं को प्रिय है, ऐसा व्यवहार स्वीकार किया गया था, किन्तु आज सदाचार का निर्णय कर पाना असंभव लगता है, क्योंकि शासन के उच्चतम पद पर बैठे हुए लोगों से लेकर स्वयं को भगवान् विशेषण से विभूषित कराने वाले धर्माचार्य धर्मगुरु संन्यासी तक भ्रष्टाचार और अनैतिक आचरणों में लग्न हैं। इसलिए शिक्षा के अर्थोपार्जन रूपी लक्ष्य को हटाकर जब तक मानव को सम्पूर्ण मानव, प्राणिमात्र का हितैषी मानव बनाने का लक्ष्य स्थापित नहीं होता तब तक लोक कल्याण होना, समाज की पीड़ा दूर होना, सम्भव नहीं है।

यही कारण है कि प्राचीन काल में परा और अपरा दोनों विद्याओं को विद्या के नाम से वेदितव्य माना था और केवल एक को अनर्थकारी माना था और स्वीकार किया था कि मनुष्य अविद्या (अपरा विद्या) से मृत्यु को अर्थात् सांसारिक कष्टों को पार करके परा विद्या से अमृतत्व को प्राप्त करता है–

अन्धन्तमः प्र विशन्ति येऽविद्यामुपासते। ततो भूयऽइव ते तमो यऽउ विद्यायांरताः॥
विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥[31]

३१. यजुर्वेद ४०/१२, १.७

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २००९ अङ्क ११ (पृ०१७-३२)

अथर्ववेद में सूर्यदेवता का सर्वदेवत्व

प्रो० राजेश्वर मिश्र[1]

वैदिक ऋषियों ने अपनी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि और अलौकिक अनुभूति के आधार पर अनेक देवताओं की अवधारणा की थी। उनका दृढ़ विश्वास था कि इन्हीं देवताओं के अनुग्रह से समग्र जागतिक कार्य संचालित होते हैं। वैदिक मन्त्रों में उन देवों के स्थूल और सूक्ष्म रूपों के साथ-साथ उनकी शक्ति और महत्ता के भी दर्शन होते हैं। ऋषियों द्वारा स्तुत उन देवों में सूर्य देवता का विशेष स्थान है, जिनकी उपासना युग-युगान्तर से होती आ रही है। ये आकाशस्थित भौतिक ज्योतिष पिण्ड के अधिष्ठातृ देवता हैं, जो अपने महत्त्व के कारण द्युलोक के प्रमुख देव माने गये हैं।[2] प्रकृति की महत्तम शक्ति होने के कारण सूर्य समस्त प्राकृतिक क्रियाकलापों का केन्द्र भी है। इनके गुण वैविध्य और कर्मवैभिन्य के कारण इनकी अनेक रूपों में स्तुति की गयी है। जैसा कि यास्क ने संकेत भी किया है कि अत्यधिक ऐश्वर्य से सम्पन्न होने के कारण एक देवता की कार्य-कारणभेद से अनेक प्रकार से स्तुति की जाती है[3] तथा परमैश्वर्य सम्पन्न होने से अथवा कार्यभेद से उसी एक देवता के अनेक नाम भी होते हैं[4], यथा अग्नि के जातवेदस्, वैश्वानर आदि। इसी प्रकार सूर्यदेवता की भी अनेक रूपों में स्तुति की गयी है। इनके वैशिष्ट्य एवं व्यापकता के कारण ही ऋषियों ने इन्हें विविध नामों से सम्बोधित किया है, परन्तु वे सूर्य की एकरूपता से अनभिज्ञ नहीं थे। इसीलिए एक मन्त्र में ऐसा संकेत है कि तात्त्विक दृष्टि से एक ही सूर्य सब में प्रविष्ट होकर अनेक रूपों में प्रकट होते हैं।[5] एक अन्य मन्त्र में भी इस देव को विविध रूप धारण करने में समर्थ एक ब्रह्मतत्त्व के रूप में प्रस्तुत किया गया है।[6] ये ही सूर्य विद्वानों द्वारा इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य सुपर्ण और गरुत्मान् आदि नामों से भी सम्बोधित किये गए हैं।[7] यही नहीं, वेदों में **'सप्त दिशो नाना सूर्याः'** तथा **'कति सूर्यासः'** मन्त्रांशों से सूर्य के बहुरूपत्व का भी संकेत मिलता है।[8] इसी प्रकार सविता के अनेक रूपों की भी चर्चा

---

१. प्रोफेसर संस्कृत-विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र।

२. नि०, ७.५: तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः। अग्निः पृथिवीस्थानः वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः। सूर्यो द्युस्थानः। तु० बृहद्दे०, १.९६; सर्वानु०, २.८.

३. वही, ७.४ : महाभाग्याद् देवतायाः एक आत्मा बहुधा स्तूयते।

४. वही, ७.५ : तासां महाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति। अपि वा कर्मपृथक्त्वात्-----।

५. ऋ०, ८.५८.२ : --एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः----।

६. वही, ४.४०.५.

७. ऋ०, १.१६४.४६ : इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमहारथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥

८. वही, ९.११४.३; १०.८८.१८.

मन्त्रों में की गयी हैं[१]। इससे स्पष्ट है कि परमैश्वर्यसम्पन्न होने के कारण सूर्यदेव के अनेक रूप हैं। इनकी परमशक्तिसम्पन्नता के कारण इनमें आरोपित सर्वदेवत्व सर्वथा संगत है; तभी तो आचार्य सायण ने सूर्य को ही एकमात्र देवता अथवा परम शक्तिसम्पन्न देवता कहा है।[२] इस प्रकार सूर्य एक महान् और व्यापक देव हैं, जिन्हें सविता, पूषा, आदित्य, विष्णु, मित्र, भग, विवस्वान् आदि नामों से भी सम्बोधित किया गया है, जो सूर्य के विविध रूपों के वाचक हैं, यथा-'सूर्य' उनके भौतिक रूप का[३], 'सविता' प्रेरक रूप का[४], 'पूषा' पोषक रूप का[५], 'विष्णु' व्यापनशील रूप का[६], 'मित्र' सहायक अथवा रक्षक रूप का[७], 'भग' भजनीय रूप का[८], 'आदित्य' रस अथवा नक्षत्र-ज्योतियों के ग्रहीता अथवा प्रकाशक रूप का[९] एवं 'विवस्वान्' उनके देदीप्यमान रूप का[१०] द्योतक है। यद्यपि सूर्य के पृथक्-पृथक् रूपों का प्रतिनिधित्व करने वाले इन सौर देवों का अपना पृथक् अस्तित्व है तथा ये ऋषियों द्वारा स्वतन्त्र रूप में उसी प्रकार स्तुत भी हैं, जैसे सूर्य, तथापि सूर्य और उनसे सम्बद्ध देवताओं के सम्मिलित रूप में 'सूर्य देवता' का स्वरूप बोध सुगम एवं सुकर होगा।

मन्त्रों, तन्त्रों, ओषधियों आदि के प्रयोग से ऐहिक तथा ब्रह्मविद्या के बल से पारलौकिक सुख अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति कराने वाले 'अथर्ववेद' में भी अन्य वेदों की भांति अनेक देवों की स्तुति की गयी है, जिनसे उनके तात्त्विक रूप का ज्ञान होता है। वस्तुतः सूर्य के जिस तात्त्विक रूप का प्रकाशन ऋग्वेद में हुआ है उसी का प्रतिपादन प्रकारान्तर में अथर्ववेद में भी हुआ है, क्योंकि सूर्यपरक अनेक ऋग्वेदीय मन्त्र 'अथर्ववेद' में भी हैं, परन्तु इस वेद का महत्त्वपूर्ण योगदान यह है कि इसमें सूर्यदेवता का भौतिक स्वरूप विशेष रूप में प्रतिपादन हुआ है तथा 'रोहित' और 'काल' रूप में सूर्यदेव का जो तात्त्विक रूप निरूपित है, वह सूर्य के सर्वदेवत्व रूप को ही प्रतिष्ठित करता है जो अन्य वेदों में नहें है। इस वेद में भी सूर्य के अनेक रूप दृष्टिगोचर होते हैं, जिनके सम्यक् विवेचन से इस देव का वास्तविक स्वरूप जाना जा सकता है-

भारतीय चिन्तन का यह वैशिष्ट्य है कि इसमें किसी भी तत्त्व अथवा पदार्थ की स्वरूप मीमांसा उस तत्त्व अथवा पदार्थ के वाचक शब्द के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ में निहित होती है; अतः 'सूर्य' शब्द के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ से इनके स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। अन्तरिक्ष में गमनशील होने के कारण यह शब्द गत्यर्थक सृ से;

---

१. वही, ५.८१.२ : विश्वा रूपाणि प्रति मुञ्चते कविः----।
२. वही, १.१६४.४६ पर द्र० सायणभाष्य-एकैव वा महानात्मा देवता स सूर्य इत्याचक्षते।
३. नि०, १२.१४ : सूर्यः सर्तेर्वा सुवतेर्वा स्वीयतेर्वा।
४. वही, १०.३१ : सविता सर्वस्य प्रसविता; द्रष्टव्य ऋ०७.६३.२ भी।
५. वही, १२.१६ : अथ यद् रश्मिपोषं पुष्यति तत् पूषा भवति; द्रष्ट. ऋ०, ५.८१.५.
६. वही, १२.१८ : विष्णुर्विशतेर्वा व्यश्नोतेर्वा।
७. वही, १०.२१ : मित्रः प्रमीतेस्त्रायते; द्रष्ट० ऋ०५.८१.४: उत मित्रो भवसि देव धर्मभिः।
८. वही, १.७ : भगो भजतेः द्रष्टव्य ऋ०, ५.८२.३; ७.३८.६; ७.६३.१.
९. वही, २.१३ : आदित्यः कस्मादादत्ते रसानादत्ते भासं ज्योतिषामादीप्तो भासेति वा; द्रष्ट० ऋ०, १.५०.१३; १०.८८.११ आदि।
१०. वही, १२.१० : विवस्वानादित्यः

निखिल जगत् को प्रेरित करने के कारण प्रेरणार्थक सू से तथा शोभन रूप से गमन करने अथवा वायु के द्वारा भूलोक के प्रति प्रेरित किये जाने के कारण 'सु' उपसर्गपूर्वक गत्यर्थक ईर् से निष्पन्न है।[१] इस व्युत्पत्ति से स्पष्ट हो जाता है कि अन्तरिक्ष में गमन करने, सभी जगत् का स्व-स्व व्यापार में प्रेरित करने अथवा शोभन रूप से गमन करने अथवा प्रकाश वर्षण आदि कार्यों में जगत् नियन्ता परमेश्वर द्वारा प्रेरित किये जाने के कारण इन्हें 'सूर्य' नाम से अभिहित किया गया है। अथर्वभाष्य में आचार्य सायण ने भी इन्हीं विशेषताओं के कारण इन्हें 'सूर्य' माना है।[२] सायण ने अन्यत्र भी सूर्य को सर्वप्रेरक तथा शोभनीय देव माना है।[३] तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार शोभन वीर्य से सम्पन्न होने के कारण सूर्य का सूर्यत्व है।[४] अतः ऐसा प्रतीत होता है कि सूर्य से सम्बद्ध विभिन्न वैदिक देवताओं में इनका 'सूर्य' रूप सर्वाधिक स्थूल है, क्योंकि वह भौतिक सूर्यमण्डल के प्रतीक माने गये हैं।

'अथर्ववेद' में सम्पूर्ण बारह (१२) सूक्तों और कई मन्त्रों में सूर्य देव की स्तुति की गयी है। इनमें से अनेक मन्त्र ऋग्वेद के ही हैं। इस वेद में सूर्य को सभी ज्योतियों में उत्तम ज्योति बताया गया है। पापरहित, श्रेष्ठ और उत्कृष्ट ज्योतिस्वरूप इस देव से उपासक उत्तम ज्योति प्राप्त किया करते हैं।[५] 'ऋग्वेद' में भी इसी देव को अन्य सभी ज्योतियों में उत्तम तथा श्रेष्ठ ज्योति माना गया है,[६] क्योंकि यही सभी ज्योतियों का कारण है। आधुनिक विज्ञान भी सूर्य को ही प्रकाश का मूल कारण मानता है। इसीलिए अन्य वैदिक ग्रन्थों में भी इसे 'बृहज्ज्योति' तथा 'श्रेष्ठरश्मि' कहा गया है।[७] यही देव द्रष्टा एवं प्रकाशक है, जो सभी लोकों को सर्वदा दीप्त करते हैं।[८] इनके उदित होते ही नक्षत्र भाग जाते हैं, क्योंकि वे तारों के प्रकाश को क्षीण करने में समर्थ हैं।[९] सूर्य अपने प्रकाश से अन्धकार को दूर करते हैं तथा सभी रूपवान् पदार्थों का पोषण करने वाले हैं।[१०] यही सभी प्राणियों की दर्शनात्मक शक्ति अर्थात् 'चक्षु' हैं।[११] यही कारण है कि इन्हें नेत्रों का स्वामी कहा गया है।[१२] इसीलिए वैदिक ऋषियों ने दर्शनशक्ति के लिए सूर्यदेव से प्रार्थना की है[१३] तथा यह निर्देश दिया है कि हमें एतदर्थ उदीयमान सूर्य

---

१. नि०, १२.१४ : सूर्यः सर्तेर्वा सुवतेर्वा स्वीयतेर्वा।

२. अथर्व०, १.३.५ पर सायणभाष्य-सरति गच्छतीति वा सुवति प्रेरयति तत्तद्व्यापारेषु कृत्स्नं जगद् इति वा। यद्वा सुष्ठु ईर्यते प्रकाशप्रवर्षणादिव्यापारेषु जगद्विधात्रा परमेश्वरेण प्रेर्यत इति सूर्यः।

३. ऋ०१०.१५८.१.

४. तै० ब्रा०, २.२.१०.४ : सुवीर्य्यो मर्या यथा गोपायत इति। तत् सूर्यस्य सूर्यत्वम्।

५. अथर्व०, ७.५३.७ : देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्।

६. यजु०, १०.१७०.३ : इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्येतिरुत्तमम्।

७. यजु०, २.२६ : एष वै श्रेष्ठो रश्मिः; शत० ब्रा०, ६.३.१.१५ : असौ वा आदित्यो बृहज्ज्योतिः।

८. अथर्व०, २०.४७.१६ : तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य......, वही, २०.४८.६ भी।

९. वही, २०.४७.१४.

१०. वही, १३.२.९, १०.

११. वही, १३.१.४५ : सूर्यो भूतस्यैकं चक्षुरारोह दिवं महीम्।

१२. वही, ५.२४.९ : सूर्यश्चक्षुषामधिपतिः।

१३. वही, १९.४३.३ : चक्षुः सूर्यो दधातु मे।

को देखना चाहिए।[१] दिशाओं में उदित होते हुए यही देव अन्धकार को अपने प्रकाश से हटाते हैं तथा दिन को प्रकट करते हैं।[२] अत: दिन और रात इन्हीं पर आश्रित हैं।[३] इसी देव की असंख्य रश्मियाँ अश्वरूप में सूर्य-रथ को खींचने वाली मानी गयीं हैं।[४] यही सूर्य लोकों के निर्माता और सभी प्राणियों के आधार हैं, इसीलिए ऋषि ब्रह्मा ने इन्हें सबका द्रष्टा, सब ओर मुख वाला, हाथों वाला और सर्वव्यापक माना है तथा यह भी स्वीकार किया है कि वे अकेले ही द्यु और पृथ्वी की रचना करने वाले, अपनी रश्मियों से दिन-रात सबका भरण-पोषण करने वाले एक मात्र ऐसे देव हैं, जो द्यु और पृथिवी दोनों के जनक हैं।[५] सम्भवत: यही कारण है कि इन्हें चराचर जगत् का आत्मा माना गया है।[६] इसका अभिप्राय यह है कि सृष्टि के सभी जड़-चेतन पदार्थ सूर्य से ही जीवन शक्ति प्राप्त करके अपनी सत्ता बनाये रखते हैं। मनुष्य पशु-पक्षी आदि इस देव से प्रकाश एवं ऊष्मा प्राप्त करके अपने जीवन को गतिशील बनाते हैं तथा वृक्ष आदि जड़ पदार्थ भी सूर्य से शक्तिसंचय करके विकसित होते हैं; अत: सूर्य से ही जागतिक जीवन की सत्ता है।

'अथर्ववेद' में रोग, शत्रु अथवा हानिकारक तत्त्वों के निवारणार्थ अनेक मन्त्र हैं। इनके निराकरण में सूर्य देवता का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है, अत: इस वेद में इस देव की एतदर्थ बहुधा स्तुति की गयी है। सूर्य आरोग्य देते हैं तथा शरीर के सभी दोषों (विकारों) को बाहर निकालते हैं।[७] यही हृदय में जलन उत्पन्न करने वाले 'हृदय रोग' और शरीर में पीलापन लाने वाले 'हरिमा' अर्थात् पीलिया रोग को दूर करने वाले बताये गये हैं।[८] अन्य मन्त्रों में भी अनेक आधियों व्याधियों और पापों से मुक्ति पाने हेतु सूर्य की स्तुति की गयी है।[९] यही नहीं, अनेक नाम तथा वर्ण वाली गण्डमालाओं की औषधि सूर्य-किरणों में मानी गयी है, अत: कुछ मन्त्रों में ऐसा संकेत प्राप्त होता है कि सूर्य-रश्मियों द्वारा इनका निवारण सम्भव है।[१०] भग ऋषि की ऐसी मान्यता है कि सूर्य द्वारा प्रदत्त वर्षा का शुद्ध जल पीड़ादायक कासश्लेष्मादि रोगों को नष्ट करता है।[११] इस वेद के नवम काण्ड के अष्टम सूक्त के २२ मन्त्रों में सूर्य की किरणों में व्याप्त रोगनाशक महती शक्ति से दूर होने वाले रोगों की चर्चा की गयी है,[१२] जो इस

---

१. वही, ६.६२.३ : ज्योक् पश्येम सूर्यमुच्चरन्तम्।

२. वही, १३.२.३४ :

३. वही, १३.२.३२ : अहोरात्रे परिसूर्यं वसाने।

४. वही, ७.१०७.२; २०.४७.२०; १३.१.२४; १३.२.८; १३.२.७ इत्यादि।

५. अथर्व०, १३.२.२६ : यो विश्वचर्षणिरुत विश्वतोमुखो यो विश्वतस्पाणिरुत विश्वतस्पृथ: सं बाहुभ्यां भरति सं पतत्रैर्द्यावा पृथिवी जनयन् देव एक:।

६. वही, १३.२.३५ : सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च----।

७. वही, १.३.५ : विद्मा शरस्य पितरं सूर्यं शतवृष्ण्यम्। तेना ते तन्वे शंकरं-----।

८. वही, १.२२.१ : अनु सूर्यमुदयतां हृद्द्योतो हरिमा च ते। गो रोहितस्य वर्णेन तेन त्वा----।

९. वही, २.१०.४-८.

१०. वही, ६.८३.१-३ : सूर्य: कृणो तु भेषजं चन्द्रमा वोऽपोच्छतु-।

११. वही, ७.११२ (१०.७).१ : आप: समुद्रिया धरास्तास्ते शल्यमसिस्रसन्।

१२. वही, ९.८.१-२२.

बात का प्रमाण है कि सूर्य रश्मियों में असंख्य रोगों की निवारक शक्ति विद्यमान है। इसके अतिरिक्त सूर्य सम्बन्धी अनेक मन्त्रों में ऋषियों ने शत्रुविनाश के लिए सूर्य की उपासना की है।[१] इससे ऐसे ध्वनित होता है कि सूर्य प्रकाशक हैं तथा राक्षस और शत्रु इत्यादि, अन्धकार और उससे उत्पन्न विघ्न आदि के प्रतीक हैं; अतः अपने प्रकाश से वे इन विघ्नों का हरण करने वाले है; अतः इन्हें 'हरि' शब्द से भी सम्बोधित किया गया है। ऋषि अथर्वा ने एक सम्पूर्ण सूक्त में द्वेष करने वाले शत्रुओं के विनाश के लिए सूर्य का आवाहन किया है।[२] अतः इन साक्ष्यों से सूर्यदेव के रोगनिवारक और शत्रुविनाशक स्वरूप का ज्ञान सहज ही हो जाता है, जो इस वेद में विस्तरेण प्रतिपादित हैं।

यही सूर्य देवता 'सविता' के नाम से भी वेदों में बहुशः स्तुत हैं, जो इनके प्रेरक रूप अथवा प्रेरक शक्ति का ही प्रतिनिधित्व करता है। आचार्य यास्क[३], ब्राह्मण[४]-ग्रन्थों एव बृहद्देवता[५] आदि की निरुक्तियों से ऐसा प्रतीत होता है कि 'सविता' पद मूलतः सूर्य का विशेषण रहा है, परन्तु कालान्तर में यही 'सविता' उनकी प्रेरक शक्ति के प्रतिनिधि देवता के रूप में प्रतिष्ठित हो गये। आचार्य सायण आदि भाष्यकारों की भी यही मान्यता रही है।[६] जीवन में पदे-पदे सहायता के लिए अथर्ववैदिक ऋषियों ने सविता देवता की कामना की है। उनका ऐसा विश्वास है कि आकाश के पृष्ठभाग पर द्योतित होने वाले सविता 'हिरण्यपाणि' हैं और वायु के साथ इस जगत् की रक्षा करते हैं।[७] वे सत्य की प्रेरणा करने वाले, उत्तम सुख के दाता, द्रोहहीन वाणी से युक्त हैं[८] और प्रेरणकर्म की प्रधानता के कारण प्रसवाधिपति हैं।[९] यही देवताओं के प्रति हमारे कर्मों को प्रेरित करने वाले हैं।[१०] सभी प्राणी भी अपने-अपने कर्मों में इन्ही से प्रेरित होते हैं; क्योंकि उनके उदित होने पर सब लोग अपने कर्मों में प्रवृत्त होते हैं।[११] इस प्रकार सविता एक प्रेरक देवता के रूप में प्रतिष्ठित हैं, परन्तु सविता और सूर्य में परस्पर एक देवभाव निहित है।

सबको पुष्ट करने अथवा जगत्पोषक होने के कारण सूर्य देवता का अपर नाम 'पूषा' भी है, जो एक

---

१. अथर्व०, १९.६५.१; ६.५२.१-२; ४.४०.७ आदि।
२. वही, २.२२.१-५ (सम्पूर्ण सूक्त)।
३. नि०, १०.३१ : सविता सर्वस्य प्रसविता।
४. शत० ब्रा०, १.१.२.१७ : सविता वै देवानां प्रसविता; कौ० ब्रा०, ६.१४ : सविता वै प्रसविता; ऐ० ब्रा०, १.३० : सविता वै प्रसवानामीशे; तै० ब्रा०, २४.१५.२ आदि।
५. बृहद्दे०, २.६२ : संवर्तयंस्तमः सूर्याद् उषसं च प्रवर्तयन्। दिवाकरं प्रसौत्येकः सविता ते न कर्मणा।
६. अथर्व०, ६.१.१ पर सायणभाष्य-अन्तर्यामितया सर्वस्य प्रेरकं सूर्यम्।
७. वही, १३.४.१; १३.२१.८; ४.२५.१ आदि।
८. वही, ६.१.२ : सूनुः सत्यस्य युवानमद्रोघवाचं सुशेवम्।
९. वही, ५.२४.१ : सविता प्रसवानामधिपतिः स मावतु।
१०. वही, ६.१.३ : देवः सविता साविषदमृतानि भूरि-।
११. अथर्व०, ४.२५.३ : त्वय्युदिते प्रेरत चित्रभानो।

देवविशेष के रूप में स्तुत हैं। 'अथर्ववेद' में इन्हीं चार सम्पूर्ण सूक्त तथा कई मन्त्र समर्पित हैं। आचार्य शौनक ने पूषा को सूर्य की पोषक शक्ति का प्रतिरूप माना है। उनके अनुसार पोषण करते हुए वे ही पृथिवी की जीवनवृद्धि में सहायक हैं और रश्मियों से अन्धकार को हटाते हैं।[१] यास्क के अनुसार तेज से पूर्ण रश्मियों को धारण करने पर सूर्य ही 'पूषा' कहे जाते हैं।[२] स्वामी दयानन्द ने अपनी व्याप्ति से समग्र पदार्थों को पुष्ट करने वाले परमेश्वर को पूषा माना है।[३] प्रायः भाष्यकारों ने भी पूषा को जगत्पोषक, पोषयिता, अथवा पोषक देव का वाचक माना है। ब्राह्मण-ग्रन्थों से भी इसकी पुष्टि होती है।[४] इस प्रकार ये सूर्य की कल्याणकारिणी और पोषक शक्ति के प्रतीक देवता हैं, जो पशुरक्षण और पशुसंवर्धन हेतु अथवा मार्ग ज्ञापन आदि के लिए वेदों में स्तुत हैं। वे स्वस्तिदाता, तेजस्वी, सर्ववीर, सबको यथावत् जानने वाले, कभी प्रमाद न करने वाले, सब दिशाओं के ज्ञाता और सबको निर्भयता के मार्ग से ले जाने वाले माने गये हैं।[५] एक सूक्त से ऐसा ज्ञात होता है कि ये गर्भिणी स्त्री के सुखपूर्वक प्रसवकर्म में भी सहायक हैं।[६] पूषा विनष्ट धन को पुनः प्राप्त करवाने में समर्थ हैं।[७] इस प्रकार ऋग्वेद की अपेक्षा इस वेद में इनका स्वरूप कुछ अधिक विकसित प्रतीत नही होता।

सूर्य देवता के एक रूपविशेष का प्रतिनिधित्व करने वाले देवता को 'विष्णु' नाम से जाना जाता है। आचार्यों द्वारा की गयी इस पद की निरुक्ति से यह स्वतः स्पष्ट है। आचार्य यास्क के अनुसार 'विष्णु' क्रमशः रश्मियों द्वारा व्याप्त, रश्मियों द्वारा सर्वत्र प्रविष्ट अथवा रश्मियों द्वारा अतिशय व्याप्त सूर्य हैं।[८] आचार्य शौनक ने विष्णु की व्याख्या उस सूर्य के रूप में की है, जो सब कुछ हैं और सबमें व्याप्त हैं।[९] कौषीतकि ब्राह्मण में भी सर्वत्र प्रविष्ट होने के कारण ही इन्हें विष्णु माना गया है।[१०] साम्बपुराण भी रश्मियों से सर्वत्र व्यापनशील होने के कारण सूर्य को 'विष्णु' माना है।[११] अतः स्पष्ट है कि निखिल जगत् को व्याप्त करने के कारण अथवा तीनों लोकों में गतिशील होने के कारण सूर्य के रूपविशेष के प्रतीक विष्णु हैं। 'अथर्ववेद' में इनके लिए तीन सम्पूर्ण सूक्त और कुछ अन्य मन्त्र उपलब्ध हैं, जिनसे उनकी व्यापनशीलता का बोध होता है। इन्होंने अपने त्रिविक्रमण द्वारा

---

१. बृहद्दे०, २.६३ : पुष्यन् क्षितिं पोषयति प्रणुदन् रश्मिभिस्तमः। तेनैनमस्तौत्पूषेति भरद्वाजस्तु पञ्चभिः।
२. नि०, १२.१६ : यद् रश्मिपोषं पुष्यति तत् पूषा भवति।
३. ऋ०, १.२३.१४ : पर स्वामीदयानन्दभाष्य-।
४. शत० ब्रा०, १४.४.२.२५ : पूषेयं हीदं सर्वं पुष्यति; तै० ब्रा०, १.६.२.२ : पूषाऽपोषयत्।
५. अथर्व०, ७.१० (९).२ : पूषेमा आशा अनु वेद सर्वाः सो अस्मां अभयतमेन नेषत्। स्वस्तिदा आघृणिः सर्ववीरोऽप्रयुच्छन्पुर एतु प्रजानन्॥
६. वही, १.११ (सम्पूर्ण सूक्त)।
७. वही, ७.१०(९).४ : पुनर्नो नष्टमाजतु सं नष्टेन गमेमहि।
८. नि०, १२.१८ : अथ यद् विषितो भवति तद्विष्णुर्भवति, विष्णुर्विशतेर्वा व्यश्नोतेर्वा।
९. बृहद्दे०, २.६९ : विष्णुर्निरुच्यते सूर्यः सर्वं सर्वान्तरश्च यः।
१०. कौ० ब्रा०, ८.२ : विशतीव तदु ह्यस्य वैष्णवं रूपम्।
११. साम्बपु०, ५१.१७० : यस्याज्जातमिदं सर्वमादित्येनेहरश्मिभिः। प्रवेशनाद् व्यापनाच्च विष्णुस्तेन प्रकीर्तितः।

तीनों लोकों को धारण किया हुआ है[२] तथा सर्वव्यापक यह देव वाणी में भी निवास करने वाला है।[२] इन्हीं के विशाल तीन कदमों में सम्पूर्ण चतुर्दश भुवन आश्रित होकर निवास करता है।[३] दार्शनिक दृष्टि से विष्णुरूप सूर्य विश्वबीज का नियामक है।[४] जगत् में जो कुछ भी तेजोमय और प्राणयुक्त है, वह इन्हीं के अधीन हैं।[५] आचार्य सायण के मत में अन्धकारमय, पदार्थ-प्रकाशन, सकल कर्म निवर्तन, वृष्टि-प्रदान, आरोग्यकरण तथा मोक्ष प्रदान सूर्यदेव के पराक्रमशाली कर्म हैं।[६] अत: सूर्य रूप विष्णु ही सबका पालक है और सर्वत्र परिव्याप्त रहने वाला परमतत्त्व है।

सूर्य की परोपकारी और दयालु शक्ति 'मित्र' देवता के रूप में अभ्यर्थित है। आचार्य यास्क के मत में ये सबकी रक्षा करने वाले, जल से सबको स्निग्ध करने वाले हैं।[७] भाष्यकार सायण के अनुसार जो सभी को प्रकृष्ट रूप से जानते हैं और वृष्टि द्वारा रक्षा करते हैं, वे सूर्य ही 'मित्र' हैं,[८] परन्तु वे सूर्य के किस रूप का प्रतिनिधित्व करते हैं, इस विषय में विद्वानों में मतभेद हैं। कुछ इन्हें प्रात:कालीन प्रकाशित सूर्य अथवा दिवस का वाचक मानते हैं[९] तो कुछ इन्हें सूर्य की परोकारी शक्ति का प्रतीक मानते हैं।[१०] घाटे के अनुसार मित्र सूर्य की शक्ति के उपकारी पक्ष का प्रतिनिधित्व करते हैं[११] जो वृष्टि प्रदान कर प्राणियों को धारण करते हैं या उनकी रक्षा करते हैं। इसीलिए अनेक वैदिक ग्रन्थों में इन्हें वरुण के साथ वर्षा का देवता और जलों का स्वामी माना गया है।[१२] 'अथर्ववेद' में इनकी दो सूक्तों तथा छ: मन्त्रों में स्वतन्त्र रूप से प्रार्थना की गयी है। ये अनेक बार वरुण के साथ संयुक्त रूप में भी स्तुत हैं। अथर्ववेद के एक मन्त्र में स्पष्टत: इन्हें प्रात:कालीन उदित होते हुए वरुण (सूर्य) का रूप कहा गया है।[१३] यही अपनी प्रसरणशील रश्मियों द्वारा विस्तृत पृथिवी को व्याप्त करते हैं और ऋतुओं को भी

---

१. अथर्व०, ७.२७(२६).१ : --य: पार्थिवानि विममे रजांसि---।

२. वही, ७.२७(२६).२ : मृगो न भीम: कुचरो गिरिष्ठा:।

३. वही, ७.२७(२६).३ : यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा।

४. वही, ९.१०.१७ : सप्तार्धगर्भा: भुवनस्य रेतो विष्णोस्तिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्मणि।

५. वही, ७.२५.२ : यस्येदं प्रदिशि यद् वि रोचते प्र चानति।

६. वही, १७.१.६ पर सायण भाष्य।

७. नि०, ३.५९.१ पर सायण-प्रकर्षेण सर्वैर्मीयत ज्ञायते तथा सर्वान् वृष्टिप्रदानेन त्रायत् इति वा मित्र: सूर्य:।

८. नि० १०.२१: मित्र: प्रमीतेस्त्रायते। सम्मिन्वानो द्रवतीति वा। मेदयतेर्वा॥

९. मैक्समूलर, लेक्चरर्स ऑन द ओरिजिन एण्ड ग्रोथ आकरीलिजन, पृ. २६८; कीथ रीलिजन एण्ड फीलोसोफी ऑफ वेद एण्ड उपनिषद्, भाग, पृ. ९८.

१०. आप्टे, द वैदिक एज. पृ. ३६६-६७; मैक्डोनल, वैदिक माइथालॉजी, पृ. ३०.१

११. घाटेस् लेक्चर ऑन वेद, पृ. १५३।

१२. अथर्व०, ५.२४.५ : मित्रावरुणौ वृष्ट्या अधिपती; तै० सं०, ६.४.६.२ : मित्रावरुणौ वा अपां नेतारौ; शत० ब्रा०, १.८.३.१२ : मित्रावरुणौ त्वा वृष्ट्यावताम्।

१३. वही, १३.३.१३ : स मित्रो भवति प्रातरुद्यन्-।

व्यवस्थित करते हैं।[१] ये धन और दीर्घायु प्रदान करने के लिए प्रायः स्तुत हैं।[२] अतः अथर्ववेद के मन्त्रों से स्पष्ट है कि ये सूर्य देवता के ही रूप हैं।

'भग' आदित्यगण के एक देव हैं, जो सूर्य के भजनीय, ऐश्वर्यवान् रूप के प्रतिनिधि देवता माने गये हैं। यास्क के अनुसार ये पूर्व मध्याह्न के अधिष्ठातृ देवता हैं।[३] निरुक्त वृत्तिकार दुर्ग के मत में सावित्रकाल के पश्चात् आने वाली उष्ण ज्योति ही 'भग' है।[४] आचार्य शौनक की मान्यता है कि सूर्य अपनी रश्मियों से इन लोकों को दीप्तिमान् करते हुए उदित हुए, अतः 'भग' कहे गये हैं।[५] श्री अरविन्द ने भी 'भग' को प्रकाश का संरक्षक देवता माना है, जो मानवीय चेतना में दिव्य आनन्द देने वाले हैं।[६] स्वामी दयानन्द ने भी इन्हें सूर्य के साथ-साथ ऐश्वर्ययुक्त जगदीश्वर का वाचक माना है।[७] अतः ऐसा प्रतीत होता है कि वैभव, सम्पत्ति, भद्र और सौभाग्य आदि के प्रदाता भजनीय सूर्य का अपर नाम ही भग है। 'अथर्ववेद' के दो सम्पूर्ण सूक्त तथा कतिपय मन्त्र इनके लिए समर्पित हैं। यहाँ एक मन्त्र में इन्हें अदिति का पुत्र कहा गया है तथा इनकी अभ्यर्थना अशक्त, बलवान् और राजा सभी धनप्राप्ति के लिए करते हैं।[८] यह देवता अश्व आदि पशुओं तथा पुत्र-पौत्र-भृत्य आदि से सम्पन्न करने वाला माना गया है।[९] एक अन्य मन्त्र में इन्हें 'अन्धः' (अन्धा या अन्नमय) कहा गया है, जो अन्यत्र आने-जाने में असमर्थ होने के कारण गत अथवा आक्रान्त प्रदेश में ही चक्कर लगाते रहते हैं।[१०] आचार्य यास्क ने भग की इस दृष्टिहीनता को उनके सूर्यरूप होने में एक प्रमाण माना है।[११] अथर्ववेद के एक मन्त्र में उषाओं के पश्चात् भग के आगमन का उल्लेख उनके सौर स्वरूप का द्योतक है।[१२] इस प्रकार अथर्ववेद में प्राप्त संकेतों के आधार पर भग को सूर्य के धनवान्, दानशील और भजनीय रूप का अधिष्ठातृ देवता मानना युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

'आदित्य' भी सौर्यमण्डल के एक देवता हैं, जो सूर्य के आदाता अथवा ग्रहीता एवं प्रकाशक रूप के अभिमानी देवता माने जाते हैं। 'यजुर्वेद' एवम् 'अथर्ववेद' में प्राप्त इनकी पर्याप्त स्तुतियाँ इनके देवता रूप को

---

१. वही, ३.८-१ : आ यातु मित्र ऋतुभिः कल्पमानः संवेशयन्पृथिवीमुस्रियाभिः।

२. वही, १.९.१.

३. १२.१३ : भगो व्याख्यातः। तस्य कालः प्रागुत्सर्पणात्।

४. नि०, १२.१३ पर दुर्गवृत्ति-तस्मात्सावित्र्यात्कालात् परतः एतदुत्तमं ज्योतिर्भगाख्यं भवति।

५. बृहद्दे० २.६२ : उदितो भासयंल्लोकान् इमांश्चैष स्वरश्मिभिः। स्वयं वसिष्ठस्तेनैनम् ऋषिराह स्तुवन्भगम्॥

६. अरविन्द, सेक्रैड ऑफ वेदास्, पृ० ५१०.

७. दयानन्द वैदिक कोष, पृ० ६७०.

८. अथर्व०, ३.१६.२ : आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद् राजा चिद् यं भगं भक्षीत्याह।

९. वही, ३.१६.३ : भग प्र णो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम।

१०. अथर्व०, ६.१२९.३ : यो अन्धो यः पुनः सरो भगो वृक्षेष्वाहितः।

११. नि०, १२.१४.

१२. अथर्व०, ३.१६.६ : समध्वरायोषसो नमन्तः दधिक्रावनेव शुचये पदाय। अर्वाचीनं वसुविदं भगं मे रथमिवाश्वा वाजिन आ वहन्तु॥

पुष्ट करती हैं। ये प्रधानतः सूर्य देव हैं तथा अदिति के पुत्र होने के कारण 'आदित्य' कहे जाते हैं।[१] तैत्तिरीय संहिता के अनुसार वे ही उत्तम ज्योति हैं।[२] सर्वप्रथम उदित होकर वही सभी लोकों और दिशाओं को अपने प्रकाश से प्रकाशित करते हैं।[३] 'वाजसनेयि-संहिता' में इन्हें आलस्य न करने वाला तथा देवताओं और मनुष्यों का रक्षक स्वीकार किया गया है।[४] शतपथ-ब्राह्मण के अनुसार अग्नि, वायु तथा आदित्य ही विश्वज्योति हैं।[५] इसी ब्राह्मण में आदित्य को स्पष्टतः 'सूर्य' संज्ञा से अभिहित किया गया है।[६] यद्यपि आदित्यगण के सभी देवता आदित्य कहे जा सकते हैं, परन्तु इस नाम से सूर्य देवता ही स्तुत हैं, क्योंकि द्वादश आदित्यों में सूर्य मुख्य हैं।[७] आचार्य यास्क ने भी 'आदित्य' शब्द की विविध व्युत्पत्तियाँ सूर्यपरक ही की हैं।[८]

'अथर्ववेद' में भी सूर्य देवता की ही स्तुति आदित्य के रूप में की गयी है और उन्हें सात सम्पूर्ण सूक्त समर्पित हैं।[९] इस वेद से स्पष्टतया यह पुष्ट हो जाता है कि आदित्य सूर्य ही हैं, क्योंकि सूर्य की स्तुति करते हुए ऋषि कभी उसे 'आदित्य' के नाम से सम्बोधित करते हैं तो कभी आदित्य की स्तुति करते हुए उन्हें 'सूर्य' नाम से पुकारते हैं।[१०] एक मन्त्र में तो एक ही देवता के लिए 'आदित्य' और 'सूर्य' नामों का प्रयोग भी दृष्टिगोचर होता है।[११] यही नहीं, अनेक मन्त्रों में उनके उदय और प्रकाशमान होने का वर्णन है। वे अपने प्रकाश से आकाश और पृथिवी को प्रकाशित करते हैं।[१२] यही आदित्य पांच रश्मियों द्वारा ऊर्ध्वमुख होकर ऊपर के लोकों को आलोकित करते हैं और एक रश्मि द्वारा अधोमुख होकर नीचे के लोक, पृथिवी को प्रकाशित करते हैं।[१३] यही देव तेजयुक्त होने के कारण 'शुक्रः', 'भ्राजः', एवं 'रुचिः' कह कर सम्बोधित किये गए हैं।[१४] एक मन्त्र में इनके उदय और अस्त से सम्बद्ध विविध रूपों को नमस्कार किया गया है।[१५] एक अन्य मन्त्र में आदित्य से जगत् के कल्याणार्थ

---

१. शत० ब्रा०, ३.१.३.३ : अष्टौ ह वा पुत्रा अदितेः। यांस्त्वेतद्देवा आदित्या इत्याचक्षते; तुल०, नि०, २.१३.
२. तै० सं०, ५.१.८ : असौ वा आदित्यो ज्योतिरुत्तमः।
३. वाज० सं०, १३.३.
४. वही, ८.३.
५. शत० ब्रा०, ६.३.३.१६ : अग्निं वायुमादित्यमेता ह्येव देवता विश्वं ज्योतिः.......।
६. वही, ९.४.२.२३ : असौ वा आदित्यः सूर्यः।
७. तै० सं०, ४.४.५ पर सायण-आदित्याः द्वादशसंख्याकास्तेष्वेको मुख्यः सूर्यः।
८. नि०, २.१३ : आदित्यः कस्मादादत्ते रसानादत्ते भासं ज्योतिषामादीप्तो भासेति वा।
९. अथर्व०, २.२३; ४.१; ६.८१; ९.१४; १६.३; १६.४; १७.१।
१०. वही, १३.२.३; १७.१.२६.
११. वी, १३.२.२९ : बण्महाँ असि सूर्य बडादित्य महाँ असि; तुल० वही, २०.५८.३।
१२. वही, १७.१.१६ : त्वं रक्षसे प्रदिशश्चतस्रस्त्वं शोचिषा नभसी वि भासि।
१३. वही, १७.१.१७ : पञ्चभिः पराङ्तपस्येकयार्वाङशस्तिमेषि---।
१४. वही, १७.१२०, २१.
१५. वही, १७.१.२२, २३.

रथ रूपी नौका पर आरूढ़ होकर सुखपूर्वक दिन और रात्रि से पार करने की प्रार्थना की गयी है।[१] पुनः अग्रिम मन्त्र में यही प्रार्थना सूर्य को सम्बोधित करते हुए की गयी है,[२] अतः इससे आदित्य और सूर्य का एकत्व सूचित होता है। एक अन्य मन्त्र में अपनी पूर्ण तपन के साथ आदित्य के उदय होने के उल्लेख से भी सूर्य और आदित्य की अभिन्नता सिद्ध होती है।[३] 'अथर्ववेद' के एक सूक्त में आदित्य द्वारा कृमियों के विनाश का संकेत भी प्राप्त होता है। यहाँ उदित होते हुए तथा अस्त होते हुए आदित्य अपनी व्यापनशील रश्मियों द्वारा कृमियों का नाश करने वाले बताये गये हैं।[४] एवमेव अन्यत्र ही मन्त्र में सूर्य और आदित्य द्युलोक में उदित होते हुए अदृष्ट कीटाणुओं के विनाशक कहे गये हैं,[५] जिससे इनकी अभिन्नता तो पुष्ट होती ही है, साथ ही इनके भैषज्यरूप का भी ज्ञान होता है। अतः वेद में आदित्य रूप से सूर्य देवता ही स्तुत हैं।

सूर्य देवता की स्तुति वेदों में 'विवस्वान्' के रूप में भी की गयी है। ये सूर्य के देदीप्यमान स्वरूप के द्योतक हैं। यह बात आचार्यों द्वारा की गयी इनके नाम की व्युत्पत्ति से प्राप्त अर्थ से स्वतः स्पष्ट है। आचार्य यास्क ने 'वि' उपसर्गपूर्वक 'वासय्' धातु से व्युत्पन्न इन्हें 'विवासनवान्' अर्थात् निकालने वाला आदित्य माना है।[६] इनके स्वरूप को और अधिक स्पष्ट करते हुए आचार्य दुर्ग ने इन्हें विवासन क्रिया द्वारा अन्धकार को दूर करने वाला आदित्य बताया है।[७] अतः यास्क के मत में विवस्वान् सूर्य का नाम या विशेषण है। अन्य अनेक विद्वानों ने भी इनको एक सौर देवता स्वीकार किया है।[८] 'शतपथ-ब्राह्मण' के अनुसार भी विवस्वान् दिन-रात को प्रकाशित करने वाला आदित्य है।[९] इस बात की पुष्टि 'तैत्तिरीय-ब्राह्मण' से भी हो जाती है, क्योंकि इसमें उल्लिखित आठ आदित्यों में विवस्वान् भी एक है।[१०] इन साक्ष्यों से स्पष्ट है कि विवस्वान् और सूर्य में कोई भेद नहीं है।

विवस्वान् के प्राकृतिक स्वरूप पर विचार करते हुए विद्वानों ने सूर्य के रूप में इनकी भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्या की है। केगी के अनुसार विवस्वान् प्रातःकालीन सूर्य हैं, जो दिन के प्रकाश के अधिष्ठातृ देवता हैं।[११]

---

१. वही, १७.१.२५ : आदित्य नावमारुक्षः शतारित्रां स्वस्तये। अहर्मात्यपीपरो रात्रि सत्राति पारय॥

२. वही, १७.१.२६ : सूर्य नावमारुक्षः शतारित्रां स्वस्तये। -----।

३. वही, १७.१.२४ : उदगादयमादित्यो विश्वेन तपसा सह।

४. अथर्व०, २.३२.१ : उद्यन्नादित्यः क्रिमीन् हन्तु निम्रोचन् हन्तु रश्मिभिः----।

५. वही, ६.५२.१ : उत् सूर्यो दिव एति पुरो रक्षांसि निजूर्वन्। आदित्यः पर्वतेभ्यो विश्वदृष्टो अदृष्टहा॥

६. नि०, ७.२६ : विवस्वतः आदित्याद्विवस्वान्विवासनवान्-।

७. नि०, ७.२६ पर दुर्गवृत्ति-निवासनक्रियया तमसां तद्वतस्त पर्यगृह्णन् अन्तरिक्षे लोके।

८. मैक्डॉनल, वैदिक माइथोलोजी, पृ० ४२; कीथ, रीलिजन एण्ड फिलासोफी आफ वेद एवम् उपनिषद्, प्रथम भाग; पृ० ११२; श्रीवास्तव, सन वर्शिप इन एशियण्ट इण्डिया, पृ० ११३; त्रिपाठी गयाचरण; वैदिक देवता उद्भव एवं विकास, प्रथम भाग, पृ० २२३.

९. शत० ब्रा०, १०.५.२.४ : असौ वा आदित्यौ विवस्वानेष ह्यहोरात्रे विवस्ते।

१०. तै० ब्रा०, १.१.९.१.

११. द्र०, केगी, ए : द ऋग्वेद, पृ० १६८.

ब्लूमफील्ड ने सूर्य के प्रारम्भिक रूप में इनकी सम्भावना व्यक्त की है।[१] रेनो, कीथ आदि विद्वानों ने विवस्वान् को एक और देवता माना है, जिसे भारत और ईरान में मानवता का प्रथम जनक स्वीकार किया गया है।[२] मैक्डॉनल और कीथ ने भी यही सम्भावना व्यक्त की है कि वे उदीयमान सूर्य के रूप हैं।[३] जे०एन० बनर्जी का भी यही मत है कि विवस्वान् मूलतः सूर्य का उदयकालीन रूप है, जिसे वैदिक ऋषियों ने मानव जाति का पूर्वज प्रथम याज्ञिक माना है।[४] लुडविग ने इन्हें प्रकाशमान आकाश का देवता बताया है।[५] डॉ० गयाचरण त्रिपाठी के मत में सूर्य देवता सूर्यमण्डल के भौतिक स्वरूप के प्रतिनिधि देवता हैं, तो विवस्वान् उसके आधिदैविक स्वरूप के।[६] इस प्रकार प्रायः सभी विद्वानों ने किसी न किसी रूप में विवस्वान् को सूर्य से सम्बद्ध माना है। देदीप्यमान रूप में इनके एक सौर देवता होने की पुष्टि इनके नाम (विवस्वान्) की व्युत्पत्ति के साथ-साथ संहिताओं और शतपथ-ब्राह्मण से भी हो जाती है।[७] लौकिक साहित्य में तो सूर्य का एक सामान्य नाम ही विवस्वान् हो गया है।[८] अतः ऐसा प्रतीत होता है कि देदीप्यमान सूर्य के उदीयमान स्वरूप की ही वन्दना वैदिक ऋषियों ने 'विवस्वान' इस नाम से की है और यही सम्पूर्ण प्रजा के आदि जनक माने जाते हैं। सम्भवतः इसी धारणा को दृष्टिगत करते हुए 'शतपथ-ब्राह्मण' और 'तैत्तिरीय-संहिता' में सम्पूर्ण मानव जाति को विवस्वान् की सन्तान कहा गया है।[९]

'अथर्ववेद' में यह देवता एक सम्पूर्ण सूक्त (६.११६) और एक मन्त्र (११.६-२) में स्तुत हैं, जबकि ऋग्वेद में इनके लिए पृथक् रूप में एक भी मन्त्र उपलब्ध नहीं होता 'अथर्ववेद' में यह देव मित्रावरुण, भग, अंश आदि आदित्य-देवताओं के साथ भी उल्लिखित है।[१०] इससे स्पष्ट है कि ये एक सौर्य देव हैं। इस वेद से ज्ञात होता है कि विवस्वान् निर्भय बनाने वाले, भलीभांति रक्षा करने वाले, जीवन देने वाले[११] तथा मृत्यु से बचाकर अमृतत्व में स्थापित करने वाले हैं[१२]; अतः उपासनीय हैं। परन्तु अथर्ववेद के कतिपय मन्त्रों में क्रूर और विनाशक रूप का भी संकेत प्राप्त होता है।[१३] यद्यपि 'अथर्ववेद' में प्राप्त संकेतों से विवस्वान् का अधिक स्फुट-स्वरूप

---

१. द्र०, ब्लूमफिल्ड, एम : द रिलीजन आफ द वेद, पृ० १४१.
२. द्र०, रेनो, लोइस : वैदिक इण्डिया, कलकत्ता, १९५७, पृ० ६७
३. द्र० मैक्डोनल, ए० ए० : वैदिक माइथालॉजी, पृ० ४३; कीथी, ए० बी० : द रिलीजन एण्ड फीलॉसोफी ऑफ द वेद एण्ड उपनिषदस, भाग, पृ० ११२.
४. द्र० बनर्जी जे० एन० : द डेवलपमेन्ट आफ हिन्दू आइकोनोग्राफी, कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९५६, पृ० ४२८.
५. द्र० लुडविग : द ऋग्वेद, भाग, पृ० ३३३.
६. द्र० त्रिपाठी, गयाचरण : वैदिक देवता उद्भव एवं विकास, प्रथम भाग, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, १९८१, पृ० २२४.
७. शत० ब्रा०, १०.५.२.४ ; वाज० सं०, ८.५; मै० सं०, १.६.१२ : असौ वा आदित्यो विवस्वान्।
८. किरातार्जुनीयम्, ५.४८ : भवति दीप्तिदीपितकन्दरा तिमिरसंवलितेव विवस्वतः।
९. शत० ब्रा०, ३.१.३.४; तै० सं०, ६.५.६.२.
१०. अथर्व०, ११.६.२ : ब्रूमो राजानं वरुणं मित्रं विष्णुमथो भगम्। अंशं विवस्वन्तं ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥
११. वही, १८.३.६१ : विवस्वान् नो अभयं कृणोतु यः सुत्रामा जीरदानुः सुदानुः।
१२. वही, १८.३.६२ : विवस्वान् नो अमृतत्वे दधातु परैतु मृत्युरमृतं न एतु।
१३. वही, १९.९.७ : शं नो मित्रः शं वरुणः शं विवस्वाञ्छमन्तकः।

नहीं, तथापि इन मन्त्रों एवं साक्ष्यों से यह तो स्पष्ट है कि वे सूर्य के देदीप्यमान स्वरूप के ही अभिधायक हैं।

सूर्य के इन अभिधानों के अतिरिक्त 'अथर्ववेद' में इनके लिए एक नया नाम-'रोहित' दृष्टिगोचर होता है, जो इस वेद के तेरहवें काण्ड के नौ सूक्तों का देवता है।[१] यहाँ यह नाम लगभग पचहत्तर (७५) बार आया है और देवता का वाचक है। 'रोहित' नामक इस स्वतन्त्र देवता की परिकल्पना आथर्ववैदिक ऋषियों की मौलिक उद्भावना है। यद्यपि मन्त्रों से यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि रोहित देवता का प्राकृतिक आधार क्या है? अथवा यह मात्र एक विशेषण है? तथापि विभिन्न विद्वानों के अभिमत और 'अथर्ववेदीय' मन्त्रों में प्रतिपाद्य इनके वैशिष्ट्य से ऐसा प्रतीत होता है कि सूर्य के एक रूप विशेष की स्तुति 'रोहित' के रूप में की गयी है।

रोहित देवता का वास्तविक रूप क्या है? इस विषय में विद्वानों के अनेक मत हैं। पाश्चात्त्य विद्वान् हॉपकिन्स और लुई रेनो ने रोहित को एक सौर देवता माना है।[२] म्यूर और ग्रिफिथ के मत में यह सम्भवतः अग्नि अथवा सूर्य का एक रूप है।[३] ब्लूमफील्ड के विचार में यह एक सौर देवता है, जो उदीयमान लाल सूर्य का वाचक है।[४] मैक्डॉनल भी इन्हें एक सौर देवता मानते हैं और 'लाल' अर्थ में सूर्य का एक विशेषण स्वीकार करते हैं,[५] परन्तु कर्मबेलकर तो रोहित को प्रकाशमान रक्तिम सूर्य मानते हैं।[६] भारतीय विद्वानों में भाष्यकार आचार्य सायण रोहित को उदीयमान सूर्य का रूप समझते हैं[७] तथा सातवलेकर इसे सूर्य का ही पर्याय स्वीकार करते हैं।[८] पाश्चात्त्य विद्वान् कीथ सूर्य की लालिमा को आधार बनाकर रोहित को अथर्ववेद का एक भावात्मक देवता मानते हैं।[९] इस प्रकार प्रायः सभी विद्वानों ने रोहित को सूर्य देवता के रूपविशेष का द्योतक माना है, इसकी पुष्टि अथर्वसर्वानुक्रमणी से भी हो जाती है, क्योंकि इस ग्रन्थ में 'रोहितादित्यदैवत्यम्' कहकर 'अथर्ववेद' के त्रयोदशकाण्ड को 'रोहित आदित्य' से सम्बन्धित बताया गया है।[१०] इस प्रकार उपर्युक्त मतों से ऐसा प्रतीत होता है कि 'अथर्ववेद' में 'रोहित' नाम से उदीयमान सूर्य के लाल मण्डल की देवता रूप में अभ्यर्थना की गयी है।

---

१. वही, १३.१, १३.२, १३.३, १३.४ से ९ तक (सम्पूर्ण सूक्त)।
२. हॉपकिन्स, ई० डब्ल्यू : द रेलिजन ऑफ इण्डिया, लन्दन, १८९५, पृ० २०९; रेनो, लुई : वैदिक इण्डिया, कलकत्ता, १९५७, पृ० ६७.
३. म्यूर, जे : ओरिजिनल संस्कृत टेक्स्ट्स, भाग, लन्दन, १८६३, १८७२, पृ० ३५९ ग्रिफिथ, आर०टी०एच० : हिम्स ऑफ द ऋग्वेद, बनारस, भाग दो, १८९६-८७, पृ० १३३.
४. ब्लूमफील्ड, एम. : द अथर्ववेद, स्ट्रासबर्ग, १८९९, पृ० ८९, ९३, ६६१; द अथर्ववेद एण्ड द गोपथ-ब्राह्मण, पृ० ९३.
५. मेक्डॉनल एण्ड कीथ : वैदिक इन्डेक्स, भाग, पृ० २२८
६. कर्मबेल्कर, वी०डब्ल्यू० : द अथर्ववैदिक सिविलाइजेशन, नागपुर, १९५० पृ० २३; द अथर्ववेद एण्ड द आयुर्वेद, नागपुर, १९६१, पृ० २०९.
७. अथर्व०, १३.१ पर सायणभाष्य-उद्यन् यः सूर्यस्तदात्मक इति ज्ञेयम्।
८. वही, १३.१ पर सातवलेकर का सुबोध भाष्य, भाग पृ० ३८-४७।
९. कीथ, ए०बी० : द रिलिजन एण्ड फिलोसोफी आफ द वेद एण्ड उपनिषद्स, भाग-६, लन्दन, १९२५, पृ० २४
१०. अथर्व० सर्वा०,

'रोहित उदीयमान सूर्य के लाल मण्डल के प्रतीक हैं' इस बात की पुष्टि 'अथर्ववेद' में प्राप्त विवरणें से भी होती है। इस वेद के अनेक मन्त्रों में जगत् को आलोकित करने तथा राष्ट्र के भरण-पोषण के लिए रोहित से उदित होने की प्रार्थना की गयी है।[१] कुछ मन्त्रों में उदित होते हुए लाल वर्ण के रोहित के आकाश में ऊपर चढ़ने[२], उदयाचल पर निकलने और मध्यावकाश में ऊंचे चढ़ने आदि का संकेत प्राप्त होता है;[३] कहीं ऊर्ध्वलोक में प्रतिष्ठित होकर अपनी तीक्ष्ण ज्योति से उसके सुशोभित होने का उल्लेख मिलता है।[४] असंख्य रश्मिसमूह वाला होने के कारण इन्हें 'सहस्रशृङ्ग' एवं 'तिग्मशृङ्ग' वृषभ इस विशेषण से सम्बोधित किया गया है।[५] एक अन्य मन्त्र में ऐसा भाव व्यक्त किया गया है कि रोहित सुदूर परम धाम में रहता हुआ भी यहां-वहाँ की सभी वस्तुओं व प्राणियों को जानता है, उन्हें देखता है तथा यहाँ अर्थात् पृथ्वी लोक में रहने वाले मेधावी पुरुष आकाश में प्रतिष्ठित तुम्हें सूर्य रूप में देखते हैं।[६] इससे स्पष्ट है कि सूर्य को ही रोहित कहा गया है। कुछ अन्य मन्त्रों में भी उदित होते हुए रोहित द्वारा अपनी किरणों को फैलाने, सभी पदार्थो को पुष्ट करने, तथा अपनी रश्मियों से भूमि और अन्तरिक्ष में एक साथ विचरण करने का संकेत मिलता है।[७] एकत्र द्युलोक के अधिष्ठाता इन्हें सम्पूर्ण दिशाओं में विचरण करने वाला बताया गया है।[८] यही नहीं, सूर्य के समान इन्हें रात-दिन का निर्माता, अन्धकार निवारक, तथा सात हरित अश्वों से युक्त रथ पर बैठने वाला कहा गया है।[९] रोहित-सूक्त के अनेक मन्त्रों मे तो सूर्य की ही स्तुति अथवा वर्णन दृष्टिगोचर होता है।[१०] इसके अतिरिक्त 'ऋग्वेद' के सूर्यपरक मन्त्रों का अथर्ववेदीय रोहित-सूक्त के मन्त्रों के रूप में प्रयोग भी रोहित और सूर्य की एकरूपकता का परिचायक है।[११]

'अथर्ववेद' में रोहित देव की व्यापकता और महत्ता को विशेष रूप से प्रतिपादित किया गया है, जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि वे यहाँ परमसत्ता या ब्रह्मरूप में स्तुत है। एकत्र वे काल, प्रजापति, यज्ञों के मुख अर्थात् अग्नि तथा प्रकाश या सुख लाकर सभी के पोषक बताए गए हैं।[१२] वे ही इस दृश्यमान जगत् के जनक हैं, तथा

---

१. अथर्व०, १३.१.१, २,५,८ इत्यादि।

२. वही, १३.१.४ : रुहो रुरोह रोहित आ रुरोह--।

३. वही, १३.१.९; १३.१२.६ इत्यादि।

४. वही, १३.१.११ : ऊर्ध्वो रोहितो अधिनाके अस्थाद्--तिग्मेनाग्निर्ज्योतिषा विभाति।

५. वही, १३.१.१२; १३.१.२५.

६. वही, १३.१.३९ : अमुत्र सन्निह वेत्थेत: संस्थानि पश्यसि। इत: पश्यन्ति--दिवि सूर्यं--।

७. वही, १३.२.१० : उद्यन् रश्मीना तनुषे विश्वा रूपाणि पुष्यसि; वही, १३.२.४०-४१.

८. वही, १३.२.४१ : सर्वा दिश: समचरद् रोहितोऽधिपतिर्दिव:।

९. वही, १३.२.५, ३४; १३.२.२३-२४.

१०. वही, १३.१.२४,२५,३२,३५,३९,४५; १३.२२३-२४,२९,३२ इत्यादि।

११. द्रष्टव्य अथर्व; १३.१.४१, ऋ०१.१६४.७, १७; अथर्व०, १३.१.४२, ऋ०१.१६४.४१; अथर्व०, १३.१.६०, ऋ०१०.५७.२; अथर्व०, १३.२.३५, ऋ०१.११५.१; अथर्व०, १३.३.३९, ऋ०१.१६४.४७ इत्यादि।

१२. अथर्व०, १३.२.३९ : रोहित: कालोऽभवद् रोहितोऽग्रे प्रजापति:। रोहितो यज्ञानां मुखं रोहित: स्वराभरत्॥

सभी रूपों को प्रकट करने वाले और भूत एवं भावी जगत् के स्वामी हैं।[१] वे सभी देवों को स्वयं में समाहित किये हुए सभी भुवनों के द्रष्टा हैं।[२] वे ही एकमात्र व्यापक देव माने गये हैं जिनमें सब देवता एकरूप होते हैं।[३] उन्हीं में विराट्, परमेष्ठी, प्रजापति, अग्नि और वैश्वानर स्थित हैं[४] तथा वे ही मृत्यु, अमरत्व, महान्, रक्षक, रुद्र, वषट्कार इत्यादि माने गये हैं।[५] एक मन्त्र में स्पष्टत: उन्हें ब्रह्म कहा गया है।[६] इस प्रकार प्रजापति, ब्रह्म आदि से रोहित का तादात्म्य उन्हें जीवनदाता तथा परमतत्त्व सिद्ध करता है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि रोहित मूलत: सूर्य के रूप विशेष हैं, जो इस संहिता में परमदेव एवं सृष्टिकर्ता के रूप में प्रतिष्ठित हो गये हैं। अनेक मन्त्रों में उनके रोहण का उल्लेख[७] भी यह इंगित करता है कि सूर्य के रोहणशील रूप का प्रतिनिधित्व करने के कारण इनका नाम 'रोहित' पड़ा है। अत: स्पष्ट है कि 'अथर्ववेद' में सूर्य का उदीयमान रूप ही रोहित देव के रूप में प्रतिष्ठित है।

'अथर्ववेद' में 'ब्रध्न' नामक एक सौर देवता की स्तुति एक सूक्त में की गयी है।[८] 'तैत्तिरीय-संहिता' में भी इनके लिए मन्त्र समर्पित हैं।[९] 'अथर्ववेद' में ऐसा प्रतिपादित है कि वे क्रान्तदर्शी ऋषियों की बुद्धि एवं नाना कर्मों की प्रेरणा देने वाले ज्योतिरूप हैं तथा सम्यक् गतिशील, निर्मल, चेतना का संचार करने वाली, दिन में अत्यधिक प्रकाश करने वाली उषा की किरणों को प्रेरित करते हैं।[१०] आचार्य सायण ने सम्पूर्ण जगत् को नियमित करने के कारण सूर्य का अपर पर्याय 'ब्रध्न' माना है।[११] उनके अनुसार वही सभी को स्व-स्व कर्मों और उनके फलों से संयुक्त करने वाला है; अत: 'ब्रध्न' कहा जाता है।[१२] 'तैत्तिरीय-ब्राह्मण' भी ब्रध्न को आदित्य बताता है।[१३] इससे ऐसा प्रतीत होता है कि जगन्नियन्ता सूर्य इस वेद में ब्रध्न नाम से स्तुत हैं और वह उनका ही अपर पर्याय है।

इसके अतिरिक्त 'अथर्ववेद' में ऋषि भृगु ने 'काल' नामक देव के लिए दो सूक्त (१९.५३-५४) समर्पित किये हैं, जिनमें यह प्रतिपादित है कि सम्पूर्ण विश्व उसी काल से चेष्टावान् है, उसी से उत्पन्न हुआ है तथा

---

१. वही, १३.१.१ : यो रोहितो विश्वमिदं जजान--; वही, १३.१.११; १३.३.७।
२. वही, १३.२३८ : स देवान्त्सर्वानुरस्युपदद्य संपश्यन् याति भुवनानि विश्वा।
३. वही, १३.४.१२-२१ : स एष एक एकवृदेक एव। सर्वे अस्मिन् देवा एकवृतो भवति।
४. वही, १३.३.५ : यस्मिन् विराट् परमेष्ठी प्रजापतिरग्निर्वैश्वानर: सह पङ्क्त्या श्रित:।
५. वही, १३.४.२५-२६.
६. वही, १३.२.१३ : नन्वेतदित: पुरा ब्रह्म देवा अमी विदु:।
७. वही, १३.१.४, ८, ९, २६, ३४, ४३; १३.२.२५ इत्यादि।
८. अथर्व०, ७.२३.१-२.
९. तै० सं०, ७.४.२०.
१०. अथर्व०, ७.२३.१ : अयं सहस्रमा नो दृशे कवीनां मतिर्ज्योतिर्विधर्मणि; वही, ७.२३.२ : ब्रध्न: समी चीरुषस: समैरयन्०।
११. वही, २०.२६.४ पर सायणभाष्य-ब्रध्नशब्द: सूर्यपर्याय:; बध्नाति नियमयति सर्वं जगदिति ब्रध्न: सूर्य:।
१२. वही, ७.२३.२ पर सायणभाष्य-ब्रध्न: सर्वेषां स्व स्वकर्मसु तत्फलेषु च बन्धक: संयोजक: सूर्य:।
१३. तै० ब्रा०, ३.९.४.२ : असौ आदित्यो ब्रध्न: आदित्यमेवास्मै युनक्ति।

उसी में अधिष्ठित है और वही ब्रह्मस्वरूप होकर सृष्टिकर्ता ब्रह्मा को भी धारण करता है।[१] आचार्य सायण एक ओर इस कालाख्य देव को सम्पूर्ण जगत् को गतिमान् करने वाला अनवच्छिन्न कालरूप परमेश्वर मानते हैं, परन्तु दूसरी ओर वे उसे सात रश्मियों से युक्त आदित्य भी स्वीकार करते हैं।[२] इससे ऐसा प्रतीत होता है कि यह 'काल' नामक देव जागतिक समय (काल चक्र) का नियामक, निरन्तर गति करने वाला असंख्य रश्मिसमूहों वाला सूर्य है, जो संवत्सर रूपी उस कालचक्र का जनक है, जिसका सम्यक् उपयोग करते हुए बुद्धिमान् क्रान्तदर्शी लोग लाभ उठाते हैं।[३] इस विषय में निरुक्तकार आचार्य यास्क का भी यही अभिमत है।[४] तैत्तिरीय-संहिता भी इस तथ्य की पुष्टि करती है।[५] वही सप्त ऋतुओं (ऋ०, १.९५.३), वर्ष, महीनों, रात-दिन आदि काल (समय) की इकाईयों का भी जनक माना गया है।[६] बृहद्देवताकार आचार्य शौनक ने भी संवत्सररूपी कालचक्र के तीन, पांच, छह, सात तथा बारह-चक्रों का संकेत किया है।[७] कालचक्र की इन इकाईयों का नियामक सूर्य को माना जाता है। अत: 'काल' संज्ञक यह देव समय-चक्र के अधिष्ठाता आदित्य से सम्बद्ध हैं, क्योंकि वही समय का नियमन करता है। 'अथर्ववेद' में अन्यत्र भी रोहित अर्थात् 'आदित्य' अर्थात् अरुण वर्ण के सूर्य के लिए 'काल' शब्द का व्यवहार किया गया है।[८] उपर्युक्त तथ्यों से ऐसा प्रतीत होता है कि समय चक्र का नियन्ता सूर्य ही इस वेद में 'काल' नामक देव के रूप में प्रतिष्ठित हो गया है, अत: यह भी एक सौर देवता है।

इस प्रकार उपर्युक्त सूर्य-रूपों की मीमांसा से स्पष्टत: यह प्रतीत होता है कि चराचर प्राणियों के जीवन को दु:ख से रहित और सुखद बनाने के लिए सूर्य की उपादेयता को भली-भांति समझ कर आथर्वणिक ऋषियों ने प्राणिजगत् के लिए जीवनदायी उनके विविध रूपों को ध्यान में रखकर उनके रूप-वैशिष्ट्य के अनुसार विविध नामों से देवता रूप में उनकी उपासना की है। उनकी अनेकरूपता ही उनके सर्वदेवत्व को सिद्ध करता है। यही कारण है कि 'अथर्ववेद' के अनेक मन्त्रों में सूर्य का ब्रह्म रूप प्रतिपादित है और उन्हें ब्रह्म का दृश्य रूप माना गया है।[९] अन्यत्र भी आदित्य को ब्रह्मरूप स्वीकार किया गया है।[१०] अथर्ववेद के एक मन्त्र में पञ्चमहाभूतों में सूर्य

---

१. अथर्व०, १९.५३.९ : तेनेषितं तेन जातं तदु तस्मिन्प्रतिष्ठितम्। कालो ह ब्रह्म भूत्वा बिभर्ति परमेष्ठिनम्॥

२. वही, १९.५३.१ पर सायणभाष्य-काल: कलयिता सर्वस्य जगत: अनविच्छन्नकालरूप: परमेश्वर: अथवा अश्वशब्देन आदित्य उच्यते। कालात्मकोऽश्व: सूर्य:----।

३. वही, १९.५३.१ : कालो अश्वो वहति सप्तरश्मि: सहस्राक्षो अजरो भूरिरेता:।

४. नि०, ४.२७ : एको अश्वो वहति सप्तनामा। आदित्य:। सप्तास्मै रश्मय:।

५. तै० सं०, २.४.१०.२ : यदा खलु वा असावादित्यो न्यङ्रश्मिभि: पर्यावर्तते वर्षति

६. अथर्व०, १९.५३.२ : सप्त चक्रान् वहति काल एष सप्तास्य नाभीरमृतं न्वक्ष:। वही, १९.५३.६-७; वही, १३.२.१२ : दिवि त्वात्रिरधारयत् सूर्या मासाय कर्तवे; वही, ७.१४.२; वही, ९.१४.१२; ९.१४.१३१.

७. बृहद्दे०, ४.३२ : त्रिधा द्वादशधा षोढा पञ्चधा सप्तधा तथा। संवत्सरं चक्रवच्च पराभि: कीर्तयत्यृषि:॥

८. अथर्व०, १३.२.३९ : रोहित: कालो अभवत्----।

९. अथर्व०, १३.१.३३ : ब्रह्म सन्तं ब्रह्मणा वर्धयन्ति।

१०. तै० आ०, २.२.२ : असावादित्यो ब्रह्म---। एवं बृ० आ०, १.२.३ : स त्रेधात्मानं व्यकुरुत। अग्निं तृतीयं वायुं तृतीयं, आदित्यं तृतीयम्।

के पृथक-पृथक् रूपों (शरीरों) के वर्णन में भी इस देव का माहात्म्य और सर्वात्मकता स्वत: सिद्ध है। यही देव परवर्ती साहित्य पुराणों आदि में सृष्टि के मूल कालरूप परमतत्त्व के रूप में भी अनेकधा वर्णित हैं।[१] 'वाल्मीकि-रामायण' के अगस्त्यमुनि प्रोक्त आदित्य हृदय-स्तोत्र में भी यही धाता, अर्यमन्, मित्र, अरुण (वरुण), इन्द्र, विवस्वान्, पूषा, पर्जन्य, अंशुमान्, भग, त्वष्टा और विष्णु-रूप द्वादश आदित्य के रूप में स्तुत हैं, जो क्रमश: चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ आदि बारह महीनों के अधिष्ठातृ देवता माने गये हैं।[२] इनके ये द्वादश रूप सूर्यदेव के लीला-विग्रह (अवतार) माने जाते हैं। इस प्रकार सूर्य निश्चयेन पर ब्रह्मस्वरूप हैं तथा व्यापक सामर्थ्य से युक्त हैं। इसीलिए आथर्ववैदिक ऋषि ब्रह्मा द्वारा देहत्याग के अनन्तर अमरत्व के लिए की गयी याचना सर्वथा समीचीन है, यथा-**त्वं न: पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपै: सुधायां मा धेहि परमे व्योमन्** (अथर्व०, १७.१.६) अत: लौकिक एवं पारलौकिक दोनों प्रकार के सुख के लिए प्रत्यक्षत: दृश्यमान् सूर्यदेव के नानारूप सदैव उपास्य हैं।

---

१. वि०पु०, १.२.१३.१५-२६; ब्रह्मपु०, ३.११.३-७; वा०पु०, ३२.२९.-३०; कूर्म पु०, १.५; २.२.१६; भाग० पु०, ३.११.३-७; १०.५१.१९; वि० धर्मो० पु०, १.७२.१-७ आदि।

२. वाल्मी० रा०, युद्धकाण्ड, १०५ सर्ग (सम्पूर्ण)

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २००९ अङ्क ११ (पृ० ३३-४०)

वैदिकसामाजकीयं व्यावहारकीयञ्च

डॉ० रूप किशोरः शास्त्री[१]

वैदिके युगे समाजशास्त्रिभिः ऋषिभिः गुण-कर्म-स्वभावतो मानव समाजरूपे ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रात्मिका चतुर्धा व्यवस्था व्यवस्थीकृता। यया व्यवस्थया स्व-स्वकर्त्तव्यानधिकारान् मर्यादाञ्च परिपाल्य सुदृढायां सामाजिकव्यवस्थायां सुदृढीभूता आसन्। तस्यां सामाजिकव्यवस्थायामालोके सर्वे मर्यादितजीवनमुपेत्यैहिलौकिकपारलौकिकमुन्नतये सक्षमाः सशक्तास्ते। यत्र सामाजिकव्यवस्थेयं एकतः व्यष्टिगतावलम्बितासीत् तत्र अपरतः समष्टिगतापेक्षयाऽपि परिपुष्टिकाऽऽसीदित्येवास्याः गभीरमस्तित्वमासीद् यत्राबालवृद्धाः तथा चाऽऽपारिवारिकतः समग्रराष्ट्रपर्यन्तं परस्परं प्रगाढसम्बन्धे बद्धापराः गुम्फिताः ग्रथिताः सुतरां पूरकाः सहाय्यास्ते सर्वे।

वैदिक कालानन्तरं मध्ययुगीने काले परिस्थितिवशात् वैदेशिकैराक्रान्तैः स्वार्थपरैर्वैदिकसंस्कृति-विध्वंसकैरुत वा वैदिकज्ञानविज्ञानानभिज्ञैः विघ्नसन्तोषैः लेखकैः निश्चितयोजनामनुसृत्य वैज्ञानिक-वैदिक-वर्ण-व्यवस्थायाः जातिव्यवस्थायां परिवर्तनपरकं षड्यन्त्रभूतं कुत्सितं कार्यं विधत्तम्, परिणामतः वर्णस्य जातिपर्यायात्मकमर्थमुररीकरणं सौहार्दयुते समाजे वस्तुतः भयङ्करद्रोषावहं संसिद्धं जातम्। वस्तुतः वर्णजात्योः पर्याप्तभेदं वर्तते खलु। **वर्णो वृणोतेः**[२] इत्यनुसारेण वरणं चयनमिति प्रसिद्धोऽर्थोऽथवा योजनाजनितं चयनं वैशिष्ट्यमुत वा श्रेष्ठतायाः द्योतकश्चेति।

आचार्यचरणेषूपवसनध्ययनाध्यापनस्य प्रक्रिया प्रसिद्धा प्रथिताऽऽसीत् पुराकाले वैदिककाले वा। ब्रह्मचर्यकाले उत वा विद्यार्जनकाले यदि कश्चिदप्यस्य विद्यार्थिनो गुण-कर्म-स्वभावे ब्राह्मणत्वं क्षत्रियत्वं वैश्यत्वं वा शूद्रत्वं परीक्ष्य प्राबल्यञ्चान्ववीक्ष्येत्याचार्यणैव गुरुकुले शिक्षणसंस्थायां वा तस्य ब्रह्मचारिणः सञ्ज्ञा तथैव प्रतिपाद्यते आसीदित्यार्ष-प्रक्रिया प्रसिद्धा। तथा इत्यपि नाऽऽसीत् दाढ्र्यं यत् स आचार्यनिर्दिष्टवर्णापत्रो ब्रह्मचारी तं वर्णमेव निर्वहेदपितु पश्चकालेऽपि गुणकर्म-स्वभाव-व्यवस्थानुसारं कमपि वर्णमापद्यमानो भवितुं निर्वोढुं वा सक्षम आसीत्, एतादृशानि बहूनि प्रमाणान्युदाहराणि समुपलब्धानि वैदिकवाङ्मय इयमेव वर्णव्यवस्थायाः स्वरूपो व्यवस्था वाऽऽसीत्।

अधुना प्रायः समाजेऽस्मिन् तथाकथितानां जातीनां प्रबलो वेग एव दृश्यते। वैदिक विचारधारापरिप्रेक्ष्ये एताः जात्यः सर्वथा शून्यत्वमेव भजन्ते। जातिः इत्यस्य पदस्य धातुजोऽर्थरुत्पत्तिरुत वा जन्म एव। **सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगः**[३] इति योगशास्त्रे महर्षिः पतञ्जलिः प्रतिपादयन् स्वीकृतं यत् पूर्वकृत् कर्म-संस्कारेणैव

---

१. एसोशिएट प्रोफेसरः-वेद विभागः, गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालयः, हरिद्वारम् (उत्तराखण्डम्)

२. निरुक्त-२/१३

३. यो० द० २/१३

प्राणिनः जात्यायुर्भोगवन्तो भवन्तीति तथा च प्राणिनः सर्वे तत्तज्जात्याऽलङ्कृताः जायन्ते। न्यायशास्त्रे महर्षिणा गौतमेन **आकृतिर्जातिलिङ्गाख्या**[४] एवं **समानप्रसवात्मिका जातिः**[५] एतयोः सूत्रयोरुल्लेखः कृतः यत्राभिप्रायः स्पष्टीकृतो यत् ये प्राणिनः वपुषाऽऽकृत्या मुखनासिका-चक्षु-कर्णेन्द्रियादिभिः समत्वं सेवन्ते तथा च तेषां प्रसूतिप्रक्रिया समाना वर्तते तदैव नामजातिरिति प्रकीर्त्यते। स्त्री-पुंसयोः रजवीर्यसंयोगेन समानाकृतिधर्माणामेव प्रसवो जन्म वा जायते, यथा निखिलस्य जगतो मनुष्याः सर्वे मानवजातिभूताः संसारस्य विभिन्नेभ्यो देशेभ्यः स्थानेभ्यः सर्व अश्वा अश्वजात्या प्रसिद्धा एवञ्च गौः, अजा, मेष इत्यादि समानप्रसवत्वात् स्वस्व जात्या प्रथिताः। प्रक्रियामस्यां नास्ति रंग-रूपयोः वपुषा ज्येष्ठ-कनिष्ठयोर्वा कश्चिदपि भेदः। अतः जातिरियं जन्मसिद्धत्वादपरिवर्तनीया सुतरां वैदिकसिद्धान्तानुसारमुत वा प्राणिविज्ञानानुसारमिति।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्यः कृतः। उरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत[६] इत्यनया ऋचया गृहीतदिशाभिर्वैदिकऋषिभिः समाजशास्त्रिभिर्वा चतुर्षु भागेषु विभक्तीकृतो मानव-समाजः खलु, विस्तृतं विवरणं निर्दिश्यतेऽत्र-

वैदिक समाज संरचना

वर्णः	अवयवः	प्रतीकः	कार्यम्
१. ब्राह्मणः	मुखं	ज्ञानतत्वं	ज्ञानं, चिन्तनं, निर्देशनं, आदेशः, सन्देशादयः
२. क्षत्रियः	बाहू	शक्तितत्वं	शासनं, रक्षणं, परित्राणादयः
३. वैश्यः	उरू	धनतत्वं	धनार्जनं,पालन-पोषणादयः
४. शूद्रः	पादं	क्रियातत्वं	सेवा, सुश्रुषा, तपः, क्षमादयः

सामूहिक-परिणामः

१. सर्वेभ्यः कार्यव्यापारादिकमनिवार्यम्।

२. सर्वेषां व्यस्तता।

३. परस्परं सामञ्जस्यम्।

४. परस्पर हितचिन्तनं, सर्वेषामावश्यकतापूर्तिः, पालनं-पोषणं रक्षणादिकञ्चेति।

५. सर्वेषां वर्णानां पारस्परिकसम्मान-स्नेह-प्रेम-महत्त्वादिकी भावना।

६. तथा च उच्चावच्चा भेदभावराहित्यमधिकारः कर्तव्यपरायणता।

उक्त तालिकामाध्यमेन वेदविहितवर्णव्यवस्थाया अवधारणायाः वा समग्रतो व्यवस्थितसमाजस्याधारशिला वैदिककालत एवं संस्थापिताऽऽसीदिति स्पष्टीभवति। यस्यामवधारणायां सतर्कवैज्ञानिकमान्यताया अस्तित्वस्य वा

४. न्या० द० २/२/७० .

५. न्या० द० २/२/७१

६. ऋग्०१०/९०/१२, यजु० ३१/११, अथर्व०२९/६/६

स्वकीये शरीर एव मुखस्थानीयो ब्राह्मणो बाहूकल्पः, क्षत्रिय उदरस्थानीयो, वैश्यः पादस्वरूपः, शूद्रश्चैतैश्चतुर्वर्णैः सशक्तसमाजस्य परिकल्पना संस्थापिता जाता। सुप्रसिद्धे पुरुषसूक्ते **ब्राह्मणोऽस्य मुखमासी**'दित्यस्मिन् वर्णव्यवस्थाया निर्देशो विहितः। यदि समाजप्रसारः पुरुषाकारेण पल्लवितो भवेत्तर्हि ब्राह्मणो मुखस्थानीयः मुख्यः प्रधानो वा ज्ञानप्राधान्यात्। **बाहू राजन्यः कृतः** क्षत्रियश्च बाहुस्थानीयः रक्षणप्रधानत्वात्। **ऊरू तदस्य यद्वैश्यः** कोषसंरक्षणात्। **पद्भ्यां शूद्रोऽजायत** शूद्रश्च पादस्थानीयः सेवाधर्मत्वात्। एवमिमे चत्वारो वर्णाः श्रुतिप्रतिपादिताः वेदे समुपदिष्टाः। सञ्जाता वर्णव्यवस्थागता परिकल्पनेयं मानवजातेः सुदृढा समाजव्यवस्था। वस्तुतो वैदिककालीनेयमद्वितीया सामाजिकसंरचनाऽऽसीत्। यस्यां परस्परं प्रगाढीयं प्रेम-स्नेह-सहानुभूति-प्रातिष्ठ्य-महत्त्व-सौहार्द-हितचिन्तनमासीत्। सर्वेषामाजीविका चाधिकाराः सुरक्षिताः। सर्वेषां संरक्षणं, अस्पृश्यता उच्चावच्चभेदभावशून्यत्वं तथा च परस्परं किञ्चिन्मात्रं द्वेष-कलह-वाद-विवादादिदूषणविचाराणां सर्वथा लोप आसीदिति दृश्यते। अस्यां सर्वविधकल्याणकृतायां व्यवस्थायां भूते सति निस्सन्देहः **'न राज्यमासीद् न राजासीद् न दण्डो न च दण्डिकः। धर्मेणैव च प्रजाः सर्वाः रक्षन्ति स्म परस्परम्।** अस्य महाभारतीयश्लोकस्य क्रियान्वयनं सार्थकमासीत्।

सुदृढायाः समाजसंरचनायाः मानवसमाजस्य वर्णव्यवस्थापरकं मूलं यद्यपि वैदिक-संहितासूपलब्धं तथापि विषयस्यास्य मीमांसाऽऽवश्यकीया यत् सृष्ट्यादौ वर्णानां व्यावहारिकसंयोजना केन प्रकारेण विकसिता जातेति। बृहदारण्यकोपनिषदि वर्णनिर्माणव्यवस्थायाः विस्तरेणोल्लेखः प्राप्यते सम्यक्[७]। सर्गादौ ब्राह्मणवर्णमेकमेव आसीदित्यस्य प्रमाणस्वरूपे यास्काचार्यस्य **''साक्षात्कृत-धर्माण ऋषयो बभूवुः**[८] बहुचर्चितेनानेन वाक्येन स्पष्टीभवति यत् प्रारम्भे साक्षात्कृतधर्माणो ब्रह्मवेत्तार ऋषय एव ब्राह्मण वर्णे गण्याः। मात्रतद्ब्राह्मणवर्णः सामाजिकव्यवहारसिद्धये न समर्थो जातः फलतः ब्राह्मणवर्णेनावश्यकतानुसारमन्यं क्षत्रियवर्णः निर्धारितः।

यदा ब्राह्मण-क्षत्रियवर्णाभ्यामपि समाजस्य कार्यव्यापारपूर्तिर्न सञ्जाता ततस्तृतीयं वर्णं वैश्यवर्णमरचयत्। एतैः त्रिभिर्वर्णैरपि व्यवस्थितसमाजव्यवहारे कार्त्स्न्यं न सञ्जायते ततश्चतुर्थीयो वर्णो व्यवस्थीकृतः तत्कालीनैर्ऋषिभिः समाजशास्त्रिभिरित्येतत् महाभारते शान्तिपर्वणि सम्यक् प्रत्यपादि[९]। चतुर्थोऽयं वर्णः सर्वेषां वर्णानां मनुष्याणां वा पोषणत्वात् **पूषणः** इति गौरवास्पदपदेन प्रतिष्ठति शास्त्रेषु[१०]।

महाभारतस्थोल्लेखनं यत् पुराकाल एव एकमासीत् वर्ण आसीत् परञ्च कार्यविभेदत्वात् तस्येव वर्णस्य चतुर्षु वर्णेषु प्रतिष्ठा जातेत्युक्तिः तथ्यानुकूला, भागवतपुराणस्यापि मन्तव्योऽयं प्रतिपाद्यते यत् जंगतः अस्तित्वे उत

---

६. ब्रह्म वा इदमासीदेकमेव तदेकं सन्नव्यभवत्। तच्छ्रेयो रूपमत्यसृजत् क्षत्रं यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्य यमो मृत्युरीशान इति। ११।। स नैव व्यभवत्स विशमसृजत् यान्येतानि देवजातानि गणशः प्रख्यायन्ते वसवो रुद्रा आदित्या विश्वदेवा मरुत् इति।। १२।। स नैव व्यभवत्स शौद्रं वर्णमसृजत् पूषणमियं वै पूषेयं हीदं सर्वं पुष्यति यदिदं किंच।।१३।।

८. निरु०१/२०

९. एकवर्णमिदं पूर्वं विश्वमासीद् युधिष्ठिरः। कर्मक्रियाविभेदेन चातुर्वर्ण्यं प्रतिष्ठितम्। म०भा० शा० प० ५८/१२

१०. पूषणमियं वै पूषेयं हीदं सर्वं पुष्यति यदिदं किञ्च। बृहद्० उप०१/४/१३

वा संसारस्य ग्रन्थालये **एक एव वेद एक एव मन्त्र एक एव देव एक एवाग्निस्तथा चैक एव वर्ण आसीत्**[११] यजुर्वेदे प्रतिवर्णस्था: जना: नार्यो वाऽऽजीवनकर्मशीला: तथा चादीनत्वं भजन्तो दीर्घायुष्पर्यन्तं जिजीषव: स्युरिति स्पष्टो निर्देश: प्राप्यते[१२] ते जना: लौकिकव्यवहारसिद्धये येषां कर्माणां योग्यतासामर्थ्यञ्चावधारयन्ति तथा चायुष्पर्यन्तमकर्मा न सन्त: स्वेच्छानुसार: स्वे स्वे कार्ये उद्योगे च व्यापृता: भवेयुरेतदेवास्याशय:।

वैदिकसिद्धान्तसरण्यां सर्वैर्वणै: कृतकर्मण आजीविकायाश्चोल्लेखो वर्णानुसारेण प्राप्यते। तत्तद्वर्णकर्त्तव्यमनुसन्धाय यजुषि च आम्नातम्-

ब्राह्मणे ब्राह्मणं क्षत्राय राजन्यं मरुते वैश्यं तपसे शूद्रम् इति।[१३]

अत्र मरुच्छब्देन मरुतो व्यापारो व्यपदिश्यते। तपसा च सेवाधर्मो निर्दिश्यते। यदा सर्वेऽमी वर्णा: सम्भूय कार्यं स्वरूपधर्मं वाऽनुतिष्ठन्ति तदानीमेव विश्वसमुन्नति: सम्भवा। तथा च याजुषि ऋचि

यत्र ब्रह्म च क्षत्रञ्च सम्यञ्चौ चरत: सह।
तंल्लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवा: सहाग्निना।।[१४]

इत्यादिभिर्मन्त्रलिङ्गै: सर्वेषां वर्णानां सायुज्यं, सहसञ्चारित्वं राष्ट्रोन्नतिपरकत्वेनोपवर्णितम्।

इदमत्रावसेयम्-तत्र भवान् प्रजापति: समारब्धे सृष्टिक्रमे प्रजानां हितकाम्यया, कामपि वर्णाश्रमलक्षणां शाश्वतिकीं मर्यादां समुद्भावयामास। ब्राह्मणा: क्षत्रिया: वैश्या: शूद्राश्चेति चत्वारो वर्णा: गुणकर्मानुगण्येन निर्धारिता:। तत्र यजनादि षट्कर्मसु प्राधान्येन अधिकृता ब्राह्मणा: संबभूवु:। क्षत्रियास्तु प्रजापालनं रक्षणमायोधनं यजनाध्ययनदानादि चाङ्गयकार्षु:। कृषिकर्म-गोरक्षण-वाणिज्यानि यजनाध्ययनादि च परिजगृहुर्वैश्या:। शूद्राश्च पुनरवशिष्टां पूर्वोक्तत्रिवर्णपरिचर्यामाददिरे। एतस्या एव वैदिकमर्यादाया: परिरक्षणाय स्थिरीकरणाय च स्मृतिपुराणेतिहासादीनि शास्त्राणि प्रावर्त्तिषदिति। महर्षिणा मनुना वैदिकाशयमनुसृत्य वर्णव्यवस्थागतानां कर्मणां आजीविकायाश्च विस्तृतं विवरणं प्रतिपादयन् मनुस्मृतौ प्रोक्तं यदस्य जगत: समाजस्य वा सुरक्षाव्यवस्थासमृद्धये च महातैजस्विना परमात्मना मुख-बाहू-उरु-पदानां तुलना क्रमश: ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रै: सह विधाय तेषां कृते पृथक् पृथक् कर्माणि आजीव्यञ्चापि प्रकल्पितानि।[१५]

सर्वस्यास्य तु सर्गस्य गप्त्यर्थं स महाद्युति:।
मुखबाहूरूपज्ञानां पृथक्कर्माण्यकल्पयत्।।[१६]

---

१०. एक एव पुरा वेद: प्रणव: सर्वं वाङ्मय:। देवो नारायणो नान्य: एकोऽग्निर्वर्ण एक एव च।। भाग० पु० ९/१४।

१२. कुर्वन्नेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समा:। यजु०४०/२।

१३. यजु०३०/५

१४. यजु०२०/२५

१५. सर्वस्यास्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युति:। मुखबाहूरूपज्ञानां पृथक्कर्माण्यकल्पयत्।। मनु० स्मृ०१/८७। लोकानां तु विवद्धयर्थं मुखबाहूरूपादित:। ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रञ्च निरवर्तयत्।। मनु० स्मृ०१/३१।।

१६. मनु०स्मृ०१/८७

लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरूपादितः।
ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रञ्च निरवर्तयत्।।[१७]

यतो ह्याजीविका कर्माश्रिता अतो यो वर्णो यं यं कार्यं विधत्ते तदेव तस्याधारो वृत्तेः। यत्र यजुर्वेदे[१८] चतुर्णां वर्णानां कार्यसम्बन्धिनिर्देशः प्राप्यते। तस्य विस्तृतिः दृश्यते परवर्तिवाङ्मये, संक्षेपतः तत्र- तत्र ब्राह्मणाः मुखस्थानीया विद्याध्ययनव्यापनकुशला विधायका ज्ञान-विज्ञानप्रसारका धर्मशास्त्रप्रवर्त्तका राज्यनियमव्यवस्थापका विधिविधानविधायकाः परोपकारिणः त्यक्तविशेषपरिग्रहाः तपःपुनीतविग्रहा ब्रह्मतेजःसम्पन्नाः स्वल्पसाधनाः कौपीनधनाः राष्ट्रनीतिनिर्णायकाः प्रजाप्रणेतारश्चेति **ब्राह्मणोऽस्य मुखमि**त्यनेन निर्दिश्यते। क्षत्रियाः धृतराष्ट्ररक्षणव्रता, राज्यपालाः, राष्ट्रपतयः, सकलशास्त्रपारङ्गता, शास्त्रास्त्रविद्याकुशलाः, वीराः, अभीरवः, युद्धार्थबद्धपरिकराः, शासकाः, आयुधधना, योधनाः, क्षात्रधर्मसविग्रहा, न्यायाग्रहग्रहिलाः, नीतिकुशलाः, तेजस्विनो, वर्चस्विनो, यशस्विनश्च, राष्ट्रनीतिसञ्चालकाः, प्राणिमात्रपरिपालका, बलिष्ठाः, श्रेष्ठाः, सहृदया, हृदयालवो, दयालवश्चेति **बाहू राजन्यः कृतः** इत्यनेन संसूच्यते। वैश्याश्च-व्यापारवृत्तिकुशला, अर्थशास्त्रपण्डिता, धनोत्पादननिपुणा, गतागततत्त्वज्ञाः, कृषिविशेषज्ञाः, खनिशास्त्रपारंगताः, राष्ट्रसम्पत्तिवर्द्धकाः, दानशीलाः, उन्मुक्तकराः, शिल्पकलाकलापप्रज्ञावन्तः, सकलायुधनिर्माणकलाप्रवीणा, धनधान्यधुरीणाः, धर्मपरायणाः, राष्ट्रकृते त्यक्तसर्वपरिग्रहा, अतन्द्राः, अमन्द्राश्च इति **उरू तदस्य यद्वैश्य** इत्यनेन विज्ञाप्यते। शूद्राः गतिमन्तः, अविश्रान्तश्रमाः, सेवा एव रता, दृढाङ्गा, भक्तिपरिवृढा, जागरूकाः, शिष्टाः, विनम्राः, सशक्ताः, स्वामिभक्ताः, भारवाहिनः, तपःपरायणाः, अनिद्रालवो, हृदयालवश्चेति **तपसे शूद्रम्-पद्भ्यां शूद्र** इत्यनेनादिश्यते इति।

संसारेऽस्मिन् कश्चिदपि वर्णस्य कश्चिदपि मानवः निष्क्रियो न भवेदिति मुख्याशयोऽस्याः वर्णव्यवस्थायाः खलु, यतो हि वैदिकसंस्कृतौ वैदिकवाङ्मये वा कर्मप्राधान्यं प्रथितमेतदेव वर्णत्वस्य निकषमिति।

मध्ययुगे आधुनिके युगे चाज्ञानत्वात् स्वार्थवशात् वर्णव्यवस्था जन्मगतेति स्वीकृत्य वस्तुतो वैदिक-सभ्यतां प्रति प्रकृष्टान्यायमनर्थञ्च कृतमिति मानवजातेर्दौर्भाग्यमेवासीत्। देशस्य समाजस्य च परिवेशोऽपि कुत्सितस्वरूपे परिवर्तितः परञ्च स्थितिः पूर्णतः विपरीतत्वं भजते वर्णव्यवस्था तु सर्वतोभावेन सुतरां कार्यमूलका न तु जन्मपरकेति। वस्तुतः कश्चिदपि मनुष्यो यं यं व्यवसायमुद्योगं कार्यं वा वृणुते विधत्ते वा सः तेनैव वर्णेनैव गण्यते स एतदेव वास्तविकोऽभिप्रायो वैदिकवर्णव्यवस्थायाः। अतो जन्माधारिता वर्णव्यवस्था व्यावहारिकधरातले विज्ञानगतदृष्टौ वा सिद्धान्ततः कथमपि औचित्यं नैव विदधाति।

महर्षिर्मनुः व्यवस्थापयति कर्माधारिता वर्णव्यवस्थेति वर्णव्यवस्था जन्ममूलेति प्रवक्तॄन् बहुताडयनमुं बिन्दुमधिकृत्य वारं-वारं चिन्तनार्थं विवेकार्थं बाध्यीकृतास्ते। गुणकर्मानुसारं शूद्रो ब्राह्मणत्वं तथा च ब्राह्मणः शूद्रत्वं निर्वोढुं योग्यो भवति एवञ्च क्षत्रिय-वैश्ययोः वर्णपरिवर्तनं ज्ञेयम्[१९] ज्ञायतेऽनेन यत् कश्चिदपि वर्णस्थो जनः स्व-स्व

---

१७. मनु०स्मृ०१/३२।।

१८, यजुर्वेदे-३०/५

१९. शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चेति शूद्रताम्। क्षत्रियाऽजातमेवं तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च। मनु०स्मृ०१०/६५

कार्य-व्यवसाय-परिवर्तनत्वात् स्वं-स्वं वर्णपरिवर्तने स्वतन्त्रः। वेदानां पर्यालोचनेन ज्ञायते यन्मनुष्याणां कर्मादिभेदतः पञ्च श्रेणिविभागारुपदिष्टा ब्राह्मणः क्षत्रियः, वैश्यः, दासः दस्युश्चेति। तेषु दस्युं विहाय चत्वार आर्याः एते चतुर्वर्णभेदात् प्रसिद्धाः। दस्युश्चानार्यः। दौर्भाग्यादेते भेदाः परवर्तिकाले जातिपदवाच्येनोपचारिताः। जातिशब्दश्च जन्मवचनः। अत एव तदनुक्रामति काले काले ते ते भेदा जन्मना एव प्रवृत्ताः। जातिर्जन्मानुसारिणीति लोकोक्तिरपि तदानुगुण्येन प्रचलिता परञ्चाभ्युपगमोऽयं वेदैर्न संवदतीति वैदिक साहित्यावलोकने विभाव्यते, तथा चापस्तम्बधर्मसूत्रे **अधर्मचर्य्या जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ। अधर्मचर्य्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ**''[२०] इति परन्तु केचनात्र विप्रतिपद्यन्ते, जातिशब्दस्य जन्मपर्यायत्वेन, जन्मान्तरे जातिपरिवर्तनमिति भावेनैवैतदुक्तमित्यभ्युपगच्छन्ति। सन्दर्भोऽस्मिन् आपस्तम्बधर्मसूत्रकारेणाशयः स्पष्टीकृतो यत् निम्नो वर्णः स्वधर्माचरितत्वादुत्तमोत्तमवर्णमापद्यते तस्मिन्नेव वर्णे तस्य गण्यं खलु सुतरामहर्तत्वात्। एवञ्च अधर्माचरणात्वात् निम्नवर्णत्वमाप्नोतीति।

महर्षिणा दयानन्देनापि सत्यार्थप्रकाशे एतान् विचाराननुगम्य विलिखितम् यत् समुत्पद्यापि शूद्रकुले ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यैः समानगुणकर्मस्वभावः शूद्रो ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यो वा भवेत् तथैव ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यकुलसम्भूतोऽपि गुणकर्मस्वभावैः शूद्रमनुकुर्वन् शूद्रो भवेत् तथैव क्षत्रियवैश्ययोः कुले प्रजातो ब्राह्मणशूद्राभ्यां समानो विप्रः शूद्रो वा सम्पद्यते। चतुर्ष्वपि वर्णेषु यो यः पुमान्नारी वा यद्वर्णयोग्यो भवेत् तस्य तस्मिन् वर्णे परिगणना विधेया।[२१]

किं मानवः केनापि जन्ममूलकेन चिह्नेनालङ्कृतः उत वा जातिगतो भेदो वर्तते? येन तस्य वर्णस्य परिचयो प्राप्येत? पुराणग्रन्थाः यद्यपि वेदानुगाः नैव तथापि भविष्यपुराणेऽपि गौऽश्वसदृशो मनुष्येषु जन्मना जातिभेदो नैव दरीदृश्यते अपितु कार्यशक्तिनिमित्तेन मनुष्येषु वर्णभेदः स्वीक्रियते।[२२] जीविकोपार्जनव्यवसायत्वादेव मनुष्याणां वर्णो निश्चीयते एतत् ध्रुवं सत्यं व्यावहारिकञ्चेति तथा च जीविकायाः सम्बन्धो गृहस्थाश्रितः किल। अपरेष्वाश्रमेषु ब्रह्मचर्य-वानप्रस्थ-संन्यासेषु वर्णस्य सर्वथाभाव एव। अतः वैदिकमते आर्ष परम्परायां वैज्ञानिकदृष्टौ च वर्णः सुतरां परिवर्तनशीलः।

वैदिकसमाजे अस्पृश्यता (Untouchability) कस्मिन्नपि सामाजिकनियमेनोत वा कयाचिदपि व्यवस्थयाऽनुशिष्टाऽनुमोदिता प्रवर्तिता नासीत् न चास्याः शास्त्रीयाधारो मर्यादा वेति। सर्वैः वर्णस्थैः जनैः सह मिलित्वा सहभोजस्यादिवस्य सप्रमाणोल्लेखस्तूपलब्धः[२३] (**तं सखायः परोरूपं यूयं वयं च सूरयः। अस्याम् वाजगन्ध्यं सनेम वाजस्पत्यम्।** ऋग्० ९/९१२, **समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समानं योक्त्रे सह वो युनज्मि।**

---

२०. आ०ध०सू० १/५/१०-११

२१. स० प्र० च० समु०

२२. तस्मान्न गोऽश्ववत् कश्चित् जातिभेदोऽस्ति देहिनाम्। कार्यशक्तिनिमित्तेषु सङ्केतः कृत्रिमो भवेत्।। भ०पु०४०/३७

२३. तं सखायः परोरूचं यूयं वयं च सूरयः। अस्याम वाजगन्ध्यं सनेम वाजस्पत्यम्।। ऋग्० ९/९/१२ समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समानं योक्त्रे सह वो युनज्मि। सम्यञ्चोऽग्नि सपर्यतारा नाभिमिवाभितः।। अथर्व०६/३०/६

सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभित:। अथर्व० ६/३०/६)। ऋग्वेदीय सञ्ज्ञानसूक्त: (१०/१९१) सर्वै: सह भ्रातृत्व-प्रेम-स्नेह-सौहार्दस्य यत्र चर्चां विदधाति तत्र सर्वेषां वर्णानां मध्ये परस्परं समाञ्जस्यं सदा भवेदिति विस्तरेण वर्णयति।[२४] (**संसमिद्युवसे------सुसहासति,** ऋग्० १०/१९१ संज्ञानसूक्त)। ध्रुवं सत्यमिदं यत् वैदिककालिकशूद्रपदवाच्यवर्णस्याद्यतनीवत् तथाकथितानुसूचित जाति (Schedule caste) रूपो वैदिकसमाजे नैवासीत्। वर्तमानकाले पक्षपातिनैरविवेकिनैर्जनै राजनीतिकरणं विधाय देशो मानवसमाजश्चाधमाधमस्थितौ निक्षिप्त:। वस्तुतस्तत्कालीनसमाजे शूद्रवर्णोऽत्यन्त उपादेय आसीदिति स सर्वै: वर्णै: सह समानत्वं भजते स्म वैवाहिकसम्बन्धाश्चापि परस्परं भूरिश: प्रचलिता नास्त्यत्र काचिदपि विप्रतिपत्ति:। वैदिकसमाजस्येदं व्यवस्थाऽद्भुताऽऽसीत् यत् तत्र एतेषु वर्णेषु कर्मभेद एव प्राधान्यं परञ्च गुण-स्वभाव-चारित्र्य-व्यवहारदृष्ट्या सर्वे समाना एव।

वैदिक-शूद्र-पदमधिकृत्य काश्चन् निरुक्तयस्तात्कालीनस्थितेरुद्घाटयन्ति। यथा-परकष्टान् विपत्तींश्च दृष्ट्वा साहाय्यभूताय आशु-(शु०) द्रवतीति शूद्र: अथवा श्रमेण द्रवति धावतीति शूद्र: अथवा शुचा शोकेन द्रवतीति शूद्र:। एतासु निरुक्तिषु हृदयेन द्रवीभूय परकष्टेषु साहाय्यभावना, श्रमकार्यस्योदात्तभावना एव दृश्यते। अतो न परिलक्ष्यते तस्य काचिदपि निम्ना हेया वा स्थिति:।

यथा मुखादिसर्वाण्यङ्गान्येकस्मिन्नेव वपुष्याश्रयीभूतत्वात् स्व-स्वकार्ये निरन्तरं व्यापृतानि सजगानि दरीदृश्यन्ते। तेषु परस्परं कश्चिदपि विवाद: कलहो नैव दृश्यते कदापि तथा च परस्परं कार्त्स्न्यं नयन्ति, तथैव एकस्मिन्नेव परिवारे निवसन्त: विविधविधकर्मकर्तार: यथा-शिल्पी:, कृषक:, न्यायाधीश: वाक्कील:, अध्यापक:, अभियन्तादि स्व-स्व आजीविकां सर्वे पारिवारिकसदस्या: परस्परं सप्रेम्णा सुख-दु:खादिस्थितौ सहयोगिन: भवन्तीति स्पष्टत: ज्ञायते यत् ते उच्चावचीया भावनारहिता एव, एतादृशानि नैकानि उदाहरणान्युपलब्धानि यथा वायुपुराणे गृत्समदस्य पौत्रस्य शौनकस्य चत्वारो बालका: कर्म एवं व्यवसायभेदात् क्रमश: ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रवर्णस्याभूवन्।[२५] हरिवंशपुराणे[२६] भार्गववंशीया: एवं मत्स्यपुराणेऽपि[२७] वामदेवपुत्रा: ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रवर्णीया: सदस्या: जाता:। ऋग्वेदीय ऋचायां[२८] विभिन्नकर्मकर्तृणामुल्लेखेन सन्देश: प्रदीयते यत् एकस्मिन्समाजे

---

२४. संसमिद्युवसे.............सुसहासति। ऋग्० १०/१९१ वाँ संज्ञान सूक्त।

२५. पुत्रो गृत्समदस्याऽपि शुनको यस्य शौनक:। ब्राह्मणा: क्षत्रियाश्चैव वैश्या: शूद्रास्तथैव च।। एतस्य वंशे संभूता विचित्रा कर्मभिर्द्विजा:।। वायु०पु०७/३६

२६. एते ह्यांगिरस: पुत्रा जाता वंशेऽथ भार्गवे। ब्राह्मणा: क्षत्रिया वैश्या शूद्राश्च भरतर्षभ।। हरि.पु.३१/९६

२७. मत्स्य पुराण- अध्याय-४।

२८. कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना। नानाधियो वसूयवोऽनुगा इव तस्थिम:।। ऋग्० ९/११२/३

२९. यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्य: ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च।। यजु० २६/२ रुचं नो देहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि। रुचं विश्येषु शूद्रेषु अपि धेहि रुचा रुचम्।। यजु० १८/४८ प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्रे उतार्ये।। अथर्व० १९/६२/१

गृहे वा चतुर्वर्णकल्पाः जना परस्परं सौहार्दभावनया प्रीत्या विवादरहितेन च निवसितुं सर्वथा क्षमास्ते। इत्यादिभिः साक्षिभिः प्रमाणैर्ज्ञायते यत् पुराकाले ब्राह्मणादि वर्णानां भिन्न-भिन्न-वंशाः नैव जायन्ते स्म, अपितु ब्राह्मणादिवर्णानां सन्ततिः चतुर्वर्णसम्बद्धा आसीदस्याभिप्रायः प्रतिपाद्यते यत् एकस्य पितुः कमपि व्यवसायमुद्योगं कार्यं वाऽनुसृत्य विधाय वा ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र संज्ञयाऽलङ्कृताः भवन्ति स्म। तस्मिन् काले वर्णवैभिन्यं परस्परं पृथक्करणस्य कारणं नासीत् न च अस्पृश्यता उच्चावचीय भावनया संपृक्ताः आसीत्।

एवञ्च वेदोद्धृताभिः ऋचाभिरन्यै प्रमाणैः तर्कैस्तथ्यैर्वा सुदृढसमाजस्य परिकल्पना शरीराङ्गैर्मीमांसिता[२१]। शरीरस्य महनीयैश्चतुर्भागैः विभजयन् सटीक-कल्पना कल्पिता यथा शरीरस्य प्रत्यङ्गं परस्परं कात्स्न्यं विदधाति न चोपेक्षणीयमेव तेषां पारस्परिकं गभीरत्वं, सार्थकत्वं सामञ्जस्यं शान्तियुतं समत्वञ्चेत्युदात्तं स्वरूपं वैदिकसमाजस्य यत्र कश्चिदपि वर्णो हेयो निम्न अथवा त्याज्यो नासीत्। तेषां परस्परं पूर्णत्वमेव परिलक्ष्यते। ऋग्वेदीयः संगठनसूक्त उक्तावधारणायाः प्रबलः परिचायक एव तथा च ऋचाभिः सकलवर्णानां कल्याणहेतोः शिक्षाज्ञानादि प्रचार-प्रसारस्यादेशः सन्दर्भेऽस्मिन् सार्थकत्वं निर्वहति।

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २००९ अङ्क ११ (पृ०४१-४५)

पादप पारिस्थितिकी-वैदिक दृष्टि

डॉ० वेदपाल[१]

पारिस्थितिकी (Ecology) अन्य भौतिकी (Physics) रसायन (Chemistry) आदि विज्ञानों की अपेक्षा नया विज्ञान है। हेनरी डेविड थौरू ने सर्वप्रथम १८५८ ईस्वी में Ecology शब्द का प्रयोग किया,[२] किन्तु वर्तमान में प्रचलित अर्थ में इसका प्रयोग १८८६ में हेकिल (Haeckel) ने किया।[३] हेकिल के अनुसार 'जीवों के, उनके चारों ओर स्थित बाहरी दुनिया के साथ तथा उनके अस्तित्व की कार्बनिक और अकार्बनिक परिस्थितियों के साथ उनके सम्बन्धों का ज्ञान इकोलॉजी है। उन्नीसवीं शती के अन्त १८९५, १९०५ में सर्वप्रथम वार्मिंग (Warming) ने इस विज्ञान को पौधों के अध्ययन पर लागू किया।[४] इस प्रकार पादप पारिस्थितिकी का अध्ययन आधुनिक वनस्पति विज्ञानियों के लिए एक शती पुराना विषय है। जबकि संस्कृत वाङ्मय[५] ही नहीं, अपितु समग्र वैदिक वाङ्मय[६] में एतद्विषयक संकेतों का प्राचुर्य है।

सम्प्रति हेकिल द्वारा दी गयी परिभाषा में-'जीवों के चारों ओर घिरा बाहरी संसार' 'पर्यावरण' के रूप में जाना जा रहा है।[७] इस प्रकार प्रकृति की संरचना और क्रिया का अध्ययन प्रमुख रूप से पारिस्थितिकी का अभिधेय है। प्रकृति की संरचना की दृष्टि से यदि विचार करें तो इसमें मानव का स्थान महत्त्वपूर्ण है। व्यास के शब्दों में-**'नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्'**। मनुष्य की उत्पत्ति से पूर्व अपेक्षित जगत् की उत्पत्ति हो चुकी थी। तद्यथा-**तस्माद्वाऽएतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद् वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्य ओषधिः। ओषधिभ्योऽअन्नम्। अन्नाद् रेतः। रेतसः पुरुषः।**

इस प्रकार मनुष्य से पूर्व उसके जीवन के लिए अपेक्षित कार्बनिक और अकार्बनिक जगत् अपने वर्तमान स्वरूप को ग्रहण कर चुका था। जगत् का यह विविधवर्णी रूप-'श्येनीपती सा'[८] अत्यन्त रमणीय तथा हृदयावर्जक है। वानस्पतिक जगत् एवं मानव यह दोनों अन्योऽन्याश्रित हैं।

आधुनिक वनस्पति विज्ञानी पादप (Plant) से सभी वृक्ष, लता, धान्य आदि का ग्रहण करते हैं। आकृति

---

१ रीडर-अध्यक्ष संस्कृत, जनता वैदिक पी.जी. कालेज, बड़ौत उ.प्र.

२. पारिस्थितिकी एवं पर्यावरण- पी.डी. शर्मा पृ. १

३. वही, पृ. २

४. वही, पृ. २

५. द्र० अभिज्ञान शाकुन्तमल्-शकुन्तला का वृक्षों के प्रति सौन्दर्य स्नेह तथा कुमारसम्भव आदि

६. मा-ओषधीर्हिंसीः-यजु. ६.२२; ओषधीः प्रतिमोध्वं पुष्पवतीः प्रसूवरीः ऋ. १०.९७.३

७. पारिस्थितिकी एवं पर्यावरण- पृ.२

८. अथर्व. २०.१२९.१९

की दृष्टि से इन्हें चार भागों[९] में विभक्त किया जाता है-

(i) वनस्पति-जिन पर फूल के विना फल लगते हैं।

(ii) वृक्ष- जिन पर फूल और फल दोनों आते हैं।

(iii) वीरुध (crapers) फूलों के गुच्छों से युक्त लतायें।

(iv) ओषधि (Herbs) वे पौधे जो फल पकने पर मुरझा जाएं।[१०]

मानव के अस्तित्व के लिए यह चारों अपरिहार्य हैं। प्राणरहित मनुष्य के अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती। ऋग्वेदीय ऐतरेय एवं कौषीतकि ब्राह्मण में क्रमशः 'प्राणो वै वनस्पतिः'[११] 'प्राणो वनस्पतिः'[१२] कहते हुए वानस्पतिक जगत् की प्राणतुल्यता प्रतिपादित की है। यह ब्राह्मणकार की पादप पारिस्थितिकी चेतना का प्रबल प्रमाण है। शतपथ के अनुसार-ओष-दोषों को समाप्त करने के कारण ओषधि है-'ओषं धयेति तत ओषधयः समभवन्'[१३] निरुक्तकार यास्ककृत ओषधि का निर्वचन प्राचीन मनीषियों के पारिस्थितिकी ज्ञान का सुन्दर निदर्शन है। तद्यथा-'ओषधयः ओषद् धयन्तीति वा ओषत्येना धयन्तीति वा दोषं धयन्तीति वा'[१४] जो कुछ भी शरीर में क्षयादि रोग है, उस सबको पीने, नाश करने के कारण यह ओषधि है।[१५] इस प्रकार ओषधि व मनुष्य अथवा अन्य प्राणियों के सम्बन्ध ज्ञान का यह वर्णन आधुनिक ऐतिह्यविदों की दृष्टि से भी लगभग तीन हजार वर्ष पुराना है। माता जिस प्रकार सन्तति का पालन-पोषण करती है, उसी प्रकार ओषधि रोगों को दूर कर जीवन का रक्षण करती है। स्यात् इसी कारण ऋग्वेद[१६] में ओषधि को माता कहा गया है।

विकसित एवं वैज्ञानिक दृष्टि से समृद्ध जगत् पर्यावरण को लेकर चार दशक से ही चिन्तित दिखाई दे रहा है। इस दिशा में महत्त्वपूर्ण प्रयास ५ जून १९७२ को बारह राष्ट्रों की स्टकाहोम (स्वीडन) की बैठक में विचार किया जाना है। इसके पश्चात् (जून १९९२) 'रियो द जनेरो' में पृथिवी सम्मेलन के माध्यम से पर्यावरण के प्रति चिन्ता तो व्यक्त की गयी, किन्तु कोई सार्थक पहल नहीं की जा सकी।

---

९. क. वनस्पतीन्वानस्पत्यानोषधीरुत वीरूधं अथर्व. ८.८.१४ ख. पुष्पवतीः प्रसूमतीः फलिनीरफला उत। अथर्व. ८.७.२७ ग. याः फलिनीर्या अफला अपुष्पा याश्च पुष्पिणीः ऋ. १०.९७.१५

१०. ओषधयः फलपाकान्ताः

११. ऐ. ब्रा. २.४.१०

१२. कौ. ब्रा. १२.७

१३. श. प. २.२.४.५

१४. निरुक्त ९.२७

१५. 'ओषद् धयन्ति' यत् किञ्चिदोषत् शरीरे दहद् रोगजातं भवति, क्षयादि, तदेता अत्ताः सत्यो धयन्ति, पिबन्ति, नाशयन्ति।.. .....। 'दोषं धयन्तीति वा' यः कश्चिद् उपजायते दोषो वातादिकृतः शरीरे तमेता धयन्तीति-दुर्गाचार्यः तत्रैव-९.२७

१६. ओषधीरिति मातरः -ऋ. १०.९७.४

पादप एवं वायुमण्डल

प्रत्येक व्यक्ति को सुखी रहने के लिए स्वस्थ शरीर, शरीर के संरक्षणार्थ उचित भोजन तथा प्राण के सुचारु रूपेण आवागमन के लिए स्वच्छ वायु अपेक्षित है। इनके साथ ही जल की निर्मलता भी अपरिहार्य आवश्यकता है। इनमें से किसी एक के भी प्रदूषित होने का प्रभाव दूसरे पर भी पड़ता है तथा मानव को इससे प्रतिकूलता की अनुभूति होकर दुःख की प्राप्ति होती है। अतः सुखी रहने के लिए इनका सन्तुलन आवश्यक है। इस सन्तुलन में वृक्ष-वनस्पति की महती भूमिका है।

वायु ही प्राण रूप में जीवन का महत्त्वपूर्ण आधार है। दीर्घजीवन के लिए स्वच्छ वायु का सेवन अपरिहार्य है। स्वच्छ वायु में अमृत की निधि है। वेद में इससे दीर्घ जीवन की कामना की गई है।

यददो वात ते गृहेऽमृतस्य निधिर्हितः। ततो नो देहि जीवसे।[१७]

वायु के अन्दर यह अमृत की निधि प्राणवायु (Oxygen) है। यह वायु प्राण देने के साथ-साथ शारीरिक मलों को दूर करती है। यह विश्व भेषज है। स्वच्छ वायु में ऑक्सीजन की मात्रा अधिक तथा कार्बन डाई ऑक्साइड की मात्रा कम होती है। इसमें श्वास लेने से होने वाले लाभ वेद के अनुसार निम्न हैं-

द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावतः।
दक्षं ते अन्य आ वातु परान्यो वातु यद् रपः॥
आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद् रपः।
त्वं हि विश्वभेषजो देवानां दूत ईयसे॥[१८]

अशुद्ध रक्त शुद्ध होने के लिए की हृदय द्वारा फेफड़ों की सूक्ष्म रक्त नलिकाओं में पहुंचता है। स्वच्छ वायु में श्वास लेने से वह स्वच्छ वायु फेफड़ों में पहुंचकर सूक्ष्म रक्त नलिकाओं में विद्यमान अशुद्ध रक्त से सम्पृक्त होकर अपने ऑक्सीजन के द्वारा अशुद्ध रक्त को शुद्ध कर बाहर निकलने वाले निःश्वास के साथ रक्त के मल को बाहर निकाल देती है। प्रदूषित वायु में श्वास लेने से यह प्रक्रिया नहीं हो पाती है।

प्राणवायु द्वारा अशुद्ध मल को निकालकर दीर्घायुष्य प्रदान करने के जीवन्त प्रयोग विगत छः-सात वर्षों से स्वामी रामदेव जी द्वारा सार्वजनिक रूप से किए जा रहे हैं। सारे विश्व के करोड़ों व्यक्ति इससे लाभान्वित हो रहे हैं। अथर्ववेद के-

यदा प्राणो अभ्यवर्षीद् वर्षेण पृथिवी महीम्।
पशवस्तत्प्रमोदन्ते महो वै नो भविष्यति॥[१९]

मन्त्रोक्त सन्देश का प्रायोगिक प्रदर्शन संसार देख ही नहीं रहा, अपितु स्वीकार भी कर रहा है।

---

१७. ऋ. १०.१८६.३
१८. ऋ. १०.१३७.२-३; अथर्व. ४.१३.२-३
१९. अथर्व. ११.४.५

वायुशोधन

कार्बन डाई ऑक्साइड की मात्रा अधिक बढ़ने पर वायु प्रदूषित हो जाता है। प्राणी ऑक्सीजन ग्रहण करते हैं तथा कार्बन डाई ऑक्साइड छोड़ते हैं, किन्तु वृक्ष कार्बन डाई ऑक्साइड ग्रहण करते हैं और ऑक्सीजन छोड़ते हैं। इसलिए वायुप्रदूषण से बचने का सर्वोत्तम उपाय वृक्षारोपण है। ऋग्वेदीय 'वनस्पतिं वन आस्थापयध्वम्'[२०] का आदेश सार्वकालिक और सार्वदेशिक है।

वेद के एक मन्त्र में वृक्षों द्वारा ऑक्सीजन छोड़ने के कारण का संकेत दिखाई देता है, जिसके अनुसार- वृक्षों के अन्दर अग्नि है, उस अग्नि का निर्माण उनके द्वारा गृहीत जल से होता है। सभी वृक्ष इस गर्भस्थ अग्नि को बाहर निकालते हैं।[२१] इनसे निःसृत यह अग्नि ऑक्सीजन (Oxygen) ही है। ब्राह्मणग्रन्थों में अनेकत्र अग्नि को प्राण,[२२] आयु,[२३] अमृत आदि कहा गया है। अश्वत्थ (पीपल) अन्य वृक्षों की अपेक्षा अधिक ऑक्सीजन निःसृत करता है। इसलिए इसे 'अश्वत्थो देवसदनः'[२४] कहकर प्राण/ऊर्जा का भण्डार कहा है।[२५]

ओषधीय पौधों से भोज्य पदार्थों अन्न आदि[२६] के साथ ही रोग निवारण की सामग्री प्राप्त होती है।[२७] यह सूर्य के प्रकाश में प्रकाशसंश्लेषण (Photosynthesis) प्रक्रिया द्वारा कार्बनडाई ऑक्साइड को क्लोरोफिल/ कार्बोहाइड्रेट में परिवर्तित करते हैं।

प्राचीन वाङ्मय में भले ही स्वतन्त्र रूप से इन वैज्ञानिक क्रियाओं का व्यवस्थित विश्लेषण उपलब्ध न होता हो, किन्तु इतस्ततः ऐसे संकेत अवश्य उपलब्ध होते हैं, जिनसे प्राचीन मनीषियों की सर्वतोमुखी वैज्ञानिक दृष्टि परिलक्षित होती है। तद्यथा-

वैशेषिक दर्शन में जल का ऊर्ध्वारोहण[२८] तथा महाभारत शान्तिपर्व वृक्षों का जड़ों द्वारा जल पीने का वर्णन। जिसके अनुसार जिस प्रकार मनुष्य कमलनाल को मुख में लगाकर जल पी सकता है, उसी प्रकार वृक्ष वायु की सहायता से अपनी जड़ों के द्वारा पानी पीते हैं-

---

२०. ऋ. १०.१०१.११

२१. तमोषधीर्दधिरे गर्भमृत्वियं तमापो अग्निं जनयन्त मातरः। तमित् समानं वनिनश्च वीरूधोऽन्तर्वतीश्च सुवते च विश्वहा।। ऋ. १०.९१.६

२२. क. प्राणोऽमृतं तद्ध्यग्ने रूपम्-श.प. १०.२.६.१८ ख. अग्निरू देवानां प्राणः-श.प. १०.१.४.१२ ग. तदग्निर्वै प्राणः- जैमिनीयोप. ब्रा. ४.११.१.११

२३. अग्निर्वाऽआयुः- श.प. ६.७.३.७

२४. अथर्व. ६.९५।

२५. क. प्राणा वै विश्वेदेवाः- तै.सं. ५.२.२.१; मै.सं. १.५.११; श.प. १४.२.२.३७ ख. प्राणा वै रूद्राः- जै.उ. ४.२.१.६; प्राणा वै वसवः -तै.सं. ३.२.३.३ ग. कतमैका देवतेति, प्राण इति- जै. २.७७

२६. यवेह प्राण आहितोऽपानो व्रीहिरूच्यते -अथर्व. ११.४.१३

२७. व्रीहिश्च यवश्च भेषजौ -अथर्व. ८.७.२०

२८. वैशेषिक ५.२.५-७

वक्त्रेणोत्पलनालेन यथोर्ध्वं जलमाददेत्।

तथा पवनसंयुक्तः पादैः पिबति पादपः॥ [२९]

इसके अतिरिक्त वृक्षों में पञ्चभूतों की उपस्थिति तथा उन पञ्चभूतों के कारण होने वाले परिणाम भी वहाँ वर्णित हैं।

पादप संरक्षण

विकासशील और गरीब देश जिनमें विश्वजनसंख्या का लगभग ८० प्रतिशत भाग है, में ईधन के लिए वृक्षों का कटान होता है। इस कटान का दुष्प्रभाव वायुमण्डल में कार्बनडाई ऑक्साईड आदि गैसों के बढ़ने के रूप में दिखाई दे रहा है। इस कारण तापमान में हो रही बढ़ोतरी (यद्यपि इसके अन्य कारण जिन्हें ग्रीन हाऊस इफैक्ट कहा जाता है, भी हैं) के कारण हिमनदों का पिघलना आदि हो रहा है। इन सब पर नियन्त्रण के लिए पादप संरक्षण महत्त्वपूर्ण है।

वैदिक साहित्य में वनस्पतियों के काटने का निषेध- 'मा ओषधीर्हिंसीः'[३०] तथा 'मा काकम्बीरम् उद्वृहो वनस्पतिम्। अशस्तीर्वि हि नीनशः'[३१] आदि मन्त्रों के माध्यम से किया गया है। यदि वनस्पति को काटना भी पड़े तो इस प्रकार काटें कि वह सैंकड़ों स्थान से अंकुरित होकर पूर्वापेक्षया अधिक बढ़े-

अयं हि त्वा स्वधितिस्तेतिजानः प्रणिनाय महते सौभगाय।

अतस्त्वं देव वनस्पते शतवल्शो विरोह, सहस्रवल्शा वि वयं रुहेम॥ [३२]

अथो त्वं दीर्घायुर्भूत्वा शतवल्शा वि रोहतात्। [३३]

इसके अतिरिक्त ओषधियों का रुद्ररूप भी वर्णित है।[३४] इनकी उपेक्षा से होने वाली हानियों का उल्लेख भूमि के अपरदन आदि भी संकेतित हैं।

इस प्रकार संक्षेप में कहा जा सकता है कि पादप एवं मनुष्य का अन्योऽन्याश्रय सम्बन्ध, इनका मनुष्य जीवन पर प्रभाव, इनसे होने वाले लाभ तथा उपेक्षा से होने वाली हानियों के संकेत वैदिक तथा संस्कृत वाङ्मय में पदे-पदे उपलब्ध होते हैं।

---

२९. म.भा. शान्तिपर्व १८४.१६

३०. यजु. ६.२२

३१. ऋ. ६.४८.१७

३२. यजु. ५.४३

३३. यजु. १२.१००

३४. यजु. रूद्राध्याय -१६

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २००९ अङ्क ११ (पृ०४६-५३)

महर्षि दयानन्द-कृत वेदभाष्य में 'शिल्पविद्या' पद का प्रयोग

सत्यदेवनिगमालंकार[१]

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने स्ववेदभाष्यभावार्थान्तर्गत अनेक स्थलों पर 'शिल्पविद्या' पद का प्रयोग किया है। इस पद का प्रयोग जिन विषयों को दर्शाते हुए किया है, उन स्थलों को हम छः विभागों में विभाजित कर सकते हैं। प्रथम विभागीय वे स्थल हैं, जिनमें शिल्पविद्या का महत्त्व दिखाया गया है-

'विद्वांसो येषां वाय्वग्न्यादिपदार्थानां सकाशात् सर्वं शिल्पक्रियामयं यज्ञं निर्मिमते, तैरेव सर्वैमनुष्यैः सर्वाणि कार्याणि साधनीयानीति[२]'। विद्वान् लोग जिन वायु, अग्नि आदि पदार्थों के द्वारा सम्पूर्ण शिल्पक्रियारूपी यज्ञ को रचते हैं, उन्हीं के द्वारा सब मनुष्यों को सब कार्य सिद्ध करने चाहिये। **'ये विद्वांसः पदार्थानां संयोगविभागाभ्यां धारणाकर्षणवेगादिगुणान् विदित्वा यन्त्रयष्टीभ्रामणक्रियाभिः शिल्पादियज्ञं निष्पादयन्ति त एव परमैश्वर्यं प्राप्नुवन्ति[३]'** अर्थात् जो विद्वान् पदार्थों के संयोग-वियोग के द्वारा धारण, आकर्षण और वेग आदि गुणों को जानकर यन्त्रदण्ड के घुमाने की क्रियाओं से शिल्प आदि के यज्ञ को सिद्ध करते हैं, वे ही परम ऐश्वर्य को प्राप्त करते हैं। **'यथा कपोतो वेगेन कपोतीमनुगच्छति, तथैव शिल्पविद्यया साधितोऽग्निरनुकूलां गतिं गच्छति। मनुष्या एनां विद्यामुपदेशश्रवणाभ्यां प्राप्तुं शक्नुवन्तीति'[४]** अर्थात् जैसे कबूतर वेग से कबूतरी का पीछा करता है, वैसे ही शिल्पविद्या के द्वारा सिद्ध किया हुआ अग्नि अनुकूल गति को प्राप्त होता है। मनुष्य इस विद्या को उपदेश और श्रवण के द्वारा प्राप्त कर सकते हैं। **'मनुष्यैर्विदुषां सकाशात् पदार्थविज्ञानपुरस्सरां यज्ञशिल्पहस्तक्रियां साक्षात् कृत्वा व्यवहारकृत्यानि निष्पादनीयानि'[५]** अर्थात् मनुष्यों को, विद्वानों से पदार्थविज्ञानपूर्वक यज्ञमय शिल्प की हस्तक्रिया को प्रत्यक्ष करके व्यवहार कार्यों को सिद्ध करना चाहिये। **'न ह्येतया विद्युता विना मूर्त्तं द्रव्यमव्याप्तमस्ति, यः शिल्पविद्यया कार्येषु सम्पृक्तोऽग्निर्धनकारी जायते, स मनुष्यैः सम्यक् वेदितव्यः[६]'** अर्थात् कोई भी मूर्त्त द्रव्य ऐसा नहीं है, जो इस विद्युत् से अव्याप्त हो। जो अग्नि शिल्प-विद्या के द्वारा कार्यों में प्रयोग किया हुआ धन उत्पन्न करने वाला होता है, उसे मनुष्यों को अच्छे-प्रकार से जानना चाहिए। **'अस्मिञ्जगति विद्वद्भिः स्वपुरुषार्थेन याः शिल्पक्रियाः प्रत्यक्षीकृतास्ताः सर्वेभ्यो मनुष्येभ्यः प्रकाशिताः कार्याः। यतो बहवो मनुष्याः शिल्पक्रियाः कृत्वा सुखिनः स्युः'[७]** अर्थात् इस संसार में विद्वानों को, अपने पुरुषार्थ से जिन

---

१. रीडर, श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार

२. अभित्वा पूर्व पीतये सृजामि सोम्यं मधु। मरुद्भिरग्न आ गहि॥ ऋ०१, १९, ९

३. य इन्द्राय वचोयुजा ततक्षुर्मनसा हरी। शमीभिर्यज्ञमाशत॥ ऋ०१, २०, २

४. अयमु ते समतसि कपोतइव गर्भधिम्। वचस्तच्चित्र ओहसे॥ ऋ०१, ३०, ४

५. त्रिबन्धुरेण त्रिवृता सुपेशसा रथेना यातमश्विना। कण्वासो वां ब्रह्म कृण्वन्त्यध्वरे तेषां सु शृणुतं हवम्॥ ऋ०१, ४७, २

६. प्र यदग्नेः सहस्वतो विश्वतो यन्ति भानवः। अप न शोशुचदघम्॥ ऋ०१, ९७, ५

७. यज्ञो देवानां प्रत्येति सुम्नमादित्यासो भवता मृळयन्तः। आ वोऽर्वाची सुमतिर्ववृत्यादंहोश्चिद् या वरिवोवित्तरासत॥ ऋ०१, १०७

शिल्पक्रियाओं का प्रत्यक्ष किया हो, उन्हें सब मनुष्यों के लिये प्रकाशित करना चाहिये, जिससे कि बहुत से मनुष्य शिल्पक्रियाओं को करके सुखी हो सकें। **'हे मनुष्या:! यथा शिल्पविद्याध्येत्रध्यापकौ पदार्थै: क्रयविक्रयान् (कृत्वा) श्रीमन्तो भवन्ति, तथैव यूयमपि भवत'**[८] अर्थात् हे मनुष्यो! जैसे शिल्पविद्या के पढ़ने तथा पढ़ाने वाले, पदार्थों के माध्यम से क्रय और विक्रय करके धनसम्पन्न बनते हैं, वैसे ही तुम भी बनो। **'येऽग्न्यादिपदार्थविद्यामविदित्वैता-द्विद्याविद्यो जनान्नोत्साहयन्ति तानुल्लङ्घ्याग्न्यादिविद्याविदां विदुषां शरणं गत्वा शिल्पविद्यानिष्पन्नै: कार्यै: पूर्णकामा वयं भवेम (इति) इषित्वा नित्यं प्रयतेरन्'**[९] अर्थात् जो अग्नि आदि पदार्थों की विद्या को न जानकर इस विद्या के ज्ञाता जनों को उत्साहित नहीं करते हैं, उनकी परवाह न करके अग्नि आदि की विद्या के ज्ञाता विद्वानों की शरण में जाकर हम लोग शिल्पविद्या से सिद्ध होने वाले कार्यों से पूर्ण कामना वाले होवें, ऐसी इच्छा करके (सब) नित्य प्रयत्नशील होवें। **'हे मनुष्या:! अस्मिन् सर्वोत्तमे शिल्पसाध्ये व्यवहारे निपुणा भूत्वाऽनादिभूतं पूर्वैर्विद्वद्भि: प्राप्तमैश्वर्यं विधाय सर्वस्यास्य जगतो रक्षणे विधाय युक्ताहारविहारेणानन्दं भुङ्क्त'**[१०]। अर्थ है- हे मनुष्यों! तुम इस शिल्पविद्या सर्वोत्तम व्यवहार में निपुण होकर अनादि और पूर्वज विद्वानों के द्वारा प्राप्त किये गये ऐश्वर्य को अर्जित करके और उसे समस्त संसार की रक्षा में लगाकर उचित आहार-विहार के द्वारा आनन्द भोगो। **'ये मनुष्य: प्रथमतो विद्यां पुनर्हस्तक्रियां गृहीत्वा श्रेष्ठचारा: सन्त आत्मीयं बाह्यं च विज्ञानं सुलक्षीकृत्य शिल्पकार्याणि कुर्वन्ति, ते धीमन्त: सन्त ऐश्वर्यं प्राप्नुवन्ति**[११]**'** जो मनुष्य पहले विद्या और फिर हाथ-काम सीखकर श्रेष्ठ आचरणवान् होते हुए आत्मासम्बन्धी और संसार सम्बन्धी विज्ञान को लक्ष्य करके शिल्पकार्य करते हैं, वे बुद्धिमान् होते हुए ऐश्वर्य को प्राप्त करते हैं। **'ये नरो यथार्थां शिल्पविद्यां जानन्ति ते सर्वत्र व्याप्तविद्युदिव विमानादियानवत् सद्यो गामिनो भूत्वा सर्वतो धनमाप्य बहुसुखं लभन्ते**[१२]**'**। जो लोग वास्तविक शिल्पविद्या को जानते हैं, वे सर्वत्र व्याप्त विद्युत् के समान और विमान आदि यान के समान शीघ्रगति वाले होकर सब ओर से धन अर्जित करके बहुत सुख पाते हैं[१३]'। जैसे विद्वान् लोग शिल्पविद्या को अपनाते हैं, वैसे ही विद्यार्थी स्वयं भी वैसा करें। **'ये पदार्थानां गुप्तानि स्वरूपाणि विज्ञाय प्रज्ञया शिल्पविद्यां वर्धयन्ति, ते सुराज्यैश्वर्या भवन्ति**[१४]**'**। **जो पदार्थ के गुप्त स्वरूपों को जानकर बुद्धि से शिल्पविद्या को बढ़ाते हैं, वे उत्तम राज्य और ऐश्वर्य वाले बनते हैं।** **'कश्चिदेव मनुष्य: सर्वं शिल्पविद्या-व्यवहारं कर्त्तुं शक्नोति, यो व्याप्तान् बहूत्तमगुणान् विद्युदादीन् पदार्थान् यथावज्जानाति**[१५]**'** कोई ही मनुष्य शिल्पविद्या के सम्पूर्ण व्यवहार को कर सकता है, जो कि व्यापक और अत्युत्तम

---

८. अमन्थिष्टां भारता रेवदग्निं देवश्रवा देववति: सुदक्षम्। अग्ने वि पश्य बृहताभि रायेषां नो नेता भवतादनु द्यून्॥ ऋ०३,२३,२

९. मा ते हरी वृषणा वीतपृष्ठा नि रीरमत् यजमानासो अन्ये। अत्यायाहि शश्वतो वयं तेऽरं सुतेभि: कृणवाम सोमै:॥ ऋ०३,३५,५

१०. तवायं सोमस्त्वमेह्यर्वाङ् शश्वत्तमं सुमना अस्य पाहि। अस्मिन् यज्ञे बर्हिष्या निषद्या दधिष्वेमं जठर इन्दुमिन्द्र॥ ऋ०३,३५,६

११. रथं ये चक्रु: सुवृतं नरेष्ठां ये धेनुं विश्वजुवं विश्वरूपाम्। त आ तक्षन्त्वृभवो रयिं न: स्ववस: स्ववस: सुहस्ता:॥ ऋ०४,३३,७

१२. तव त्ये अग्ने अर्चयो भ्राजन्तो यन्ति धृष्णुया। परिज्मानो न विद्युत: स्वानो रथो न वाजयु:॥ ऋ०५,१०,५

१३. आ जुहोता दुवस्यताऽग्निं प्रयत्यध्वरे। वृणीध्वं हव्यवाहनम्॥ ऋ०५,२८,६

१४. त्वं चिदस्य क्रतुभिर्निषत्तममर्मणो विददिदस्य मर्म। यदीं सुक्षत्र प्रभृता मदस्य युयुत्सन्तं तमसि हर्म्ये धा:॥ ऋ०५,३२,५

१५. एतान्रथेषु तस्थुष: क: शुश्राव कथा ययु:। कस्मै सश्रु: सुदासे अन्वापय इळाभिर्वृष्टय: सह॥ ऋ०५,५३,२

गुणवाले विद्युत् आदि पदार्थों को ठीक प्रकार से जानता है। **'ये च शिल्पविद्यामुन्नयन्ति, तेऽसंख्यं धनं प्राप्नुवन्ति**[१६]**'** और जो शिल्पविद्या की उन्नति करते हैं, वे असंख्य धन प्राप्त करते हैं। **'हे राजादयो मनुष्याः! यथा जयशीला योद्धाः संग्रामे विजयं प्राप्य धनं प्रतिष्ठां च लभन्ते, तथैव शिल्पविद्याकुशला महदैश्वर्यं प्राप्नुवन्ति**[१७]**'**। हे राजा आदि मनुष्यो! जैसे विजयशील योद्धा लोग युद्ध में विजय प्राप्त करके धन और प्रतिष्ठा पाते हैं, वैसे ही शिल्पविद्या में कुशलजन महान् ऐश्वर्य प्राप्त करते हैं। **'हे मनुष्यः! यः प्रथमतः शिल्पविद्यां प्राप्य क्रियया पदार्थान् निर्मिमीते, स पुष्कलां श्रियं प्राप्नोति, तत्सदृशः पुष्टः कोऽपि न भवति**[१८]**'** हे मनुष्यो! जो पहिले से शिल्पविद्या को प्राप्त करके उचित प्रक्रिया से पदार्थों का निर्माण करता है, वह प्रचुर धन पाता है और उसके समान पुष्ट कोई भी नहीं होता है।

'यदा मनुष्याः परस्परं प्रीत्या कुटिलतां विहाय शिक्षकशिष्या भूत्वेमामग्निविद्यां विज्ञानक्रियाभ्यां ज्ञात्वाऽनुतिष्ठन्ति, तदा महतीं शिल्पविद्यां सम्पाद्य शत्रुदारिद्र्यनिवारणपुरःसरं सर्वाणि सुखानि प्राप्नुवन्तीति[१९]**'**। जब मनुष्य परस्पर प्रेम से, कुटिलता त्यागकर शिक्षक तथा शिष्य बनकर इस अग्निविद्या को विज्ञान और क्रिया के द्वारा जानकर इसका प्रयोग करते हैं, तब विशाल शिल्पविद्या को सिद्ध करके शत्रुओं का तथा दरिद्रता का निवारण करने के साथ ही सब सुखों को प्राप्त करते हैं। **'मनुष्यैर्विदुषां सकाशाद् वेदानधीत्य शिल्पविद्यां प्राप्य हस्तक्रियाः साक्षात्कृत्य विमानयानादीनि कार्याणि निष्पाद्य सुखोन्नतिः कार्या**[२०]**'**। मनुष्यों को, विद्वानों से वेदों का अध्ययन करके, शिल्पविद्या प्राप्त करके, हाथ-काम को प्रत्यक्ष रूप से करके और विमान-यान आदि रचनाओं का निर्माण करके सुख की वृद्धि करनी चाहिये। **'मनुष्यैर्विद्वद्भ्यः शिल्पविद्यां साक्षात्कृत्यैतां प्रचार्य सर्वे मनुष्याः समृद्धाः कार्याः**[२१]**'**। मनुष्यों को विद्वानों से शिल्पविद्या का साक्षात्कार करके और इसका प्रचार करके, सब मनुष्यों को समृद्ध बनाना चाहिये। **'ये मनुष्याः पावकादिविद्यया सङ्गन्तव्यं शिल्पयज्ञं साध्नुवन्ति, त ऐश्वर्यं लभन्ते**[२२]**'**। जो मनुष्य अग्नि आदि की विद्या से संसाध्य शिल्पयज्ञ को सिद्ध करते हैं, वे ऐश्वर्य प्राप्त करते हैं। **'ये सकलैश्वर्यकराणि शिल्पकर्माणीह साध्नुवन्ति, ते सुखिनो जायन्ते**[२३]**'**। जो इस संसार में समस्त ऐश्वर्य के उत्पादक शिल्पकर्मों को सिद्ध करते हैं, वे सुखी होते हैं। **'अत्र शिल्पव्यवहारे सुष्ठूपदेशक्रियाविधिज्ञापनं विद्याधारणं चेष्यते, यदीमाः तिस्रो रीतीर्मनुष्या गृह्णीयुस्तर्हि महत् सुखमश्नुवीरन्**[२४]**'**। इस शिल्पव्यवहार में उत्तम उपदेश,

---

१६. यंस्य वायोरिव द्रवद् भद्रा रातिः सहस्त्रिणी। सद्यो दानाय मंहते॥ ऋ०६,४५,३२
१७. स त्वं नश्चित्र वज्रहस्त धृष्णुया महः स्तवानो अद्रिवः। गामश्वं रथ्यामिन्द्र सं किर सत्रा वाजं न जिग्युषे॥ ऋ०६,४६,२
१८. यो अस्मै हविषाविधन्न तं पूषापि मृष्यते। प्रथमो विन्दते वसु॥ ऋ०६,५४,४
१९. अह्रुतमसि हविर्धानं दृंहस्व मा ह्वार्मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत्। विष्णुस्त्वा क्रमतामुरु वातायापहतं रक्षो यच्छन्तां पञ्च॥ य० १,९
२०. ऋक्सामयोः शिल्पे स्थस्ते वामारभे ते मा पातमास्य यज्ञस्योदृचः। शर्मासि शर्म मे यच्छ नमस्ते अस्तु मा मा हिंसीः॥ य०४,९
२१. यजु० ४,१०
२२. यजु० १८,१४
२३. यजु० २८,२९
२४. यजु० २९,३३

क्रियाविधि का ज्ञान कराना और विद्या का धारण करना इष्ट है, यदि इन तीन रीतियों को मनुष्य ग्रहण कर लें, तो बहुत सुख पावें।

महर्षि दयानन्द ने शिल्पविद्या के महत्त्व को दर्शाने के लिये ऋग्वेद-भाष्य में उपरोक्त भावार्थ सत्रह मन्त्रों का तथा यजुर्वेद भाष्य के छः मन्त्रों का दिखाया है। भावार्थ में प्रायः सुख और ऐश्वर्य की प्राप्ति शिल्पविद्या से सम्भव है, अतः इस विद्या का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये-यह बताया गया है। पूणकामना की पूर्ति भी इसी विद्या के द्वारा दर्शायी है।

द्वितीय विभागीय वे स्थल हैं, जहाँ मन्त्रों के भावार्थ में शिल्पविद्या के जानकारों का महत्त्व बताया गया है।

'मनुष्या कस्यचित् क्रियाकुशलस्य शिल्पिनः समीपे स्थित्वा तत्कृतिं प्रत्यक्षीकृत्य सुखेनैव शिल्पसाध्यानि कार्याणि कर्त्तुं शक्नुवन्तीति[२५]'। मनुष्य किसी क्रियानिपुण शिल्पी के समीप बैठकर उसकी क्रिया को प्रत्यक्ष करके, सुख से ही शिल्प के द्वारा सिद्ध करने योग्य कार्यों को कर सकते हैं। **'हे मनुष्याः! यथा वायुर्घनान् संधत्ते गमयति, तथा शिल्पिनः सुशिक्षयाऽग्न्यादेः सम्प्रयोगेण स्थानान्तरं प्रापय्य कार्याणि साध्नुवन्ति**[२६]' हे मनुष्यो! जैसे वायु मेघों को परस्पर में मिलाता और पृथक् करता है, वैसे शिल्पी लोग उत्तम शिक्षा से और अग्नि आदि के सम्प्रयोग से अन्य स्थानों पर पहुंचा कर कार्यों को सिद्ध करते हैं।'

महर्षि दयानन्द ने शिल्पविद्या के विद्वान् को महत्ता प्रदान करते हुए 'अग्नि' पद का अर्थ विद्यावान् शिल्पी किया है[२७]। उनके विचार से दिव्य भोगों को वे ही मनुष्य प्राप्त करते हैं, जो आहुतियों के समान कर्म करने वाले तथा शिल्पविद्या के प्रेमी होकर पदार्थों को और पदार्थों के गुणों को जानकर यान आदि कार्यों में उनका उपयोग करते हैं[२८]। इस संसार में वे लोग पूज्य हैं, जो शिल्पविद्या के दान से दूसरों को अच्छी प्रकार देखने वाला और बहुत विद्याओं का सुनने वाला बनाते हैं-**यथा शिल्पविदोऽन्याञ्छिल्पविद्यादानेनोत्कृष्टान्सम्पादयन्तोऽन्धं चक्षुष्मन्तमिव सम्प्रेक्षकान् बधिरं श्रुतिमन्तमिव बहुश्रुतान् कुर्युस्तेऽस्मिञ्जगति पूज्याः स्युः**[२९] सब कार्यों को सिद्ध करके सभी कामनाओं की पूर्ति करना विद्या और पुरुषार्थ द्वारा ही सम्भव है तथा यह कार्य शिल्पियों से ही होता है[३०]। महर्षि के विचार से जो मनुष्य अग्नि तथा जल से शिल्पविद्या के साधन वाले रथ का निर्माण करता है, वह

---

२५. ऋ०१,२०,६

२६. ऋ०१,८५,५

२७. ऋ०१,१०८,५-अत्रेन्द्रशब्देन धनाढयोऽग्निशब्देन विद्यावान् शिल्पी गृह्यते॥

२८. ये मनुष्या अङ्गुलीवत् कर्मकारिणः शिल्पविद्याप्रियाः पदार्थान् पदार्थगुणान् विज्ञाय यानादिषु कार्येपयुञ्जते, ते दिव्यान् भोगान् प्राप्नुवन्ति। ऋ०१,१६२,७

२९. ऋ०२,१३,१२

३०. ये जना विद्यापुरुषार्थौ वर्धयन्ति, ते सप्तविद्यांञ्छिल्पिनः कृत्वा सर्वाणि कार्याणि साधयित्वा कामसिद्धं कर्त्तुं शक्नुयुः॥ ऋ०४,१६,३

अपने समान सबको प्रसन्न रखता है[३१]। मनुष्यों को सम्बोधित करते हुए उन्होंने लिखा-

हे मनुष्या:! यथा वायुर्घनान् संधत्ते गमयति, तथा शिल्पिन: सुशिक्षयाऽग्न्यादे: सम्प्रयोगेण स्थानान्तरं प्रापय्य कार्याणि साध्नुवन्ति अर्थात् हे मनुष्यों! जैसे वायु मेघों को परस्पर में मिलाता और पृथक् करता है, वैसे शिल्पी लोग उत्तम शिक्षा से और अग्नि आदि के सम्प्रयोग से अन्य स्थानों पर पहुंचाकर कार्यों को सिद्ध करते हैं।

महर्षि ने सबके हितैषी उन लोगें को माना जो सज्जनों की संगति करके शिल्प की उन्नति करते हैं[३२], व्यापारियों और शिल्पियों की निकटता उसी प्रकार उन्होंने मानी जैसी भूमियों में बहने वाली नदी की बीच की धारा और तट समीप रहते हैं-**यथा भूमिषु गच्छन्त्या: सरितो मध्यस्था: कक्षास्तटाश्च निकटे वर्त्तन्ते, तथैव व्यापारिणां समीपे शिल्पिनो वर्त्तन्ताम्**[३३]।

इस प्रकार दस मन्त्रों के भावार्थ में महर्षि ने शिल्पविद्या के विद्वानों का महत्त्व दिखाया है। ये सभी मन्त्र ऋग्वेदभाष्य के अन्तर्गत आये हैं। महर्षि के विचार से शिल्पविद्या का विद्वान् जगत् को प्रकाश देनेवाला है, श्रवणशक्ति का दाता है, सबका हितैषी है, सबके कार्यों का सिद्धकर्त्ता है, वह अग्नि है, दिव्य भोगों को प्रदान कराने वाला है तथा सब को प्रसन्न रखता है। ये शिल्पविद्या के द्वितीय विभाग के अन्तर्गत है।

जहाँ शिल्पविद्या के विद्वानों का महत्त्व है, वहीं उन विद्वानों का समाज के लिये कर्त्तव्य भी है। इस विद्या के जिज्ञासुओं का पढ़ाना, कार्य में समर्थ बनाना[३४], मनुष्यों के सुख के लिये निष्कपटता से विद्या को प्रकाशित करना[३५] जैसे सूर्य मेघ को बरसाकर समस्त प्रजा को सुख देता है, वैसे सम्पूर्ण प्रजा को सुख देना[३६] जैसे पक्षी हर ऋतु में अनेक प्रकार के शब्दों का उच्चारण करते हैं, वैसे भय त्यागकर अनेक विद्याओं को प्रकट करने वाले शब्दों का उच्चारण करना,[३७] राजकीय धन आदि के सहयोग से विद्यावृद्धि करना,[३८] शिल्पविद्या सिखाना,[३९] विद्या के विस्तार के लिये जितना जाने, उतना अन्यों को जनाना[४०] -ये सब शिल्पविद्या के विद्वानों के कर्त्तव्य हैं। ये शिल्प विद्या के तृतीय विभाग के अन्तर्गत है।

महर्षि दयानन्द भलीभांति जानते थे, कि जिस समाज में विद्वानों का सम्मान होता है, वह समाज उच्चशिखर पर पहुंच जाता है। पूज्य का सम्मान अपरिहार्य होना चाहिये। चतुर्थ विभागीय वे ही स्थल हैं, जहाँ

---

३१. हे मनुष्या: ! येनाग्निलाभ्यां शिल्पविद्यासाधनं रथादिकं सम्पाद्यते,स एव स्वात्मवत् सर्वान् प्रीणाति- ऋ०४,४४,१

३२. द्रष्टव्य-ऋ०५,२६,८

३३. ऋ०६,४५,३१॥

३४. ऋ०१,३४,४

३५. ऋ०१,८४,४

३६. ऋ०१,११८,९

३७. ऋ०२,४३,१ द्रष्टव्य।

३८. ऋ०६,५४,६

३९. य० १६,६५

४०. य० २९,३२

शिल्पियों के सम्मान की चर्चा की गयी है। अतः महर्षि लिखते हैं-

योऽनुत्तमयानकारी शिल्पी भवेत् स सर्वैः सत्कर्त्तव्योऽस्ति[४१] अर्थात् जो अतिश्रेष्ठयान का बनाने वाली शिल्पी है, उसका सत्कार सबको करना चाहिये।

ऋग्वेद ४.३६.२ में उन्होंने यानों की रचना और चलाने वाले शिल्पी के सम्मान से शिल्पविद्या की उन्नति बतायी है। इसी प्रकार शिल्पी का सम्मान न केवल मनुष्य[४२] अपितु राजा[४३] भी करे-यह बताया है। ये **शिल्पविद्यायां निपुणा जायन्ते, तेषां सत्कारो यथायोग्यं राजादिभिः कर्त्तव्यः॥**

वस्तुतः महर्षि की दृष्टि में जो क्रियाकुशल विद्वान् शिल्पियों की प्रशंसा करते हैं, वे असंख्य धन प्राप्त करके असंख्य धन का दान करने योग्य हो जाते हैं-**ये क्रियाकुशलान् विदुषः शिल्पिनः प्रशंसन्ति, तेऽसंख्यं धनं प्राप्यासंख्यं धनं दातुमर्हन्तीति।**[४४]

शिल्पविद्या को सिद्ध करने में वे ही लोग समर्थ हो सकते हैं, जो स्त्री-पुरुष ब्रह्मचर्य-पूर्वक विद्या पढ़कर परस्पर के प्रेम से गृहाश्रम का आरम्भ करें,[४५] जो पुरुषार्थी हैं, समुद्रवत् गम्भीर, धनाढ्य, वृषभवत् बलवान्, अग्निवत् शत्रुओं को जलाने वाले और सत्कामनाओं वाले[४६] विद्युत् के समान कार्यों में प्रवृत्त होने वाले तथा शिल्पसम्बन्धी रचनाओं के प्रणेता हैं।[४७] यह शिल्पविद्या विषयक पञ्चम विभागीय चर्चा महर्षि ने भाष्यान्तर्गत की है।

षष्ठ विभागीय चर्चा में हमने शिल्पविद्या की सिद्धि हेतु आवश्यक संसाधनों को रखा है। इन संसाधनों में प्रथम स्थान ईश्वर की आज्ञा का पालन है जिसके सहारे अग्नि को सिद्ध करके अक्षय धन की प्राप्ति के साथ-साथ यश, वृद्धि और वीर पुरुष भी उपलब्ध होते हैं। साथ ही रोगनिवृत्ति के द्वारा प्राणियों को सुख भी प्राप्त होता है-

(क) ईश्वराज्ञाया वर्त्तमानेन शिल्पविद्यादिकार्यसिद्ध्यर्थमग्निं साधितवता मनुष्येणाक्षयं धनं प्राप्यते, येन नित्यं कीर्तिर्वृद्धिर्वीरपुरुषाश्च भवन्ति।[४८]

(ख) मनुष्यैः सत्यविद्यया धर्मप्राप्तये सत्यशिल्पविद्यासिद्धये चाग्निरीश्वरो भौतिको वा तत्तद्गुणैः प्रकाशयितव्यो यतः प्राणिनां रोगनिवारणेन सुखान्युपगतानि स्युः।[४९]

---

४१. ऋ०१,१२०,११
४२. ऋ०४,५६,५
४३. ऋ०४,५७,६
४४. ऋ०६,४५,३३
४५. ऋ०५,७३,१
४६. ऋ०२,२५,३
४७. ऋ०२,३१,४
४८. ऋ०१,१,३
४९. ऋ०१,१२,७

द्वितीय संसाधन परमात्मा की रचना का ज्ञान शिल्पविद्या की सिद्धि का हेतु है, जिसके द्वारा सुख मिलता है-

(क) यत: परमेश्वर: सकलं जगद्रचयति, तस्मात् सर्वे पदार्था: परस्परं योजनेन वर्धन्ते। एते क्रियामये शिल्पविद्यायाँ च सम्यक् प्रयोजिता महान्ति सुखानि जनयन्तीति[५०]॥

(ख) मनुष्यैरस्याँ सृष्टौ परमात्मनो रचनाविशेषान् विज्ञाय तथैव शिल्पविद्यया सम्प्रयोज्या[५१]॥

शिल्पविद्या की सिद्धि का तृतीय संसाधन कार्य-गुणों का दर्शन तथा परीक्षा के द्वारा कारण की ओर प्रवृत्त होना है-

विद्वांसो यावदिह जगति कार्यगुणदर्शनपरीक्षायाँ कारणं प्रति न गच्छति, तावच्छिल्पविद्यासिद्धिं कर्तुं न शक्नुवन्ति[५२]॥

चतुर्थ संसाधन विद्युताग्नि है-

यथैका विद्युद् वेगाद्यनेकदिव्यगुणयुक्ताऽस्त्येवं प्रसिद्धोऽग्निर्वर्त्तते। एतौ सकलपदार्थदर्शनहेतू अग्नी सम्यङ् नियुक्तौ शिल्पाद्यनेककार्यसिद्धिहेतू भवतस्तस्मादेताभ्याँ मनुष्यै सर्वोपकारा ग्राह्या इति[५३]॥

अयं विद्युदाख्योऽग्निर्ब्रह्माण्डस्थेन वायुना शरीरस्थै: प्राणै: सह वर्त्तमान: सन् सर्वेषां पदार्थानां सकाशाद्रसं गृहीत्वोद्गिरति। तस्मादयं मुख्यं शिल्पसाधनमस्तीति[५४]॥

विद्युत् के साथ वायु भी शिल्पविद्या का संसाधन माना गया है।[५५]

महर्षि दयानन्द ने दो मन्त्रों के भावार्थ में बुद्धि, शस्त्र और पुरुषार्थ को शिल्पविद्या का साधन दर्शाया है[५६]-

(क) सर्वैः शिल्पिभिस्तौ तीव्रवेगवत्या मेधया पुरुषार्थेन च शिल्पविद्यासिद्धये सम्यक् सेवनीयौ स्त:॥

(ख) यैर्मनुष्यै: शास्त्रसंस्कारपुरुषार्थयुक्ताभिर्बुद्धिभि: सर्वेषु शिल्पाद्युद्यमेषु व्यवहारेष्विन्द्रावरुणौ सम्प्रयोज्येते, त एवेह सुखानि विस्तारयन्तीति॥

महर्षि दयानन्द ने कतिपय मन्त्रों में अग्नि को[५७], कतिपय में वायु को[५८], कतिपय में जल को,[५९] कतिपय

---

५०. ऋ०१,१८,८

५१. य० २९,३४

५२. ऋ०१,१११,१

५३. ऋ०१,१३,८

५४. ऋ०१,१४,१०

५५. ऋ०१,२३,३ तथा १,१०८,४

५६. ऋ०१,३,२ तथा १,१७,८

५७. ऋ०१,१३,१०,१,३,३,१,२२,२,१,१६२,१२,३,२,५,३,२६,२,५,२२,२,५,२६,३,यजु० २,२९,२६,७,

५८. ऋ०१,२१,४,२,२९,२,

में भूमि को,[६०] कतिपय में सूर्य को,[६१] कतिपय में भौतिक, विद्युत् और सूर्याग्नि को,[६२] तथा एक मन्त्र में काल और सृष्टि कर्म के ज्ञान को[६३] भी शिल्पविद्या की सिद्धियों में आवश्यक साधन के रूप में दर्शाया है। इन सब संसाधनों के साथ शिल्पविद्या में धन भी मुख्य सहायक होता है। धनाढ्यजनों को शिल्पीजन सहायक बनाने हेतु कहते हैं-

हे धनाढ्य! यदि त्वमस्माकं सहायो भवेस्तर्हि त्वद्धनेन वयं शिल्पविद्ययाऽनेकान् पदार्थान् रचयित्वा त्वामधिकं धनाढ्यं कुर्याम[६४]॥

एवं महर्षि दयानन्द ने वेदभाष्य के अन्तर्गत शिल्पविद्या पद का अर्थ दर्शाया है। इस पद हेतु कहीं कहीं शिल्पयज्ञ, शिल्पादियज्ञ, शिल्पक्रियामय यज्ञ, यज्ञशिल्प, शिल्पकर्म, शिल्पव्यवहार शिल्पसाध्य, शिल्पक्रिया आदि पदों का भी प्रयोग किया गया है, जो मूलतः शिल्पविद्या के ही द्योतक हैं। एक मन्त्र में 'अग्नि' पद का अर्थ शिल्पी भी किया है।

---

५९. ऋ०१,११२,५,
६०. ऋ०१,२२,१,
६१. यजु० ३,९,
६२. ऋ०१,२२,९,
६३. ऋ०१,१६२,१९,
६४. ऋ०६,४६,१

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २००९ अङ्क ११ (पृ०५४-६४)

पदपाठ की दृष्टि से सामभाष्यों का अनुशीलन

डॉ. दिनेशचन्द्र शास्त्री[१]

पदपाठ, ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषद् और वेदांग- ये पाँच वेदों के गूढ़ अभिप्राय को हृदयंगम करने के महत्त्वपूर्ण साधन हैं। इनमें 'पदपाठ' सबसे प्रथम साधन है। इसमें वेदार्थ को समझने के लिए मन्त्रों के विभिन्न पदों को पृथक्-पृथक् स्वरसहित रखा जाता है। इससे संज्ञा, क्रिया, उपसर्ग आदि का ठीक-ठीक बोध होता है तथा प्रत्येक पद का अर्थ समझने में सुविधा होती है। अथर्व प्रातिशाख्य के अनुसार पदपाठ में पदों के आदि, अन्त, वैदिक शुद्धस्वरूप (शब्द) स्वर तथा अर्थ पर विचार किया जाता हैं।[२] इसलिए स्वामी दयानन्द ने जहाँ इसको भाष्य के अंगरूप में स्वीकार किया है[३] वहीं प्राच्यविद्याविशारद महामहोपाध्याय पं. युधिष्ठिर मीमांसक ने वेदों के प्रारम्भिक संक्षिप्त भाष्य कहा है।[४] ऋग्वेद पर शाकल्य, तैत्तिरीय यजुर्वेद पर आत्रेय और सामवेद पर गार्ग्य के पदपाठ उपलब्ध हैं। यह भी उल्लेख मिलता है कि यजुर्वेद (मा.) के पदपाठ भी शाकल्यकृत हैं।[५]

सामवेद का जहाँ सायणकृत भाष्य मिलता है, वहीं भरतस्वामी के भाष्य के साथ-साथ माधव का विवरण नाम से व्याख्यान भी उपलब्ध है, इसके साथ ही साथ सामवेद में कृतभूरिश्रम सामश्रमी के नाम से लोकविश्रुत बंगाल के प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् पं. सत्यव्रत की सायणभाष्य के सम्पादन में दी गयीं पाद-टिप्पणियां भी सामभाष्यों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। पण्डितराज भगवदाचार्य का सामसंस्कारभाष्य भी उल्लेखनीय है। इसमें आध्यात्मिक अर्थ ही किये गये हैं।[६] आधुनिक युग में स्वामी दयानन्द की शैली पर सम्पूर्ण सामवेद का संस्कृत और आर्य (हिन्दी) दोनों भाषाओं में भाष्य, गुरुकुल कांगड़ी में अधीतविद्य, विद्यामार्तण्ड आचार्य रामनाथ का उपलब्ध है, जो कि सब प्रकार से पूर्ण कहा जा सकता है। इसमें पदपाठ, स्वरशास्त्र, अलंकार शास्त्र, नैरुक्त प्रक्रिया एवं पूर्वापर संगति आदि कई दृष्टियों से मन्त्रों पर विचार किया गया है। अपने से पूर्ववर्ती उपलब्ध प्रायः सभी भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन भी भाष्यकार ने अपनी टिप्पणियों में प्रदर्शित किया है। मन्त्र संबन्धी जो भी जानकारी भाष्यकार को है, वह सब उसने भाष्य के साथ-साथ टिप्पणियों में दिखाने की हरसंभव कोशिश की है। इस तरह कई दृष्टियों से यह महत्त्वपूर्ण जानकारियों का बृहत्कोष (Encyclopaedia) है। हिन्दी में भी तुलसी राम स्वामी, पं. जयदेव शर्मा विद्यालंकार, स्वामी ब्रह्ममुनि, हरिशरण सिद्धान्तालंकार और श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

---

१ रीडर, वेद विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

२. पदाध्ययनमन्तादिशब्दस्वरार्थज्ञानार्थम्, अथर्वप्राति. ४/१०७

३. सम्पूर्णाकार्यथेदं भवति सुरुचि यन्मन्त्रभाष्यं मयातः। पश्चादीशानभक्त्या सुमति सहितया तन्यते सुप्रमाणम्॥ मन्त्रार्थभूमिका ह्यत्र मन्त्रस्तस्य पदानि च। पदार्थान्वयभावार्थाः क्रमाद् बोध्या विचक्षणैः। (ऋ. भा. भू. के अन्त में लिखित)

४. मेरी दृष्टि में स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनके कार्य, पं. युधिष्ठिर मीमांसक, बहालगढ़ सोनीपत, हरियाणा पृ. २३२

५. वही, पृ.२३१

६. अर्थमाध्यात्मिकं वक्तुं सामवेदस्य कृत्स्नशः- उत्तरार्चिक सामसंस्कार भाष्य का मंगलाचारण

के भाष्य मिलते हैं। अंग्रेजी में जे. स्टेवेन्सन, ग्रिफिथ और स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती के अनुवाद प्रकाशित हैं। जर्मनभाषा में थियोडोर वेन्फे का अनुवाद मिलता है।

इस शोध पत्र का महत्त्वपूर्ण आधार आचार्य रामनाथकृत सामभाष्य की पाद-टिप्पणियां हैं, जिनके अनुसार हम गार्ग्यकृत पदपाठों के आधार पर केवल सामवेद पूर्वार्चिक पर ही संस्कृत भाष्यों को परखने की कोशिश करेंगे कि ये पदकार आचार्य के अनुसार कितने सही हैं या पदच्छेद करने वाले का पदविभाग कितना युक्तियुक्त है। सामवेद पूर्वार्चिक में ६५० मन्त्र हैं। आग्नेय, ऐन्द्र, पावमान और आरण्यपर्व के मन्त्र इस आर्चिक में हैं। इसके साथ ही साथ इसमें १० मन्त्रों का महानाम्नी आर्चिक भी है, क्योंकि छन्द आर्चिक और महानाम्नी आर्चिक मिलकर पूर्वार्चिक होता है। सामवेद के पदपाठों पर विचार करते हुए तत्तत् मन्त्रों के ऋग्वेदीय शाकल्य पदपाठों की संगतियों पर आवश्यकतानुसार प्रकाश पड़ेगा। सामवेद पूर्वार्चिक के जिन स्थलों पर भाष्यकारों की पदकार आचार्य से मतभिन्नता है, वे निम्न प्रकार हैं-

आग्नेय पर्व

१. अभुवः (मं. ५३) २. असुरस्य (मं. ७८)
३. वन्दद्वारा (मं. ७८) ४. ऊत्या गमत् (मं. १०२)
५. स्वर्णरम् (मं. १०९)

ऐन्द्र पर्व

६. रथ्योर्हिता (मं. १५४) ७. द्युमद्वामन् (मं. १७७)
८. दोषो (मं. १७७) ९. बृहद्वाय (मं. १७७)
१०. वरिवस्या (मं. १८६) ११. त्रदम् (मं. २०४)
१२. अगो रयिः (मं. २२५) १३. असुरेभ्यः (मं. २५४)
१४. देवतातये (मं. २४९) १५. आप तद् (मं. २६८)
१६. त्वावसो (मं. २८०) १७. त्रिंशत् पदा न्यक्रमीत् (मं. २८१)
१८. इत ऊती (मं. २८३) १९. विव्रतानाम् (मं. २८८)
२०. उस्रा (मं. ३०४) २१. कुष्ठः (मं. ३०५)
२२. आद्वन्यथा (मं. ३०५) २३. वियद्वः (विवः) (मं. ३१५)
२४. अधद्राः (मं. ३२३) २५. विष्वक् (मं. ३३९)
२६. (पितुः) नपातम् (मं. ३४०) २७. उभयाहस्ति (मं. ३४५)
२८. भ्यसाते (मं. ३७१) २९. शम्बरम् (मं. ३९२)
३०. विषुवतः (मं. ४०९) ३१. शोभथा (मं. ४०९)
३२. सोम इत् (मं. ४१०) २३. ब्रह्म (मं. ४१०)
३४. मातथा इव (मं. ४१६) ३५. रणा (मं. ४२२)

३६. सक्षणिः (मं. ४२८) २७. ऋणया (मं. ४२८)

३८. सहस्रमानवः (मं. ४५८) ३९. विवस्वते (मं. ४६१)

पावमान पर्व

४०. आयुषक् (मं. ४८३) ४१. तु न (मं. ५०९)

४२. व्रजं न (मं. ५३९) ४३. गोन्योघा (मं. ५४०)

४४. मखम् (मं. ५५३) ४५. अपि या (मं. ५८५)

आरण्यपर्व

४६. (आ) रजोयुजः (मं. ५८८) ४७. विष्वङ्। (मं. ६१८)

४८. सहना/ सुहना (मं. ६२५)

इस प्रकार आग्नेय पर्व में पांच, ऐन्द्रपर्व में ३४, पावमान पर्व में ०६ आदि आरण्यपर्व में तीन ऐसे स्थल हैं, जहाँ पद-सम्बन्धी गार्ग्य के पाठों की अधिकांश स्थलों पर सायण, भरतस्वामी और विवरणकार माधव आदि ने उपेक्षा कर अपने अनुसार व्याख्यान किये हैं, परन्तु विद्यामार्त्तण्ड आचार्य रामनाथ ने इन सभी स्थलों पर पदकारानुसारी ही संगत अर्थ किये हैं, जो कि परम्परा और स्वरशास्त्र सम्मत हैं। कहीं-कहीं आचार्य रामनाथ ने पदपाठनुसार तो भाष्य किया ही है, अन्य स्वतन्त्र व्याख्यान भी अपनी ऊहा और तर्कशक्ति से किया है, क्योंकि पदपाठ में सभी सम्भव अर्थ समाहित नहीं हो सकते अर्थात् मन्त्र के जितने अर्थ प्रतीयमान हो सकते हैं, उन सबका संग्रह पदकार पदपाठ के प्रवचन द्वारा नहीं कर सकते।[७] ऐसे स्थल यथास्थान इस शोधपत्र में द्रष्टव्य हैं। भाष्यकारों के पदपाठ से मतभिन्नता रखने वाले उपर्युक्त स्थलों में से कतिपय पदों का विवेचन इस प्रकार है-

१. **यद्दूरे सन्निहाभुवः** (मं. ५३) में पदकार ने अन्तिम पद- 'अभुवः' माना है, जो कि लुङन्त रूप है। जबकि भरतस्वामी ने इसको लेट् लकार का रूप 'आभुवः' मानकर व्याख्यान किया है-'आ समन्ताद् भवेः' इति। आचार्य रामनाथ ने पदकार के लुङन्तरूपानुसार ही भाष्य किया है- 'अभूः' भूतवानसि' इति।

२. **वन्दद्वारा वन्दमाना विवष्टु** (मं. ७८) में पदकार ने 'वन्दद्वारा' पदपाठ का प्रवचन किया है। परन्तु विवरणकार ने 'वन्दद्वारा' के स्थान पर 'वन्दद् वारा' पाठ मानकर व्याख्यान किया है- 'प्रवन्दत् प्रकर्षेण स्तौति, वारा द्वितीयैकवचनस्य स्थाने आकारः, वार वरणीयम्' इति। अन्य भाष्यकारों के व्याख्यान इस प्रकार हैं-

(क) 'वन्दद्वारा- वन्दद्वाराणि' इति भरतस्वामी।

(ख) 'वन्दनं वन्दः स्तुतिः, तद् द्वाराणि स्तुतिप्रमुखानि वन्दमानाः सर्वैः स्तूयमानानि कृतानि कर्माणि' इति सायणाचार्यः।

(ग) 'वन्दनाद्वारेण' इति आचार्य रामनाथः।

३. **ऊत्या गमत्** (मं. १०२) ऊत्या आ गमत् (पदपाठः)। विवरणकार माधव और भरतस्वामी ने यहाँ

---

७. देखो 'मेरी दृष्टि में स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनके कार्य, पं. युधिष्ठिर मीमांसक, पृ. २३३

(ऊती आगमत्) विच्छेद करके अपने-अपने भाष्य-व्याख्यान किये हैं, जो कि पदकार के विरुद्ध हैं-'ऊती-पालयित्री' इति माधवः। 'ऊती ऊत्या रक्षया सह' इति भरतस्वामी, परन्तु आचार्य रामनाथ ने पदकार के प्रवचनानुसार ही अपना व्याख्यान किया है- **'ऊत्या-रक्षया सह, आ गमत्- आगच्छतु'** इति।

४. **स्वर्णरम्-** (मं. १०९) पदकार ने यहाँ 'स्वः नरम्' यह पदपाठ दिया है, जो कि समस्त पद है। आचार्य शाकल्य ने भी ऋग्वेद में इसको समस्तपद के रूप में स्वीकार किया है- **'स्वःऽनरम्'** इति। आचार्य सायण आदि ने इसी के अनुसार इसकी व्याख्या की है, परन्तु सत्यव्रत सामश्रमी ने यहाँ पृथक्-पृथक् दो पद स्वीकार किये हैं- 'स्वः', 'नरम्' इति, जो कि विचारणीय बात है, क्योंकि गार्ग्य और शाकल्य दोनों आचार्यों ने अपने-अपने पाठों में इसको समस्त पद ही स्वीकार किया है। स्वरशास्त्र की संगति भी तभी होगी जब इसको समस्तपद के रूप में स्वीकार किया जाये। आचार्य रामनाथ ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है-**'मोक्षानन्दस्य प्रापयितारं परमात्माग्निम् स्वः मोक्षादिसुखं नृणाति प्रापयति इति स्वर्णरः तम्। स्वः इति सुखनाम। नृ नये क्रयादिः।**

आचार्य रामनाथ ने अपने सामभाष्य में पं. सत्यव्रत सामश्रमी के मत का उल्लेख करते हुए निम्न प्रकार समीक्षा की हैं-**'स्वः, नरम्' इति पृथक् पदद्वयमिति पदकृत्पाठात् स्वरश्रुतेश्च स्पष्टमवगम्यते, विवरणकारश्चैवमेव व्याचष्टे- इति सत्यवत सामश्रमी। तत्तु चिन्त्यम् उपलब्ध पदपाठपुस्तकेषु समस्तपदत्वेनैव प्रदर्शितत्वात्। समस्तपदत्वेन स्वीकृते सति स्वरोऽपि संगच्छत एव स्वर इति 'न्यङ्स्वरौ स्वरितौ' इति स्वरितम्, तत्पुरुषेऽव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरः।'**

५. **रथ्योर्हिता** (मं. १५४) पदकार ने 'रथ्योः हिता' ऐसा पदपाठ किया है। इसको मानते हुए भरतस्वामी और आचार्य रामनाथ ने अपने व्याख्यान प्रस्तुत किये हैं। परन्तु आचार्य सायण ने अपना पदविभाग अलग किया है। उन्होंने 'रथ्यः अर्हिता' यह पदच्छेद कर **'रथ्यः रथार्हः, अर्हिता आरोढा सोमः तादृशः पूषा सूर्यश्च'** यह व्याख्यान किया है, जो कि पदकार के विरुद्ध है।

६. **द्युमद्गामन्-** (मं. १७७) -पदकार ने इसको समस्तपद न मानते हुए इसका 'द्युमत् गामन्' पदपाठ किया है। परन्तु भरतस्वामी और माधव ने इसे समस्त पद स्वीकार किया है और तदनुकूल ही अपने अर्थ किये हैं, जो कि पदकार आचार्य के विरुद्ध हैं। आधुनिक भाष्यकारों में आचार्य रामनाथ ने पदपाठानुकूल असमस्तपद मानते हुए ही अपना व्याख्यान किया है जो कि इस प्रकार है- **'द्युमान् दीप्तिमान् विद्यादिसद्गुणप्रकाशयुक्तः गामा गमनम् आचरणं यस्य तथाविध- द्युमान् द्योतनवान्। निरु. ६/१९ गामा इत्यत्र गाङ् गतौ धातोः 'सर्वधातुभ्यो मनिन्' ४/१४६ इति मनिन्।'** समस्तपद मानने वालों में से भरतस्वामी और विवरणकार माधव का व्याख्यान इस प्रकार है- **'कीदृशं स्तुतिरूपम्? द्युमत् स्वरसौष्ठवयुक्तम् इत्यर्थः। गामन्। गामान् गाता उच्चारयिता स्तोता। तस्य संबोधनं हे गामन् स्तोतरित्यर्थः' इति विवरणकारः। 'द्युमत् दीप्तिमत् स्तोत्रम्। हे गामन्। गायतीति गामान् स्तोता। हे स्तोतः, इति भरतस्वामी।**

७. **दोषो** (मं. १७७) पदकार आचार्य ने यहाँ 'दोषा उ' इस प्रकार पदच्छेद किया है। इसके अनुरूप ही आचार्य रामनाथ ने अपना व्याख्यान किया है, यथा- **'रात्रः, अज्ञानमोहदुर्व्यसन दुराचारादीनां तमिस्रा। दोषा इति**

रात्रिनाम। नि. २/७'। आचार्य रामनाथ का यह व्याख्यान निघण्टु के अनुरूप भी है। वेद में अनेक स्थलों पर 'दोषा' पद रात्रि के लिए आया है, जैसे-'दोषावस्तर्धिया वयम्' ऋ. १/१। परन्तु आचार्य सायण और भरतस्वामी ने पदकार और निघण्टु की मान्यताओं आदि से विरुद्ध अर्थ किया है। वे 'दोष आ' ऐसा पदविभाग मानकर अर्थ करते हैं। '**दोषः दूषयति नाशयति तमांसीति वा, दुनोति उपतपति रक्षांसि इति वा दोषः सविता' इति भरतस्वामी। 'दोषः ऋत्विग्- यजमानापराधेन यः कश्चिद्दोषः आगात् आगच्छति, तत्परिहारार्थं सवितारं प्रेरकम् एतन्नामकं देवं स्तुहि। यद्वा दोष दूषयति नाशयति तमांसीति, दुनोति उपतपति रक्षांसीति वा दोषः स सविता आगात्' इति सायणाचार्यः।**

८. **बृहद्गाय-** (मं. १७७) यहाँ पदकार ने असमस्तपद मानते हुए स्वरशास्त्रानुकूल '**बृहत् गाय**' ऐसा पदपाठ किया है। सायणाचार्य को छोड़कर अन्य आचार्य रामनाथ आदि ने इस पदविभाग के अनुरूप ही अपने-अपने भाष्य किये हैं। सायण ने 'बृहद्गाय' ऐसा समस्तपद माना है। जो कि पदकार आचार्य के विरुद्ध है।

९. **वरिवस्या** (मं. १८६) पदकार ने यहाँ 'वरिवस्या'[८] पदपाठ स्वीकार किया है। आचार्य रामनाथ ने पदकार-सम्मत ही व्याख्यान किया है- '**वरिवसां धनानां प्रदानेच्छा वरिवस्या**'। हिन्दी में इसका अर्थ होगा' धन प्रदान करने की इच्छा से' सामवेद में पठित यह मन्त्र ऋग्वेद में भी आता है। वहाँ पर यह 'वरिवस्य' ऐसा तिङन्त पद के रूप में है। इसी का अनुसरण करते हुए भरतस्वामी और सायणाचार्य ने यहाँ भी तिङन्त पद ही माना है। तथापि पदपाठ में 'वरिवस्या' ऐसा पाठ पदकार ने पढ़ा है, इससे पता चलता है कि वे क्रियापद के रूप में इसको नहीं मानते, क्योंकि पदपाठ में दीर्घान्त क्रिपापद को पदकार सर्वत्र ह्रस्वान्त दिखाते हैं।

विवरणकार माधव ने संबुद्धि एकवचन में इसको मानकर व्याख्यान किया है, जो कि सम्बुद्धि स्वर के अभाव में चिन्तनीय है, क्योंकि सम्बुद्धि में तो पादादित्व के कारण '**आमन्त्रितस्य च**' सूत्र से आद्युदात्त होना चाहिए था। अतः विवरणकार का अर्थ पदपाठानुसार न होने से स्वरशास्त्र के बिल्कुल विपरीत है। विवरणकार का व्याख्यान इस प्रकार है-'**वरिवस्या। वरिवस्यः परिचरणीयः, तस्मात् सम्बुद्ध्येकवचनम्, तस्य स्थाने 'सुपां सुलुक्' इति आकारः हे परिचरणीय इत्यर्थः।**'

१०. **देवतातये** (मं. २४९) देवतातये (पदपाठः)। यहाँ पदकार को स्वार्थिक तातिल् प्रत्यय ही अभिमत है। आचार्य सायण ने इसका-'**देवैः स्तोतृभिः तायते विस्तार्यते इति देवताति- यज्ञः**' ऐसा व्याख्यान किया है। आधुनिक भाष्यकार आचार्य रामनाथ ने इसका दो प्रकार से व्याख्यान किया है, जिनमें से पहला पदकारानुकूल है और दूसरा प्राप्त पदपाठ के विपरीत है। भाष्यकार के ही शब्दों में-

(१) देवतातये-देवजनकल्याणार्थं यद्वा विद्वज्जनैः विस्तार्यमाणाय यज्ञाय। देवशब्दात् 'सर्वदेवात्

---

८. इस पद की निष्पत्ति आचार्य रामनाथ ने अपने भाष्य में इस प्रकार की है- 'वरिवस् इति धननाम। निघं०२/१०। 'छन्दसि परेच्छायां क्यच् उपसंख्यानम्।' अ. ३/ १/ ८ इति वार्तिकेन परेच्छार्थे क्यच्। 'न च्छन्दस्यपुत्रस्य'। अ. ७/४/३५ इति ईत्वदीर्घयोर्निषेधः। क्यजन्तेभ्यः 'अप्रत्ययात्'। अ. ३/३/१-२ इति भावे अः प्रत्ययः- ततष्टाप्। तृतीयैकवचने 'वरिवस्या' इति प्राप्ते 'सुपां सुलुक्. अ. ७/१/३९ इति तृतीयाया लुक्, पूर्वसवर्णदीर्घो वा।'

तातिल्' अ. ४/४/१४२ इति स्वार्थिकस्तातिल् प्रत्ययः। तस्य लित्वात् 'तिति' अ. ६/१/ १९३ इति प्रत्ययात् पूर्वमुदात्तः।

(२) यद्वा देवैर्विद्वद्भः तातिः विस्तारो यस्य तस्मै यज्ञाय। देवताता इति यज्ञनामसु पठितम् (निघं०३/१७)। बहुव्रीहित्वात् पूर्वपदप्रकृतिस्वरः।

उक्त अर्थों में से पहला आचार्य सायण का अनुसरण करता है और दूसरा पदकार के पदपाठ प्रवचन के विरुद्ध है, क्योंकि पदकार 'देवतातये' ऐसा विच्छेद नहीं करते।

इससे ज्ञात होता है कि पदपाठ में सभी प्रतीयमान संभव अर्थो का संग्रह नहीं हो सकता, क्योंकि भाष्यकार आचार्य रामनाथ का पदपाठ सम्मत अर्थ करने के बाद अन्य संभाव्य प्रतीयमान अर्थ करना इस बात को स्पष्ट झलकाता है।

११. **उस्रा** (मं. ३०४) उ-स्रा (पदपाठः) इस मन्त्र का देवता 'अश्विनौ' है और 'उस्रा विशेषण। भरतस्वामी, सायण और आचार्य रामनथ ने पदकार के पदपाठ विरुद्ध ही अपने-अपने व्याख्यान किये हैं, जैसे 'उस्रा उस्रौ वासकौ' इति भरतस्वामी सायणाचार्यश्च। आचार्य रामानाथ ने भी 'उस्रौ निवासकौ युवाम्' ऐसा व्याख्यान किया है। इन तीनों भाष्यकार आचार्यो ने जो व्याख्यान किया है वह 'वस निवासे' धातु सें 'स्फायितञ्चि.' उ. २/१३ सूत्र द्वारा औणादिक रक् प्रत्यय और धातु के वकार को 'उ' सम्प्रसारण करके 'उस्रा' पदसिद्ध मानकर किया है। माधव ने अपने विवरण में पदपाठ के विरुद्ध जाकर 'उस्रा' में लुप्तोपमा स्वीकार की है। जिसके अनुसार उन्होंने भाष्य इस प्रकार किया है जो कि चिन्त्य है- 'उस्रेति गोनाम, लुप्तोपमं चेदं द्रष्टव्यम्। उस्रा इव। यथा गावः स्वान् वत्सकान् हवन्ते आह्वयन्ति, तद्वदाह्वयन्ति युवां हे अश्विनौ' इति। देवराजयज्वा ने 'उस्रा' शब्द की एक वैकल्पिक निरुक्ति प्रदर्शित की है-उत्पूर्वात् स्रुगतौ (भ्वादि) इत्यस्मात् 'उपसर्गे च संज्ञायाम् अ. ३/२/९९' इति जनेर्विधीयमानो ड प्रत्ययो बाहुलकाद् भवति, उदोडन्तलोपश्च। उत्स्रुवन्ति एभ्यो रसाः।' यह निरुक्ति पदपाठ के अनुरूप है।

१२. **कुष्ठः** (मं. ३०५) कु-स्थः (पदपाठः)। भरतस्वामी और आचार्य रामनाथ ने पदपाठ-सम्मत ही व्याख्यान किये हैं। कुष्ठः कुत्र स्थो युवाम्' इति भरतस्वामी। कु=कुह, स्थः वर्तेथे (तुम कहाँ हो?) इति रामनाथः। परन्तु विवरणकार माधव और आचार्य सायण ने पदपाठ से विरुद्ध जाकर 'कुष्ठः' को समस्तपद मानते हुए अपने-अपने भाष्य किये हैं, यथा- 'कुः पृथिवी तस्यां स्थितः कुस्थः' इति विवरणकारो माधवः। 'कौ पृथिव्यां वर्तमानः को मर्त्यः' -इति सायणः।

१३. **उभयाहस्ति-** (उभयाहस्त्या) (मं. ३४५) उभयाहस्ति (पदपाठः)। माधव, भरतस्वामी और सायणाचार्य ने 'उभया हस्त्या'- ऐसा पदपाठ मानकर भाष्य किये हैं, जो कि पदकार के विरुद्ध हैं। जो पदपाठ गार्ग्य ने किया है वही आचार्य शाकल्य ने भी इस मन्त्र के ऋग्वेदीय पाठ में किया है। जिसका स्वामी दयानन्द ने भाष्य किया है- उभये हस्ताः प्रवर्तन्ते यस्मिंस्तत् 'इति इसका अनुसरण करते हुए पदपाठ के अनुकूल भाष्य आचार्य रामनाथ ने किया है, जो कि इस प्रकार है- **'उमयाहस्ति- उभये हस्ताः प्रवर्त्तन्ते यथा तथा। 'द्विदण्डादिभ्यश्च। अ. ५/४/१२८' इति इच् प्रत्ययान्तोऽयं निपातः। चित्वादन्तोदात्तत्वम्।'** अन्य भाष्यकारों के

पदपाठ विरुद्ध व्याख्यान इस प्रकार हैं-

(क) उभया, उभयशब्दादुत्तरस्य तृतीयाद्विवचनस्य 'सुपां सुलुक्. अ. ७/१/३९' इति या आदेशः उभाभ्यामित्यर्थः। हस्त्या, हस्त शब्दादुत्तरस्य तृतीया द्विवचनस्य 'सुपां सुलुक्. इति या आदेशः। हस्ताभ्याम् इत्यर्थः इति विवरणकारः।

(ख) उभया हस्त्या उभाभ्यां हस्ताभ्यां संगृहीतम्- इति भरतस्वामी।

(ग) उभया हस्त्या उभाभ्यां हस्ताभ्याम्- इति सायणः।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि यास्काचार्य ने भी निरुक्त ४/४ में इस मन्त्र की व्याख्या की है, जिसमें यास्क ने 'उभया हस्त्या' यह असमस्तपद मानकर ही 'उभाभ्यां हस्ताभ्याम्' यह व्याख्यान किया है। आचार्य रामनाथ ने इसके श्लेषालंकार से दो अर्थ किये हैं। एक तो परमात्मापरक और दूसरा राजा-प्रजा के पक्ष में। पहला अर्थ तो ऊपर प्रदर्शित किया जा चुका है। दूसरा अर्थ 'उभयैरपिहस्तैः- दोनों हाथों से भर-भर कर' है।

१४. **सक्षणिः** (मं. ४२८) स क्षणिः (पदपाठः)। पदकार गार्ग्य को उक्त रूप में पद पाठसम्मत है। जिसके अनुसार अर्थ होगा-'क्षणिः हिंसा, तया सहितः सक्षणिः' आचार्य रामनाथ ने उक्त पाठानुसार ही ऐसा अर्थ किया है।[९] परन्तु भरतस्वामी और सायण ने अभिभव अर्थ वाली 'षह' धतु से इसकी व्युत्पति मानी है। इन दोनों के व्याख्यान इस प्रकार हैं-'अभिभावुकः' -इति भरतस्वामी। 'सहनशीलः' -इति सायणः।

१५. **सहस्रमानवः**- (मं. ४५८) सहस्रम् आनवः (पदपाठः)। पदकार ने असमस्त पद के रूप में प्रवचन किया है। इसके अनुसार ही आधुनिक भाष्यकार आचार्य रामनाथ ने निघण्टु का प्रमाण देते हुए अपना भाष्य इस प्रकार किया है जो कि स्वरशास्त्र के अकूल भी है-'सहस्रम्- एकोऽपि सन् शक्त्या सहस्रतुल्यः, आनवः अनुभ्यो मनुष्येम्यो हितः। अनव इति मनुष्यनामसु पठितम्। निघं २/३, तेभ्यो हितः' इति। परन्तु आचार्य सायण का व्याख्यान पदकार के विरुद्ध तो है ही वेद के भी विपरीत है, क्योंकि वे इसको समस्तपद-मानते हैं। इनका व्याख्यान इस प्रकार है-'सहस्रमानवः सहस्रसंख्याकाः मनुष्या यस्य सः। सहस्रसंख्याकैर्मनुष्यैरिवावस्थितै रश्मिभिर्युक्तः' इति।

१६. **आयुषक्**- (मं. ४८३) आयु सक् (पदपाठः)। निघण्टु २/५ में 'आयवः' पद मनुष्यनामों में पढ़ा गया है। 'सक्' पद 'षच समवाये' धातु से निष्पन्न है। यही स्थिति पदपाठ का प्रवचन करने वाले आचार्य को मान्य है और यह युक्तिसंगत भी है। इसी के अनुसार भरतस्वामी और आचार्य रामनाथ ने अपने व्याख्यान किये हैं।[१०] सत्यव्रत सामश्रमी ने अपनी टिप्पणी में विवरणकार के नाम से यह लिखा है कि-'सचते रूपम्। आनुषक् आयुषक् इति शाखाभेदेन पठ्यते आनुषगिति नामानुपूर्वस्य अनुषक्तो भवति'। लेकिन मुद्रित माधवकृतविवरण भाष्य में 'आयुषक् सुजनमनाः' यह पाठ मिलता है।

---

९. 'क्षणिः हिंसा क्षणोतेः तया सहितः सक्षणिः-, हिंसकः त्वम्' इति आचार्य रामनाथः।

१०. आयषु मनुष्येषु सक्तः, मनुष्यैः सेव्यमान इति वा - इति भरतस्वामी। आयुषु उपासकेषु मनुष्येषु सक्तं यथा स्यात् तथा इति रामनाथः।

१७. गोन्योघा:- (मं. ५४०) गो न्योघा: (पदपाठ:) लगभग सभी भाष्यकारों ने पदपाठ का अनुगमन करते हुए अपने-अपने व्याख्यान किये हैं, परन्तु सत्यव्रत सामश्रमी ने पतञ्जलि के नाम से यह लिखा है- 'गोनीशब्दो गमनशीलार्थोऽपभ्रंश इत्युदाजहार च पस्पशे पतञ्जलि:' इति। जो कि यहाँ युक्तिसंगत नहीं लगता, क्योंकि पदपाठ में गो-न्योघा:' पदविभाग है और पतञ्जलि ने भी अपभ्रंश शब्द का ही उल्लेख किया है, न कि वैदिक शब्द का।

१८. **हता मखं न** (मं. ५५३) हत मखम् न (पदपाठ:)। सायण और आचार्य रामनाथ आदि ने पदकार सम्मत अर्थ किये हैं, जबकि भरतस्वामी ने पदपाठ से भिन्न 'अमघम्' पद मानते हुए 'हता' के अकार को 'मखम्' के साथ जोड़कर और 'ख' के स्थल पर 'घ' करके व्याख्यान किया है-**'अमघमिव यथा अमघम् अदातारं यज्ञे न प्रवेशयन्ति तद्वत् भृगव: दीप्ता: यूयं हे मदीया: जना:'**। यह व्याख्यान जहाँ गार्ग्य पदकार के विपरीत है वहीं स्वर के विरुद्ध भी है। आचार्य सायण का इतिहासपरक अर्थ इस प्रकार है- **'यथा' पुरा अराधसं मखम् एतन्नामानं भृगवोऽपहतवन्त: तथा अपहतेयर्थ:'** विद्यामार्तण्ड आचार्य रामनाथ ने इसका दो प्रकार से व्याख्यान किया है। यथा- **'मखम्- चाञ्चल्यम् अपघ्नन्ति तद्वत्। मख गत्यर्थ, भ्वादि:। यद्वा मखो मखासुर: छद्मयज्ञो नर:, तं भृगव: तेजस्विनो राजपुरुषा: यथा अपघ्नन्ति दण्डयन्ति तद्वदित्यर्थोऽध्यवसेय: इति।**

१९. **आ रजोयुज:**- (मं. ५८८) आरज: आ रज: (पदपाठ:)। मन्त्र का पहला चरण इस प्रकार है- 'यस्येदमा रजोयुज:' इति। आचार्य रामनाथ ने पदकार द्वारा किये गये पद विभाग के अनुसार अर्थात् 'आरज:' को समस्तपद मानकर और 'युज:' को पृथक् रखकर अपना युक्तियुक्त भाष्य किया है, जबकि सायण ने 'रजोयुज:' को एक समस्त पद मानकर अग्रलिखित व्याख्यान किया है-**'रजोयुज: ज्योतिर्युक्तस्य'** इति, जो कि पदपाठ के विरुद्ध है। पदपाठानुकूल रामनाथीय व्याख्यान इस प्रकार है- **'आरज:- लोकलोकान्तरपर्यन्तम्, युज: सर्वै: पदार्थै: योगकारिण:' इति।**

२०. **विष्वक्/विष्वङ्** (मं. ३३९,६१८) वि स्वक्, वि स्वङ् (पदपाठ:)। प्रायश: सभी 'व्याख्याकारों ने इसका साधुत्व प्रकार 'विषु शब्दाद् असचे: क्विप्' ऐसा माना है।[११] किन्तु 'वि स्वक्' ऐसा पदपाठ होने से पदपाठ के प्रवचन कर्त्ता को 'वि-सु' उपपदपूर्वक 'अञ्चु' से क्विप् करके 'स्वक्' बनाना अभिप्रेत है। अथवा 'स्वक्' इसका 'सु-अक्' ऐसा विभाग करने से वि पूर्वक 'स्वञ्ज परिष्वंगे' धातु अभिप्रेत है। इस प्रकार के पदकार द्वारा किये गये प्रवचन के अनुसार ही आचार्य रामनाथ ने दो तरह का व्याख्यान इस प्रकार किया है- **'विविध कर्मरत विशेषेण सर्वान्तर्यामी वा सन् (वि+सु+अञ्चु)। यद्वा यो विशेषेण स्वजते आलिंगति सर्वान् पदार्थान् स विष्वक् सर्वान्तर्यामी (ष्वज परिष्वंगे)। मं. सं. ३३९) 'विविध पदार्थान् सम्यक् प्राप्त: सन्। वि विविधतया सु सम्यग् अञ्चतीति विष्वङ्'** (मं. सं. ६१८)

२१. **सहना** (मं. ६२५) सुहना सु हना (पदपाठ:)। इस मन्त्र का अन्तिम पाद (चरण) इस प्रकार है

---

११. देखो, सामवेदभाष्यम् (पूर्वार्चिक:) आचार्य रामनाथ ऋ पृ. ४३८, समर्पण शोधसंस्थानम् साहिबाबाद: (गाजियाबाद:) उ. प्र., १९९१

जिसमें यह पद आता है-'वृत्रेषु शत्रून् सहना कृधी नः' इति। आचार्य रामनाथ ने अपने सामभाष्य की टिप्पणी में लिखा है कि सामसंहिताओं में 'सहना' पाठ मिलता है और पदपाठ के प्रवचनकर्त्ता आचार्य को 'सुहना' पाठ अभिप्रेत है। इससे स्वर में कोई भेद-नहीं आता है। आचार्य रामनाथ ने दोनों पाठों के अनुसार ही अर्थ किये हैं जो कि इस प्रकार हैं-'वृत्रेषु दुष्टेषु शत्रुषु नः अस्मान् सहना प्रहारसहनशीलान् शत्रून् शातयितॄन्। सहना इत्यत्र 'सुपां सुलुक्। अ. ७/१/३९' इति शसः आकारादेशः। कृधि कुरु' भाष्य की टिप्पणी में आचार्य रामनाथ ने पदपाठ सम्मत 'सुहना' पद की अर्थ योजना इस प्रकार की है 'वृत्रेषु शत्रुषु नः अस्मान्, सुहना सुष्ठु वधकर्त्तॄन्, शत्रून् रिपून् कृधि' इति।

२२. **वि यद्वः** (विवः) (मं. ३१५) वि यत् वरिति (पदपाठः)। यहाँ कुछ भाष्यकारों ने 'वः' इस पद को युष्मद् के स्थान पर आदेश मानकर व्याख्यान किया है जो कि स्वर और पदपाठ से विरुद्ध होने पर असंगत है। अन्य भाष्यकारों के व्याख्यान इस प्रकार हैं- 'विवः विवृतवानसि' इति विवरणकारः, भरतस्वामी, सायणाचार्यः। 'विवः -विवृणोषि विशेषेण द्रावयसि। 'वः' इति 'वृञ् वरणे' धातोर्लुङि सिपि, 'मन्त्रे घसह्वरणशवृदहाद्वृच्कृगमिजनिभ्यो लेः। अ० २/४/८० इति च्लेर्लुङि अडागमाभावे रूपम्। यद् योगाद्' यद्वृत्तान्नित्यम्' इति निघातप्रतिषेधाद् धातुस्वरेणोदात्तत्वम्' इति आचार्य रामनाथः।

२३. **शोभथा** (मं. ४०९) शोभथा (पदपाठः)। यहाँ पर प्रकार अर्थ में थाल् प्रत्यय होकर यह पद निष्पन्न हुआ है। लित् होने से तदनुसार ही इसका स्वर भी है। यही पदकार को मान्य है। आचार्य रामनाथ ने इसी को मानकर अपना व्याख्यान किया है-' शोभितप्रकारेण' इति। परन्तु विवरणकार माधव और भरतस्वामी ने ऐसा नहीं माना है। भरतस्वामी इसे क्रियापद मानते हुए इसमें पुरुषव्यत्यय करते हैं, जबकि विवरणकार 'था' को प्रयोजन (अर्थ) हेतु अर्थ में मानते हैं। जो कि इस प्रकार है- 'शोभथा शोभनार्थम् इति विवरणकारः, 'शोभथाः पुरुषव्यत्यय, शोभन्ते' - इति भरतस्वामी। ये दोनों पदपाठ के विपरीत तो हैं ही वहीं स्वरशास्त्र के भी विरुद्ध हैं। अतः दोनों भाष्यकारों का व्याख्यान चिन्त्य है।

(२४) **ऋणया** (मं. ४२८) ऋण याः (पदपाठः)। पदपाठ के प्रवचनकर्त्ता को यह पाठ 'ऋण' उपपद पूर्वक ण्यर्थगर्भ 'या' धातु से क्विप् प्रत्यय करके सम्मत है। ऐसा ही भाष्यकार आचार्य रामनाथ ने भी अपने भाष्य में व्याख्यान किया है- 'ऋणयाः - ऋणाना यापयिता त्वमइति'। परन्तु सत्यव्रत सामश्रमी ने तो यह- 'ऋणया' इति तु 'सुपां सुलुग्, इत्यादिना सुपोडयाचि साधितुं बहुसुकरं यथा कौमुद्यां दर्शितं च स्वप्नयेति' लिखा है।

ये उपर्युक्त कतिपय विवेचित पद हैं जिनसे पदपाठ के आलोक में सामवेद के संस्कृत भाष्यों की परख होती है। सभी निर्दिष्ट पदों की इसी तरह विस्तृत विवेचना यदि की जाये तो इस निबन्ध का कलेवर बड़ा हो जायेगा। अतः अन्य कुछ पदों का संकेत मात्र हम निम्न चार्ट द्वारा कर रहे हैं-

संहिता पाठ	पदपाठ	भाष्यकारों का पाठ	परिणाम
अगो रयिः	अ, गोः-रयिः	अगोः अयिः (सायण)	पदपाठ-विरुद्ध
आप तद्	आप-तत्	आपतत् (सायण,माधव, भरत)	पदपाठ और स्वरशास्त्र के विरुद्ध

त्वावसो	त्वा-वसो	त्वावसुः (माधव,भरत, सायण)	,,
त्रिं-शत् पदा	त्रअशत् पदानि	त्रिंशत् पदा न्यक्रमीत्	पदपाठ के विरुद्ध
न्यक्रमीत्	अक्रमीत्	(आ. रामनाथ को छोड़कर अन्य भाष्यकार)	
विव्रतानाम्	विव्रतानाम्वि	व्रतानाम् (माधव)	,,
आद्वन्यथा	आत् उ अन्यथा	आद्वन् यथा (सायण)	,,
अधद्राः	अधात् राः	-अपद्राः (सायण) -अधत् (माधव) राः छोड़ दिया -अध,द्राः (भरतस्वामी)	मूलसंहिता और पदपाठ के विरुद्ध
शम्बरम्	शम् बरम्	शम्बरम् (अचार्य रामनाथ)	पदपाठ-विरुद्ध, विदित हो कि आचार्य रामनाथ ने पदपाठानुकूल भी अर्थ किया है।
विषूवतः	विषुवतः	वि-सुवतः विषुडवतःसामवेदीय (माधव, भरत,सायण)	पदपाठ- विरुद्ध किन्तु ऋग्वेदीय पदपाठ-सम्मत।
रणा	रण	रणाः (सायण)	संहिता और पदपाठ-विरुद्ध
विवस्वते	वि वस्वते	विवस्-वते (माधव, भरतस्वामी)	पदपाठ-विरुद्ध
तु न	तु नः	तुन (भरतस्वामी, सायण)	,,
अपि याः	अपि याः	अपियाः (सायण, भरतस्वामी)	,,

उक्त सभी स्थलों पर भाष्यकारों में प्रायः आचार्य रामनाथ के व्याख्यान ही पदपाठ प्रवचनकर्त्ता आचार्य के अनुसार हैं, अन्यों के नहीं।

महामहोपाध्याय पं. युधिष्ठिर मीमांसक ने लिखा है कि पदपाठ पश्चवर्ती भाष्यकारों के पदप्रदर्शक होने से प्रारम्भिक भाष्य कहे जा सकते हैं और ये ऋषि-मुनियों द्वारा प्रोक्त होने से पौरुषेय हैं, अतः परतः प्रमाण हैं। उनमें कुछ न्यूनतायें रहनी स्वाभाविक हैं, जैसे -

१. अल्पज्ञता से भूल

२. सभी सम्भव अर्थों का असंग्रह, और

३. पदकार जिस व्याकरणशास्त्र के अनुसार पदविभाग अथवा अवान्तर पदविभाग आदि दर्शाता है, उसमें अन्य व्याकरण के अनुसार भेद संभव है।

निष्कर्ष यही है कि पदकारों द्वारा प्रदर्शित पदविभाग से भिन्न यदि पदविभाग किये जायें तो वे भी स्वरादि दोषों के अभाव में प्रमाण हैं। हमारे उपर्युक्त अनुशीलन में ऐसे कई उदाहरण हैं, जिनसे इन बातों की पुष्टि होती है। इस अध्ययन से निम्न बिन्दुओं पर विशेषरूप से प्रकाश पड़ता है-

(क) कि पदपाठ के प्रवचनकर्त्ता आचार्य ने कुछ स्थलों पर जैसे- मं. सं. ७८ और २५४ में क्रमशः 'अ सुरस्य' और 'अ सुरेभ्यः' पदपाठ कर भूल की है। क्योंकि वेदों में कहीं भी 'सुर' शब्द का प्रयोग नहीं किया

गया है। ऐसा ही भाष्यकार आचार्य रामनाथ विद्यामार्त्तण्ड का भी मानना है।

(ख) कतिपय भाष्यकारों ने मूलपाठ के विपरीत पाठ स्वीकार कर व्याख्यान किया है, जैसे-अधदाः, के स्थान पर ' अपद्राः ' और 'मखम्' के स्थान पर 'मघम्'। भाष्यकारों की यह प्रवृति घातक है। इसको उचित नहीं ठहरा सकते। अपौरुषेय वाणी वेद में इस तरह परिवर्तन कर व्याख्यान करना कालान्तर में क्षेपकों को जन्म दे सकता है। अतः विद्वानों को चाहिए कि वे माधव और सायण आदि भाष्यकारों के ऐसे स्थलों की समालोचना करें।

(ग) कुछ भाष्यकारों द्वारा पदपाठकर्ता आचार्य से भिन्न पदच्छेद कर व्याख्यान किए गये हैं।

(घ) कुछ भाष्यकारों ने जहाँ दो पदों को इकट्ठा करके एक समस्त पद के रूप में व्याख्यान किया है, वहीं एक पद को विभक्त करके दो पदों के रूप में भी अपने भाष्य किये हैं। बृहद्देवताकार ने भी ऐसा उल्लेख किया है कि व्याख्यानकर्त्ता आचार्यों में यह प्रवृत्ति पायी जाती है। इसका उन्होंने यास्क के निरुक्त से उदाहरण दिया है-'पुरुषादः- पदं यास्को द्विधा कृत्त्वा निरुक्तवान्' इति (देखो मैक्डानल सम्पादित बृहद्देवता का संस्करण)

(ङ) कुछ स्थलों पर ऐसा भी देखा गया है कि भाष्यकारों ने पदपाठ की परवाह न करते हुए केवल मुद्रित संहितापाठ के अनुसार ही अपना व्याख्यान किया है।

(च) इस अनुशीलन से यह भी ज्ञात हुआ कि सामवेद के सभी भाष्यकारों में केवल विद्यामार्त्तण्ड आचार्य रामनाथ के ही व्याख्यान (भाष्य) पदपाठ -सम्मत हैं, अन्यों के नहीं। जहाँ इनको प्रतीयमान अन्य संभाव्य अर्थ प्रतीत हुआ है, वहाँ भाष्यकार ने पहले पदपाठ के अनुसार व्याख्यान किया है, बाद में अन्य संभाव्य व्याख्यान। इति।

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २००९ अङ्क ११ (पृ०६५-६९)

वेद और अध्यात्म

डॉ० मृदुल जोशी[१]

अध्यात्म का सीधा अर्थ है-आत्मा से सम्बन्धित। आत्मा का शाब्दिक अर्थ है- सतत गमनशील। जहाँ गमन है वहाँ ज्ञान है और जहाँ ज्ञान है वहाँ उपलब्धि भी है। गति, ज्ञान और प्राप्ति तीनों आत्मा से संयुक्त हैं और इन तीनों का अन्त परम सत्ता की प्राप्ति पर होता है। मानव जीवन शरीर मन और आत्मा से संयुक्त है। शरीर स्थूल है, पांचभौतिक है, मन, बुद्धि सूक्ष्म है और आत्मा सूक्ष्मतम है। अध्यात्म हमें आत्मा और परमात्मा दोनों से परिचय कराता है।

मानव जीवन में अध्यात्म की आवश्यकता निःसंन्दिग्ध है। भौतिक विकास मात्र शारीरिक आवश्यकताओं की प्रतिपूर्ति करने में सक्षम है। आत्मा अतृप्त ही रह जाती है। मनः कायिक जीव आत्मतत्त्व से परिवेष्टित है। मन उस आत्मतत्त्व तक पहुँचने का माध्यम है। वास्तविक उन्नति के लिए मनुष्य को अध्यात्म का आश्रय लेना ही होगा। वेद हमें सच्ची आध्यात्मिकता का पाठ पढ़ाते हैं और उस सत्य का साक्षात्कार करा देते हैं जिसका अवलम्बन लेकर परम शान्ति व आनन्द की अनुभूति होती है। अध्यात्म बाहर से लेकर अन्तस् तक मनुष्य को दिव्य बनाने की प्रक्रिया है, साधना है। जो कुछ भी सुंदर है, शुभ है, भद्र है, अच्छा है वह हमारे अध्यात्म का केन्द्र-बिन्दु है।

वेदोक्त अध्यात्म कोई काल्पनिक वस्तु नहीं, यथार्थ की अनुभूति पर आधारित है। यहाँ संसार से पलायन नहीं कर्मण्यता की जीवन्त आधार भूमि है। यह तो मनुष्य को अजर, अमर, अभय, चिन्तामुक्त जीवन जीने की संजीवनी पकड़ा देता है-**'तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योः आत्मानं धीरं अजरं युवानम्'**[२] अर्थात् आत्मतत्त्ववेत्ता आत्मस्वरूप को जानते हुए मृत्यु से नहीं डरता। मानव के सभी प्रयत्न दुःख से मुक्ति पाने के हैं। इस मुक्ति का मार्ग है- आत्मस्थ हो जाना। यही अध्यात्म का मार्ग है। शारीरिक वैभव अनित्य है, आत्मिक ऐश्वर्य नित्य है। इसी को जानना है, और यही हमारा गन्तव्य होना चाहिए। वेद हमारा परिचय इस नित्य सत्य से करा देते हैं।

को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति।
भूम्या असुरसृगात्मा क्वस्वित्को विद्वांसमुप गात्प्रष्टुमेतत्॥
पाकः पृच्छामि मनसाविजानन्देवानामेना निहिता पदानि।[३]

ऋग्वेद का उक्त सूक्त सृष्टि के उद्भव व सृष्टि कर्ता के स्वरूप को जानने की जिज्ञासा को उठाता है। यही जिज्ञासा हमें सत्य को जानने की प्रेरणा देती है। यही नहीं, 'किंस्वित् वर्ग का उस **वृक्ष आस यतो द्यावा पृथ्वी**

---

१. हिन्दी विभाग, गु०का०विश्वविद्यालय हरिद्वार, भारत, ९८९७४५८४४५
२. ऋग्वेद १०/८/४४)
३. ऋ० १.१६४.४.५

निष्टतक्षुः'[४] अर्थात् अरे वह कौन सा जन है? वहाँ कौन सा वृक्ष है, जिसके उपादान से इस द्यावापृथिवी का निर्माण हुआ? वेदों का सम्यक अनुशीलन हमें स्थान-स्थान पर उन तरीकों से भी अवगत कराता है, जिनका अनुपालन कर हम लक्ष्य तक पहुँचते हैं और परिपूर्णता को प्राप्त हो सकते हैं।

'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'[५] उस परमतत्त्व को विविध तत्त्वचिंतक अलग-अलग नाम से पुकारते हैं। ऋग्वेद के भाष्यकार सायण उसकी अभिवन्दना कुछ इस प्रकार करते है- **यस्य निश्वसितं वेद।**[६] वेद व उपनिषद एक स्वर में उस तत्त्व से साक्षात्कार करने की प्रेरणा मानव को देते आ रहे हैं। केनोपनिषद् कहता है- **'इह चेदिवेदीदथ सत्यमस्ति। न चेदिहावेदीन् महती विनष्टिः'**[७] अर्थात् जिसने आत्मदेव को जान लिया वह आत्मकाम और जिसने नहीं जाना उसके लिये महाविनाश है। याज्ञवल्क्य का तत्त्व ज्ञान बड़ा विशद, प्रामाणिक व तत्त्वपूर्ण है। मैत्रेयी को उनका यह कथन आज भी मानवमात्र के लक्ष्य को इंगित करता हुआ मानस को प्रबोधित करता है- **'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेयी। एष सर्वेश्वरः एष सर्वज्ञः एषोऽन्तर्यामी एष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्।'**[८]अर्थात् आत्मा ही द्रष्टव्य, श्रोतव्य और ध्यातव्य है। यही सच्चिदानन्द रूप अन्तर्यामी, सबका आश्रय स्थान, उत्पत्ति कर्ता और लयकारी है। इसे जानकर शोक और मोह से मुक्त साधक एकत्व का अनुभव करता है।

अब जिज्ञासा उठती है कि उस तत्त्व को प्राप्त कैसे किया जाए? क्योंकि उपनिषद् कहते हैं- **'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। येमेवैष वृणुते तेन लभ्यः, तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्।**[९] यह आत्मतत्त्व का ज्ञान न व्याख्यान से मिलता है, न बुद्धि से और न बहुत सुनने से मिलता है। यह आत्मा जिसे स्वीकार कर लेता है, उसे ही यह प्राप्त होता है, उसी के सामने यह अपने स्वरूप को खोलकर रख देता है। साथ ही उपनिषद् यह भी कहते हैं- **येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्'**[१०] वेद इसका मार्ग भी प्रशस्त करता है। शरीर यदि ईश्वर प्राप्ति में सहायक है तो मन उसका नियामक है। अतः सर्वप्रथम मन को शुभ संकल्प से सम्पृक्त होना अत्यन्त आवश्यक है-

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥[११]
सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिनऽइव।

---

४. ऋग्वेद १०.८१.४
५. ऋग्वेद १/१६४/४६
६. ऋक्सायण भाष्य/ उपक्रमणिका-२/ कृष्णयजुर्वेद, तैत्तिरीय सायणभाष्य भूमिका-२
७. केनोपनिषद् २/५
८. बृहदारण्यक ४१५/६
९. कठोपनिषद् २.२३, मु.उ. ३.२.३
१०. छान्दोग्योपनिषद्, अध्याय-६, खण्ड-१, मंत्र-३
११. यजुर्वेद ३४/१

हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥[१२]

अर्थात् जो मन जाग्रत अवस्था के समान सुप्तावस्था में भी दूर चला जाता है, वह परम दूरगामी, ज्योतिर्मय पिण्डों को भी प्रकाशित करने वाला मन शिव संकल्प से युक्त हो जाये। जैसे श्रेष्ठ सारथी वल्गाओं से नियमित करते हुए वेगवान् अश्वों को सन्मार्ग पर चलने के लिए बारम्बार प्रेरित करता है, उसी प्रकार मन भी मनुष्यों को सत्कार्य की दिशा में उन्मुक्त करता है। वह हृदय में स्थित सतत युवा और सर्वाधिक वेगशाली हमारा मन शिव संकल्प से युक्त हो जाये।

चारों वेद हमारे व्यक्तित्व का सम्यक् विकास कर उस आत्मतत्त्व से साक्षात्कार का द्वार अनावृत करते हैं क्योंकि ऋग्वेद विचारों की पवित्रता, यजुर्वेद कर्मों की पावनता, सामवेद उपासना की शुद्धता और अथर्ववेद हमें समता या स्थिति प्रज्ञता की ओर ले जाता है। शुभ संकल्पों से प्रेरित मानव सत्य, तप, परोपकार, दान, दया, उदारता, प्रेम, निर्वैरता का चिंतन करता है। मानस की पावनता उसे परब्रह्म के निकट ले जाती है।

तत्त्वान्वेषण की प्रथम सीढ़ी है सत्य का आश्रय, क्योंकि ईश्वर सत्य स्वरूप है-

सत्येन वायुरावाति सत्येनादित्यो रोचते दिवि
सत्यं वाचः प्रतिष्ठा सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम्
तस्मात् सत्यं परमं विदन्ति।[१३]

परम सत्य की प्राप्ति के लिए सत्य का आश्रय लेना अति आवश्यक है। कहा गया है-

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो
यं पश्यन्ति यतयः क्षीण दोषाः॥[१४]

इसीलिए तो ऋग्वेद भी उच्च स्वर में उद्घोष करता है-**'ऋतस्य पथा प्रेत।'**[१५] हमारे वेद हमें सदैव सत्य और ऋत मार्ग में चलने की आज्ञा देते रहें हैं-[१६] ऋग्वेद स्पष्ट शब्दों में मानव मात्र को प्रबोधित करता है- **अपानक्षासो बधिरा अहासत ऋतस्य पन्थां न तरन्ति दुष्कृतः**[१७] अर्थात् जो लोग हितोपदेश को नही सुन सकते, वे सच्चाई के मार्ग को छोड़ देते हैं, वे दुष्टाचारी इस भवसागर की लहर को पार नहीं कर सकते। इसीलिए सत्य का

---

१२. यजुर्वेद ३४/२

१३. याज्ञिक्युपनिषद् अनुवाक ६३/२

१४. मुण्डक० ३/१/५

१५. ऋग्वेद १०/७/४५

१६. ऋतस्य पथां न न तरन्ति दुष्कृतः (ऋग्वेद ९/३७/६) सा मा सत्योक्तिः परिपातु विश्वतः (ऋग्वेद १०/३७/२) इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि (यजुर्वेद १/५)

१७. ऋग्वेद ९/७३/६

आधार ग्रहण करना आध्यात्मिक जीवन की प्रथम आवश्यकता है।

परब्रह्म के निकटस्थ पहुँचने का द्वितीय सोपान तप-

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते। अन्नात्प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम्।[१८] तथा **तपसा किल्विषं हन्ति।** तप समस्त पापों का अपोहन कर देता है। मन, बुद्धि निर्मल और निष्पाप होकर उदात्त हो जाती है। यही अवस्था उसे संकीर्ण स्वार्थ बुद्धि से विलगाकर परहिताय चिंतन के लिए विवश करती है। वह अपरिग्रह की ओर बढ़ता है और दान देने हेतु प्रवृत्त होता है। उपनिषद् हमें त्यागवृत्ति के साथ उपभोग का मार्ग सिखाते आये हैं-'**ॐ ईशावास्यामिदं सर्वं यत्किंचित् जगत्यां जगत् तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मागृधः कस्य स्विद्धनम्।**'[१९] ईशावास्योपनिषद् का निम्न मंत्र भी यही उद्घोषणा कर रहा है-

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
ताँस्ते प्रेत्याभिगछन्ति ये के चात्महनो जनाः।[२०]

अर्थात् वे आत्मघाती है जो स्वार्थ संकुचित वृत्ति वाले केवल भोग परायण हैं। दानशीलता एवं अपरिग्रह की भावना हमारी बुद्धि को निर्मल करती हुई प्राणिमात्र के हित हेतु सोचने के लिए विवश करती है। वेद यही सिखातें है-**शत हस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर।**[२१]

यही विचारों की उदात्तता मनुष्य को एक श्रेणी ओर आगे बढ़ाकर परम सत्ता के और भी सन्निकट ले जाती है। वह भूतदया और अंहिसा की भावना से ओतप्रोत हो उठता है। वेदों के सार उपनिषद् में यही भाव है-

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानु पश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।
यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः॥[२२]

एकत्व के भाव में न विगत का शोक है न भविष्य की चिंता। भूत और भविष्य दोनों एकत्व की वर्तमानता में विद्यमान हैं। यह वर्तमान कितना स्पृहणीय है, जहाँ मानव के अन्तस् ये भाव लहरियाँ स्पन्दित हों-

दृते दृंह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।[२३]

---

१८. मुण्डको० १/१/८
१९. ईशोपनिषद् १
२०. ईशा०-३
२१. अथर्ववेद ३/२४/५
२२. ईशोपनिषद् ६/७
२३. यजुर्वेद ३६/१८

हे भगवन्! सब भूत प्राणी मात्र मित्र दृष्टि से मुझे देखें। सब मेरे मित्र हो जाये, कोई मुझसे किंचित् भी वैर न करे। हे परमात्मन्! मैं भी आपकी कृपा से निर्वैर होकर समस्त चराचर जगत् को मित्र की दृष्टि से अपनी प्राणवत् जानूँ।

ईश्वर प्राप्त व्यक्ति पूर्णानन्द में डुबकियाँ लगाते हुए निर्भय हो जाता है-

अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं परोक्षात्।

अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु॥[२४]

वस्तुतः अध्यात्म बाहर से लेकर अन्तस्तल तक मनुष्य को दिव्य बनाने की प्रक्रिया है, साधना है। जो कुछ भी शुभ है, सुन्दर है, शिव है, भद्र है वह सब हमारे अध्यात्म का केन्द्र बिन्दु है। वैदिक अध्यात्मवाद भौतिक संसाधनों की असमानता में भी **'सहृदयं सांमनस्यम्'** की समानता पर खड़ा है। एक ही सभ्यता विश्व को शान्ति दे सकती है वह है वेदोक्त आध्यात्मिक सभ्यता। आध्यात्मवाद पर आधारित समाज जीवन के संघर्ष, वर्ग के संघर्ष, सम्प्रदाय के संधर्ष से दूर एक शान्ति का अधिराज्य समुपस्थित करता है।

वेदोक्त आध्यात्मिकता का आदर्श हमें उन्नत करता है, उठाता है, बढ़ाता है और एक उदार दृष्टिकोण से मानव मन को सुवासित करता है। आध्यात्मिक चेतना सम्पन्न व्यक्ति ही उन्मुक्त कंठ से उद्घोष कर सकता है-

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।

देवा भागं यथापूर्वे संजानानामुपासते।[२५]

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।

समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।[२६]

यही नहीं वही व्यक्ति उच्च स्वर में उद्घोषणा कर सकता है-

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्।

---

२४. अथर्ववेद १९/१५/६२५. अथर्ववेद १९/१५/६

२५. ऋग्वेद दशम मण्डल १९१/२

२६. ऋग्वेद दशम मण्डल १९१/४

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २००९ अङ्क ११ (पृ०७०-७८)

वेदों के माध्यम से महर्षि दयानन्द की विश्व को देन

अमित कुमार[१]

भारतीय लोगें का विश्वास है कि करुणामय भगवान् ने मनुष्य-जाति के कल्याणार्थ अनन्त सुख की प्राप्ति के लिए सत्य और सरल मार्ग दिखाने हेतु सृष्टि के आरम्भ में वेदों का प्रकाश किया था और ये वेद अखिल विद्या-विज्ञानों के भण्डार हैं।[२] ब्राह्मण[३] उपनिषद्[४] दर्शन[५] स्मृति[६] और महाभारत[७] सब के सब वेदों के इस परम महत्त्व की ऊंचे स्वर से घोषणा करते हैं। वेदो का इतना महत्त्व होने पर भी सैकड़ों शताब्दियों पूर्व किन्हीं अज्ञात कारणों से वेदों का गम्भीर स्वाध्याय बंद हो गया।[८] इनकी अप्रवृत्ति से अविद्या-अन्धकार के भूगोल में विस्तृत होने से मनुष्यों की बुद्धि भ्रमयुक्त होकर जिसके मन में जैसा आया, वैसा मत चलाया[९] फलतः वेदों का जो स्वाध्याय हुआ। वह बहुत ही उथले ढंग का वेदों के वास्तविक अभिप्रायः को छिपाने वाला था। इनके कारण वेद अनेक विद्या-विज्ञानों से युक्त हैं, यह धारणा शिथिल हो गई थी।[१०] आधुनिक काल में महर्षि दयानन्द ने वेदों और उनकी शाखाओं-प्रशाखाओं का गहरा अवलोकन किया।[११]

वेदों द्वारा विश्व में क्रान्ति लाने को श्रेय दयानन्द को ही है। उनके द्वारा संसार को दी गई महत्त्वपूर्ण देन विवेच्य है।

१.वेदों का सर्वोच्च महत्त्वः-

शताब्दियों से विलुप्त वेदविषयक चर्चा को पुनर्जीवित करने का श्रेय स्वामी दयानन्द को ही है।[१२] जिस

---

१ श्रद्धानन्द शोध संस्थान, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्याय, हरिद्वार

२. वेद का राष्ट्रीयगीत आचार्य प्रियव्रत भूमिका

३. शतपथ ब्राह्मण १०/४/२/२१ अथ सर्वाणि भूतानि पर्यैक्षत। स त्रय्यामेव विद्यायां सर्वाणि भूतान्यपश्यत। अत्रहि सर्वेषां छन्दसमात्मा, सर्वेषां स्तोमानाम्; सर्वेषा प्राणानाम, सर्वेषां देवानाम्।

४. अनन्ता वै वेदाः, अयं वै सर्वा विद्या इति तै० ब्रा० ३/१०/११/३-४ नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम् तै० ब्रा० ३/१२/९/७

५. बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे वै० ६/१/१ निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम् सा० ५/५१

६. सर्वज्ञानमयो हि सः। मनु २/७, १२/९७

७. अनादिनिधना विद्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा। महा शान्ति २३२/२४ वेदो मे परमं चक्षुः वेदा मे परमं बलम्। वेदा मे परमं धाम वेदा मे ब्रह्म चोत्तमम् १२/३३५/२९

८. वेद का राष्ट्रिय गीत। आचार्य प्रियव्रत भूमिका

९. अनुभूमिका एकादश समुल्लास सत्यार्थप्रकाश। स्वामी दयानन्द सरस्वती

१०. वेद का राष्ट्रिय गीत भूमिका

११. अवतरिणका भूमिका भास्कर

१२. महर्षि दयानन्द और स्वामी विवेकानन्द, वेद विषयक विचार, डॉ० भवानी लाल भारतीय।,

बात को पिछले हजारों वर्षों से न पहले किसी ने कहा है और न आज कोई कहता है-वह है **'वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।'**[१३] स्वामी दयानन्द ने गम्भीर घोषणा की कि सम्पूर्ण विद्या के मूल वेदों को विना पढ़े किसी मनुष्य को यथावत् ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिए सब मनुष्यों को वेदादि शास्त्र अर्थज्ञानसहित अवश्य पढ़ने चाहिए। क्योंकि वेदों को नहीं जानने वाला मनुष्य परमेश्वरादि सब पदार्थ-विद्याओं को अच्छी प्रकार से नहीं जान सकता और जो-जो जहाँ-जहाँ भूगोलों वा पुस्तकों अथवा मन में सत्य ज्ञान प्रकाशित हुआ है और होगा वह सब वेदों से ही हुआ है, क्योंकि जो-जो सत्य विज्ञान है सो-सो ईश्वर ने वेदों में धर रखा है[१४] वेदों में अनेक विद्या-विज्ञानों का स्रोत होने का रहस्य उजागर करते हुए कहा कि वेदों में अवयव रूप विषय तो अनेक हैं, परन्तु उनमें से चार प्रमुख हैं। एक विज्ञान अर्थात् सब पदार्थों का यथार्थ जानना, दूसरा कर्म तीसरा उपासना और चौथा ज्ञान है।[१५] जबकि उनसे पूर्व के भाष्यकारों में से अधिकांश ने वेदों में कर्मकाण्ड के अतिरिक्त अन्य किसी विद्या का आविष्कार नहीं किया था।[१६]

अनुपम वेद-व्याख्या

ऋषि दयानन्द ने वेदों की एक नवीन व्याख्या, ब्रह्मा से लेकर व्यास पर्यन्त ऋषियों की व्याख्या-रीति से की[१७] और वेदों की अद्भुत, अनन्त रत्नगर्भा निधि को उस पर पड़ी धूलि और गर्द-गुबार को झाड़-पोंछकर विशुद्ध रूप में हमारे सामने प्रस्तुत किया।[१८]

(क) वेदार्थ की व्यापकता

उन्होंने आध्यात्मिक, अधिदैवत, अधियज्ञ के अतिरिक्त ऋषियों द्वारा मान्य अधिभूत पद्धति का व्यापक प्रयोग करते हुए वेदार्थ किया[१९]। यद्यपि सभी मध्यकालीन भाष्यकारों के वेदभाष्यों में भी दयानन्द की यह व्याख्या पद्धति दृष्टिगोचर हो जाती है, तथापि केवल वहीं पर जहाँ कोई स्थल स्पष्ट रूप से समाज या राष्ट्र पर प्रकाश डाल रहा हो। अधिभूत पद्धति से मन्त्रों की अनेकार्थकता का पल्लवन करना दयानन्द की एक नवीन देन है।[२०]

स्वामी जी ने वेद के दो प्रकार के अर्थ पारमार्थिक और व्यावहारिक माने हैं।[२१] उनके अनुसार परमेश्वर

---

१३. आर्य समाज का तीसरा नियम

१४. पठन पाठन विषय, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, महर्षि दयानन्द

१५. वेद विषय विचार, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, महर्षि दयानन्द

१६. आर्ष ज्योति, पं० रामनाथ वेदालंकार, वेद व्याख्या के प्रयास स्वामी दयानन्द का महान् योगदान

१७. ईश्वरप्रार्थनाविषय, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, महर्षि दयानन्द।

१८. अवतरणिका, भूमिका भास्कर, स्वामी विद्यानन्द सरस्वती।

१९. वेद व्याख्या को महर्षि दयानन्द की अद्भुत देन, आर्ष ज्योति, पं० रामनाथ वेदालंकार।

२०. वेद व्याख्या को महर्षि दयानन्द की अद्भुत देन, आर्ष ज्योति, पं० रामनाथ वेदालंकार।

२१. प्रतिज्ञा विषय। ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, महर्षि दयानन्द।

सम्बन्धी पारमार्थिक विषय हैं और अन्य सभी विषय व्यावहारिक कहलायेंगे। दयानन्द-स्वीकृत इन दोनों प्रकार की अर्थयोजना में पूर्व आचार्यों सम्मत उपर्युक्त चारों पद्धतियाँ अन्तर्भूत हो जाती हैं।[२२] ऋग्वेद प्रारम्भिक अग्निदेवतापरक मन्त्रों की परमेश्वर और शिल्प अग्निपरक व्याख्या की है। 'ऋग्वेद' के १/२/१-३ की व्याख्या में भी वायु को परमेश्वर व भौतिक वायु दो अर्थ किए हैं। 'ऋग्वेद' के ही **'युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषम्'** (१/६/१) की परमेश्वर, आदित्य और प्राण इन तीन पक्षों में व्याख्या की है। 'यजुर्वेद' के प्रसिद्ध **'या मेधां देवगणा.......'**, (३२/१४) में अग्नि पद का जगदीश्वर तथा विद्वान् अध्यापक के रूप में अर्थ किया है।[२३] इस प्रकार काव्य के अंगभूत श्लेष, उपमा, लुप्तोपमा, यमक आदि अलंकारों का सुन्दर प्रयोग करके वेद-मन्त्रों के एकाधिक अर्थ सबसे पहले स्वामी जी ने ही किया।[२४] साथ ही प्रत्येक मन्त्र के ऋषि देवता, छन्द, स्वर, प्रत्येक मन्त्र का प्रतिपाद्य और उसकी पिछले मन्त्र से सम्बद्धता भी दयानन्द ने ही प्रथम दर्शाई है।

(ख) वेदार्थ की यौगिक प्रक्रिया

सामान्यतः यह समझा जाता है कि कोई शब्द या तो यौगिक ही होगा या योगरूढ़, दोनों प्रकार का नहीं हो सकता। परन्तु स्वामी दयानन्द कहते हैं कि सब ऋषि-मुनि वैदिक शब्दों को यौगिक और योगरूढ़ि तथा लौकिक शब्दों में रूढि भी मानते हैं। यह उनका ऋषित्व है कि वैदिक शब्दों को ग्रौगिक एवं योगरूढ़ दोनों स्वरूपों वला माना और नैरुक्तों द्वारा प्रतिपादित धातुजत्व के सूत्र को पकड़कर वेदार्थ में क्रान्तिकारी परिवर्धन कर दिखाया[२५] ऋषियों ने जो वेद को अनन्त कहा है। वह इसी यौगिकवाद की पद्धति से ही सिद्ध होना सम्भव है।[२६] उनकी इस वेद व्याख्या पद्धति से वेद संकीर्ण क्षेत्र से निकलकर व्यापक और बहुक्षेत्रगामी बन गए हैं।[२७]

(ग) वेद की अनित्य इतिहास से मुक्ति

वेद में कुत्स, शुनः-शेप, अत्रि अगस्त्य, विश्वामित्र, जमदग्नि, कश्यप आदि अनेक ऐतिहासिक प्रतीत होने वाले शब्दों की इनके यौगिक व योगरूढ अर्थ अविष्कृत करके वेदों को तथाकथित अनित्य इतिहास के फंदे से दयानन्द ने छुड़ा लिया,[२८]-जबकि अन्य भाष्यकार वेद में इतिहास न मानकर भी वेदमन्त्रों का ऐतिहासिक अर्थ करते हैं। परन्तु स्वामी जी का कहना है कि वेद में इतिहास का लेश भी नहीं है।[२९] फलतः वे ऐसे समस्त शब्दों की नैरुक्तों के धातुजत्व-सिद्धान्त के आधार पर व्याख्या करते हैं। उनका स्पष्ट कहना है कि राजा नहुष आदि तो इदानींतन हैं और वेद सनातन हैं। अतः सनातन वेदों में परवर्ती ऐतिहासिक राजा आदिकों की गाथा नहीं हो

---

२२. वेद व्याख्या को महर्षि दयानन्द की अद्भुत देन, आर्ष ज्योति, पं० रामनाथ वेदालंकार।
२३. वेद व्याख्या को महर्षि दयानन्द की अद्भुत देन, आर्ष ज्योति, पं० रामनाथ वेदालंकार।
२४. भूमिका भास्कर, प्रतिज्ञाविषय, विद्यानन्द सरस्वती।
२५. वैदिक योगार्थ प्रक्रिया एवं दयानन्द की तद्विषयक सूक्ष्म दृष्टि, आर्ष ज्योति, पं० रामनाथ वेदालंकार।
२६. भूमिका, वेद का राष्ट्रिय गीत, आचार्य प्रियव्रत।
२७. आर्ष ज्योति, वेद व्याख्या को महर्षि दयानन्द की अद्भुत देन। पं० रामनाथ वेदालंकार।
२८. वैदिक योगार्थ प्रक्रिया एवं दयानन्द की तद्विषयक सूक्ष्म दृष्टि। आर्ष ज्योति, पं० रामनाथ वेदालंकार
२९. वेदसंज्ञाविचार, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, स्वामी दयानन्द।

सकती।[३०] अन्य भाष्यकारों के स्थान पर स्वामी दयानन्द ने अपनी इस प्रतिज्ञा को सर्वत्र निर्वाह किया है।[३१] दयानन्द की दूरदर्शिनी दृष्टि ने वेदार्थ पर आने वाली इतिहास नामक विपत्ति को दूर करके उसकी अपौरुषेयता को सप्रमाण सिद्ध करने का श्रेय एकमात्र वेद धुरन्धर दयानन्द को हैं।[३२] अन्यथा प्रत्येक वेद-मन्त्र पर कथा लिखी जा सकती हैं।[३३]

(घ) विनियोग स्वतन्त्र

दैनिक से लेकर अश्वमेधपर्यन्त छोटे-बड़े यज्ञों में वेदमन्त्रों का विनियोग कोई नई बात नहीं, परन्तु मध्यकाल के कर्मकाण्डी याज्ञिकों ने इन यज्ञों में विनियुक्त वेदमन्त्रों द्वारा अज, गौ यहाँ तक कि मनुष्य को मारकर मांस से आहुति देने की नृशंस व्यवस्था बना डाली, जबकि मन्त्रों के अर्थ इन विनियोगों की पुष्टि नहीं करते। इस कारण यज्ञ और मन्त्र जादू-टोना बन जाते हैं।[३४] स्वामी दयानन्द ने विनियोग द्वारा वेदमन्त्रों और वेदों पर जबरन थोपे गए जादू-टोने व अश्लीलता के विरुद्ध कहा है कि पूर्वकृत विनियोगों में जो युक्तिसिद्ध, वेदादि प्रमाणों के अनुकूल और मन्त्रार्थ का अनुसरण करने वाले विनियोग हैं, वे ही ग्राह्य हो सकते हैं।[३५] साथ ही कहा कि वेद-व्याख्या के लिए रूप समस्त विनियोगों का भी अनुसरण करना अनिवार्य नहीं। उन विनियोगों से स्वतन्त्र होकर भी वेदार्थ किया जा सकता है।[३६] क्योंकि वे वेद के बाद बनाए गए हैं। इसलिए वेद को विनियोग के पीछे नहीं चलाया जा सकता। वेद के पीछे विनियोग को चलाना होगा।[३७] स्वामी दयानन्द का ऐसा महोपकारक वेदार्थ सिद्ध हुआ। इससे वेद में कर्मकाण्ड, अश्लीलता, जादू-टोना ही होने की भ्रान्ति मिट गई। साथ ही वेद आध्यात्मिक, भौतिक, समाज आदि की शिक्षाओं का भण्डार हैं, यह सिद्ध हो गया।

इस प्रकार अनेक नवीनताओं एवं विशेषताओं से युक्त स्वामी जी की अनुपम वेद-व्याख्या मानव को अभ्युदय तथा निःश्रेयस् दोनों की प्राप्ति के लिए उद्बोधन देती है। जहाँ तक एक ओर लौकिक उत्कर्ष में वे समग्र भूमण्डल के धर्मपूर्ण चक्रवर्ती राज्य तक पहुँचाते हैं तो दूसरी ओर दिव्य उत्कर्ष में मोक्ष के परमानन्द तक ले जाते हैं।[३८]

---

३०. दयानन्द भाष्य १/३१/११
३१. वेद व्याख्या के प्रयास स्वामी दयानन्द का महान् योगदान
३२. वेद व्याख्या के प्रयास स्वामी दयानन्द का महान् योगदान
३३. वेदार्थ के ऐतिहासिक पक्ष पर चर्चा, आर्ष ज्योति, पं० रामनाथ वेदालंकार।,
३४. भूमिका, वेद का राष्ट्रीय गीत, आचार्य प्रियव्रत।
३५. प्रतिज्ञाविषय, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, स्वामी दयानन्द।
३६. वेद व्याख्या के प्रयास स्वामी दयानन्द का महान् योगदान
३७. भूमिका, वेद का राष्ट्रीय गीत, आचार्य प्रियव्रत।
३८. आर्ष ज्योति, पं. रामनाथ।

३.वैदिक दर्शन का सत्यार्थप्रकाश

वैदिक काल और ऋषि-मुनियों की दर्शन सम्बन्धी आर्ष मान्यताओं का कालान्तर में ह्रास होने लगा, फलतः उनका सत्यार्थ विलुप्त होने लगा। साथ ही नई दार्शनिक मान्यताओं ने जन्म लिया। जो अद्वैत, द्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि अनेक प्रकार की थीं। जिनमें प्रायः ईश्वर, जीव व प्रकृति की चेतनादि और नित्यता के सम्बन्ध में भिन्न मान्यताएं उत्पन्न हो गई थीं। स्वामी दयानन्द ने इन सभी का उचित समाधान वेदादि सत्यशास्त्रों के आधार पर किया। उदाहरणार्थ-ईश्वर, जीव, प्रकृति में किसी एक अथवा दो को ही अनादित्व मानने वाले को ऋग्वेद १.१६४.२० वें मन्त्र[३९] और यजुर्वेद ४०/८ मन्त्र की व्याख्या द्वारा इन तीनों का ही अनादि होना व पृथक्-पृथक् सत्तावान् होना सिद्ध किया है।[४०]

सांख्याचार्य कपिल तथा मीमांसा के प्रवर्तक महर्षि जैमिनि को अनीश्वरवारदी बताने का निराकरण सांख्यसूत्र **'ईश्वरासिद्धेः'** (१/९२, ५/१०/११) की यथार्थ व्याख्या करते हुए कहते हैं कि यहाँ ईश्वर की सिद्धि में प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है और न ईश्वर जगत् का उपादान कारण है।[४१] वास्तव में अनीश्वरवादी तो वे लोग हैं जो ईश्वर को जगत् का उपादान कारण मानते हैं, क्योंकि वे ईश्वर को विकृत कर अचेतन प्रकृति को ईश्वर का नाम दे देते हैं और उसकी सत्ता को नकारते हैं।[४२]

पूर्वमीमांसा, वैशेषिक, न्याय, याग, सांख्य व वेदान्त इन छहों दर्शनों को आस्तिक व अविरुद्ध बताते हुए स्पष्ट करते हैं[४३] कि 'विरोध उसको कहते हैं, एक कार्य में एक ही विषय पर परस्पर विरोधी मत होवें।'[४४] सृष्टि उत्पत्ति के सम्बन्ध में-

१. मीमांसा में विना चेष्टा कोई कार्य न होना।
२. वैशेषिक में विना समय लगे कार्य न होना।
३. न्याय में विना उपादान-कारण के कार्य न होना।
४. योग में विना विद्या, ज्ञान और विचार के कार्य न होना।
५. सांख्य में विना तत्त्वों के मेल के कार्य न होना।
६. वेदान्त में विना बनाने वाले के कार्य न होना।

इन छहों के विना कोई कार्य जगत् में नहीं होता है[४५]।

---

३९. सत्यार्थ प्रकाश, अष्टम समुल्लास। स्वामी दयानन्द सरस्वती-द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्यो अभि चाकशीति॥
४०. सत्यार्थ प्रकाश, सप्तम समुल्लास। स्वामी दयानन्द सरस्वती-
४१. सत्यार्थ प्रकाश, सप्तम समुल्लास। स्वामी दयानन्द सरस्वती-
४२. सत्यार्थ भास्कर, सप्तम समुल्लास। विद्यानन्द सरस्वती-
४३. भूमिका, वेद का राष्ट्रीय गीत। आचार्य प्रियव्रत
४४. अष्टम समुल्लास, सत्यार्थप्रकाश। स्वामी दयानन्द सरस्वती-
४५. अष्टम समुल्लास, सत्यार्थप्रकाश। स्वामी दयानन्द सरस्वती-

मुक्ति से जीव की पुनरावृत्ति का न होना मानने वालों को ऋग्वेद १/२४/१ व २ के प्रश्नोत्तर मन्त्र और न्यायदर्शन के सूत्र १/१/२२ व १/१/२ की यथार्थ व्याख्या द्वारा कहते हैं कि वेद में इसका निषेध है और अत्यन्त शब्द अत्यन्ताभाव का ही द्योतक नहीं जैसे 'दुःखमत्यन्तं सुखं वा वर्तते'। बहुत दुःख और बहुत सुख इस मनुष्य को है। इसी प्रकार यहाँ भी अत्यन्त शब्द का अर्थ जानना चाहिए। मुक्ति में परान्त काल अर्थात् इक्तीस नील दस खरब चालीस अरब वर्ष (३६००० बार उत्पत्ति और प्रलय का समय) तक रहकर पुनः संसार में जीव आता है।[४६] इस प्रकार स्वामी दयानन्द ने इन वेदसम्मत, ऋषि-महर्षिसम्मत दार्शनिक मान्यताओं की पुनः स्थापना की।

४. वेदों में आधुनिक विज्ञान

स्वामी जी के अनुसार बीजरूप में सब विद्याएं वेदों में विद्यमान हैं।[४७] उनसे पूर्व वेदभाष्यकारों ने कर्मकाण्ड के अतिरिक्त वेदों में अन्य किसी विद्या का आविष्कार नहीं किया था।[४८] इसी कारण उन्होंने वेदों में प्रतिपादित अनेक विद्याओं का दिग्दर्शन कराया।[४९] 'विज्ञान' शब्द की परिभाषा करते हुए कहते हैं कि 'विज्ञान' अर्थात् सब पदार्थों को यथार्थ जानना जो कर्म, उपासना और ज्ञान इन तीनों से यथावत् उपयोग लेना और परमेश्वर से लेके तृणपर्यन्त पदार्थों का साक्षात् बोध का होना उनसे यथावत् उपयोग का करना।[५०]

स्वामी जी वैदिक शब्दों का नैरुक्तों के धातुजत्व-सिद्धान्त पर यौगिक व योगरूढि द्वारा व्यापक अर्थ लेते हैं, जैसे रश्मि आदि किरणवाची शब्द से भौतिक प्रकाश के साथ-साथ विद्या-विज्ञान के तेजों एवं अन्तःप्रकाशक गुणों का भी बोध कराते हैं। रथ शब्द का अर्थ प्रायः भूयान, जलयान व विमान करते हैं।[५१]

पृथिवी आदि ग्रहों के घूमने व सूर्य के स्थिर रहने,[५२] सूर्य और इसके समतुल्य पिण्डों द्वारा ग्रहों को प्रकाशित करने[५३] गणित की सभी संख्याओं व उसकी मूल तीनों शाखाओं अंक, बीज और रेखा गणित का मूल[५४], नौकाओं के साथ विभिन्न प्रकार के विमानों को बनाने, चलाने व उनके ईंधन सम्बन्धी निर्देशों का प्रकटीकरण[५५]

---

४६. नवम समुल्लास, सत्यार्थप्रकाश। स्वामी दयानन्द सरस्वती-कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम। को नो मह्या अदितये पुनर्दात पितरं च दृशेयं मारतम् च॥ अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतां मनामहे चारु देवस्य नाम। स नो मह्या अदितये पुनर्दात पितरं च दृशेयं मातरं च॥ तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः। दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः॥

४७. ब्रह्मविद्या विषय, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका। स्वामी दयानन्द-

४८. आर्ष ज्योति, पं० रामनाथ-

४९. आर्ष ज्योति, पं० रामनाथ-

५०. वेद विषय विचार ? ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका। स्वामी दयानन्द

५१. वेद व्याख्या के प्रयास स्वामी दयानन्द का महान् योगदान। आर्ष ज्योति, पं० रामनाथ वेदालंकार

५२. पृथिव्यादिलोकभ्रमणविषय। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, स्वामी दयानन्द

५३. पृथिव्यादि लोकभ्रमणविषय। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, स्वामी दयानन्द

५४. गणितविद्याविषय। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, स्वामी दयानन्द

५५. नौविमानदिविद्या। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, स्वामी दयानन्द

तार विद्या (विद्युत् व संचार) का उद्घाटन[५६] चिकित्साशास्त्र का मूल[५७]। यज्ञ का पर्यावरणशोधक व रक्षक स्वरूप[५८] जैसे अनेकों विषयों का विविध विद्याओं का वैदिक प्रमाणों सहित प्रतिपादन किया। विमान और तार विद्या ऐसे हैं जिनका उस समय (१८७५) मनुष्यों के मस्तिष्क में विचार भी न था। यज्ञ को कर्मकाण्ड मात्र से बाहर निकाल कर उसे देवपूजा, संगतिकरण, शिल्प, दान[५९] जैसे अर्थ लेकर अत्यन्त व्यापक और पर्यावरण शोधक रूप में प्रतिष्ठापित करना महान् वैज्ञानिक दयानन्द की ही देन है।[६०]

सृष्ट्युत्पत्ति में पुरुषसूक्त की उनकी व्याख्या आधुनिक विज्ञान (२१ वीं शती की मान्यताओं और खोजों) और निष्कर्षों के समकक्ष है।[६१]

स्वामी दयानन्द द्वारा वेदमन्त्रों में सब विद्याओं के स्रोत की घोषणा के बाद ही डॉ० बी०जी० रेले, पं० सत्यव्रत सामश्रमी, श्री पावगी, श्री अरविन्द, स्वामी महेश्वरानन्द जी मण्डलेश्वर, पारसी विद्वान् दारदचन, आदि अनेकशः विद्वान् जो स्वामी जी के अनुयायी नहीं थे, उन्होंने भी दयानन्द को उद्धृत करते हुए वेद में और ज्ञान-विद्याओं का साक्षात्कार किया है।[६२] निश्चय ही संसार दयानन्द के वेद-विज्ञान सम्बन्धी विचारों का सदैव ऋणी रहेगा।

५.सार्वभौमिक धर्म

वेदोऽखिलो धर्ममूलम्[६३] मनु के इस वाक्यानुसार और मान्यता के बाद वेद व धर्म का परस्पर सम्बन्ध क्या है यह बताने की आवश्यकता नहीं है। मत-मतान्तरों के अड़ियल रुख के कारण साम्प्रदायिकता ने जन्म लिया[६४] साम्प्रदायिकता के कारण धर्म का वास्तविक अर्थ खो गया और फिर मत-मतान्तर ही धर्म कहे जाने लगे। विडम्बना तो यह थी और है कि इन मत-मतान्तरों में धर्म का जो अंश था, वह प्रायः लुप्त हो गया। उनके स्थान पर मत-मतान्तरों के अपने देवता, ग्रन्थ, पूजा-पद्धति, अन्धविश्वास, स्वार्थ, आडम्बरों, रूढ़ियों को ही धर्म समझा जाने लगा।[६५]

ऐसे समय में स्वामी दयानन्द ने कणाद मुनि द्वारा धर्म की व्याख्या **'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स**

---

५६. तारविद्याविषय। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, स्वामी दयानन्द

५७. वैद्यकशास्त्रमूलविद्याविषय। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, स्वामी दयानन्द

५८. सत्यार्थ प्रकाश तृतीय समुल्लास व वेदविषयविचार ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका।

५९. यजुभाष्य १/२, महर्षि दयानन्द।

६०. अवतरणिका, भूमिका भास्कर, विद्यानन्द सरस्वती।

६१. सृष्टिविद्याविषय। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, स्वामी दयानन्द

६२. वेद का राष्ट्रीय गीत, आचार्य प्रियव्रत

६३ मनुस्मृति २/६

६४. भूमिका, धर्म का स्वरूप, प्रशांत वेदालंकार

६५. साम्प्रदायिकता, धर्म, धर्मनिरपेक्षता और धार्मिक शिक्षा, धर्म का स्वरूप, प्रशांत वेदालंकार

धर्मः' का उद्धृत किया[६६]। उन्होंने कहा कि 'विश्व के सभी मनुष्यों के लिए धर्म और अधर्म एक ही हैं, दो नहीं। जो कोई इसमें भेद करे तो उसको अज्ञानी और मिथ्यावादी समझना चाहिए[६७], क्योंकि उनके अनुसार धर्म है वह सर्वतन्त्र सिद्धान्त अर्थात् साम्राज्य सार्वजनिक धर्म जिसको सदा से सब मानते आए, मानेंगे भी। इसीलिए इस को सनातन नित्य धर्म कहते हैं कि जिस का विरोधी कोई भी न हो सके।[६८]

उनकी धर्म की इन व्याख्याओं, परिभाषाओं से धर्म पुनः उसी प्राचीन सत्यार्थ को पा सका, जैसा वह मतान्तरों से पूर्व काल में था।

जो कथित सभी धर्मों का सार (निचोड़) सिद्ध होता है।[६९] ईश्वर के स्वरूप[७०] पर तो कोई भी धर्म उनसे असहमत नहीं। वेदों की अपौरुषेयता, सर्वज्ञानमयता और केवल परमेश्वर की ही उपासना के साथ-साथ वेदोक्त उपासना पद्धति (योगाभ्यास, ध्यान) विश्व मानस की धार्मिक एकता के मूल सिद्ध हो सकते हैं, जो निःसन्देह दयानन्द कि विश्व को महान् देन है[७१], क्योंकि दयानन्द से पूर्व योगाभ्यास की उपासना पद्धति मात्र संन्यासी विरक्तों में ही प्रचलित थी। जनसाधारण का स्वामी जी ने ही उससे प्रथम परिचय कराया[७२]। महाराज मनु के वचन ६/९२[७३] को उद्धृत करके तो उन्होंने धर्म को किसी वर्ण या वर्ग विशेष के लिए न होकर सभी के लिए समान रूप से पालनीय सिद्ध किया और धर्म को रूढिविशेष के दायरे से बहार निकाल लिया।[७४]

सत्य को परखने के साधनों की खोज

'यजुर्वेद' (१/५) '**इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि**' के अनुसार स्वामी जी की घोषणा है कि मनुष्य में मनुष्यपन यही है कि सर्वथा झूठ व्यवहारों को छोड़कर सत्य-व्यवहारों को सदा ग्रहण करें[७५], क्योंकि सर्वदा सत्य की ही विजय और झूठ की पराजय होती है[७६]। इस कारण वे पुरुष धन्य हैं जो सब व्यवहारों में सत्य का आश्रय लेते हैं।[७७]

सत्य की ऐसी सार्वकालिक, सर्वसम्मत व प्रतिष्ठा होने पर भी महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि सत्य क्या है?

---

६६. वेदोक्तधर्मविषय, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, स्वामी दयानन्द
६७. वही
६८. स्वमन्तत्यामयन्तव्य, सत्यार्थ प्रकाश, स्वामी दयानन्द
६९. धर्म का स्वरूप, प्रशांत वेदालंकार
७०. आर्य समाज का दूसरा नियम
७१. धर्म का स्वरूप, धर्म के साधन, प्रशांत वेदालंकार
७२. सप्तम समुल्लास, सत्यार्थ प्रकाश व प्रार्थना याचना और उपासनाविषय ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, स्वामी दयानन्द
७३. धृति क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥ मनु
७४. धर्म के लक्षण, प्रशांत वेदालंकार
७५. व्यवहारभानुः स्वामी दयानन्द
७६. मुण्डकोपनिषद् ३/१/६
७७. व्यवहारभानुः स्वामी दयानन्द

सत्य की पहचान कैसे हो ? सत्य को कैसे देखें ?[७८] स्वामी जी ने इस समस्या की ओर ध्यान दिया। सर्वप्रथम सत्य की ठीक-ठीक पहचान करने के लिए स्वामी जी ने ही सर्वप्रथम पांच प्रकार की परीक्षाओं का आविष्कार किया[७९]-

एक-जो-जो ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव और वेदों के अनुकूल हो वह-वह सत्य और उससे विरुद्ध असत्य है।

दूसरी-जो-जो सृष्टिक्रम से अनुकूल वह वह सत्य और जो-जो सृष्टिक्रम से विरुद्ध है वह-वह असत्य है जैसे कोई कहे विना माता-पिता के योग से लड़का उत्पन्न हुआ। ऐसा कथन सृष्टिक्रम से विरुद्ध होने से असत्य है।

तीसरा-आप्त अर्थात् जो धार्मिक विद्वान्, सत्यवादी विद्वान्, निष्कपटियों का संग उपदेश के अनुकूल है वह-वह ग्राह्य और जो-जो विरुद्ध वह वह अग्राह्य है।

चौथी-अपने आत्मा की पवित्रता और विद्या के अनुकूल अर्थात् जैसा अपने को सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है वैसे ही सर्वत्र समझ लेना।

पांचवी-आठों प्रमाण अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव द्वारा किसी तत्त्व की परीक्षा करना।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित सत्य को परखने की ये कसौटियाँ उनके पूर्व किसी आचार्य ने नहीं आविष्कृत कीं। यह विश्व को उनकी महती देन है, जिसके आधार पर उपनिषद्वर्णित सत्य के मुख को हम स्वर्णमय असत्यरूपी आवरण को हटाकर अनावृत कर सकते हैं। इसके विना सत्य की पहचान असम्भव हैं।[८०]

---

७८. धर्म का स्वरूप, प्रशांत वेदालंकार

७९. सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास, स्वामी दयानन्द

८०. धर्म के लक्षण, प्रशांत वेदालंकार

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २००९ अङ्क ११ (पृ०७९-८६)

वेदार्थावबोध में निरुक्त का योगदान

डॉ० हरीश्वर दीक्षित[१]

सृष्टि के उषाकाल से ही वाणी विचारों के सम्प्रेषण का प्रधान माध्यम है। इसकी व्यापकता वैदिक काल से ही प्रमाणित है, क्योंकि वाणी ही वसुओं के साथ चलने वाली तथा परस्पर हम सभी के बीच संवाद की जननी है।[२] वाणी (शब्द) और अर्थ का मंजुल सामंजस्य ही भाषा है। इन दोनों का सम्बन्ध नित्य[३] है और अविनश्यदवस्था में दोनों एक दूसरे से सम्पृक्त हैं।[४] इसीलिए हम जो कहना चाहते हैं उसे दूसरे समझ जाते हैं। इस प्रकार वाणी (शब्द) और उसके अर्थ का सम्बन्ध स्वतः सिद्ध है।[५] वाक्यपदीयकार भर्तृहरि के अनुसार कोई भी प्रत्यय (कान्सेप्ट) भाषा (शब्द) के विना सम्भव नहीं है।[६] अतः विचारों के वाहक भाषा के मूलभूत तत्त्व शब्द और उसके अर्थ को जाने विना हम दूसरों के विचारों को नहीं समझ सकते। अतः शब्दों और उसके अर्थों को जानने के लिए उसकी व्युत्पत्ति तथा उसके निर्वचन की आवश्यकता महसूस हुई। यद्यपि निर्वचन का प्रारम्भ ब्राह्मणग्रन्थों से ही हो जाता है किन्तु ब्राह्मणग्रन्थों में ऐसे ही निर्वचन प्राप्त होते हैं जो देवविषयक हैं तथा परोक्षवृत्ति वाले हैं।[७] अतः परोक्षवृत्तियुक्त भाषा का दुरूह हो जाना स्वाभाविक ही है। इसीलिए मन्त्र साक्षात्कृत धर्मा ऋषियों ने इनके अन्तस् (शब्द और उसके अर्थ) को समझने और समझाने के लिए वेदाङ्गों की रचना की।[८] इनमें निरुक्त और व्याकरण-दो ही अर्थावबोध में सबसे अधिक सहायक रहे। पतञ्जलि के अनुसार व्याकरण का मुख्य प्रयोजन ही वेद की रक्षा करना है।[९] निरुक्त और व्याकरण दोनों का प्रमुख क्षेत्र भाषा-चिन्तन के द्वारा शब्द को व्याकृत कर उसके रहस्य (अर्थ) को उन्मीलित करना है। प्रकृति प्रत्ययगत शल्य क्रिया के द्वारा उसके जोड़-जोड़ को पहचानना है। व्युत्पत्ति चिन्तन भाषा-चिन्तन की प्रमुख विधा है तथा किसी भी अन्य विधा की अपेक्षा शब्द की रचना से उसका निकट का सम्बन्ध है। व्युत्पत्ति का सम्बन्ध शब्द की मूल प्रकृति और प्रत्यय से है। अतः प्रकृति प्रत्यय के सम्मिलित अर्थों द्वारा किसी भी शब्द के मूलभाव तक पहुंचा जा सकता है।

निरुक्त और व्याकरण में थोड़ा सा अन्तर है। यद्यपि दोनों का उद्देश्य एक ही है और वह है

---

१. उपाचार्य एवम् अध्यक्ष-संस्कृत विभाग,राजा हरपाल सिंह स्नातकोत्तर महाविद्यालय, सिंगरामऊ, जौनपुर, (उ०प्र०)-२२२१७५

२. अहं राष्ट्री संगमनी-------भूर्यावेशयन्तीम्॥ -ऋ०सं० १०/१२५/०३

३. नित्या शब्दार्थ सम्बन्धाः-------भाष्याणाञ्च प्रणेतृभिः॥ -वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड कारिका-२३

४. वागर्थाविव सम्पृक्तौ------पार्वती परमेश्वरौ॥ रघुवंश-मङ्गलाचरण श्लोक।

५. सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे। -महाभाष्य पस्पशाह्निक वार्तिक-०१

६. न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते। अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥ -वाक्यपदीय-०१/१२३

७. परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः। -बृहदारण्यक उपनिषद्-४/२/२

८. साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः-----इमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च, वेदाङ्गानि च। तथा द्रष्टव्य दुर्गवृत्ति वही।

९. रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्॥ -पतञ्जलि महाभाष्य पस्पशाह्निक पृष्ठ-१५

वेदार्थावबोध। निर्वचन का सम्बन्ध निरुक्त से तथा व्युत्पत्ति का सम्बन्ध व्याकरण से है। ये दोनों ही अर्थज्ञान में सहायक हैं। व्याकरण में शब्दों की बारीकी से परीक्षा की जाती है और उसके लिए प्रकृति-प्रत्यय तथा उन दोनों में होने वाले ध्वन्यात्मक परिवर्तनों पर विचार करते हुए अर्थावबोध किया जाता है। इस प्रकार व्याकरण में जहाँ शब्द की ऊपरी संघटना (भौतिक शरीर) की व्याख्या प्रस्तुत की जाती है, वहीं निर्वचन में उसकी भीतरी संघटना (आत्मा) अर्थ को ध्यान में रखकर उसके किसी मूल रूप की खोज करना लक्ष्य होता है, शब्द की भीतरी संघटना वास्तविक अर्थ का बोध कराना ही भाषा का प्रमुख उद्देश्य होता है, और यह निरुक्त अर्थात् निर्वचन के माध्यम से ही संभव है।[१०] इसका यह आशय कदापि नहीं है कि व्याकरण का अर्थ से कोई सम्बन्ध नहीं है, अपितु उसकी पदविधि की आवश्यक शर्त समर्थ होना ही है।[११] दोनों में थोड़ा अन्तर है। व्याकरण की शब्दार्थावबोध सम्बन्धी योजना का प्रारम्भ आर्थी धारणा से होता है और उसका पर्यवसान शाब्दी प्रतीति में होता है। जबकि निरुक्त में शब्दार्थावबोध सम्बन्धी योजना का प्रारम्भ आर्थी धारणा से ही होता है तथा शब्द विकास की परम्परापूर्वक प्रारम्भ से अन्त तक अर्थावबोध का एक सिलसिला चलता रहता है, जो शब्द के व्यापक आत्मिक अर्थ का बोध कराता है। इस प्रकार निरुक्त में शब्दार्थावबोध आर्थी धारणा से प्रारम्भ होकर व्युत्पत्ति के विविध आयामों से गुजरते हुए आर्थी धारणा में ही अपनी पूर्णता को प्राप्त करता है। व्याकरण में कहीं-कहीं लुके-छिपे निरुक्त की शैली स्पष्टतः परिलक्षित होती है। विशेषतः समास के विग्रह वाक्यों, सन्नत रूपों, तथा तद्धित (श्रोत्रियंश्छन्दोऽधीते-पाणिनि ५.२.८४) आदि के प्रयोगों में स्पष्टतः द्रष्टव्य है। यास्क का तो स्पष्टतः उद्घोष है कि निरुक्त के विना व्याकरण अधूरा है, निरुक्त व्याकरण की पूर्णता है।[१२] निर्वचन का शाब्दिक अर्थ ही है- **निःशेषेण सम्पूर्णेन विगृह्य व्याकृत्य वचनम् कथनम् निर्वचनम् अर्थात्** शब्द के अर्थ को पूरी तरह से कहना जिससे कि अर्थावबोध में कुछ भी शेष न रह जाय तथ अर्थ पूरी तरह से समझ में आ जाय। अतः पूरी तरह से शब्दार्थावबोध जिसके द्वारा कराया जाय, उस शास्त्र को निर्वचन शास्त्र कहते हैं जिसको वेदाङ्गान्तर्गत निरुक्त नाम दिया गया है।[१३] इसका तात्पर्य है शब्द में छिपे हुए अर्थ को विग्रह के द्वारा कहना। संक्षेप में 'निर्वचन' शब्द के अर्थ को प्रकाशित करने की एक शैली है तथा इस शैली के अन्तर्गत वैदिक पदकोश निघण्टु की व्याख्या जिस ग्रन्थ में की गयी है उसका नाम है निरुक्त।

निर्वचन की परम्परा वैदिक काल से ही प्रारम्भ हो जाती है।[१४] ऋग्वेद का भाषिक विश्लेषण करने पर यह ज्ञात होता है कि ऋषियों ने शब्दार्थ चिन्तन के लिए वाणी के मार्ग को ढूंढ़ा।[१५] वेंकटमाधव के अनुसार

---

१०. द्र० निरुक्त-१.८-अध्वर्युरध्वरयुरध्वरं युनक्ति, अध्वरस्यनेता अध्वरं कामयत इति वा। अपि वा अधीयाने युरुपबन्धः।

११. समर्थः पदविधिः। -पाणिनि अष्टाध्यायी-२/१/१

१२. द्र० निरुक्त-१.१५-तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यम्, स्वार्थसाधकं च॥

१३. निरुक्त के पांच अध्याय-भूमिका से।

१४. ऋ०सं० १.९.९-गीर्भिगृणन्त ऋग्मियम्। हूयते हविः-ऋ०संह. १.३४.१०, कपि. क. सं.-५.४-आशिषमासास्ते। अन्नमत्ति। -कपि. क. सं. ५.५।

१५. यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्, तामन्वविन्दन ऋषिषु प्रविष्टाम्। -ऋ. सं.-१०.७१.०३,

प्राचीनकाल में वेदों के मन्त्रों को समझने के लिए तीन पद्धतियाँ प्रयोग में लायी जाती थीं, जो आज भी प्रचलित हैं-(१) शाकल्य की पदपाठ पद्धति। (२) यास्क की निरुक्त पद्धति और (३) पाणिनि की विश्लेषणात्मक पद्धति। इससे आगे चलकर सायण तक आते आते एक चौथी परम्परा विकसित हुई जिसे आधुनिक या परवर्ती वैदिक विद्वानों ने (४) भाष्य पद्धति नाम दिया। यह भाष्य पद्धति ही आज सर्वाधिक लोकप्रिय तथा वेदमन्त्रों एवं ब्राह्मणग्रन्थों के अर्थावबोध का आधार है। इसमें तदनुरूप अथवा तदर्थावबोधी स्थानापन्न पर्यायवाची शब्दों के माध्यम से वेदमन्त्रों एवं ब्राह्मणग्रन्थों का भाष्य आचार्य सायण इत्यादि विद्वानों द्वारा किया गया। आज स्थिति यह है कि विना सायण भाष्य के वेद मन्त्रों एवं ब्राह्मणग्रन्थों का अर्थावबोध संभव नहीं प्रतीत होता यद्यपि इन सबका मौलिक आधार निरुक्त ही है। निर्वचन की यह परम्परा वेदों से चलकर ब्राह्मणग्रन्थों तथा यत्र-तत्र आरण्यकों[१६] एवम् उपनिषदों[१७] से होती हुई यास्क के निरुक्त तथा वेदाङ्गों के अन्त में रचित अनुक्रमणी साहित्य तक अविच्छिन्न रूप में प्राप्त होती है। इसके बाद वैयाकरणों ने इधर काफी ख्याति प्रदान की है, जिनमें पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि प्रमुख रहे हैं। अत: यह परम्परा आज भी उसी भांति उपयोगी है। आज भी इन्हीं पद्धतियों से चाहे वह शाकल्य की पदपाठ पद्धति हो, यास्क की निरुक्त पद्धति हो, पाणिनि की विश्लेषणात्मक पद्धति हो अथवा आधुनिक भाष्य पद्धति हो, इनके द्वारा हम शब्दों का अर्थ जान लेते हैं तथा वैदिक एवं लौकिक दोनों प्रकार के शब्द रहस्यों को समझने में समर्थ होते हैं। इससे वैदिक साहित्य में विशेष सहायता प्राप्त हुई है।

१.शाकल्य की पदपाठ-पद्धति

इस पद्धति में प्रत्येक पद के अवान्तरभूत पदों का अवग्रह (ऽ) के द्वारा पद पाठ कर (अलगकर) पदों का अर्थ किया जाता है। इससे न केवल अर्थ का परिचय ही मिलता है, अपितु पदों के व्युत्पत्ति निर्धारण में भी सुविधा होती है। प्रत्यक्षवृत्ति, परोक्षवृत्ति तथा अतिपरोक्षवृत्ति[१८] इन तीन प्रकार के शब्दों में प्रथम प्रकार के शब्दों की व्युत्पत्ति का संकेत अवग्रह (ऽ) के द्वारा किया गया है। दूसरे और तीसरे प्रकार के शब्दों में अवग्रह नही दिया गया और इस प्रकार उनकी व्युत्पत्ति में मतभेद (अनवगम) की ओर संकेत है। (जैसे रिशादसः ऋ० सं० १.१९.५)। इस परम्परा के पोषक प्रमुख आचार्य आत्रेय (तैत्तिरीय संहिता), गार्ग्य (सामवेद), तथा रावण हैं। 'मेहन' शब्द की व्याख्या में आचार्य दुर्ग का कथन है कि ऋग्वेदियों के अनुसार यह एक ही पद है, परन्तु छान्दोग्यों (सामवेदियों) के अनुसार तीन पद (म+इह+न) हैं। यहाँ यह ध्यातव्य है कि यास्क ने शाकल्य और गार्ग्य के मतों का समीकरण किया है।[१९] इन सभी पद पाठकारों में परस्पर विषमता है। एक आचार्य जिसे एक पद

---

१६. स एतमेव पुरुषं ब्रह्म तमपश्यदिदमदर्शमिती ३। तस्मादिन्द्रो ह वै नाम तमिन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण। -ऐ० आ० २.४.३।

१७. अद्यत्तेऽत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते इति। तै० उप०-२.२, एतेन हीदं सर्वमाददाना यन्ति, ते यदिदं सर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति। -बृहदारण्यकोपनिषद्-पृ०-६४४।

१८. दुर्ग० निरुक्त-०२.०१।

१९. निरु०-४.३-४.यदिन्द्रं चित्रं चयनीयं मंहनीयं धनमस्ति यन्म इह नास्तीति वा त्रीणि मध्यमानि पदानि। द्र० वहीं (क)दुर्ग० 'बह्वृचानां मेहना इत्येकं पदं। ' छन्दोगानां त्रीण्येतानि पदानि। 'म,' इह, न इति। तदुभयं पश्यता भाष्यकारेणोभयोः शाकल्य गार्ग्ययोरभिप्रायावत्रानुविहितौ। '

मानता है, वहीं पर दूसरा उसे दो-दो, तीन-तीन मानता है। स्कन्द के अनुसार इन पदपाठकारों के अभिप्राय विचित्र हैं।[२०] परन्तु वेदार्थावबोध के लिए ये ही प्रथम सोपान हैं।[२१] विना पद जाने अर्थ का ज्ञान असंभव है। अतः किसी भी परिस्थिति में पद-पाठ-पद्धति को नजर अन्दाज नहीं किया जा सकता।

(२) यास्क की निरुक्त-पद्धति

यद्यपि निरुक्त पद्धति का प्रारम्भ मन्त्रों एवं याज्ञिक क्रियाओं से सम्बद्ध ब्राह्मणग्रन्थों के विनियोग और व्याख्या के साथ-साथ ही हो गया था। ब्राह्मणग्रन्थों में स्थान-स्थान पर आवश्यकतानुसार विशिष्ट शब्दों के निर्वचन भी प्रस्तुत किये गये हैं।[२२] इनका उद्देश्य इन शब्दों की संकल्पना में निहित उद्देश्यों पर बल देना और उनकी साधार व्याख्या करनी है। ये निर्वचन ही निरुक्त के आधार हैं। इनमें मुख्यतः दो प्रकार से निर्वचन किये गये हैं (१) प्रथम प्रकार में निर्वचनीय शब्द के विषय में प्रश्न किया जाता है, तदुपरान्त उसका निर्वचन किया हुआ मिलता है।[२३] (२) दूसरे प्रकार में परोक्षवृत्ति और अति-परोक्षवृत्ति शब्दों का निर्वचन 'परोक्षकथन' (परोक्षेण) से किया गया है।[२४] इसके अतिरिक्त आरण्यकों[२५] तथा उपनिषदों[२६] में भी यत्र-तत्र निर्वचन किये हुए मिलते हैं।

आचार्य यास्क का उद्घोष है कि विना निरुक्त के न तो मन्त्रों के अर्थ का प्रत्यय हो सकता है और न ही पद-विभाग[२७]। निरुक्त-शैली ब्राह्मणों का विकसित रूप है और आचार्य यास्क इसके प्रतिनिधि हैं। इन्होंने वैदिक पदकोश निघण्टु में आये दुरूह पदों की व्याख्या प्रस्तुत की है, साथ ही आनुषंगिक रूप में आये मन्त्रों की व्याख्या भी कर दी है। यास्क की दृष्टि में हर एक शब्द का निर्वचन करना चाहिए। इसके लिए उन्होंने कुछ सिद्धान्त भी बनाये हैं, जिनकी विस्तृत चर्चा निरुक्त के दूसरे अध्याय के प्रारम्भ में मिलती है। आचार्य जयादित्य वामन ने इन सभी सिद्धान्तों का समाहार निम्न कारिका में कर दिया है:-

वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।

---

२०. स्क० निरु०-२.१३

२१. आचार्य सायण एवं माधव पृ०-२००।

२२. उपवसथ-श.ब्रा. १.१.१.७, आपः-१.१.१-१२-१४, धान्य-१.२.१.१८, यूप-१.६.२.१, भरत-१.४.२.२, १.५.१.८, वेदि-१.२.५.७, १.२.५.१०, होता-१.५.२.१, वृत्रः-श.ब्रा.-१.१.३.४, अमावस्या-१.६.४.५, दावन-१.६.३.९, रक्षांसि-१.१.१.१६, धृष्टि-१.२.१.३, शर-१.२.४.१, इध्म-१.३.५.१, अत्रि-१.४.५.१३, अध्वर-१.४.१.४०, पुरोडाश-१.६.२.५, दधिः-१.६.४.८,

२३. ऐ०ब्रा०-१/२-कस्मात्तं होतेव्याचक्षत इति। यद्वाव स यत्र यथा भाजनं देवता। अमुमावहामुभावहेत्या- वाहयति तदेव होतुर्होतृत्वम्।

२४. श.ब्रा.-१४.०६.१.१-स होवाच-इन्धो वै नामैष, योऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः। तं वा एतमिन्धं सन्तमिद्र इत्याचक्षते परोक्षेण।

२५. ऐ०आ०-२.४.३, स एतमेव पुरुषं-------।

२६. अद्यतेऽत्ति च भूतानि। तस्मादन्नं तदुच्यते इति। तै० उप० २/२, एतेन हीदं सर्वमाददान यन्ति, ते यदिदं सर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति। -बृह०उप०-पृ०६४४

२७. निरु०-०१.०६.०१-पृ. ४९,

धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्॥ (काशिका, पाठ-०६.०३.१०९)

.वर्णागम-द्वार (√वृ), आस्थत् (√अस्) भरुजा (√भ्रस्ज्)।

२.वर्णविपर्यय:- सिकता: √कस्+इ+ता:, रज्ज् सर्ज् √सृज्।

३.वर्ण विकार:- राजा राजन्, दण्डी दण्डिन्, मेघ √मिह्।

४.वर्णनाश:-गत्वा √गम्+त्वा, गतम् √गम्+त।

५.शब्द के प्रसिद्ध अर्थ को छोड़कर किसी अर्थान्तर के साथ धातु का योग मयूर √रु (रमण) [२८]।

आचार्य यास्क प्रत्यक्षवृत्ति शब्दों (पाचक, कारक) के लिए व्याकरण का उपयोग करना स्वीकारते हैं। उनकी दृष्टि में परोक्षवृत्ति तथा अति परोक्षवृत्ति शब्द व्याकरण से परे हैं। यदि मात्र व्याकरण पर ही भरोसा किया जाय, तो इन्हें समझना कठिन हो जायेगा, क्योंकि व्याकरण की वृत्तियाँ विशयवती होती हैं। इसलिए जिस किसी रूप में चाहे अक्षर या वर्ण मात्र की ही समानता क्यों न हो, निर्वचन अवश्य करना चाहिए।[२९] आचार्य यास्क इस प्रसङ्ग में आचार्य शौनक के बृहद्देवता में निरूपित निर्वचन सिद्धान्त को भी ध्यान में रखने पर जोर देते हैं। आचार्य शौनक के अनुसार शब्दों के पांच भेद हैं।-(१) धातुज, (२) धातुज से उत्पन्न (तद्धित), (३) समस्त, (४) वाक्य से ही उत्पन्न (जैसे-इति+ह+आस+इतिहास) तथां (५) अनवगत।[३०]

आचार्य यास्क ने निरुक्त परम्परा के पोषक आचार्यों आग्रायण, औदुम्बरायण, औपमन्यव, और्णवाभ, कात्थक्य, कौत्स, क्रौष्टुकि, गार्ग्य, गालव, चर्मशिरा:, तैटीकि, वार्ष्यायणि, शतवलाक्ष, शाकटायन और उनके पुत्र शाकपूणि, शाकल्य और स्थौलाष्ठीवि का उल्लेख बड़े सम्मान के साथ किया है।

यास्क के अतिरिक्त देवराजयज्वा ने भी निघण्टु की टीका लिखी। इन्होंने नैघण्टुक काण्ड की व्याख्या सविस्तार की तथा शेष की संक्षेप में। पाणिनि, आचार्य क्षीरस्वामी, स्कन्दस्वामी तथा स्कन्दमहेश्वर के उद्धरण इस टीका में पर्याप्त मिलते हैं।

इसके अतिरिक्त अन्य जो निर्वचन की दो पद्धतियाँ हैं-उसमें पाणिनि की विश्लेषणात्मक पद्धति तथा सायण की भाष्य पद्धति है। ये दोनों ही निरुक्त की पद्धति से कथमपि अलग या भिन्न नहीं है अपितु कहीं-कहीं निर्वचन (निरुक्त) पद्धति से अपेक्षाकृत विस्तार या संकोच भी देखा जाता है। अत: ये दोनों पद्धति भी निरुक्त पर ही आधृत हैं।

(३) पाणिनि की विश्लेषणात्मक पद्धति:- पाणिनि व्याकरण में संस्कृत भाषा के दोनों स्तर-वैदिक तथा

---

२८. पा०-०६.०३.१०९-पर काशिका की टीका न्यास-अर्थातिशयोऽर्थविशेषप्रसिद्धादर्थादर्थान्तरम्, तेन धातोर्योग: सम्बन्ध:, यथा मह्यां रौतीति मयूर:, अत्र रौते: रमणेनार्थेनातिशयेन योग:।

२९. निरु.-०२.०१-'अविद्यमाने सामान्येऽपि अक्षरवर्णसामान्यान्निर्ब्रूयात्। न त्वेवं न निर्ब्रूयात्। न संस्कारमाद्रियेत, विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति।

३०. द्र०-बृहद्देवता-२.१०४-धातुजं धातुजाज्जातं, समस्तार्थजमेव वा। वाक्यजं व्यतिकीर्णं च निर्वाच्यं पञ्चधा पदम्॥

लौकिक विश्लेषित मिलते हैं।[३१] सामान्यत: पाणिनि पर यह आरोप लगता है कि उन्होंने वैदिक भाषा का विश्लेषण **'बहुलं छन्दसि'** जैसे अव्यवस्थित नियमों से किया है और इतना कहकर आगे बढ़ गये। इस प्रकार का विश्लेषण अपर्याप्त है। किन्तु ऐसा नहीं है। ब्लूमफील्ड के अनुसार पाणिनि-व्याकरण में क्या रूप साधन, क्या समास रचना, क्या वाक्य रचना, इन सभी के सम्बन्ध में छोटी से छोटी बातों का वर्णन है।[३२] पाणिनि की अष्टाध्यायी सूत्रबद्ध है और वह अधिकांश में अभिहित है। कुछ अंशें में सरलता से गम्य है और कहीं-कहीं अन्तर्विरोधों की संगति बिठाने में उसके टीकाकारों की सहायता अपेक्षित है। इस प्रकार उनका विश्लेषण वैदिक भाषा के विषय में भी शिथिल नहीं है।

अष्टाध्यायी में न केवल प्रत्यक्षवृत्ति शब्दों को ही ध्यान में रखा गया है, अपितु परोक्षवृत्ति और अतिपरोक्षवृत्ति शब्दों का भी विश्लेषण किया गया है, जो ब्राह्मणग्रन्थों के निर्वचन-आधार से होते हुए निरुक्त की पद्धति पर पूर्णतया आधारित है।[३३]

१.परोक्षवृत्तिः-उणादयो बहुलम, -पाणिनि-३,३,१.

२.अतिपरोक्षवृत्तिः-पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्। पा०-०६.०.१०९,

३.प्रत्यक्ष वृत्तिः-शेष अष्टाध्यायी सम्पूर्ण।

पाणिनि ने शब्दों की सिद्धि एवं उनके अर्थावबोध के लिए-निपातन, बहुल तथा उपसंख्यान आदि युक्तियों का सहारा लिया है, जो कहीं न कहीं निरुक्त की निर्वचन पद्धति के पद के चतुर्विभाजन-नाम आख्यात, उपसर्ग और निपात से सम्बद्ध है। **(चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च।)** पाणिनि ने शब्दों के दो भेद-व्युत्पन्न तथा अव्युत्पन्न स्वीकार किया है। अत: वे अव्युत्पन्न शब्दों की व्युत्पत्ति देने के लिए बाध्य नहीं है, फिर भी उनकी व्याकरण-परम्परा में वे शब्द भी व्युत्पत्ति प्रक्रिया से अछूते नहीं रहे। एक तरह से यह पाणिनि की उदारता ही कही जायेगी। अत: पाणिनि की सम्पूर्ण पद्धति पूर्णत: वैज्ञानिक और कहीं न कहीं निरुक्त (निर्वचन) की पद्धति से पूर्णत: अनुप्राणित है।

४.आचार्य सायण की भाष्य-पद्धति

यद्यपि यह पद्धति कोई नई पद्धति नहीं है अपितु ब्राह्मणग्रन्थों से होते हुए पद पाठ, निर्वचन (निरुक्त) एवं पाणिनि की पद्धति का एक सम्मिलित रूप है। अत: सायण तक पहुंचते-पहुंचते पदों के अर्थावबोध हेतु ब्राह्मणग्रन्थों से लेकर पाणिनि तक एक लम्बी परम्परा विकसित हो चुकी थी, अत: आचार्य सायण ने वेद व्याख्याकारों एवं भाष्यकारों की इस लम्बी परम्परा का नि:संकोच भरपूर उपयोग किया। वेद की व्याख्या के लिए

---

३१. केषां शब्दानां? वैदिकानां लौकिकानां च। -प०म०भा-पस्पशाह्निक-पृ०-०५-०६

३२. भाषा-पृ०-१०,

३३. शत.ब्रा. १४.०६.११.०१, ऐ०आ०-२.४.३, तै० उप०-२.२., निरु० ४.३-४, स्क० नि०-२.१३, बृह.उप. पृ० ६४४, निरु० १.६.१. पृ० ४९,

बहुज्ञता अपेक्षित है। इसीलिए ऋग्वेदभाष्यभूमिका में सायण को षडंगानुसारी व्याख्यान की प्रतिज्ञा करनी पड़ी।[३४] सबसे पहले आचार्य सायण ने ब्राह्मणी तथा आरण्यकों का व्याख्यान किया, तदन्तर मन्त्रात्मक संहिता ग्रन्थों का, जिससे कि कई धरातल पर ऋग्वेद की व्याख्या की पुष्टि हो सके।[३५] मन्त्रार्थावबोध हेतु जिज्ञासु पाठक के लिए यह आवश्यक है कि वह स्वर, वर्ण, अक्षर, मात्रा, विनियोग और उसके अर्थ को समझे।[३६] महर्षि पतञ्जलि के अनुसार लोप, आगम तथा वर्णविकार को जानने वाला व्यक्ति ही वेदों का सम्यक् अर्थावबोध कर सकता है।[३७] सायण के लिए यह आधार भूमि है। सायण ने स्थान-स्थान पर आरण्यकों, ब्राह्मणों तथा उपनिषदों के कथन उद्धृत किए हैं, कुछ व्याख्या की पुष्टि के लिए तथा कुछ व्युत्पत्ति-निर्धारण के लिए।[३८] यह प्रक्रिया पूर्णतया निरुक्त की शैली से प्रभावित है। अपनी व्याख्या की प्रामाणिकता के लिए तथा व्युत्पत्ति की गुणवत्ता के लिए अथवा मतान्तर दिखाकर तुलनात्मक व्याख्या के उद्देश्य से सायण ने स्कन्दस्वामी[३९], उद्गीथ[४०], माधव[४१], भट्टभास्कर मिश्र[४२], हरदत्त[४३] तथा आग्रायण[४४] आदि आचार्यों का भी सहारा लिया है। निस्सन्देह सायण वैदिक वाङ्मय के समर्थ एवं प्रमुख भाष्यकार हैं। सायण को अलग रखकर वेद के निगूढ़ अर्थ को समझ पाना अत्यन्त कठिन होगा। अतः वेदार्थावबोध में सायण का अपना महत्त्वपूर्ण योगदान है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यास्क की निरुक्त-पद्धति के अतिरिक्त अन्य तीनों पद्धतियाँ भी कहीं न कहीं निर्वचन की शैली (निरुक्त) से प्रभावित हैं और सभी ने अपनी सामर्थ्यानुसार निरुक्त का भरपूर उपयोग किया है; यहाँ तक कि पाणिनि ने भी, यद्यपि अतिपरोक्ष शब्दों को अव्युत्पन्न (अनिरुक्त, अनिर्वचनीय) कहकर छोड़ दिया, तथापि वे यास्क के **'सर्वाणि नामानि आख्यातजानि'** इस सिद्धान्त से इतने प्रभावित हुए कि उन्हें भी यास्क के सिद्धान्त को अपने व्याकरण में स्थान देना पड़ा तथा **'उणादयो बहुलम्'** इस सूत्र की रचना करनी पड़ी।

इस प्रकार यास्क ने निरुक्त के चौदहों अध्यायों में ऐसा कुछ भी नहीं छोड़ा है जिससे कि वेदार्थावबोध

---

३४. तदर्थमृग्वेदोऽस्माभिः षडंगानुसारेण व्याख्यायते-ऋग्वेद भाष्य-भूमिका पृ० ३१,

३५. मन्त्र ब्राह्मणात्मके वेदे ब्राह्मणस्य मन्त्रव्याख्यानोपयोगितादौ ब्राह्मणमारण्यकाण्डसहितं व्याख्यातम्। अथ च तत्र तत्र ब्राह्मणोदाहरणेन मन्त्रात्मको संहिता ग्रन्थो व्याख्यातव्यः। -ऋग्वेदभाष्य भूमिका-पृ०३१

३६. स्वरो वर्णोऽक्षरं मात्रा विनियोगोऽर्थ एव च। मन्त्रं जिज्ञासमानेन वेदितव्यं पदे पदे॥ सायण-ऋ. १.१.१ द्रष्टव्य-वर्गद्वयवृत्ति-ऋ०प्रा० पृ०-०९ पर।

३७. लोपागमवर्णविकारज्ञो हि सम्यक् वेदान्परिपालयिष्यतीति। -पा० म० पस्पशाह्निक पृ०१५।

३८. सा०ऋ०-१.१.१, १.१.६, ३.२,३,५, ७.१,४, इत्यादि।

३९. सा० ऋ०-१.८८.५,

४०. सा० ऋ०-१.४६.५,

४१. सा० ऋ०-१०.८६.१,

४२. सा० ऋ०-१.६३.४, ७१.४, ८४.१५, ६.१.१३, ७.१.७,

४३. सा० ऋ०-१.१.५,

४४. सा० ऋ०-१.३.४,

में किसी तरह की कोई कठिनाई हो। वेदार्थावबोध की प्रत्येक प्रक्रिया में निरुक्त का अप्रतिम योगदान है। नि:सन्देह निरुक्त वैदिक वाङ्मय का वह शब्दकोश है, जिसमें किसी भी तरह का सन्देह आकर पूर्णतया विलीन हो जाता है। निरुक्त वैदिक वाङ्मय का एक मात्र ऐसा व्याकरण शास्त्र है, जिसमें शब्द एवं अर्थ दोनों का परम्परया निर्वाह किया गया है तथा दोनों पक्षों का निर्वचन प्रस्तुत किया गया है। अत: यदि हम यों कहें कि निरुक्त के विना वेदार्थावबोध अत्यन्त कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव है तो इसमें कोई अत्युक्ति नहीं होनी चाहिए।

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २००९ अङ्क ११ (पृ०८७-९१)

वेदों में सर्पादि विष-चिकित्सा

डॉ० नीरज कुमार[१]

विष के प्रभाव के निवारण, प्रतिकार और विष नष्ट करने के उपायों को विष-चिकित्सा कहते हैं। अष्टांगहृदय का कथन है कि तीन प्रकार के विष होते हैं, फल-फूल आदि कन्दों में होने वाला विष स्थावर-विष है। सर्प, बिच्छू, मकड़ी आदि की दाढ़ों में होने वाला विष जंगम-विष है, इन्हें अकृत्रिम विष कहते हैं। विभिन्न प्रकार की औषधियों से तैयार किया गया विष कृत्रिम है, उसको 'गर' कहते हैं। यह ओज का विनाश करता है और वात-पित्त प्रधान होने से जीवन को नष्ट करता है।[२] 'अष्टांगहृदय' में यह भी कहा है कि विषों में और विष की सभी अवस्थाओं में गाय के शुद्ध घृत के समान कोई दूसरी लाभदायक औषध नहीं है।[३] ये कहते हैं कि विष का प्रभाव होते ही शीघ्रता से वमन (उल्टी) करावें और ठण्डा पानी डालें, साथ ही गाय का घी और शहद मिश्रित दवा तुरन्त पिलायें।[४]

अथर्ववेद में विष का नाश करने के लिए सोमपान का उपाय बताया है। सोम का पान करने वाले मनुष्य पर विष निष्प्रभाव हो जाता है।[५] एक अन्य मन्त्र में मन्त्र चिकित्सा का वर्णन है, मन्त्रशक्ति से विष का प्रभाव उतरता है।[६] बाण से, फाल से, सींग आदि के लगने से जो विष उत्पन्न होता है, उस विष को मन्त्र-शक्ति से दूर किया जा सकता है।[७] मन्त्र-शक्ति से यह तात्पर्य हो सकता है कि मन्त्र नाम विचार का है और प्रबल वैचारिक शक्ति से रोगियों को ठीक होते देखा जाता है। समाज में किसी विशेष दुर्घटना आदि के होने पर ऐसे भी व्यक्ति देखने में आते हैं, जो अचानक हार्ट अटैक, पागलपन, निर्बलता, ज्वर या सिरदर्द आदि के शिकार हो जाते हैं।

विष के प्रसङ्ग में 'अथर्ववेद' में यह भी कहा है कि गरुड़ सांप को खाता है, गरुड़ के लिए सर्प-विष भोजन है।[८] यह अनुसन्धान का विषय है कि गरुड़ के लिए विष का प्रभाव क्यों नहीं होता।

वेद में १८ प्रकार के सर्पो और उनके विष आदि का उल्लेख प्राप्त होता है, जिनका वर्णन निम्न प्रकार है।[९]

---

१. प्रोजेक्ट फैलो, श्रद्धानन्द वैदिक शोधसंस्थान गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.

२. अष्टांगहृदय, उत्तरस्थान, अध्याय ३५, श्लोक १-१०

३. अष्टांगहृदय, उत्तरस्थान ३५.६९-७० सर्वेषु सर्वावस्थासु विषेसु न घृतोपमम्। विद्यते भेषजं किंचिद् विशेषात् प्रबलेऽनिले॥

४. वही, श्लोक १७-२०

५. अथर्व० ४.६.१ : य सोमं प्रथमः पपौ स चकारारसं विषम्।

६. वही ४.६.२ : वाचं विषस्य दूषणीं तामितो निश्वादिषम्।

७. वही ४.६.५ : शल्याद् विषं निरवोचम्०।

८. वही ४.६.३ : सुपर्णस्त्वा गरुत्मान् विष प्रथममावयत्।

९. डॉ० कपिल देव द्विवेदी, वेदों में आयुर्वेद, संस्करण २००९, पृष्ठ १८४।

१.कैरात (जहाँ भील रहते हैं उन जंगलों में रहने वाला सर्प)।

२.पृश्नि (धब्बों वाला या चितकबरा सर्प)।

३.उपतृण्य (घास में रहने वाले)।

४.बभ्रु (भूरे रंग वाले)।

५.असित (काले)।

६.अलीक (निर्विष सर्प)।

७.तैमात (जलीय स्थान में रहने वाले)।

८.अपोदक (मरुस्थल में रहने वाले)।

९.सत्रासाह (आक्रमणकारी सर्प)।

१०.मन्यु (क्रोध करने वाले सर्प)।

११.आलिगी (शरीर पर लिपट जाने वाली सर्पिणी)।

१२.विलिगी (शरीर पर न लिपटने वाली)।

१३.उरुगूला (बड़ी कटि वाली सर्पिणी)।

१४.असिक्नी (काली सर्पिणी)।

१५.दद्रुषी (जिसके काटने से दाद हो जाता है)।

१६.कर्णा (कानों वाली सर्पिणी, सल्लु सांप)।

१७.श्वावित् (जिनको कुत्ते ढूंढकर लाते हैं ऐसे सांप)।

१८.खनित्रिमा (भूमि के अन्दर बिल बनाकर रहने वाली सर्पिणी)।

इनमें से कुछ सर्पों की जातियाँ महाविष वाली हैं, कुछ कम विष वाली हैं और कुछ निर्विष सांपों की जातियाँ हैं। आचार्य सुश्रुत ने भी अध्याय चार और पांच में सर्पो की जातियों एवं सर्पविष-चिकित्सा आदि का बहुत विस्तार से वर्णन किया है।[१०] सांप के काटने पर काटे हुए स्थान से चार पांच अंगुल ऊपर की ओर गांठ लगानी चाहिए। गांठ को इस प्रकार कसकर बांधना चाहिए कि विष का प्रभाव ऊपर की ओर न बढ़े। ऐसा करने से उत्तम, मध्यम और अधम तीनों प्रकार का विष रुकता है।[११] अथर्ववेद में वाद्ययन्त्र अर्थात् ढोल, नगाड़ा आदि के तीव्र स्वर से सर्पविषनाश का वर्णन है।[१२] इस प्रक्रिया से सर्प द्वारा दंशित व्यक्ति को निद्रा नहीं आती, वह बेहोश नहीं होने पाता, जिससे वह बच जाता है। सांप के विष को नष्ट करने के लिए बाह्यविष के प्रयोग का भी

---

१०. सुश्रुत, कल्पस्थान प्रकरण, अध्याय ४ और ५

११. अथर्व० ५.१३.२ : गृह्णामि ते मध्यमम् उत्तमं रसमुतावमम्०।

१२. अथर्व० ५.१३.३ : उग्रेण ते वचसा बाध आदु ते।

उल्लेख है।[१३] ऐसा करने पर बाह्यविष सर्पविष को समाप्त कर देता है।

सुश्रुत और 'अष्टांगहृदय' में जिस सर्प ने काटा हो, उस सर्प को काट लेने से भी विष का निवारण होता है, ऐसा उल्लेख है अथवा सर्प के काटते ही शीघ्रता से मिट्टी के ढेले को दांतों से काटने से सर्पविष उसमें चला जाता है।[१४] आचार्य सुश्रुत का कथन है कि सर्प ने जहाँ काटा हो, उस जगह से ऊपर ४, ८ और १२ अंगुली की दूरी पर तीन स्थानों पर बांध दें। जहाँ सर्प ने काटा हो, उस स्थान को चाकू या किसी तीव्र औजार से काटकर वहाँ से दबाकर दूषित रक्त निकाल दें और उस स्थान को गर्म लोहे आदि से जला दें। चूसना, काटना और जलाना, यह सभी प्रकार के सर्पो के काटने पर लाभदायक है।[१५]

वेद में सर्पविष-नाशन के लिए ताबुव और तस्तुव औषधियों का वर्णन है।[१६] इन औषधियों के जो गुण वर्णित किये हैं, कटुतुम्बी (कड़वी लौकी) और तिक्त कोशातकी (कड़वी तोरई) में पाये जाते हैं। 'भावप्रकाशनिघण्टु' में कटुतुम्बी को कड़वी, विषनाशक, ठण्डी और हृदय को शक्ति देने वाला बताया है।[१७] राजनिघण्टु आदि में इसको वमन कराने वाली कहा है, यह उल्टी (वमन) के द्वारा विष के प्रभाव को बाहर कर देती है। अत: सर्प-विष-नाशक कही गयी है।

सपेरे कटुतुम्बी की वीणा रखते हैं। इसका कारण यह हो सकता है कि कटुतुम्बी सर्पविषनाशक है और इसकी ध्वनि सर्प को वश में करती है। जो गुण तस्तुव ओषधि में बताये गये हैं, वे तिक्त कोशातकी (कड़वी तोरई) के गुणों के समान हैं। कामरत्न ग्रन्थ के विषचिकित्सा अध्याय में वर्णन आया है कि कड़वी तोरई के काढ़े को शहद और घी के साथ मिलाकर पिलाने से वमन (कै) हो जाती है और विष का प्रभाव समाप्त हो जाता है।[१८] निघण्टु आदि में भी इसे विषनाशक बताया है।

सर्पविष को नष्ट करने के लिए 'अथर्ववेद में जल-चिकित्सा का वर्णन किया गया है। नदी के जल में स्नान करने एवं तैरने आदि क्रियाओं से सर्प-विष नाश होता है।[१९] अथर्ववेद में नदियों और पर्वतादि के झरनों आदि के जल से विष निवृत्ति होने का वर्णन है।[२०] जल में निवास करने वाले सर्पों में भी विष कम हो जाता है। जल-चिकित्सा की दृष्टि से सर्पविष निवृत्ति के लिये योग की कुंजल क्रिया भी विशेष लाभप्रद है। कुंजल क्रिया को तीन बार कराने पर पेट के सम्पूर्ण विष का प्रभाव बाहर आ जाता है।

---

१३. वही ५.१३.४ : विषेण हन्ति ते विषम्।

१४. सुश्रुत कल्पस्थान ५.६; अष्टांगहृदय, उत्तरस्थान ३६.४०-४१

१५. सुश्रुत कल्पस्थान ५.३ से ५

१६. अथर्व० ५.१३.१०, ५.१३.११ : ताबुवेनारसं विषम्। तस्तुवेनारसं विषम्।

१७. भाव० शाक० ५८-५९ : कटुतुम्बी हिमा हृद्या पित्त-कास-विषापहा।

१८. कामरत्न, सर्पविषचिकित्सा, श्लोक १०

१९. अथर्व० १०.४.१९, १०.४.२० : सिन्धोर्मध्यं परेत्य व्यनिजमहेर्विषम्। अहीनां सर्वेषां विषं परा वहन्तु सिन्धवः॥

२०. वही ६.१२.३ : मध्वा पृञ्चे नद्यः पर्वता गिरयोः मधु।

अथर्ववेद में श्वेत ओषधि को भी सर्पविषनाशन के लिये बताया है।[२१] सफेद अर्क या आक (मदार) का नाम धन्वन्तरि-निघण्टु में 'श्वेत' दिया हुआ है।[२२] राजनिघण्टु में सफेद अर्क सर्पविषनाशक बताया है। कामरत्न में कहा है कि आक की जड़ को पीसकर जल के साथ पीने से सर्पविष नष्ट हो जाता है।[२३] आचार्य चरक ने कहा है कि आक के फूलों का रस रोगी को पिलाने से सर्पविष समाप्त हो जाता है।[२४]

आचार्य सुश्रुत ने भी सर्पविषनाशन के लिये आक का प्रयोग लाभदायक बताया है।[२५] आक की जड़ को घिसकर, सर्पदंश के स्थान को थोड़ा कुरेदकर, उस पर लेप कर देना चाहिए। यह विषैले प्रभाव को सम्पूर्ण नाश कर देता है।[२६] 'भावप्रकाश' में लिखा है कि बिच्छू या अन्य कीटों द्वारा दंशित किये जाने पर वहाँ पर आक के दूध का लेप करने से दाह और वेदना शान्त हो जाती है।[२७]

'अष्टांगहृदय' में बिच्छू आदि के विष की चिकित्सा इस प्रकार दी है-[२८]

१.बिच्छू के दंशित स्थान को तत्काल निकले तेल से सेंके।

२.सेंधा नमक मिले घी से बार-बार सेकें।

३.हरताल और हींग को बिजौरे नीबू के रस में मिलाकर गोली बना लें, दंशित स्थान पर उसका लेप करें। यह अधिक विषनाशक है।

४.सोंठ, कबूतर की बीट, बिजौरे नीबू का रस, हरताल और सेंधा नमक को मिलाकर लेप कर दें। यह सभी प्रकार के बिच्छुओं के विष को समाप्त करता है।

५.शिरीष के बीजों को आक के दूध में तीन बार आग पर गरम कर, पिप्पली के चूर्ण के साथ मिलाकर दवा कर लें। यह बिच्छू, सर्प, मकड़ी, कीट और चूहे के विष का नाशक है।

'अथर्ववेद' में विष-निवारण के लिये उपजीका का भी वर्णन आता है।[२९] उपजीका दीमक को कहते हैं, जो बमई (वमी या बांबी) का निर्माण करती है। हे वल्मीक मृत्तिके! तू असुरों की पुत्री है, देवों की बहिन हैं, द्युलोक और पृथ्वी से उत्पन्न हुई है, तू विष को नीरस बना।[३०] इस मिट्टी के विषय में सुश्रुत ने भी कहा है कि अन्य कोई औषध न मिलने पर मिट्टी या वल्मीक (बांबी) की मिट्टी को दूध, घी या मधु के साथ मिलाकर

---

२१. अथर्व० १०.४.३ : अव श्वेत पदा जहि।

२२. धन्वन्तरि निघण्टु : शुक्लार्कस्तनपन: श्वेत:।

२३. कामरत्न, सर्पविषचिकित्सा, ६

२४. चरक चिकित्सा०२३.५६

२५. सुश्रुत, कल्प० ५.१८ : कोविदारशिरीषार्क-कटभीर्वापि भक्षयेत्।

२६. ऐन्द्र० कामरत्न, सर्पविष० १५

२७. भाव० गुडू० ६५-७० पृष्ठ १६९

२८. अष्टांगहृदय, उत्तरस्थान, अध्याय ३७ श्लोक २९-४३

२९. अथर्व० ६.१००.२ : यद् वो देवा उपजीका०।

३०. अथर्व० ६.१००.३ : असुराणां दुहितासि सा देवानामसि स्वसा। दिवस्पृथिव्या: संभूता सा चकर्थारसं विषम्॥

पिलाना चाहिए।[३१] वेदों में विष-चिकित्सा के सम्बन्ध में जब हम सूक्ष्म अध्ययन करते हैं, तो हमें विशेष शोध-सामग्री प्राप्त होती है। जब हम आयुर्वेदादि ग्रन्थों को पढ़ते हैं, तो वहाँ भी वेदों में प्राप्त इन औषधियों का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है।

---

३१. सुश्रुत कल्प० ५.१७ : तदभावे हिता वा स्यात् कृष्णा वल्मीकमृत्तिके।

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २००९ अङ्क ११ (पृ०९२-९५)

वैदिकव्यवस्थायां शिक्षाया: सामाजिकजीवनस्य चावधारणा

डॉ० दीनदयाल वेदालंकार[1]

'शिक्षा' शब्द: 'शिक्ष विद्योपादाने' इति धातो:, टाप्प्रत्यये कृते सति निष्पद्यते। **'शिक्ष्यते उपादीयते विद्या यया सा शिक्षा'** इति शिक्षापदार्थ:। वैदिककाले शिक्षा प्रकाशस्रोतस्विनी आसीत् या जीवनस्य विविधेषु मनुष्यान् सम्यङ् मार्गं निर्दिशति स्म। मनुष्यस्य समाजस्य च बौद्धिक आध्यात्मिकश्च विकास: शिक्षया एव सम्भवति, अत एवैषा खलु मानवस्य श्रेष्ठताया आधारभूता[2]। वर्तमानकाले शिक्षाया: पक्षद्वयं दृश्यते- व्यापक: संकुचितश्चेति। व्यापकपक्षे शिक्षया: प्रयोजनं विद्यते आत्मशुद्धेरात्मविकासस्य च प्रवृत्ति:। संकुचितपक्षे च शिक्षणकाले विद्यार्थिन: प्रशिक्षणं निर्देशनं चेति शिक्षाया: प्रयोजनम्। वैदिकसाहित्येऽपि शिक्षाया एता एव द्वौ पक्षौ **'परा' 'अपरा'** इति व्यपदेशाभ्यां निर्दिष्टौ। भवबन्धननाशयित्री परमतत्त्वस्य च निर्देशिका परा विद्या[3] ऐहिकामुष्मिकाभ्युदयप्रापयित्री च अपरा विद्या। शिक्षाया: जिज्ञासु: विद्यार्थी व्यवस्थापकश्च समाज उभावपि शिक्षाप्रक्रिययाभिन्नरूपेण सम्मिलितौ स्त:। समाजस्य प्रत्येकविद्यार्थिन्यनेकशक्तय: बीजरूपे सन्निहिता भवन्ति। अन्तर्निहितानामेतासां शक्तीनां सर्वाङ्गीण: संतुलितश्च विकास: स्यादित्येततावच्छिक्षाया: प्रथमं लक्ष्यम्। विद्यार्थिन एतादृशं प्रशिक्षणं स्यात् यत् स सामाजिकव्यवस्थानुरूपमाचरेत् समाजस्यापेक्षा आकांक्षाश्च पूरयेदिति तस्या द्वितीयं लक्ष्यम्।

वैदिककाले शिक्षाया: कीदृश्यवधारणासीदिति दिषये कश्चन तादृशो ग्रन्थो नैवोपलभ्यते यस्मिन् शिक्षाविषयकं सकलज्ञानं संगृहीतं स्यात्। समस्तवाङ्मये शिक्षाया: इतस्तत: प्रकीर्णं विषयवस्तु संकलय्य वयं यामाकृतिं निर्धारयाम: सा निश्चयेनापूर्णा, शिक्षाविषयकीञ्च जिज्ञासां शमयितुमसमर्था। सुदीर्घचायं कालो य: समाजस्यावकश्यकतानुरूपमनवरतं परिवर्तते। अत: शिक्षाया यदपि स्वरूपं दृश्यते उत्तरवैदिकसाहित्यमेव तस्याधारभूतम्। विशेषत: स्मृतिसाहित्ये शिक्षाविषयकं यत् संकलनं वर्तते प्राय: तत् पूर्ववर्त्तिनि वैदिकवाङ्मये समुपलभ्यते। शिक्षाया एतत् प्रकीर्णं विषयवस्तु संकलय्य वयं वैदिकीशिक्षाया अधोनिर्दिष्टस्वरूपमेव प्राप्नुम:।

शिक्षणप्रक्रिया

शिक्षयैव मनुष्यस्य व्यक्तित्वस्योत्कर्षो भवति, अत एव वैदिका आर्यजना: शिक्षामतिमहत्त्वपूर्णां मन्यन्ते स्म[4]। आत्मगौरवार्थं तै: वर्णाश्रमव्यवस्थाया: संस्काराणां चाविष्कारो कृत:[5]। संस्कारेषु प्रमुखा: शैक्षणिका:

---

१. वैदिक कर्मकाण्ड विभाग, गु०का०वि०वि०, हरिद्वार.

२. अक्षण्वन्त: कर्णवन्त: सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवु:।। ऋग् १०/७१/७

३. अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते। मुण्डकोपनिषद्

४. विद्ययाऽमृतमश्नुते.......यजुर्वेद ४०,१४

५. वैदिकै: कर्मभि: पुण्यैर्निषेधकादिर्द्विजन्मनाम्। कार्य: शरीरसंस्कार: पावन: प्रेत्य चेह च।। मनु.-२/२६

संस्काराः सन्ति- उपनयनवेदारम्भसमावर्त्तनसंस्काराः। तत्र औपचारिकशिक्षाया आरम्भयासीदुपनयनम्[६]। वस्तुत एतदनन्तरमेव विद्या आरभ्यते स्म। उपनयनान्ते वेदानां ज्ञानाय वेदारम्भसंस्कार[७] आसीत्। शैक्षणिकोऽन्तिमः संस्कारः समावर्त्तनमित्यासीत्,[८] यस्मिन् शिक्षायाः ब्रह्मचर्यस्य च पूर्णता भवति स्म। एषु त्रिषु संस्कारेषूपनयनमतिमहत्त्वपूर्णमनिवार्यञ्चासीत्। यदि कस्यचित् व्यक्तेः यथाकालमेषः[९] संस्कारो न क्रियते तर्हि स समाजात् बहिष्कृते व्रात्य इति भवति स्म[१०]। एते व्रात्याः सावित्रीपतिताः अर्थात् वेदविद्यामधिगन्तुमसमर्थाः, समाजगर्ह्या अपवित्राश्चासन्। एते च आर्यकन्याभिः सह पाणिग्रहणेऽपि अयोग्या मन्यन्ते स्म[११]। एषा वैदिकी परम्परा शनैः शनैः दृढतामवाप्तवती। संस्कारयुतामेतां शिक्षाप्रक्रियामनुसृत्य अधीताश्छात्राः द्विज इत्युच्यन्ते स्म[१२]। पिता आचार्यश्च उभावप्यार्यस्योत्पादकौ। पितृप्रदत्तं जन्म त्वार्यस्य केवलं संभूतिमात्रमेकव परमाचार्यजं ब्रह्मजन्म एवोत्तमं शाश्वतञ्च[१३]। शिक्षायै आगताः वर्णिनः आचार्येण तिस्रः रात्र्यः स्वोदरे धार्यन्ते[१४] स्म। वेदज्ञेनाचार्येण बालकेऽध्यापिते सति या जातिरुत्पद्यते सैव सत्याऽजराऽमरा च कथ्यते[१५]।

शिक्षणव्यवस्था

वैदिके काले शिक्षायाः प्रारम्भ उपनयनसंस्कारात् समाप्तिश्च समावर्त्तनसंस्कारात् भवति स्म।[१६]। अस्यां शिक्षणव्यवस्थायां ब्रह्मचारी सरलतया शिक्षां प्राप्तुं व्यक्तित्वविकासार्थञ्चाचार्यमुपगम्य विद्यां गृह्णाति[१७] स्म। शिक्षकाणां वटूनां च भोजनार्थं भिक्षाया अपरिहार्या व्यवस्थासीत्[१८], तदर्थं समेऽपि वर्णिनो समीपस्थेषु ग्रामेषु

---

६. उप नाम समीप नयन अर्थात् प्राप्त करना वा होना। संस्कारविधि, पृ. ८४

७. वेदारम्भ उसको कहते हैं, जो गायत्री मन्त्र से ले के साङ्गोपाङ्ग चारों वेद के अध्ययन करने के लिये नियम धारण करना।। वही, पृ. ९३

८. समावर्त्तन संस्कार उसको कहते हैं कि जो ब्रह्मचर्यव्रत साङ्गोपाङ् वेदविद्या, उत्तम शिक्षा और पदार्थविज्ञान को पूर्णरीति से प्राप्त होके विवाह विधानपूर्वक गृहाश्रम को ग्रहण करने के लिए विद्यालय को छोड़ के घर की ओर आना।। वही, पृ. ११७

९. गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनयनम्। गर्भदिकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः।। मनु. २/३६ ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे। राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे।। वही -२/३७ आषोडशात् ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते। आद्वाविंशाक्षत्रबन्धोराचतुर्विंशतेर्विशः।। वही - २/३८

१०. अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः। सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः।। वही - २/३९

११. नैतैरपूतैर्विधिवदापद्यपि हि कर्हिचित्। ब्राह्मान्यौनांश्च सम्बन्धानाचरेद् ब्राह्मणः सह।।४०।।।। वही - २/४०

१२. जन्मना जायते शूद्रो संस्काराद् द्विज उच्यते।

१३. ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम्। मनु. २/१४६

१४. आचार्य उपनयमानां ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः। तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः।। अथर्व - ११/५/३

१५. आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद्वेदपारगः। उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साऽजराऽमरा।। मनु. २/१४८

१६. आ समावर्तनात् कुर्यात् कृतोपनयनो द्विजः। मनु. २/१०८

१७. अनेन क्रमयोगेन संस्कृतात्मा द्विजः शनैः। गुरौ वसन्सञ्चिनुयाद् ब्रह्माधिगमिकं तपः।। वही २/१६४

१८. प्रदक्षिणं परीत्याग्निं चरेद् भैक्षं यथाविधि। वही २/४८ भवत्पूर्वं चरेद् भैक्षमुपनीतो द्विजोत्तमः। वही २/४९

नियमेन गच्छन्ति स्म। भिक्षायै गताः ब्रह्मचारिणः दरिद्रीभूय, लज्जाहंकारादिभावान् त्यक्त्वा भिक्षां याचन्ते स्म[१९]। भिक्षया प्राप्तमन्नं भोज्यं वा तेषामेव नासीत्, अतः भिक्षां प्रति मनसि लोभो न संजायते स्म। वर्णिनो भिक्षामादाय गुरवे समर्पयन्ति स्म पुनश्च तैः गुरोराज्ञया एव भिक्षा गृह्यते स्म[२०]। भिक्षया वर्णिभिः सदैव ज्ञायते स्म यत् ते समाजस्य सहानुभूत्या योगदानेन चैव विद्यां सम्प्राप्य आजीविकार्थं सुयोग्याः संजाता; अतस्तं समाजं प्रति तेषां निष्ठा दायित्वं च सर्वदैव भविष्यतीति। एवं वैदिकी शिक्षाव्यवस्था निर्विघ्नं प्रचलति स्म।

शिक्षकः

वैदिककाले शिक्षकस्य पदमतिगरिमामयमासीत्। स ब्रह्मचारिणोऽज्ञानान्धकारं नाशयति। शिक्षकाय 'आचार्य' इति शब्दस्य प्रयोगः क्रियते स्म[२१]। यः तस्य व्यक्तित्वस्य सर्वान् पक्षानुद्भासयति स्म। यास्केनापि अस्मिन्नेवार्थे आचार्यपदस्य निर्वचनं व्यधायि[२२]। यास्कस्य वचनमिदं समाजस्य तत्कालानुरूपामपेक्षां संकेतयति। आचार्यस्य प्रथमं कर्त्तव्यं विद्यार्थिनश्चरित्रनिर्माण आसीत्। आचार्यः स्वयं चरित्रवान् स्यात्, तदेव विद्यार्थिनः तमनुकुर्वन्तः सुसंस्कृताः भवितुं शक्नुवन्ति स्म[२३]। आचार्यस्य द्वितीयं कर्त्तव्यं ब्रह्मचारिणि ज्ञानविषयाणां संचयोऽर्थात् तस्य ज्ञानवर्धनमासीत्। शिक्षणप्रक्रियायामाचार्यो ब्रह्मचारिणः स्वात्मनश्च ज्ञानं निरन्तरं वर्धयति स्म। अज्ञातविषयं ज्ञातुं प्रयास एव आचार्यस्य आचार्यत्वम्[२४]। आचार्यः स्वज्ञानराशिं शिक्षार्थिमनस्स्वधिकाधिकं निक्षिप्तवान्[२५]। विद्यादाने संकोची त्वाचार्य आचार्यो नैव[२६]। आचार्यस्य तृतीयं कर्त्तव्यं वर्णिनो बुद्धेर्विकासोऽज्ञातविषयं ज्ञातुं सामर्थ्योपपादनं चासीत्। तात्कालिक्याः शिक्षणप्रक्रियाया ब्रह्मचारिणि विवेकविचारशक्तेर्विकास एवैकान्तिकमुद्देश्यमासीत्, येन स उचितानुचितविवेकं कुर्यात्।

शिष्यः

शूद्रमतिरिच्य अन्ये वर्णाः शिक्षां प्राप्नुवन्ति स्म। शिष्यत्वमुपयनयनसंस्कारान्ते प्रारभ्यते स्म। अनन्तरं स 'द्विज' इत्युच्यते स्म। शिष्यत्वस्यैष कालो ब्रह्मचर्यकालनाम्ना[२७] ज्ञायते स्म। ब्रह्मचर्याश्रमे प्रवेशात् पूर्वं विद्यार्थिनः प्रवेशपरीक्षा भवति स्म। यतः एवं धारणासीत् यत् विद्या कुपात्राय, निन्दकाय, अनधिकारिणे च नैव दातव्येति[२८]।

---

१९. अथ यदात्मानं दरिद्रीकृत्यैव अहीर्भूत्वा भिक्षते – शतपथ ब्राह्मण

२०. समाहृत्य तु तद्भैक्षं यावदन्नममायया। गुरवेऽश्नीयादाचम्य प्राङ्मुखः शुचिः।। मनु. २/५१

२१. उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः। सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते।। वही २/१४०

२२. आचार्यः कस्मात्? आचार्यः आचारं ग्राहयति, आचिनोति अर्थान्, आचिनोति बुद्धिमिति वा। निरुक्त १/३

२३. सावित्रीमात्रसारोऽपि वरं विप्रः सुयन्त्रितः। नायन्त्रितस्त्रिवेदोऽपि सर्वाशी सर्वविक्रयी।। मनु. २/११८ अन्यच्च- यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि। तैत्तिरीयोपनिषद् शिक्षावल्ली

२४. नाहमिमं वेद। यद्यहमिममवेदिषं कथं ते नावक्ष्यामीति। प्रश्नोपनिषद्

२५. यथा यः यन्ति। यथा मासा अहर्जरम्। एवं मां ब्रह्मचारिणः प्रातरायन्तु सर्वतः। तैत्तिरीयोपनिषद्

२६. आचार्योऽप्यनाचार्यो भवति श्रुतात् परिहरमाणः। आपस्तम्ब धर्मसूत्र

२७. द्वादश वर्षाणि प्रतिवेदं ब्रह्मचर्यं गृहाण वा ब्रह्मचर्यं चर। संस्कारविधि, पृ. ९८

२८. विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि। असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्। निरुक्त २/१

मनसा वाचा कर्मणा गुरो: शुश्रूषां ब्रह्मचारिण: प्रमुखं कर्त्तव्यमासीत्[२९]। तेषां निषिद्धानि कर्माण्यासन् 'मधुमांसलेपाञ्जनोच्छिष्टभोजनाप्रियवचनजीवहिंसाश्लीलादय:।'[३०] अध्ययनाध्यापनस्य मूलविषयो वैदिक्य ऋच एवासन्[३१]।

शिक्षकशिष्यसम्बन्ध:

गुरुं प्रति शिष्यस्य भाषा शालिन्ययुक्ता, समादरसमन्विता, उदात्ता[३२], शिष्यं प्रति च गुरो: भाषा स्नेहनिर्भरासीत्[३३]। उभयोर्व्यवहार: पुत्रं प्रति पितुरिवासीत्[३४]। वैदिके काले वटूनां जन्मद्वयं स्वीक्रियते स्म- प्रथमन्तु मातु: गर्भात्, द्वितीयञ्च उपनयनसंस्कारात्। द्वितीयं जन्म तु गुरो: ज्ञानप्राप्तिरासीत्। मनु: द्वितीयजन्मना **'माता गायत्री पिता आचार्य:'**[३५] इति निर्धारयति। तेन ज्ञायते यद् गुरु: शिष्यै: सह पुत्रवदेवाचरति स्मेति। गुरु: न केवलं विद्यादानमेवाकरोदपितु सामाजिकजीवनमपि जीवितुं शिक्षयति स्म[३६]।

अतो वक्तुं शक्यते यत्र केवलं बुद्धिवैभवं नापि च दुरूहग्रन्थग्रन्थिभेदनमपितु व्यक्ते: सर्वाङ्गविकास एव वैदिकसमाजस्य शिक्षाया उद्देश्यमवर्तत। गुरुमाश्रित: शिष्य: ब्रह्मचर्यपूर्वकं शारीरिकं मानसिकीमाध्यात्मिकीञ्च पूर्णतामलभत। अननैव कारणेनैषा शिक्षणव्यवस्था चरित्रनिर्माणे, व्यक्तित्वविकासे, सामाजिकेऽभ्युदये च सुतरां सफलासीत्।

---

२९. य आतृणत्त्यवितथेन कर्णावदु:खं कुर्वन्नमृतं संप्रयच्छन्। तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत कतमच्चनाह।। वही २/१

३०. वर्जयेन्मधुमांसञ्च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रिय:। शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम्।। अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम्। कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम्।। द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथानृतम्। स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च।। मनु. २/१७७-७९

३१. वेद: कृत्स्नोऽधिगन्तव्य: सरहस्यो द्विजन्मना।। वही २/१६५

३२. वाक्चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता।। वही २/१५९

३३. शरीरं चैव वाचं च बुद्धीन्द्रियमनांसि च। नियम्य प्राञ्जलिस्तिष्ठेद्वीक्षमाणो गुरोर्मुखम्।। वही २/१९२

३४. मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनुचितं ते अस्तु। मम वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्।। संस्कारविधि, पृ. ९१

३५. तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते। मनु. २/१७०

३६. लौकिकं वैदिकं वाऽपि तथाऽध्यात्मिकमेव च। आददीत यतो ज्ञानम्......।। वही. २/११७

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २००९ अङ्क ११ (पृ०९६-१०२)

उपनिषत् साहित्य में अर्थ-तत्त्व

डॉ० योगेश शास्त्री[१]

प्राय: उपनिषद् वेदों के अन्तिम भाग माने गये हैं, तथा इनसे वैदिक शिक्षाओं का सार उपलब्ध हाता है, अत: इनकी संज्ञा वेदान्त है। अन्य शब्दों में रहस्यात्मक ज्ञान वेदान्त है, जिसका अर्थ वेदों की सारभूत विद्या, सूक्ष्म और गुप्त अर्थों क़ी व्याख्या का स्पष्टीकरण है।[२]

उपनिषद् शब्द 'उप' तथा 'नि' उपसर्ग पूर्वक सद् धातु से क्विप् प्रत्यय के योग से निष्पन्न है। सद् धातु का प्रयोग विशरण (विनाश) [३] गति, ज्ञान, गमन और प्राप्ति है।[४] अवसादन (पतन, समाप्ति, दु:ख और शैथिल्य) [५], इन अर्थों में माना गया है। सद् धातु की इस विवेचनानुसार उपनिषदों द्वारा कर्म-बन्धन और अविद्या-विनाश के फलस्वरूप ज्ञानोपलब्धि अभिप्रेत है[६], तथा 'नि' उपसर्ग के योग से सद् धातु बैठने के लिए भी प्रयुक्त है।[७] उपनिषद् शब्द उप+नि+सद् से निष्पन्न है, जिसका अर्थ है - सूक्ष्म ज्ञान अथवा गोपनीय रहस्यों के ज्ञानहेतु आचार्य के समीप बैठना। यास्काचार्य के अनुसार - नि एवं उपसर्ग विनिग्रह के अर्थ में भी प्रयुक्त होते हैं।[८] विनिग्रह का अर्थ है- नियन्त्रण अथवा गमन अर्थात् पूर्ण आधिपत्य जिससे नियन्त्रण हो जाये।

'अर्थ' शब्द लौकिक सुख और पारलौकिक आनन्द को अपने में समाहित किये हुए हैं। धनेश्वर्यो सम्बन्धी जिन भी पदार्थों की कामना की जा सकती है या आदान-प्रदान द्वारा जिस प्रतिफल की आशा या याचना की जा सकती है, वह सब अर्थ में ही समाविष्ट है।[९]

उपनिषदों में अर्थ के लिए धन, रयि, वित्त, वसु, भूति और द्रविण आदि अनेक शब्द प्रयुक्त मिलते हैं। महाशाल, हर्म्य और श्रेष्ठी आदि धनवानों के वाचक शब्द भी उपलब्ध होते हैं।

१.धन-'धन' शब्द भी व्यापक अर्थ का वाचक है। अत: इसके अन्तर्गत स्वर्ण आदि धातुएं, भू-सम्पत्ति, पशु, अन्न आदि परिगणित हैं।

२.रयि:- यह स्वर्णादि धनों का वाचक है।

---

१. कृते प्राचार्य, गुरुकुल कांगड़ी ब्रह्मचर्याश्रम, (विद्यालय-विभाग), हरिद्वार (उत्तराखण्ड)

२ कठोपनिषद् (शांकर-भाष्य) एवं अष्टाध्यायी- १/३/२, ३/२/६१, ६/१/६२

३ सकलमवशं सीदति जगत् - हितोपदेश २/७७

४ सीदन्ति गच्छन्ति अवश्यं इति साक्षी: - प्रमुख उपनिषदों में आचारतत्व मीमांसा पृ०।

५ सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति - गीता १/२९

६ षद्लृ विशम्णगत्यवसादनेषु - धातुवृत्ति पृ० ५८३

७ अष्टाध्यायी - ७/३/७८, १/४/७९, शतपथ ब्राह्मण - ९/४/३/३, अथर्व० (दयानन्द भाष्य) - १९/४१

८ भारतीय दर्शन (पाद टिप्पणी) - पृ० १११

९ अर्थ्यते प्रथ्यते इति अर्थ: (वैदिक सम्पदा पं० वीरसैन वेदश्रमी) - पृ० २१७

३.वित्त-समस्त राशि में से जो भाग ऋण चुकाने के लिए नियत हो, उसकी संज्ञा वित्त है।[१०]

४.भूति (भोग) -यह वह राशि है, जिससे हम अपनी सुख-सुविधाओं को प्राप्त करते हैं।

वस्तुत: अर्थ के प्रति मानव की सहज प्रवृत्ति है, उसका अस्तित्व रक्षण एवं संवर्धन सभी अर्थाश्रित हैं। इसलिए पुरुषार्थ-चतुष्टय में अर्थ को धर्म के तत्काल बाद इंगित किया गया है।

महर्षि मनु के शब्दों में कोई धर्म व अर्थ को कल्याणकारी मानते हैं, कोई काम व अर्थ को तो कोई केवल धर्म को और कोई केवल अर्थ को ही श्रेय मानते हैं। किन्तु धर्म, अर्थ एवं काम इन तीनें का वर्ग अर्थात् त्रिवर्ग ही श्रेयस्कर है।[११] कुछ परवर्ती चिन्तक अर्थ को प्रथम स्थान देते हैं। अर्थशास्त्र प्रणेता आचार्य चाणक्य के अनुसार-सुख का मूल यदि धर्म है, तो धर्म का मूल अर्थ ही है।[१२] उनके मत में अर्थ भूमिवत् प्रधान माना गया है।[१३] अर्थवान् व्यक्ति समस्त लोकों में सम्मान के पात्र माने जाते हैं।[१४] चाणक्य अर्थ को लोक-जीवन का मुख्य प्रवर्तक मानते हैं।[१५] शुक्रनीति में भी अर्थ को धर्म, काम और मोक्ष, इन तीनों का आधार माना गया है।[१६] व्यक्ति अर्थ का दास है, अर्थ किसी का दास नहीं है।[१७]

पुरुषार्थ चतुष्टय में अर्थ का स्थान द्वितीय है, जिसका कारण धर्म शब्द की व्युत्पत्तियों का वैविध्य और संप्रेषणशीलता है।[१८] वेदों ने भी धर्म को प्रथम माना है।[१९] धर्म सनातन और अक्षुण्ण है। कालक्रमानुसार अर्थ का अर्थ बदलता रहता है। संहिता काल में आमोद-प्रमोद, ब्राह्मणकाल में यज्ञ, आरण्यकों में तप एवं उपनिषदों में ज्ञान को सर्वोपरि अर्थ माना गया है। किन्तु धर्म अपरिवर्तनीय है, इसलिए मुकुटमणि धर्म को यहाँ प्रथम स्थान प्राप्त है। अर्थ साधनों में कृषि, वाणिज्य, गौ-रक्षा और विविध-शिल्पों को विशेष महत्त्व दिया गया है।[२०] कहीं विद्या, शूरता, बल और धैर्य के द्वारा अर्थ की प्राप्ति मानी गई है।[२१] स्मृतिकार पाराशर के मत में-कृषि के अतिरिक्त न कोई अर्थ है, न लाभ और न कोई सुख। यदि कृषि धर्मपूर्वक हो और उसकी उपज की समुचित

---

१० वित्यते त्यज्यते अनेनेति अर्थ: (वैदिक सम्पदा) - पृ० २१७

११ धर्मार्थावुच्यते श्रेय: कामार्थौ धर्म एव च। अर्थ एवेह वा श्रेयस्त्रिवर्ग इति तु स्थिति:॥ मनु०२/२२४

१२ सुखस्य मूलं धर्म:, धर्मस्य मूलमर्थ:। चाणक्य सूक्त १ व २

१३. अर्थशास्त्र - ५१/१

१४ अर्थशास्त्र - ५१/१

१५ अर्थशास्त्र - ५१/१

१६ शुक्रनीति ३/१७६

१७ अर्थस्य पुरुषो दास (शुक्रनीति) - ३/१७७

१८ ध्रियते अनेन लोक: हरति लोकं वा, धारणात् धर्म: इति। मनु० (डॉ० सुरेन्द्र कुमार) - ७/२६

१९ तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। ऋग्वेद - १/१६४/४, १०/१०/४

२० महाभारत, शान्ति पर्व - १६७/११

२१ कामसूत्र, अध्याय - १, शुक्रनीति - ३/१७७

वितरण-व्यवस्था हो तो यह सर्वश्रेष्ठ धन बन जाता है।[२२] वर्तमान अर्थशास्त्रियों के मत में - मानव में प्राप्त करने के प्रवृत्ति की तुष्टीकरण ही अर्थ है।[२३] उनके अनुसार अर्थ के अन्तर्गत उन सभी वस्तुओं में जिस पर अधिकार किया जा सकता है, जिसका आनन्द लिया जा सकता है और जो खोई या पाई जा सकती है, तथा गृहप्रबन्ध, परिवार-पोषण, धार्मिक-कर्त्तव्य पालन और जीवन के विभिन्न दायित्वों को सम्पन्न करने के लिए जिनकी सदैव आवश्यकता रहती है।[२४]

उपनिषदों में जहाँ अर्थ की अनिवार्यता और महत्त्व प्रतिपादित है, वहाँ अर्थ-शुद्धता, उसके शुचि-साधन और उसकी संयत भोग-विधियों पर भी बल दिया गया है। इस दृष्टि से औपनिषदिक समाज संयमी और सचेत है। वहाँ आज की भांति येन केन प्रकारेण संग्रहवृति लक्षित नहीं होती है। ईशोपनिषद् का प्रारम्भ ही संयत अर्थ-योजना से होता है। जहाँ समाज की अर्थ-व्यवस्था को दृष्टिगत रखते हुए सचेत किया है कि इस संसार में सम्पूर्ण जड़-चेतन पदार्थ ईश्वर से परिव्याप्त हैं। उनका उपभोग त्यागवृत्ति से करें और किसी के धन का लोभ न करें। यह धन किसका है, अर्थात् यह किसी एक का नहीं, सभी का है। मनुष्य इसे न साथ लाया था और न साथ ले जायेगा। यह यहीं से मिला था, और यहीं रह जायेगा। अत: यह धन यहाँ केवल मात्र संयमपूर्वक भोग का साधनमात्र है। मनुष्य इसका स्वामी नहीं है, इसका स्वामी तो त्रिकालातीत परमेश्वर ही है।[२५]

इस चेतावनी से ज्ञात होता है कि जिस प्रकार ईश्वर सभी का है, उसी प्रकार उसके द्वारा प्रदत्त यह धनादि पदार्थ भी पात्रानुकूल सभी के लिए हैं। अत: उन्हें परस्पर मिल-जुलकर भोगने का विधान है, यहाँ लालच और लूट-खसोट को कोई स्थान नहीं है। धनोपार्जन एवं वितरण दोनों महत्त्वपूर्ण हैं-

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृध: कस्य स्विद्धनम्।।

उक्त मन्त्र में धन के सहज उपयोग का शास्त्र-सम्मत निर्दिष्ट है। 'ईशोपनिषद्' के अन्तिम मन्त्र में धनोपार्जन का धर्म-सम्मत मार्ग दृष्टिगत करते हुए कहा गया है कि ईश्वर हमें धन के लिए सुपथ पर ले चलें अर्थात् परमेश्वर हमारा मार्ग-दर्शन करते हुए सन्मार्ग और न्यायपूर्ण ढंग से ही धनोपार्जन की शक्ति और सामर्थ्य प्रदान करें।[२६]

उपनिषत् साहित्य में अर्थ-तत्त्व के सम्बन्ध में संकेत प्राप्त होता है कि यदि हम अधर्म से धन कमाकर कल्याणकारी धर्माचरण करना चाहे तो, यह सम्भव नहीं है। अत: धनोपार्जन की विधि धनोपयोग से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसके अनुसार श्रमोपार्जित धन और उसका त्यागपूर्वक भोग ही श्रेष्ठ धर्म है।

---

२२ पराशरस्मृति - ५/१८४-१८५, भागवत - १/१५
२३ प्रमुख उपनिषदों में आचार तत्व मीमांसा - पृ० १०४
२४ भारतीय सामाजिक संस्थाएं - पृ० ९५
२५ कस्यस्विद्धनम्। ईशो० - १
२६ अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्। ईशो० - १८

उपनिषत् धन को जीवन का लक्ष्य न मानते हुए भी उसकी व्यावहारिक उपयोगिता को स्वीकारते हैं और उसके उचित उत्पादन तथा भोग का मार्ग बतलाते हैं। यदि व्यक्ति धर्मोपार्जित अर्थ का सदुपयोग नहीं करते तो वे अर्थ की महत्ता अथवा अर्थवत्ता से वंचित रह जाते हैं। वे धन के स्वामी न बनकर मात्र उसके दास बनकर उसके (धन के) संकेतों पर ही नृत्य करते हैं।[२७] इससे स्पष्ट है कि वेदों में अर्थोपार्जन का जो आदेश है, उसी प्रकार उपनिषत् साहित्य भी धर्म एवं पुरुषार्थपूर्वक अर्थ प्राप्ति पर बल देते हैं।[२८] परवर्तीकाल में भी धन के सम्बन्ध में उपनिषदों के यही विचार मान्य थे।[२९] मनु के अनुसार - यदि अर्थ और काम, धर्म के विरोधी हों तो उन्हें तत्क्षण त्याग देना चाहिए।[३०] अशुद्ध धन से प्राप्त सुख, परमार्थ विरोधी होने के कारण त्याज्य है।[३१] पुराण साहित्य भी इन्हीं विचारों की समीक्षा करता है।[३२]

उपनिषदों में बन्धन से छूटकर मुक्ति की ओर जाने का श्रेय मार्ग वर्णित है। औपनिषदीय भाषा में बन्धन और मुक्ति दोनों पुरुष के अर्थ हैं - प्रथम - भौतिक, द्वितीय - अतिभौतिक।

इसके अन्तर्गत जीव का अर्थ मुक्ति ही परमार्थ है, जिसकी सिद्धि पुरुषार्थ से ही सम्भव है। दूसरे शब्दों में अर्थ का अन्यतम अर्थ परमार्थ अर्थात् मोक्ष ही है। यह अर्थ का आध्यात्मिक पक्ष है। भौतिक और आध्यात्मिक उत्कर्ष का सन्तुलन ही उपनिषद् साहित्य में प्राप्त होता है, जिसके द्वारा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, मानव इन चार उद्देश्यों को अर्थसंग्रह और श्रमोपार्जित धनोपार्जन से हृदयंगम कर लेता है। अर्थ मानव की तुष्टि और विभिन्न वस्तुओं को प्राप्त करने की उसकी उत्कंठा व्यक्त करता है, इसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध भौतिक सुखों से अभिप्रेत है। जबकि द्वितीय प्रबलतर पक्ष में अर्थ पुरुषार्थ रूपी भवन में प्रयुक्त नींव का वह पत्थर या लौह-शलाका है, जो प्रत्यक्ष न दृष्टिपात होते हुए भी उसे सुदृढ़ता और आकार प्रदान करता है, क्योंकि भौतिक सुख पूर्ण रूप से अर्थाश्रित हैं। इनकी आपूर्ति भी अर्थ से ही सम्भव है, इसलिए पुरुषार्थ चतुष्टय में अर्थ मनुष्य का द्वितीय श्रमसाध्य प्रयोजन है। जीवन में अनेक कर्तव्य-कर्म, दायित्वों के संपादन हेतु अर्थ की अनिवार्यता स्वयं सिद्ध है। धर्म-कार्य में भी यह अनिवार्य है। अर्थ द्वारा ही धार्मिक आयोजन संपादित होते हैं।[३३] जिनके सम्पादन से मुक्ति का मार्ग प्रशस्त होता है। उपनिषद् अध्यात्म प्रधान होने के कारण प्रमुखतः ब्रह्म, आत्मा, जीवात्मा, ईश्वर, जगत् और मोक्ष का प्रतिपादन करते हैं। लौकिक (व्यावहारिक) पक्ष में वे नीतिशास्त्र, जीवन-मूल्य, आचार-दृष्टि, कर्म और मुक्ति का सम्बन्ध, पुनर्जन्म एवं मोक्ष की अवधारणा के रूप में असत् से सत् की ओर, अन्धकार से प्रकाश

---

२७ महाभारत, वनपर्व - ३३/२४

२८ ऋग्वेद - १/६८/२, २/२८/४, १०/३३/९ (दयानन्द भाष्य)

२९ संस्कारविधि - पृ० ८४ एवं मनुस्मृति - २/६५

३० मनुस्मृति - २/२२४

३१ संस्कारविधि - पृ० १५१, मनुस्मृति - ४/१७३

३२ भागवतपुराण - ११/२३

३३ क) धनात् स्रवति धर्मो हि धारणाद्वेतिनिश्चयः। महा० शान्तिपर्व - ९०/१८ ख) प्राणयात्रापि लोकस्य विना ह्यर्थेन न सिध्यति, महा० शान्तिपर्व - ८/१७

की ओर, मृत्यु से अमरत्व की ओर चलने का मार्ग प्रशस्त करते हैं।[३४] उपनिषदों में आत्मा का निरूपण सर्वोत्तम सत्ता के रूप में प्राप्त होता है।[३५] धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों में से जो मानव अपने जीवन में एक की भी प्राप्ति नहें करते, उनका जीवन अजागल के स्तन के समान निरर्थक है।[३६] अविद्या के कारण ही जीव आत्मा से पृथक् होता है।[३७] वह यहाँ कृषि की भांति पकता और उत्पन्न होता है।[३८] संयमी व्यक्ति ही अपनी आत्मा का कल्याण करने में समर्थ होते हैं, इसलिए इन्द्रिय प्रसाधन से इन्द्रियाकर्षण से बचने हेतु आत्म-ज्ञान के अतिरिक्त उत्तम कोई साधन नहीं है।[३९] नचिकेता समस्त भौतिक सुखों का इसलिए नकार देते हैं, कि उससे आत्म-तत्त्व सदृश अमृत की प्राप्ति सम्भव नहीं।[४०] याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी संवाद भी इस प्रसङ्ग में प्रसिद्ध है।[४१] अतः विवेकीजन पुत्रैषणा, वित्तैष्णा और लोकेषणा सुनियन्त्रित रखते हैं। वस्तुतः भौतिक उपलब्धियों से आत्यन्तिक सुख की प्राप्ति न देखकर ही औपनिषदिक चिन्तन पारमार्थिक सुखों की प्राप्ति के लिए प्रवृत्त दिखाई देता है।

वैश्य वर्ण को 'विशः' कहा गया है। गण रूप में कहे गये वैभवशाली आदित्य, विश्वदेव और मरुतादि देव वैश्यों के प्रतिनिधि माने गये हैं।[४२] कृषि एवं वाणिज्यादि के द्वारा धनोपार्जन हेतु उपयोगिता की दृष्टि से वैश्यगण वसु आदि नाम से तत्समय स्मृत किये गये हैं।[४३] यह वर्ण समाज में प्रतिष्ठित था, और इसके मुख्य व्यवसाय धनोपार्जक-कृषि, पशु-पालन, वाणिज्यादि उद्योग थे।[४४] उपनिषत्काल में कृषि-व्यवस्था विकसित हो चुकी थी, और सिंचाई-व्यवस्था का भी प्रबन्ध था।[४५] कृषि का आधार पशु-पालन भी उन्नत दशा में था।[४६] सोना उगलने वाले उर्वर विस्तृत भू-भाग में बसकर आर्य लोग कृषि-कर्म में निमग्न हो गये थे और कृषि-कार्य में दक्षता और उन्नत कृषि के नये-नये ढंग खोजते रहते थे।[४७] अन्नोत्पादन के प्रति औपनिषदिक समाज सर्वोपरि सम्पदा के रूप में प्रतिष्ठित था।[४८] वस्तुतः वैश्यवर्ण तत्कालिक अर्थ-व्यवस्था का मेरुदण्ड दिखाई देता है, जो

---

३४ असतो मा सद् गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतं गमयेति - बृ०उ० १/३/२७-२८

३५ दि प्रिंसिपल उपनिषद् - ७३

३६ धर्मार्थकाममोक्षाणां यस्यैकोऽपि न विद्यते। अजागलस्तनस्येव तस्य जन्म निरर्थकम् (नीतिसंग्रह)

३७ योगदर्शन - २/५

३८ सस्यमेव मर्त्यः पचते सस्यमिव जायते पुनः। कठोपनिषद् - १/१/६

३९ मुण्डकोपनिषद् - ११/४-५

४० कठोपनिषद् - १/२/६

४१ बृ०उप० - २/४/२

४२ बृ०उप० - १/४/१२

४३ बृ०उप० -१/४/१२ (शंकर भाष्य)

४४ छान्दोग्योपनिषद् - १/१०/७

४५ छान्दोग्योपनिषद् - ६/२/४१

४६ ऐत० आ० ५/१/१

४७ छान्दोग्योपनिषद् - १/१/३

४८ अन्नं बहु कुर्वीत, तै०उप० - ३/९/१

व्यवसाय द्वारा धनोपार्जन कर राष्ट्र को अभाव मुक्त रखता था।

विप्रजन स्वाध्याय, यज्ञ और दानादि में निरत रहते हुए आत्म-तत्त्व का अनुसंधान करते थे, तथा राजाओं के द्वारा उन्हें यथेष्ट धन मिलता था।[४९] क्षत्रियों की भौतिक सम्पदा का अनुमान ब्राह्मणों को प्रदत्त दान-दक्षिणा और बृहद् यज्ञ आयोजनों से हो जाता है, जो प्रभूत सम्पदा के स्वामी दृष्टिगत होते हैं।[५०] तत्कालीन शूद्रवर्ण का भी प्रथम तीनों वर्णों को व्यवसायों, उद्योगों एवं कृषि-कार्यों में सहयोग परिगणित होता है। गृहस्थ-संचालन हेतु अर्थोपार्जन आवश्यक है, प्रजापति का 'द' अक्षर दया, दान और दमन का उपदेश भी उपनिषत्कालीन अर्थ-व्यवस्था का स्तम्भ है।

उपनिषत्काल में शिक्षा-व्यवस्था के अन्तर्गत गुरुकुलों का व्यापक प्रसार दिखाई देता है, जिसमें बालक-बालिकाओं की शिक्षा-व्यवस्था उन्नत दशा में दृष्टिगत होती है। ब्रह्मवादिनियों की एक समृद्ध परम्परा मिलती है, जो अतिविदुषी और वेद व्याख्याता भी होती थीं।[५१] वे वेदाध्ययन करते समय सांसारिक आकर्षणों से दूर रहकर राज-सभाओं में अपने ज्ञान का उद्घोष करती थीं।[५२] मैत्रेयी और याज्ञवल्क्य गार्गी-संवाद अनूचानत्व का प्रमाण है।[५३] महाभाष्य-साक्ष्य से ज्ञात होता है कि तत्कालीन नारियाँ उपाध्याया होती थीं और गुरुकुलों में व्याकरण तथा मीमांसा पढ़ाती थी। कन्या गुरुकुलों की व्यवस्थाएं आचार्याएं ही संचालित करती थीं। इससे ज्ञात होता है कि उन्हें समाज या राज्य की ओर से आवश्यक वेतनवृत्ति अवश्य प्राप्त होती होगी, जो तत्समय की अर्थोपार्जनता का प्रमाण है। उपनिषदों में नारियों की सेवावृत्ति के भी कतिपय प्रमाण उपलब्ध होते हैं, जो तत्कालीन अर्थ-तत्त्व का एक प्रबल पक्ष है।

सौन्दर्य-प्रसाधन और परिधान-प्रसाधन की दृष्टि से उपनिषत्काल ऋग्वैदिककाल से साम्य रखता है तथा कताई-बुनाई का वर्णन भी यहाँ प्राप्त होता है। औपनिषदिक समाज में रंगीन परिधान और वस्त्रों का प्रचलन प्राप्त होता है।[५४] कौशेय और ऊनी वस्त्रों का भी पर्याप्त वर्णन है। वस्त्राभूषणादि से सज्जित होना भी तत्कालीन समाज का गौरव है। इन्द्र और विरोचन दोनों आचार्य प्रजापति के पास वस्त्र और आभूषणों से अलंकृत होकर ज्ञान प्राप्ति हेतु जाते हैं।[५५] आरुणी राजा प्रवाहण से विद्या की याचना करते हुए अपने परिधान और स्वर्णालंकारों की श्रेष्ठता का आख्यान करते हैं।[५६] राजा जानश्रुति श्रुति ज्ञान प्राप्ति हेतु ऋषि रेवक की सेवा में अमूल्य वस्त्राभूषण अर्पित

---

४९ बृ०उप० - ३/१/१
५० बृ०उप० - ४/१/२
५१ बृ०उप० - ३/६/१
५२ बृ०उप० - ३/८/२
५३ बृ०उप० - ३/८/१ - १२
५४ छान्दोग्योपनिषद् - ८/८/५
५५ छान्दोग्योपनिषद् - ८/८/२, ८/२/३
५६ बृ०उप० - ६/२/७

करते हैं।[५७]

उपनिषदों में लोहमणी नामक अलंकार का भी वर्णन है,[५८] जो कण्ठाहार अथवा स्वर्ण-निष्क भी पहना जाता था।[५९] कठोपनिषद् में भी अलंकारों का भव्य वर्णन है। शोभा-प्रसाधनों में माला आदि का भी प्रचलन प्राप्त होता है, जिसके द्वारा ब्रह्मविदों और तपस्वियों का आदर सत्कार किया जाता था।[६०] आमोद-प्रमोद के साधनों में गायन, वादन और नृत्य को तत्समय प्रमुख स्थान था।

वस्तुतः तत्कालीन वस्त्रोद्योग, सौन्दर्य-प्रसाधन और अलंकार निर्माण उन्नत रूप में दृष्टिगत होते हैं, जो अर्थ-तत्त्व की समृद्धता को इंगित करते हैं।

भोजन में अन्न, दूध, दही, शाक, फल, ओदन, क्षीरोदन, पुआ, तिलोधन तथा लवण का प्रयोग भी परिगणित है, जो सात्विक, शाकाहार भोजन एवं समृद्ध अर्थ-तत्त्व को सुदृढ़ करता है। औपनिषदिक सामाजिक परिवेश में वर्णाश्रम-व्यवस्था, पारिवारिक संगठन, सुदृढ़ शिक्षा, अर्थ-व्यवस्था के आधार स्तम्भ हैं।

उपसंहार

इस आर्थिक अन्वेषण से स्पष्ट होता है कि अर्थ में नैतिक और भौतिक दोनों ही मूल्य मुख्यतः अभिप्रेत हैं। अतः अर्थ की महत्ता न्यायपूर्वक अर्जन और नीतिपूर्वक उपभोग में ही देखी जा सकती है। अन्यथा यह अभावात्मक मूल्य में परिणत होकर जीवनोद्देश्य के बाधक तत्त्व बन जाते हैं। **'पुरुषस्य अर्थः पुरुषार्थः'** अर्थात् पुरुष का प्रयोजन या लक्ष्य ही उसका अर्थ है तथा उसका परम अर्थ मोक्ष कहलाता है।

वस्तुतः मनुष्य की आर्थिक और भौतिक वाञ्छायें सभी अर्थ-पोषित हैं, यही सुख-सुविधाओं का साधन है, जो भौतिक सुख और अलौकिक आनन्द में सहायक है। इसलिए आचार, व्यवहार एवं सदाचार को अंगीकृत करते हुए अर्थ को धर्म और काम का आधार मानकर मनुष्य को धनोपार्जन की प्रवृत्ति को जागृत कर मन की सहज आकांक्षाओं और वृत्तियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए पुरुषार्थपूर्वक अर्थ का उपार्जन करना चाहिए तथा त्यागपूर्वक मोक्ष-मार्ग को निर्द्वन्द्व बनाते हुए मनोवांछित पदार्थों को प्राप्त कर तथा परिकल्पित क्षितिजों को छूकर अर्थ रूपी जीवनयात्रा का रथी बनकर इन्द्रिय आदि विषयों को शमन करते हुए जीवन को नई दिशा और संज्ञा प्रदान कर मुमुक्षु बनकर अमरत्व-प्राप्ति ही चरम लक्ष्य अभिप्रेत है।

---

५७ छान्दोग्योपनिषद् - ४/२/३, ४/२/४-५

५८ छान्दोग्योपनिषद् - ६/८/२

५९ छान्दोग्योपनिषद् - ४/२/१ -२

६० कठोपनिषद् - ११/१/१५ -१६ एवं केनोपनिषद् - ४/१२

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २००९ अङ्क ११ (पृ०१०३-१०७)

योग का लक्ष्य

(पारम्परिक एवम् आधुनिक)

प्रो० त्रिलोक चन्द[1]

यज्ञ एवं योग भारतीय धर्म और अध्यात्म में मुख्य स्तम्भ के रूप में हैं। योग का वर्णन वेदों, उपनिषदों, भारतीय दर्शनों, गीता आदि ग्रन्थों में मुख्य रूप से किया गया है। भारतीय चिन्तन में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ माने गये हैं, जिसमें अन्तिम और परम पुरुषार्थ मोक्ष को ही रखा गया है। भारतीय दर्शनों का लक्ष्य भी चार्वाक-दर्शन को छोड़कर, मोक्ष की प्राप्ति ही है।

योग, मोक्ष प्राप्ति का एक मुख्य एवं क्रियात्मक साधन है। योग की अनेक परिभाषायें दी गई हैं। 'योगदर्शन' में महर्षि पतञ्जलि ने योग का लक्षण करते हुए कहा है कि 'चित्त की वृत्तियों का निरोध योग है,[2] जिसके परिणामस्वरूप मोक्ष की प्राप्ति होती है। 'गीता', योग का एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें योग की कई परिभाषायें दी गयी हैं। कर्मयोग की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि 'कर्मों में कुशलता योग है'।[3] 'गीता' में ही दूसरे स्थान पर कहा गया है कि 'समत्व ही योग कहलाता है'।[4] 'गीता' में ही योग की एक अन्य परिभाषा देते हुए कहा गया है कि 'योग दुःखरूप संसार के संयोग से रहित है'।[5] इस प्रकार और भी योग की अनेकों परिभाषायें दी गई हैं। उसी प्रकार योगसाधना के भी अनेक प्रकार हैं, जैसे राजयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग, तन्त्रयोग, पूर्णयोग आदि।

इस प्रकार हम देखते हैं कि योग मुख्य रूप से एक अवस्था विशेष का नाम है, जिसमें आत्मा अपने स्वरूप में स्थित होता है।[6] स्वरूपावस्था की सिद्धि होने पर व्यवहारकाल में भी उसके सब व्यवहार आत्मानुकूल ही होते हैं। इस अवस्था की प्राप्ति के लिए अर्थात् योग की प्राप्ति के लिए जो साधना, अभ्यास किया जाता है उसे योगसाधना या योगाभ्यास के नाम से जाना जाता है। व्यवहार में योगाभ्यास को भी योग के नाम से कहा जाने लगा।

योग एक अति प्राचीन क्रियात्मक विद्या है। भारतवर्ष में प्राचीनकाल से ही ऋषि, मुनि, साधु, महात्मा, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी आदि सभी योगाभ्यास करते रहे हैं। यहाँ तक कि राजा-महाराजा भी

---

१. प्रोफेसर, दर्शन-विभाग, गुरुकुल कांगड़ी वि०वि० हरिद्वार, उत्तराखण्ड
२ योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। योगसूत्र -१/२
३ योगः कर्मसु कौशलम्। गीता -२/५०
४ समत्वं योग उच्यते। गीता -२/४८
५ तं विद्याद् दुःसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्। गीता-६/२३
६ तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्। योगसूत्र-१/३

ब्राह्ममुहूर्त में जागृत होकर योगाभ्यास किया करते थे। पारम्परिक विचारधारा के अनुसार योग का लक्ष्य उस अवस्था को प्राप्त करना है, जिसे प्राप्त करके जीवात्मा समस्त दु:खों से छूट जाता है। समस्त क्लेशों, बन्धनों, वासनाओं से मुक्त हो जाता है। समस्त संस्कार दग्धबीजकल्प हो जाते हैं। इस अवस्था को मोक्ष, कैवल्य, निर्वाण आदि-आदि नामों से कहा जाता है। वास्तव में यह एक ऐसी अवस्था है जिसका पूर्णरूप से हम शब्दों में वर्णन नहीं कर सकते हैं। गूंगे का गुड़ जैसी अवस्था है, परन्तु हमारे पास वाणी और लेखनी है, जिनसे हम उस अवस्था को कहने का प्रयास करते हैं। इसी अवस्था की प्राप्ति को भारतीय चिन्तन के अनुसार मानव जीवन की प्राप्ति का परम लक्ष्य कहा गया है। यही परम पुरुषार्थ मोक्ष है। मानव शरीर प्राप्त करके मोक्ष को प्राप्त करने के लिए बार-बार कहा गया है। इसका कारण यह है कि मोक्ष की प्राप्ति केवल और केवल मानव चोले को प्राप्त करके ही की जा सकती है। जब भी कोई जीवात्मा मोक्ष की प्राप्ति करता है, वह केवल मानव योनि को प्राप्त करके ही कर सकता है। कारण यह है कि ज्ञान केवल मानव जीवन में ही प्राप्त किया जा सकता है और **'विना ज्ञान के मुक्ति नहीं होती'**[७]। मुक्ति प्राप्त करके जीवात्मा जन्म-मरण के चक्र से छूट जाता है। यह अवस्था शरीर, प्राण, इन्द्रियों, मन, बुद्धि, से परे की अवस्था है। इस अवस्था की सिद्धि होने पर शरीर, प्राण, इन्द्रियां, मन, बुद्धि, सब आत्मा के अनुसार कार्य करते हैं। इस तथ्य को 'कठोपनिषद्' में निम्नलिखित उदाहरण से बड़े सुन्दर ढंग से समझाया गया है कि शरीर एक रथ के समान है। जिसमें पांच ज्ञानेन्द्रिय रूपी घोड़े जुड़े हैं, जिनकी लगाम मन है और सारथि बुद्धि है और शरीर रूपी रथ का स्वामी आत्मा इस रथ में विराजमान है। अब यदि इन्द्रियाँ रूपी घोड़े मन रूपी लगाम के द्वारा बुद्धि रूपी सारथि के वश में हैं और बुद्धि रूपी सारथि आत्मा के वश में है तो ठीक प्रकार से आत्मारूपी स्वामी अपने लक्ष्य पर पहुंच जायेगा, परन्तु यदि वश में नहीं है तो दुर्गति को प्राप्त होगा। आत्मावस्था की सिद्धि होने के पश्चात् इन्द्रियां, मन आदि आत्मा के अनुसार कार्य करेंगे। परिणाम स्वरूप मोक्ष की प्राप्ति होगी। इस प्रकार यह पहली स्थिति होगी, ऐसा न होने पर दुर्गति होगी। मोक्षावस्था को प्राप्त कर लेने पर बाह्य जीवन में संघर्ष होते हुए भी वह मनुष्य जल में कमल की तरह से रहेगा। वह समस्त क्लेशों, वासनाओं राग आदि से रहित होकर अपने वर्णाश्रम के अनुसार स्वभाविक रूप से अपने कर्तव्य कर्मों को करता रहेगा, पर वैराग्य से प्रसादमात्र अर्थात् बुद्धि सर्व सांसारिक विषयों की तृष्णा से रहित हो जाती है। जिसके उदय हो जाने के पश्चात् विवेक ज्ञान होने पर योगी इस प्रकार मानता है- 'जो प्राप्त करने योग्य था वह मैंने प्राप्त किया, नाश करने योग्य क्लेश नष्ट हो गये, संसाररूपी चक्र जो जन्म-मरण का प्रवाह है, उसकी संधियाँ कट गयीं, जिनके न कटने से उत्पन्न होकर मरता और मरकर उत्पन्न होता है।'[८] इस अवस्था की अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति के लिए परम्परा रूप में योगाभ्यास करने की बात कही गयी है। अत: योगाभ्यास करने का परम्परागत लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति करना है। इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए योगाभ्यास किया जाता रहा है।

आधुनिक लक्ष्य:- योग के परम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करने के लिए जो योगाभ्यास किया जाता रहा है

---

७ ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः

८ व्यासभाष्य, योगसूत्र-१/१६

उसे अन्य लाभ भी होते हैं। इससे शरीर, प्राण, इन्द्रियां, मन, बुद्धि स्वस्थ और बलवान् होते हैं। इनमें विशेष शक्ति उत्पन्न हो जाती है। यमों और नियमों का पालन करने से बाह्य और अन्तःकरण शुद्ध हो जाते हैं। प्राचीन काल में तो मोक्षप्राप्ति के लक्ष्य को ध्यान में रखकर साधना की जाती थी। यहाँ तक कि साधना करते हुए यदि कोई सिद्धि प्राप्त भी हो जाती थी तो उसके प्रदर्शन के लिए भी मना किया गया है। योगदर्शनानुसार 'सिद्धियाँ समाधि में विघ्न हैं'।[९] 'भक्तिसागर' में चरणदास ने कहा है कि 'सिद्धियाँ कह रहा हूं। इन्हें अच्छी तरह समझ लेवें। जो मोक्ष के अभिलाषी हैं, वे इनमें न उलझें अर्थात् इनसे बचें'।[१०] मोक्षाभिलाषियों को सिद्धियों से बचना चाहिए।

आधुनिक समय में योग-साधना का उपयोग मोक्ष के अतिरिक्त अन्य लाभों के लिए भी हो रहा है। मैंने स्वयं सन् १९७४ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी में पी-एच०डी० का कार्य करते हुए वहाँ के तत्कालीन कुलपति डॉ० के० एल० श्रीमाली जी को इस विषय में एक पत्र दिया था जिसमें लिखा था कि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय को सर्वविद्या की राजधानी कहा जाता है तो इसमें योगविद्या का भी विभाग होना चाहिए, क्योंकि योग एक बहुत बड़ा विज्ञान है। जिस प्रकार अन्य सब प्रकार के विज्ञान अनेक-अनेक प्रकार की सुविधा प्रदान करके मानवजाति की सेवा कर रहे हैं, उसी प्रकार योग-विज्ञान भी मानवजाति की अत्यधिक सेवा करने में समर्थ है। उदाहरण के रूप में चिकित्सा-विज्ञान जो कि शारीरिक और मानसिक रोगों को दूर करने के लिए है। योग-विज्ञान तो शारीरिक और मानसिक रोगों का निवारण कर स्वास्थ्य भी प्रदान करता है। बौद्धिक क्षेत्र, सामाजिक क्षेत्र, राजनैतिक क्षेत्र एवं धार्मिक क्षेत्र आदि में भी योगदान करता है। इस पत्र के परिणामस्वरूप काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में फरवरी १९७५ में योगकेन्द्र की स्थापना हुई थी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि योग के दो लक्ष्य हो जाते हैं, जिन्हें हम निम्न रूप में दर्शा सकते हैं-

योग का लक्ष्य						
आध्यात्मिक (मोक्ष प्राप्ति)				लौकिक उपलब्धियां		
शारीरिक	प्राणिक	ऐन्द्रियिक	मानसिक	बौद्धिक	सामाजिक	राजनीतिक

१.शारीरिक स्तर पर योग के द्वारा शारीरिक बल बढ़ाने, विभिन्न प्रकार के शारीरिक रोगें को दूर करने में बड़ा उपयोगी है। हठयोग में तो यहाँ तक कहा गया है कि 'आसन और प्राणायाम के अभ्यास से शरीर में कृशता, मुख पर प्रसन्नता, नाद की स्फुटता, दोनों नेत्रों में सुनिर्मलता, शरीर-स्वास्थ्य, वीर्य की स्थिरता, जठराग्नि की

९ ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः। योगसूत्र-३/३७

१० चरणदास सिद्धै कही, समझ लेहि मनमाहि। जो हैं जनओं राम के, इनमें उरझैं नाहि॥ -चरणदास भक्तिसागर, दोहा सं०-२५९, पृ०-१२९.

तीव्रता तथा नाड़ियों की विशुद्धता अनुभव होने लगे, तब भविष्यत् में शीघ्र ही सिद्धिलाभ होगा, ऐसा अनुमान लगाना योग्य है।"[११] मनुष्य को योग के द्वारा सुन्दर बनाया जा सकता है जैसा कि श्री अरविन्द ने श्री अरविन्द-गाथा में कहा है कि 'प्राणायाम करने से मेरा शरीर पुष्ट और गौरवर्ण होने लगा था'[१२] योगाभ्यास द्वारा व्यक्ति दीर्घायु होता है। हमारे ऋषि-मुनि दीर्घजीवी हुए हैं, इसका कारण योग साधना है।

२.प्राणिक स्तर पर योगाभ्यास द्वारा मनुष्य अपनी प्राणिक शक्ति की वृद्धि करता है 'प्राण को अपने वश में कर लेता है जिससे मन और इन्द्रियाँ भी स्वाधीन होते हैं'।[१३]

३.इन्द्रियों के स्तर पर योगाभ्यास से इन्द्रियों की शक्ति बढ़ती है और इन्द्रियाँ मनुष्य के वश में हो जाती हैं तथा इन्द्रियों के दोष दूर हो जाते हैं। जैसा कि कहा गया है कि 'जैसे सोने, चांदी आदि धातुओं को अग्नि में तपाने से उनके मल भस्म हो जाते हैं उसी प्रकार प्राणायाम से इन्द्रियों के दोष नष्ट हो जाते हैं।'[१४]

४.मानसिक स्तर पर हम योग के द्वारा मन की एकाग्रता की वृद्धि करते हैं और 'ज्यों-ज्यों मन एकाग्र होता जाता है त्यों-त्यों मन की शक्ति बढ़ती जाती है'[१५]। योगदर्शन में विभूति पाद में जो सिद्धियों का वर्णन किया गया है, उनकी प्राप्ति में मन की एकाग्रता का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। कहा गया है कि 'प्राणायाम से यह योग्यता आ जाती है कि मन जिस-जिस विषय में लगाया जाता है, उस-उस में एकाग्र होता है। विक्षेप को प्राप्त नहीं होता'[१६]।

५.बौद्धिक स्तर पर योगाभ्यास से मनुष्य अपनी बौद्धिक क्षमता की वृद्धि कर सकता है। वह बुद्धि को तीव्र कर सकता है जैसा कि 'सत्यार्थप्रकाश' के तृतीय समुल्लास में कहा गया है कि 'बल पुरुषार्थ बढ़कर बुद्धि तीव्र सूक्ष्मरूप हो जाती है कि जो बहुत कठिन और सूक्ष्म विषय को भी शीघ्र ग्रहण करती है। इससे शरीर में वीर्य, वृद्धि को प्राप्त होकर स्थिर बल, पराक्रम, जितेन्द्रियता, सब शास्त्रों को थोड़े ही काल में समझकर उपस्थित कर लेगा'।[१७] श्री अरविन्द ने कहा है कि 'प्राणायाम करने से उनका मस्तिष्क आलोकमय हो उठा, जिसे ज्योतिर्मय मन कहते हैं। मन में दीप्ति और शक्ति आ गई थी। कविता लिखने की क्षमता बेहद बढ़ गयी। पहले जहाँ महीने में दौ सौ पंक्तियाँ लिख पाता था, वहाँ अब उतनी ही पंक्तियाँ आधे घंटे में लिखने लगा। अनुभव करता था, मानो विद्युत् का प्रभाव मुझे घेरे रहता है। शायद इसीलिए प्राणायाम करते समय असंख्य मच्छरों के मंडराते रहने पर भी मुझे नहीं काटते थे'।[१८]

---

११ श्री स्वात्माराम योगी, योगप्रदीपिका, श्लोक-७८, पृ०-२८

१२ नीरदवरण, श्री अरविन्द-गाथा-पृ०-४९

१३ महर्षि दयानन्द सरस्वती प्रकाश तृतीय समुल्लास-पृ०-२८

१४ दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां च यथा मलाः। तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्। मनुस्मृति-७/१

१५ स्वामी विवेकानन्द, विवेकानन्द साहित्य का राजयोग।

१६ मनो यत्र यत्र धार्यते तत्र तत्र स्थिरी भवति न विक्षेपं भजते। भोजवृत्ति, योगसूत्र-२/५३

१७ महर्षि दयानन्द सरस्वती, सत्यार्थ प्रकाश, तृतीय समुल्लास, पृ०-२८

१८ नीरद वरण, श्री अरविन्द गाथा-पृ०-४८

६.सामाजिक स्तर पर भी योग से बहुत लाभ होता है। यम और नियम के पालन से समाज में सुख-शान्ति की वृद्धि होती है। हिंसा, झूठ, चोरी, बलात्कार की घटनाओं में कमी होती है, स्वार्थ-परता कम होती है। समाज में सामंजस्य की वृद्धि होती है। धार्मिकता बढ़ती है। विश्वशान्ति के लिए यम का पालन बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसी प्रकार आत्मशान्ति के लिए नियम का पालन आवश्यक है।

७.राजनैतिक स्तर पर भी योग हमारी सहायता करता है। यदि शासक और प्रशासक यम और नियम का पालन करने और कराने वाले होंगे, शुद्ध विचारों वाले होंगे तो न्यायपूर्वक कार्य करेंगे, भ्रष्टाचार नहीं होगा, राम राज्य की कल्पना साकार होगी, शासन व्यवस्था अधिक से अधिक श्रेष्ठ होगी। विदेहराज जनक और योगेश्वर श्री कृष्ण जैसे राजा हमारे सामने उदाहरण के रूप में है। इनके अतिरिक्त वैश्विक शान्ति बढ़ाने, वैज्ञानिक आदि किसी भी विषय में नई खोजों आदि में योग का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि योग का योगदान विभिन्न क्षेत्रों में है। योग दर्शन भी है, मनोविज्ञान भी है और विज्ञान भी है। परन्तु यह सत्य है कि लौकिक स्तर पर व्यक्तिगत रूप में योग से जो लाभ होते हैं, वे सारे मिलकर भी मोक्ष रूपी लाभ के सामने इतने ही हैं जितना कि समुद्र में से एक लोटा जल। जिस जीवात्मा को मोक्षरूपी समुद्र जैसी प्राप्ति का लाभ होता है, उसका महत्त्व तो वर्णनातीत है। हाँ, यदि योग का उपयोग मोक्ष के साथ-साथ अन्य उपलब्धियों के लिए भी किया जाता है तो इसमें मेरे विचार से कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। जो मोक्ष प्राप्त करना चाहें वे उस लक्ष्य की प्राप्तिहेतु योग-साधना करें, परन्तु जिनकी मोक्ष-प्राप्ति में कोई रुचि नहीं है, जो चार्वाकवादी हैं ऐसे मनुष्य भी योग का किसी न किसी रूप में रोग आदि की निवृत्तिहेतु या अन्य किसी लक्ष्य की प्राप्तिहेतु योगाभ्यास करें तो इससे विश्व को अनेक प्रकार से लाभ होगा और योग का प्रचार-प्रसार भी बढ़ेगा।

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २००९ अङ्क ११ (पृ०१०८-११४)

स्वामी दयानन्द के अनुसार बन्धन और मोक्ष की अवधारणा

भारत वेदालंकार[१]

स्वामी दयानन्द जीवात्मा के बन्धन का कारण अन्य दर्शनों की भांति अविद्या (अज्ञान) को ही मानते हैं। इनके अनुसार मनुष्य अविद्या से युक्त कर्म करने के कारण बन्धन में आता है और विद्या से युक्त ज्ञान, कर्म और उपासना करने से मोक्ष को प्राप्त करता है। स्वामी जी 'सत्यार्थ-प्रकाश' के नवम समुल्लास में विद्या और अविद्या दोनों का ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य बताते हैं। दोनों का स्वरूप इस प्रकार से बतलाते हैं कि जो मनुष्य विद्या और अविद्या के स्वरूप को साथ ही साथ जानता है, वह अविद्या अर्थात् कर्मोपासना से मृत्यु को तर के विद्या अर्थात् यथार्थ ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त होता है।[२] इससे विपरीत अर्थात् अनित्य में अनित्य और नित्य में नित्य, अपवित्र में अपवित्र और पवित्र में पवित्र, दुःख में दुःख, सुख में सुख, अनात्मा में अनात्मा और आत्मा में आत्मा का ज्ञान होना विद्या है:- **'वेति यथावत्तत्त्वं पदार्थस्वरूपं यया सा विद्या- यया तत्त्वस्वरूपं न जानाति भ्रमादन्यस्मिन्नन्यन्निश्चिनोति साऽविद्या।'** जिससे पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का बोध हो वह विद्या और जिससे तत्त्वस्वरूप न जान पड़े अन्य में अन्य बुद्धि हो वह अविद्या कहाती है अर्थात् कर्म और उपासना अविद्या इसलिए है कि यह बाह्य और अन्तर्क्रिया विशेष है; ज्ञानविशेष नहीं। इसी से मन्त्र में कहा है कि विना शुद्ध कर्म और परमेश्वर की उपासना से मृत्यु दुःख से पार कोई नहीं होता अर्थात् पवित्र कर्म, पवित्रोपासना और पवित्र ज्ञान से ही मुक्ति और अपवित्र मिथ्याभाषणादि कर्म, पाषाणमूर्त्यादि की उपासना और मिथ्याज्ञान से बन्धन होता है।[३]

इसी प्रकार परमेश्वर की उपासना करके, अविद्या आदि क्लेश तथा अधर्म्माचरण आदि दुष्ट गुणों को निवारण करके, शुद्ध विज्ञान और धर्मादि शुभ गुणों के आचरण से आत्मा की उन्नति करके, जीव मुक्ति को प्राप्त हो जाता है।[४]

इस विषय में प्रथम योगशास्त्र का प्रमाण स्वामी जी देते हैं। चित्त की पांच वृत्तियों को यथावत् रोकने और मोक्ष के साधन में सब दिन प्रवृत्त रखने से, नीचे लिखे हुए पांच क्लेश नष्ट हो जाते हैं।[५] पञ्च क्लेश ये हैं- (१) अविद्या, (२) अस्मिता, (३) राग, (४) द्वेष, (५) अभिनिवेश।

उनमें से अस्मितादि चार क्लेशों और मिथ्याभाषणादि दोषों की माता अविद्या है, जो कि मूढ़ जीवों को अन्धकार में फंसा के जन्ममरणादि दुःखसागर में सदा डुबाती है, परन्तु जब विद्वान् और धर्मात्मा उपासकों की

---

१. श्रद्धानन्द वैदिक शोधसंस्थान, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार.

२. विद्यां चाविद्यां य यस्तद्वेदोभयं सह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।। ईशो० १/११

३. सत्यार्थप्रकाश- महर्षि दयानन्द सरस्वती कृत- नवम समुल्लास पृ०-१५८

४. ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका- स्वामी दयानन्द सरस्वती- मुक्ति विषय पृ०- १९८

५. अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः। योग० २/३

सत्यविद्या से, अविद्या विच्छिन्न अर्थात् छिन्न-भिन्न होके नष्ट हो जाती है, तब वे जीव मुक्ति को प्राप्त हो जाते हैं।[६]

(१) अविद्या

अविद्या के लक्षण ये हैं- अनित्य अर्थात् कार्य्य (जो शरीर आदि स्थूल पदार्थ तथा लोकलोकान्तर) में नित्यबुद्धि तथा जो नित्य अर्थात् ईश्वर, जीव, जगत् का कारण क्रिया क्रियावान्, गुण-गुणी और धर्म-धर्मी है, इन नित्य पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध है, इनमें अनित्यबुद्धि का होना, यह अविद्या का प्रथम भाग है।[७] इसी योगसूत्र का भावार्थ स्वामी जी सत्यार्थ प्रकाश के बन्धन मोक्ष प्रकरण में इस प्रकार लिखते हैं-'जो अनित्य संसार और देहादि में नित्य अर्थात् जो कार्य जगत् देखा सुना जाता है; सदा रहेगा, सदा से है और योगबल से यही देवों का शरीर सदा रहता है वैसी विपरीत बुद्धि होना अविद्या है।'[८]

'अशुचि' मल-मूत्र आदि के समुदाय दुर्गन्धरूप मल से परिपूर्ण शरीर में पवित्रबुद्धि का करना, तथा तालाब, बावड़ी, कुण्ड, कुंआ और नदी आदि में तीर्थ और पाप छुड़ाने की बुद्धि करना, और उनका चरणामृत पीना, एकादशी आदि मिथ्या व्रतों में भूख प्यास आदि दुखों का सहना, स्पर्श इन्द्रिय के भोग में अत्यन्त प्रीति करना इत्यादि अशुद्ध पदार्थों को शुद्ध मानना, और सत्यविद्या, सत्यभाषण, धर्म, सत्संग परमेश्वर की उपासना, जितेन्द्रियता, सर्वोपकार करना सबसे प्रेमभाव से वर्त्तना आदि शुद्धव्यवहार और पदार्थों में अपवित्र बुद्धि करना, यह अविद्या का दूसरा भाग है।

दु:ख में सुखबुद्धि अर्थात् विषयतृष्णा, काम, क्रोध, लोभ, मोह, शोक, ईर्ष्या, द्वेष आदि दु:खरूप व्यवहारों में सुख मिलने की आशा करना, जितेन्द्रियता, निष्काम, शम, सन्तोष, विवेक, प्रसन्नता, प्रेम, मित्रता आदि सुखरूप व्यवहारों में दु:खबुद्धि का करना, यह अविद्या का तीसरा भाग है।

इसी प्रकार अनात्मा में आत्मबुद्धि, अर्थात् जड़ में चेतनभाव और चेतन में जड़भावना करना, अविद्या का चतुर्थ भाग है। यह चार प्रकार की 'अविद्या' संसार के अज्ञानी जीवों की बन्धन का हेतु होके उनकों सदा नचाती रहती है, परन्तु विद्या अर्थात् पूर्वोक्त अनित्य, अशुचि, दु:ख और अनात्मा में अनित्य, अपवित्रता, दु:ख और अनात्मबुद्धि का होना, तथा नित्य, शुचि, सुख और आत्मा में नित्य, पवित्रता, सुख और आत्मबुद्धि करना यह चार प्रकार की 'विद्या' है। जब विद्या से अविद्या की निवृत्ति होती है। तब बन्धन से छूट के जीव मुक्ति को प्राप्त होता है।[९]

(२) अस्मिता

दूसरा क्लेश अस्मिता कहाता है अर्थात् जीव और बुद्धि को मिले हुए के समान देखना, अभिमान और

---

६. अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्। योग०सू० २/४
७. अनित्याशुचिदु:खानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या। योग० २/५
८. सत्यार्थप्रकाश- महर्षि दयानन्द सरस्वती कृत- नवम समुल्लास पृ०- १५८
९. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका- स्वामी दयानन्द सरस्वती- मुक्ति विषय पृ०- १९९

अहंकार से अपने को बड़ा समझना इत्यादि व्यवहार को 'अस्मिता' जानना।[१०] जब सम्यक् विज्ञान से अभिमान आदि के नाश होने से इसकी निवृत्ति हो जाती है, तब गुणों के ग्रहण में रुचि होती है।

(३) राग

तीसरा राग, अर्थात् जो-जो सुख संसार में साक्षात् भोगने में आते हैं, उनके संस्कार की स्मृति से जो तृष्णा के लोभसागर में बहना है, इसका नाम 'राग' है।[११] जब ऐसा ज्ञान मनुष्य को होता है कि सब संयोग, वियोग, संयोगवियोगान्त है, अर्थात् वियोग के अन्त में संयोग और संयोग के अन्त में वियोग तथा वृद्धि के अन्त में क्षय और क्षय के अन्त में वृद्धि होती है, तब इसकी निवृत्ति हो जाती है।

(४) द्वेष

चौथा 'द्वेष' कहाता है अर्थात् जिस अर्थ का पूर्व में दुःख रूप अनुभव किया गया हो, उस पर और उसके साधनों पर सदा क्रोधबुद्धि होना। इसकी निवृत्ति भी राग की निवृत्ति से ही होती है। इसको द्वेष-क्लेश कहते हैं।[१२]

(५) अभिनिवेश

पांचवा 'अभिनिवेश' क्लेश है, जो सब प्राणियों को नित्य आशा होती है कि हम सदैव शरीर के साथ बने रहें अर्थात् कभी मरें नहीं, सो पूर्वजन्म के अनुभव से होती है और इससे पूर्वजन्म भी सिद्ध होता है, क्योंकि छोटे-छोटे कृमि चींटी आदि जीवों को भी मरण का भय बराबर बना रहता है। इसी से इस क्लेश को अभिनिवेश कहते हैं, जो कि विद्वान् मूर्ख तथा क्षुद्रजन्तुओं में भी बराबर दीख पड़ता है।[१३] इस क्लेश की निवृत्ति उस समय होगी, कि सब जीव, परमेश्वर और प्रकृति अर्थात् जगत् के कारण को नित्य और कार्यद्रव्य के संयोग-वियोग को अनित्य जान लेगा। इन क्लेशें की शान्ति से जीवों को मोक्षसुख की प्राप्ति होती है।[१४]

जब अविद्यादि क्लेश दूर होके विद्यादि शुभ गुण होते हैं। तब जीव सब बन्धनों और दुःखों से छूट के मुक्ति को प्राप्त हो जाता है।[१५] शोकरहित आदि सिद्धि से भी विरक्त होके सब क्लेशों और दोषों का बीज जो अविद्या है, उसके नाश करने के लिए यथावत् प्रयत्न करें, क्योंकि उसके नाश के विना मोक्ष कभी नहीं हो सकता।[१६]

---

१०. दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता। योग० २/६

११. सुखानुशयी रागः। योग० २/७

१२. दुःखानुशयी द्वेषः। योग० २/८

१३. स्वरसंवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः। योग० २/९

१४. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका- स्वामी दयानन्द सरस्वती- मुक्ति विषय पृ०- २००

१५. तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्। योग० २/२५

१६. तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्।। योग० ३/५०

सत्त्व जो बुद्धि, पुरुष जो जीव, इन दोनों की शुद्धि से मुक्ति होती है, अन्यथा नहीं।[१७] जब सब दोषों से अलग होके ज्ञान की ओर आत्मा झुकता है। तब कैवल्य मोक्षधर्म के संस्कार से चित्त परिपूर्ण हो जाता है, तभी जीव को मोक्ष प्राप्त होता है,[१८] क्योंकि जब तक बन्धन के कामों में जीव फंसता जाता है, तब तक उसकी मुक्ति प्राप्त होना असम्भव है।[१९] इस प्रकार संक्षिप्त रूप से स्वामी दयानन्द के अनुसार बन्धन की अवधारणा प्रस्तुत है।

स्वामी दयानन्द मोक्ष (मुक्ति) की अवधारणा को 'ऋग्वेद' एवं 'यजुर्वेद' का प्रमाण देकर प्रस्तुत करते हैं। ज्ञानरूप यज्ञ और आत्मादि द्रव्यों की परमेश्वर को दक्षिणा देने से वे मुक्त लोग मोक्षसुख में प्रसन्न रहते हैं। जो परमेश्वर की सख्य अर्थात् मित्रता से मोक्षभाव को प्राप्त हो गये हैं, उन्हीं के लिए भद्र नाम सब नियत किये गये हैं, उनके जो प्राण हैं, वे उनकी बुद्धि को अत्यन्त बढ़ाने वाले होते हैं। और उस मोक्षप्राप्त मनुष्य को पूर्वमुक्त लोग अपने समीप आनन्द में रख लेते हैं और फिर वे परस्पर अपने ज्ञान से एक दूसरे को प्रीतिपूर्वक देखते और मिलते हैं।[२०]

सब मनुष्यों को यह जानना चाहिये कि वही परमेश्वर हमारा बन्धु अर्थात् दुःख का नाश करने वाला, सब सुखों का उत्पन्न और पालन करने वाला है। वही सब कर्मों को पूर्ण करता और सब लोकों को जानने वाला है कि जिसमें देव अर्थात् विद्वान् लोग मोक्ष को प्राप्त होके सदा आनन्द में रहते हैं। और वे तीसरे धाम अर्थात् शुद्ध सत्त्व से सहित होके सर्वोत्तम सुख में सदा स्वच्छन्दता से रमण करते हैं।[२१]

जो जीवात्मा अपनी बुद्धि और आत्मा मे स्थित सत्य ज्ञान और अनन्त आनन्द स्वरूप परमात्मा को जानता है, वह उस व्यापक रूप ब्रह्म में स्थित होके उस 'विपश्चित्' अनन्तविद्या युक्त ब्रह्म के साथ सब कामों को प्राप्त होता है अर्थात् जिस-जिस आनन्द की कामना करता है, वह उस आनन्द को प्राप्त होता है। यही मुक्ति कहाती है।[२२]

(प्रश्न) मुक्ति किसको प्राप्त होती है ?(उत्तर) स्वामी जी कहते हैं, जो बद्ध है।

(प्रश्न) बद्ध कौन है ? (उत्तर) जो अधर्म अज्ञान में फंसा हुआ जीव है।

(प्रश्न) बन्धन और मोक्ष स्वभाव से होता है वा निमित्त से ?

(उत्तर) स्वामी जी उत्तर देते हैं कि निमित्त से, क्योंकि जो स्वभाव से होता तो बन्धन और मुक्ति की निवृत्ति कभी नहीं होती।

---

१७. सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति। योग० ३/५५

१८. तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम्। योग० ४/२६

१९. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका- स्वामी दयानन्द सरस्वती- मुक्ति विषय पृ०- २००

२०. ये यज्ञेन दक्षिणया समक्ता इन्द्रस्य सख्यममृतत्वमानश। तेभ्यो भद्रमंगिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः॥ ऋ०८/२/१/१

२१. स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा। यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त॥ यजु० ३२/१०

२२. सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति॥ तैत्तिरी० २/१/२

(प्रश्न) जीव ब्रह्म होने से वस्तुत जीव का निरोध अर्थात् न कभी आवरण में आया, न जन्म लेता, न बन्धन है ओर न साधक अर्थात् न कुछ साधना करने हारा है। न छूटने की इच्छा करता और न इसकी कभी मुक्ति है, क्योंकि जब परमार्थ से बन्धन ही नहीं हुआ तो मुक्ति क्या ?[२३]

(उत्तर) यह नवीन वेदान्तियों का कहना सत्य नहीं, क्योंकि जीव का स्वरूप अल्प होने से आवरण में आता, शरीर के साथ प्रगट होने रूप जन्म लेता, पापरूप कर्मों के फल भोगरूप बन्धन में फंसता, उसके छुड़ाने का साधन करता दुःख से छूटने की इच्छा करता और दुःखों से छूटकर परमानन्द परमेश्वर को प्राप्त होकर मुक्ति को भी भोगता है।

(प्रश्न) ये सब धर्म देह और अन्तःकरण के हैं; जीव के नहीं, क्योंकि जीव तो पाप पुण्य से रहित साक्षीमात्र है। शीतोष्णादि शरीरादि के धर्म्म हैं; आत्मा निर्लेप है।

(उत्तर) देह और अन्तःकरण जड़ हैं, उनको शीतोष्ण प्राप्ति और भोग नहीं है। जैसे पत्थर को शीत और उष्ण का भान और भोग नहीं है। जो चेतन मनुष्यादि प्राणी उसका स्पर्श करता है, उसी को शीत-उष्ण का भान और भोग होता है। वैसे प्राण भी जड़ है। न उनको भूख न पिपासा, किन्तु प्राण वाले जीव को क्षुधा, तृषा लगती है। वैसे ही मन भी जड़ है। न उसको हर्ष न शोक हो सकता है किन्तु मन से हर्ष शोक दुःख सुख का भोग जीव करता है। जैसे बहिष्करण श्रोत्रादि इन्द्रियों से अच्छे-बुरे शब्दादि विषयों का ग्रहण करके जीव सुखी, दुःखी होता है वैसे ही अन्तःकरण अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार से संकल्प, विकल्प, निश्चय, स्मरण और अभिमान का करने वाला दण्ड और मान्य का भागी होता है।

जैसे तलवार से मारने वाला दण्डनीय होता है तलवार नहीं, वैसे ही देहेन्द्रिय अन्तःकरण और प्राणरूप साधनों से अच्छे बुरे कर्मों का कर्ता जीव सुख-दुःख का भोक्ता है। जीव कर्मों का साक्षी नहीं, किन्तु कर्ता, भोक्ता है। कर्मों का साक्षी तो एक अद्वितीय परमात्मा है। जो कर्म करने वाला जीव है वही कर्मों में लिप्त होता है, वह ईश्वर का जीव नहीं।[२४]

(प्रश्न) मुक्ति किसको कहते हैं ?

(उत्तर) 'मुञ्चन्ति पृथग्भवन्ति जना यस्यां सा मुक्तिः' जिससे छूट जाना हो उसका नाम मुक्ति है।

(प्रश्न) किससे छूट जाना ?(उत्तर) जिससे छूटने की इच्छा सब जीव करते हैं।

(प्रश्न) किससे छूटने की इच्छा करते है ?(उत्तर) जिससे छूटना चाहते हैं।

(प्रश्न) किससे छूटना चाहते हैं ?(उत्तर) दुःख से।

(प्रश्न) छूटकर किसको प्राप्त होते और कहाँ रहते हैं ?

(उत्तर) सुख को प्राप्त होते और ब्रह्म में रहते हैं।

---

२३. न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः। न मुमुक्षुर्न वै मुक्तिरित्येषा परमार्थता॥ गौडपादीय कारिका
२४. सत्यार्थप्रकाश- स्वामी दयानन्द सरस्वती- नवम समु० मोक्ष प्रकरण पृ० १५८-५९

(प्रश्न) मुक्ति में जीव का लय होता है वा विद्यमान रहता है?

(उत्तर) विद्यमान रहता है।

(प्रश्न) कहाँ रहता है?(उत्तर) ब्रह्म में।

(प्रश्न) ब्रह्म कहाँ रहता है और वह मुक्त जीव एक ठिकाने रहता है वा स्वेच्छाचारी होकर सर्वत्र विचरता है?

(उत्तर) जो ब्रह्म सर्वत्र पूर्ण है, उसी में मुक्त जीव अव्याहतगति अर्थात् उसको कहीं रुकावट नहीं; विज्ञान आनन्दपूर्वक स्वतन्त्र विचरता है।

(प्रश्न) मुक्त जीव का स्थूल शरीर रहता है वा नहीं?(उत्तर) नहीं रहता।

(प्रश्न) फिर वह सुख और आनन्द भोग कैसे करता है?

(उत्तर) उसके सत्य संकल्पादि स्वाभाविक गुण समार्थ्य सब रहते हैं, भौतिक अंग नहीं रहता। जैसे- मोक्ष में भौतिक शरीर वा इन्द्रियों के गोलक जीवात्मा के साथ नहीं रहते, किन्तु अपने स्वाभाविक शुद्ध गुण रहते हैं। जब सुनना चाहता है तथा श्रोत्र, स्पर्श करना चाहता है तब त्वचा, देखने के संकल्प से चक्षु, स्वाद के अर्थ रसना, गन्ध के लिए घ्राण, संकल्प-विकल्प करते समय मन, निश्चय करने के लिए बुद्धि, स्मरण करने के लिए चित्त और अहंकार के अर्थ अहंकार रूप अपनी स्वशक्ति से जीवात्मा मुक्ति में हो जाता है और संकल्प मात्र शरीर होता है जैसे शरीर के आधार रहकर इन्द्रियों के गोलक के द्वारा जीव स्वकार्य करता है वैसे अपनी शक्ति से मुक्ति में सब आनन्द भोग लेता है।[२५]

(प्रश्न) उसकी शक्ति कितने प्रकार की कितनी है?

(उत्तर) मुख्य एक प्रकार की शक्ति है, परन्तु बल, पराक्रम, आकर्षण, प्रेरणा, गति, भीषण, विवेचन, क्रिया, उत्साह, स्मरण, निश्चय, इच्छा, प्रेम, द्वेष, संयोग, विभाग, संयोजक, विभाजक, श्रवण, स्पर्शन, दर्शन, स्वादन और गन्धग्रहण तथा ज्ञान इन २४ चौबीस प्रकार के सामर्थ्ययुक्त जीव है। इससे मुक्ति में भी आनन्द की प्राप्ति का भोग करता है।

जो मुक्ति में जीव का लय होता तो मुक्ति का सुख कौन भोगता? और जो जीव के नाश ही को मुक्ति समझते हैं, क्योंकि मुक्ति जीव की यह है कि दुःखों से छूटकर आनन्दस्वरूप, सर्वव्यापक, अनन्त परमेश्वर में जीवों का आनन्द में रहना।[२६] देखो वेदान्त शारीरिक सूत्रों में-

कैवल्यमोक्ष का लक्षण यह है कि- कारण के सत्त्व, रजो और तमोगुण और उनके सब कार्य पुरुषार्थ से नष्ट होकर, आत्मा में विज्ञान और शुद्धि यथावत् होके, स्वरूप प्रतिष्ठा जैसे जीव का तत्त्व है, वैसा ही स्वाभाविक शक्ति और गुणों से युक्त होके, शुद्धस्वरूप परमेश्वर के स्वरूप विज्ञान प्रकाश और नित्य आनन्द में जो रहना है,

---

२५. शृण्वन् श्रोत्रं भवति, स्पर्शयन् त्वग्भवति, पश्यन् चक्षुर्भवति, रसयन् रसना भवति, जिघ्रन् घ्राणं भवति, मन्वानो मनो भवति, बोधयन् बुद्धिर्भवति, चेतयंश्चित्तम्भत्यहङ्कारो भवति॥ शतपथ कां० १४॥

२६. सत्यार्थप्रकाश- स्वामी दयानन्द सरस्वती- नवम समु० मोक्ष प्रकरण पृ० १६१-६२

उसी को कैवल्य या मोक्ष कहते हैं।[२७]

आगे स्वामी दयानन्द व्यासोक्त वेदान्तदर्शन और उपनिषदों में जो मुक्ति का स्वरूप और है उसको लिखते हैं-

व्यासजी के पिता जो वादरि आचार्य थे, उनका मुक्तिविषय में ऐसा मत है कि जब जीव मुक्तदशा को प्राप्त होता है, तब वह शुद्ध मन से परमेश्वर के साथ परमानन्द मोक्ष में रहता है, और इन दोनों से भिन्न इन्द्रियादि पदार्थों का अभाव हो जाता है।[२८]

इसी विषय में व्यासजी के मुख्य शिष्य जो जैमिनि थे। उनका ऐसा मत है कि जैसा मोक्ष में मन रहता है, वैसा ही शुद्धसंकल्पमय शरीर तथा प्राणादि और इन्द्रियों की शुद्ध शक्ति भी बराबर बनी रहती है। क्योंकि उपनिषद् में से एकधा भवति द्विधा भवति, त्रिधा भवति' इत्यादि वचनों का प्रमाण है कि मुक्तजीव संकल्पमात्र से ही दिव्यशरीर रच लेता है, और इच्छामात्र ही से शीघ्र छोड़ भी देता है, और शुद्ध ज्ञान का सदा प्रकाश बना रहता है।[२९]

मुक्तिविषय में वादरायण' जो व्यासजी थे, उनका ऐसा मत है कि-मुक्ति में भाव और अभाव दोनों ही बने रहते हैं अर्थात् क्लेश, अज्ञान और अशुद्धि आदि दोषों का सर्वथा अभाव हो जाता है, और परमानन्द, ज्ञान, शुद्धता, आदि सब सत्यगुणों का भाव बना रहता है। इसमें दृष्टान्त भी दिया है कि जैसे वानप्रस्थ आश्रम में बारह दिन का प्राजापत्यादि व्रत करना होता है उसमें थोड़ा भोजन करने से क्षुधा का थोड़ा अभाव और पूर्ण भोजन न करने से क्षुधा का कुछ भाव भी बना रहता है उसी प्रकार मोक्ष में भी पूर्वोक्त रीति से भाव और अभाव समझ लेना। इत्यादि निरूपण मुक्ति का वेदान्तशास्त्र में किया है।[३०]

------

२७. पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति॥ १२॥

२८. अथ वेदान्तशास्त्रस्य प्रमाणानि-अभावं वादरिराह ह्येवम्॥ १॥ वेदान्त सूत्र- ४/४/१०

२९. भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्॥ २॥ वेदान्त दर्शन- ४/४/११

३०. द्वादशाहवदुभविधं बादरायणोऽतः॥ ३॥ वेदान्त दर्शन ४/४/१२

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २००९ अङ्क ११ (पृ०११५-१२०)

उपनयन-संस्कार और नारी

डॉ० ब्रह्मदेव[1]

धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्षरूप पुरुषार्थचतुष्टय की परिकल्पना मानवमात्र के चहुँमुखी विकास हेतु भारतीय मनीषा की एक विशिष्ट देन है। ये चार ऐसे तत्त्व अथवा कहिए लक्ष्यभूत केन्द्र बिन्दु हैं जिन्हें प्राप्त करने के लिए जीव सर्वदा सतत प्रयत्नशील रहता रहा है, परन्तु साम्प्रतिक समाज पुरुषार्थ चतुष्टय के आदिम और अन्तिम पुरुषार्थ को भुला कर मात्र मध्य के दो पुरुषार्थों अर्थ और काम के ही पीछे हाथ धोकर पड़ा है। विश्व को उन्नत बनाने की जितनी भी योजनाएँ आज विश्वपटल पर बन रही हैं उन के केन्द्र में यही दोनों हैं और इन्हीं से भोग विलासिता के माध्यम से मानव को चिर सुख, शान्ति प्राप्त करवाने के सुनहले स्वप्न दिखाए जा रहे हैं, लेकिन वे स्वप्न धराशायी हो रहे हैं और सर्वत्र हा-हाकार सुनाई देता है। जिधर देखो उधर अर्थाभिमानियों के यहाँ भी दुःख और विनाश का खुला ताण्डव समस्त मर्यादाओं की धज्जियाँ उड़ा मानवरूप में पाशविकता को प्रदर्शित करता दिखाई देता है।[2] प्रश्न उठता है क्यों? इसका उत्तर इतना ही है कि अर्थ और काम पुरुषार्थों पर धर्म का अंकुश नहीं है[3] और न ही अन्तिम लक्ष्य मोक्ष की ओर आज का मानव प्रयत्नशील है। अध्यात्म और धर्म गुजरे जमाने की बातें हो गईं। वास्तविक धर्म के स्वरूप को भुला दिया गया है और वह मात्र पूजा पाठ और अन्धविश्वासों की वस्तु रह गया। उदरपूर्ति को छोड़कर उसे श्रेष्ठ मानव बनाने के लिए किसी प्रकार का योजनाबद्ध कार्य नहीं किया जाता। न संस्कारों से सुसंस्कृत, परिष्कृत कर पुनीत किया जाता, जिसके कारण भारतीय संस्कृति विश्व प्रसिद्ध थी और न, संस्कारों के अन्तर्गत आने वाली वैदिकी **मनुर्भव**[4] अर्थात् मानव बनने की शिक्षा ही दी जाती।

संस्कार का अभिप्राय

भारतीय समाजशास्त्रियों ने मानव की पाशविकवृत्ति को दूर करने और अन्यान्य उक्त समस्याओं के निराकरण हेतु मानव को सुसंस्कृत करने और उसके उत्कर्ष के लिए अध्यात्म आदि के साथ मुख्यतः षोडश संस्कारों की परिकल्पना की। इन से मानव में समस्त ईश्वरीय गुणों का आधान करवाना ही इन चिन्तकों का मुख्य

---

१. उपाचार्य संस्कृत-विभाग, गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

२. इसके ज्वलन्त उदाहरण प्रतिदिन के समाचार पत्र और टी० वी० आदि प्रसारण माध्यम हैं। पूर्ण विकसित कहे जाने वाले जर्मनी, अमेरिका जैसे देशों में स्कूलों के १६, १७ वर्षीय बच्चे अपने साथियों को गोलियों से भून डालने को किञ्चित् भी नहीं विचारते। अभी ११ मार्च, २००९ को दक्षिण जर्मनी के विन्नन्डन (ंगहहाह्ह)नगर के अल्बर्टविले (ंतूैनत्त) स्कूल में ही एक १७ वर्ष के बच्चे ने विद्यालय के तीन अध्यापकों, नौ लड़कियों सहित १५ जनों को अकालमृत्यु का ग्रास बना दिया। इसी प्रकार हर धनाढ्य के घर में द्वन्द्व के समाचार समाचारपत्रों की नित्य सुर्खियाँ बनते हैं। नित्य आई० आई० टी० जैसे संस्थानों के प्रतिभा के धनी छात्रों द्वारा भी आत्महत्यायें करने के समाचार प्रकाशित होते हैं।

३. तुलनीय- मनुस्मृति ४.१७६ **परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ।**

४. ऋग्वेद १०.५३.६, तैत्तिरीय संहिता ३.४.२.२, ३.४.३.७, काण्वसंहिता १३.११, १२, ऐतरेय ब्राह्मण ३.३८.६

उद्देश्य रहा।[५] वास्तव में इन संस्कारों की शाण पर चढ़े हुए बालक को जिस रूप में भी तराशने की इच्छा हो वैसे सुरूप से रूपायित उसे किया जा सकता है। उदाहरण के रूप में जिसप्रकार एक निर्जीव धातु को शिल्पी भट्टी पर तपा कर मन चाहा रूप देता है। एक आयुर्वेदज्ञ संखिया जैसे विषों को भी अनेकों संस्कारों से सुसंस्कृत कर प्राणियों हेतु जीवनदायी बना देता है अथवा आज का वैज्ञानिक धनधान्य से विश्व की उदरपूर्ति चाहता हुआ धान्य के बीजों को परिष्कृत, सुसंस्कृत करता है और अधिक से अधिक उपज के लिए अच्छा बीज तैयार कर पूर्व चिन्तित योजनाओं और उर्वरा भूमि के सान्निध्य से पैदावार को और अधिक बढाता है, जिससे आर्थिक परतन्त्रता से मुक्त हुआ जा सके। वैसे ही भारतीय ऋषि मुनियों ने मानव को मानवता की उच्च परम्पराओं का निर्वाहक और सुसंस्कृत बनाने के लिए अनवरत चिन्तन के पश्चात् सोलह संस्कारों की परिकल्पना की, जिससे माता, पिता और आचार्य मन चाहा रूप शिशु को देते थे और आगे चलकर जिनसे उसके जीवन में पदे-पदे पवित्रता, सौन्दर्यता, रमणीयता झलकती थी।

उपनयन का अभिप्राय और प्रयोजन

सोलह संस्कारों में से अन्यतम संस्कार उपनयन-संस्कार है। यहाँ **उप** समीपार्थ में प्रयुक्त हुआ है और **णीञ्** प्रापणे धातु से **ल्युट्** प्रत्यय से निष्पन्न **नयन** पद का अर्थ है प्राप्त करना अर्थात् **अध्ययनार्थ आचार्य के समीप उपस्थित होना** उपनयन का मुख्यार्थ है।[६] इसी मुख्यार्थ को ध्यान में रखते हुए आचार्यवर वेदधुरीण स्वामी दयानन्द ने अपने ग्रन्थ संस्कारविधि में उपनयन-संस्कार के साथ ही वेदारम्भ-संस्कार करने का भी उल्लेख किया है। यदि किन्हीं अपरिहार्य कारणों से ऐसा माता पिता नहीं कर सकते तो एक वर्ष में वेदारम्भ-संस्कार अवश्य करा लेना चाहिए।[७] इसप्रकार उपनयन-संस्कार से उपनीत हुए बालक वा बालिका को उसके चिह्नभूत सूत्र को धारण करवाया जाता था, जिसे ब्रह्मसूत्र, व्रतसूत्र, यज्ञोपवीत, त्रिवृत्त इन विविध नामों से लोक और साहित्य में जाना जाता है। परन्तु साम्प्रतिक काल में विधिवत् विद्या प्राप्ति के उद्देश्य से किये जाने वाले इस संस्कार की वह उत्कृष्ट परम्परा क्षीण प्राय: हो गई है। यत्र कुत्रचित् ब्राह्मणनामधारी[८] कुलों में उत्पन्न हुए बालक का उपनयन संस्कार देखा जाता है, पर ये बालिका के संस्कार का घोर विरोध करते हैं। वेदारम्भ को प्राय: वहाँ भी भुला दिया है। वस्तुत: जिस व्रतधारण को मुख्यता दी जानी चाहिए थी वह गौण हो गया और वेदारम्भरूप मुख्यार्थ का सहचारी केवल चिह्नभूत सूत्र ही मुख्य हो गया। इसीलिए एक ब्राह्मण कुल में जन्म लेने वाला जनेउ तो पहनता है पर उसके महत्त्व को नहीं जानता तथा शूद्रार्ह कार्यों में व्यापृत रहता है। साथ ही अपनी विवाहिता को जनेउ

---

५. (क) मनुस्मृति २.२६,२७, **वैदिकै: कर्मभि: पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम्। कार्य: शरीरसंस्कार: पावन: प्रेत्य चेह च॥ गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौलमौञ्जीनिबन्धनै:। बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते॥** (ख)महर्षि दयानन्द भी संस्कारों के महत्त्व को इसप्रकार लिखते हैं- संस्कारविधि भूमिका का अन्तिम वाक्य, जिस करके शरीर और आत्मा सुसंस्कृत होने से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त हो सकते हैं और सन्तान अत्यन्त योग्य होते हैं, इसलिये संस्कारों को करना सब मनुष्यों को अति उचित है।

६. पुरुषार्थप्रकाश, पृ० ३६ पर उद्धृत, **गृह्योक्तकर्मणा येन समीपे नीयते गुरो:। बालो वेदाय तद्योगाद् बालस्योपनयं विदु:॥**

७. द्र० संस्कारविधि वेदारम्भ संस्कार के प्रारम्भ में।

८. अद्यत्वे ब्राह्मणों में ब्राह्मणोचित गुणों का प्राय: सर्वथा अभाव देखा जाता है, ये जन्मना ब्राह्मण हैं, गुणकर्मानुसार नहीं।

धारण का अधिकार न देकर स्वयं ही उसके तथा अपने नाम से छः सूत्रों से युक्त जनेउ को धारण करता है और तदनुसार उसे वेद मन्त्र के पढने तक को भी प्रतिबन्धित करता हुआ दिखाई देता है। जब कि प्राचीन साहित्य नारी के उपनयन का अनुमोदन करता है। अतः वह विदुषी, पण्डिता, आचार्यादि रूपों में संस्कृत के ग्रन्थों में आदृत होती देखी जाती है। महर्षि दयानन्द ने भी नारी के पढने-पढाने के महत्त्व को देखते हुए अपने ग्रन्थों में सर्वत्र स्त्री को पुरुष के समान सब अधिकारों से शोभायमान करने का अनुमोदन किया है। इसीलिए आर्यसमाजों, गुरुकुलों से सम्बद्ध नारियों के कन्धों पर यज्ञोपवीत सुशोभित हुआ दिखाई देता है और प्राच्य परम्परा के अनुरूप वेदज्ञान की विदुषियाँ भी देखी जाती हैं।

नारी का उपनयन

विद्याध्ययन के लिए **आचार्यकुल को प्राप्त करना** मुख्यतः **उपनयन** का अर्थ है और तद् द्वारा उसके प्रतीकभूत ब्रह्मसूत्र से वेद पढने की अर्हता के रूप में वह जाना जाने लगा। अतः नारी का स्पष्टतः यज्ञोपवीतिनी के रूप में जहाँ उल्लेख है वहाँ तो वह इस संस्कार से संस्कारित हुई प्रमाणित होती ही है, परन्तु जहाँ साहित्य में विदुषी, पण्डिता, ब्रह्मचारिणी आदि विशेषणों के साथ उसका उल्लेख मिलता है वहाँ भी परम्परया यह सिद्ध हो ही जाता है कि वह उपनीत हुई है या कहिए उपनयन और यज्ञ की वह अधिकारिणी है, ततः वेदाध्ययन की भी। **वेद तो स्वयं सब को वेद ज्ञान को पढने अथवा सुनने का अधिकार देता है। यहाँ तक कि शूद्र को भी वञ्चित नहीं करता।**[९] फिर नारी किस कोटि में आयेगी जो इस ब्रह्मसूत्र की अधिकारिणी नहीं मानी जाती! आश्चर्य होता है उन मनीषी चिन्तक व्याख्याकारों की बुद्धि पर जब वे पुरातन कवियों की नारी के चित्रण में किए गए यज्ञोपवीत धारण अथवा वैदुष्य को नमन न कर ऐसे स्थलों की व्याख्या करते हुए आधुनिक नारी को हेय अनुदार दृष्टि से देखने की समाजघातक प्रवृत्ति के शिकार दिखाई देते हैं। निदशनार्थ संस्कृत गद्यकाव्य की उत्कृष्ट कृति **कादम्बरी** में चन्द्रापीड की दिग्विजय के प्रसंग में कवि बाणभट्ट **गन्धर्वकन्या महाश्वेता** का वर्णन करते हुए उसे स्पष्टतः **ब्रह्मसूत्र** से पवित्र काया वाली[१०] बताते हैं, परन्तु वहीं संस्कृत **व्याख्याकार आचार्य शेषराजशर्मा रेग्मी प्रथम** उत्कृष्ट परम्परा का उल्लेख करते हुए लिखते हैं- **पूर्वकाले स्त्रीणामुपनयनं ब्रह्मचर्यं चाभूत्, तथा हि स्मृतिः- पुराकाले तु नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते। अध्यापनं हि वेदानां सावित्रीवाचनं ततः॥ इति।** और फिर मानसिक दुर्बलता का परिचय देते हुए लिख डालते हैं- **कलियुगे तु सकलस्य तस्य निषेधः।**[११] अहा! कैसी विसंगति है। क्या कलियुग की समस्त नारियों ने कोई पाप कर दिया, जिससे धर्माचार्यों ने उन पर पाबन्दियाँ लगा दी हों? और क्या बाणभट्ट किसी अन्य युग में आविर्भूत हुए थे, जो इसप्रकार का वर्णन कर गये? ऐसी ही संकीर्ण मनोवृत्ति को प्रदर्शित करने वाला प्रकरण महाकवि भवभूति के **उत्तररामचरित** नामक महान् नाटक के व्याख्याकार **पं० तारिणीश झा** की टिप्पणी में देखने को मिलता है। इस नाटक के द्वितीय अंक में **आत्रेयी** और **वनदेवता** नाम से

---

९. यजुर्वेद २६.२. **यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्याꣳ शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय।**

१०. कादम्बरी महाकाव्य(चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, द्वितीय संस्करण १९८२ ई०), महाश्वेता वर्णन, पृ० ४०५, **ब्रह्मसूत्रेण पवित्रीकायाम्**

११. द्र० वहीं, व्याख्याभाग, पृ० ४०६

चित्रित **दो स्त्री** पात्रों के सम्वाद में वनदेवता के आत्रेयी से यह पूछने पर कि इस दण्डकारण्य में परिभ्रमण का आपका क्या प्रयोजन है? उत्तर में आत्रेयी कहती हैं- **अस्मिन्नगस्त्यप्रमुखाः प्रदेशे भूयांस उद्गीथविदो वसन्ति। तेभ्योऽधिगन्तुं निगमान्तविद्यां वाल्मीकिपार्श्वादिह पर्यटामि।।**[१२] इससे स्पष्ट है कि स्त्रियाँ भी वेदादि विद्याओं को पढती थीं। परन्तु तारिणीश झा महोदय व्याख्या भाग में टिप्पणी करते हुए लिखते हैं- **यद्यपि न स्त्रीशूद्रौ वेदमधीयताम् इस वचन के अनुसार आत्रेयी का वेदाध्ययन असंगत प्रतीत होता है, किन्तु पूर्व कल्प में स्त्रियाँ दो प्रकार की होती थीं- एक ब्रह्मवादिनी और दूसरी गृहमेधिनी। उनमें ब्रह्मवादिनी स्त्रियों का उपनयनसंस्कार और वेदाध्ययन भी होता था। यथा- पुराकल्पे तु नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते। अध्यापनञ्च वेदानां सावित्रीवाचनं तथा।। अत एव उपर्युक्त वचन गृहस्थ स्त्रियों के लिए वेदाध्ययन का निषेधक है, ऐसा समझना चाहिए।** यहाँ व्याख्याकार की नारीजाति के प्रति अनुदार और अनावश्यक टिप्पणी है। यहाँ प्रमाणरूप में उपन्यस्त श्लोक में कहाँ दोनों प्रकार की स्त्रियों का उल्लेख है? जिसका यह अभिप्राय निकाला गया और क्या ब्रह्मवादिनी माँ के उदर से ही ब्रह्मवादिनी बन के आती हैं? या उनके मस्तक पर ऐसा लिखा होता है? नहीं, तो सभी नारियाँ आचार्यकुल में गई होंगी और फिर कुछ ब्रह्मवादिनी बनती होंगी और कुछ गृहमेधिनी। तो क्या गृहस्थ में जाना कोई पाप है कि अचानक ही उन पर वेदाध्ययन का निषेध कर दिया जाये। जब कि वेद और उपनिषद् आदि ग्रन्थ गृहस्थ का अति उत्कृष्ट वर्णन करते हैं। **प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः**[१३] यह भी उपनिषद् का आदेश है। यह भी सिद्ध है कि **गृहस्थधर्मप्राप्त नारी को अधिक वेदाध्ययन** करना चाहिए जिससे वह वेदानुकूल शिशुओं का निर्माण कर सके।[१४] अन्यथा माता के मूर्ख होने पर बच्चों के भी मूर्ख होने की ही प्रबल सम्भावना है। पुनः इसप्रकार का अभिप्राय निकालना, दूषित मानसिकता को ही अभिव्यक्त करता है। **वाल्मीकिरामायण** के प्रमाणों से भी उक्त अभिप्राय की असंगतता सिद्ध होती है। वहाँ **कौशल्या गृहस्थ** है और फिर भी वेदमन्त्रों के साथ देवयज्ञ करती हुई निरूपित हुई है।[१५] वहीं **तारा** भी **गृहस्थ** है तदपि **वेदवित्** रूप में वर्णित है।[१६] **महाभारत** में **द्रौपदी** भी पण्डिता के रूप में निरूपित है।[१७]

वाल्मीकिरामायण में ही **सीता**[१८] और **कैकेयी**[१९] वैसे तो कुत्सित सम्बोधन के साथ सम्बोधित की गईं हैं

---

१२. उत्तररामचरित २.३, रामनारायणलाल बेनिप्रसाद प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता, इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करण १९७५ ई०,

१३. तै०उप०१.११

१४. तुलनीय- महाभारत (पुणे संस्करण), अनुशासन पर्व १०९.६२, **नास्ति वेदात्परं शास्त्रं नास्ति मातृसमो गुरुः।**

१५. वाल्मीकिरामायण (गीताप्रेस), अयोध्याकाण्ड २०.१५, १६ **सा क्षौमवसना हृष्टा नित्यं व्रतपरायणा। अग्निं जुहोति स्म तदा मन्त्रवत् कृतमङ्गला।। प्रविश्य तु तदा रामो मातुरन्तःपुरं शुभम्। ददर्श मातरं तत्र हावयन्तीं हुताशनम्।।**

१६. वही, किष्किन्धाकाण्ड १६.१२, **ततः स्वस्त्ययनं कृत्वा मन्त्रविद् विजयैषिणी। अन्तःपुरं सह स्त्रीभिः प्रविष्टा शोकमोहिता।।**

१७. महाभारत, आरण्यकपर्व २८.२, **प्रिया च दर्शनीया च पण्डिता च पतिव्रता। ततः कृष्णा धर्मराजमिदं वचनमब्रवीत्।।**

१८. (व)वाल्मीकिरामायण, युद्धकाण्ड ३१.१७, भवस्व भद्रे भार्याणां सर्वासामीश्वरी मम। अल्पपुण्ये निवृत्तार्थे मूढे **पण्डितमानिनि।** शृणु भर्तृवधं सीते घोरं वृत्रवधं यथा। (ख)वही, अरण्यकाण्ड ४९.१४, कैर्गुणैरनुरक्तासि मूढे **पण्डितमानिनि।**यः स्त्रियो वचनाद् राज्यं विहाय ससुहृज्जनम्।।

लेकिन उन सम्बोधनों से ध्वनि दोनों के पाण्डित्य की ही निकलती है। इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि स्त्री का गृहस्थ होना **वेदादि के पढने** वा **ब्रह्मसूत्र** के धारण में बाधक हो सकता है - यह स्वीकार नहीं किया जा सकता।

युद्धकाण्ड में इन्द्रजित् द्वारा **मायामयी सीता** का वध, **यज्ञोपवीतधारण** के स्थान से दो टुकड़ों द्वारा करने का उल्लेख[२०] स्पष्टतः स्त्री के उपनयन को प्रमाणित करता है। इसप्रकार उक्त सभी लौकिक साहित्य के वे प्रमाण यहाँ उपस्थापित किये हैं, जिन्हें वे स्वयं भी मानते होंगे, जो नारी के गृहस्थ धर्म में होते हुए भी **ब्रह्मसूत्र-धारण** को ही पुष्ट करते हैं। अतः यह कहना कि गृहमेधिनी के लिए वेद पढ़ना निषिद्ध है, दुस्साहस मात्र है।

वैदिकवाङ्मय में भी नारी के **उपनयन का निषेधात्मक** वाक्य कहीं नहीं मिलता, जबकि पक्ष में अनेकों उद्धरण उसकी सशक्तता के, सुशिक्षिता होने के दिये जा सकते हैं। अथर्ववेद में स्त्रियों का ब्रह्मचर्यव्रतपूर्वक युवा पति को प्राप्त करने का निर्देश[२१] यही स्पष्ट करता है कि कन्याएँ शिक्षित होने के लिए वेदादि का अध्ययन करें और वह आचार्यकुल में ही उपनयन के द्वारा सम्भव हो सकता है, तभी वह विवाहिता होकर विवाहितकुल में गई सास-श्वसुर, ननद और देवरों के प्रति ऋग्वेद[२२] और अथर्ववेद[२३] के आशीर्वादभूत सर्वोच्चपद **सम्राज्ञी** होने की पूर्ति कर सकने में सक्षम हो सकती है अन्यथा मूढ़ा के द्वारा यह कैसे सम्भव है। आश्वलायन श्रौतसूत्र के **समानं ब्रह्मचर्यम्** प्रामाण्य से भी स्त्रियों का ब्रह्मचर्य विधान पुरुषवत् सिद्ध है।[२४] अतः वे पुरुषों के समान ही वेद की ऋषिकाओं के रूप में वैदिक-सूक्तों की अर्थद्रष्ट्री देखी जाती हैं। हों भी क्यों नहीं? परमात्मा ने नारियों को भी बुद्धि आदि का वैभव पुरुष के समान ही तो दिया है। इसीलिए वैदिक सूक्तों के आरम्भ में श्रद्धा और कार्तज्ञ प्रकटन के लिए उन मन्त्रों का अर्थदर्शन करने वाली ऋषिकाओं के नाम उल्लिखित हैं। निदर्शनार्थ ऋग्वेद की **अपालात्रेयी** (ऋ० ८.९१) **घोषा काक्षिवती** (ऋ०१०.३९.४०) इत्यादि २१ ऋषिकाओं का विस्तृत वर्णन पं० शिवशंकर काव्यतीर्थ की कृति **वैदिक-इतिहासार्थ-निर्णय** के घोषा ब्रह्मचारिणी और ब्रह्मवादिनी प्रकरण में देखा जा सकता है। पं० काव्यतीर्थ घोषा के नाम की व्याख्या करते हुए लिखते हैं- **घोषा यह नाम ब्रह्मचारिणी कन्या का है। जो वेदों का अध्ययन कर ईश्वरीय ज्ञान की घोषणा सर्वत्र विस्तीर्ण करे उसे घोषा कहते हैं। या घोषयति विद्यामभ्यस्यति, ईश्वरीयज्ञानं वा या सर्वत्र घोषयति प्रचारयति प्रकाशयति सा घोषा जिन दो सूक्तों की यह द्रष्ट्री हैं, उनमें ब्रह्मचारिणी कन्याओं के वेदाध्ययन के समय एवं गृहस्थाश्रम में प्रवेश के पूर्व क्या-क्या कर्त्तव्य हैं, उनका बहुत उत्तम रीति से वर्णन है। इस विषय को स्वयं विदुषी ब्रह्मचारिणी ही अच्छे प्रकार अपनी सहपाठिनियों सहवासनियों में दे सकती है। अतः इन दोनों सूक्तों की प्रचारिका कन्या है और इसकी पदवी घोषा है।** ऐसे पुष्ट प्रमाणों के होते हुए भी नारी के वेद पढ़ने को उचित न ठहराना, कहाँ तक तर्कसंगत है!

---

१९. वही, अयोध्याकाण्ड ७२.४७, एवमुक्ता तु कैकेयी भरतेन महात्मना। उवाच वचनं हृष्टा **वृथापण्डितमानिनी**।।

२०. वही, युद्धकाण्ड ८१.३०, **यज्ञोपवीतमार्गेण** छिन्ना तेन तपस्विनी। सा पृथिव्यां पृथुश्रोणी पपात प्रियदर्शना।।

२१. अथर्ववेद ११.५.१८, **ब्रह्मचर्येण कन्या३ युवानं विन्दते पतिम्।**

२२. ऋ० १०.८५.४६, **सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव। ननान्दरी सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु।**

२३. अथर्व० १४.१.४३, ४४, **यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषा। एवा त्वं सम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्य।। सम्राज्ञ्येधि श्वशुरेषु सम्राज्ञ्युत देवृषु। ननान्दुः सम्राज्ञ्येधि सम्राज्ञ्युत श्वश्र्वाः।।**

२४. आश्वलायन श्रौतसूत्र ४.१५.२४

बृहदारण्यकोपनिषद् अ० ६, ब्रा० ५ में भी ब्रह्मवादिनी मैत्रेयी उच्चकोटि की विदुषी के रूप में उल्लिखित है। गोभिल गृह्यसूत्र में स्पष्टतः स्त्री को यज्ञोपवीतिनी कहा गया है।[२५]

लौकिक साहित्य के महाकवि कालिदास की विभिन्न रचनाओं से इसप्रकार के अनेक प्रमाण दिये जा सकते हैं, जिनसे नारियों का वैदुष्य स्पष्टतः परिलक्षित होता है। कुमारसम्भव के पञ्चम सर्ग की पार्वती ऐसी ही है। वह नित्य यज्ञ करने वाली और स्वाध्यायशीला है।[२६] ऐसे ही अभिज्ञानशाकुन्तल की शकुन्तला नलिनीपत्र पर प्रेमपत्र लिखती है,[२७] वह विना शिक्षा के सम्भव नहीं है। रघुवंश में गृहिणी को पुरुष के समस्त क्षेत्रों की सहायिका के रूप में चित्रित किया गया है। वह पुरुष की संगिनी, सचिवतुल्या, सर्वप्रकार की हितोपदेशिका, सखी, प्रियशिष्या सब कुछ है।[२८]

बाणभट्ट हर्षचरित में सरस्वती का वर्णन वेदवेदांगपारंगता और ब्रह्मसूत्र[२९] से अलङ्कृत के रूप में करते हैं। जब दुर्वासा क्रोध से अन्धे हो साम का गायन् विकृत रूप में कर देते हैं तो वैदिक विकृत स्वर को सुन सरस्वती वेदना से पीडित हो जाती है। यह विना पाण्डित्य के सम्भव नहीं।[३०] इन सब उदाहरणों के प्रामाण्य से यह स्पष्ट है कि स्त्री की उपनयन आदि समस्त प्रक्रियाएँ अथवा संस्कार पुरुषों के समान होते थे। अतः अब भी होने चाहिए तभी समाज की मर्यादाएँ उच्चता को प्राप्त कर सकती हैं। स्मृतिकार मनु भी **यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः। यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः**[३१] श्लोक के माध्यम से यही स्पष्ट करना चाहते हैं। इस के विपरीत भी कुछ उपलब्ध होने वाले मनुस्मृति के श्लोकों के अनुसार स्त्रियों के संस्कार की क्रिया मन्त्ररहित[३२] करने का उल्लेख नितान्त स्वार्थी जनों द्वारा किया गया चिन्त्य कृत्य है, जो मनुस्मृति जैसे वेदानुप्राणित ग्रन्थ में प्रक्षिप्त कर दिया गया लगता है।

अन्त में कहा जा सकता है कि वैदिक प्रक्रिया के अनुसार कहीं भी नारी को अथवा शूद्र आदि किसी को भी वेद सुनने पढने के अधिकार से वञ्चित नहीं किया गया है। प्रकृति की सभी वस्तुएँ वायु, जल, अन्न, अग्नि आदि यथा सब के लिए समान रूपेण प्रयोग करने योग्य परमात्मा ने बनाई हैं वैसे ही वेदज्ञान भी सभी की भलाई के लिए व्यवहार में लाने के लिए दिया है। जिसका जितना सामर्थ्य होता है उसके अनुसार उसे प्रयोग करने के लिए वह स्वतन्त्र है। किसी व्यक्ति विशेष को उसमें बाधा डालने का अधिकार नहीं है।

---

२५. गोभिल गृह्यसूत्र १.१.१९, **प्रावृतां यज्ञोपवीतिनीम् अभ्युदानयन् जपेत्- सोमोऽददद् गन्धर्वाय।** विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य- **पुरुषार्थप्रकाश**, पृ० ४२-५०, लेखक- स्वामी विश्वेश्वरानन्द एवं ब्रह्मचारी नित्यानन्द। तथा वेदवाणी मासिकी पत्रिका का **वैदिक नारी** विशेषांक, नवम्बर २००५

२६. कुमारसम्भव ५.१६, **कृताभिषेकां हुतजातवेदसं त्वगुत्तरासङ्गवतीमधीतिनीम्। दिदृक्षवस्तामृषयोऽभ्युपागमन् न धर्मवृद्धेषु वयः समीक्ष्यते।** वही ५.३३ **अपि क्रियार्थं सुलभं समित्कुशम्।**

२७. अभिज्ञानशाकुन्तल, तृतीयांक, श्लोक सं० १३ से पूर्व, एतस्मिन् शुकोदरसुकुमारे नलिनीपत्रे नखैर्निक्षिप्तवर्णं कुरु।

२८. रघुवंश ८.६७, गृहिणी सचिवः सखा मिथःप्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।

२९. हर्षचरित, प्रथम उच्छ्वास, गद्यभाग के आदि में विद्वन्मानसनिवासलग्नेन गुणकलापेनेवांसावलम्बिना ब्रह्मसूत्रेण पवित्रीकृतकाया।

३०. द्र० वही, गद्यभाग के आरम्भ में।

३१. मनुस्मृति ३.५६

३२. वही २.६६, अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः।

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २००९ अङ्क ११ (पृ०१२१-१२६)

समकालीन पाश्चात्त्य दर्शन में मानव चेतना सम्बन्धी अवधारणाएँ

प्रो. ईश्वर भारद्वाज[1]

समकालीन पाश्चात्त्य दर्शन बीसवीं शताब्दी का दर्शन है, इसमें मानव चेतना को दार्शनिकों ने अलग-अलग प्रकार से समझा है, इन्हीं का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है-

नव्य आँग्ल निरपेक्षवाद : एफ. एच. ब्रेडले

ब्रेडले के अनुसार परम तत्त्व सचेतन है। इस सचेतन परम तत्त्व को उन्होंने 'सत्' कहा है। मानव चेतना इस सत् का आभास है। मानव चेतना का मूल केन्द्र आत्मा है। यह पूर्णता के निकट है, इसमें सत् की मात्रा अधिक है। तात्पर्य यह है कि ऐसे आभास जिनमें आन्तरिक सामञ्जस्य अधिक है, असंगति अथवा आत्म-विरोध की मात्रा कम है, वे अधिक सत् हैं। सत् (चेतनतत्त्व) जैसा लक्षण जिसमें अधिक है, वह अधिक सत् है। आत्मा अधिक सत् (चेतन) है, क्योंकि इसमें आत्म-संगति, आंतरिक सामंजस्यता, आत्म-तादात्म्य अधिक है, विभिन्नताओं की यह पूर्ण संगठित इकाई है।[2] यद्यपि आत्मा भी आभास ही है। यह आत्मा अर्थात् मानव चेतना का केन्द्रीय तत्त्व शरीर व मन को चेतनता प्रदान करता है। मनुष्य अपनी चेतना का विकास करके आत्म चेतना तथा परमात्म चेतना को प्राप्त कर सकता है।

उपयोगितावाद : जॉन डूबी के मानव चेतना सम्बन्धी विचार

जॉन डूबी का मानना है कि मानवीय अस्तित्व का मूल केन्द्र अनुभव है, मनुष्य की कल्पनाएँ, विचार, ज्ञान, संवेदनाएँ, भावनाएँ, अनुभूतियाँ सभी इसी के अन्तर्गत सम्मिलित हैं। मानवीय चेतना इन सभी के माध्यम से अभिव्यक्त होती है। उनके अनुसार मानवीय शरीर व मन को आनुभाविक स्थितियों में ही दर्शाया जा सकता है। जड़ शरीर विशेष प्रकार के आनुभाविक लक्षणों के अनुरूप अर्थ प्राप्त करता है। जैसे आनुभाविक मानव चेतना में जब तत्त्व कालक्रम में प्राप्त होते हैं, जब उनका पृथक्-पृथक् अनुभव भी होता है तथा उनमें आपसी सम्बन्ध-क्रिया-प्रतिक्रिया की सम्भावना का भी अनुभव होता है, तब उसे जड़तत्त्व कहते हैं, जिनसे शरीर निर्मित हुआ है। जब आनुभाविक चेतना में मनुष्य को सहज क्रियाओं तथा परिवर्तनों का अनुभव होता है और इन्द्रियाँ तथा नाड़ी मण्डल के कार्य व्यवहार की अवगति होती है, तब विषयवस्तु प्राणिक अर्थ ले लेती है अर्थात् यहाँ चेतना प्राण के माध्यम से कार्य करती है। इसी प्रकार आनुभाविक मानव चेतना जब साहचर्य, तार्किक सम्बन्ध, कौशल, हेर-फेर आदि का अनुभव करती है, तब वहाँ अर्थ निरूपण मन के अर्थ में होता है अर्थात् मानव चेतना यहाँ मन के कार्यों द्वारा अभिव्यक्ति पाती है।

इनके अतिरिक्त अनुभव के और भी रूप हैं, जिनके द्वारा मानव चेतना का परिचय प्राप्त होता है-(१)

---

१. अध्यक्ष, मानव चेतना एवं योग विज्ञान विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

२. प्रो. बी.के.लाल-समकालीन पाश्चात्य दर्शन, पृ. २१

अनुभव कभी-कभी उपभोगी रूप में चेतन होता है, यहाँ अनुभव एक ढंग का रसास्वादन (enjoying) है, जैसे-कलाकृति, संगीत, नृत्य आदि का अनुभव तथा (२) कभी-कभी उपयोगी श्रम के रूप में चेतन होता है, जैसे व्यावहारिक तथा क्रियात्मक कार्यों में वैज्ञानिक अनुसंधानों आदि में।[३]

यहाँ मानव चेतना की अभिव्यक्ति मन व शरीर के कार्यों द्वारा प्रतिपादित है, इसके गहन स्वरूप की विवेचना यहाँ प्राप्त नहीं होती।

नव-वास्तववाद : शिलर की मानव चेतना सम्बन्धी मान्यता

शिलर के अनुसार भी मानव चेतना की अभिव्यक्ति उसके शरीर व मन द्वारा होती है। मन, बुद्धि के सभी कार्य विचार, कल्पना, ज्ञान, अनुभव आदि सब चेतना की उपस्थिति में ही होते हैं। चेतना की प्रक्रियाओं में ज्ञाता का किसी विषय (ज्ञेय) के साथ आकस्मिक सम्बन्ध होता है।

नव-वास्तववादी विचारकों ने कभी-कभी इसे अन्वेषक प्रकाश (Search light) का नाम भी दिया है। इसका अर्थ मात्र यही है कि विषयी का सम्बन्ध एक प्रकाश के रूप में विषय के उस स्वरूप को देखता है, जो उस प्रकाश से व्यक्त हो रहा है। मानव चेतना की उपस्थिति से ही वस्तु अपने मौलिक स्वरूप में ज्ञात होती है।

हेनरी बर्गसाँ की मानव चेतना सम्बन्धी दृष्टि

हेनरी बर्गसाँ के अनुसार परम तत्त्व सत् है और उसका अभिव्यक्त रूप चेतना है। इसकी प्रवृत्ति जीव-शक्ति के अनुरूप है, जो सत् के स्वरूप का अंश है। मानव चेतना इस मूल चेतना की अभिव्यक्ति का श्रेष्ठतम रूप है।[४] वह स्वयं में उस बिन्दु को प्रस्तुत करता है, जिस पर मूल चेतना ने जड़त्व से पूर्णतया मुक्त होकर कार्य करने की सामर्थ्य स्वयं में विकसित कर ली है।[५] मनुष्य में चेतना दो स्वरूपों में है। प्रथम-जो चेतना उसके सामान्य अनुभवों में मस्तिष्क के माध्यम से क्रियाशील रहती है। इससे मानव चेतना का वह स्वरूप स्पष्ट होता है, जो चेतना सामान्य अनुभूतियों, जैसे प्रत्यक्षानुभूति, वैचारिक क्रिया आदि में उजागर होता है। यह चेतना का सामान्य, व्यावहारिक सीमित स्वरूप है। इसके अतिरिक्त मानव चेतना का ही द्वितीय स्वरूप मौलिक तात्त्विक स्वरूप है, जो चेतना की वास्तविकता है तथा जिस रूप में वह सत् से जुड़ी है। चेतना का प्रथम स्वरूप जड़ वस्तु के सामान्य जीवन की व्यावहारिक चित्शक्ति के साथ जुड़ा है तथा द्वितीय स्वरूप जड़वस्तु के उस चित् से सम्बन्धित है, जो जड़वस्तु को आन्तरिक दृष्टि से देखने पर स्पष्ट होता है।

बर्गसाँ ने इस प्रकार मानव चेतना के दो स्वरूपों की बात की है। प्रथमत: उन्होंने सामान्य, व्यावहारिक चेतना को परिभाषित किया है। बर्गसाँ के अनुसार मनुष्य व्यावहारिक सुविधानुसार सतत गतिशील, सतत प्रवाह से पृथक् करके जड़वस्तु का स्वरूप बना लेता है। व्यावहारिक आवश्यकता के अनुरूप मनुष्य एक शरीर व मन

---

३. वही, पृ. ६८

४. लक्ष्मी सक्सेना-समकालीन पाश्चात्य दर्शन, पृ. २८७

५. Henery Bergsan- Creative Evolution, p. 264

की भी कल्पना कर लेता है। इस शरीर में एक संवेदनात्मक तथा पेशीय उपकरण होता है तथा एक केन्द्र भी होता है, जिसे मस्तिष्क कहते हैं। इन्हीं माध्यमों की सहायता से मनुष्य जड़वस्तु को सुविधानुसार पृथक्-पृथक् रूप से ग्रहण करता जाता है। सामान्य दृष्टि से इसे ही चेतना कहते हैं।

अत: बर्गसाँ के अनुसार इस अर्थ में चेतना भी व्यावहारिकता का कार्य सम्पन्न करती है। इसका कार्य मूलत: सम्भव क्रियाओं की रूपरेखा निर्धारित करना है। जिस शारीरिक तथा मस्तिष्क-आधृत किया से इस प्रकार की चेतना का उद्भव होता है, वह वस्तुत: यह निश्चित करती है कि किस प्रकार की क्रिया सम्पन्न होगी। चेतना की कोई भी अभिव्यक्ति ऐसी नहीं है, जिसमें बीजरूप में क्रियात्मकता विद्यमान न हो।

बर्गसाँ का मानना है कि मानव चेतना मस्तिष्क द्वारा सर्जित नहीं है, अपने होने के लिए उस पर आधारित नहीं है। मस्तिष्क एक शारीरिक तन्त्र है जो चेतना-क्रिया के चुनाव के ढंग में सहयोग प्रदान करता है। चेतना मस्तिष्क से जनित नहीं है। वस्तुत: मस्तिष्क की क्रियाओं तथा शारीरिक क्रियाओं में चेतना पूर्णतया व्यक्त भी नहीं होती। ये क्रियाएँ तो यांत्रिक हैं, जो सामान्य व्यावहारिक जीवन में चेतना अथवा चेतनक्रिया के साथ गतिमान् प्रतीत होती हैं, किन्तु वस्तुत: मस्तिष्क अथवा शरीर की क्रियाओं का अवबोध भी तो चेतना है। अत: इस दृष्टि से भी चेतना पूर्णतया शारीरिक नहीं है तथा इसका अनिवार्य सम्बन्ध क्रियात्मकता से है।

बर्गसाँ ने व्यावहारिक मानव चेतना के इस स्वरूप में मस्तिष्क की भूमिका का और अधिक स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया है। वह लिखते हैं कि मनुष्य का प्रमस्तिष्क तन्त्र कुछ इस प्रकार कार्यरत होता है कि वह ज्ञान (जानकारी) के पूर्ण प्रवाह को चेतन स्तर पर आने से रोके रहता है अर्थात् यह प्रवृत्तियों के प्रवाह को अवरुद्ध करता है। केवल उपयोगी प्रवृत्तियों को चेतन स्तर पर लाता है। इसे ही स्मृति (Memory) कहते हैं, किन्तु वस्तुत: मस्तिष्क समस्त प्रवृत्तियों के ज्ञान में बाधक है। यह चुनाव का तन्त्र है। इसी कारण इसमें किंचित् मात्र भी विकार उत्पन्न होने पर इस प्रकार के व्यावहारिक चुनाव में बाधा उत्पन्न होती है। इसी कारण स्मृति की चेतना भी सीमित प्रतीत होती है। अत एव कहा जा सकता है कि मनुष्य के साधारण सामान्य जीवन में मानव चेतना का जो स्वरूप स्पष्ट है, जिसका रूप विभिन्न सामान्य अनुभूतियों में प्रत्यक्षात्मक, भावनात्मक, स्मृतिरूप, विचारात्मक आदि अनुभूतियों में दिखाई देता है, वह चेतना का सीमित रूप है।

बर्गसाँ चेतना के इस व्यावहारिक, सामान्य सीमित स्वरूप के अतिरिक्त मूल चेतना की बात करते हैं, जो व्यावहारिकता की माँगों के अनुरूप सीमित ढंग से प्रकट नहीं होती। इस दृष्टि से चेतना मूल प्रवृत्ति की पूर्ण अभिव्यक्ति है, प्रकृति के प्रवाह की दिशा है। मानव चेतना के इस स्वरूप को उन्होंने एक उदाहरण के माध्यम से समझाया है, जैसे-एक व्यक्ति लिखते-लिखते तनाव की स्थिति में आ जाता है। तनाव कम करने हेतु वह हाथों को ऊपर उठाकर व पैरों को फैलाकर अँगड़ाई लेता है। सामान्य व्यावहारिक दृष्टि से यह हाथ-पैर शरीर की गति की चेतना है। किन्तु वस्तुत: यह चेतना उस 'तनाव को कम करने की प्रवृत्ति' की है, जिसे हाथ-पैर शरीर की गति में बाँध नहीं सकते, जो एक प्रवृत्ति है और हाथ, पैर, शरीर की सभी गतियाँ उसी के अंग हैं, उसी की अभिव्यक्ति हैं। यही चेतना का मूल स्वरूप है। इस स्वरूप में वह प्रवृत्ति के अग्रसर होने की दिशा है। प्रवाह की अग्रप्रेषित गति है। चेतना का यह विवरण चेतना को सतरूप बना देता है। सत् के साथ एक कर देता है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि बर्गसाँ के अनुसार मानव चेतना के दो रूप हैं। एक मूल तात्त्विक स्वरूप है, जिसमें यह जड़वस्तु के आन्तरिक दृष्टि से उभरे हुए स्वरूप से सम्बन्धित है, यह चेतना की अग्रप्रेषित गति है, जीव शक्ति के अग्रसर होने की दिशा है, परन्तु मस्तिष्क तन्त्र इस गति में व्यावहारिक सुविधा हेतु कुछ अवरोध उत्पन्न कर देता है तथा जड़वस्तु का स्थिर चित् बना देता है। इसी कारण जड़ वस्तु का यह चित् जीव शक्ति के प्रवाह को सामान्य दिशा के विपरीत है। प्रवाह गति में अवरोध करने का प्रयास है। यह मानव चेतना का सामान्य, व्यावहारिक स्वरूप है।

एडमण्ड हुसर्रल के मानव चेतना सम्बन्धी विचार

हुसर्रल के दर्शन सिद्धान्त का नाम फेनॉमेनालॉजी है। इसके अध्ययन का मूल विषय ही चेतना है। चेतना क्या है? हुसर्रत इस प्रश्न का उत्तर देते हैं-विषयापेक्षा (International)। चेतना सदैव किसी वस्तु की चेतना होती है। सभी चेतन क्रियाओं का मूल स्वरूप लक्ष्योन्मुखी अथवा विषयाभिमुखी (directional) होता है। वे सभी किसी वस्तु अथवा घटना चाहे वह वस्तुगत रूप से वास्तविक हो या नहीं, का निर्देश करते हैं। इस प्रकार 'प्रत्येक विचार किसी वस्तु का अथवा वस्तु के विषय में विचार होता है, प्रत्येक स्मरण होता है, प्रत्येक कल्पना किसी वस्तु की कल्पना होती है, अत एव समस्त चेतना किसी वस्तु की चेतना होती है।'[६] चेतना की मूल संरचना में इस प्रकार की लक्ष्योन्मुखता होने के कारण इसे विषयापक्षी कहा जाता है। विषयापेक्षा का अर्थ है कि प्रत्येक चेतन क्रिया एक बर्हिगामी वेक्टर है, जिसके तीन पक्ष हैं-आत्मा, चिंतन तथा विषय। इस वेक्टर की गति का स्रोत आत्मा है तथा जिस बिन्दु की ओर यह गति निर्दिष्ट है, वह विषय या वस्तु है। इस प्रकार विषयापेक्षी क्रियाओं की संरचना में दो ध्रुव हैं-विषयी तथा विषय। हुसर्रल इन दोनों को क्रमशः विषयीमूलक तथा विषयमूलकपक्ष या ध्रुव कहता है, किन्तु इन ध्रुवों में कोई आत्यंतिक द्वैत नहीं है। उसके अनुसार विषयापेक्षा वेक्टर रूप तो है ही, इसके साथ ही उसका एक अन्य मूलभूत लक्षण चेतना की एकता भी है। अस्तित्व अथवा सत्ता का अर्थ एक ही साथ विषयी का विषय और विषय का विषयी होना है। शुद्ध विषयी का स्वयं में कोई अर्थ नहीं है। विषयी इसलिए विषयी है कि उसके लिए कोई विषय प्रदत्त है, उसके समक्ष कोई वस्तु विद्यमान है। अत एव विषयी और विषय में एक मौलिक एकता और परस्पर सम्बद्धता है; विषयापेक्षी चेतना इसी एकता का सिद्धान्त है। चेतना ही घटनाओं का मूल है, सार्थक सत्ता का आधार है। यह विषयी, विषय के सम्बन्ध की आधारभूमि है। चेतना केवल विषय तक ही सीमित नहीं है; यह समस्त सत्ता को परिवेष्टित करती है।[७]

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर हुसर्रल की दृष्टि में मानव चेतना का स्वभाव स्पष्ट होता है। इस चेतना का मूल केन्द्र उन्होंने पूर्वी दार्शनिकों के आत्मतत्त्व को ही माना है-यही शुद्ध सत्ता। इसे उन्होंने

---

६. "The essena of consciousness, in which I live as my ownself, is the so called intentionality. Consciousness is always consciousness of something." -Paris Lecturer, p. 12-13

७. "Reason and Unreason-Understood in widest sense, do not represent structure of transcendental subjectivity." -Paris Lecturer. p. 22

transcendental कहा गया है और इससे बाहर जो कुछ भी है उसे transcendent कहा है। मनुष्य का लक्ष्य इसी transcendental की अनुभूति व अध्ययन करना बताया है जो कि शुद्ध चेतना लोक है।

यास्पर्स की मानव चेतना सम्बन्धी मान्यता

यास्पर्स मानवीय सत्ता को 'आत्मगत सत्ता' नाम से सम्बोधित करते हैं। इस आत्मगत सत्ता के अन्तर्गत इन्द्रियानुभविक सत्ता, चिन्मात्र, चित् और अस्तित्व आते हैं। इनमें जो 'अस्तित्व' नाम से कही गयी है। यही मानव चेतना का मूल केन्द्र है, जिसकी चेतनता से मानव सत्ता के शेष भाग भी सचेतनता प्राप्त करते हैं। इन चारों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है-

(१) **इन्द्रियानुभविक सत्ता**-यह मनुष्य के जीवन का स्तर है, इससे मनुष्य का उसके परिवेश के संदर्भ में बोध होता है। यास्पर्स ने इसे 'तन्त्रास्ति' कहा है। 'मैं कहाँ हूँ' 'हम कहाँ है?' आदि वाक्यों में इस सत्ता की अभिव्यक्ति शाब्दिक रूपों में की जाती है। इससे मनुष्य के उस सजीव रूप का बोध होता है, जिसका कि एक मनोवैज्ञानिक पक्ष है। सत्ता के इस स्तर पर मनुष्य शारीरिक क्रियाओं, मनोवैज्ञानिक अनुभवों और सामाजिक नियमों के रूप में वस्तुपरक निरीक्षण का विषय बन जाता है। यह कहा जा सकता है कि मानव चेतना की अभिव्यक्ति जो शरीर, इन्द्रियों व मन के स्थूल कार्यों द्वारा होती है।

(२)**चिन्मात्र**-इस स्तर पर प्रत्येक वस्तु विषय और विषयी में विभक्त प्रतीत होती है। प्रत्येक वस्तु को अपने अस्तित्व हेतु मानव चेतना के समक्ष एक वस्तु के रूप में उपस्थित होना पड़ता है। चिन्मात्र की कोटियाँ वस्तु को वस्तुपरक बना देती हैं। दो चेतनाओं के लिए जो वस्तु समान रूप से एक होगी वही संज्ञापन का विषय बन सकती है। यह इस तरह वैज्ञानिक नियम और सौन्दर्यपरक तथा नैतिक मानकों या आदर्शों का स्तर है।

(३) चित्-मानवीय चेतना का यह स्तर बुद्धिगम्य विचार, क्रिया और वेदना का संघात है। इसका बोध अन्तरोन्मुख होने से होता है। चित् के रूप में मनुष्य स्वयं को प्रत्येक ज्ञेय वस्तु से सम्बन्धित करता है। यह चित् ही चिन्मात्र को अर्थ व सम्पूर्णता प्रदान करता है। यह सृजन का केन्द्रबिन्दु है। यास्पर्स के अनुसार सत्ता स्वयं को सीधे-सीधे अभिव्यक्त नहीं करती। यह प्रतीकों के माध्यम से स्वयं को अभिव्यक्त करती है। चित् कला के माध्यम से अभिव्यक्ति की यह क्षमता प्रतीकों को प्रदान करती है। यह सत्ता का संज्ञापन सौन्दर्यपरक आयामों में करता है, प्रतीकोपाख्यानों के द्वारा करता है। ये स्वयं में काल्पनिक होते हैं, परन्तु वे वह भाषा प्रदान करते हैं, जिसके द्वारा सत्ता की अभिव्यक्ति सम्भव हो सकती है। चित् एकता का प्रेरक है। सम्पूर्ण होने की इच्छा है। यह प्रत्येक वस्तु को सार्वभौमिकता और सम्पूर्णता की कोटियों में रखने का प्रयास करता है। इस तरह यह स्तर मानव चेतना की उपस्थिति का गहन व आन्तरिक पक्ष है। यथार्थतः यही मानव चेतना को वर्तमान स्थिति का आधारभूत स्तर है।

(४) अस्तित्व-वस्तुगत सत्ता, चिन्मात्र और चित् मनुष्य के वर्तमान स्वरूप को अभिव्यक्त करते हैं कि वह वर्तमान समय में यथार्थतः क्या है। 'अस्तित्व' यह सूचित करता है कि मनुष्य में क्या होने की सम्भावना है। अर्थात् मनुष्य क्या हो सकता है? इसीलिए यास्पर्स इसके लिए 'सम्भाव्य अस्तित्व' पद का प्रयोग करते हैं। सत्ता के अन्य प्रकारों की भाँति अस्तित्व वस्तुपरक नहीं हो सकता। यह विज्ञान की कोटि के माध्यम से ज्ञेय नहीं है।

यह आप्तता का प्रेरक है। यह आत्मतत्त्व है। यह तथाकथित कोटियों के माध्यम से वर्णनातीत है। यह समस्त ज्ञान की परिधि पर स्थित 'अँधेरी पृष्ठभूमि'[८] है।

मानव चेतना की यह विकसित स्थिति है। इसकी प्राप्ति उस अनुभव से होती है, जिसका सम्बन्ध सीमा परिस्थितियों, उच्छेदवाद के आकस्मिक मिलन, अस्तित्ववादी संज्ञापन की समाप्ति तथा अन्य ऐसी स्थितियों से है।[९] मानव चेतना की इस विकसित स्थिति में उससे स्वयं परमात्म चेतना ही अभिव्यक्ति पाती है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि यास्पर्स कुछ पूर्वी दार्शनिकों की मान्यता के निकट हैं, जैसे-वह उन्हीं की तरह मनुष्य का लक्ष्य परम तत्त्व की प्राप्ति को बताते हैं तथा कुछ अन्य मान्यताएँ भी उनके अनुरूप हैं।

सार्त्र की दृष्टि में मानव चेतना

सार्त्र ने मानव चेतना को चेतनसत्ता (Being of itself) की संज्ञा दी है। उनके अनुसार मानव एक चेतन सत्ता है। इसके अतिरिक्त वह चेतना के दो आयाम अचेतन सत् (Being itself) तथा अन्य सत्ता (Being got others) भी बताते हैं। इनमें अचेतन सत् के अन्तर्गत जागतिक तत्त्व व अन्य सत्ता के अन्तर्गत अन्य प्राणी आते हैं।

मानव चेतना की व्याख्या करते हुए सार्त्र लिखते हैं कि मानव चेतना वस्तुतः एक विचित्र विरोधाभास है, क्योंकि 'वह जो है, वह नहीं है तथा जो वह नहीं है, वह है।'[१०] अर्थात् मनुष्य के लक्षण अनिश्चित होते हैं, वे समयानुसार परिवर्तित होते रहते हैं। मनुष्य के अस्तित्ववान् होने का अर्थ है कि यह सदैव अपने अस्तित्व की चेतना है तथा वह आत्म अस्तित्व की चेतना सदैव नये-नये ढंग से उभरती रहती है।

सार्त्र का मानना है कि चेतना में एक 'कमी' की चेतना होती है तथा चेतन मनुष्य सदैव उस कमी को दूर करता रहता है। यही 'कमी की अनुभूति' वस्तुतः उस मानवीय शक्ति का सूचक है। जिसके द्वारा मनुष्य चेतन निर्णय लेता है, 'स्वीकार' एवं 'निषेध' करता है। इस निर्णय लेने की शक्ति को स्वतन्त्रता कहा गया है, जिसे मानव चेतना का अनिवार्य लक्षण माना गया है। इस तरह स्पष्ट है कि सार्त्र के अनुसार चेतना ही मनुष्य को अस्तित्ववान् बनाती है। वह इसका विकास कर सकता है। चेतना का वर्तमान् स्वरूप अविकसित स्थिति में है।

---

८. Philosophy of Karl Jaspers. p. 100

९. Ibid. p. 180

१०. प्रो. बी.के.लाल-समकालीन पाश्चात्य दर्शन. पृ. ५५८

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २००९, अङ्क ११ (पृ०१२७-१३४)

बौद्धन्याय में हेत्वाभास : आचार्य धर्मकीर्ति

डॉ. देवी सिंह[१]

प्रत्येक दर्शन ज्ञानमीमांसा के बल पर ही दार्शनिक जगत् में अपना महत्त्व रखता है। भारतीय न्याय के अन्तर्गत बौद्धन्याय के उद्भव से अन्य दार्शनिक-सम्प्रदायों ने भी अपने-अपने सिद्धान्तों को एक परिष्कृत और परिमार्जित रूप प्रदान किया है। बौद्धन्याय का जनक दिङ्नाग को माना जाता है। आचार्य दिङ्नाग ने प्रमाण के दो भेद स्वीकार हैं - प्रत्यक्ष और अनुमान। उनके परवर्ती आचार्यों ने भी उनका अनुसरण किया है। बौद्धन्याय के सुविख्यात आचार्य धर्मकीर्ति ने अनुमान वाग्यावयवों में केवल 'हेतु' और 'दृष्टान्त' को ही स्वीकार किया है और उनमें से भी 'हेतु' को अधिक स्वीकार किया है। उनका मानना है कि जो व्यक्ति अव्युत्पन्न हैं उसके लिये 'हेतु' और 'दृष्टान्त' दोनों की आवश्यकता होती है, परन्तु व्युत्पन्न जन को केवल 'हेतु' से ही ज्ञान हो जाता है। 'हेतु का लक्षण करते हुए धर्मकीर्ति लिखते हैं -

पक्षधर्मस्तदंशेनव्याप्तो हेतुः त्रिधैव सः।
अविनाभावनियमाद् हेत्वाभासास्ततोऽपरेऽत्र॥[२]

अर्थात् पक्ष का जो धर्म है उस धर्म के एक अंश से जो व्याप्त है वह हेतु कहलाता है, जो अविनाभाव नियम से तीन प्रकार का होता है और उससे भिन्न अर्थात् हेतु के तीन रूपों में से यदि एक भी कम हो तो वह हेतु का एक सद्हेतु न होकर असद् हेतु या हेत्वाभास कहलायेगा।

हेत्वाभास का अर्थ एवं लक्षण

किसी विषय को ठीक प्रकार से जानने के लिये उसके गुणों और अवगणों को समझना आवश्यक होता है, यथा - दिन को जानने के लिये रात्रि को जानना जरूरी है और रात्रि को जानना के लिये दिन का ज्ञान होना भी आवश्यक है, ठीक उसी प्रकार एक सद्हेतु को समझने के लिये असद्हेतु को भी समझना अत्यावश्यक है। गङ्गेश उपाध्याय कहते हैं कि हेत्वाभास सद्हेतु के समान 'तत्त्वनिर्णय' और 'विजय' के प्रयोजक होते हैं।[३] गदाधर का कथन है - 'जब तक वादी अथवा प्रतिवादी अपन प्रतिपक्षी द्वारा प्रयुक्त हेत्वाभासों का निरास करने की क्षमता नहीं रखता, तब तक विजयश्री उसके चरण-चुम्बन नहीं कर पाती है। इसलिये स्वपक्षस्थापन और परपक्ष खण्डन के लिये हेत्वाभासों का ज्ञान होन अपरिहार्य है।[४]

असद् हेतु को हेत्वाभास कहते हैं। वह वस्तुतः हेतु नहीं होता (अहेतुरिति यावत्), अपितु हेतु के समान

---

१. संस्कृत-पालि-प्राकृतविभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र
२. हेतुबिन्दु पृ० ५२
३. अथ हेत्वाभासास्तत्त्वनिर्णयविजयप्रयोजकत्वात्। तत्त्वाचिन्तामणि, पृ०१५-१९
४. गादाधरी, पृ०१५७९-८०

भासित होता है।[५] 'हेत्वाभास' शब्द व्युत्पत्ति के आधार पर दो प्रकार से निष्पन्न होता है - (क) **हेतु का दोष**, इस अर्थ में 'हेत्वाभास' शब्द की व्युत्पत्ति है - **आभासते इत्याभासः हेतोराभासः हेत्वाभासः** अर्थात् हेतु के आभास का नाम हेत्वाभास है। फलतः जिसके ज्ञान से अनुमिति के कारण अथवा साक्षात् अनुमिति का ही प्रतिबन्ध हो जाता है वह हेत्वाभास अथवा हेतुदोष कहलाता है। (ख) **दुष्ट हेतु** - इस अर्थ में 'हेत्वाभास' शब्द की व्युत्पत्ति है - **'हेतुवद् आभासते इति हेत्वाभासः'** अर्थात् जो हेतु के समान भासित होता है, वस्तुतः दोषयुक्त होने के कारण हेतु नहीं होता, वह हेत्वाभास कहलाता है।[६]

वैशेषिक दर्शन के अनुसार हेत्वाभास का लक्षण है - 'जो प्रसिद्धियुक्त न हो, वह अनपदेश अथवा हेत्वाभास कहलाता है।[७] तत्त्वचिन्तामणिकार ने हेत्वाभास का लक्षण तीन प्रकार से दिया है- (क) अनुमिति के कारणीभूत अभाव के प्रतियोगी यथार्थज्ञान की विषयता जिसमें रहती है, वही हेत्वाभास कहलाता है[८], (ख) जिसका विषय बनकर लिङ्गज्ञान अनुमिति का प्रतिरोध करता है उसे हेत्वाभास कहते हैं[९], (ग) जो दोष ज्ञायमान होते हुए अनुमिति का प्रतिरोध करे, वही हेत्वाभास है।[१०] तर्कभाषाकार कहते हैं - **पक्षधर्मत्वादिरूपानां मध्ये येन केनापि रूपेण हीना अहेतवः। तेऽपि कतिपयहेतुरूपयोगाद्धेतुवदाभासमाना हेत्वाभासाः**[११] अर्थात् जो पक्षधर्मत्व आदि आवश्यक हेतुरूपों में से किसी एक से भी हीन होता है तथा कतिपय हेतु-धर्मों के योग से हेतु-सा भासित होता है, वही हेत्वाभास कहलाता है।

बौद्धन्याय में हेत्वाभास

बौद्धन्याय के अन्तर्गत वही हेतु एक सद्हेतु हो सकता है जो पक्ष में रहता हो, सपक्ष में भी रहता हो, परन्तु विपक्ष में नहीं रहता हो।[१२] हेतु के इन तीनों रूपों में से यदि एक का भी अभाव होता है तो वह असद्हेतु या हेत्वाभास कहलायेगा - ऐसा धर्मकीर्ति का मत है।[१३] दिङ्नाग के ग्रन्थ 'न्यायप्रवेश' में हेत्वाभास की कोई परिभाषा नहीं दी गई है, तथापि उनके टीकाकार हरिभद्र सूरि लिखते हैं - **'हेतुवदाभासन्ते इति हेत्वाभासाः'**[१४] अर्थात् जो हेतु के समान आभासित होते हैं, वे हेत्वाभास कहलाते हैं। 'हेत्वाभास' शब्द दो शब्दों के योग से बना है- हेतु+आभास। अनुमानवाक्य में हेतु के स्थान पर प्रयोग किये जाने के कारण यहाँ प्रथम पद 'हेतु' है, किन्तु

---

५. श्रीनिवासशास्त्रीकृत, तर्कभाषा (केशव०), पृ०१०९

६. त० भा० (केशव०), पृ०१०९

७. वैशेषिकसूत्र, ३.१.१५

८. तत्रानुमितिकारणीभूताभावप्रतियोगीयथार्थज्ञानविषयत्वम्। त० चि०, पृ०१५८०

९. यद्विषयत्वेन लिङ्गज्ञानस्यानुमिति विरोधित्वम्। वही

१०. ज्ञायमानं सदनुमितिप्रतिबन्धकं यतत्वं हेत्वाभासत्वम्। वही

११. त०भा० (केशव०), पृ०२७१

१२. न्यायबिन्दुटीका, २.५

१३. त्रयाणां रूपाणां एकस्यापि रूपस्यानुक्तौ साधनाभासः। न्या० बि०, ३.५५

१४. न्यायप्रवेशसूत्रवृत्ति, पृ०२२, पृ० १८

वह स्थानीय अपने साध्य को सिद्ध करने में असमर्थ है, इसलिये द्वितीय पद 'आभास' रखा गया है, क्योंकि किसी भी वस्तु का आभास (प्रतिभास) यथार्थ वस्तु के कार्य को सम्पन्न करने में समर्थ नहीं होता।[१५] संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि सद्हेतु के लक्षण को पूरा न करने पर भी अनुमानवाक्य में हेतु के स्थान पर प्रयोग किया जाने वाला वाक्य हेत्वाभास कहलाता है।

धर्मकीर्ति के अनुसार हेत्वाभास के भेद :

आचार्य धर्मकीर्ति के अनुसार हेत्वाभास के भेदों को जानने से पूर्व अन्य बौद्धाचार्यों के मतों को भी जानना आवश्यक है। प्राचीन बौद्धपरम्परा में 'नागार्जुन' ने हेत्वाभासों का विवेचन करते हुए आठ प्रकार के हेत्वाभासों का वर्णन किया है - वाक्छल, सामान्यछल, संशयसम, कालातीत, प्रकरणसम, वर्ण्यसम, सव्यभिचार और विरुद्ध। इनमें से वाक्छल, सामान्यछल, संशयसम और वर्ण्यसम को जाति का ही अवान्तर भेद माना गया है और शेष चार हेत्वाभास माने जा सकते हैं।[१६] आचार्य **असङ्ग** ने दो अनिश्चित या अनैकान्तिक तथा साध्यसम हेत्वाभासों का उल्लेख किया है।[१७] **वसुबन्धु** ने अपनी वादविधि में तीन प्रकार के हेत्वाभासों का वर्णन किया है - (क) असिद्ध, (ख) अनिश्चित, (ग) विरुद्ध।[१८] वसुबन्धु के इन तीन हेत्वाभासों को उत्तरवर्ती लगभग सभी बौद्धाचार्यों ने स्वीकार किया है। **दिङ्नाग** ने भी हेत्वाभास के तीन भेदों को स्वीकार किया है- अनैकान्तिक, विरुद्ध और असिद्ध।[१९] आचार्य धर्मकीर्ति ने भी दिङ्नाग का अनुसरण करते हुए तीन हेत्वाभासों का वर्णन अपने ग्रन्थों में किया है, वे तीन हैं - असिद्ध, अनेकान्तिक और विरुद्ध।

असिद्ध हेत्वाभास :

असिद्ध हेत्वाभास का लक्षण करते हुए धर्मकीर्ति लिखते हैं - **'एकस्य रूपस्य धर्मिसम्बन्धस्यासिद्धौ सन्देहे वाऽसिद्धौ हेत्वाभासः'**[२०] अर्थात् धर्मी से सम्बन्धित एक रूप की असिद्धि होने पर या सन्देह होने पर असिद्ध नामक हेत्वाभास होता है, उदाहरणतः **'यथा - अनित्यः शब्द इति साध्ये चाक्षुषत्वम् उभयासिद्धम्'**[२१] अर्थात् 'शब्द अनित्य है' - यह सिद्ध करने के लिये दिया गया 'चाक्षुषत्व' हेतु दोनों (वादी और प्रतिवादी) के प्रति असिद्ध है। तात्पर्य यह है कि इस अनुमानवाक्य में 'शब्द' पक्ष है, जिसमें 'अनित्यता' साध्य है और 'चाक्षुषत्व' हेतु है, किन्तु यह हेतु वादी हो या प्रतिवादी दोनों की दृष्टि से शब्दरूप पक्ष में असिद्ध है, अविद्यमान होने से क्योंकि 'शब्द' श्रोत्र का विषय होता है, चक्षुओं का नहीं। धर्मकीर्ति ने असिद्ध हेत्वाभास के चार

---

१५. हेतुस्थानप्रयुक्तत्वात्साध्यासाधनाच्चेत्यर्थः। न्या० प्र०पृ०, पृ०५४, ३१
१६. (क) विद्याभूषण एचआईएल पृ० २६० (ख) बृजनारायण शर्मा, भारतीयदर्शन में अनुमान प्रमाण, पृ०३६३
१७. डॉ०लक्ष्मीमोर, न्याय-प्रवेश-सूत्रम् - एक विवेचन, पृ०१२०-२१
१८. स्टेफन एनेकर, सेवन वर्क्स ऑफ वसुबन्धु पृ०३९
१९. एचआईएल पृ० २९९
२०. न्या०बि०, ३.५७
२१. वही, ३.५८

उपविभाग किये हैं - (क) उभयासिद्ध, (ख) वाद्यसिद्ध, (ग) सन्दिग्धासिद्ध, (घ) आश्रयासिद्ध।

(क) उभयासिद्ध हेत्वाभास - इस हेत्वाभास का वर्णन उपर्युक्त पंक्तियों में किया जा चुका है।

(ख) वाद्यसिद्ध हेत्वाभास - 'चेतनास्तरवः इति साध्ये सर्वत्वगपहरणे मरणं प्रतिवाद्यसिद्धम्'[२२] अर्थात् 'वृक्ष-चेतन हैं' यह सिद्ध करने के लिये (वादी जैन द्वारा) 'समस्त त्वचा हटा देने पर मृत्यु होना' यह हेतु प्रतिवादी बौद्ध के प्रति असिद्ध है, क्योंकि यह विज्ञान, इन्द्रिय तथा आयु (प्राण) के निरोध को ही मृत्यु मानता है और वह मृत्यु वृक्षों में सम्भव नहीं है। धर्मकीर्ति वाद्यसिद्ध हेत्वाभास के लिये एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं - **'अचेतनाः सुखादय इति साध्य उत्पत्तिमत्त्वम्, अनित्यं वा सांख्यस्य स्वयंवादिनोऽसिद्धम्'**[२३] अर्थात् 'सुख आदि अचेतन हैं' - इसकी सिद्धि के लिये 'उत्पत्तिमान् होना' अथवा 'अनित्य होना' - ये हेतु स्वयं सांख्यमतानुयायी वादी के प्रति असिद्ध है। टीकाकार धमोत्तर कहते हैं **-तथा चोत्पत्तिमन्तोऽनित्या वा सुखादयः तस्माद् अचेतनाः**[२४] अर्थात् जो-जो उत्पत्तिमान् है या अनित्य है, वे चेतन नहीं होते, जैसे - रूप इत्यादि, उसी प्रकार सुखादि भी अनित्य हैं, अतः अचेतन हैं। अभिप्राय यह है कि बौद्ध के अनुसार उत्पत्ति - असत् की उत्पत्ति और अनित्यता का अर्थ है सत् का निरन्वय-विनाश। इन दोनों अर्थों को सांख्य स्वीकार नहीं करता। उसके प्रति दोनों असिद्ध हैं। उत्पत्तिमत्व या अनित्यत्व हेतु वादी (सांख्य) की दृष्टि से असिद्ध है। इसलिये यहाँ असिद्ध नामक हेत्वाभास हो जाता है।[२५] यहाँ चूंकि हेतुवादी को असिद्ध है, इसलिये वाद्यसिद्ध हेत्वाभास हुआ है।

(ग) सन्दिग्धासिद्ध हेत्वाभास - 'तया स्वयं तदाश्रयणस्य वा सन्देहेऽसिद्धः'[२६] अर्थात् स्वयं हेतु अथवा उसके आश्रय का सन्देह होने पर असिद्ध (हेत्वाभास) होता है। सूत्र में 'स्वयं' शब्द का अर्थ है - **'स्वयं इति हेतोरात्मनः सन्देहेऽसिद्धः'**[२७] अर्थात् हेतु के स्वरूप का सन्देह होने पर वह (हेतु) असिद्ध होता है। 'तदाश्रयण' शब्द से अभिप्राय है - 'उस हेतु का आश्रय अर्थात् जिसमें हेतु आश्रित होता है, वह हेतु से भिन्न उसका आश्रय होने वाला साध्यधर्मी (पक्ष) आश्रयण कहा गया है। उस साध्यधर्मी में विद्यमान हेतु ही साध्य का बोधक माना जाता है और उस आश्रयण का सन्देह होने पर संन्दिग्धासिद्ध हेत्वाभास होता है।[२८]

(घ) आश्रयणासिद्ध हेत्वाभास - आश्रयासिद्ध ही आश्रयणासिद्ध है। आचार्य दिङ्नाग की भाँति धर्मकीर्ति ने भी आश्रयासिद्ध को उदाहरण देकर समझाया है। मोक्षाकरगुप्त आश्रयासिद्ध का लक्षण देते हुए कहते

---

२२. वही, ३.५९

२३. न्या०बि०, ३.६०

२४. न्या०बि०टी०, पृ०२६६

२५. यदि त्वनित्यत्वोत्पत्तिमत्त्वयोः प्रामाण्यं वादिनो ज्ञात स्यात् तदा वादिनोऽपि सिद्ध स्यात्। ततः प्रमाणापरिज्ञानाद इदं वादिनोऽसिद्धम्। न्या०बि०टी०, पृ०२६७

२६. न्या०बि०, ३.६१

२७. न्या०बि०टी०, पृ०२६७

२८. तदाश्रयणस्य वेति - तस्य हेतोराश्रयणम् आश्रीयतेऽस्मिन् हेतुरित्याश्रयणं हेतोर्व्यतिरिक्त आश्रयभूतः साध्यधर्मी कथ्यते। तत्र हि हेतुर्वर्तमानो गमकत्वेनाश्रीयते। तस्याश्रयणस्य सन्देहे संन्दिग्धः। वही, पृ०२६७-६८

हैं - **यत्र तु धर्मिणि साध्यं साधयितुमारब्धं तस्य धर्मिण: प्रमाणबाधित्वे आश्रयासिद्धिर्हेतोर्दूषणम्**[२९] अर्थात् जहाँ धर्मी (पक्ष) में साध्य को सिद्ध करना चाहते हैं, वहाँ उस पक्ष के प्रमाण से बाधित होने पर आश्रयासिद्ध नामक हेतु का दोष होता है। आचार्य दिङ्नाग इसे प्रत्याश्रयासिद्ध हेत्वाभास कहा है। धर्मकीर्ति इसे उदाहरणत: समझाते हुए कहते हैं - 'इस निकुञ्ज में मयूर है, क्योंकि यहाँ मयूरध्वनि हो रही है। उस मयूरध्वनि के आने से प्रदेश के विषय में अनिश्चय होने पर यहाँ आश्रयणासिद्ध हेत्वाभास होता है।[३०] इसी सन्दर्भ में धर्मोत्तर कहते हैं कि उस मयूर ध्वनि के आगमन का प्रदेश वह कहलाता है, जिस प्रदेश से वह मयूर ध्वनि आती है। उसके विषय में विभ्रम या व्यामोह (अनिश्चय) हो जाने पर यह आश्रयणासिद्ध होता है। बहुत से निकुञ्जों के समीप-समीप स्थित होने पर जब मयूर-ध्वनि के आगमन के विषय में यह सन्देह होता है कि इस निकुञ्ज से मयूर-ध्वनि आई है या दूसरे से आई है, तब वहाँ आश्रयणासिद्ध (हेत्वाभास) होता है।[३१]

अनैकान्तिक हेत्वाभास

धर्मकीर्ति लिखते हैं - **तथैकस्य स्वरूपस्यासपक्षेऽसत्त्वस्यासिद्धावनैकान्तिको हेत्वाभास:**[३२] अर्थात् 'असपक्षे चासत्त्वमेव' = असपक्ष (विपक्ष) में हेतु का कभी न होना - यह सद्हेतु का एक रूप है। अत: जब किसी एक असपक्ष में अथवा सभी असपक्षों में हेतु विद्यमान होता है तो वह हेतु अनैकान्तिक (अनिश्चित) हेत्वाभास कहलाता है। आचार्य धमोत्तर लिखते हैं कि विपक्ष में असत्त्व के होने पर अनैकान्तिक नामक हेत्वाभास होता है। एक है अन्त जिसका वह एकान्त अर्थात् निश्चय, यह है प्रयोजन जिसका वह ऐकान्तिक (निश्चित) कहलाता है और जो ऐकान्तिक नहीं है वह अनैकान्तिक होता है। जिस हेतु से न साध्य का निश्चय होता है, न उसके अभाव का, अपितु उसके विपरीत उसमें और संशय उत्पन्न हो जाता है, साध्य और उसके अभाव दोनों के संशय के निमित्त को अनैकान्तिक हेत्वाभास कहा जाता है।[३३]

तर्कभाषाकार का मत है कि जिस हेतु में साध्य का व्यभिचार है अर्थात् जो हेतु, साध्य का साथ नियमत: नहीं रहता, अपितु कहीं साध्याभास के साथ भी रहता है उस हेतु को अनैकान्तिक हेत्वाभास कहते हैं।[३४] मोक्षाकरगुप्त कहते हैं - 'व्याप्ति के निश्चय न रहने पर हेतु में अनैकान्तिक दोष होता है।[३५]

आचार्य दिङ्नाग ने अनैकान्तिक हेत्वाभास की कोई परिभाषा निश्चित नहीं की किन्तु अनैकान्तिक के छ:

---

२९. मोक्षाकरगुप्त, बौद्धतर्कभाषा, पृ०८०
३०. यथेह निकुञ्जे मयूर: केकायिताद् इति। न्या०बि०, ३.६३
३१. तदापात इति............ आश्रयणासिद्ध इति। न्या०बि०टी०, पृ०२७०
३२. न्यायबिन्दु, ३.६६
३३. तथापरस्यैकस्य रूपस्य............संशयहेतुरनैकान्तिक उक्त:। न्या०बि०टी०, पृ०२७३
३४. सव्यभिचारोऽनैकान्तिक:। तर्कभाषा (केशव०), पृ०११५
३५. व्याप्त्यानिश्चयेहेतोरनैकान्तिको दोष:। बौद्धतर्कभाषा, पृ०७७

भेद अवश्य किये हैं[३६]- (क) साधारण, (ख) असाधारण, (ग) सपक्षैकदेशवृत्तिर्विपक्षव्यापि, (घ) विपक्षैकदेशवृत्तिसपक्षव्यापि, (अ) उभयपक्षैकदेशवृत्ति, (अप) विरुद्धव्यभिचारी।

आचार्य धर्मकीर्ति ने अनैकान्तिक हेत्वाभास के भेद नहीं बताए हैं, परन्तु उनके टीकाकार आचार्य धर्मोत्तर ने अनैकान्तिक के चार प्रभेद बताते हुए कहा है - 'विपक्ष में हेतु का कभी न होना, लिङ्ग के इस रूप की असिद्धि होने पर जो अनैकान्तिक हेत्वाभास होता है वह चार प्रकार का होता है'।[३७] वे इस प्रकार हैं -

(क) सपक्षविपक्षव्यापी हेतु - शब्द अनित्य है, प्रमेय होने से, घट के समान तथा आकाश के समान यहाँ प्रमेयत्व रूप हेतु सपक्ष तथा विपक्ष दोनों में रहता है।[३८]

(ख) सपक्षैकदेशवृत्ति किन्तु विपक्षव्यापी - 'शब्द प्रयत्न से उत्पन्न होने वाला नहीं है, क्योंकि वह अनित्य है, विद्युत् के समान, आकाश के समान तथा घट के समान।'[३९] यहाँ अनित्यत्व रूप हेतु सपक्ष के एकदेश में रहता है, क्योंकि वह (प्रयत्न से उत्पन्न न होने वाली) विद्युत् आदि में रहता है, किन्तु आकाश आदि में नहीं। यह अनित्यत्व विपक्ष में व्यापक है, क्योंकि प्रयत्न से उत्पन्न होने वाली सभी वस्तुओं में रहता है।

(ग) विपक्षैकदेशवृत्ति किन्तु विपक्ष व्यापी हेतु - 'शब्द प्रयत्न से उत्पन्न होने वाला है, अनित्य होने से, घट के समान, विद्युत् के समान का आकाश के समान'।[४०] यहाँ अनित्यता हेतु विपक्ष के एक देश में रहता है, क्योंकि वह विद्युदादि में है, आकाशादि में नहीं। यह हेतु सपक्ष में व्यापक है, क्योंकि जो प्रयत्न से उत्पन्न होने वाले पदार्थ हैं, उन सभी में यह रहता है।

(घ) विपक्षैकदेश तथा सपक्षैकदेशवृत्ति - 'शब्द नित्य है, अमूर्त्त होने से, आकाश के समान, परमाणु के समान तथा कर्म के समान एवं घट के समान'।[४१] यहाँ अमूर्त्तत्व हेतु सपक्ष और विपक्ष दोनों के एकदेश में रहने वाला है, क्योंकि वह दोनों के एकदेश (सपक्ष) आकाश में तथा (विपक्ष) कर्म में रहता है, किन्तु सपक्ष के एकदेश परमाशु में तथा विपक्ष के एकदेश घट आदि में नहीं रहता, क्योंकि घट तथा परमाणु आदि मूर्त्त हैं। वैशेषिक परमाणुओं को नित्य मानता है। अतः परमाणु सपक्ष के अन्तर्गत आते हैं।

उपर्युक्त चारों प्रकार के पक्षधर्म का विपक्ष में न होना असिद्ध है, इसलिये यहाँ अनैकान्तिक हेत्वाभास होता है।

विरुद्ध हेत्वाभास

धर्मकीर्ति कहते हैं - 'हेतु के दो रूपों के (सपक्ष में सत्त्व और असपक्ष में असत्त्व) विरुद्ध सिद्ध हो

---

३६. न्यायप्रवेशसूत्रवृत्ति, पृ०२४

३७. अस्यचतुर्विधस्य पक्षधर्मस्यासत्त्वम् असिद्ध विपक्षे। ततो अनैकान्तिकता। न्या०बि०टी०, पृ०२७५

३८. न्या०बि०टी०, पृ०२७४

३९. वही

४०. वही, पृ०२७४-७५

४१. वही, पृ०२७५

जाने पर विरुद्ध हेत्वाभास होता है, यथा - नित्यत्व को सिद्ध करने में कृतकत्व और प्रयत्नान्तरीयकत्व विरुद्ध हेत्वाभास है'।[४२] अभिप्राय यह है कि नित्यत्व को सिद्ध करने में प्रयत्नानन्तरीकरण और कृतकत्व ये दो हेतु रूप हैं। इन दोनों रूपों की शर्तों के विपर्यय में यदि हेतु होता है तब विरुद्ध हेत्वाभास होता है। सपक्ष में हेतु का रहना और विपक्ष में न रहना आवश्यक होता है इसके विपरीत जाने पर हेतु विरुद्ध हो जाता है अर्थात् सपक्ष में रहे और विपक्ष में भी रह जाये तो उस स्थिति में हेतु विरुद्ध हो जाता है। शब्द के नित्यत्व को सिद्ध करने में कृतकत्व हेतु इसीलिये विरुद्ध है कि वह सपक्ष आत्मा आदि में नहीं रहता और विपक्ष घट, पट आदि में रहता है। इस प्रकार नैयायिकों के विरुद्ध हेतु और बौद्धों के विरुद्ध हेतु में समन्वय हो जाता है।

आचार्य दिङ्नाग ने **विरुद्धव्यभिचारी** नाम का भी एक हेत्वाभास स्वीकार किया है। परस्पर विरोधी दो हेतुओं का एक धर्मी में प्रयोग होने पर प्रथम हेतु विरुद्ध व्यभिचारी हो जाता है, उदाहरणत: 'शब्द नित्य है, श्रावण होने के कारण, घट के समान'। फिर दूसरा उदाहरण है - 'शब्द नित्य है, श्रावण होने के कारण, शब्दवत्'। प्रथम उदहारण में कृतकत्व हेतु है और दूसरे में श्रावणत्व, दोनों हेतु परस्पर विरोधी हैं। दोनों में अनुमेय शब्द है। अत: प्रथम हेतु विरुद्ध व्यभिचारी है। यहाँ संशय हेतु होने से हेत्वाभास है। परन्तु आचार्य धर्मकीर्ति ने अपने ग्रन्थों में इसे हेत्वाभास नहीं माना है। वे कहते हैं कि प्रमाणसिद्ध त्रैरूप्य वाले हेतु के प्रयोग होने पर विरोधी हेतु को अवसर ही नहीं मिल सकता। अत: इसकी आगताश्रित हेतु के विषय में प्रवृत्ति मानकर आचार्य के वचन की संगति लगा लेनी चाहिये, क्योंकि शास्त्र अतीन्द्रियार्थ विषय में प्रवृत्ति करता है। शास्त्रकार एक ही वस्तु को परस्पर विरोधी रूप से कहते हैं, अत: आगमाश्रित हेतुओं में ही यह संभव हो सकता है।[४३]

उपर्युक्त तीनों हेत्वाभासों का उपसंहार करते हुए धर्मकीर्ति कहते हैं - **एवम् एषां त्रयाणां रूपाणाम् एकैकस्य द्वयोर्द्वयोर्वा रूपयो: असिद्धौ सन्देहे वा यथायोग्यम् असिद्धविरुद्धानैकान्तिकास् त्रयो हेत्वाभासा:**[४४] अर्थात् हेतु के इन तीनों रूपों में से एक-एक या दो-दो रूपों की असिद्धि या सन्देह होने पर यथायोग्य असद्धि, विरुद्ध और अनैकान्तिक - ये तीन हेत्वाभास होते हैं।

निष्कर्षत: यही कहा जा सकता है कि बौद्धन्याय के प्रसिद्ध आचार्य धर्मकीर्ति ने अपने ग्रन्थों में अनुमान के अन्तर्गत हेतु का विस्तार से वर्णन करने के साथ-साथ हेत्वाभास को भी समझाया है, क्योंकि एक सद्हेतु तभी हो सकता है जब वह पक्ष में रहता हो। हेतु के इन तीनों रूपों में से यदि एक रूप का भी अभाव हो जाए तो वह एक सद्हेतु न होकर असद्हेतु कहलायेगा। धर्मकीर्ति ने अन्य आचार्यों की अपेक्षा केवल तीन हेत्वाभासों को (असिद्ध, अनैकान्तिक और विरुद्ध) ही स्वीकार किया है। जहाँ लिङ्ग का पक्षसत्त्व असिद्ध या सन्दिग्ध होता है वहाँ असिद्ध नामक हेत्वाभास होता है। जहाँ सपक्षसत्त्व तथा असपक्ष असत्त्व दोनों रूप असिद्ध होते हैं वहाँ

---

४२. द्वया रूपयोर्विपर्ययसिद्धौ विरूद्धः। कयोर्द्वयोः? सपक्षे सत्त्वस्य, असपक्षे चासत्त्वस्य। यथा कृतकत्वं प्रयत्नानन्तरीयकत्वं च नित्यत्वे साध्ये विरूद्धो हेत्वाभासः। न्या०बि०, ३.८१-८३

४३. न्या०बि०, ३.११०-१२०

४४. वही, ३.१०९

विरुद्ध हेत्वाभास होता है और जहाँ सपक्ष-सत्त्व और असपक्ष-असत्त्व इन दोनों रूपों में से यदि एक असिद्ध होता है तथा दूसरा सन्दिग्ध अथवा दोनों संन्दिग्ध होते हैं तो वहाँ अनैकान्तिक हेत्वाभास होता है। इस प्रकार अनुमान प्रमाण की सिद्धि में जहाँ एक सद्हेतु को समझना अनिवार्य है, वहीं उसके (सद्हेतु के) प्रतिपक्षी रूप हेत्वाभास को भी समझना अत्यावश्यक है।

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २००९ अङ्क ११ (पृ०१३५-१४०)

धर्मसूत्रगत न्याय-व्यवस्था के आदर्श एवं वर्तमान

वेद प्रकाश (शोध छात्र)[१]

वैदिक काल में न्याय-व्यवस्था का विकसित स्वरूप दिखलाई नहीं पड़ता है, क्योंकि उस युग में धर्म ही पूर्णतः प्रजा में व्याप्त था। उस समय लोभ, मद और मोह जैसी कुत्सित प्रवृत्तियों का समाज में अधिक प्रचलन नहीं था, लेकिन धीरे-धीरे मनुष्यों में स्वार्थ, लोभ एवं द्वेष जैसी अनेक दुष्प्रवृत्तियाँ पनपने लगी। जिसके कारण समाज में अव्यवस्था एवम् अराजकता का वातावरण बना। जब तक प्रजा का आचरण श्रेष्ठ रहा, तब तक न्याय व दण्ड की आवश्यकता नहीं समझी गई। इसी कारण विवाद एवं मुकदमे का पर्याय 'व्यवहार' पद का आदि ग्रन्थ 'ऋग्वेद' में कहीं पर भी उल्लेख नहीं मिलता है। फिर भी लेकिन ऋग्वेद में एक स्थल पर 'ऋत' पद को परम उच्च या सर्वातिशायी नियम अथवा सम्पूर्ण सृष्टि की सुव्यवस्था का द्योतक अवश्य कहा गया है।[२] लेकिन धर्मसूत्रकाल तक आते-आते न्याय-व्यवस्था को राजधर्म का अभिन्न अंग माना जाने लगा था, उस काल में निष्पक्ष 'न्याय' करना एवम् अपराधी को दण्ड देना, राजा के प्रमुख कार्यों में शामिल था और राजा ही प्रमुख न्यायाधीश होने के कारण 'न्याय' का अन्तिम स्रोत माना जाता था।

'न्याय' शब्द की व्युत्पत्ति एवम् अर्थ

न्याय-व्यवस्था के स्वरूप को जानने से पहले 'न्याय' शब्द का क्या अर्थ है? यह जान लेना अत्यन्त आवश्यक है। 'नियमेन ईयते इति' अर्थात् जो नियम से चले या जिसे नियम से चलाया जाये, उसे 'न्याय' कहते हैं।[३] 'आप्टे' ने न्याय का अर्थ प्रणाली, तरीका, रीति, नियम, कानून, इंसाफ आदि किया है।[४] इस प्रकार 'न्याय' शब्द का प्रयोग मुकदमा, न्याय-प्रक्रिया व निर्णय आदि के अर्थ में हुआ है। अंग्रेजी कोश में 'न्याय' शब्द का अर्थ 'The Administration of Law in a fair and reasonable way'[५] प्राप्त होता है।

सभी धर्मशास्त्रकारों ने विवाद तथा झगड़े के लिए सामान्यतः 'व्यवहार' पद का उल्लेख किया है। 'व्यवहार' शब्द 'वि+अव+हार' तीन अवयवों से मिलकर बना है। 'वि' का अर्थ है - विविध, अव का अर्थ - सन्देह तथा हार का अर्थ -हरण करना अर्थात् जिस कार्य में अनेक प्रकार के संदेहों को निर्णय के द्वारा दूर किया

---

१ संस्कृत, पालि एवं प्राकृत विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

२ १-६८-२

३. शब्दकल्पद्रुम, काण्ड-२, पृ-९३० से उद्धृत।

४. आप्टे, हिन्दी-संस्कृत कोश, पृ०५५६ (निदृघद्धा।)

५. Oxford Dictionary, p. ४९१ से उद्धृत।

जाये, वह व्यवहार है।[६] 'आप्टे' ने 'व्यवहार' का अर्थ - आचरण, बर्ताव, कर्म, मामला, लेन-देन, कानूनी मुकदमेबाजी आदि किया है।[७] 'स्मृतिचन्द्रिका' के अनुसार 'न्याय' हेतु जो क्रियाएँ की जाती है, उन्हें 'व्यवहार' कहते हैं।[८] 'गौतमधर्मसूत्र' में 'व्यवहार' पद का प्रयोग किसी विषय को तय करने वाले साधन के रूप में किया गया है, लेकिन 'आपस्तम्बधर्मसूत्रकार' ने 'व्यवहार' पद का प्रयोग लेन-देन के अर्थ में किया है।[९] 'कुल्लूकभट्ट' टीका के अनुसार प्रजा की रक्षा तथा उनके आपसी विवाद से उत्पन्न पीड़ा को दूर करने के लिए 'मनु' प्रतिपादित अठारह प्रकार के विवादों में वादी तथा प्रतिवादी के विरोधी वाक्यों से उत्पन्न सन्देह को दूर करने वाला विचार ही 'व्यवहार' कहलाता है।[१०] 'मिताक्षरा' टीका के अनुसार अन्य के विरोध करने पर भी अपनी बात कहना 'व्यवहार' अर्थात् विवाद है।[११] ये व्यवहार अर्थात् विवाद के कितने स्थान है, इस विषय में सभी धर्मसूत्रकारों के भिन्न-भिन्न मत हैं।

'गौतम' 'बौधायन' एवम् 'आपस्तम्ब' सहित सभी धर्मसूत्रकारों ने एकमत से ऋणादान[१२] (लेन-देन) निक्षेप[१३] (धरोहर रखना) क्रयविक्रयानुशय[१४] (खरीदने व बेचने में विवाद उपस्थित होना) स्वामिपाल[१५] (स्वामी सेवक में आपसी विवाद) वाग्पारुष्य[१६] (गाली आदि देना) दण्डपारुष्य[१७] (मारपीट करना) अभ्युपेत्याशुश्रूषा[१८] स्तेय[१९] (चोरी करना) स्त्रीसंग्रहण[२०] (स्त्री का अन्य पुरुष से संभोग) स्त्रीपुंधर्म[२१] (स्त्री व पुरुष के कर्त्तव्य) धूतसमाह्वय[२२] (जुआ खेलना) स्त्रीधन[२३], सीमा विवाद[२४], दायभाग[२५] (सम्पत्ति का बँटवारा) आदि को विवाद का

---

६. (क) कात्यायन, व्यवहारमयूख, पृ०२८३ (ख) मनु० ८.१ पर 'कूल्लूक' भट्ट टीका सहित विना नार्थेऽव संदेहे हरणं हार उच्यते। नानासंदेहहरणाद्व्यवहार इति स्मृत:

७. आप्टे, हिन्दी-संस्कृत कोश, पृ०९८७

८. स्मृति-चन्द्रिका, भाग-२, पृ०१, न्यायेन यत्र क्रियते व्यवहार: स उच्यते।

९. (क) गौ० ध० सू०, २.२.१९ (ख) आ० ध० सू०, २.७.१९.१७

१०. मनु० ८.१ पर कुल्लूकभट्ट टीका सहित ऋणादानाद्यष्टादशविवादे विरुद्धार्थार्थिप्रत्यर्थिवाक्यजनितसंदेहहारी विचार एव व्यवहार:।

११. या० स्मृ०, २.१ पर मिताक्षरा टीका सहित अन्यविरोधेन स्वात्मसंबन्धितया कथनं व्यवहार:।

१२. गौ० ध० सू०, २.३.२६, बौ०ध०सू, १.५.१०.२३ आ० ध० सू०, १.९.२७.१०

१३. वही, २.३.३९ आ० ध० सू०, १.६.१८.२० वा०ध०सू०, १६.१८वा०ध०सू०,

१४. वही, २.३.३९ मनु० ८.४-७

१५. गौ० ध० सू०, २.२.२०-२२ आ० ध० सू०, २.२.२८.६ मनु० ८.४-७

१६. वही, १.२.२७, २.३.१२, आ० ध० सू०, १.८.२३.५, मनु० ८.४-७

१७. वही, २.३.१, बौ०ध०सू, १.५.१२.१-७, आ० ध० सू०, १.७.२१.१४, मनु० ८.४-७

१८. वही, २.३.१६-१७

१९. वही, २.३.१२, आ० ध० सू०, १.७.२१.८, मनु० ८.४-७

२०. वही, ३.३.१, आ० ध० सू०, १.२.७.३, मनु० ८.४-७

२१. वही, १.४.१-२, वा०ध०सू०, ८.१, आ० ध० सू०, २.५.११-१५, मनु० ८.४.७

२२. वही, १.२.२३, आ० ध० सू०, २.१०.२५.१२-१३, मनु० ८.४-७

प्रमुख कारण माना है। 'मनुस्मृतिकार' ने भी उपर्युक्त स्थानों के अतिरिक्त सम्भूयसमुत्थान (संयुक्त रूप से कोई कार्य करना) दत्तस्यानपाकर्म (दी हुई वस्तु को वापिस लेना) वेतनादन (वेतन न देना) संविद-व्यतिक्रम (पहले से निश्चित सन्धि-पत्र आदि को न मानना) साहस (डकैती व लूटपाट) सहित १८ व्यवहार पदों अर्थात् विवाद के स्थानों का विस्तार से उल्लेख किया हैं।[२६]

इस प्रकार निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता है कि उपर्युक्त गणना किये गये विवाद ही उस समय समाज में प्रचलित थे, अपितु और भी बहुत सारे छोटे-मोटे विवाद समाज में होते रहते थे। सम्भवतः उनकी गणना भी उपर्युक्त विवादों के अन्तर्गत ही होती थी।

परन्तु आधुनिक समय में मनुष्य का जीवन अधिक भौतिकवादी होने के कारण उसका कार्यक्षेत्र बढ़ा, जिसके फलस्वरूप अनेक नये विवाद उत्पन्न हुए और उन विवादों के निर्णय के लिए अनेक नये कानून बनाये गये, इसलिए आज साइबर लॉ, कॉपी राइट एक्ट, पर्यावरण-अधिनियम, दल-बदल विरोधी अधिनियम, जनसूचना-अधिकार अधिनियम (२००५), अनुसूचित जाति अधिनियम, घरेलू-हिंसा एक्ट जैसे अनेक ऐसे कानून हैं, जो समाज में उत्पन्न विवादों के निर्णय के अनुरूप बनाये गये हैं, फिर भी विवाद के स्थानों को निश्चित नहीं किया जा सकता। आज भी न्यायाधीशों के समक्ष ऐसे अनेक विवाद आ जाते है जिनका संवैधानिक दृष्टि से कोई निर्णय नहीं किया जा सकता है, तो ऐसी स्थिति में न्यायाधीशों का विवेक ही निर्णय होता है, जिसे न्यायिक भाषा में (Judge as a Legislator) अर्थात् जजों द्वारा निर्मित कानून कहा जाता है। भविष्य में इस प्रकार के निर्णय दूसरे इस प्रकार के समान विवादों में आधार का काम करते है।

न्याय की प्रक्रिया

वैदिक काल से ही न्यायालय के लिए 'सभा' शब्द का प्रयोग होता आ रहा है।[२७] धर्मसूत्रकाल में न्यायालय के लिए सामान्यतः 'सभा' और न्यायाधीशों के लिए 'सभासद्' शब्द का प्रयोग मिलता है। 'गौतमधर्मसूत्रकार' के कथनानुसार यदि लोक-व्यवहार की हानि होती है तो उसका दोष साक्षियों, सभासदों, राजा और अपराधी सभी पर आ जाता है। 'मनुस्मृतिकार' ने उसे सभा कहा है, जहाँ पर राजा द्वारा नियुक्त होकर ऋक्, यजु और साम के ज्ञाता तीन ब्राह्मण बैठते हैं।[२८]

सर्वप्रथम 'गौतमधर्मसूत्रकार' ने अभ्यर्थी को विनम्रतापूर्वक न्यायालय में न्यायाधीश के पास जाने का

---

२३. वा०ध०सू०, १७.४६
२४. वही, १६.१३-१५
२५. बौ०ध०सू, २.३.४३-४४
२६. मनु० ८.४-७, तेषामद्यमृणादानं........ पदान्यष्टादशैतानि व्यवहारस्थिताविह।
२७. ऋ०,१.१२४.७
२८. (क) गौ० ध० सू०, २.४.११, साक्षिसभ्यराजकर्तृषु दोषो धर्मतन्त्रपीडायाम्। (ख) मनु० ८.११

निर्देश किया है,[२९] क्योंकि किसी भी मुकदमे का प्रारम्भ वादी, अर्थी या अभियोग्यता द्वारा आवेदन पत्र प्रस्तुत करने पर होता था, जिसमें वर्ष, मास, पक्ष, दिन, नाम, तिथि, जाति, पता आदि का विवरण लिखा जाता था, जिसे उस काल की न्यायिक भाषा में भाषा-पाद कहा जाता था। सर्वप्रथम न्यायाधीश आवेदन पत्र का मनोयोगपूर्वक निरीक्षण करता था और यदि वह अभियोग की श्रेणी में आता था तो उसे स्वीकार करता था और जो अभियोग की परिधि में नहीं आते था, उसे अस्वीकृत कर दिया जाता था।[३०] इसके बाद न्यायाधीश या प्रतिवादी के सामने उसके कथन को लिखा जाता था, इसे प्रतिज्ञा-पत्र कहा जाता था, इसके बाद प्रतिवादी या अभियुक्त प्रत्युत्तर देता था, उसे उत्तरपाद कहा जाता था। 'शुक्रनीतिसार' में कहा गया है कि जिस व्यक्ति पर वस्तुत: या संदेहवश मुकद्मा दायर किया गया है, उसे मुहर लगे राजकीय पत्र द्वारा सेवक भेजकर न्यायालय में बुलाना चाहिए। वर्तमान में भी ठीक इसी तरह किसी व्यक्ति पर अभियोग की स्थिति में सम्मन भेजकर न्यायालय में न्यायाधीश के सम्मुख उपस्थित होने को कहा जाता है। इसके बाद साक्षी के साक्ष्य की प्रक्रिया आती थी, जिसे सिद्धिपाद कहा जाता था। 'गौतम' के अनुसार यदि साक्षी एकदम उत्तर नहीं दे सकता था तो उसके उत्तर के लिए एक वर्ष तक प्रतीक्षा करनी चाहिए। अन्त में न्यायाधीश के द्वारा दिये गये निर्णय को निर्णयपाद कहा जाता था।[३१]

आधुनिक काल की तरह धर्मसूत्रीय न्याय-प्रणाली के अन्तर्गत भी साक्षी की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। सबसे पहले यह जान लेना अत्यन्त आवश्यक है कि साक्षी किसे कहते है? 'पाणिनि' ने साक्षी उसे कहा है, जिसने साक्षात् देखा हो या आँख, कान आदि इन्द्रिय से विषय का अनुभव किया हो।[३२] इस विषय में 'विष्णुधर्मसूत्रकार' ने कहा है कि जिस व्यक्ति ने विवादग्रस्त घटना का साक्षात्कार किया हो, उसे ही साक्षी बनाना चाहिए, क्योंकि संदेह या विरोध का निवारण साक्षी के द्वारा ही होता है।[३३]

'गौतम' के अनुसार साक्षी को सत्यभाषण की शपथ दिलाई जाती थी और उसे इस बात के लिए प्रेरित किया जाता था कि सत्यभाषण से स्वर्ग की तथा असत्यभाषण से नरक की प्राप्ति होती है।[३४] 'बौधायनधर्मसूत्रकार' का भी कथन है कि लोक में सम्मान पाने के लिए साक्षी वैसा ही बताये, जैसा उसने देखा या सुना हो।[३५] आजकल भी साक्षी को न्यायालय में साक्ष्य देने से पहले (Scheduled-2, Constitution of India) धर्मानुसार गीता आदि की शपथ दिलाकर सत्यभाषण के लिए प्रेरित किया जाता है। किसी भी विवाद में साक्षियों की संख्या कितनी हो? इस विषय में 'बौधायन' का विचार है यदि दो

---

२९. गौ० ध० सू०, २.४.२७, प्राड्विवाकमध्याभवेत्।

३०. द्र०, काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-२, पृ०७२५ से उद्धृत।

३१. (क) या०स्मृ०, २.६-८, चतुष्पाद्यवहारोऽयं विवादेषूपदर्शित। (ख) शुक्रो, ४.५.१००, यस्याभियोगं कुरुते तत्त्वेनाशङ्कयाथवा। तमेवाह्वानयेद्राजा मुद्रया पुरुषेण वा॥ (ग) गौ० ध० सू०, २.४.२८, संवत्सरं प्रतीक्षेताप्रतिभायाम्।

३२. पाणिनि, अष्टाध्यायी, ५.२.९१, साक्षाद् द्रष्टरि संज्ञायाम्।

३३. (क) वि०ध०सू०, ८.१३ (ख) गौ० ध० सू०, २.४.१, विप्रतिपत्तौ साक्षिनिमित्ता सत्यव्यवस्था।

३४. (क) वही, २.४.१२, शपथेनैके सत्यकर्म। (ख) वही, २.४.७, स्वर्गः सत्यवचने विपर्यये नरकः।

३५. बौ०ध०सू, १.१०.१९.९, लोकसङ्ग्रहणार्थं यथादृष्टं यथाश्रुतं साक्षी ब्रूयात्।

साक्षी हों तो उनमें जो विद्यावृत्ति में प्रधान हो, उस साक्षी के वचन के अनुसार ही निर्णय करना चाहिए।[३६] जबकि 'गौतम' के मत में अपने कार्य में रत, विश्वसनीय और सत्यवादी निष्पक्षता आदि गुणों से युक्त तीन साक्षियों के विचारों को सुनकर ही निर्णय करना चाहिए।[३७] आज भी साक्ष्य लेने से पहले साक्षी की आपराधिक पृष्ठभूमि, चरित्र उसके मानसिक स्वास्थ्य आदि बातों पर विशेष रूप से विचार किया जाता है।

'गौतमधर्मसूत्रकार' के विचार में हिंसा, मारपीट और डकैती जैसे अति साहस के मामलों में साक्षी के गुण दोषों के विषय में विचार नहीं करना चाहिए, बल्कि ऐसी स्थिति में स्त्री, बालक, वृद्ध, शिष्य, दास, सभी लोग साक्षी हो सकते हैं, लेकिन मनुस्मृतिकार के मत में दूसरे साक्षी न मिलने की अवस्था में ही उपर्युक्त व्यक्तियों को साक्षी बनाना चाहिए।[३८] आधुनिक न्याय-प्रणाली में भी इसी प्रकार के विवादों में दूसरे साक्षी न मिलने पर बालक की गवाही को विश्वसनीय माना जाता है, यदि न्यायालय यह माने कि यह बालक साक्ष्य देने के योग्य है।[३९] 'विष्णुधर्मसूत्रकार' के अनुसार यदि कोई मामला न्यायालय में विचाराधीन है और उस समय साक्षी की भृत्यु हो जाये या फिर वह विदेश चला जाये तो उस अवस्था में वह व्यक्ति साक्षी हो सकता है, जिसने उक्त साक्षी से विवाद के विषय में सुन रखा हो। आज भी इस प्रकार के साक्ष्य विशेष परिस्थितियों में मान्य होते हैं।[४०] वर्तमान में भी थोड़े परिवर्तन के साथ सामान्यत: न्याय के अन्तर्गत यही पद्धति अपनाई जाती है।

न्यायाधीश

सूत्रकाल में राजा ही प्रमुख न्यायाधीश होता था, उसे ही न्याय का सर्वोच्च एवम् अन्तिम अधिकारी माना जाता था। अन्य मुख्य न्यायाधीश को सम्भवत: 'प्राड्विवाक' (प्रश्न पूछकर विचार करने वाला) कहा जाता था। 'प्राड्विवाक' शब्द को अधिक स्पष्ट करते हुए 'वरदाचार्य' ने कहा है- वैदिक काल में प्राप्त 'प्रश्नविवाक' ही बाद में 'प्राड्विवाक' हो गया, क्योंकि यह एक ऐसा अधिकारी है जो प्रश्न पूछता है और उस बात को विस्तारपूर्वक विवेचन के साथ प्रस्तुत करता है, इसी कारण से उसका नाम 'प्राड्विवाक' पड़ा।[४१] 'शुक्रनीतिसार' के अनुसार 'प्राड्विवाक' एक ऐसा अधिकारी होता था जो राजा के अभाव में दोनों पक्षों के साक्षियों से पूछताछ करके

---

३६. वही, १.१०.१९.१७, स्मृतौ प्रधानत: प्रतिपत्ति:।

३७. गौ० ध० सू०, २.४.२, बहव: स्युरनिन्दिता: स्वकर्मसु प्रात्ययिका राक्षां निष्प्रीत्यनभितापाश्चान्यतरस्मिन्।

३८. (क) वही, २.४.९., न पीडाकृते निबन्ध:। (ख) मनु० ८.७०, स्त्रियाऽप्यसम्भवे कार्यं बलेन स्थविरेण वा। शिष्येण बन्धुना वाऽपि दासेन भृतकेन वा ङ्ग

३९. (क) Dhanraj v. Maharastra, AIR 2002, Supreme Court, p. 3302 (In Criminal case a Child witness is competen' witness) (ख) Evidence Act, Sec. 118-121

४०. (क) वि०ध०सू०. ८.२ (ख) Evidence Act, Sec. 60 (Hearing say Evidence)

४१. (क) Hindu Judicial System, p. 110. It is possible that the term "pradvivaka" was suggested by the Vedic term "Parashanvivaka" which a commentator explains as he who explains the questions put".
(ख) शु०नी०, ४.५.६५. प्राड्विवको नृपाभावे पृच्छेदेवं सथागतम्। वही, ४.५.६६, विचारयति सभ्यैर्वा धर्माधर्मान् विवक्ति वा।

धर्म-अधर्म पर विचार करता था। 'गौतमधर्मसूत्रकार' ने कहा है कि राजा स्वयं न्यायाधीश बने या शास्त्रज्ञ विद्वान् ब्राह्मणों को इस कार्य में नियुक्त करे।[४२] 'अर्थशास्त्र' में न्यायाधीश के लिए 'धर्मस्थ' शब्द का प्रयोग हुआ है।[४३] न्यायाधीशों के चयन में वर्तमान की तरह अनेक योग्यताएँ देखी जाती थीं, 'आपस्तम्बकार' ने न्यायाधीश के गुणों का उल्लेख करते हुए कहा है कि विद्यायुक्त, कुलीन, वृद्ध, बुद्धिमान् तथा धर्मपालन में तत्पर व्यक्तियों को ही न्यायाधीश के पद पर नियुक्त करना चाहिए। जबकि 'याज्ञवल्क्य' के मत में वेदपारंगत, धर्मज्ञ, सत्यवादी, पक्षपात न रखने वाले, रागद्वेष रहित गुणों से युक्त व्यक्ति को 'सभा' का सदस्य बनाना चाहिए।[४४]

धर्मसूत्रकाल में न्यायाधीशों पर कड़ा नियन्त्रण था, वे मनमाने ढंग से निर्णय नहीं दे सकते थे, 'विष्णुधर्मसूत्रकार' ने तो यहाँ तक कहा है कि जो न्यायाधीश (सभासद) घूस ले तथा उचित न्याय न करे उसे राज्य से निष्कासित कर देना चाहिए।[४५] 'कौटिल्य' के अनुसार अभियोग की सुनवाई तक न्यायाधीश वादी तथा प्रतिवादी से एकान्त में वार्तालाप तक नहीं कर सकते थे, न ही उपहार आदि ले सकते थे, ऐसी अवस्था में उनके लिए अर्थदण्ड एवं शारीरिक दण्ड तक का प्रावधान था।[४६]

आधुनिक न्याय-प्रणाली में भी न्यायाधीशों पर इस प्रकार के कड़े प्रतिबन्ध लगाए गये हैं। उपर्युक्त किसी भी प्रकार के विवाद में पक्षपात की अवस्था में उन्हें `Judicial officer Rule' के अनुसार न केवल उन्हें पद से बर्खास्त किया जा सकता है बल्कि उनके लिए दोष की गम्भीरता के अनुसार सजा का भी प्रावधान है।

'गौतमधर्मसूत्रकार' की सम्मति में किसी विषय में विवाद उत्पन्न हो जाने पर त्रयी विद्या में निष्णात विद्वानों से विचार करके अन्तिम निर्णय करना चाहिए।[४७]

इस प्रकार उपर्युक्त मन्तव्य के आलोक में कहा जा सकता है कि आधुनिक न्याय-प्रणाली में जो जूरी या खण्डपीठ की व्यवस्था पाई जाती है सम्भवतः इसका उद्धरण हमें बीज रूप में धर्मसूत्रग्रन्थों से ही प्राप्त होता है, क्योंकि धर्मसूत्रकाल में 'सभा और सभासद्' जैसे पदों का विधान मिलता है। वर्तमान में भी किसी राष्ट्रहित से सम्बन्धित समस्या पर या किसी ज्वलन्त मुद्दे पर विवेकपूर्ण निर्णय देने के लिए वरिष्ठ न्यायाधीशों का एक आयोग गठित किया जाता है, जिसे न्यायिक भाषा में जूरी या खण्डपीठ कहते हैं।

---

४२. गौ० ध० सू०, २.४.२७, राजा प्राड्विवको ब्राह्मणो वा शास्त्रवित्।
४३. कौ अर्थो, ३.१.१, धर्मस्थास्त्रयस्त्रयोऽमात्या।
४४. (क) आ० ध० सू०, २.११.२९.५ (ख) या०स्मृ०, २.२
४५. वि०ध०सू०, ५.१८०
४६. कौ अर्थो, ४.९
४७. गौ० ध० सू०, २.२.२५, विप्रतिपत्तौ त्रैविद्यवृद्धेभ्यः प्रत्यवहृत्य निष्ठां गमयेत्।

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २००९ अङ्क ११ (पृ०१४१-१४६)

नीतिवाक्यामृतम् के आलोक में न्याय-प्रबन्धन

युद्धवीर सिंह[१]

भारतवर्ष और भारतवर्ष की संस्कृति में विविध ज्ञान और विवेक को विशेष महत्त्व दिया गया है। ज्ञान और विवेक की दो कोटियाँ विभक्त की जा सकती हैं- आध्यात्मिक और व्यावहारिक। भारतवर्ष में आध्यात्मिक ज्ञान प्रायः दर्शन का रूप लेता रहा है, क्योंकि यह ज्ञान मुक्ति की ओर ले जाने वाला माना गया है- **ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः**। द्वितीय प्रकार के ज्ञान और इसके विवेक की उपयोगिता व्यावहारिक जीवन के लिये है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र, शुक्रनीति, कामन्दकीय नीतिसार आदि नीतिग्रन्थ पाठकों को इसी प्रकार का विवेक देने का प्रयत्न करते हैं। आचार्य श्री सोमदेव सूरिकृत 'नीतिवाक्यामृतम्' भी इसी कोटि की रचना है। आचार्य श्री सोमदेव सूरि (९५९ ई.) दिगम्बर-सम्प्रदाय में प्रसिद्ध व प्रामाणिक चार संघों में से देवसंघ के आचार्य थे।

आचार्यवर का 'नीतिवाक्यामृतम्' नामक यह ग्रन्थ सूत्र शैली में लिखा गया है, जिसमें कुल ३२ समुद्देश हैं। इन्हीं में से एक विवाद समुद्देश के अन्तर्गत न्याय प्रबन्धन पर भी विचार किया गया है। सामान्यतः समस्त भौतिक सुख-साधनों को शीघ्रतिशीघ्र प्राप्त करने की अभिलाषा से मनुष्य लोभ, मोह, आदि के कारण कभी-कभी अपने अधिकार-क्षेत्र का दुरुपयोग कर बैठता है, जो पारस्परिक वैमनस्य, विवाद आदि को उत्पन्न कर देता है। इन्हीं वाद-विवादों के निदान हेतु न्यायालयों की स्थापना की गई है। न्याय-प्रबन्धन के अन्तर्गत न्यायालयों के समस्त अंगों का परिगणन किया जाता है, जिनको हम निम्न रूप में देख सकते हैं।

'न्याय' शब्द नि पूर्वक इण् धातु से घञ् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है।[२] 'नीयन्ते अनेन इति न्यायः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार न्याय शब्द का अर्थ है- प्रणाली, तरीका, रीति, नियम, पद्धति, योजना, कानूनी नियम आदि।[३] पाणिनि ने अभ्रेष के अर्थ में नि पूर्वक इण् धातु से घञ् का विशेष विधान किया है। काशिका के अनुसार अभ्रेष का अर्थ है-'**पदार्थानामनपचारो यथाप्राप्तकरणमभ्रेषः**'।[४] इस प्रकार न्याय का प्रयोजन है-निष्पक्ष न्याय करना, अपराधी को दण्ड देना और निरपराध को दण्ड से मुक्त करना आदि।

न्याय प्रबन्धन बीजरूप में वेदें में उपलब्ध होता है। 'ऋग्वेद' में एक स्थान पर कहा गया है कि-हे राजन्! क्योंकि आप हमारे रक्षक और प्रिय हैं, इसलिए वादी और प्रतिवादी के वचन सुनकर निरन्तर न्याय कीजिए।[५] विवाद आदि का निर्णय वर्तमान काल में न्यायालय में सम्पन्न होता है। इन न्यायालयों को वैदिक काल

---

१. शोधछात्र, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-७

२. परिन्योर्नीणोर्द्यूता भ्रेषयोः। पाणिनीय सूत्रपाठ ३/३/३७

३. संस्कृत हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे, पृ.

४. काशिका, पा.सू. ३/३/३७

५. अस्माकं जोष्यध्वरमस्माकं यज्ञमंगिरः। अस्माकं शृणुधि हवम्। ऋग्. ४/९/७

में सभा और उसके अध्यक्ष के लिये सभापति शब्द प्रयुक्त किया जाता था, साथ ही वहाँ इन दोनों को नमस्कार भी किया गया है।[६] सभा शब्द के नामकरण की व्याख्या करते हुए पारस्कर गृह्यसूत्र के टीकाकार जयराम ने कहा है-स अर्थात् साथ, जो धर्म के साथ अथवा धार्मिक विषयों पर विचार के साथ, भा अर्थात् शोभित है अर्थात् जिसमें धर्म या न्याय-सम्बन्धी विषयों पर विचार होता है अथवा जो सज्जनों से शोभित होती है।[७] ऐसी सभा के सभापति का पद आदरणीय होता था। सभापति का कार्य सभा का संचालन और न्याय एवं दण्ड की व्यवस्था करना था। अत: एक प्रकार से वह न्यायाधीश का कार्य करता था। न्याय की ठीक व्यवस्था करना उसका दायित्व था। अत: यदि किसी व्यक्ति के सम्मान, प्रतिष्ठा, जीवन, सम्पत्ति, विचार, स्वतन्त्रतादि पर आघात होता था तो वह सभा की शरण में जाकर न्याय की याचना करता था। इस प्रकार सभा जीवन, सम्पत्ति आदि पर आघात होने पर न्याय देने के कारण न्यायालय का कार्य करती थी। 'यजुर्वेद' में एक स्थान पर उल्लिखित है कि यदि सभा में कुछ पक्षपात या अन्यायपूर्ण कार्य हो जाता था तो उसे पाप माना जाता था और इसके लिए सभी सभासद् दोषी माने जाते थे।[८]

'नीतिवाक्यामृतम्' में राजा, सभासद् और सभापति के गुण-दोष का विधान करने वाले लक्षण कहे गये हैं। सर्वप्रथम राजा को निष्पक्ष न्यायकारी बताते हुए वहाँ कहा गया है कि विवाद में गुण-दोषों का निर्णय करने के लिए राजा तराजू की डंडी के समान निष्पक्ष निर्णायक होता है। और प्रजा की गुरुता व लघुता निरपराधी और अपराधी सिद्ध होना उसके अपने गुण और दोषों पर निर्भर होता है।[९] राजा की न्यायकारिता के विषय में आचार्यवर का यह कथन है कि राजा पुत्र और प्रजाजनों में समदृष्टि होकर अपराधियों के लिये उनके अपराधों के अनुरूप दण्ड का भोग कराता है अर्थात् अपराधों के अनुकूल दण्ड का विधान करता है।[१०] सभासद् की योग्यता का उल्लेख करते हुए आचार्यवर कहते हैं कि राजा की सभा के सभासद् को सूर्य के समान यथार्थ तत्त्व को प्रकाशित करने की प्रतिभा से सम्पन्न होना चाहिए।[११] तथा जो लोकव्यवहार अर्थात् कानून के अनुभव और अध्ययन से शून्य हों, जो राजा से शत्रुता रखते हों और जो स्वाभाविक रूप से ईर्ष्यालु और द्वेषयुक्त हों, वे राजा के न्यायालय के सदस्य होने योग्य नहीं होते[१२] क्योंकि जिस राजा के न्यायालय में लोभ और पक्षपात् दृष्टि के कारण अयथार्थवादी (सही निर्णय न देने वाले) सभासद् होते हैं, वे निस्सन्देह तत्काल उसकी मानहानि और धन की क्षति कर देते हैं।[१३] सभापति को तटस्थता का निर्देश देते हुए वे कहते हैं कि जिस विवाद में स्वयं सभापति

---

६. नम: सभाभ्य: सभापतिभ्यश्च वो नम:------। यजु. १६/२४

७. पारस्कर गृह्यसूत्र- ३/१३/१

८. यद्ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये। यच्छूद्रे यदर्ये यदेनश्चकृमा वयं यदेकस्याधि धर्मणि तस्यावयजनमसि॥ यजु. २०/१७।

९. गुणदोषयोस्तुलादण्डसमो राजा स्वगुणदोषाभ्यां जन्तुषु गौरवलाघवे। नीतिवाक्यामृतम २८/१

१०. राजा त्वपराधलिङ्गितानां समवर्ती तत्फलमनुभावयति। नीतिवाक्यामृतम. २८/२

११. आदित्यवद्यथावस्थितार्थप्रकाशनप्रतिभा: सभ्या:। वही. २८/३

१२. अदृष्टाश्रुतव्यवहारा: परिपन्थिन: सामिषा: न सभ्या:। वही. २८/४

१३. लोभपक्षपाताभ्यामयथार्थवादिन: सभ्या: सभापते: सद्यो मानार्थहानिं लभेरन्। वही. २८/५

अर्थात् न्यायाधीश ही विरोधी अथवा पक्षपात् करने वाला हो जाए तो वह विवाद ही व्यर्थ है, क्योंकि सभी सभासद् न्यायाधीश के अनुरूप ही बोलेंगे और जब सभासदों और न्यायाधीश में ऐकमत्य नहीं होगा तब विजय किस प्रकार हो सकती है? उदाहरणतया क्या बहुसंख्यक लोग बकरे को कुत्ता नहीं बना देते?[14]

सभापति की आवश्यकता और उसके कर्त्तव्य

न्यायाधीश की आवश्यकता का प्रतिपादन करते हुए आचार्यवर कहते हैं कि यदि वादी-प्रतिवादी स्वयं ही परस्पर में तर्क-वितर्क करने पर तत्पर हो जाए तो बारह वर्षों तक अभियोग का निर्णय नहीं हो सकता, क्योंकि प्रश्नों और उत्तरों तथा युक्तियों की अनन्तता होती है, अतः न्यायाधीश और अधिवक्ता के माध्यम से ही विवाद का निर्णय होना चाहिए[15] गौतमस्मृति में भी न्यायाधीश के यही कर्त्तव्य निर्दिष्ट किये गये हैं।[16] इसलिये सभापति अपने स्वामी के प्रति पक्षपात करके सत्य-असत्य बोलने वाले वादी को दोषी सिद्ध न करे।[17] अतः न्यायाधीश का कर्त्तव्य है कि वह निष्पक्ष होकर न्याय करे, क्योंकि उसके अन्याय करने पर राजा का समस्त राज्य नष्ट हो जाता है।[18]

विवाद में प्रमाणीभूत और अप्रमाणीभूत पदार्थ

नीतिवाक्यामृतम् में विवादों के तीन पदार्थ माने गये हैं भुक्ति, साक्षी और शासन।[19] भुक्ति अर्थात् जमीन जायदाद पर बारह वर्ष तक अधिकार, साक्षी अर्थात् गवाह और शासन अर्थात् न्यायालय सम्बन्धी अभिलेख और दस्तावेज आदि। लेख की प्रामाणिकता पर आचार्यवर अत्यधिक बल देते हुए कहते हैं कि लेख से बढ़कर वचन को प्रमाण नहीं माना जाता।[20] अर्थात् लेख और वचन में से लेख की ही विशेष प्रतिष्ठा और प्रामाणिकता होती है और वचन यदि वे बृहस्पति ने ही क्यों न कहे हों प्रामाणिक नहीं होते। राजपुत्र के मत में भी लेख ही प्रामाणिक होता है, वचन नहीं।[21] और लेख भी हस्ताक्षर और साक्षित्व के अभाव में विश्वास के योग्य नहीं होता अर्थात् प्रामाणिक नहीं होता।[22] और यदि वादी के दस्तावेज आदि शासकीय अभिलेख अथवा साक्षी सन्दिग्ध हो तो न्यायाधीश को बहुत विचारपूर्वक निर्णय करना चाहिए।[23] अर्थात् किसी की लिखी हुई बात पर सहसा सोचे समझे

---

१४. तत्रालं विवादेन यत्र स्वयमेव सभापतिः प्रत्यर्थी सभ्यसभापत्योरसामंजस्येन कुतो जयः किं बहुभिश्छगलः श्वा न क्रियते। वही, २८/६

१५. परस्परविवादे न युगैरपि विवादसमाप्तिरनन्त्याद्विपरीतप्रत्युक्तीनाम। वही, २८/२१

१६. गौतमस्मृति

१७. न हि भर्तुरभियोगात्परं सत्यमसत्यं वा वदन्तमवगृह्णीयात्। नीतिवाक्यामृतम २८/२८

१८. अन्यायोपेक्षा सर्वं विनाशयति। वही, ८/२०

१९. भुक्तिः साक्षी शासनं प्रमाणम्। वही, २८/१,

२०. न लेखाद्वचनं प्रमाणम्। वही, २७/६३

२१. लिखिताद्वाचिकं नैव प्रतिष्ठा याति कस्यचित्। बृहस्पतेरपि प्रायः किं तेन स्यापि? कस्यचित्।

२२. अनभिज्ञाते लेखेऽपि नास्ति सम्प्रत्ययः। नीतिवाक्यामृतम, २७/६४

२३. सन्दिग्धे पत्रे साक्ष्ये वा विचार्य परिच्छिन्द्यात्। वही, २८/२०

विना विश्वास नहीं करना चाहिए। 'शुक्रनीति' में उक्त विषय को स्पष्ट किया गया है।[२४] इन्हीं के साथ अप्रामाणिक पदार्थों का उल्लेख करते हुए आचार्यवर कहते हैं कि यदि जमीन जायदाद पर बलात्कारपूर्वक अधिकार किया गया हो, साक्षी झूठे हों और लेखादि भी झूठे हों तो उस विवाद का अन्त नहीं हो पाता, अत: ये सब प्रामाणिक नहीं होता।[२५] इसके अतिरिक्त जो बात बलात्कारपूर्वक कराई गई हो, अन्याय से हुई हो और राजकीय शक्ति के सामर्थ्य से उपयोग में लाई गई हो तो वह प्रमाणीभूत नहीं होती।[२६] रैभ्य ने भी इन सबको अप्रामाणिक ही माना है।[२७]

वर्तमान काल में विवाद आदि के अवसर पर साक्षी से सत्य बोलने के लिये शपथ का ग्रहण कराया जाता है। इस प्रसङ्ग में आचार्यवर ने चातुर्वर्ण्य के अनुसार शपथ-ग्रहण कराने का निर्देश किया है। ब्राह्मणों की शपथ सुवर्णस्पर्श और यज्ञोपवीत के स्पर्श से,[२८] क्षत्रियों की शपथ शस्त्र, रत्न, पृथिवी, हाथी, घोड़ा आदि वाहन और सवारी की जीन का स्पर्श कराने से,[२९] वैश्यों की शपथ कान, छोटा बच्चा, तीस कोड़ियाँ अथवा सुवर्ण के स्पर्श से,[३०] और शूद्रों की शपथ दूध, अन्न और बांबी के स्पर्श से निर्दिष्ट की है।[३१] इसके अतिरिक्त आचार्यवर ने तत्-तत् कर्म करने वाले कारक शूद्रों की शपथ क्रिया, उनके जीवनोपयोगी उपकरणों के स्पर्श से करने का निर्देश किया है।[३२] यथाव्रती तथा दूसरे पुरुषों की शपथ क्रिया उनके इष्ट देवता के चरणकमलों के स्पर्श से, इष्ट देवता की प्रदक्षिणा से, देवनिधि के स्पर्श से, चांवलों के स्पर्श से और तुला पर पैर रखने से[३३] व्याधों की शपथ क्रिया धनुष के लांघने से[३४] और चाण्डालों की शपथ-क्रिया गीले चमड़े पर पैर रखकर खड़े होने से होनी चाहिए।[३५]

विवाद के कारण-

आचार्यवर की दृष्टि में विवाद आदि कारणों के बीज दो ही हैं। प्रथम-दो व्यक्तियों का रुपये-पैसे का लेन-देन करना और द्वितीय एक साथ में निवास करना।[३६] अर्थात् एक ही मकान में रहना। एतदतिरिक्त आचार्यवर

---

२४. कूटलेखप्रपञ्चेन धूर्तैरार्यतमा नरा:। लेखार्थो नैव कर्त्तव्य: साभिज्ञानं विना बुधै:॥ शुक्रनीति

२५. भुक्ति सापवादा:, साक्रोशा: साक्षिण:, शासनं च कूटलिखितमिति न विवादं समापयन्ति। नीतिवाक्यामृतम्, २८/१०

२६. बलात्कृतमन्यायकृतं राजोपधिकृतं च न प्रमाणम्। वही, २८/११

२७. बलात्कारेण या भुक्ति: साक्रोशा: साक्षिणोऽत्र ये। शासनं कूटलिखितमप्रमाणानि त्रीण्यपि॥ रैभ्य

२८. ब्राह्मणानां हिरण्ययज्ञोपवीतस्पर्शनं च शपथ:। नीतिवाक्यामृतम् २८/३१

२९. शस्त्ररत्नभूमिवाहनपल्याणानां तु क्षत्रियाणाम्। वही, २८/३२

३०. श्रवणपीतस्पर्शनात् काकिणीहिरण्ययोर्वा वैश्यानाम्। वही, २८/३३

३१. शूद्राणां क्षीरबीजयोर्वल्मीकस्य वा। वही, २८/३४

३२. कारूणां यो येन कर्मणा जीवति तस्य तत्कर्मोपकरणानाम्। वही २८/३५

३३. व्रतिनामन्येषां चेष्टदेवतापादस्पर्शनात्प्रदक्षिणादिव्यकोशात्तन्दुलतुलरोहणैर्विशुद्धि:। नीतिवा. २८/३६

३४. व्याधनां तु धनुर्लङ्घनम्। वही ? २८/३७

३५. अन्त्यवर्णावसायिनामार्द्रचर्मारोहणम्। वही, २८/३८

३६. अर्थसम्बन्ध: सहवासश्च नाकलह: सम्भवति। वही, २८/२९

का कथन है कि सर्वथा झूठे व्यवहार में विवाद नहीं होता अर्थात् जब वादी और प्रतिवादी दोनों ही झूठे होंगे तो अभियोग क्या चलेगा?[३७] इन्हीं के साथ आचार्यवर ने किन्हीं विवादों का नामशः उल्लेख करते हुए उनके निर्णय का विधान किया है। यथा-किसी व्यक्ति ने किसी व्यक्ति के लिये अपना सुवर्ण आदि धन संरक्षण करने के लिये धरोहर के रूप में सौंपा हो और उस धन के नष्ट हो जाने पर अर्थात् वापस मांगने पर यदि वह मना कर देता है तो उस धरोहर के विवाद में, जिसके यहाँ प्रस्तुत धन रखा गया है उस पुरुष की विख्यात प्रामाणिकता और अप्रमाणिकता के आधार पर सत्य का निर्णय करना चाहिए अथवा शपथ ग्रहण कराकर अथवा दण्ड के द्वारा सत्य का निर्णय करना चाहिए।[३८] और इसी प्रकार दूसरे का धन अपहरण या नष्ट करने वाले के विवाद में शपथ, कुड़की या दण्ड का भय दिखाकर सत्य का निर्णय करना चाहिए।[३९] और यदि ग्राम अथवा नगर में विवाद का निर्णय हो जाने पर भी यदि पुनः विवाद उपस्थित हो जाए तो वादी-प्रतिवादी को राजा के पास जाना चाहिए।[४०] इस प्रकार के विवादों में निर्णय हो जाने पर जो अपराधी शपथ आदि के अपराधी सिद्ध हो जाने पर राजा को उसे प्राणदान देकर उसका समस्त धन ग्रहण कर लेना चाहिए।[४१] और जो व्यक्ति राजा के इस न्याय अथवा आज्ञा का उल्लंघन करे तो इस राय में आचार्यवर का कथन है कि राजा का निर्णय न मानने वाले को मृत्युदण्ड दिया जाए।[४२] क्योंकि राजा के द्वारा किये गये विवाद के निर्णय में दोष नहीं होता और इस कारण उसकी पुनः प्रार्थना (अपील) भी नहीं होती।[४३]

'नीतिवाक्यामृतम्' के उपर्युक्त तथ्यों पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि आचार्यवर श्री सोमदेव सूरि ने पूर्वाचार्यों द्वारा प्रतिपादित न्याय-प्रबन्धन का ही अनुसरण किया है। मौलिकता के दृष्टिकोण में उनका प्रबन्धन निर्णयानन्तर दण्डविधान अत्यधिक कठोरता का विरोध करता है, केवल भयंकर अपराधों में ही दण्ड का प्रदान करता है। उल्लेखनीय है कि श्री सोमदेव सूरि जैन सम्प्रदाय के सम्मान्य आचार्य थे। जिस सम्प्रदाय में अहिंसा ही परम धर्म हो, वहीं के मूर्धन्य आचार्य श्री सोमदेव सूरि ने अपराधविशेष में मृत्युदण्ड का भी विधान किया था। स्पष्ट है, आचार्यवर के दृष्टिकोण में समाज ही प्रधान था, व्यक्ति नहीं। वर्तमानकालीन न्याय-प्रबन्धन को अधिक उत्तम बनाने के लिये आचार्यवर के प्रबन्धन से ग्रहण किया जा सकता है कि न्यायालय से सम्बन्धित समस्त अधिकारियों को कर्त्तव्य के प्रति पूर्णतया निष्ठावान् होना चाहिए तथा व्यक्ति विशेष को लाभ पहुंचाते हुए सम्पूर्ण समाज के कल्याण की भावना से कार्य करना चाहिए। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनाचार्य सोमदेव सूरि जो कि अस्पष्टतः अवैदिक शास्त्रकार हैं, ने भी वेदमार्गानुयायी धर्मशास्त्रकारों की व्यवस्थाओं का पूर्णतः अनुसरण अथवा

---

३७. असत्यंकारे व्यवहारे नास्ति विवादः। वही, २८/१३
३८. नीवीविनाशेषु विवादः पुरुषप्रामणाण्यात्सत्यापयितव्यो दिव्यक्रियया वा। वही, २८/१४
३९. यः परद्रव्यमभियुञ्जीताभिलुम्पते वा तस्य शपथः क्रोशो दिव्यं वा। वही, २८/१६
४०. ग्रामे पुरे वा वृत्तो व्यवहारस्तस्य विवादे तथा राजानमुपेयात्। वही २८/२२
४१. विचावरयोगैर्विशुद्धस्याभियुक्तार्थसम्भावनायां प्राणावशेषोऽर्थापहारः। नीतिवाक्यामृतम् २८/१७
४२. राज्ञां मर्यादां वातिक्रामन् सद्यः फलेन दण्डेनोपछन्तव्यः। वही, २८/२४
४३. राजा दृष्टे व्यवहारे नास्त्यनुबन्धः। वही, २८/२३

समर्थन किया है। इससे यह विषयवस्तु स्पष्ट होती है कि ये धर्मशास्त्रीय न्यायादि व्यवस्थाएं धर्मसापेक्ष न होकर तत्कालिक समाज तथा संस्कृति के अनुसार होने के कारण एक समान है। अत: अद्यतन पाश्चात्त्य विचारकों से प्रभावित तथा कथित राजनीतिक विचारक केवल वैदिक धर्मशास्त्रियों पर आक्षेप करते हैं, उन पर साम्प्रदायिक या संकीर्ण होने का जो दोष मढ़ते हैं, वह सब नितान्त सारहीन तथा अनुचित है।

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २००९ अङ्क ११ (पृ०१४७-१५६)

वैश्वीकरण का नीतिशास्त्र

डॉ०सोहनपाल सिंह आर्य[1]

'वैश्वीकरण'-वर्तमान विश्व का प्रमुख नारा है। यह दुनिया के एकीकरण की घोषित नीति है और एक ऐसी तीव्र प्रभावकारी तथा बहुआयामी प्रक्रिया भी है- जो विभिन्न देशों की अर्थ व्यवस्था, राजनीति, तकनीकी, विकास तथा सांस्कृतिक गतिविधियों पर आमूल परिवर्तनकारी प्रभाव डाल रही है। जिससे आज विश्व का कोई भी राष्ट्र तथा जनसमुदाय अछूता नहीं रह गया है।[2] वैश्वीकरण के फलस्वरूप वर्तमान व्यक्ति की सोच, जीवन-शैली तथा नैतिक मूल्यों में एकाएक उल्लेखनीय परिवर्तन आ चुका है और उस परिवर्तन से परिवार, सामाजिक-सम्बन्ध तथा राष्ट्रिय कार्य-कलाप मूल रूप से प्रभावित हो रहे हैं। प्रस्तुत शोध निबन्ध में वैश्वीकरण के नीतिशास्त्रीय पहलू पर विशेष रूप से विचार किया जा रहा है। इसके लिये यहाँ निम्न तीन बिन्दु विचारणीय हो सकते हैं।

(१) वैश्वीकरण की अग्रगामी शक्ति और उसका दार्शनिक तथा नैतिक दृष्टिकोण

प्रस्तुत सन्दर्भ में प्रथम विचारणीय प्रश्न यह है कि 'वैश्वीकरण की अग्रगामी वाहक-शक्ति कौन सी है, -जिसने शीतयुद्धोत्तर काल में वैश्विक संरचना को पूर्णतः बदल डाला है? तो इसका दो टूक शब्दों में उत्तर होगा 'पूँजीवाद'।[3] पूँजीवाद और साम्यवाद के मध्य वैश्विक सघर्ष में पूँजीवाद की विजय हुयी जिसने पूरी दुनियाँ में पूँजी के वर्चस्व का मार्ग प्रशस्त कर दिया। इसलिये आज हर ओर पूँजी का प्रभुत्व बोल बाला हो चुका है। इसीलिये वैश्वीकरण का वास्तविक अभिप्राय है- 'सम्पूर्ण विश्व का पूँजीवादीकरण'।[4]

वैश्वीकरण के लिये कुछ अन्य शब्द भी प्रयुक्त हो रहे हैं। यथा-निजीकरण, उदारीकरण तथा बाजारीकरण। निजीकरण का अर्थ है- 'उत्पादन के साधन एवं वितरण व्यवस्था को राज्य की अपेक्षा व्यक्तिगत हाथों में सौपना।[5] किन्तु वर्तमान सन्दर्भ में निजीकरण तब अधिक अर्थवान स्वरूप में सामने आया, जब शीत-युद्धकालीन देशों की समाजवादी या मिश्रित अर्थव्यवस्थाओं को व्यापारिक शक्तियों/बहुराष्ट्रिय कम्पनियों के हित में बदला जाने लगा। तदानुसार उन्हें तेजी से ढालना एवं पुनर्व्यवस्थित किया जाने लगा। इसके लिये उदारीकरण की

---

१. रीडर, दर्शनशास्त्र विभाग गुरुकुल काँगडी वि०वि० हरिद्वार. मा०९८९७२४१६६३
२. नीरज जैन,. वैश्वीकरण या पुनः औपनिवेशीकरण, गार्गी प्रकाशन, सहारनपुर, संस्करण.२००४, पृ० ०१
३. वैश्वीकरण के नाम पर दैत्याकार पश्चिमी निगमों तथा वित्तीय संस्थानों का लाल कालीन बिछाकर फूलमालाओं से स्वागत किया जा रहा है। नीरज जैन. उपयुक्त, पृ०
४. एड्आर्डो गैलियेनो...ओपन वेन्स ऑफ लैटिन अमेरिका.उद्धृत.ई०पी० डब्लू, अंक.४४, ३१अक्टुबर १९९८, पृ० २७६३ पर नीरज जैन की यह टिप्पणी कि 'लातिन अमेरिका के पिछडेपन की (सच्चाई) तीसरी दुनियाँ के देशों के साथ भी लागू होती है।' उपरोक्त
५. डॉ०एस०सी०सिंघल अन्तर्राष्ट्रिय राजनीति. लक्ष्मी नारायण अ०आगरा २००५.०६, (३). पृ० २४५

नीति विश्व बैंक, मुद्रा-कोष आदि वित्तीय संस्थाओं ने प्रस्तुत की। जिनके ऊपर अमेरिका सहित विकसित पूँजीवादी देशों का नियन्त्रण स्थापित है।

उदारीकरण'का अर्थ है- 'व्यापार हेतु कानूनी प्रतिबन्धों में इस तरह ढील दी जाये, ताकि बाजारी शक्तियों का अर्थव्यवस्था में प्रवेश तथा विकास सुनिश्चित हो सके। एक देश से दूसरे देश में आयात-निर्यात सुगम बनाया जा सके।'

इसलिये उदारीकरण की नीति के अन्तर्गत देश के शासनतन्त्र द्वारा लाइसेन्स-प्रणाली, कोटा, परमिट व्यवस्था का सरलीकरण करना होता है। अनेक प्रकार के टैक्स तथा चुंगी आदि की व्यवस्था को शिथिल करना होता है। नौकरशाही का नियन्त्रण और सब्सिडी घटाना भी उदारीकरण के प्रमुख अंग है।[६]

'बाजारीकरण'-की नीति के रूप में वैश्वीकरण अपनी पूर्णतया की प्राप्ति की दिशा में तेजी से अग्रसर होता है। इस नीति का प्रारम्भिक लक्ष्य है- 'आर्थिक विकास को बाजारी शक्तियों के ऊपर छोड़ दिया जाये।'[७] जी०ब्राउन और सरकोजी के शब्दों में 'आर्थिक विकास और मुक्त बाजार दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, एक के बिना दूसरे का कोई मतलब नहीं है।'[८] एक बार बाजार को विकास का इंजन स्वीकार कर लेने के पश्चात वैश्विक बाजार की आवश्यकता सामने आ जाती हैं। बाजारीकरण का अन्तिम लक्ष्य है- 'सम्पूर्ण विश्व को एक बाजार में बदल देना।' इसलिये वैश्वीकरण की नीति विश्व बाजारवाद की वर्तमान वस्तुस्थिति के रूप में हमारे सामने विद्यमान हो चुकी है। बहुराष्ट्रिय कम्पनियाँ आज की बाजारी शक्तियों है और विश्व व्यापार संगठन विश्व व्यापार का नियामक मंच है।

अत एव वैश्वीकरण का वर्तमान दौर पूँजी प्रभुत्व एवं एकाधिकार का दौर है। बिल क्लिंटन के शब्दों में 'यह युग उन लोगों को पुरुस्कृत नहीं करता, जो खून से सरहदों की लकीर दुबारा खींचने का फिजूल प्रयास करते हैं। यह युग उनका है जो सरहदों से आगे देखकर वाणिज्य और व्यापार में साझीदार बनना चाहते हैं।'[९] किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि वैश्वीकरण के वर्तमान दौर में सैन्यशक्ति की निर्णायक भूमिका समाप्त हो गयी है। कुवैत-मुक्ति, इराक में सत्ता परिवर्तन और अफगानिस्तान में वर्तमान नॉटो सैन्यसंगठन द्वारा संचालित युद्ध किस वास्तविकता की ओर संकेत कर रहे हैं?- अमेरिका वर्तमान विश्व की सुपर पावर है। उसकी हाँ या ना पर शान्ति और युद्ध सम्बन्धी मुद्दे निर्धारित होते हैं।' इसलिये आर्थिक और राजनैतिक दोनों ही स्तरों पर अमेरिकन पूँजीवादी मॉडल पूरी दुनिया के लिये आकर्षण का आदर्श केन्द्र बन चुका है। उसकी सांस्कृतिक गतिविधियाँ, भाषायी

---

६. डॉ०एस०सी०सिंघल उप०पृ० २४५

७. नया दर्शन यह है कि बाजार में सरकार का हस्तक्षेप बन्द होना चाहिये सो मूल्य पर नियन्त्रण खत्म किया जा रहा है। नीरज जैन उपर्युक्त, पृ० २२

८. श्लोकतन्त्र की राह ताकता म्यामारश्. अमर उजाला.८दिस २००७ का सम्पादकीय पृष्ठ

९. डॉ०एस०सी०सिंघल उप० पृ० २४७

अभिव्यक्ति तथा जीवन-मूल्य वैश्विक प्रेरणा के प्रमुख प्रेरक आधार बन चुके हैं।[१०]

चाहे हम 'यथा राजा तथा प्रजा'-की प्राचीन लोकोक्ति का सन्दर्भ ग्रहण करें। अथवा कार्ल मार्क्स की मूल संरचना और ऊपरी संरचना के अन्त:सम्बन्ध के सिद्धान्त[११] के आधार पर वर्तमान वैश्विक संस्कृति के स्वरूप की व्याख्या करे। दोनों ही स्थितियों में यह स्वीकार करना आवश्यक हो गया है कि आज अमेरिकन नेतृत्व में वैश्विक पूँजीवाद सम्पूर्ण विश्व की रीति-नीति, जीवन-दृष्टि एवं चिन्तन सम्बन्धी प्राथमिकताओं का 'निर्धारक-कारक' बन चुका है। आज दुनियाँ में आर्थिक विकास के लिये जो उन्मुक्त भाग दौड़ तथा मारामारी मची हुई है, जिसके आधार पर परिवार, समाज और राष्ट्र के पुराने संघटक आधार अर्थहीन होते जा रहे हैं और केवल 'आर्थिक-आधार' निर्णायक बनते जा रहे हैं- अन्तर्राष्ट्रिय स्तर पर भी यूरोपियन संघ, आसियान ओपेक तथा दक्षेश जैसे क्षेत्रीय, राष्ट्रिय-गठबन्धन नये सिरे से उभर रहे हैं और उनमें शीतयुद्ध कालीन गठबन्धनों जैसी सैद्धान्तिक प्रतिबद्धता सिरे से गायब है। केवल व्यापारिक हितों और आर्थिक लाभों के लिये क्षेत्रीय स्तर पर पुनर्गठित हो रहे हैं। तो इसके मूल में पूँजीवादी लक्ष्य ही सक्रिय है।

'पूँजीवाद'-के मूल में लोभ का मनोविज्ञान प्रेरक रूप में विद्यमान है। 'वैश्विक पूँजीवाद के रूप में इसके भीमकाय आत्मविस्तार का वास्तविक रहस्य क्या है?- 'केवल और केवल लाभ प्राप्ति की अदम्य लालसा। श्रमशक्ति को अन्तिम बूँद तक निचोड़ डालने की मानसिकता[१२] और प्राकृतिक संसाधनों के ऊपर एकाधिकार की मूल प्रवृति तथा उसके निर्मम दोहन के लिये भूगर्भ में, सुदूर अन्तरिक्ष में तथा समुद्र के अन्तिम छोर तक पहुँच जाने की अदम्य इच्छा शक्ति-इसमें निहित है।'

अत एव यदि नीतिशास्त्रीय दृष्टि से देखा जाये तो यह वैश्वीकरण पूँजीवादी जीवन दृष्टि एवं शैली का भी वैश्वीकरण है। जिसे प्राय: पाश्चात्य जीवन शैली, भोगवादी संस्कृति तथा अपसंस्कृति जैसे अनेक नामों से दार्शनिक क्षेत्रों में सम्बोधित किया जा रहा है।[१३] इस पाश्चात्य जीवन शैली के मूल में विगत तीन शताब्दियों के दार्शनिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा मनोवैज्ञानिक चिन्तन का प्रभाव उल्लेखनीय रहा है। इसे जहाँ एक ओर एड्म स्मिथ के आर्थिक दर्शन ने प्रभावित किया, [१४] वहीं इसके ऊपर हॉब्स, लॉक, मिल जैसे दार्शनिकों के चिन्तन का प्रभाव भी उल्लेखनीय रहा है।[१५] व्यक्तिवाद, समझौतावाद और उपयोगितावाद की जड़ें आधुनिक यूरोपीयन चिन्तन में निहित

---

१०. आज संसार में सर्वथा एक नवीन अमेरिका केन्द्रित व्यवस्था का प्रादुर्भाव होने जा रहा है, जिसे प्राय: एकल ध्रुवीय विश्व व्यवस्था भी कहा जा रहा है।.डॉ० सोहनपाल सिंह आर्य, कार्ल.मार्क्स और ऋषि दयानन्द का तुलनात्मक अध्ययन, अम्बिका पुस्तक सदन, ज्वालापुर हरिद्वार, २००२.०३ पृ० ३०७

११. आई०टी०फ्रोंलोव द्वारा सम्पादित दर्शन कोश, प्रगति प्रकाशन मास्को, १९८०, पृ० ९८

१२. डॉ० सोहनपाल सिंह आर्य, उपर्युक्त, पृ०.१०९

१३. जय प्रकाशय विसंस्कृतिकरण के दौर में...चिंतन.आजकल से उद्धत

१४. डॉ०सोहनपाल सिंह आर्य, उपर्युक्त, पृ० ०९

१५. डॉ०एच०एन०मिश्र एवं जे०पी०अवस्थीय नीतिशास्त्र की भूमिका,. हरियाणा साहित्य अकादमी चण्डीगढ ;३द्ध१९८८, पृ० १०९.१०५ , १३८

है। वैज्ञानिक अनीश्वरवाद तथा डार्विनवाद के अतिरिक्त डेविड़ ह्यूम का 'वासना की प्रधानता का सिद्धान्त भी इस पाश्चात्य जीवन शैली के मूल में दृष्टिगोचर होता है।[१६]

अमेरिकन-प्रयोजनवाद[१७] और फ्रायॅड़ का काम मनोविज्ञान[१८] ये दोनों तत्त्व एक ऐसी मन:सामाजिक स्थिति का विनिर्माण करने में समर्थ हो गये, -जो आज वैश्विक नीतिशास्त्र के रूप में हम सब के सम्मुख अधिक गम्भीरता तथा व्यापाकता के साथ विचारणीय हो गया है। इस नीतिशास्त्र का मूलाधार लौकिक, प्रयोजनों की संसिद्धि करना है। कामेष्णा की सन्तुष्टि और अधिकाधिक पूँजी अर्जन का लक्ष्य-ये इसके दो प्रेरक तत्त्व है। मेरी दृष्टि में भी काम मूल है। इसे पाश्चात्य जीवन शैली का केन्द्र कहा जा सकता है और अर्थोपार्जन व्यक्ति की कामेच्छा की पूर्ति/तृप्ति का महत्त्वपूर्ण साधन है। अर्थ को पाश्चात्य जीवन शैली की परिधि की संज्ञा दी जा सकती है। इसलिये पूंजीप्रधान अर्थव्यवस्था के भीतर ही वर्तमान पाश्चात्य जीवन शैली की समस्त गतिविधियाँ संचालित हो रही हैं। जिसके हम सब चाहे, अनचाहे वाहक बन चुके हैं।[१९]

यदि तनिक ध्यान से देखा जाये तो हम सहजत: इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अर्थ और काम-ये प्रेरक तत्त्व ही आज मनुष्य के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की धुरी बन गये हैं। जिन-जिन देशों और समाजों का वैश्वीकरण बड़ी तेजी से हुआ है, वहाँ के लोगों की सोच शिक्षा, रोजगार, विवाह, क्रीड़ा, मनोरंजन, राजनीतिक और सांस्कृतिक गतिविधियाँ अर्थ एवं काम द्वारा ही निर्देशित तथा निर्धारित होती जा रही हैं और मानो हम सब अर्थ तथा काम के लिये हिडोले पर झूल रहे हैं। जिधर भी देखे इन दोनों की ही चर्चा तथा बोलबाला हो रहा है।

अभी तक जिन्हें हम धार्मिक तथा पारलौकिक महत्त्व के विषय समझते आये हैं उदाहरणत: योग-विद्या आध्यात्मिक-प्रवचन, कथा, उपदेश और जागरण आदि, -इन सब के ऊपर भी अर्थ और काम की इतनी गहरी छाया पड़ चुकी है कि ये सब अपना वास्तविक स्वरूप तथा प्रयोजन खोते हुए दिखलाई पड़ते हैं। ये भी अर्थ और कामसिद्धि के घोषित साधन बन चुके हैं। इसलिये आज योग, -योग न रहकर 'योगा-मार्केट' बन चुका है। जो चित्तवृत्ति के निरोध का विज्ञान न रहकर, -अर्थोपार्जन एवं कामोपभोग का आकर्षक, एवं प्रभावशाली साधन बन गया है। यह निष्कर्ष अन्य धार्मिक तथा आध्यात्मिक आयोजनों पर भी लागू होता है।

इसलिये वर्तमान सन्दर्भ में विभिन्न आध्यात्मिक एवं धार्मिक अवधारणायें और सिद्धान्त भी अर्थ और काम के प्रयोजन की सिद्धि के परिप्रेक्ष्य में ही पुनर्परिभाषित एवं व्याख्यायित किये जा रहे हैं। इनके लौकिकता मूलक उपयोगी आधारों को प्रचीन स्रोतों से खोज-खोज कर सामने लाया जा रहा है।

यदिं तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो यह पता चलेगा कि सनातन वैदिक संस्कृति के अन्तर्गत भी 'अर्थ एवं

---

१६. बुद्धि वासना की दासी है और होनी भी चाहिये.डेविड़ ह्यूम। पाश्चात्य दर्शन का इतिहास.दयाकृष्ण द्वारा सम्पादित।

१७. प्रस्तुत सन्दर्भ में वि०जेम्स का ग्रन्थ पेगमेटिज्म पठनीय।

१८. नादिन गार्डियरय बींसवी शताब्दी चिंतन.आजकल से उद्धृत पृ०४५, ५८

१९. किकेट, हॉलीवुड़ कल्चर, सौन्दर्य मार्किट, अमेरिकन अग्रेजी इत्यादी का तेजी से वैश्विक प्रचार.प्रसार इस तथ्य को प्रमाणित करता है।

काम' तो स्वीकार्य पुरुषार्थ रहे हैं। जिन्हें लौकिक प्रयोजन मूलक पुरुषार्थ के रूप में भी जाना जाता है। परन्तु इनके अतिरिक्त वैदिक संस्कृति के अन्तर्गत धर्म एवं मोक्ष को भी पुरुषार्थ चतुष्टय की अवधारणा के अन्तर्गत महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।[२०] इन चारों पुरुषार्थों में अर्थ और काम का सीधा सम्बन्ध मनुष्य की लौकिक उन्नति से है, जबकि मोक्ष का सम्बन्ध पारलौकिक मुक्ति से है। यह मनुष्य की चिर परम आकांक्षा रही है जिसे पाकर अन्य कुछ भी पाना शेष नहीं रह जाता है। इसलिये मुक्ति को निःश्रेयस् के रूप में भी जाना जाता है। धर्म की उपयोगिता अर्थ की शुचिता से भी जुड़ी है। इसके साथ-साथ काम की प्रामणिकता और मर्यादा-रक्षा भी धर्म के बिना सम्भव नहीं है।[२१] इसी तरह धर्म का मोक्ष के साथ भी अभिन्न सम्बन्ध है, वही धर्म परायण व्यक्ति का अन्तिम प्राप्तव्य लक्ष्य माना जाता है।-अधार्मिक व्यक्ति के लिये तो मोक्ष का मार्ग बन्द ही समझिये। क्योंकि उसके लिये सर्वप्रथम धर्मनिष्ठ, सदाचार का पालन करना आवश्यक है।

जिन धार्मिक/ नैतिक मूल्यों का उल्लेख प्राचीन वैदिक ग्रन्थों में हुआ है वे धर्म के लक्षण कहलाते हैं। यथा-धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, सन्तोष इन्द्रिय-निग्रह, धी, बुद्धि, विद्या, अक्रोध और अहिंसा आदि।[२२] यदि इनके आलोक में वर्तमान भोगमूलक वर्तमान वैश्वीकरण का अवलोकन करें तो हम बड़ी तेजी से किधर भागे जा रहे हैं?-इसकी सुस्पष्ट दृष्टि, समझ और तस्वीर हमारे सम्मुख प्रस्तुत हो जायेगी। यही कारण है कि वैदिक जीवन दृष्टि के अन्तर्गत धर्म अनुमोदित अर्थ ही सच्चे अर्थो में धन हैं। अन्यथा धर्म विरुद्ध अर्थोपार्जन निषिद्ध, हेय तथा त्याज्य है। इसी तरह धर्मानुकूल काम ही वैदिक दृष्टि से स्वीकार्य है। धर्म विरुद्ध काम भी पाप एवं पतन का सूचक माना जाता है। इस हेतु वह भी निषिद्ध समझा जाता है।[२३]

किन्तु वर्तमान पाश्चात्य जीवन शैली में धर्म-नैतिकता का उपर्युक्त मानदण्ड ही सिरे से नदारद है। क्योंकि कहाँ तक व्यक्ति को अपनी लौकिक कामनाओं की पूर्ति करनी है? और कहाँ पर अनुल्लंघनीय-लक्ष्मण-रेखा के सामने आ जाने पर उसे तत्काल रुक जाना है? यह मूल चिंतन, समझ तथा संस्कार ही भोग प्रधान जीवन शैली में अनुपस्थित है। इसीकारण, -भारत जैसे तीव्र आर्थिक विकास की दिशा में उन्मुख देश में भ्रष्टाचार भी तीव्र गति से बढ़ रहा है। तब यहाँ यह प्रश्न विचारणीय हो जाता है कि क्या वर्तमान पाश्चात्य संस्कृति के नैतिक पतनकारी पक्ष के लिये इसका अनीश्वरवादी-भौतिकवादी दर्शन तो सीधे-२ उत्तरदायी नहीं है? जो मनुष्य एवं समाज को भोगवाद की ओर पग-२ पर प्रेरित कर रहा है। क्योंकि 'त्यागपूर्वक भोग' की बात एक ईश्वरवादी मस्तिष्क तो सोच सकता है।[२४] किन्तु भौतिकवादी के लिये तो भोगवाद सीधा, सपाट राजमार्ग है। फिर वह कब तक? और क्यों?-स्वयं को भोग मार्ग पर जाने से रोक सकता है?

---

२०. हे ईश्वर दयानिधे! भवत्कृपयानेन जपोपासनादिकर्मणा धर्मार्थकाममोक्षाणां सद्यः सिद्धिर्भवेन्नः।।.महर्षि दयानन्द सरस्वती, पंचमहायज्ञ एवं पर्व प्रदीप श्रदानन्द अनुसन्धान प्रकाशन केन्द्र हरिद्वार, २००७, पृ० १२.

२१. श्रीमद्दयानन्द सरस्वतीः सत्यार्थी प्रकाश, आर्ष सहित्य प्रचार ट्रस्ट दिल्ली, २००१पृ० ४०६

२२. मनुस्मृति

२३. महर्षि दयानन्दः सत्यार्थ प्रकाशः स्वमन्तव्य०क्रमसंख्या १४ व १५

२४. तेन व्यक्तेन भुञ्जीथाः मागृधः कस्य स्विद्धनम्। यजु०४०/१

जैसा कि हम सब जानते हैं- 'वर्तमान पूँजीवादी भोगवादी चकाचौंध/आकर्षण के मूल में भौतिकवादी तत्त्वदृष्टि निहित है'। जिसके अनुसार- 'यह सम्पूर्ण जीवन जगत् प्राकृतिक या भौतिक अणु परमाणुओं की क्रीड़ा मात्र है। जो प्राकृतिक यान्त्रिक नियमों के अन्तर्गत नियन्त्रित एवं संचालित है। उसी के क्रमिक विकास का परिणाम यह विशाल सृष्टि हमारे सामने है। इस जगत् का न कोई नियन्ता है, न कोई स्रष्टा है और न यह जगत् परम चेतन सत्ता ईश्वर के सार्वभौमिक नैतिक विधान- 'ऋत व्यवस्था द्वारा संचालित हो रहा है। जिस तरह, - अणु-परमाणुओं की भौतिक और यान्त्रिक व्यवस्था है। उसी तरह, - जैविक जगत् के भी व्यवस्थापक नियम है। उनके आधार पर सम्पूर्ण जैविक संसार संचालित हो रहा है-उनसे बाहर निकलने की न तो कही कोई सम्भावना है और न ऐसी कोई आवश्यकता है। मनुष्य अपनी सम्पूर्ण जैविक, समाजिक, मनोवैज्ञानिक, नैतिक और आर्थिक तथा राजनैतिक आदि सभी गतिविधियों को उन्ही मूलभूत नियमों एवं प्रेरकों के आधार पर संचालित कर रहा है।[२५] इसी कारण सभी सांसारिक आकर्षण मनुष्य की समस्त गतिविधियों के निर्धारक बने हुए हैं।'

२- वैश्वीकरण की प्रक्रिया से प्रभावित आधुनिक विश्व का नैतिक परिदृश्य

हमें इस बिन्दु पर विचार करते समय यह तथ्य ध्यान में रखना भी आवश्यक है कि आर्थिक वैश्वीकरण की स्वाभाविक परिणति भोगमूलक नीतिशास्त्र में होती हैं। इसके अतिरिक्त बाजारी शक्तियाँ स्वार्थवश भी भोगवादी जीवन दर्शन की ओर जनसमाज को समय-समय पर आकर्षित भी करती रहती हैं ताकि कृत्रिम आवश्यकताओं को सृजित करके अपने उत्पादों/सेवाओं को अधिक मात्रा में बेचा जा सके। इसके साथ-साथ वैश्विक पूँजीवाद के वर्तमान दौर में जहाँ सब कुछ क्रय-विक्रय द्वारा पाना सम्भव हो गया है और शिक्षा, रोजगार, न्याय और सुरक्षा जैसी मूलभूत आवश्यतायें भी अर्थ-साध्य हो चुकी हैं तथा नाना सुख-सुविधा तथा भोग विलास की सामग्री वर्तमान समाजिक स्तर के निर्धारण का आधार बन चुकी है, तब वहाँ धन के पीछे अन्धी दौड़ स्वाभाविक हो जाती हैं। इसलिये आर्थिक विकास का पूंजीवाद मॉडल जिन देशों में तेजी से विस्तारित हो रहा है, वहाँ उसका नीतिशास्त्रीय पक्ष- 'ऐन्द्रिक भोगवादी दर्शन' अधिक प्रखरता के साथ उन देशों तथा परम्परागत समाजों को अपनी चपेट में लेता जा रहा है। इसलिये विगत वर्षो में जो चिंतक-राजनेता, आर्थिक एवं तकनीकी विकास के लिये तो पूँजीवाद का समर्थन कर रहे थे। किन्तु पाश्चात्य-भोगवाद का विरोध कर रहे थे-उन्हें अपनी विसंगत धारणा अब पूर्णतः स्पष्ट हो चुकी होगी।

प्राचीन युग में, -एरिस्टिपस नामक यूनानी दार्शनिक ने भी ऐन्द्रिक भोगवादी नीतिशास्त्र का प्रतिपादन किया था।[२६] इसी तरह भारतीय भौतिकवादी चार्वाक दर्शन के अन्तर्गत भी सुखवाद का प्रतिपादन मिलता है।[२७] परन्तु यूनानी और भारतीय-दोनों ही भौतिकवादी दर्शनों से आधुनिक भौतिकवाद इस कारण गम्भीर तथा व्यापक है क्योंकि एक तो यह वैश्विक, आर्थिक तथा तकनीकी विकास के साथ जुड़ा हुआ है। दूसरे, -वैश्वीकरण के

---

२५ दृष्टव्य ह०स्पेन्सर द्वारा प्रतिपादित विकासवादी नीतिशास्त्र

२६. डॉ०एच०एन०मिश्र एवं जे०पी०अवस्थीय उप०पृ० १०४

२७. 'यावज्जीवं सुखं जीवेत्' चारवाक, सत्यार्थ प्रकाश, उपर्युक्त पृ० २७७

राजनीतिक दर्शन तथा व्यवस्था के साथ भी इसका संगतिकरण हो चुका है। इसी कारण इसकी मारक-क्षमता सर्वव्यापी तथा चिन्ताजनक स्तर तक जा पहुँची है। प्राकृतिक संसाधनों का निर्ममता पूर्वक दोहन किस भावी आसन्न संकट की ओर संकेत कर रहा है? प्राकृतिक साधन विहीनता की ओर भावी कँगाली की ओर,[२८] अपने भोगमूलक जीवन स्तर को बनाये रखने के लिये प्रतिव्यक्ति जितनी ऊर्जा का व्यय आज मनुष्य कर रहा है। विशेषकर-विकसित देशों में क्या तब आगामी पीढ़ियों के लिये भी जीवन यापन करने के लिये इस धरा धाम पर कुछ शेष रह जायेगा? इस प्रश्न पर ठीक से ध्यान देने का समय क्या आधुनिक मानव के पास है? उस पर सुव्यवस्थित चिंतन एवं आचरण तो बहुत आगे की बात है। इसी के साथ-साथ पर्यावरण प्रदूषण एवं असंतुलन के मूल में किस मानसिकता के दर्शन होते हैं? फटाफट विकास और त्वरित भोग में ऐसा आन्तरिक सम्बन्ध है कि एक के साथ जुड़कर मनुष्य दूसरे का हुए बिना नहीं रह सकता है।[२९]

मानव-जाति के अस्तित्व पर एक बड़ा प्रश्न चिह्न एड्स ने लगाया है जो एक महामारी के रूप में पूरे विश्व में तेजी से पैर पसार रही है। यह एक ऐसा सर्वनाशक खतरा पहली बार मानव जाति के सम्मुख प्रस्तुत हुआ है। जो उसकी अदम्य भोग-लिप्सा और यौन-स्वच्छंदता का परिणाम कहा जा सकता है।[३०] एड्स के विस्तार को रोकने के लिये सेक्स-एजुकेशन की चर्चा सार्वजनिक क्षेत्र में एक अभियान के रूप में सामने आ रही है। किन्तु किशोरों के हाथों में कंडोम थमा देने से क्या एड्स का प्रसार रुक जायेगा? फिर इसके फलस्वरूप किशोर तथा युवावर्ग अल्पायु में जिस तेजी से वयस्क मानसिकता को प्राप्त होंगे-क्या उतनी ही तेजी से वे बुजुर्गीयत की ओर अग्रसर नहीं होंगे? परन्तु पूजी-संग्रह की इस वर्तमान आपाधापी में कौन किसके लिये ठहर कर सोचने के लिये तैयार है? एड्स मॉर्केट का फंडा राष्ट्रिय संस्कृति तथा लोकाचार पर भारी पड़ रहा है।

इसके अतिरिक्त अनेक कामोत्तेजक प्रवृत्तियाँ एवं गतिविधियाँ भी वर्तमान दौर में वैश्विक हो चुकी हैं और सम्मान, कैरियर तथा धनार्जन का आकर्षक साधन बन चुका है। उदाहरणतः सौन्दर्य-प्रतियोगिता, ऐडल्ट-सिनेमा, -फॉर्मुला-फिल्में और सैकड़ों टी-वी-चैनलों के माध्यमों से नित्यप्रति परोसी जाने वाली नग्नता, हिंसा, मारधाड़ आदि। जो छिटपुट अश्लीलता, फुटपाथीय साहित्य के माध्यम से प्रचलन में थी। वे आज रातों रात ब्लू फिल्मों, नैट चैटिंग, एस-एम-एस-, एम-एम-एस-तथा फोन कॉल के जरिये रातोंरात वैश्विक हो रही है। इसके मूल में कौन सी प्रेरक मानसिकता क्रियाशील है?-यह जानने के लिये किसी गम्भीर विमर्श की आवश्यता है क्या?-

वस्तुतः सूचना-प्रद्यौगिकी, -जिसने वैश्विक ग्राम की अवधारणा को सार्थकता प्रदान करने में युगान्तरकारी भूमिका अदा की है। वह दुधारी तलवार के रूप में प्रयुक्त हो रही है,-वैश्विक सूचनाओं के अदान-

---

२८. आ०टायनबी एवम दा० इकेदा, सृजनात्मक जीवन की ओर अनु० धर्मप्रकाश, आक्सफोर्ड यूनि० प्रेस, दिल्ली१९९२, पृ० ३७.४४

२९. सुषमा यादव एवं राम अवतार शर्मा, भारतीय राजनीति, ज्वलंत प्रश्न, हि०मा०का०नि० दिल्ली वि०वि०प्र०सं०.१९९४, पृ० २६२

३०. डॉ. आर०एस०मिश्र, सहयोग नरेन्द्रसिंह एड्स, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, १९८९, पृ० ३०

प्रदान के लिये! ई-लर्निंग, ई-मार्केट के वैश्विक प्रसार-विस्तार के लिये। सांस्कृतिक और सामाजिक संवेदनाओं अनुभूतियों और उपलब्धियों को साझा करने के लिये। वही इसके बढ़ते दुरुपयोग ने उन्मुक्त यौनाचार, हिंसा और आतंक की विश्वव्यापी चुनौती भी हमारे सम्मुख प्रस्तुत कर दी है। क्या इस वैश्विक चुनौती का सामना वर्तमान भोगवादी अपसंस्कृति के आधार पर किया जा सकता है? नहीं, कदापि नहीं। यह तो ऐसा 'सांस्कृतिक बम' है, जो जहाँ भी गिराया जाता है, वहाँ का सभ्याचार शिक्षा, संस्कार, स्व अस्तित्व एवं अस्मिता को ही नष्ट-भ्रष्ट कर देता है।

'नैतिक-कर्तव्य की दृष्टि'-से वैश्वीकरण का नीतिशास्त्र व्यक्ति को कहाँ खड़ा कर देता है? इसे जानने के लिये उस पेशेवर युवावर्ग की ओर दृष्टिपात करना आवश्यक है-जिसके लिये शिक्षा पाने का एकमात्र उद्देश्य है- कैरियर। कैरियर का अर्थ है- 'बड़े से बड़ा पैकेज', और पैकेज का निहितार्थ है- 'आत्मसुख और सुविधा के साधनों का अम्बार लगाने की अभिलप्सा'। इस वर्ग के लिये न तो देश प्रेम, सेवा और त्याग का कोई अर्थ है और न अपनी संस्कृति और लोकाचार के प्रति सम्मान का कोई भाव है। पूर्ण आधुनिक, -पूर्ण यूरोपियन-पूर्ण अमेरिकन सिटीजन दिखने और बनने की चाह ही इस वर्ग का एकमात्र सपना है। यही कारण है कि आज हमारी सुरक्षा-सेनाओं में हजारों पद प्रतिवर्ष रिक्त रह जाते हैं, -देश की प्रतिभाओं की दिशा तो दूसरी ही है।

अपने परिवार जनों-माता-पिता, दादा-दादी आदि के प्रति सेवा भावना-उनकी सुरक्षा और स्वास्थ-सम्बन्धी चिन्ताएँ भी इस वर्ग के लिये अर्थहीन हो चुकी हैं। इसके परिणाम स्वरूप बुजुर्गों में नैराश्य, विषाद तथा असुरक्षा जैसी मानसिक बीमारियाँ घर करती रही हैं। 'अतिथि देवो भव:'[३१] की परम्परा वाले देश में अपने भी पराये हो जाते हैं। इसलिये वृद्धाश्रमों की तेजी से स्थापना की आवश्यकता गहराई से अनुभव की जाने लगी है। किन्तु मूल प्रश्न यह है कि पितृ ऋण की वैदिक अवधारण का वर्तमान दौर में क्या कोई अर्थ एवं औचित्य शेष रह गया है?

आज यही वर्ग मैरिज मार्केट में अपनी ऊँची से ऊँची बोली लगाने के लिये बड़ी तेजी से प्रवेश भी कर रहा है। क्या वर्तमान विवाह कार्यक्रम आज दो आत्माओं का मिलन मात्र समझा जा रहा है? अथवा इसके अतिरिक्त वह विशुद्ध आर्थिक कमाई और सामाजिक प्रतिष्ठा के अर्जन का सशक्त माध्यम बन चुका है और दहेज के रूप में पूँजी निवेश उसका निर्णायक कारण बन चुका है? इसी का दुष्परिणाम आज नारी भ्रूणहत्या के भयावह रूप में सामने आ चुका है। जिसने स्त्री-पुरुष समानुपात का प्राकृतिक सन्तुलन ध्वस्त कर दिया है।[३२] ओर जो आने वाले दौर की सबसे प्रमुख चुनौतियों में से एक प्रमुख चुनौती के रूप में हम सब के सम्मुख चिन्तनीय है।

इनके अतिरिक्त मानसिक गुलामी का खतरा भी वैश्विक नीतिशास्त्र का एक बड़ा प्रतिफलन बनने जा रहा है, जिसकी ओर ऐसी गम्भीर दार्शनिक संगोष्ठी के माध्यम से विचार किये जाने की आवश्यकता है। एक ईस्ट

---

३१. उन्ही विद्वानों, माता-पिता, आचार्य, अतिथि, न्यायकारी राजा और धर्मात्मा जन, पतिव्रता स्त्री और पति का सत्कार करना 'देवपूजा' कहलाती है। श्रीमद् दयानन्द सरस्वती, स०पृ०स्वमन्तव्य०, उपर्युक्त पृ० ४०६

३२. प्रस्तुत सन्दर्भ में नारी भ्रूण हत्या विरोधी अभियान, जागरण यात्रायें तथा नारी रक्षा सम्बन्धी राष्ट्रिय कार्यक्रम उल्लेखनीय।

इंडिया कम्पनी ने भारतीय पराधीनता की जो नींव बाजार की खोज के माध्यम से रखी थी। और जिसे लार्ड मैकाले ने अपनी शिक्षा नीति के माध्यम से सशक्त किया था। जिसके फलस्वरूप अग्रेजी दा शिक्षितों का एक ऐसा बड़ा वर्ग देश में तैयार हो गया था जो भाषा, चिन्तन, आचार-व्यवहार की दृष्टि से स्वयं को विदेशी शासकों के निकट अनुभव करने लगा था और जब तक अंग्रेजों द्वारा पुरुस्कृत होने में आत्मगर्व का अनुभव करने लगा था। उसका राष्ट्रिय स्वाभिमान, अस्मिता और सांस्कृतिक जुड़ाव नष्ट प्राय: हो चुका था। किन्तु स्वाधीनता आन्दोलन के मुखर हो जाने के कारण वह अपना निर्णायक प्रभाव नहीं छोड़ा पाया था।

परन्तु वैश्वीकरण के वर्तमान दौर में जहाँ सैकड़ों नहीं, हजारों बहु राष्ट्रिय कम्पनियाँ भारतीय बाजार का अंग बन चुकी हैं और टी०वी० विज्ञापनों, बडे-बड़े होर्डिग्स के जरिये भारतीय जनमानस तक अपनी पहुँच बना चुकी हैं तथा भोगवादी जीवन शैली के प्रचार-प्रसार द्वारा राष्ट्रिय जनमानस को अंग्रेजी भाषा, अंग्रेजी खेल-क्रिकेट, हॉलीवुड़ फिल्मी पैटर्न तथा फैशन के जरिये भारत, भारतीयता के मूलाधार को छिन्न-भिन्न करने में तेजी से सफलता की ओर बढ़ रहा है। इससे सांस्कृतिक गुलामी का एक नया दौर शुरू होने जा रहा है। वेश भूषा, खान-पान, मनोरंजन के साधन ही यदि विदेशियत के रंग में पूरी तरह रंग जाये तो स्व-संस्कृति के अनुसरण एवं संवर्धन के लिये सम्भावना कहाँ रह जायेगी?

संक्षेप में, वैश्वीकरण के नीतिशास्त्र की अनेक चुनौतियाँ भारत सहित उन सभी देशों के सामने विचारणीय हैं, जिनका अपना सुसमृद्ध इतिहास है। महान् सांस्कृतिक परम्परा है और व्यक्ति तथा समाज को प्रगति की ओर निरन्तर अग्रसर करने वाली जीवन मूल्यों की महान विरासत जिनको प्राप्त है।[३३] आगे बढ़कर उन्हें ही इस भोगवाद के अपसंस्कृतिकरण को रोकना होगा।

३- वैश्वीकरण के नीतिशास्त्र का मूल्यांकन

जहाँ तक नीतिशास्त्र के वर्तमान वैश्विक भोगवाद के मूल्यांकन का प्रश्न है, इस सन्दर्भ में यह कहना सर्वथा उचित है कि एक शोधपत्र के अन्तर्गत इस विषय पर समुचित रूपेण विचार नहीं किया जा सकता। इसके लिये अलग से स्वतन्त्र अध्ययन, मनन एवं अनुसन्धान किये जाने की आवश्यकता है। तब भी प्रस्तुत आलेख में उन मूलभूत कसौटियों का उल्लेख तो अवश्य ही किया जा सकता है। जिनके आधार पर इस नीतिशास्त्र का समग्र निष्पक्ष मूल्यांकन किया जा सके। मेरी दृष्टि में वे कसौटियाँ निम्नलिखित हो सकती हैं।[३४]

१-जीवन अस्तित्व के संरक्षण तथा संवर्धन का साधन बने:-इस कसौटी के अन्तर्गत जीवन अस्तित्व के सम्मुख जिन कारणों और समस्याओं से खतरा उत्पन्न हो गया है। उन्हें दूर करने वाला नीतिशास्त्र ही वैश्विक नीतिशास्त्र के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इसके अन्तर्गत जो पर्यावरण संरक्षण एवं सन्तुलन में सहायक हो। विश्व शान्ति की स्थापना का स्थायी आधार बने तथा एड्स मुक्ति जैसी वैश्विक समस्या को हल करने में

---

३३. एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः। स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः !! मनुस्मृति।
३४. डॉ०सोहनपाल सिंह आर्यः आदर्शविकास नीति के दार्शनिक आधार, अखिल भारतीय दर्शन परिषद, ४३वाँ अधिवेशन में प्रस्तुत शोधपत्र (अप्रकाशित) से उद्धृत।

जिसकी भूमिका मार्गदर्शनकारी हो। वह मानव जाति के मार्गदर्शन का भावी प्रेरक नीतिशास्त्र बन सकता है।

२-सर्वांग विकास का साधन- इस कसौटी के अनुसार मनुष्य को केवल भौतिक विकास की ही आवश्यकता नहीं है किन्तु इसके साथ-साथ वह आध्यात्मिक, उच्च नैतिक जीवन के धरातल पर भी स्वयं को सुस्थापित एवं विकसित करना चाहता है। अत एव ऐसा नीतिशास्त्र ही मानव जाति की स्वीकृत मार्गदर्शकारी आधार बन सकता है। जो सर्वांग विकास का साधन है।

३- **सार्वजनिक विकास का आधार हो:-** इस कसौटी के अनुसार मनुष्य के विकास को नीतिशास्त्र प्रोत्साहित अवश्य करें, किन्तु यह प्रोत्साहन आर्थिक विकास की अन्धी दौड़ में परिवर्तित न हो जाये। यह भी विशेष रूप से ध्यान में रखना आवश्यक है, अन्यथा विकास के चन्द टापुओं के इर्द-गिर्द गरीबी का महासागर विस्तारित हो जायेगा और जो उस समृद्धि को भी नष्ट-भ्रष्ट कर देगा। इसलिये नीतिशास्त्रीय प्रेरणा स्वयं की उन्नति के साथ-साथ सामाजिक उन्नति पर भी विशेष रूप से केन्द्रित होनी आवश्यक है।

४-सर्वांगीण **जीवन दृष्टि पर आधारित हो:-** इसका अभिप्राय यह है कि मानव समाज के संमुचित मागदर्शन हेतु ऐसी जीवन दृष्टि भी होनी आवश्यक है जो जड़-चेतन, शरीर आत्मा, भोग-त्याग, प्रवृत्ति निवृत्ति अभ्युदय और निश्रेयस् में समन्वय स्थापित कर सके। तभी मानव समाज में तथ्य और मूल्य, यथार्थ और आदर्श प्रोद्यौगिकी और संस्कृति में समन्वय की महती प्रक्रिया आरम्भ हो सकेगी।

५-देश **एवं काल निरपेक्ष भी हो:-** ऐसा कोई भी नीतिशास्त्र और उसका सिद्धान्त वैश्वीकरण के वर्तमान दौर में स्वीकार्य नहीं हो सकता जो किसी भी एक देश या देश समूह में ही लागू हो सकने की योग्यता रखता हो वह सभी देशों और कालों में समान रूप से अनुकरणीय हो तभी वैश्विक नीतिशास्त्र के रूप में उसे बृहत्तर जनसमुदाय द्वारा अंगीकार किया जा सकेगा।

इन कसौटियों के आधार पर वैश्वीकरण के वर्तमान नीतिशास्त्र का मूल्यांकन किया जा सकता है। इनके अतिरिक्त भी प्रबुद्ध अध्येयताओं द्वारा अन्य कसौटियाँ भी प्रस्तुत की जा सकती हैं। यह प्रयास तो इस दिशा में चिन्तन-मनन को प्रोत्साहित करने की दृष्टि से एक भूमिका मात्र है। जो मनीषी अपनी संवेदनात्मक टिप्पणियों प्रबोधनकारी आलोचनाओं से मेरा इस दिशा में मेरा मार्ग-दर्शन करेगे। मैं उनका सादर आभारी रहूँगा।

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २००९ अङ्क ११ (पृ०१५७-१७०)

पुण्य और पुण्यवाचक शब्द: अर्थ एवं निर्वचन

डॉ. जितेन्द्र कुमार[१]

संसार के संसाधनों और प्रौद्योगिकी में जैसे-जैसे प्रगति होती जा रही है वैसे-वैसे संसार तीव्रता से सिमटता जा रहा है। पहले की तुलना में हमारे पास विश्व समाज की एकता के लिए भौतिक आधार उपस्थित है। हम वर्तमान में पहले की तरह पृथक्-पृथक् संसार में नहीं रहते। यूरोप और अमेरिका की प्रौद्योगिकी सहायता के विना एशिया और अफ्रीका अपनी जनता के रहन-सहन का स्तर ऊंचा उठाने में समर्थ नहीं है। दूसरी ओर स्वयं यूरोप और अमेरिका भी संसार के अन्य भागों से कच्चे माल का आयात किये विना अपना काम नहीं चला सकते। यदि इस एकता को स्थायी बनाना है तो इसे अपने अन्दर मानसिक स्तर पर तथा आध्यात्मिक स्तर पर सामंजस्य लाना पड़ेगा। संसार शरीर के रूप में तो एकीभूत हो गया, परन्तु वह अपनी आत्मा के सन्धान में भ्रमित हो रहा है। अत: ईश्वर से दूर होता जा रहा है, सदाचार नैतिकता एवं सिद्धान्तों से च्युत हो रहा है। यदि मानव जाति अपने आपको बचाना चाहती है, तो उसे अपने विचारों और जीवन की धुरी को परिवर्तित करना होगा, नास्तिकता को छोड़ना होगा, आस्तिकता को अपनाना होगा, आध्यात्मिकता का संचार करना होगा।

यद्यपि मनुष्य ने नास्तिकता को अपना कर व्यक्तिगत रूप से ईश्वर की आराधना को छोड़ दिया है, पर उसका प्रभाव अभी वायुमण्डल में विद्यमान है और ईश्वर की सत्ता के कारण ही सूर्य चन्द्रादि सभी भौतिक तत्त्व अपने नियमों का पालन करते हैं। मनुष्य भौतिक जगत् का ही पक्षपाती है, आध्यात्मिक या अभौतिक जगत् को मिथ्या समझता है, ऐसी परिस्थिति में क्या वह सत्य की मीमांसा कर सकेगा ? भौतिक जगत् तो घटनाओं का पुंज मात्र है। वह घटना अच्छी है या बुरी है, पाप है या पुण्य है, तथ्य है या अतथ्य है इसका मापदण्ड तो अभौतिक ही होगा। मेरी हड्डी का टूटना एक घटना है और पीड़ा होना दूसरी घटना, पहली शुद्ध भौतिक है, परन्तु पीड़ा तो अभौतिक है। इस प्रकार यह सम्पूर्ण जगत् तो भौतिक है, मनुष्य के उपयोग के सकल साधन भौतिक ही हैं, किन्तु उसके अन्दर जो परमेश्वर विद्यमान है, वह अभौतिक है। वह सत्य है और उस अभौतिक को जानने के लिए पाप-पुण्य, कर्म-अकर्म, करणीय-अकरणीय का जानना भी आवश्यक है।

जिन भावनाओं से कर्म पवित्र होता है, क्रिया कल्याणयुक्त होती है वह पुण्य है। पुण्य के भाव किये जाने वाले कर्म को परिष्कृत करते हैं और न केवल परिष्कृत करते हैं, प्रत्युत उसकी प्रविधि का भी पथ प्रशस्त करते हैं। पुण्य एक भावनात्मक सत्ता का पवित्रीकरण है, स्वहित को त्यागकर देश जाति एवं समाज के हित में किया गया कर्म पुण्य की श्रेणी में आता है। 'पुण्य' शब्द पाणिनि प्रोक्त 'पूञ् पवने' धातु से 'यत्' प्रत्यय से निष्पन्न होता है।[२] निरुक्तकार आचार्य यास्क 'पुण्य' का निर्वचन निम्न प्रकार से करते है:- 'सुख कल्याण का

---

१. अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, दयानन्द महाविद्यालय, अजमेर.

२. पूञो यण्णुग्ध्रस्वश्च धातोः ग्रस्वः णुगागमश्च। उ. को. ५.१४

वाचक होता है और कल्याण पुण्य को कहते हैं। पुण्य अत्यन्त हितकारक होता है अथवा जो उत्तम हित को प्राप्त करता है वह पुण्य कहलाता है'।[३] उणादिकोष की व्याख्या करते हुए स्वामी दयानन्द सरस्वती पुण्य की निम्न परिभाषा करते हैं। 'जो पवित्र करने वाला अथवा जिसके द्वारा पवित्र होता है, वह सकुर्म अथवा धर्म पुण्य है'[४]। लोक में भी देखा जाता है कि सत्यकर्म करना, लोगों की सेवा करना, दीन-दु:खियों को दान देना पुण्य माना गया है, जिसका परिणाम इहलोक में शान्ति, संतोष, सुखानुभूति है और परलोक में शास्त्रानुसार मोक्ष है।

श्रुति, स्मृति, आगम, बौद्ध, जैनादि सभी के ग्रन्थों में पुण्य की सत्ता स्वीकृत है। हिन्दी-कोश में 'पुण्य' शब्द के उल्लिखित विविध अर्थ इस प्रकार दिखाई देते हैं:- १. पवित्र २. शुभ ३. धर्म विहित ४. गुणयुक्त ५. न्यायसंगत ६. अनुकूल ७. मीठी, मधुर आवाज ८. गम्भीर ९. वह कर्म जिसका फल शुभ हो इत्यादि अर्थ हिन्दी शब्द सागर कोश में दृष्टिगत होते हैं।[५] सुकृत्, शुभवासनादि भी शब्द इसके लिए प्रयुक्त होते हैं। पुण्य मुख्यतया कर्म विशेष को कहते हैं, जो कर्म सत्त्वबहुल हो, जिससे स्वर्ग या इस प्रकार के अन्य सुख बहुल लोक की प्राप्ति होती हो, वह पुण्य है। सत्त्व शुद्धिधारक पुण्यकर्म मान्यता भेद के अनुसार अग्निहोत्रादि कर्मपरक होते हैं, क्योंकि अग्निहोत्रादि यज्ञीय कर्म स्वर्गप्रापक एवं चित्तशुद्धिकाकर माने जाते हैं। सभी सम्प्रदायों में निहित धर्म का आचरण पुण्य-कर्म कहा जा सकता है।

पुण्य एक सामाजिक एवं धार्मिक संज्ञा है जिसकी परिभाषा इस रूप में की जा सकती है। जो शास्त्रोक्त विहित कर्म हैं, उनको यथायोग्य तथा यथाविधि करने से पुण्य प्राप्त होता है।[६] अर्थात् धर्मशास्त्रों में आचार-विषयक नियम निर्धारित किये गये हैं, उन नियमों का यथायोग्य पालन करने से एक विशेष शक्ति एवं सामर्थ्य प्राप्त होता है। यह सामर्थ्य, शक्ति, सन्तोष ही पुण्य है। इसके विपरीत आचरण करने से मन में जो दुर्भावनायें उत्पन्न होती हैं, वे दुर्भावनाएं ही पाप हैं।

आपस्तम्बधर्मसूत्र में प्रश्नात्मक शैली से उल्लेख मिलता है कि किन व्यक्तियों का अन्न भोज्य है। इस प्रसङ्ग में पुण्य को परिभाषित किया गया है। कौत्स ऋषि कहते हैं कि पुण्य आचरण वाले व्यक्तियों का अन्न भोज्य है। पुण्य से तात्पर्य तप, होम, जप आदि कर्मों को करते हुए अपने धर्म में स्थित रहने वाले मनुष्य से है। इन सभी कृत्यों को करने वाला मनुष्य पुण्यात्मा है।[७] मनुष्य सभी जीवों के साथ अच्छा व्यवहार करे और अपनी इच्छाओं को अपनी इन्द्रियों को वश में करके पुण्य के पथ पर अग्रसर होता रहे।

'अथर्ववेद' में उत्तम व्यवहार के सम्बन्ध में निम्न प्रकार से निर्देश प्राप्त होता है। मनुष्य उत्तम व्यवहारों

---

३. सुखमिति कल्याणनाम कल्याणं पुण्यं सहितं भवति, सुहितं गमयतीति वा। निरुक्त १.९

४. पवते पवित्रो भवति येन तत् पुण्यं सुकृतो धर्मो वा। स्वा. दया. उ. को. ५.१४

५. हिन्दी शब्दसागर कोश। खण्ड ६ पृ. ३०४०

६. विहितानुष्ठानजन्यं पुण्यम्।।

७. भोजान्नास्सर्वे पुण्या एव। इह पुनः पुण्यग्रहणमतिशयार्थम्-तपो होमजप्यैः स्वधर्मेण च युक्तः पुण्यः।। आप. १.६.१९.४

और चेष्टाओं से इन्द्रियों को प्रबल करके सुख को प्राप्त करते हैं।[८] अर्थात् पुण्य के अधिकारी बनें। इस जगत् में जो मनुष्य शुभ कर्म करता है, पुण्य कर्म करता है वही सज्जनों, विद्वानों द्वारा अनुगृहीत होता है। एक अन्य स्थान पर कहा गया है कि परमात्मतत्त्व को कौन प्राप्त कर सकता है? इस सम्बन्ध में वेद का स्पष्ट निर्देश है कि जो मनुष्य व्यवहार कुशल है, उत्तमाचरण करने वाला है, पुण्यलोक जीतने वाला है, पुण्य कर्मयुक्त विविध धारण शक्तियों को जीतने वाला है, वह परम तत्त्व को प्राप्त कर सकता है।[९] प्रस्तुत मन्त्र में एक शब्द प्रयुक्त हुआ है पुण्यलोक। पुण्यलोक के सम्बन्ध में यजुर्वेदीय मन्त्र का आशय निम्न है, 'जहाँ इन्द्र और वायु एकीकृत होकर बराबर-बराबर सहगमन करते हैं, जहाँ सेदि (दु:ख) विद्यमान नहीं है, मैं उस लोक को पुण्यलोक समझता हूं।' इन्द्र इन्द्रियों के स्वामी आत्मा को भी कहते हैं। इन्द्र शब्द यहाँ आत्मोन्नति, आत्मविश्वास अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वायु नाम गति का है, वायु वेग का प्रतीक है, पवित्रता का प्रतीक है, वायु जीवनरक्षक है। सेदि का अर्थ नाश, क्लेश, अशान्ति और दु:ख है। जहाँ आत्मा का शासन हो, वायु जैसी पवित्रता हो और सेदि का अभाव हो अर्थात् इन्द्र और वायु साथ-साथ विचरते हों इस प्रकार जो लोक है वह पुण्य लोक कहलाता है।[१०] क्षत्रिय और ब्राह्मण जहाँ मिलकर रहते हैं, वह लोक भी पुण्यलोक है। ब्राह्मण ज्ञान का प्रतीक है, क्षत्रिय तेज का प्रतीक है, ज्ञान और तेज युक्त पुरुष जहाँ रहते हैं, वह पुण्यलोक है।[११]

यह पुरुष कामना वाला है, जैसी इच्छा करता है वैसा आचरण करता है। जैसा आचरण करता है वैसा ही कर्म करता है जैसा कर्म करता है वैसी गति को प्राप्त होता है। यदि वह पुण्य कर्म करेगा तो पुण्य की प्राप्ति होगी तथा पापयुक्त कर्म करेगा तो पाप की प्राप्ति होगी।[१२] शतपथ ब्राह्मण में भी एक स्थान पर प्राप्त होता है, कि ये जो नक्षत्र हैं। नक्षत्र ही जनि हैं, जो पुण्यात्मा लोग स्वर्ग को जाते हैं, वे पुण्यलोक को प्राप्त करते हैं।[१३] उनकी ये ज्योतियाँ हैं। नक्षत्रों की सहायता से ही यह इस लोक को पकाता है। जिसके कारण यह सम्पूर्ण लोक प्रकाश के आश्रित है।

पुण्यकर्म-निजस्वार्थ से ऊपर उठकर जीवमात्र के कल्याण के लिये किया गया प्रत्येक कर्म पुण्यकर्म की श्रेणी में आता है।

दान-सभी वस्तुओं का प्रत्येक व्यक्ति के पास उपलब्ध होना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। मनुष्य

---

८. शिवा ते पापनासिका पुण्यगश्चाभि मेहताम्॥ अथर्व- १९.८.५

९. इमं च लोकं परमं च लोकं पुण्यांश्च लोकान् विधृतीश्च पुण्याः॥ सर्वाँल्लोकानभिजित्य ब्रह्मणाकालः स ईयते परमो नु देवः॥ अथर्व. १९.५४.५

१०. यत्रेन्द्रश्च वायुश्च सम्यञ्चौ चरतः सह तल्लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र सेदिर्न विद्यते॥ यजु. २०.२६

११. यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरत सह। तं लोक पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना॥ यजु. २०.२५

१२. काममयऽएवायं पुरुष इति स यथाकामो भवति तथा क्रतुर्भवति यथाक्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यत इति (यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुः भवति पापकारी पापो भवति पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेनेति)। श. ब्रा. १४.७.२.६-७

१३. ये हि जनाः पुण्यकृतः स्वर्गं लोकं यन्ति तेषामेतानि ज्योतिषि नक्षत्रैरेवैः नामेतत्पचति। श.ब्रा. ६.५.४.८

अपनी शुभ धनराशि में से कुछ अंश समुचित पात्र को देता है तो वह दान कहलाता है। दान देना शुभ कर्म माना गया है, पुण्य कर्म माना गया है। मनु महाराज ने लिखा है 'जो आदरपूर्वक दिये हुए दान को ग्रहण करता है और जो आदरपूर्वक दान देता है, वे दोनों ही स्वर्गलोक में जाते हैं। निरादर से लेना और निरादर से देना दोनों कष्टप्रद हैं।[१४]

'गरुडपुरण' में भी एक स्थान पर प्राप्त होता है कि दान देने से अथवा पुण्य कर्म करने से श्रेष्ठ फल की प्राप्ति होती है। 'दान देने वाला व्यक्ति परलोक एवं पुनर्जन्म में अनेक भोगों को प्राप्त करता है, तीर्थ सेवन करने वाला प्राणी सुख पाता है और मधुर तथा विचारपूर्वक, सुखदायक वाणी बोलने वाला मनुष्य अगले जन्मों में बड़ा विद्वान् एवं धर्म के रहस्यों को जानने वाला होता है।'[१५]

'मनुस्मृति' में कहा गया है कि मनुष्य दान तो दे, परन्तु उसका प्रचार अथवा उसकी बढ़ाई न करे, यदि ऐसा करता है तो उसका फल नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार झूठ बोलने से यज्ञ का फल नष्ट हो जाता है, आश्चर्य करने से जप का फल नष्ट हो जाता है, अभिमान करने से तप का फल नष्ट हो जाता है, विद्वानों की बुराई करने से आयु और अपनी बढ़ाई करने से दान का फल नष्ट हो जाता है।[१६]

मानव-जीवन की कुछ मूलभूत आवश्यकतायें है उनका होना मनुष्य के लिये अत्यावश्यक है। जैसे-जल। जल को तो जीवन कहा गया है। 'जलमेव जीवनम्' जल के संरक्षण अथवा जल की प्राप्ति में तन्निर्मित साधनों का उपलब्ध कराना भी पुण्य माना गया है[१७]। पाप-पुण्य के सम्बन्ध में महर्षि वेदव्यास जी का सुस्पष्ट अभिप्राय है कि सभी नये और पुराने ग्रन्थों का निष्कर्ष पापात्मक और पुण्यात्मक ही है तथा वह परोपकार में पुण्य है और परपीड़न में पाप है।[१८]

'भद्र'

पुण्यवाचक 'भद्र' शब्द संहिताओं में अनेक बार प्रयुक्त हुआ है। निरुक्तकार आचार्य यास्क भद्र शब्द के विविध अर्थ करते हैं और उसकी निष्पत्ति पांच प्रकार से मानते हैं।[१९]

१.सेवानार्थक भज् धातु से (भज् र=भद् र=भद्र) भद्र का अर्थ कल्याण होता है और कल्याण सबके लिए सेवनीय होता है। मनुष्यों के द्वारा सेवन करने योग्य है अतः भद्र है।

२.'भूत' पूर्वक 'द्रु' धातु से (भूत द्रु अ=भू द्र=भद्र) भद्र=प्राणियों के लिए प्रापणीय है। 'भूत' शब्द

---

१४. योऽर्चितं प्रतिगृह्णाति ददात्यर्चितमेव च। तावुभौ गच्छतः स्वर्ग नरकं तु विपर्यये।। मनु. ४.२३५

१५. दानाद् भोगमवाप्नोति सौख्यं तीर्थस्य सेवया। सुभाषणात् मृतो यस्तु विद्वांश्च धर्मवित्तमः।। ग.पुराण २.१४.१८

१६. यज्ञोऽनृतेन क्षरति तपः क्षरति विस्मयात्। आयुर्विप्रवादेन दानं च परिकीर्तनात्।। मनु. ४.२३७

१७. वापी कूपतडागादि देवतायतनानि च। अन्नप्रदानमारामाः पूर्तमित्यभीधीयते।।

१८. अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्। परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्।। महाभारत

१९. भद्रं भगेन व्याख्यातम्। भजनीयं भूतानाम् अभिद्रवणीयम्, भवद्रमयतीति वा, भाजनात् वा। नि. ४.९ भद्रे भन्दनीये, भाजनवति वा। नि. ११.१७

संस्कृत और हिन्दी दोनों में प्राणियों का वाचक है। 'द्रू' धातु प्राप्त करने अर्थ में भी व्यक्त है। अत: दूसरा अर्थ सभी मनुष्यों के द्वारा भद्र प्राप्त करने योग्य होता है, यह सुस्पष्ट है।

३.'भवद्' 'रम्' से (भवद् रम् अ=भद् र=भद्र) रम् धातु रमणीय अर्थ में, आनन्द अर्थ में, प्रयुक्त होती है। भद्र की प्राप्ति पर प्राणी आनन्दित होते हैं, उसमें रम जाते हैं, सतत रत रहते हैं अथवा अपर व्यक्ति को आनन्दित करता है वह भद्र है।

४.भाजन शब्द से मतुबर्थक 'र' प्रत्यय द्वारा (भाजन् र=भज् र=भद्र) भद्र ' कल्याण उसे प्राप्त होता है जो इसका पात्र हो। भद्र प्राप्त करने के लिये उसके योग्य भी होना पड़ता है वह भद्र है।

५.भद्र शब्द भन्दनीय अर्थ में 'भदि कल्याणे सुखे च' धातु से 'र' प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। जो कल्याणप्रद है वह भद्र है। उणादिकोश के वृत्तिकार भद्र के विभिन्न अर्थ प्रदर्शित करते हैं। कल्याण, कल्याणप्रद, रुद्र, वृष, ताम्रचूड, मुस्ता, मरुकदम्ब, हेम इत्यादि।[२०] निरुक्त की पञ्चम व्युत्पत्ति के सदृश ही उणादि की वृत्ति में स्वामी दयानन्द सरस्वती 'भदि कल्याणे सुखे च' धातु से 'र' प्रत्यसय करके निष्पन्न करते हैं[२१] 'कल्याण करने वाला भद्र कल्याणप्रद है[२२]।

६.स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में भद्र शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है कि 'सब दु:खों से रहित कल्याण है, सदैव सब सुखों से युक्त भोग है, उसको हमारे लिए सदैव प्राप्त कराइये। सुख दो प्रकार का है-एक जो सत्यविद्या की प्राप्ति में अभ्युदय अर्थात् चक्रवर्ती का राज्य, इष्ट मित्र, धन, पुत्र, स्त्री और शरीर के अत्यन्त उत्तम सुख का होना और दूसरा जो नि:श्रेयस् सुख है, जिसको मोक्ष कहते हैं। जिसमें ये दोनों सुख होते हैं उसी का भद्र कहते हैं।[२३] जो मनुष्य भद्र करता है, उक्त कर्मों को करता है वह पुण्य का अधिकारी बनता है तथा पुण्य भी उसी को प्राप्त होता है। ऋग्वेद में आता है कि जो लोग श्रेष्ठ कार्यो में निरत रहते हैं, वे स्वयं अपना तो हित करते ही हैं, परन्तु उन सभी मनुष्यों के लिए भी हितकर होते हैं जो उनके संसर्ग में आते हैं।

विद्वान् पुरुष की संगति के विना मनुष्य न तो भद्र देख सकता है और न सुन सकता है और न ही अच्छे विचारों को व्यवहार में प्रयोग कर सकता है। बुरा देखना पाप है, परन्तु उसका निर्णय तो विज्ञ पुरुष, विद्वान् पुरुष ही करेंगे कि यह पाप है अथवा पुण्य है।

'मङ्गल'

वैदिक वाङमय एवं प्राचीन ऋषियों की एक ही अवधारणा है, मनुष्य सत्कर्मों द्वारा अपने जीवन को सफल एवं सुखानन्द से परिपूर्ण करे। सत्कर्मों के माध्यम से ही पुण्य प्राप्त होता है अथवा अच्छे कर्मों के फल

---

२०. भद्रो रुद्रे वृषे ताम्रचूडे मरूकदम्बके इति। उ.वृ. पेरूसूरि

२१. ऋजेन्द्राग्र०॥ उ.को. २.२९

२२. भन्दते कल्याणं करोतीति भद्रम् कल्याणप्रदम् इति॥ वही. स्वामी दयानन्द

२३. कल्याणं सर्वदु:खरहितं सत्यविद्याप्राप्त्यभ्युदयनि:श्रेयससुखकरं धर्माचरणम्॥ ऋ.भा.भू. पृष्ठ-३

की परिणति पुण्य के रूप में प्राप्त होती है। पुण्यवाचक अनेक शब्द संस्कृत-साहित्य में दृष्टिगत होते हैं। विद्वानों द्वारा 'मङ्गल' शब्द को पुण्य वाचक माना गया है। 'मङ्गल' शब्द की निरुक्ति आचार्य यास्क निम्न प्रकार से करते हैं-

१.स्तुत्यर्थक 'गृ' धातु से अच् प्रत्यय तथा 'भम्' का आगम होने पर 'मङ्गल' पद निष्पन्न होता है। मङ्गल सदैव स्तवनीय होता है। मङ्गल की सभी लोग कामना करते हैं तथा स्तुति करते हैं इसलिये मङ्गल स्तवनीय है।

२.निगरणार्थक 'गृ' धातु से 'अच्' प्रत्यय तथा 'मम्' आगम करने पर मङ्गल शब्द बनता है। यह अनर्थों को निगलने वाला है, संतापों को समाप्त करके पुण्य की ओर प्रेरित करने वाला है इसलिए मङ्गल है। दु:खों एवं पापों का परिहार करने के कारण भी ये मङ्गल है।

३.अंग शब्द से मतुबर्थक 'र' प्रत्यय करके मकार का अध्याहार करने पर मङ्गल शब्द सिद्ध होता है। जो अंगों के समान प्रिय होता है अर्थात् जिस प्रकार से अपने शरीर के अवयव सभी को प्रिय होते हैं उसी प्रकार यह पुण्यवाचक मङ्गल सबको प्रिय लगता है।

४.कतिपय निरुक्त के आचार्य शोधनार्थक 'टुमस्जो शुद्धौ' धातु से 'अलच्' प्रत्यय करने पर मस्जल शब्द सिद्ध होता है। मस्जल को भी मङ्गल मानते हैं। यह मङ्गल पापों का शोधन करने वाला है। जो मनुष्य मङ्गल कार्य करता है, वह पापों से दूर रहता है।

५.प्राप्त्यर्थक 'माम्' धातु से 'इलच्' प्रत्यय करने पर मङ्गल पद सिद्ध होता है। इसकी प्राप्ति मुझे हो ऐसा सभी लोग चाहते हैं।[२४] इसलिये इसका नाम मङ्गल है।

उणादिकोष की व्याख्या करते हुए स्वामी दयानन्द सरस्वती 'मङ्गल' शब्द की निरुक्ति 'मगि गतौ' धातु से 'अलच्' प्रत्यय करके करते हैं।[२५] जिसके द्वारा सुख प्राप्त होता है, प्रशस्ति प्राप्त होती है, वह मङ्गल है। मङ्गलवार को भी मङ्गल कहते हैं।[२६]

वृत्तिकारों, टीकाकारों ने 'मङ्गल' शब्द को तीनों लिंगों में प्रयुक्त माना है। आचार्य उज्ज्वलदत्त ने पुल्लिङ्ग वाचक 'मङ्गल' शब्द मङ्गल ग्रह तथा मङ्गलवार का वाचक बताया है। अर्धर्चादिगण में पठित होने के कारण पुल्लिंग व नपुंसकलिंग दोनें में प्रयुक्त होगा। नपुंसकलिंग वाचक मङ्गल शब्द कल्याण, रक्षण, प्रशस्ति तथा शुभवाचक माना जाता है।[२७] स्त्रीलिंग वाचक मङ्गल शब्द श्वेत दूर्वा एवं उमा को द्योतित करता है।[२८]

वेद में 'मङ्गल' शब्द का प्रयोग अपेक्षाकृत अल्प स्थानों पर प्राप्त होता है। अथर्ववेद में एक स्थान पर

---

२४. मङ्गलं गिरतेर्गृणात्यर्थे गिरत्यनर्थानिति वा, अङ्गलम् अंगवत्। मज्जयति पापकमिति नैरुक्ताः मां गच्छत्विति वा। निरुक्त ९.३

२५. मङ्गेरलच्। उ.को.५.७०

२६. मंगति प्राप्नोति सुखं येन तत् मङ्गलं प्रशस्तं मङ्गलो वारभेदो वा। वही. स्वामी दयानन्द

२७. मङ्गलं तु प्रशस्यते स्यात् अर्धर्चादित्वाद् द्विलिंगकम् मङ्गलो ग्रहभेदः इति। उ.वृ. उज्जवल

२८. मङ्गलासितदूर्वायामुमायां पुंसि भूमिजे। नंपुसकं तु कल्याणे सर्वार्थे रक्षणेऽपि च इति मेदिनी। उ.वृ.ज्ञानेन्द्र

आया है कि 'मङ्गल कार्यों के लिए स्वाहा अर्थात् मेरी आहुति हो जितने भी मङ्गल कार्य होते हैं उनमें वृद्धि हो, मनुष्य की प्रवृत्ति मङ्गलकार्यों में ही बनी रहे।[२९] इसके अतिरिक्त वेद में सुमङ्गल, सुमङ्गली शब्द प्रयुक्त हुए हैं। सुमङ्गल शब्द 'शकुनि:' पक्षी के लिए प्रयुक्त हुआ है शकुनि के सम्बन्ध में एक ऋचा प्राप्त होती है।

शिवम्

वैदिक वाङ्मय में पुण्यवाचक अनेक शब्द दृष्टिगत होते हैं। 'शिवम्' भी उनमें से एक है। जो पुण्य के अर्थ का द्योतन करता है, उद्घाटन करता है। उणादि की व्याख्या करते हुए स्वामी दयानन्द सरस्वती ने शिव का अर्थ निम्न प्रकार से किया है। 'शिव' ईश्वर है, कल्याण है, सुख है, भद्र है, और उदक भी है[३०]। 'शिव' शब्द की निष्पत्ति 'शीङ् स्वप्ने' धातु से 'वन्' प्रत्यय और निपातन से धातु को ह्रस्व करके निष्पन्न करते हैं।[३१]

निरुक्तकार आचार्य यास्क 'शिव' शब्द को हिंसार्थक 'शिष्' धातु से 'व' प्रत्यय एवं षकार का लोप और विकल्प से धातु को गुण करके सिद्ध करते हैं। विकल्प से गुण करने पर दो शब्द निष्पन्न होते हैं 'शिव और शेव' दोनों का अर्थ सुख है[३२]। 'शिव' हिंसार्थक धातु से सिद्ध हुआ है। जो दु:ख को मार भगाता है, दु:ख की हिंसा करता है वह सुख है, सुख ही शिव है[३३], कल्याण करने वाला है, पुण्य को प्राप्त करने में सहायक है। कुछ आचार्य 'शिष्' धातु के मूर्धन्य सकार का लोप न करके उसके स्थान पर 'व' प्रत्यय का विधान करते हैं। इस प्रकार से निष्पन्न 'शिव' शब्द भी सुख का वाचक है। निष्पत्ति के कारण यहाँ किसी प्रकार का अर्थ भेद नहीं प्रदर्शित किया गया है।[३४]

दिवादिगण की 'शो' तनूकरणे धातु से भी बाहुलकात् औणादिक 'वन' प्रत्यय करके शिव शब्द सिद्ध होता है। जो पाप को पृथक् करता है, पाप का विग्रह करता है, वह शिव है, पुण्य है। पुण्य के द्वारा पाप का सीमांकन किया जा सकता है, सम्पूर्ण रूप से पाप को अपास्त नहीं किया जा सकता है। अत: शिव पुण्य है।[३५] वेद में एक स्थान पर आता है कि जो निर्बलों की रक्षा करने वाला है, विद्वानों की प्रशंसा करने वाला है, अन्याय का उल्लंघन करने वाला है, दान देने वाला है, परमेश्वर की स्तुति करने वाला है, सत्कर्मों को करने वाला है, सदैव पुण्य से संयुक्त कर्मों में लगा रहता है और दुरित कर्मों से, पाप कर्मों से सदैव वियुक्त रहता है इस प्रकार के मङ्गलकारी पुण्यकर्मों से युक्त विद्वान् पुरुष हमारा रक्षक हो, हमारा मित्र हो, हमारा सहायक बने[३६] अथवा जो

---

२९. मंगलिकेभ्य: स्वाहा। अथर्व. १९.२३.२८
३०. शिव ईश्वर: शिवं भद्रं सुखमुदकं च। उ. को.१.१५३
३१. सर्वनिधृष्वरिष्वलष्वशिवपद्वप्रह्वेष्वा अतन्त्रे। उ.को. १.१५३
३२. शेव इति सुखनाम। निरुक्त १०.९
३३. शेषति हिनस्ति दु:खमिति शेव: शिव:।
३४. शिष्यतेर्वकारो नामकरणोऽन्तस्थान्तरोपलिङ्गी। विभाषित गुण: शिवमित्यप्यस्य भवति। निरुक्त १०.९
३५. श्यति पापमिति विग्रहे शो तनूकरणे धातोर्बाहुलकात् औणादिक वन् प्रत्यय:। द.वै.को. पृष्ठ-९४३
३६. स नो युवेन्द्रो जोहूत्र: सखा शिवो नरामस्तु पाता। ऋ. २.२०.३

परमेश्वर और आप्तजन सबकी रक्षा करने वाले हैं, वे सब के मित्र और मङ्गल करने वाले हैं।[३७]

शुभम्

वैदिक साहित्य में 'शुभ' पद का प्रयोग व्यापक रूप से पाया जाता है। 'शुभ' शब्द पुण्य के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है। 'शुभ' शब्द 'शुभ दीप्तौ शोभार्थे' धातु से घञ् अर्थ में 'कः' प्रत्यय होकर 'शुभ' शब्द सिद्ध होता है। स्वामी दयानन्द सरस्वती 'शुभ' का अर्थ करते हुए लिखते हैं- जो उत्तम सुख को प्राप्त करने वाले हैं वे ही पुण्य को प्राप्त करते हैं[३८] अर्थात् वे पुण्य के अधिकारी होते हैं।

निघण्टुकोष के 'उदकवाचक गण्' में 'शुभम्' पद परिगणित है। आचार्य देवराजयज्वन् ने उदकवाचक 'शुभम्' पद का निर्वचन इस प्रकार से किया है-'शुभम्' (उदकम्) 'शुभ' दीप्तौ धातु से देवता होने से अपने तेज से दीप्तिमान् होता है। शुभ कर्म करने वाला भी दीप्ति से युक्त होता है[३९]। भय, लज्जा, शंका इन सबसे पृथक् रहता है। यहाँ पर आचार्य यज्वन् 'शुभम्' शब्द 'शुभ' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय करके निष्पन्न करते हैं। 'वैदिकपदानुक्रम-कोश' में 'शुभम्' पद का मूल दीप्त्यर्थक 'शुभ' धातु को स्वीकार किया है।[४०] पुण्य कर्म करने वाला मनुष्य तेजयुक्त होता है, वह किसी से व्यथित और भयभीत नहीं होता है। अतः 'पुण्यम्' एवं 'शुभम्' दोनों समानार्थक हैं।

ऋग्वेद वैयाकरण-पदसूची में 'शुभम्' पद का मूल 'शुभ' या 'शुम्य्' धातु को माना है।[४१] मोनियर विलियम्स भी इसी मत के समर्थक हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद, अथर्ववेद, वाजसनेयी-संहिता एवं तैत्तिरीय-ब्राह्मण में 'शुभम्' पद वैभव, सुन्दरता, आभूषण, मण्डन, चमक, तीव्रगामी पथ पर सरकना आदि अर्थों में पाया जाता है।[४२] तीव्रगामी पथ पर वही मनुष्य सरकता है जो पुण्य कर्म करने वाला हो, शुभ कर्म करने वाला हो।

सुकृत

वैदिक वाङ्मय में 'सुकृत' शब्द का प्रयोग व्यापकरूप से प्राप्त होता है। अनेक स्थलों पर 'सुकृत' को पुण्यवाचक माना गया है। 'सुकृत' शब्द 'सु' उपसर्ग पूर्वक 'डुकृञ्' करणे धातु से 'क्विप्' प्रत्यय तथा तुगागम करके सिद्ध होता है।[४३] उत्तम कर्म करना ही 'सुकृत' है। आचार्य यास्क अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ निरुक्त में कहते हैं- जो सुकृत कर्म करता है, अच्छे कर्म करता है उससे पापी जन भयभीत रहते हैं, दूर भागते हैं।[४४] स्वामी दयानन्द

---

३७. यौ परमेश्वराप्तौ सर्वेषां रक्षकौ स्तस्तौ सर्वेषां सुहृदौ मङ्गलकारिणी स्तः। ऋ. २.२०.३
३८. पृषदश्वा मरुतः पृश्निमातरं शुभं यावानो विदथेषु जग्मयः। यजु. २५.२०
३९. शोभते दीप्यते स्वेन तेजसा देवतात्वात्। नि.वृत्ति १.१२.४७
४०. वैदिक पदानुक्रम कोष। पृ. ३१२७
४१. ऋग्वेद वैदिक पदसूची पृष्ठ-५२७
४२. संस्कृत-इंग्लिश डिक्सनरी। (मोनियर विलियम)पृष्ठ-१०८८
४३. सुकर्मपापमन्त्रपुण्येषु कृञः। अ.३.२.८९
४४. सुकृतकर्मणो भयम्। निरुक्त ११.१३

वेद में 'सुकृत' की अनेक परिभाषाओं का उल्लेख करते हैं। यथा-अत्यन्त सुकृत-कर्म करने वाला विद्वान् पुरुष परमात्मतत्त्व को प्राप्त करता है।[४५] जिस प्रकार सबको प्रकाशित करने वाला सूर्य उषा के साथ मिलकर सबको सुख प्रदान करता है, सबको प्रकाश से युक्त करता है, उसी प्रकार अच्छे कर्म करने वाला पुरुष सुकर्म करता हुआ अपनी स्त्री को भूषित करता है और अपने जीवन को पुण्यमय बनाता है।[४६]

जहाँ पुण्य है वहाँ सुख, शान्ति होती है जहाँ दु:ख है, वहाँ अशान्ति है, आर्त्तनाद है, हाहाकार है, वह पाप है। पाप-पुण्य दु:ख और सुख के मूल में निहित है। वेद में प्राप्त होता है कि- मेघ के मूल में प्रसन्नता है। जैसे ही आकाश में मेघ दिखाई देते हैं पशु, पक्षी, मनुष्य सभी सुख को प्राप्त करते हैं। मयूर प्रसन्न होकर नृत्य करने लगता है, पशु उछलने लगते हैं पक्षी कलरव करने लगते हैं। मनुष्य आतप के संताप से मुक्त होने के कारण हर्षित होते हैं। वर्षा करने वाले वृष्टिदेव इन्द्र को भी श्रेष्ठ माना है। एक मन्त्र पर उव्वट एवं महीधर भाष्य करते हुए लिखते हैं-प्रजाओं में सबसे बढ़कर अपने पराक्रम से सबको अभिभूत करने वाले इन्द्र वर्षण रूप वीर कर्म के निमित्त अत्यन्त अभिवृद्धि को प्राप्त हुए। वे अपने वर्षणादि कर्मों के द्वारा सुकर्मा बन गये[४७] अर्थात् कर्त्ता पुण्य कर्म करने वाला बन गया। इसमें यह स्पष्ट होता है कि वृष्टि होना पुण्य कारक है और वृष्टि करने वाला सुकर्मा ही है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती एक मन्त्र का भाष्य करते हुए कामना करते हैं कि समाज में भी मेघों के सदृश विद्वान् सबको आनन्द प्रदान करते हैं, वैसे ही सब लोग विद्वानों को आनन्द प्रदान करें।[४८] विद्वान् पुरुषों को आनन्द तब मिलता है, जब सभी वर्ग के लोग सत्कर्म करें, पुण्यकर्म करें और प्रसन्न रहें। सत्कर्म करने से, पुण्य कर्म करने से सुख, शान्ति तो प्राप्त होती है, परन्तु साथ में सुकर्मा लोग सोमपा इन्द्र के भी प्रिय बन जाते हैं।[४९] इन्द्र के जो प्रिय होते हैं, उन्हें किसी प्रकार का भय नहीं होता है। एक अन्य मन्त्र में भी दिखाई देता है। 'जिनके द्वारा अच्छे कर्म किये जाते हैं वे जन पुण्य को प्राप्त करते हैं'[५०]। लोक में दिखाई देता है कि जो मनुष्य किसी भी मनुष्य का सत्कार विना स्वार्थ के करता है, अपने घर आये हुए अतिथि की पूजा करता है, वह मनुष्य संसार में सर्वत्र पूजनीय हो जाता है।

क्षेम

'क्षेम' शब्द पुण्य के वाचक रूप में विभिन्न स्थलों पर दिखाई देता है 'क्षेम' शब्द 'क्षि क्षये' धातु से मन्

४५. योऽतिशयेन-शोभनानि कर्माणि करोतीति सः। ऋ. १.३१.४
४६. उषो वाजं हि वस्व यश्चित्रो मानुषे जने। तेनावह सुकृतो अध्वरा उप ये त्वा गृणन्ति वह्नयः। ऋ. १.४८.११
४७. अस्मद्र्यग्वावृधे वीर्यायोरुः पृथुः सुकृतः कर्तृभिर्भूत्। यजु. ७.३९
४८. सुकृत्सुपाणि स्ववाँ ऋतावा। अत्र वाचक लुप्तोपमालङ्कारः। यथा धार्मिका विद्वांसो मेघा इव सर्वानानन्दयन्ति तथैव सर्वे विदुषा आनन्दयन्तु। ऋ. ३.५४.१२
४९. प्रियः सुकृत्प्रिय इन्देमनायुः। ऋ. ४.२५.५
५०. शोभनं कृतं क्रियते येन सः। यजु. ७.३९

प्रत्यय लगकर सिद्ध होता है।[५१] स्वामी दयानन्द सरस्वती 'क्षेम' की परिभाषा करते हुए लिखते हैं, जो अज्ञान अन्धकार का नाश करता है वह क्षेम है, कुशल है[५२] अर्थात् अन्धकार, पाप, दुःख, दुराचार, अत्याचार का जहाँ नाश हो अथवा अभाव हो वहाँ क्षेम है। वेद में एक स्थान पर क्षेम का अर्थ कल्याणकर प्राप्त होता है। मन्त्रार्थ निम्न प्रकार से है। 'जो मनुष्य घर के समान आनन्ददायक, पके हुए जौ के समान मन्त्रों के अर्थ को जानने वाले विद्वान् पुरुष के समान वेगयुक्त अश्व के समान कमनीय प्रजाओं में श्रेष्ठ मनुष्य आदि प्राणियों को सुख प्राप्त करने वाला जीवन धारण करता है वह क्षेम कल्याण को धारण करता है[५३] अर्थात् मनुष्य जैसा व्यवहार करता है वैसा स्नेहशील व्यवहार संसार के जीवों के साथ करे, जिस प्रकार पका हुआ अन्न मनुष्य को बढ़ाने वाला होता है उसी प्रकार कल्याण सबको आगे बढ़ाने वाला है। जैसे विद्वान् पुरुष मन्त्र ज्ञान के पश्चात् उत्तम कर्मों को करते हैं वैसे ही दुर्गुणों के नाश होने पर क्षेम को प्राप्त होते हैं। 'क्षेमम्' के विविध अर्थ दिखाई पड़ते हैं। यथा- मानक हिन्दी कोश में-१.किसी प्रकार की विपत्ति, संकट, हानि आदि से किसी की रक्षा करने का कार्य। २.शान्ति के गर्भ से उत्पन्न धर्म का एक पुत्र ३.कुशल-मङ्गल ४.सुख ५.शान्ति ६.फलित ज्योतिष में जन्म के नक्षत्र से चतुर्थ नक्षत्र ७.चौवा नामक गंध द्रव्य।[५४]

वाचस्पत्यम् में 'क्षेम' शब्द को स्पष्ट करते हुए लिखा है- लब्ध का रक्षण करना क्षेम है[५५] अर्थात् हमारे पास जो उपलब्ध सदाचरण, सद्विचार, सत्कर्म हैं, उनका रक्षण करन ही क्षेम है। क्षेम शब्द अर्धर्चादि गण में पठित है वहाँ इसका अर्थ इस प्रकार से किया गया है। प्राप्त वस्तु की रक्षा करना ही क्षेम है।[५६] वेद में भी एक स्थान पर क्षेम का अर्थ रक्षा करना अथवा रक्षा करने वाला प्राप्त होता है।[५७]

'क्षेम' शब्द नपुंसकलिंग और पुल्लिंग दोनों लिङ्गों में प्रयुक्त होता है। नपुंसकलिंग का वाचक क्षेम शब्द प्लक्षद्वीप में वर्ष विशेष का वाचक है। भागवत् पुरण में सात वर्षों का उल्लेख है[५८] उसमें क्षेम भी वर्ष का वाचक है। नपुंसकलिंग में क्षेम शब्द मठ का भी बोधक है[५९] पुराकाल में मठ, मन्दिर, पुण्य के आलय (स्थल) हुआ करते थे, विद्वानों के निवास स्थल हुआ करते थे, तपश्चर्या के स्थल हुआ करते थे, क्षेम अर्थात् पुण्य करने वाले तपस्वी महात्मा मठों में निवास किया करते थे। अतः क्षेम का वाचक मठ शब्द है। क्षेम शब्द कुशल, प्रेम, शुभ का भी वाचक है।

---

५१. अर्त्तिस्तुसुहुसृधृक्षिक्षुभायावापदियक्षिनीभ्यो मन्। उ. को. १.१०४
५२. क्षपत्यज्ञानं नाशयतीति क्षेमं कुशलं वा। उ. को. १.१४०
५३. दाधार क्षेममोको न रण्वो यवो न पक्वो जेता जनानाम्। ऋर्षिर्न स्तुभ्वा विक्षु प्रशस्तो वाणी न प्रीतो वयो दधाति॥ ऋ. १.६६.२
५४. मानक हिन्दी कोश। प्र.ख. पृ.६१७
५५. लब्धस्य रक्षणं क्षेमः। वाचस्पत्यम् तृ.ख.पृ. २४०८
५६. लब्धवस्तुनो रक्षणे। अर्धर्चादिगण
५७. यन्ता च मे धर्त्ता च मे क्षेमश्च मे धृतिश्च मे। यजु. १८.७
५८. शिवं यवसं सुभद्रं शान्तं क्षेमममृतममयमिति वर्षाणि। भा. पुराण ५.२०.३
५९. मर्तुं ययौ च वराहक्षेत्रं यत्राविधायकः। श्रीकण्ठक्षेममठयोरासोद्धुष्कपुरान्तिके। राजतरंगिणी छ. ६

मनुस्मृति में परस्पर मिलने पर कुशल-क्षेम पूछने का विधान है। प्रीति से रहना, एक दूसरे के सुख दुःख में सम्मिलित होना पुण्य है। 'ब्राह्मण से प्रसन्नता एवं वेदाध्यायन आदि की निर्विघ्नता, क्षत्रिय के बल आदि की दृष्टि से स्वास्थ्य के विषय में, वैश्य से क्षेम-धन आदि की सुरक्षा और आनन्द के विषय में और शूद्र से मिलने पर स्वास्थ्यादि के विषय में कुशल-क्षेम पूछना चाहिए।[६०] पुल्लिंग वाचक क्षेम शब्द मङ्गल का वाचक है।[६१] मांगलिक कार्यों के लिए क्षेम पद का प्रयोग किया जाता है। वेद में एक स्थान पर क्षेम का अर्थ रक्षा करना है।

कल्याण

कल्याण जीवन का आवश्यक और महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। 'कल्याण' शब्द पुण्य के अर्थ को प्रकट करता है। जहाँ कल्याण होता है उसमें पुण्य की भावना निहित होती है। निघण्टु के व्याख्या ग्रन्थ निरुक्त में यास्काचार्य सुख को कल्याण के रूप में देखते हैं। कल्याण पुण्य है, सुखकर है, हितकर है।[६२] कल्याण सबको प्रिय होता है, सबको अच्छा लगता है अत: कल्याण को कमनीय कहा है।[६३] कल्याण मङ्गलकारी है, जहाँ पर मङ्गल विद्यमान है वहाँ कल्याण अवश्य होता है। वस्तुत: सभी कल्याणकारी जीवन जीना चाहते हैं, अकल्याणकारी तत्त्व जीवन में कोई नहीं चाहता परन्तु कल्याणकारी जीवन जीने के लिए मनुष्य मात्र को सत्पथगामी होना चाहिए।

संहिताओं में अनेकत्र कल्याण विषयक ऋचाएं दृष्टिगत होती हैं। मन्त्रों में मनुष्य कामना करता है कि मेरा मन शुभ संकल्प करता रहे, 'यह मेरा मन कल्याणकारी विचारों वाला हो।'[६४] अन्य व्यक्तियों के प्रति प्रार्थना करता है कि 'चारों दिशाएं तेरे लिए कल्याणकारी हों।'[६५] हम सब कल्याण के मार्ग का अनुसरण करें।[६६] मन्त्रों में यह विश्वास व्यक्त किया गया है कि इस जगत् में दुष्ट मनुष्य का कल्याण नहीं हो सकता।

जिस पृथिवी पर वह रहता है उसको कल्याणकारी मानता है। हम सब कल्याणमयी, सुख देने वाली पृथिवी पर सदा विचरण करें और पृथिवी से वह प्रार्थना करता है कि मुझे कल्याणप्रद मार्ग प्राप्त हो। 'हे पृथिवी! मनुष्यों और रथादि के चलने योग्य जो मार्ग है उन धर्मात्मा और पापात्मा दोनों ही चलते हैं। जो चारों ओर शत्रुओं से रहित मार्ग है, वही कल्याणप्रद मार्ग है, वही हमें प्राप्त हो और पापात्मा जिस मार्ग का अनुसरण करते हैं, वह मार्ग क्षणिक सुख दे सकता है, पर अन्तत: वह दुःखदायक ही सिद्ध होता है।[६७] पृथिवी हमें दुःख प्रदान करती है तो उसमें मनुष्य का ही दोष रहता है। जिसका फल हमें बाढ़, भूकम्प, अतिवृष्टि के रूप में देखने को मिलता है। सत्कर्त्ता पुरुष सर्वत्र अपने जीवन के चारों ओर कल्याण देखने चाहता है तथा कल्याण सुनना चाहता है। उसकी

---

६०. ब्राह्मण कुशलं पृच्छेत् क्षत्रबन्धुमनामयम्। वैश्यं क्षेमं समागम्य शूद्रमारोग्यमेव च॥ मनु. २.१०२
६१. क्षेमं मङ्गलमस्मिन्नस्तीति। श.ख. २. पृ. २६२
६२. कल्याणं पुण्यं सुहितं भवति। निरुक्त ९.१
६३. कल्याणं कमनीयं भवति। निरुक्त २.३
६४. तन्मे मन: शिवसंकल्पमस्तु। यजु. ३४.१
६५. शं ते वातो अन्तरिक्षे वयो धाच्छं ते भवन्तु प्रदिशश्चतस्र:। अथर्व. २.१०.३
६६. स्वस्ति पन्थामनु चरेम सूर्याचन्द्रमसाविव। ऋ. ५.५१.१५
६७. शिवां स्योनामनु चरेम विश्वहा। ऋ. १२.१.१७

अभिलाषा होती है, मेरे कान सर्वदा कल्याणकारी बातों को ही सुनें, मङ्गलकारी प्रशंसात्मक बातों को करता रहूं। इस प्रसङ्ग में अथर्ववेदीय मन्त्र भी द्रष्टव्य है।[६८]

कुशल

वैदिक साहित्य में 'कुशल' शब्द अनेकत्र दिखाई देता है। कुछ स्थलों पर पुण्यवाचक रूप में भी प्राप्त होता है। 'कुशल' शब्द 'कुश संश्लेषणे' धातु से 'कल' प्रत्यय करके सिद्ध होता है।[६९] कुशल का अर्थ सबसे प्रीतिपूर्वक रहने वाला, प्रेमपूर्वक सबके साथ व्यवहार करने वाला अथवा जो प्रीतिपुष्ट व्यवहार करने में सफल हो वह कुशल है। स्वामी दयानन्द सरस्वती कुशल शब्द की व्युत्पत्ति निम्न प्रकार से करते हैं। 'सबसे मिलकर सबके साथ कुशल व्यवहार करने वाला, पवित्र मन वाला कुशल है'[७०] और पवित्र मन वाला व्यक्ति ही पाप से मुक्त होकर पुण्य की ओर अग्रसर होता है। एक स्थल पर 'कुशलम्' की व्युत्पत्ति इस प्रकार उपलब्ध होती है (कु+शल्+अच्) 'कु' का अर्थ पाप किया है 'शल गतौ' 'शल' धातु गति अर्थ में प्रयुक्त होती है अर्थात् पाप से पृथक्त्व प्राप्त करना ही कुशल है।[७१] पाप से दूर रहना ही कुशल है, पुण्य है। पुण्य भी तभी प्राप्त कर सकते हैं जब पाप से च्युत होंगे और कल्याण को प्राप्त करेंगे। 'कु' पृथिवी को भी कहते हैं। 'कु' पृथिवी पर 'शल' जाने वाला अर्थात् पृथिवी पर श्लाघा को प्राप्त होने वाला, सबको मुदित करने वाला, कुशल है। पुण्य भी सबको मुदित करता है, सुख शान्ति की ओर प्रेरित करता है। अतः कुशल पुण्य ही है।[७२]

गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है कि मनुष्य कर्म करता हुआ अर्थात् शुभकार्य करता हुआ यदि शुभ कार्यों में संलिप्त नहीं होता और अशुभ कर्मों को नहीं करता है वह मनुष्य मोक्ष को प्राप्त करता है अर्थात् शुभ कर्म, पुण्यकर्म तो मनुष्य को अवश्य करने चाहिए पर उन शुभकर्मों में आसक्त नहीं रहना चाहिए, कामना से रहित किया हुआ शुभकर्म मोक्ष प्रदायक है।[७३]

अमरकोश में 'कुशल' कु पूर्वक 'शल चलने' धातु से पचाद्यच सूत्र से अच् प्रत्यय करके 'कुशल' शब्द के तीन अर्थ किये गये है: पर्याप्ति-सामर्थ्यम्। पुण्यं=सुकृतम्। क्षेमम्=कल्याणम्।[७४] और कुशलम् (त्रि) का शिक्षित अर्थ भी है। 'मेदिनीकोश' में भी प्रकृत अर्थ ही दृष्टिगत होता है।[७५] कुशल शब्द चतुर अर्थ में भी दिखाई देता है। 'कर्मणि कुशलः। कुशान् लाति ददाति इति कुशलः' सरकण्डे की अंकुरावस्था को कहते हैं वह बहुत ही

---

६८. ये ते पन्थानो बहवो जनायना रथस्य वर्त्मानसश्च यातवे। यैः सञ्चरन्त्युभये भद्रपापास्तं पन्थानं जयेमानमित्रमतस्करं यच्छिवं तेन नो मृड। अथर्व. १२.१.४७

६९. वृषादिभ्यश्चित्। उ. को. १.१०६

७०. कोशति शिलष्यति व्यवहर्तुं जानातीति वा कुशलः क्षेममिति वा।

७१ कुं पापं तस्मात् शलति गच्छति पृथक्तं प्राप्नोतीत्यर्थः। वही स्वा. दया.

७२. कौ पृथिव्यां शलति श्लाघां प्राप्नोति इति। श.ख.द्वि.पृ. १६०

७३. न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते। त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥ गीता १८.१०

७४. पर्याप्ति क्षेमपुण्येषु कुशलं शिक्षिते त्रिषु॥ अमरकोश ३.३.२०३

७५. कुशलः शिक्षिते त्रिषु क्षेमे च सुकृते चापि पर्याप्तौ च नपुंसकम् इतिमेदिनी १०५.७७

तीक्ष्ण होती है, उसको जो सकुशल ले आता है, वह कुशल है, दक्ष है। मनु ने भी अपनी अमरकृति 'मनुस्मृति' में 'कुशल' शब्द का अर्थ निपुण किया है।[७६]

वृष

'पुण्य' शब्द के वैदिक साहित्य में अनेक वाचक शब्द दिखाई देते हैं। 'वृष' शब्द भी पुण्यवाचक शब्दों में परिगणित होता है। 'वृष' शब्द 'वृष सेचने' धातु से 'इगुपधज्ञाप्रीकिर: क:' सूत्र से 'क:' प्रत्यय होकर सिद्ध होता है। निघण्टु के व्याख्याकार आचार्य यास्क 'वृषल' शब्द को दो प्रकार से विभाजित करते है:- **'वृषणशीलो भवति वृषाशीलो वा'** वृषशील का अर्थ है बैल के स्वभाव वाला और वृषाशील बैल के स्वभाव के नितान्त विपरीत अर्थात् सौम्य, सरस, सरल स्वभाव वाला, किसी को पीड़ा न देने वाला, पुण्यकर्म करने वाला मनुष्य, वृषाशील है। अमरकोश में भी 'वृष' शब्द को पुण्य के वाचक रूप में परिगणित किया है।[७७] शब्दकल्पद्रुम में 'वृष' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है कि वीर्य को सिंचन करने में समर्थ अर्थात् उत्पन्न करने में जो समर्थ है वह 'वृष' है[७८]। राजा भोजदेव ने 'वृष' के आठ अर्थों को उद्घाटित किया है- नील, श्रुभ, ध्वज, वाम, क्षेम, भद्र, शिव और स्थिर।[७९] पाणिनि के उत्तरवर्ती व्याकरणाचार्य हेमचन्द्र ने 'वृष' को निम्न प्रकार से परिभाषित किया है।[८०]

'हिन्दी-मानक-कोश' में 'वृष' शब्द के अनेक अर्थ दृष्टिगत होते है:- १. सांड़ २. कामशास्त्र के अनुसार चार प्रकार के पुरुषों में से ऐ जो शंखिनी जाति की स्त्री के लिए उपयुक्त कहा गया है। ३. स्त्री का पति। ४. धर्म जिसके चार पैर माने जाते हैं और जो इसी कारण सांड़ के रूप में माना जाता है। ५. पुराणानुसार ग्यारहवें मन्वन्तर के इन्द्र का नाम ६. श्रीकृष्ण का एक नाम। ७. शत्रु ८. गेहूं ९. चूहा १०. अड़ूसा ११. ऋषभक नामक औषधि १२. धमासा[८१]।

एक अन्य ग्रन्थ 'कीर्तिकौमुदी' में एक स्थान पर 'वृष' पद के लिये उपर्युक्त शब्दों का प्रयोग न होकर गुण सत्कर्म या पुण्यकर्म के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[८२]

श्रेय

'अतिशयेन प्रशस्यम्' किसी की तुलना में अधिक बढ़कर, अतिशय अर्थ में 'प्रशस्य' शब्द से 'ईयसुन्' प्रत्यय होता है। ईयसुन् के परे रहते 'प्रशस्य' के स्थान पर 'श्र' आदेश, गुणादि कार्य होकर 'श्रेय' शब्द निष्पन्न

---

७६. समुद्रयानकुशला देशकालार्थदर्शिन:। मनु: ८.१५७
७७. स्याद्धर्ममस्त्रियां पुण्यश्रेयसी सुकृतं वृष:। अमरकोश १.४.२४
७८. वर्षति सिंचति रेत इति।
७९. नीलशुभो ध्वजो वाम: क्षेमो भद्र: शिव: स्थिर:। भोजदेवेन लिखिता इत्यष्टौ वृषभे गुणा:॥
८०. वृषो गव्याखुधर्मयो:। पुंराशिभेदयो: श्रृंगयां वासके शुक्लेऽपि च। श्रेष्ठे स्यादुत्तस्थलश्च' इति। हैम. २.५८४.८५
८१. मानक हिन्दी कोश। खण्ड ५ पृ. १०९
८२. न संगति: स्याद् वृषवर्जितानाम्हिकीर्तिकौमुदी ९.६३

हुआ।[८३] दो वस्तुओं या दो शब्दों में तुलना करने पर जो श्रेष्ठ है वह श्रेय है। पाप वर्जनीय है, क्रूर है, कलुष से ओतप्रोत है, अतः त्याज्य है। पाप की अपेक्षा पुण्य श्रेष्ठ है, हितकर है, सत्कर्म है, इसी कारण 'श्रेय' को पुण्यवाचक माना गया है। मेदिनी शब्दकोश में 'श्रेय' शब्द मुक्ति, शुभ, धर्म, प्रशस्त इत्यादि अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।[८४] 'श्रेय' शब्द मङ्गल का प्रतीक है, कल्याण का बोधक है। मनु ने अपनी अमरकृति 'मनुस्मृति' में तीन वर्गों को श्रेय माना है। वे कहते हैं इस संसार में कोई धर्म और अर्थ को 'श्रेय' कल्याणकारी समझता है, कोई काम और अर्थ को 'श्रेय' समझता है, तो कोई केवल धर्म को 'श्रेय' समझता है, कोई अर्थ को ही 'श्रेय' समझता है, परन्तु अन्त में कहते हैं कि वास्तविकता तो यह है कि धर्म अर्थ और काम तीनों वर्ग ही इस संसार में श्रेष्ठ हैं, श्रेयस्कर हैं।[८५] इन तीन वर्गों का एक साथ आचरण करने से ही मनुष्य श्रेष्ठ बन सकता है।

---

८३. प्रशस्यस्य श्रः। अष्टाध्यायी ५.३.६०

८४. श्रेयो मुक्तौ शुभे धर्मेऽतिप्रशस्ते च वाच्यवत्। मेदिनी-१७३.४२

८५. धर्मार्थवुच्यते श्रेयः कामार्थौ धर्म एव च। अर्थ एवेह वा श्रेयस्त्रिवर्ग इति तु स्थितिः॥ मनु. १९९

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २००९ अङ्क ११ (पृ०१७१-१७६)

वाल्मीकि-रामायण में वर्णित दिव्यास्त्र

डॉ. डॉली जैन[1]

भारतीय धर्मप्राण जनमानस में कर्म, आदर्श और धर्म की त्रिवेणी प्रवाहित कर देने वाली 'रामायण' सम्पूर्ण लौकिक संस्कृत-साहित्य की आदिकाव्य कही जाती है। उसके रचयिता वाल्मीकि आदिकवि के रूप में समादृत हैं। वाल्मीकि ने रामायण में मर्यादा पुरुषोत्तम राम के सम्पूर्ण जीवन का अत्यन्त काव्यमय वर्णन किया है। राम के जीवन के वर्णन के मध्य में वाल्मीकि ने युद्धों का भी विस्तारपूर्वक वर्णन किया है।

रामायण-काल में युद्ध को राजनीतिक ही नहीं, वरन् धार्मिक कर्त्तव्य भी माना जाता था। युद्ध में विजय और सफलता अस्त्र-शस्त्र के कुशल प्रयोग और रणनीति के सफल वैज्ञानिक संचालन पर निर्भर करती थी। युद्ध और अस्त्र-शस्त्र का अन्योन्य सम्बन्ध था। युद्धों की बहुलता ने जहाँ रणनीति को प्रभावित किया और उन्हें नियमित करने की प्रेरणा दी, वहीं युद्ध-भूमि में मिलने वाली जय पराजय ने अस्त्र-शस्त्र के विकास, नूतन प्रयोगों और अनुसंधानों के लिए भी समान रूप से प्रेरणा दी।

'रामायण' में जिस प्रकार के अमोघ तथा विचित्र अस्त्र-शस्त्रों का वर्णन मिलता है, वह आज के आधुनिक युग के लिए भी एक चुनौती है।

इस काल में जहाँ वानरों द्वारा आदिम मानव के युद्धास्त्रों का प्रयोग मिलता है वहाँ राक्षसों द्वारा आधुनिक युद्धास्त्रों के प्रयोग के उदाहरण प्राप्त होते हैं। वानर अपने दांतों, नखों, मुक्कों, वृक्षों, पत्थरों आदि का शस्त्रों के रूप में प्रयोग करते थे।

धनुर्वेद के अनुसार आयुधों में मुख्यतः दो विभाजन थे- अस्त्र और शस्त्र। स्वचालित यन्त्रों को अस्त्र और हाथ से चलाने वाले आयुधों को शस्त्र कहा गया है। रामायण कालीन आयुध भी दो प्रकार के थे अस्त्र और शस्त्र। ऐसे विशेष अस्त्र भी थे जिनसे साधारण अस्त्र व्यर्थ हो जाते थे, इन्हें दिव्यास्त्र कहते थे। रामायण में उपलब्ध इन्हीं दिव्यास्त्रों को मैंने अपने शोधपत्र का विषय बनाया है।

'रामायण' में बालकाण्ड में ही विभिन्न दिव्यास्त्रों का उल्लेख मिलता है, जब राम और लक्ष्मण को विश्वामित्र अपने यज्ञ के रक्षार्थ ले जा रहे थे, तब ताड़का वध और राम के गुणों से प्रसन्न होकर उन्होंने राम को अनेक दिव्यास्त्र प्रदान किए। सर्वप्रथम उन्होंने इन्द्र का वज्रास्त्र, ब्रह्मशिर नामक अस्त्र, ऐषीकास्त्र तथा ब्रह्मास्त्र प्रदान किए।[2] फिर वे भगवान् राम को नारायणास्त्र, आग्नेयास्त्र, वायव्यास्त्र, हयाशिरा नामक अस्त्र, विद्याधरों का नन्दन अस्त्र, गन्धर्वों का प्रिय सम्मोहन अस्त्र, प्रस्वापन, प्रशमन तथा सौम्य अस्त्र, कामदेव का प्रिय दुर्जय अस्त्र,

---

१. गौतम बुद्ध निवास, वरिष्ठ प्रवक्ता, संस्कृत, दर्शन एवं वैदिक अध्ययन, वनस्थली विद्यापीठ
२. वज्रमस्त्रं नरश्रेष्ठं शैव शूलवरं तथा। अस्त्रं ब्रह्मशिरश्चैव ऐषीकमपि राघव॥ ददामि ते महाबाहो ब्रह्मामस्त्रमनुत्तमम्॥ वाल्मीकि रामायण- १/२७/६-७

गन्धर्वों का प्रिय मानवास्त्र, पिशाचों का प्रिय मोहनास्त्र, सूर्यदेवता का तेज : प्रभ नामक अस्त्र, सोम देवता का शिशिर नामक अस्त्र, मनु का शीतेषु नामक अस्त्र भी प्रदान करते हैं।[३]

'रामायण' में जिन दिव्यास्त्रों का उल्लेख मिलता है, उनका विस्तृत विवेचन इस प्रकार है :

१.ब्रह्मास्त्र

ब्रह्मास्त्र की सर्वप्रथम चर्चा आदिकवि ने अपने ग्रन्थ में की है। ब्रह्मास्त्र का क्या आकार-प्रकार था, इस सम्बन्ध में तो वाल्मीकि ने कोई उल्लेख नहीं किया है, परन्तु उसके अमोघ प्रभाव के सम्बन्ध में अनेक स्थलों पर उल्लेख किया है। इस अस्त्र के आविष्कर्ता अथवा प्रदाता लोक पितामह भगवान् ब्रह्मा थे, जैसाकि युद्धकाण्ड में उल्लेख है कि स्वयम्भू ब्रह्माजी ने यह उत्तम अस्त्र इन्द्रजित् को दिया था, ब्रह्मास्त्र के नाम से इसकी प्रसिद्धि है और इसका बल अमोघ है।[४] इस ब्रह्मास्त्र देवता का निवास स्थान हिमालय पर्वत है, ऐसा उल्लेख भी प्राप्त होता है, जब हनुमान् जी राम-लक्ष्मण के लिए औषधि लेने हिमालय पर जाते हैं।[५]

'रामायण' में ब्रह्मास्त्र के प्रयोग का प्रथम उदाहरण बालकाण्ड में वसिष्ठ और विश्वामित्र युद्ध में प्राप्त होता है। वसिष्ठ द्वारा विश्वामित्र के समस्त अस्त्रों को निष्फल कर देने पर महर्षि विश्वामित्र ब्रह्मास्त्र का प्रयोग करते हैं।[६]

समुद्र पार करते समय भी क्रुद्ध होकर महाबली राम ब्रह्मदण्ड के समान भयंकर बाण को ब्रह्मास्त्र से अभिमन्त्रित करते हैं।[७] ब्रह्मास्त्र के भय से समुद्र देव प्रकट हो जाते हैं, तब श्रीरामचन्द्र उनसे कहते हैं कि मेरा यह विशाल बाण अमोघ है। अत: मैं इसे कहाँ छोड़ूं।[८] तत्पश्चात् वह वज्र और अशनि के समान तेजस्वी बाण जिस स्थान पर गिरा, वह स्थान मरुभूमि के नाम से प्रसिद्ध हुआ।[९]

अतिकाय व लक्ष्मण के युद्ध में भी लक्ष्मण ब्रह्मास्त्र का प्रयोग करते हैं, क्योंकि वह निशाचर अन्य अस्त्रों के द्वारा अवध्य है।[१०] रावणकुमार इन्द्रजित् भी ब्रह्मास्त्र का ज्ञाता है।[११] ब्रह्मास्त्र से सुरक्षित हुआ वह दूसरों के लिए दुर्जय हो गया था।[१२] इस ब्रह्मास्त्र का प्रभाव इतना अधिक था कि इसकी संयोजना किए जाने पर उस समय सम्पूर्ण दिशाएं, चन्द्रमा, सूर्य आदि बड़े-बड़े ग्रह तथा अन्तरिक्ष लोक के प्राणी थर्रा उठे और भूतल पर

---

३. वाल्मीकि रामायण - १/२७/९, १०, ११, १३, १४, १६, १९, २०
४. तस्मै तु दत्तं परमास्त्रमेतत्। स्वयंभुवा ब्राह्ममोघवीर्यम्। ६/७४/४
५. हयाननं ब्रह्मशिरा च दीप्तं ददर्श वैवस्वतकिंकराश्च॥ ६/७४/५९
६. तेषु शान्तेषु ब्रह्मास्त्र क्षिप्तवान् गाधिनन्दनः। तदस्त्रमुद्यत दृष्ट्वा देवाः साग्निपुरोगमाः॥ १/५६/१४
७. ब्राह्मेणास्त्रेण संयोज्य ब्रह्मदण्डनिभं शरम्। संयोज्य धनुषि विचकर्ष महाबलः॥ ६/२२/५
८. तमब्रवीत् तदा रामः श्रृणु मे वरुणालय। अमोघोऽयं महाबाणः कस्मिन् देशे निपात्यताम्॥ ६/२२/३०
९. तेन तन्मरुकान्तारं पृथिव्यां किल विश्रुतम्। निपातितः शरो यत्र वज्राशनिसमप्रभः॥ ६/२२/३६
१०. ब्राह्मेणास्त्रेण भिन्ध्येनमेष वध्यो हि नान्यथा। अवध्य एष ह्यन्येषामस्त्राणां कवची बली॥ ६/७१/१०३
११. स हि ब्रह्मास्त्रवित् प्राज्ञो महामायो महाबलः। करोत्यसंज्ञान् संग्रामे देवान् सवरुणानपि॥ ६/८५/१८
१२. तेन चादित्यकल्पेन ब्रह्मास्त्रेण च पालितः। स बभूव दुराधर्षो रावणिः सुमहाबलः॥ ६/८०/१५

कोलाहल मच गया।[१३] यह इतना अधिक शक्तिशाली था कि इन्द्रिजित् के द्वारा इसका प्रयोग किए जाने पर इसने दिन के चार भाग व्यतीत होते ६७ करोड़ वानरों को हताहत कर दिया।[१४] इस प्रकार ब्रह्मास्त्र शत्रु को व्यक्तिगत रूप से अथवा सामूहिक रूप से मारक महान् संहारक अस्त्र था।

२.आग्नेयास्त्र

यह महान् संहारक, आधुनिक अणु अस्त्रों के समान शत्रु सेना में आग उत्पन्न कर देने वाला था। विश्वामित्र के यज्ञ में बाधा पहुंचाने वाले राक्षस सुबाहु को, राम को आग्नेयास्त्र से ही समाप्त किया था।[१५] रावण व नील के युद्ध के समय रावण ने आग्नेयास्त्र का प्रयोग किया।[१६] रावण के धनुष से छूटे हुए उस बाण ने नील के हृदय पर गहरी चोट की और वे सहसा नीचे गिर पड़े।[१७] लक्ष्मण व अतिकाय के युद्ध में लक्ष्मण ने अपने बाण को आग्नेयास्त्र से अभिमन्त्रित किया। अभिमन्त्रित होते ही वह बाण प्रज्वलित हो उठा।[१८] मकराक्ष व राम के युद्ध में श्रीराम अपने धनुष पर आग्नेयास्त्र का सन्धान करते हैं और बाण के आघात से राक्षस का हृदय विदीर्ण हो गया।[१९] इस आग्नेयास्त्र का उल्लेख इन्द्रजित् व लक्ष्मण के युद्ध में[२०] व राम रावण युद्ध[२१] में भी मिलता है।

३.वायव्यास्त्र

यह सामूहिक रूप से शत्रु-सेना का संहारक था। इसके प्रयोग से शत्रु-सेना में प्रचण्ड वायु चलने लगती थी। 'रामायण' में इसके प्रयोग के अनेक उदाहरण मिलते हैं। विश्वामित्र के यज्ञ में बाधा पहुंचाने वाले राक्षसों को श्रीराम ने वायव्यास्त्र से ही समाप्त किया था।[२२] कुम्भकर्ण को नष्ट करने के लिए श्रीराम ने वायव्यास्त्र का संधान करके चलाया और उसके द्वारा निशाचर की दाहिनी भुजा काट डाली। एक बांह कट जाने पर वह राक्षस

---

१३. (१) तस्मिन् वरास्त्रे तु नियुज्यमाने। सौमित्रिणा बाणवारे शिताग्रे। दिशश्च चन्द्रार्कमहाग्रहाश्च नभश्च तत्रास ररास चोर्वी॥ ६/७१/१०५ (२) तस्मिन्नाहूयमानेऽस्त्रे हूयमाने च पावके। सार्कग्रहेन्दुनक्षत्रं वितत्रास नभस्थलम्॥ ६/७३/२८

१४. सप्तषष्टिर्हताः कोट्यो वानराणां तरस्विनाम्। अह्नः पञ्चमशेषेण वल्लभेन स्वयंभुवः॥ ६/७४/१२

१५. इत्युक्त्वा लक्ष्मणं चाशु लाघवं दर्शयन्निव। विगृह्य सुमहच्चास्त्रमाग्नेयं रघुनन्दनः॥ १/३०/२२

१६. रावणोऽपि महातेजाः कपिलाघवविस्मितः। अस्त्रमाहारयामास दीप्तमाग्नेयमद्भुतम्॥ ६/५९/८२

१७. एवमुक्त्वा महाबाहू रावणो राक्षसेश्वरः। संधाय बाणमस्त्रेण चमूपतिमताडयत्॥ सोऽस्त्रमुक्तेन बाणेन नीलो वक्षसि ताडितः। निर्दह्यमानः सहसा स पपात महीतले॥ ६/५९/८९, ९०

१८. आग्नेयेन तदास्त्रेण योजयामास सायकम्। स जज्वाल तदा बाणो धनुष्यस्य महात्मनः॥ ६/७१/८४

१९. स तं दृष्ट्वा पतन्तं तु प्रहस्य रघुनन्दनः। पावकास्त्रं ततो रामः संदधे तु शरासने॥ तेनास्त्रेण हतं रक्षः काकुत्स्थेन तदा रणे। संछिन्नहृदयं तत्र पपात च ममार च॥ ६/७९/३८, ३९

२०. ततः क्रुद्धो महातेजा इन्द्रजित् समतिजयः। आग्नेयं संदधे दीप्तं स लोकं संक्षिपन्निव॥ ६/९०/५६

२१. ते रावणशराघोरा राघवास्त्रसमाहताः। विलयं जग्मुराकाशे जघ्नुश्चैव सहस्रशः॥ ६/९९/४८

२२. शेषान् वायव्यमादाय निजघान महायशाः। १/३०/२३

शिखरहीन पर्वत की तरह प्रतीत होने लगा।[२३] अतिकाय व लक्ष्मण के युद्ध में लक्ष्मण वायव्यास्त्र का प्रयोग करते हैं।[२४]

४.ऐन्द्रास्त्र

यह भी बहुत ही भयंकर संहारक अस्त्र था। इसे ब्रह्मदण्ड व विनाशकारी काल के समान भयंकर, सूर्य की किरणों के समान उद्दीप्त, तेजस्वी सूर्य और प्रज्वलित अग्नि के समान दैदीप्यमान; कहा गया है। यह हीरे और सुवर्ण से विभूषित सुन्दर पंखों से युक्त, वायु तथा इन्द्र के वज्र और अशनि के समान वेगशाली कहा गया है। इससे ही भगवान् राम ने कुम्भकर्ण का वध किया।[२५] भगवान् राम ने कुम्भकर्ण की दूसरी भुजा को इसी से काटा।[२६] अतिकाय व लक्ष्मण के युद्ध में लक्ष्मण इसका प्रयोग करते हैं।[२७] लक्ष्मण ने इसका प्रयोग मेघनाद के वध के लिए भी किया था।[२८]

५.रौद्रास्त्र

लंका युद्ध में इसका प्रयोग किया गया था। श्रीराम ने रौद्रास्त्र का प्रयोग करके कुम्भकर्ण के हृदय में अनेक तीखे बाण मारे।[२९] लक्ष्मण-मेघनाद युद्ध में मेघनाद रौद्रास्त्र का प्रयोग करता है।[३०] राम रावण युद्ध में राम मन्त्रजपपूर्वक रौद्रास्त्र का प्रयोग करते हैं।[३१]

६.आसुरास्त्र

आसुरास्त्र का उल्लेख कई बार आया है। इसका प्रयोग राक्षस किया करते थे। लक्ष्मण व इन्द्रजित् के युद्ध में इन्द्रजित् ने इसका प्रयोग किया है। लक्ष्मण द्वारा प्रयुक्त सूर्यास्त्र को शान्त करने के लिए इन्द्रजित् ने आसुर नामक शत्रुनाशक तीखे बाण का प्रयोग किया।[३२] राम रावण युद्ध में रावण ने इसका प्रयोग किया।[३३]

---

२३. वायव्यमादाय ततोऽपरास्त्रं रामः प्रचिक्षेप निशाचराय। समुद्गरं तेन जहार बाहुं स कृत्तबाहुस्तुमुदं ननाद॥ स कुम्भकर्णोऽस्त्रनिकृत्तबाहुर्महासिकृताग्र इवाचलेन्द्रः॥ ६/६७/१५५, १५८

२४. ततस्तदस्त्रं चिक्षेप लक्ष्मणाय निशाचरः। वायव्येन तदास्त्रेण निजघान सलक्ष्मणः॥ ६/७१/९३

२५. अथाददे सूर्यमरीचिकल्पं स ब्रह्मदण्डान्तककालकल्पम्। अरिष्टमैन्द्रं निशितं सुपुङ्खं प्रदीप्तसूर्यज्वलनप्रकाशम्। महेन्द्रवज्राशनि तुल्यवेगं रामः प्रचिक्षेप निशाचराय॥ ६/६७/१६५, १६६

२६. ऐन्द्रास्त्रयुक्तेन जघान रामो। बाणेन जाम्बूनदचित्रितेन॥ १/६७/१५९

२७. ततश्चिच्छेद सौमित्रिरस्त्रमैन्द्रेण वीर्यवान्। ६/७१/१५९

२८. अथैन्द्रमस्त्रं सौमित्रिः संयुगेष्वपराजितम्। तच्छिरः सशिरस्त्राणं श्रीमज्ज्वलितकुण्डलम्॥ प्रमथ्येन्द्रजितः कायात् पातयामास भूतले॥ ६/९०/६८, ७१

२९. अथ दाशरथी रामो रौद्रमस्त्रं प्रयोजयन्। कुम्भकर्णस्य हृदये ससर्ज निशिताञ्शरान्॥ ६/६७/११६

३०. रौद्रं महेन्द्रजिद् युद्धेऽप्यसृजद् युधि निष्ठितः। ६/९०/५५

३१. अथ मन्त्रानपि जपन् रौद्रमस्त्रमुदीरयन्। शरान् भूयः समादाय रामः क्रोधसमन्वितः॥ ६/९९/३६

३२. आददे निशितं बाणमासुरं शत्रुदारणम्। ६/९०/५८

३३. निहत्य राघवस्यास्त्रं रावणः क्रोधमूर्च्छितः। आसुरं सुमहाघोरमस्त्रं प्रादुश्चकार सः॥ ६/९९/४१

७.सूर्यास्त्र

यह भी एक महत्त्वपूर्ण अस्त्र था। यह आग्नेयास्त्र के प्रभाव को काटने वाला था। लक्ष्मण के चलाए हुए आग्नेयास्त्र से अभिमन्त्रित हुए बाण को अपनी ओर आते देख निशाचर अतिकाय ने अपने भयंकर बाण को सूर्यास्त से अभिमन्त्रित करके चलाया।[३४] लक्ष्मण ने भी इन्द्रजित् द्वारा चलाए गए आग्नेयास्त्र को सूर्यास्त्र के प्रयोग से शान्त कर दिया।[३५] रावण ने भी इस अस्त्र का प्रयोग किया है।[३६]

८.वारुणास्त्र

यह युद्ध सेना में भयंकर जलवृष्टि एवं बाढ़ द्वारा हलचल मचा देने वाला अस्त्र था। लंका युद्ध में इसका प्रयोग लक्ष्मण ने मेघनाद सहित उसकी सेना का विध्वंस करने के लिए किया था।[३७] परन्तु यह वारुणास्त्र रौद्रास्त्र से शान्त हो जाता था। लक्ष्मण द्वारा चलाए गए वारुणास्त्र को मेघनाद ने रौद्रास्त्र से शान्त कर दिया।[३८] वसिष्ठ व विश्वामित्र के युद्ध में विश्वामित्र भी इसका प्रयोग करते हैं।[३९]

९.गान्धर्वास्त्र

इसका प्रयोग शत्रु सेना को सम्मोहित करने के लिए किया जाता था। भगवान् श्रीराम ने राक्षसों को गान्धर्व नामक अस्त्र से मोहित कर दिया था, अतः वे कभी तो राम को देख नहीं पा रहे थे। कभी उन्हें हजारों राम दिखते थे और कभी एक ही राम।[४०] रावण भी इसका प्रयोग करता है पर राम ने राक्षसराज के चलाए गए गान्धर्वास्त्र से ही शान्त कर दिया।[४१]

१०.तामसास्त्र

इसका प्रयोग सम्भवतः राक्षस ही करते थे। राम रावण युद्ध में रावण ने 'तामस' नामक अत्यन्त भयंकर महाघोर अस्त्र को प्रकट करके वानरों को भस्म करना प्रारम्भ किया।[४२] यह अस्त्र साक्षात् ब्रह्मा जी का बनाया हुआ था, अतः उसके वेग को वानर सहन न कर सके।[४३]

---

३४. आग्नेयास्त्राभिसंयुक्तं दृष्ट्वा बाणं निशाचरः। उत्ससर्ज तदा बाणं रौद्रं सूर्यास्त्रयोजितम्॥ ६/७१/८७
३५. सौरेणास्त्रेण तद् वीरो लक्ष्मणः पर्यवारयत्। ६/९०/५७
३६. रावणः क्रोधताम्राक्षः सौरमस्त्रमुदीरयत्॥ ६/१००/६
३७. सुसंरब्धस्तु सौमित्रिरस्त्रं वारुणमाददे। रौद्रं महेन्द्रजिद् युद्धेऽप्यसृजद् युधि निष्ठितः॥ ६/९०/५५
३८. तेन तद्विहितं शस्त्रं वारुणं परमाद्भुतम्। ६/९०/५६
३९. वारुणं चैव रौद्रं च ऐन्द्रं पाशुपतं तथा। ऐषीकं चापि चिक्षेप कुपितो गाधिनन्दनः॥ १/५६/६
४०. न ते ददृशिरे रामं दहन्तमपि वाहिनीम्। मोहिताः परमास्त्रेण गान्धर्वेण महात्मना॥ ते तु रामसहस्राणि रणे पश्यन्ति राक्षसाः। पुनः पश्यन्ति काकुत्स्थमेकमेव महाहवे॥ ६/९३/२६, २७
४१. स गान्धर्वेण गान्धर्वं दैवं दैवेन राघवः। अस्त्रं राक्षसराजस्य जघान परमास्त्रवित्॥ ६/१०२/१९
४२. तामसं सुमहाघोरं चकारास्त्रं सुदारुणम्। निर्ददाह कपीन् सर्वास्ते प्रपेतुः समन्ततः॥ ६/९९/८
४३. नहि तत् सहितुं शेकुर्ब्रह्मणा निर्मितं स्वयम्। ६/९९/९.

११. राक्षसास्त्र

इसका प्रयोग भी राक्षस ही करते थे। इसके प्रयोग से भयानक मुख वाले सर्प, मुख से आग निकलते हुए गिरने लगते हैं। रावण ने इसका प्रयोग किया है।[४४]

१२. गारुडास्त्र

इसके उपयोग से सैकड़ों गरुड प्रकट होकर शत्रु सेना में हलचल उत्पन्न कर देते थे। इसका प्रयोग राक्षसास्त्र के प्रतीकार के लिए किया जाता था। रावण के द्वारा राक्षसास्त्र का प्रयोग करने पर राम ने गरुडास्त्र को प्रकट किया।[४५] राम के बाण सर्पशत्रु गरुड़ बनकर सर्पों को खा लेते थे।

१३. माहेश्वरास्त्र

यह सम्पूर्ण अस्त्र शस्त्रों को विदीर्ण करने वाला था। लक्ष्मण ने इन्द्रजित् के आसुरास्त्र को प्रकट होता देख उसके प्रतिकार स्वरूप इसका प्रयोग किया। समस्त प्राणी मिलकर भी इसका निवारण नहीं कर सकते थे।[४६]

१४. मानवास्त्र

यह भी अत्यन्त तेजस्वी अस्त्र था। सुबाहु नामक राक्षस को मारते समय राम इसका प्रयोग करते हैं। वे कहते हैं कि मैं मानवास्त्र से इन राक्षसों को उसी प्रकार मार भगाऊंगा, जैसे वायु के वेग से बादल भिन्न-भिन्न हो जाते हैं।[४७] इस उत्तम मानवास्त्र के आघात से मारीच नामक राक्षस १०० योजन की दूरी पर समुद्र के जल में गिर गया।[४८]

१५. पाशुपतास्त्र व ऐषीकास्त्र

वसिष्ठ व विश्वामित्र युद्ध में विश्वामित्र ने इन अस्त्रों का प्रयोग किया है।[४९]

इस प्रकार उपर्युक्त अस्त्रों के विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि शस्त्राभ्यासी के लिए इन शस्त्रों का प्रयोग (शत्रु पर प्रयोग) और संहार (शत्रु पक्ष द्वारा इन शस्त्रों का अपने ऊपर प्रयोग होने पर उनसे बचाव एवं शान्त्यर्थ) दोनों क्रियाओं में निष्णात होना अनिवार्य था। ये योद्धा विविध प्रकार के अस्त्र-शस्त्र व अंगरक्षक आयुधों का संग्राम में विधिवत् उपयोग करते थे। ये आयुध अपने युग के अनुसार बहुत उपयोगी थे।

---

४४. अस्त्रं तु परमं घोरं राक्षसं राक्षसाधिपः। ससर्ज परमक्रुद्धः पुनरेव निशाचरः॥ ६/१०२/२०

४५. तान् दृष्ट्वा पन्नगान् रामः समापतत आहवे। अस्त्रं गारुत्मतं घोरं प्रादुश्चक्रे भयावहम्॥ ६/१०२/२४

४६. तद् दृष्ट्वा लक्ष्मणः संख्ये घोरमस्त्रमथासुरम्। अवार्यं सर्वभूतानां सर्वशस्त्रविदारणम्। माहेश्वरेण द्युतिमांस्तदस्त्रं प्रत्यवारयत्॥ ६/९०/५९, ६०

४७. मानवास्त्रसमाधूताननिलेन यथा घनान्। करिष्यामि न संदेहो नोत्सहे हन्तुमीदृशान्॥ १/३०/१५

४८. स तेन परमास्त्रेण मानवेन समाहतः। सम्पूर्णं योजनशतं क्षिप्तः सागरसम्प्लवे॥ १/३०/१८

४९. वारुणं चैव रौद्रं च ऐन्द्रं पाशुपतं तथा। ऐषीकं चापि चिक्षेप कुपितो गाधिनन्दनः॥ १/५६/६

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २००९ अङ्क ११ (पृ०१७७-१८२)

महाभारत में मानव-मूल्यों के विविध आयाम

डॉ० मधु सत्यदेव[१]

पांचवें वेद के कनाम प्रसिद्ध 'महाभारत' विश्व के प्राचीनतम यथार्थवादी महाकाव्यों में से एक हैं। 'जय' से 'भारत' और 'भारत' से 'महाभारत' तक की यात्रा में इस ग्रन्थ ने अपने समाज के सम्पूर्ण स्वरूप को समेट लिया है। विश्वकोश के रूप में चित्रित करते हुए इसके बारे में कहा गया कि जो कुछ इस विश्व में है, वह इस ग्रन्थ में है और जो इसमें नहीं है वह इस विश्व में भी नहीं है।[२]

यही कारण है कि जब यह प्रश्न उठता है कि क्या वास्तव में 'महाभारत' में वर्णित युद्ध हुआ था तो इसका उत्तर यही होता है कि भाई-भाई में युद्ध तो कुरूक्षेत्र के मैदान में ही नहीं सारे भारत में हुआ था और आज भी हो रहा है। 'महाभारत' पढ़ने से मना किया जाता है, क्योंकि इससे घर में महाभारत मच जाने की आशंका रहती है। 'महाभारत' में वर्णित पारिवारिक कलह हमारे समाज का बहुत बड़ा यथार्थ रहा है।[३] भारतीय समाज में व्याप्त इस यथार्थ को देखते हुए ही सम्भवत: वाल्मीकि ने आदर्शवादी महाकाल 'रामायण' की रचना की, जिसमें राजसत्ता का त्याग आदर्श माना गया है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि यथार्थवादी महाकाव्य 'महाभारत' में मानवीय मूल्यों से भरपूर आदर्शवादी चरित्र नहीं है। इसके विपरीत 'महाभारत' में 'त्याग' को मानवता का केन्द्र मानने वाले चरित्रों की भरमार है। वस्तुत: इस विशाल प्राचीन ग्रन्थ में मानवीय मूल्यों के इतने विविध आयाम है कि यह तय करना कठिन हो जाता है कि किसकी मानवता सही है। इस युग में 'धर्म' शब्द का प्रयोग 'मानवता' के पर्याय के रूप में करते हुए महाभारत के रचयिता महामुनि व्यास तो **'परोपकार: परमो धर्म:'** के माध्यम से मानवता का दिशा-निर्देश करते हैं, किन्तु ऐसे चरित्र हमारे समक्ष उपस्थित करते हैं जिनका धर्म के प्रति दृष्टिकोण ही अलग-अलग है और उन चरित्रों के मूल्यांकन का निर्णय पाठक पर ही छोड़ देते हैं। यहाँ कुछ चरित्रों के मानवीय मूल्यों के प्रति निष्ठा पर दृष्टिपात करने से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है।

भीष्म का चरित्र 'महाभारत' में मानवीय मूल्यों के उत्कृष्ट उदाहरण की तरह हमारे समक्ष आता है। पिता शान्तनु के मत्स्य-कन्या पर आसक्त होने पर उनके विवाह में कोई बाधा न आये, इसलिये उन्होंने राज-सिंहासन-त्याग की प्रतिज्ञा कर डाली। इतने पर भी जब यह आशंका उठी कि उनकी संतान तो राज-सिंहासन के लिए संघर्ष कर सकती है तो उन्होंने आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन करने की प्रतिज्ञा कर डाली[४] और उस पर अडिग रहे। यहीं से वह देवव्रत से भीष्म बने और 'भीष्म-प्रतिज्ञा' अडिगता का पर्याय बन गयी। आगे चलकर मां सत्यवती के

---

१. डॉ० मधु सत्यदेव प्रवक्ता-संस्कृत-विभाग दी०द०उ० गो०वि०वि० गोरखपुर

२. धर्मे चार्थे कामे च मोक्षे च भरतर्षभ। यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।। महाभारत, आदिपर्व ५३/६२

३. विना युद्ध के भूमि न देने वाले दुर्योधनों की लम्बी परम्परा हजारों सालों से भारतीय परिवारों में चली आ रही है। दुर्योधन का यही उत्तर था-यावद्धि तीक्ष्णया सूच्या विध्येदग्रेण केशव तावदप्यपरित्याज्यं भूमेर्न: पाण्डवान प्रति।। वही, उद्योगपर्व २५/१३७

४. अद्यप्रभृति मे दाश ब्रह्मचर्यं भविष्यति। अपुत्रस्यापि मे लोका भविष्यन्त्यक्षया दिवि।। वही, आदिपर्व ९६/१००

अनुरोध को भी विनम्रतापूर्वक अस्वीकार कर प्रतिज्ञा भंग नहीं की। गुरु परशुराम की आज्ञा को भी विनम्रतापूर्वक अस्वीकार किया और यहाँ तक कि उनके साथ युद्ध करना भी स्वीकार किया, किन्तु प्रतिज्ञा भंग नहीं की। इस तरह देखा जाये तो भीष्म के चरित्र में त्याग और दृढ़ निश्चय की मात्रा राम से भी अधिक नजर आती है। विडम्बना यह है कि इतने त्यागी और दृढ़ प्रतिज्ञा भीष्म को अपने पिता के वंश की रक्षा और वृद्धि के लक्ष्य से बँध जाने के कारण कौरवों के पक्ष में खड़ा होना पड़ा है। उन्होंने काशीराज की तीन कन्याओं का हरण किया और यह देखने की आवश्यकता नहीं समझी कि उनके भाई चित्रांगद और विचित्रवीर्य विवाह-योग्य पुरुष है भी अथवा नहीं। फिर मां सत्यवती द्वारा बार-बार कहने पर भी भीष्म का मस्तिष्क यह तर्क मानने को तैयार नहीं हुआ कि जिस सन्दर्भ में आजीवन ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा की थी वह तो दोनों अनुजों की मृत्यु से ही समाप्त हो चुका है और अब सही अर्थों में शान्तनु का वंश तब ही चल सकता है, जब भीष्म अपनी प्रतिज्ञा तोड़ दें; किन्तु भीष्म का उत्तर तो यही था कि 'जो टूट जाये वह प्रतिज्ञा नही नहीं होती।' किसी बहाने से इसे तोड़ना प्रलोभन ही कहलायेगा और भीष्म जैसे त्यागी को 'प्रलोभन' का कलंक स्वीकार नहीं था। वस्तुतः भीष्म परम्परा तथा नियमों को तोड़ने वाले नहीं, बल्कि उनकी रक्षा करने वाले प्राणी थे। यही कारण है कि द्यूत-क्रीड़ा के समर्थक न होते हुए भी वह इसके द्वारा न तो शकुनि की कुटिल चालों का विरोध कर पाते हैं और न ही द्रौपदी के चीर-हरण और न पाण्डवों के वनवास को गलत ठहरा पाते हैं।[५] इसी नियमबद्धता के चलते भीष्म को कुरुक्षेत्र के मैदान में कौरवों के सेनापति की भूमिका निभानी पड़ती है, किन्तु मन में यह भाव सदैव बना रहा कि अनुचित पक्ष का साथ दे रहे हैं। इसलिए अन्ततः पाण्डवों को अपने धराशायी होने का रहस्य बताकर शिखण्डी का रणक्षेत्र में बुला लेते हैं[६] और सहर्ष अर्जुन के बाणों से घायल होकर शरशैय्या पर लेट जाते हैं। इस तरह भीष्म के मानवीय मूल्य उन्हें इच्छा-मृत्यु तो प्रदान करते हैं, किन्तु इच्छा जीवन नहीं।

'महाभारत' में भीष्म के बाद अपने मानवीय मूल्यों तथा आचार-संहिता के कारण यातनापूर्ण जीवन जीने वाला जो दूसरा चरित्र हमारे सामने आता है वह है दानवीर कर्ण। दान की हर परीक्षा में खरा उतरने वाला कर्ण मित्रता के प्रति इतना समर्पित है कि मित्र का हर परिस्थिति में समर्थन करना उचित समझता है। मित्र जो कर रहा है वह धर्म है या अधर्म, इस पर कर्ण विचार ही नहीं करना चाहता। मित्र आजीवन नहीं छोड़ा। यहाँ तक कि यह जानने पर कि वह वस्तुतः सारथी पुत्र नहीं बल्कि कुंती और सूर्य का पुत्र है, कर्ण दुर्योधन का साथ नहीं

---

५. द्रौपदी द्वारा युधिष्ठिर के द्यूत-क्रीडा में दांव पर लगाने के औचित्य पर कौरवसभा में प्रश्न उठाने पर भीष्म यही कहते हैं कि मैं इस प्रश्न का विवेचन नहीं कर सकता (सभापर्व ४७-५०/६७)। विवश द्रौपदी को कहना पड़ा कि वह सभा नहीं जहां वृद्ध पुरुष न हों, वे वृद्ध नहीं है जो धर्म की बात न बतावें। न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा न ते वृद्धा ये न वदन्ति धर्मम्। (वही, सभापर्व ५२/६७)

६. महाभारत, भीष्मपर्व ८१/१०७

छोड़ता, किन्तु मां कुन्ती को यह वचन देता है कि अर्जुन के अतिरिक्त वह अपने किसी भाई का वध नहीं करेगा।[७] दानशीलता के कारण वह सहर्ष इन्द्र को कवच-कुण्डल दे देता है। इस तरह कर्ण के मानव-मूल्य एक ओर उसे दुर्योधन का साथ देने पर विवश कर देते हैं दूसरी ओर पाण्डवों के प्रति रणक्षेत्र में उदारता तथा अन्ततः मृत्यु का मार्ग प्रशस्त कर देते हैं।

मानव-मूल्यों से युक्त कौरवों में भी एक 'विकर्ण' का व्यक्तित्व हमारे सामने आता है, जो द्रौपदी चीरहरण का डट कर विरोध करता है और विदुर के तर्क को आगे बढ़ाते हुए दृढ़ता से कहता है कि युधिष्ठिर स्वयं 'दास' हो गये थे तो उन्हें स्वतन्त्र द्रौपदी को दांव पर रखने का अधिकार ही कहाँ था।[८] इस तरह वहाँ विकर्ण अपने भाइयों के विरुद्ध खड़ा हो जाता है; किन्तु कुरुक्षेत्र के मैदान में वही विकर्ण कौरवों की ओर से लड़ते हुए मारा जाता है।

धर्मराज युधिष्ठिर के मानव-मूल्य भी विशिष्ट प्रकार के हैं। सहिष्णुता और धैर्य की मूर्ति युधिष्ठिर धृतराष्ट्र की आज्ञा को सहर्ष स्वीकार कर लाक्षागृह में निवास करते हैं। वहाँ से बच निकलने पर एक बार भी दुर्योधन पर हत्या का आरोप नहीं लगाते, द्यूत-क्रीडा की पराजय और तदनुसार राजत्याग एवं तेरह वर्ष का वनवास स्वीकार कर लेते हैं, किन्तु उनके समस्त मानवीय मूल्य द्रौपदी के साथ न्याय नहीं कर पाते। अनिच्छा से द्रौपदी पांचों भाइयों की पत्नी बनती है। द्रौपदी का दुर्योधन और दुःशासन द्वारा अपमान और चीरहरण के सम्मुख भी अपनी आचार संहिता के कारण युधिष्ठिर कुछ नहीं कर पाते। युधिष्ठिर के मानवीय मूल्य ही उनसे अश्वत्थामा की मृत्यु का असत्य भाषण नहीं करवा पाते।[९]

'महाभारत' में अत्यन्त लोकप्रिय पात्र धनुर्धारी अर्जुन के भी अपने विशिष्ट मानवीय मूल्य हैं। अपने समस्त भाइयों के स्नेह के कारण अर्जुन एक बार भी द्रौपदी के सम्बन्ध में लिए गये निर्णय का विरोध नहीं करते; साथ ही यह भी अनुभव करते हैं कि कहीं न कहीं द्रौपदी के साथ अन्याय हुआ है और इस अन्याय के लिए अर्जुन स्वयं को दोषी भी मानते हैं। अर्जुन का स्वजनों के प्रति यही मोह उन्हें युद्ध से विमुख करता रहता है। भाइयों, पितामह, गुरु तथा अन्य सम्बन्धियों की मृत्यु के मूल्य पर राज्य प्राप्त करना उन्हें किसी भी तरह उचित नहीं लगता है। श्रीकृष्ण के समझाने पर युद्ध करना तो अर्जुन ने स्वीकार किया मगर बीच-बीच में यही मोह उन्हें बार-बार युद्ध से विरत करता रहा है। कर्ण उनका अग्रज था, इस सत्य ने अर्जुन ही नहीं सभी पाण्डवों को धक्का पहुंचाया था। अन्ततः स्वजनों के बिछुड़ने और इसके लिए स्वयं को दोषी मानने की अवधारणा पाण्डवों के मन में बनी ही रही और वे परीक्षित को राज्य सौंपकर पहाड़ों पर गलने चले जाते हैं।

---

७. कर्ण ने कुंती को वचन दिया कि 'किसी भी दशा में तुम्हारे पांच पुत्र अवश्य शेष रहेंगे। यदि अर्जुन मारे गये तो कर्णसहित और यदि मैं मारा गया तो अर्जुनसहित तुम्हारे पांच पुत्र रहेंगे-न ते जातु शिष्यन्ति पुत्राः पञ्च यशस्विनि। निरर्जुनाः सकर्णा वा सार्जुना वा हते मयि॥ वही, उद्योगपर्व २३/१४७

८. वही, सभापर्व के अध्याय ६८ में श्लोक१२ से श्लोक २४ तक विकर्ण का तर्क।

९. वही, द्रौण पर्व ५५/१९०

'महाभारत' के उपर्युक्त पात्र प्रतिभाशाली भी थे और त्यागी भी। फिर भी उनकी मानवता दुविधा से ग्रस्त रही। जिन मूल्यों में वे जीवन बिता रहे थे वे उन्हें स्पष्टतः मार्ग नहीं दिखा पा रहे थे। न्याय और सत्य का मार्ग कौन सा है, धर्म क्या है इसके सम्बन्ध में ये पात्र दुविधाग्रस्त रहते हैं। इन पात्रों से अलग 'महाभारत' में दो चरित्र ऐसे हैं जो हमेशा दुविधा से परे दिखाई देते हैं। ये हैं विदुर और श्रीकृष्ण।

दासीपुत्र विदुर वस्तुतः महर्षि व्यास के पुत्र थे तथा पाण्डु और धृतराष्ट्र के छोटे भाई। यदि योग्यता को आधार बनाया जाता तो निःसन्देह विदुर को राजा बनना चाहिए था; किन्तु दासीपुत्र होने के कारण विदुर पर विचार ही नहीं किया गया। किन्तु विदुर के मन में कहीं से भी 'राजा' बनने की इच्छा नहीं थी। लेकिन उनके मन में सदैव यह कामना रही कि हस्तिनापुर राज्य का अहित न हो। इसलिए जब यह प्रश्न आया कि पाण्डु और धृतराष्ट्र में से किसे राजा बनाया जाये तो विदुर ने स्पष्ट तौर पर राजा को दोषहीन होने का तर्क देते हुए पाण्डु को योग्य ठहराया। पाण्डु की मृत्यु के पश्चात् विदुर सदैव पाण्डवों की रक्षा के प्रति सजग रहे। यह विदुर द्वारा दी गयी सलाह थी जिसके चलते पाण्डवों ने लाक्षागृह जलने से पूर्व ही अपने बच निकलने की व्यवस्था कर डाली थी जिसमें विदुर का पूर्ण सहयोग था।[१०] शकुनि के कपट से परिचित विदुर ने अपनी ओर से भरसक प्रयास किया था कि युधिष्ठिर द्यूत-क्रीडा का निमन्त्रण स्वीकार नहीं करे। इस प्रयास में विदुर सफल नहीं रहे, किन्तु उन्होंने धैर्य नहीं खोया। द्यूत-क्रीडा में द्रौपदी को दांव पर लगाकर दासी बना देने का सबसे पहले भरी सभा में विरोध विदुर ने ही किया।[११] पाण्डव वनवास काल में भी विदुर अपनी ओर से धृतराष्ट्र को समझाते रहे कि पाण्डवों के साथ अन्याय नहीं किया जाये। इस तरह विदुर के मन में कभी दुविधा नहीं रही और अपनी ओर से वह हमेशा पाण्डवहित में लगे रहे। विदुर के क्रिया-कलापों ने राजनीतिक विशारदों को अत्यन्त प्रभावित किया और 'विदुरनीति' भावी राजनीतिज्ञों के लिए प्रेरणा स्रोत बनी।

मानवीय मूल्यों के प्रति संशयरहित स्पष्ट दृष्टि से युक्त प्रतिभाओं का पुंज, सोलह कला अवतार या स्वयं भगवान् माने जाने वाले श्रीकृष्ण ने पूरी गरिमा के साथ मानवीय मूल्य उभर कर सामने आते हैं। वीरता, दानशीलता, दृढ़ प्रतिज्ञारत, सत्यभाषी होना इत्यादि गुण मानवता के लिए बहुत उपयोगी हैं और निःसन्देह प्रशंसनीय है, परन्तु ये गुण स्वयं में मानवता का पर्याय नहीं बन सकते। धर्म या मानवता का वास्तविक अर्थ तो **'परित्राणाय साधूनां विनाशाय व दुष्कृताम्'** ही है। यह दृष्टि श्रीकृष्ण की थी। न्याय की विजय और अन्याय के नाश के लिए उपर्युक्त गुण सहायक बने रहे हों तो अवश्य ही उनका पालन करना चाहिए, किन्तु इससे न्याय पराजित हो रहा हो तो इनका पालन नहीं बल्कि इनका त्याग करना ही धर्म है। श्रीकृष्ण ने ऐसा किया भी और दूसरों से भी ऐसा करने को कहा। 'कालयवन' पर विजय प्राप्त करने के लिए श्रीकृष्ण ने रणक्षेत्र से भागना उचित समझा और मुचकुन्द द्वारा कालयवन का अन्त कराया। जरासन्ध के वध के लिए ब्राह्मण-वेश में अर्जुन और भीम के साथ गये और युद्ध की याचना की तथा भीम को संकेत देकर जरासन्ध का वध करवाया। द्रौपदी-स्वयंवर में

---

१०. वही, आदिपर्व अध्याय १४४ से १४९ तक।

११. वही, सभापर्व अध्याय ६७

कर्ण के भाग लेने पर आपत्ति उठाकर उसे इससे दूर रखा। मोहग्रस्त अर्जुन को युद्ध के प्रति उत्साह दिलाया।[१२] भीष्म से लेकर दुर्योधन की मृत्यु में हर तरह के उपाय प्रयोग में लाने में कोई संकोच नहीं किया। स्वयं भीष्म से उनकी मृत्यु का रहस्य पूछ लिया। द्रोणाचार्य को पुत्र अश्वत्थामा की मृत्यु का झूठा संदेश दिया और इसके लिए युधिष्ठिर से स्पष्ट रूप से कहा कि जहाँ सत्य बोलना अमङ्गलकारी हो और झूठ बोलना मङ्गलकारी हो वहाँ सत्य नहीं बल्कि असत्य बोलना चाहिए।[१३] नि:शस्त्र और कीचड़ से रथ का पहिया निकालने में प्रयासरत कर्ण पर बाण चलाने में अर्जुन हिचक रहे थे तो इस अवसर पर श्रीकृष्ण ने अभिमन्यु-वध का स्मरण दिलाते हुए बाण चलाने को प्रेरित किया था। दुर्योधन की जंघा पर वार करना गदा-युद्ध के नियमों के प्रतिकूल था; किन्तु इसके लिए श्रीकृष्ण के ही उकसाने पर अर्जुन ने भीम को संकेत किया था। इस अवसर पर बलराम के क्रोध को भी श्रीकृष्ण ने शान्त किया था और अभिमन्यु-वध की याद दिलायी थी। पाण्डव-विजय सबसे बड़ा धर्म है, शेष आचरण तो बाह्य उपकरणमात्र है, इस नीति पर चलते हुए श्रीकृष्ण ने अपनी प्रतिज्ञा-भंग होने की चिन्ता भी नहीं की और सुदर्शन-चक्र उठा लिया था। इस तरह न्याय की विजय तथा अत्याचार के नाश के लिए उन्होंने कायर, प्रतिज्ञा भंग करने वाला, छली-कपटी आदि विशेषणों से युक्त हो जाने की चिन्ता नहीं की। उन्हें ये कलंक स्वीकार थे, मगर अपने पक्ष अर्थात् सत्य की पराजय स्वीकार नहीं थी। यही कारण है कि पूरे 'महाभारत' में हमें श्रीकृष्ण कहीं से भी दुविधाहीन दिखाई देते हैं।

श्रीकृष्ण के इस गुण से भीष्म जैसे वीर, त्यागी और दृढ़प्रतिज्ञ व्यक्ति परिचित भी थे और प्रभावित भी। इसीलिए राजसूय-यज्ञ में जब युधिष्ठिर ने सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति के रूप में श्रीकृष्ण को चुना तो भीष्म ने वहाँ उनका तुरन्त समर्थन किया। इस सम्बन्ध में शिशुपाल द्वारा उठायी गयी आपत्तियों का सटीक उत्तर भीष्म द्वारा ही दिया गया। श्रीकृष्ण की इस प्रतिभा से अर्जुन तो अच्छी तरह से परिचित थे, इसलिए विना किसी संकोच के उन्हें नि:शस्त्र श्रीकृष्ण पूरी नारायणी सेना से ज्यादा उपयोगी लगे, क्योंकि अस्त्र-शस्त्रों का भण्डार एवं उनके संचालन की क्षमता तो पाण्डवों के पास थी, किन्तु विजय के लिए जिस मस्तिष्क की आवश्यकता होती है, वह श्रीकृष्ण के पास था।

इस तरह विश्व के प्राचीनतम यथार्थवादी महाकाव्यों में से एक 'महाभारत' में मानव-मूल्यों के विविध आयाम हैं। इनके विविध आयाम ही दिखाते हैं कि रचनाकार को यह ज्ञात था कि मानव-मूल्य समाजनिरपेक्ष नहीं होते और न ही देशकाल से परे इनकी विशेद व्याख्या की जा सकती है। व्यक्ति किस कार्य को उचित और किसे अनुचित समझ रहा है, यह उस व्यक्ति के परिवेश और उसके आधार पर उचित/अनुचित सम्बन्धी अवधारणा पर निर्भर करता है। मानव-मूल्यों की एकदम स्पष्ट संशयरहित व्याख्या सम्भव होती तो सम्भवत: 'महाभारत' का युद्ध नहीं होता, परन्तु ऐसी घटना उस काल में भी हुई थी और आज तक इनका अपमान नहीं हो सका है। जीवन के कुरुक्षेत्र में हर व्यक्ति उतरता है। पुत्रमोह में अंधे हुए धृतराष्ट्रों का यही प्रश्न होता है कि धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्र में

१२. वही, भगवद्गीतापर्व
१३. वही, द्रौणपर्व ४७/१९०

कौन मेरे पुत्र के साथ है और कौन पाण्डवों के साथ। मानवता के प्रति दुविधा ही भाई को भाई के विरूद्ध, शिष्य को गुरु के विरुद्ध और यहाँ तक कि पितामह को पौत्र के विरुद्ध खड़ी कर देती है। इस यथार्थ को समझते हुए समस्या का समाधान ढूंढ़ना ही हमारे युग का कार्यभार है।

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २००९ अङ्क ११ (पृ०१८३-१९३)

डॉ० हरिनारायण दीक्षित-विरचित 'पशुपक्षिविचिन्तनम्': एक समीक्षात्मक परिचय

प्रो० किरण टण्डन[1]

हमारा समस्त भारतीय संस्कृत-वाङ्मय इस बात का साक्षी है कि **'अहिंसा परमो धर्मः'** का सिद्धान्त भारतीय संस्कृति का मूलमन्त्र है। हमारी भारतीय संस्कृति एक मानव को दूसरे मानव के प्रति ही नहीं, अपितु मानवेतर प्राणियों अर्थात् पशु-पक्षियों के प्रति भी प्रेम और दया का भाव धारण करने की शिक्षा देती है। तदनुसार मनसा, वचसा और कर्मणा किसी भी प्राणी को पीड़ा न पहुंचाना अहिंसा है। इस प्रकार सभी प्राणियों के प्रति प्रेम का भाव, दया और करुणा का भाव ही सहृदय मानव के मन में अहिंसारूप उस महाव्रत के पालन की प्रेरणा भर देता है, जो भारतीय मनीषियों द्वारा मान्य पञ्चमहाव्रतों में प्रमुख है। इस महाव्रत को अपनाने की शिक्षा तो सर्वप्रथम हमें हमारे वैदिक साहित्य में ही उपलब्ध हो जाती है। मन्त्रद्रष्टा ऋषि से प्रार्थना करते हैं :-

यः पौरुषेयेण कविषा समङ्क्ते यो अश्व्येन पशुना यातुधानः।
यो अघ्न्याया भरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षाणि हरसापि वृश्च॥[2]

अर्थात् हे अग्ने! जो राक्षस अश्वादि पशुओं का मांस खाकर पुष्ट होता है; जो दुष्ट अवध्य (गौ, भैंस और अलक्षण से आदि) के दूध को नष्ट करता है, ऐसे सभी दुष्टों के शिरों को अपनी शक्ति से काट डालो।

इस वैदिक मन्त्र का अनुशीलन करने से दो बातें पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है- (एक) हिंसा का आचरण करने वाले क्रूरमना व्यक्ति दण्डनीय है; तथा (दो) समाज के लिए उपयोगी निरपराध गौ, अश्वादि पशु अवध्य हैं।

हमारी लौकिक-संस्कृत-साहित्य-रूप-गङ्गा का तो प्रादुर्भाव ही निरपराध प्राणियों पर, मांसाहारियों और आखेटकों द्वारा किए जाने वाले अत्याचार को देखकर, मर्मान्तक पीड़ा से भर जाने वाले आदि कवि ऋषि वाल्मीकि के हृदय-रूप-हिमालय से हुआ था-

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥[3]

इस प्रकार जब हम अपने वैदिक एवं लौकिक संस्कृत साहित्य एवं प्राचीन भारत के इतिहास का अनुशीलन करते हैं तो ज्ञात हो जाता है कि हमारे लोकनायकों ने दया-करुणा से मिश्रित अहिंसा को अपना परम धर्म माना और हमारे सहृदय साहित्यकारों के सुकुमार हृदय में, निरपराध पशु-पक्षियों के वध को देखने से उत्पन्न शोक ने ही श्लोक का (अर्थात् काव्य का) रूप धारण कर लिया-

---

१. प्रोफेसर, संस्कृत-विभाग, कुमाऊं विश्वविद्यालय, नैनीताल (उत्तराखण्ड)
२ अथर्ववेद, ८/३/१५)
३ वाल्मीकिरामायण, १/२/१५

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥[४]

काव्यनायकों के हृदय में, आक्रान्ताओं के आक्रमण से भयभीत पशुपक्षियों की पीड़ा से उत्पन्न दयाभाव ने इन नायकों को निरपराध पशु-पक्षियों की रक्षा-सुरक्षा के लिए तत्पर कर दिया। यही कारण है कि (क) आक्रान्ता बाज के आक्रमण से भयभीत हुए और शरण में आए हुए कबूतर की रक्षा के लिए उशीनर नरेश राजा शिवि ने अपना शरीर ही, बाज के समक्ष समर्पित कर दिया था।[५] (ख) सिंह के आक्रमण से कातर हुई, महर्षि वशिष्ठ की होमधेनु नन्दिनी की रक्षा के लिए सूर्यवंश शिरोमणि राजा दिलीप ने अपने-आपको मांस-पिण्ड की भांति सिंह के सम्मुख प्रस्तुत कर दिया था।[६] उनकी सेवाभावन से सन्तुष्ट एवं परमप्रसन्न नन्दिनी गौ द्वारा दूध पीने का आदेश दिए जाने पर, उन्होंने स्पष्ट कर दिया था कि वह नन्दिनी के बछड़े के दूध पी लेने के बाद तथा यज्ञादि धार्मिक अनुष्ठानों के सम्पन्न हो जाने के बाद बचे हुए उसके दूध को, सन्तानप्राप्ति की कामना से, ऋषि की आज्ञा से ही ग्रहण करेंगे।[७] (ग) रघुवंशी राजा अज ने भी उपद्रवी जंगली हाथी को अवध्य मानकर, उसके मस्तक पर, अपने धनुष को खींचकर, बाण का हल्का प्रहार इस प्रकार किया ताकि वह जीवितावस्था में ही जंगल लौट जाए।[८] (घ) राक्षसराज रावण से जनकनन्दिनी सीता की रक्षा करने के लिए कटिबद्ध फलस्वरूप अपने प्राणों की आहुति दे देने वाले गृध्रराज जटायु की मृत्यु से शोकाकुल राम और लक्ष्मण ने उनको अपने पिता के समान ही श्रद्धेय मानकर उनका और्ध्वदैहिक संस्कार, श्रद्धापूर्व विधि-विधान से किया था[९] और (ङ) गरुड़ के आक्रमण से लुप्तप्राय हो रही सर्पजाति की सुरक्षा की दृष्टि से, सर्प-परिवार के एक बालक के बदले, गरुड़ के समक्ष अपने-आपको प्रस्तुत कर देने वाले राजा जीमूतवाहन ने अपनी इस दयावीरता से धीरोदात्ततम नायक की पदवी प्राप्त की थी।[१०]

संस्कृत साहित्य के माध्यम से हमें यह ज्ञात हो जाता है कि पशु-पक्षियों के आखेट से अपनी हिंसात्मक वृत्ति को सन्तुष्ट करने वाले राजाओं को तपोधन ऋषियों ने मर्यादित किया था। उदाहरणस्वरूप-हस्तिनापुर नरेश दुष्यन्त को, महर्षि कण्व के आश्रम परिसर में निश्चिन्त विचरते हुए मृग को मारने से विरत करते हुए तपस्वियों ने यह भी समझा दिया कि उनका शस्त्रधारण करना तो पीड़ितों की रक्षा के लिए है, निरपराध प्राणियों को मारने के लिए नहीं; और आश्रमपरिसर के प्राणियों पर प्रहार करने के लिए तो बिल्कुल ही नहीं-

भो राजन्! आश्रममृगोऽयम्। न हन्तव्यो न हन्तव्यः।

---

४ ध्वन्यालोक, १/५)

५ महाभारत, वनपर्व, १२९/२१-२४; अध्याय १३० तथा अध्याय १७७।

६ रघुवंश २/५९

७ वही, २/६६

८ वही, ५/५०

९ रघुवंश, १२/५६

१० नागानन्द नाटक, चतुर्थ अंक एवं पञ्चम अंक; दशकरूपक, २/कारिका ४ के पूर्वार्ध एवं ५ के उत्तरार्ध की व्याख्या

तत्साधुकृतसन्धानं प्रतिसंहर सायकम्।
आर्तत्राणाय वः शस्त्रं न प्रहर्तुमनागसि॥[११]

संस्कृत साहित्य तो इस बात का भी साक्षी है कि यहाँ के तपस्वियों ने तो अपने तप के प्रभाव से तपोवनों का ऐसा पर्यावरण बना दिया था, जिसने मनुष्य तो मनुष्येतर प्राणियों के प्रति ममत्व रखते ही थे, एक-दूसरे की जान के जन्मजात दुश्मन बने हुए पशु-पक्षी भी अपने पारस्परिक स्वाभाविक वैरभाव को भूलकर प्रेमभाव से रहते थे-

अहो प्रभावो महात्मनाम्। अत्र हि शाश्वतिकमपहाय विरोधमुपशान्तात्मानस्तिर्यञ्चोऽपि तपोवनवसतिसुखमनुभवन्ति।[१२]

इस प्रकार मनुष्यों के लिए उपयोगी पशु-पक्षियों के प्रति दयाभाव रखने, उनकी रक्षा-सुरक्षा का प्रयास करने और उनके प्रति वात्सल्यभाव धारण करने की भी प्रेरणा भारतीय संस्कृति, भारतीय वाङ्मय के माध्यम से देती है। हमारे संस्कृत साहित्यकारों ने तो पशु-पक्षियों के प्रति दयाभाव रखने के अतिरिक्त उन्हें इतना प्रेम दिया है; इतना महत्त्व दिया है कि उन्हें अपने काव्य का सत्पात्र ही बना दिया है। सभी आस्तिक भारतवासी जानते हैं कि काकभुशण्डि और गरुड़ तो ऐसे भक्तशिरोमणि पात्र हैं, जो रामकथा का श्रवण-मनन-व्याख्यान करते हैं; हिरन, कछुआ, चूहा, कौआ, तोता आदि पशु-पक्षी पञ्चतन्त्र, हितोपदेश, शुकसप्तति आदि कथाकाव्यकृतियों के ऐसे प्रमुखपात्र हैं, जो कथाओं के माध्यम से मानवों को सन्मार्गोन्मुख करने में समर्थ हैं; और मुनियों के समान आचरण करने वाला राजहंस निषधनरेश राजा नल की 'मनमानी' की भर्त्सना करते हुए, उन्हें उनके आचरण पर शर्मिन्दा होने के लिए मजबूर कर देता है:-

फलेन मूलेन च वारिभूरुहां मुनेरिवेत्थं नाम यस्य वृत्तयः।
त्वयाद्य तस्मिन्नपि दण्डधारिणा कथं नु पत्या धरणी हृणीयते?[१३]

इस सन्दर्भ में इस युग के प्रख्यात हिन्दी साहित्यकार मुंशी प्रेमचन्द की कहानी **'दो बैलों की जोड़ी'** के प्रमुख पात्र हीरा-मोती नामक दो बैलों को याद करना भी अप्रासंगिक न होगा, जो अपनी चेष्टाओं से सहृदय पाठकों को द्रवित करने में समर्थ हैं।

आधुनिक संस्कृत-साहित्यकारों में अपनी कालजयी कृतियों के लिए विशिष्ट स्थान पर प्रतिष्ठित महाकवि डॉक्टर हरिनारायण दीक्षित, प्राक्तन प्रोफेसर एवं संस्कृत-विभागाध्यक्ष तथा प्राक्तन अधिष्ठाता कला-सङ्काय, कुमाऊं विश्वविद्यालय, नैनीताल (उत्तराखण्ड) द्वारा विरचित एवं ईसवीय सन् २००८ में ईस्टर्न बुक लिंकर्स दिल्ली-७ से प्रकाशित **'पशुपक्षिविचिन्तनम्'** नामक खण्डकाव्य भी वर्तमान युग में हिंसक प्रवृत्ति वाले मनुष्यों द्वारा मनुष्येतर प्राणियों पर किये जा रहे अत्याचारों से द्रवीभूत होने वाले कवि के हृदय में विद्यमान करुणा, दया,

---

११ अभिज्ञानशाकुन्तमलम्, १/११ एवं संवाद
१२ कादम्बरी, कथामुखभाग।
१३ नैषधमहाकाव्य, १/१३३

ममता आदि का मूर्त्तरूप है।

डॉक्टर दीक्षित के इस खण्डकाव्य को एवं उनके द्वारा लिखी गई इस खण्डकाव्य की पृष्ठभूमि को पढ़ने से, अपने जीवन में अनेक बार देखी गई और अनुभूति का विषय बनी हुई जीवहत्या की अनेक घटनाएं मेरे स्मृतिपटल पर फिर से ताजा हो गईं। मैं सोचने पर विवश हो गई हूं कि मांसलोलुप मानव और मांसविक्रेता व्यापारी अपने स्वार्थ के लिए भगवान् और व्यापार के नाम पर कैसा अनर्थ कर रहे हैं? जिह्वालोलुप मांसाहारियों तथा धनलोलुप व्यापारियों की क्रूरतापूर्ण अदूरदर्शिता का ही यह दुष्परिणाम सामने आया है कि हमारी धरती माता की गोद से पशुओं और पक्षियों की दुर्लभ जातियां-प्रजातियाँ नष्ट हो चुकी हैं; अथवा नष्ट हो रही हैं।

मनुष्येतर प्राणियों पर मनुष्यों द्वारा किए जा रहे अत्याचारों को देखकर सहृदय व्यक्ति का द्रवीभूत हृदय तब आश्चर्यमिश्रित दु:ख से और भी द्रवित हो जात है, जब वह देखता है कि क्रूर मनुष्य अपरिचित जानवरों के समान ही, अपने काम-आने वाले, पालतू जानवरों पर भी अत्याचार करने में तनिक भी नहीं हिचकता। ऐसी ही मर्मस्पर्शी घटनाओं से द्रवित हृदय वाले, डॉ० दीक्षित ने अपने इस खण्डकाव्य की पृष्ठभूमि में अपने इस निश्चय को स्पष्ट किया है कि वह निरीह पशुओं पर हो रहे अत्याचारों से उत्पन्न अपनी मानसिक व्यथा को काव्य के माध्यम से व्यक्त करते हुए, मनुष्यों में मनुष्यता का परिष्कार करेंगे। **भारतमाता ब्रूते-राधाचरितम्-श्रीग्वल्लदेवचरितम्** नामक तीन महाकाव्यों की रचनारूप बृहद्-परियोजना को पूरा कर लेने के पश्चात् जब वह अपने उपर्युक्त निश्चय को मूर्त्तरूप देने के लिए तत्पर हुए, तब उन्होंने विचार किया कि हिंसक प्रवृत्ति वाले लोग तो पशुओं के समान ही निरपराध पक्षियों पर अत्याचार करने एवं उनका मांसभक्षण करने से भी नहीं चूकते। इसलिए उन्होंने इस खण्डकाव्य में पशुओं के प्रति अपनी चिन्ता के समानान्तर ही पक्षियों के प्रति भी अपनी चिन्ता को व्यक्त करने का निश्चय किया। किन्तु इस खण्डकाव्य को पढ़ने से पूर्व डॉ० दीक्षित की अन्य रचनाओं को भी मैं पढ़ चुकी थी और मैंने अनुभव किया था कि इन रचनाओं के रचनाकाल में भी कवि के हृदय में पशु-पक्षि-विषयक-चिन्ता विद्यमान थी। उपर्युक्त महाकाव्यों में उपलब्ध एतद्विषयक पद्य इस तथ्य के प्रमाण हैं। यथा- **'भारतमाता ब्रूते'** महाकाव्य में मनुष्यों द्वारा पशुपक्षियों पर किए जा रहे अत्याचारों एवं उनके मांसभक्षण रूप अपराध को अधोलिखित पद्यद्वय में कवि ने अभिव्यक्त किया है-

क्वचित्पशूनां च निरागसामपि त्वगस्थिमांसादि-जिघृक्षया जना:।
कुर्वन्ति हत्यां कपटेन निर्दयं मनुष्यताया नमयन्ति चाननम्॥
क्वचित्कपोतां च बकां च वर्तकान् क्ववचिन्मयूरानपि तित्तिरान् क्वचित्।
शुकान् पिकां चापि च कुक्कुटान् क्वचिन्मांसाय निघ्नन्ति खला: खगानपि॥ [१४]

'श्रीग्वल्लदेवचरितम्' महाकाव्य में भी उन्होंने खेदमिश्रित आश्चर्य व्यक्त किया है कि बहुत-सी दालें और अनेक प्रकार के शाकों के होते हुए भी इस भारत मैं, बहुत से लोग मांस खाते हैं-

सतीषु सूपासु विभिन्नजातिषु शाकेषु चानेकविधेषु सत्स्वपि।

---

१४ भारतमाता ब्रूते १५/८८-८९

आ चर्य्यमेतद् यदिहापि भारते मांसानि खादन्त्यधिख्यमानवा:॥[१५]

किन्तु वह इस विषय में भी आश्वस्त हैं कि अपने अन्त:करण की प्रेरणा एवं सत्संगति के फलस्वरूप अधिकांश मांसाहारी मांस खाना छोड़ सकते हैं-

परन्तु तेष्वेव भवन्ति केचन स्वत: प्रबोधादथवा सुसङ्गते:।
विचार्य्य मत्वा च जघन्यकोटिकं तद्धे त्यजन्तीह च मांसभक्षणम्॥[१६]

डॉ० दीक्षित की काव्यकृतियों से उद्धृत उपर्युक्त उदाहरणों को समझने तथा प्रस्तुत खण्डकाव्य को देखने और समझने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वे अपने काव्य के माध्यम से, मनुष्यों द्वारा पशुओं और पक्षियों पर किए जा रहे अत्याचारों को देखकर अपने हृदय में उनके प्रति होने वाली चिन्ता से सामान्यजनमानससहित प्रशासक वर्ग को अवगत ही नहीं कराना चाहते, अपितु दया-ममतापूर्वक इस समस्या का निदान करने के लिए प्रेरित भी करना चाहते हैं। इसीलिए उन्होंने इस खण्डकाव्य का नाम **'पशुपक्षिविचिन्तनम्'** रखा है।

इस खण्डकाव्य को कविवर डॉ० दीक्षित ने दो भागों में विभक्त किया है- (एक) पशुविचिन्तनात्मक-पूर्वार्द्ध तथा (दो) पक्षिविचिन्तनात्मक-उत्तरार्द्ध; प्रत्येक भाग में १९० पद्यों की रचना की है; तथा अन्त में छ: पद्यों में अपना संक्षिप्त परिचय भी दिया है। इस प्रकार इस खण्डकाव्य में ३८६ (तीन सौ छियासी) पद्य हैं; जिन्हें कवि ने सुपरिचित छन्दों में निबद्ध है।

काव्य के पूर्वार्द्ध में सर्वप्रथम कवि ने भारतवर्ष की सांस्कृतिक परम्परा के अनुरूप श्रीगणेश, श्रीसरस्वती, भगवान् शंकर, पक्षिराज गरुड़, कवि के गुरुदेव और कवि की माता को सादर प्रणाम करते हुए उनसे काव्य-की निर्विघ्न रचना का सामर्थ्य चाहा है। इसके बाद उन्होंने इसके पूर्वार्द्ध में एक गांव में परिवार सहित रहने वाले, चिकित्सा से आजीविका का प्रबन्ध करने वाले, यशस्वी और विद्वान् वैद्य विद्याधर का जड़ी-बूटियों को एकत्र करने के लिए अपने गांव के पास के जंगल में जाना, वहाँ पर अनेक जड़ी-बूटियों को एकत्र करना, भटकते हुए एक कमल-सरोवर के समीप पहुंचना, वहाँ जल पीकर विश्राम करने का विचार करना, तभी उन्हें सरोवर के दूसरे तट पर पशुओं का झुण्ड दिखाई देना, उसी तट पर जाकर पशुओं की सभा को देखना, सभापति के रूप में हाथी को देखना, हाथी की प्रेरणा से मनुष्यों द्वारा सताए गए, तृणजीवी और अहिंसाप्रिय भैंसे, बैल, ऊंट, घोड़े, गधे, बकरे, भेड़, मृग, खरगोश आदि पशुओं द्वारा मनुष्यों के, उन पर होने वाले अत्याचारी का वर्णन करते हुए सभापति हाथी से इस समस्या का निदान करने की प्रार्थना करना, उन पशुओं के कष्टों को सुनकर दु:खी सभापति पद पर आसीन हाथी द्वारा उन पशुओं की बातों का समर्थन करना, मांसाहारी, मांसविक्रेता, पशुबलि के समर्थक पुरोहितादि की भर्त्सना करना, मनुष्यों द्वारा किये जा रहे अत्याचारों को सहने को मजबूर हो जाना, इस महान् संकट को दूर करने के लिए भगवान् गणेश से प्रार्थना करने रूप उपाय को अपनाने की प्रेरणा देकर, अध्यक्षीय भाषण के पश्चात् पशुओं को विदा कर देना, पशुओं की सभा में उनकी व्यथा की कथा को सुनकर विद्याधर वैद्य

---

१५ श्रीग्वल्लदेवचरितम् ११/४६
१६ श्रीग्वल्लदेवचरितम् ११/४७

का व्यथित होना तथा पशुओं का हित-चिन्तन करते हुए अपने घर को लौट आना- आदि घटनाओं का वर्णन किया है।

काव्य के उत्तरार्द्ध में कवि ने पुनः विद्याधर नामक वैद्य का एक दिन विश्राम करके तीसरे दिन पुनः जड़ी-बूटियों का संग्रह करने के लिए उसी जंगल में जाना, जड़ी-बूटियों का संग्रह करना, अपनी प्यास बुझाने के लिए उसी सरोवर पर पहुंचना, वहाँ जल पीकर तटवर्त्ती नीम के पेड़ के नीचे विश्राम करना, इसी बीच बहुत से पक्षियों की आवाजें सुनना, समीपवर्ती बरगद के पेड़ पर, पक्षिराज गरुड़ की अध्यक्षता में आयोजित की जा रही पक्षियों की सभा को देखना, पक्षिराज गरुड़ की प्रेरणा से मोर, तोते, कबूतर, मुर्गे, तीतर, बटेर, गौरैया आदि पक्षियों द्वारा, मनुष्यों द्वारा उन्हें दी जा रही यातनाओं का वर्णन करते हुए अपनी रक्षा की प्रार्थना करना, उनकी वेदनाओं को सुनकर दुःखी मन वाले सभाध्यक्ष पक्षिराज गरुड़ द्वारा, अहिंसक पक्षियों के प्रति हिंसकवृत्ति वाले मनुष्यों की निन्दा करना, मनुष्यों की इस हिंसकवृत्ति के दुष्परिणामों के प्रति चिन्तित होना, पक्षियों की जातियों के नष्ट हो जाने की आशङ्का से भयभीत होना, कुशिक्षा और कुशासन के वातावरण के पनपने से खिन्न होना, अत्याचारी मनुष्यों पर क्रुद्ध होकर उन्हें दण्ड देने की इच्छा रखना, आसुरी प्रवृत्ति के इन मनुष्यों को अनुशासित करने के लिए भगवान् विष्णु को ध्यान करते हुए उन पर भरोसा रखने की सलाह देना, गरुड़ जी के वचनों को सुनकर पक्षियों की सभा का विसर्जित होना, पक्षियों की सभा को देखकर और मर्मान्तक व्यथा से युक्त उनके वक्तव्यों को सुनकर दुःखी विद्याधर का अपने घर जाना, पशुओं और पक्षियों की वेदना को दूर करने का उपाय सोचना, आठवें दिन पशु-पक्षियों के दुःखों को व्यक्त करने के लिए महामहिम राष्ट्रपति के पास पत्र भेजने का निश्चय करना, अपने पत्र में पशु-पक्षियों के दुःखों को बताते हुए उनकी रक्षा-सुरक्षा की प्रार्थना करते हुए उस पत्र को राष्ट्रपति जी के पास भेज देना- आदि घटनाओं का क्रमशः वर्णन किया है।

अन्त में 'संक्षिप्तः कवि परिचयः' शीर्षक में अपनी जन्मभूमि, अपने माता-पिता के नामोल्लेखपूर्वक अपना परिचय देते हुए डॉ॰ दीक्षित ने इस काव्य के माध्यम से पशु-पक्षियों की हिंसा रुकने और उनके सुखपूर्वक जीवित रहने की शुभकामनारूप अन्त्य मङ्गल से अपने काव्य की इतिश्री कर दी है।

कविवर डॉ॰ दीक्षित द्वारा अपनी इस कृति को खण्डकाव्य की कोटि में रखा गया है। काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में खण्डकाव्य का जो स्वरूप बताया गया है,[१७] तदनुसार खण्डकाव्य ऐसा लघुप्रबन्धकाव्य है, जिसकी कथावस्तु ऐतिहासिक अथवा काल्पनिक हो सकती है; जिसमें भारतीय संस्कृति में मान्य चार पुरुषार्थों में से किसी एक की सिद्धि होती है; जिसमें अनेक रस अथवा एक ही रस की पूर्ण अभिव्यक्ति होती है; तथा जिसमें महाकाव्य के लिए मान्य विशेषताओं में से कुछ ही विशेषताएं उपलब्ध होती हैं। डॉ॰ हरिनारायण दीक्षित प्रणीत **'पशुपक्षिविचिन्तनम्'** को खण्डकाव्य के लिए मान्य उपर्युक्त मानदण्डों की दृष्टि से परखने पर सुस्पष्ट हो जाता है कि यह उत्कृष्ट कोटि का खण्डकाव्य है:-

१. **'पशुपक्षिविचिन्तनम्'** का कथानक काल्पनिक है; तथा उसमें विद्यमान घटनाएं अल्प-समय में

---

१७ रुद्रट, काव्यालङ्कार, १६/२, ६; विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, ६/३२९

अर्थात् ग्यारह दिनों में घटित हो जाती है।

२. इस खण्डकाव्य के माध्यम से पशु-पक्षियों की रक्षा रूप धर्म-पुरुषार्थ की सिद्धि के सेवन एवं सिद्धि का सत्प्रयास किया गया है:-

त्वया प्रभो! तत्पशु-पक्षि-हिंसा विधीयमाना बहुधा मनुष्यैः।
निषेधनीया च समापनीया येनात्र भूयान्मनुजत्वरक्षा॥ [१८]

३. इस खण्डकाव्य में भक्तिरस, भक्तिरसाभास, रौद्ररसाभास, वत्सलरसाभास से परिपुष्ट, कविनिबद्धवक्तृप्रौढ़ोक्ति नामक आर्थी ध्वनि से अभिव्यञ्जित, दयावीररस अङ्गीरस के रूप में सहृदय मनीषियों को आह्लादित करने वाला है। इस रस का आश्रय विद्याधर नामक वैद्य हैं; आलम्बन-विभाव निरपराध पशु-पक्षी हैं; मांसाहारियों की मांस-लोलुपता, व्यापारियों की धनोपार्जन-लालसा, पालतू पशु-पक्षियों के प्रति भी क्रूरवृत्ति रखना आदि उद्दीपन-विभाव है; पशु-पक्षियों के लिए अभय का वातावरण बनाने के उपाय करना अनुभव है; शङ्का, दैन्य, चिन्ता, जड़ता, विषाद, धृति, मति आदि व्यभिचारि भाव हैं; तथा पशुओं की पीड़ा को देखकर हृदय में उत्पन्न, दयाभावपूर्वक उनकी रक्षा के उपाय की शीघ्रातिशीघ्र क्रियान्वित करना रूप उत्साह स्थायी भाव है।

४. चिकित्सा से जीवन-यापन करने वाले, आलस्य छोड़कर, भेद-भाव भूलकर, लोभ-मोह त्यागकर अपनी औषधियों से मनुष्यों के ही नहीं, पशु-पक्षियों की भी चिकित्सा करने वाले, पक्षियों की भाषा समझने वाले, प्राणियों का हितचिन्तन करने वाले, अच्छे-बुरे का विवेक रखने वाले तथा नीतिज्ञ विद्याधर नामक वैद्य को कवि ने खण्डकाव्यकृति के, मानववर्ग के एकमात्र प्रमुख पात्र के रूप में बहुत सोच-समझकर चुना है। क्योंकि विद्वान् चिकित्सक शारीरिक रोग की चिकित्सा करने के साथ-साथ आसुरी-प्रवृत्ति जैसे मानसिक रोग की चिकित्सा भी कर सकता है तथा मनुष्येतर प्राणियों की भाषा को समझने वाला ही उनकी आर्त्तपुकार को समझकर उनके दुःखों को आसानी से दूर कर सकता है। इसके अतिरिक्त हाथी, भैंसा, बैल, ऊंट, अश्व, गधा, बकरा, भेड़, मृग, खरगोश आदि पशु तथा गरुड़, मोर, तोता, कबूतर, मुर्गा, तीतर, बटेर, गोरैया, सारस, बगुला आदि पक्षी- इस रचना के मानवेतर वर्ग के पात्र हैं।

५. इस काव्य के कलेवर एवं विषयवस्तु के अनुरूप किया गया सरोवर-वर्णन आदि कवि के वर्णन-कौशल का परिचायक है।[१९]

६. कवि ने अपनी इस खण्डकाव्यकृति के पद्यों को अनुष्टुप्, आर्या, गीति, आर्यागीति, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा की उपजाति, वंशस्थ, इन्द्रवज्रा, वंशस्थ और इन्द्रवज्रा की उपजाति, द्रुतविलम्बित, भुजङ्गप्रयात, तोटक, वसन्ततिलका, मन्दाक्रान्ता, शार्दूलविक्रीडित-नामक सोलह प्रचलित छन्दों में निबद्ध किया है। इसके अतिरिक्त कुछ पद्यों को ग्यारह वर्ण वाले इन्द्रवज्रा एवं उपेन्द्रवज्रा और बारह वर्ण वाले वंशस्थ तथा इन्द्रवज्रा छन्दों के मिश्रित रूप में भी निबद्ध किया है।

---

१८ पशुपक्षिविचिन्तनम् २/१८०

१९ पशुपक्षिविचिन्तनम् १/१७-१९/३।

७. यह खण्डकाव्यकृति अनुप्रास, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, यथासंख्य, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यासादि रसोपकारक अलङ्कारों से सुसज्जित है। वीणापाणि माता सरस्वती की वन्दना में अनुप्रास, उपमा एवं रूपक की सुन्दर संसृष्टि द्रष्टव्य है-

वन्दे गिरं च जलजासनशोभमानां कुन्देन्दुदुग्धधवलां रस-भावगङ्गाम्।
वीणास्वरैर्जनमनोजडतां हरन्तीं काव्याङ्कुरं कविमनोभुवि चैधयन्तीम्॥ [२०]

अर्थान्तरन्यास अलङ्कार का सार्थक प्रयोग इस काव्य को सहृदयहृदयगम्य बनाने में समर्थ है। यथा-

इत्थमुक्त्वा कपोतोऽसौ मनस्वी व्यरमत्सुधी:।
सभायां सीमितं वाच्यं तिष्ठत्सु बहुवक्तृषु॥ [२१]

८. अपनी अन्य काव्यकृतियों की भांति इस काव्य को भी डॉ० दीक्षित जी ने माधुर्य-प्रसादगुणसम्पन्न वैदर्भी शैली के माध्यम से ही प्रस्तुत किया है। उन्होंने काव्य को सर्वग्राह्य बनाने के लिए काव्य की भाषा को सुभाषितरत्नों से सजाया है; और हिन्दी तथा अंग्रेजी भाषा के- तांगा, ट्रेक्टर, सीमेण्ट आदि शब्दों के प्रयोग से भाषा को प्रवाहमयी भी बना दिया है। उन्होंने इस काव्य में 'जीवहिंसा और उसको रोकने के उपाय' विषय पर पशुओं और पक्षियों की संगोष्ठियों का वर्णन करके तथा विद्याधर वैद्य के द्वारा इन संगोष्ठियों में सुनी गई पशु-पक्षियों की व्यथा की कथा को पत्र के माध्यम से देश के राष्ट्रपति के पास भिजवाने का वर्णन करके विषयवस्तु को और भी अधिक मर्मस्पर्शी तथा रोचक बना दिया है।

डॉ० दीक्षित प्रणीत **'पशुपक्षिविचिन्तनम्'** खण्डकाव्य के काव्यशास्त्रीय मानदण्डों को तो पूरा करता ही है; हमें सुसंस्कृत मानव बनने की प्रेरणा भी देता है। इसके माध्यम से कवि ने हमें ऐसे सन्देश दिए हैं, जिन्हें हमें अनदेखा नहीं करना चाहिए। यथा-

(क) यह पाञ्चभौतिक प्रकृति सभी प्राणियों को उत्पन्न करने के कारण सबकी जननी मानी गई है; और सभी प्राणियों का पालन-पोषण करने के कारण सबकी माता मानी गई है। अत एव इसमें जन्म लेने वाले सभी प्राणियों को जीवित रहने का समान अधिकार है।[२२]

(ख) कवि ने पशुओं की रक्षा के लिए भगवान् श्रीगणेश[२३] को तथा पक्षियों की रक्षा के लिए भगवान् श्री विष्णुजी[२४] को याद करके ईश्वरीय शक्ति के प्रति अपनी आस्था व्यक्त की है।

(ग) पशु-पक्षियों की रक्षा के लिए देश के राष्ट्रपति को ही भगवान् गणेश और भगवान् विष्णु का रूप धारण करने का निवेदन करके कवि ने प्राचीन भारतीय संस्कृति और राजनीति की यह मान्यता भी स्पष्ट कर दी है

---

२० पशुपक्षिविचिन्तनम् १/३
२१ पशुपक्षिविचिन्तनम् २/४०
२२ पशुपक्षिविचिन्तनम् २/७१-७२
२३ पशुपक्षिविचिन्तनम् १/१७८-१८४
२४ पशुपक्षिविचिन्तनम् २/१३३-१४२

कि शासक में सभी देवताओं के अंश होते हैं, इसलिए उसे लोकरक्षक, सत्कर्म-प्रेरक, प्रजा-पोषक एवं आह्लादक होना ही चाहिए।[२५]

(घ) कविवर डॉ० दीक्षित की दृष्टि में पशु-पक्षियों को मारकर उनके मांस से अपनी स्वादेन्द्रिय को तृप्त करने के अतिरिक्त, उनके मांस, चमड़ी, हड्डी, दांत, बाल, पंखादि अवयवों का व्यापार करके धन कमाना भी सर्वथा हेय है; अक्षम्य अपराध है; सबसे बड़ा पाप है। क्योंकि ऐसा करके तो वे मांसाहार करने वाले राक्षसों से भी अधम हो जाते हैं।[२६] सृष्टिकर्त्ता विधाता की इस अद्भुत और सुन्दर सृष्टि में साग, दालादि स्वादिष्ट खाद्यपदार्थों की पर्याप्त उपलब्धता के बावजूद पशुपक्षियों के मांस को खाना;[२७] सुख-सुविधा के बहुत से साधन उपलब्ध होने के बावजूद आने शौक पूरा करने के लिए घोड़े के पैरों में लोहे की नाल ठुकवाना;[२८] मृग की नाभि से कस्तूरी को निकालकर उसका व्यापार करना;[२९] अपने मनोरंजन के लिए तोता-मैना को सताना[३०] आदि मनुष्यों के निन्दनीय कृत्य हैं।

(ङ) वैद्य-विद्याधर के माध्यम से कवि ने स्पष्ट कर दिया है कि एक चिकित्सक को, लोभ-मोह-स्वार्थ-भेदभाव से दूर रहकर, समाज के प्रत्येक प्राणी की चिकित्सा करनी चाहिए।

(च) माता-पिता एवं गुरुजनों का भी परम कर्त्तव्य है कि वे बच्चों को अच्छे संस्कार एवं अच्छी शिक्षा दें, ताकि वे निरपराध प्राणियों को पीड़ा पहुंचाने का पाप न करें।[३१]

(छ) कर्मकाण्डी पुरोहितों को चाहिए कि वे पशुओं की बलि देने के हिंसक कृत्य में सहयोग न दें। वे अपनी इस मान्यता से समाज को भ्रमित न करें कि पशुओं की बलि देने से देवी-देवता प्रसन्न होते हैं। क्योंकि कोई भी देवी-देवता जीवों की हत्या से कदापि प्रसन्न नहीं होता।[३२] कविवर डॉक्टर दीक्षित आस्तिक भारतवासियों की इस आस्था से भी निश्चित ही सुपरिचिति हैं कि हमारे देवी-देवता भी पशु-पक्षियों को अपना वाहन बनाकर उन्हें पर्याप्त महत्त्व और वात्सल्य देते हैं। हमारे पुराण साहित्य को पढ़कर और देवविषयक चित्रों को देखकर स्पष्ट हो जाता है कि हंस को भगवान् ब्रह्मा एवं माता सरस्वती का, गरुड़ को भगवान् विष्णु का, नन्दी नामक बैल को शिव का, सिंह को माता पार्वती का, उल्लू को माता लक्ष्मी का, मोर को कार्त्तिकेय जी का, चूहे को गणेश जी का, ऐरावत हाथी को देवराज इन्द्र का, भैंसे को यमराज का, गधे को शीतला माता का, अश्व को श्री ग्वल्लेदव का वाहन बनने का सौभाग्य प्राप्त है। कामधेनु नामक गाय को देवताओं के समकक्ष रख कर उसकी पूजा करना

---

२५ पशुपक्षिविचिन्तनम् २/१८८।
२६ पशुपक्षिविचिन्तनम् १/१२०
२७ पशुपक्षिविचिन्तनम् १/१३७; २/१७१
२८ पशुपक्षिविचिन्तनम् १/६९
२९ पशुपक्षिविचिन्तनम् १/१२२
३० पशुपक्षिविचिन्तनम् २/२६
३१ पशुपक्षिविचिन्तनम् २/११७-११८
३२ पशुपक्षिविचिन्तनम् १/९१-१०१, १४१-१४२, २/१७४-१७५

भारत की सांस्कृतिक परम्परा रही है। इसके अतिरिक्त शिवजी को 'पशुपतिनाथ' और श्रीकृष्ण को 'गोपाल' के नाम से सम्बोधित करने का अभिप्राय भी इन दोनों को पशुओं के संरक्षक के रूप में स्वीकार करना है। 'गोवत्सद्वादशी' नामक पर्व को मनाने का उद्देश्य भी, कृषि एवं दुग्ध पदार्थों के संवर्धन की दृष्टि से पशुओं का संरक्षण-संवर्धन है। ऐसी स्थिति में मनुष्यों द्वारा निरपराध पशु-पक्षियों की हत्या कदापि स्पृहणीय नहीं हो सकती।

(ज) भारतीय धर्मशास्त्रियों एवं संस्कृत साहित्यकारों के समान डॉ० दीक्षित ने भी इस मान्यता को सम्मान दिया है कि प्रकृति-प्रदत्त जल को पीने वाले और प्रकृतिप्रदत्त ही पदार्थों को खाने वाले, मनुष्यों को किसी भी प्रकार का नुकसान न पहुंचाने वाले, अपनी सुन्दर चेष्टाओं और कर्णप्रिय कलरवों से मनुष्यों को आनन्दित और लाभान्वित करने वाले प्राणियों की हत्या करना अथवा उनसे दुर्व्यवहार करना सर्वथा अनुचित है।[३३]

(झ) पक्षियों (और पशुओं) का मांस खाकर राजा शिवि, तीर्थङ्कर महावीर, गौतम बुद्ध, महात्मा गांधी आदि महापुरुषों को स्वीकार्य आत्मबलिदान, अहिंसा, करुणा, क्षमा आदि की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।[३४]

(ञ) इस काव्य के अहिंसापरक सुभाषितों को अपनाकर प्राणिहत्या को रोकना चाहिए। यथा-

१. प्राणिहत्या समं पापं लोकं किञ्चिन्न विद्यते ?[३५]

२. अनागसां च जीवानां हिंसनं भक्षणं च वा। जघन्यं विद्यते पापम्..............।[३६]

३. अहिंसा परमो धर्मो दयास्ति परमं तपः। क्षमास्ति परमं दानम्.........।[३७]

इस प्रकार डॉ० हरिनारायण दीक्षितविरचित **'पशुपक्षिविचिन्तनम्'** का परीक्षण करने से स्पष्ट हो जाता है कि यह काव्य खण्डकाव्य से सम्बद्ध भारतीय काव्यशास्त्र की मान्यताओं को पूरा करने में समर्थ है;

आधुनिक-संस्कृत-खण्डकाव्यों में अग्रगण्य है; मनुष्यों को हिंसक-आसुरी प्रवृत्ति छोड़ने की प्रेरणा देकर, उन्हें सन्मार्गोन्मुख करके, पापकर्मों से बचाने वाला है; फलस्वरूप व्यवहारज्ञानरूप एवं अमङ्गलनिवारण-रूप काव्यप्रयोजनों को सिद्ध करने वाला है; पशुपक्षिविषयक-दयावीररस के परिपोष से कवि एवं सहृदय पाठक को अलौकिक आनन्द प्रदान करने वाला है; धर्मपुरुषार्थ की सिद्धि का माध्यम बनता हुआ काव्यरचयिता डॉ० दीक्षित की यशोवृद्धि करने वाला है; तथा कवि द्वारा स्वयं ही राष्ट्रभाषा हिन्दी में अनूदित होने के कारण अतीव उपयोगी हो गया है।

अन्त में इस खण्डकाव्य सहित अनेक रचनाओं से संस्कृत-साहित्य को समृद्ध करने वाले, अपनी रचनाधर्मिता के फलस्वरूप अनेक पुरस्कार एवं सम्मान पाने वाले, डॉ० दीक्षित के इस खण्डकाव्य का मैं हार्दिक अभिनन्दन करती हूं तथा भगवान् श्रीगणेश और भगवान् श्रीविष्णु सहित सभी दिव्य विभूतियों को सादर प्रणाम

---

३३ पशुपक्षिविचिन्तनम् १/९०; २/१८-२०, २६, १७०

३४ पशुपक्षिविचिन्तनम् २/७९-८०

३५ पशुपक्षिविचिन्तनम् १/१०६

३६ पशुपक्षिविचिन्तनम् २/११७

३७ पशुपक्षिविचिन्तनम् २/११८

करती हुई, उनसे प्रार्थना करती हूं कि वे डॉ० दीक्षित की अधोलिखित प्रार्थना को शीघ्रातिशीघ्र सुनकर संसार में विद्यमान पशुपक्षियों को अपना वात्सल्यपूर्ण संरक्षण प्रदान करें-

काव्येनैतेन च मम नवेनाल्पमात्रोऽपि भूमौ
हिंसाह्रासो भवति यदि तेषां पशूनां च वीनाम्।
तन्मंस्ये स्वं श्रमभरमिमं सार्थकं चाप्तलक्ष्यं
ते जीव्यासुर्जगति ससुखं कामनैषास्ति मे यत्॥ [३८]

---

३८ पशुपक्षिविचिन्तनम्, कविपरिचयः, ५

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २००९ अङ्क ११ (पृ०१९४-२१७)

इतिहास में किन्नर तथा किन्नरियाँ

प्रो० कौशल्या चौहान[1]

पिछले कुछ वर्षों से प्रिंट एवं इलैक्ट्रॉनिक मीडिया द्वारा किन्नर शब्द का निरन्तर दुरुपयोग किया जा रहा है। 'अमर उजाला' ने एक फरवरी २००७ को 'हिजड़ों को किन्नर कहने से हिमाचल में विवाद' शीर्षक से खबर प्रकाशित की थी।[2] वर्ष २००० में मध्य प्रदेश में विधायक शबनम मौसी के साथ 'किन्नरू शब्द जोड़े जाने के बाद हिमाचल प्रदेश में इसका बड़े पैमाने पर विरोध हुआ था।[3] 'ट्रैफिक सिग्नल' फिल्म के निर्देशक मधुर भण्डारकर ने कुछ टी० वी० चैनलों पर हिजड़ों को किन्नर कहा था।[4] इसके बाद हिमाचल प्रदेश, विशेषकर किन्नौर में विरोध शुरू हो गया। किन्नौर के जंगी गाँव के निवासी और शिमला के (तत्कालीन) अतिरिक्त उपायुक्त शरभ नेगी शेड्यूल ट्राइब्स लिस्ट (मॉडिफिकेशन) ऑर्डर - १९५६ और स्टेट ऑफ हिमाचल प्रदेश एक्ट का जिक्र करते हुए कहते हैं कि इसमें 'कन्नौरा' और 'किन्नरू दोनों शब्दों का सन्दर्भ दिया गया है। किन्नर शब्द का इस तरह से दुरुपयोग असंवैधानिक है।[5] मैगसेसे पुरस्कार से सम्मानित और जनजातीय अकादमी की न्यासी बांग्ला साहित्यकार महाश्वेता देवी ने कहा कि वह किन्नर शब्द के दुरुपयोग की सिरे से निन्दा करती हैं।[6] मधुर भण्डारकर की दो फरवरी २००७ को रिलीज हुई फिल्म 'ट्रैफिक सिग्नल' शिमला के 'शाही थियेटरू के लिए बुक हुई थी लेकिन मालिक ने विवाद तक इस फिल्म को न लगाने का निर्णय लिया। तीन फरवरी २००७, शनिवार को इस फिल्म पर (तत्कालीन) मुख्यमन्त्री, हिमाचल प्रदेश, श्री वीरभद्र सिंह ने बैन लगा दिया।[7] (तत्कालीन) भाजपा विधायक दल के नेता श्री प्रेम कुमार धूमल (वर्तमान मुख्यमन्त्री, हिमाचल प्रदेश) ने कहा कि मुख्यमन्त्री को फिल्म से किन्नर शब्द को निकालने के मुद्दे पर केन्द्र से बात करनी चाहिए। उन्होंने कहा कि यह एक अहम मुद्दा है और लोगों की भावनाओं से जुड़ा है।[8]

टी० वी० चैनलों में सर्वश्रेष्ठता का स्थान पाने वाले 'आज तक पर १६ अगस्त, २००७ को रात ९:३० बजे शम्स साहिर खान द्वारा 'किन्नर फैक्टरी अनलिमिटेड' शीर्षक से विशेष कार्यक्रम प्रस्तुत किया गया। इसी चैनल पर 'किन्नरों की दुनिया का काला सच : किन्नरों से बचना' शीर्षक से २० फरवरी, २००८, बुधवार रात

---

१. फ्लैट नं० ४, ब्लॉक नं० १, टीचर्ज कॉलोनी, समरहिल, शिमला-१७१००५

२- अमर उजाला, २४-०२-२००७

३. वही, किन्नर शब्द का विवाद : भड़की चिंगारी, ०४-०२-०७

४. वही, क्या है मामला, ०८-०२-०७

५. वही, किन्नर शब्द का विवाद : भड़की चिंगारी, ०४-०२-०७

६. वही, किन्नर जनजाति का अपमान बर्दाश्त नहीं होगा, ०८-०२-०७

७. वही, किन्नर मामला केन्द्र से उठाएगी सरकार, २४-०२-०७

८. वही

१९:१४ बजे शम्स साहिर खान द्वारा ही कार्यक्रम प्रस्तुत किया गया। इन दोनों ही प्रस्तुतियों में किन्नर शब्द हिजड़ों के अर्थ में प्रयुक्त किया गया।

किन्नर शब्द का इतना अधिक दुरुपयोग होने पर यह जानना आवश्यक हो जाता है कि किन्नरों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि क्या है? इसी जिज्ञासा से प्रस्तुत शोध-पत्र प्रस्तुत किया जा रहा है।

किन्नर तथा किन्नरियों का सामान्य परिचय

देवों एवं देवियों के साथ-साथ कुछ ऐसी शक्तियों की सत्ता भी हिन्दू-धर्म में स्वीकृत की गई है, जो देवत्व की सीमा तक तो नहीं पहुँची हैं, फिर भी उनका अपना पृथक् व्यक्तित्व है। ऐसी शक्तियों की गणना भी देवत्व की सीमा के अन्तर्गत ही की जाती है और वे व्यन्तर देवताओं के नाम से प्रसिद्ध हैं।[९] सभी व्यन्तर देव ऊर्ध्व, मध्य और अधः - इन तीनों लोकों में भवनों तथा आवासों में निवास करते हैं। ये स्वेच्छा से अथवा दूसरों की प्रेरणा से भिन्न-भिन्न स्थानों पर जाते रहते हैं। विविध पहाड़ों और गुफाओं के अन्तरों में तथा वनों के अन्तरों में बसने के कारण इन्हें व्यन्तर कहा जाता है।[१०] किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच - ये (आठ) व्यन्तर निकाय हैं।[११] इनमें से किन्नर नामक व्यन्तरदेव दस प्रकार के हैं - किन्नर, किंपुरुष, किंपुरुषोत्तम, किन्नरोत्तम, हृदयंगम, रूपशाली, अनिन्दित, मनोरम, रतिप्रिय और रतिश्रेष्ठ। पुनः किंपुरुष नामक व्यन्तरदेव दस प्रकार के हैं - पुरुष, सत्पुरुष, महापुरुष, पुरुषवृषभ, पुरुषोत्तम, अतिपुरुष, मरुदेव, मरुत, मेरुप्रभ और यशस्वान्।[१२] व्यन्तर निकाय के किन्नर आदि आठ प्रकार के देवों में दो-दो इन्द्र हैं।[१३] अमरकोषकार ने किन्नरों की गणना दस देवयोनियों में की है।[१४] जैनधर्म के अन्तिम प्रवर्तक भगवान् महावीर, जिनका समय ई०पू० ५९९[१५] माना जाता है, के अन्तिम धर्म-देशना-ग्रन्थ, उत्तराध्ययन सूत्र में वर्णन प्राप्त होता है कि देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर ब्रह्मचारी को नमस्कार करते हैं।[१६]

किन्नरों की उत्पत्ति उतनी ही प्राचीन है जितनी की यह सृष्टि। बह्वृचोपनिषद् में उल्लेख आता है कि सृष्टि के आदि में केवल वाक्-देवी ही विद्यमान थी। उसने इस पूरे जगत् की सृष्टि की। उस देवी से ही सारे मरुद्गण, गन्धर्व, अप्सरायें और किन्नर उत्पन्न हुये।[१७] महाभारत के अनुसार किन्नर पुलस्त्य ऋषि की सन्तान हैं।[१८] अधिकांश

---

९. डॉ० इन्दुमती मिश्र, प्रतिमा विज्ञान, पृ०, ३३५
१०. विवेचक, पं० सुखलाल संघवी, तत्त्वार्थसूत्र, पृ०, १०१
११. व्यन्तराः किन्नरकिंपुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचाः। वही, ४.१२
१२. वही, पृ०, १०१
१३. पूर्वयोर्द्वीन्द्राः। वही, ४.६
१४. विद्याधराऽप्सरो-यक्ष-रक्षो-गन्धर्व-किंनराः। पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः॥ अमरकोष, १.१.११
१५. डॉ० हरदेव बाहरी, प्राचीन भारतीय संस्कृति कोश, पृ०, २९७
१६. देव-दाणव-गंधव्वा, जक्ख-रक्खस-किन्नरा। बंभयारिं नमंसंति, दुक्करं जे करंति तं॥ उत्तराध्ययन सूत्र, सोलहवाँ अध्ययन
१७. देवी ह्येकाग्र आसीत् सैव जगदण्डमसृजत्। गन्धर्वाप्सरसः किंनराः वादित्रवादिनः समन्तादजीजनन्। ईशादिर्विंशोत्तरशतोपनिषदः, बह्वृचोपनिषद्, पृ०, ६५०

हिन्दुओं के सबसे अधिक लोकप्रिय मत के अनुसार किन्नर आध्यात्मिक प्राणियों की आठ श्रेणियों[१९] में से एक हैं- १. देव, २. दैत्य/दानव, ३. गन्धर्व, ४. यक्ष, ५. राक्षस, ६. किन्नर, ७. नाग, ८. विद्याधर। विद्वानों का मत है कि किन्नर स्वर्गीय गायकों का एक वर्ग है।[२०] गोपालोत्तरतापिन्युपनिषद् में वर्णन किया गया है कि इस भूलोक-चक्र में जो सात पुरियाँ हैं, उनमें ही एक गोपालपुरी है। उसी गोपालपुरी में घने-घने वनों में देव, मनुष्य, गन्धर्व, नाग और किन्नर गाते और नाचते हैं।[२१]

किन्नरों की अनेक प्रतिमायें प्राप्त होती हैं। विष्णु आदि प्रमुख देवों की प्रतिमाओं के समीप किन्नर वीणा लिये स्तुति करते हुये उपस्थित हैं। किन्नरों के ऐसे रूप का वर्णन यथास्थान अनेक प्रतिमाओं में होता रहा है।[२२] भारतीय साहित्य में शुंग वंश का आरम्भ लगभग १८५ ई०पू० से पुष्यमित्र से होता है।[२३] शुंगकालीन वेदिकाओं पर किन्नर की आकृति खुदी हुई है।[२४] साँची के स्तूप शुंग युग के माने जाते हैं। इनमें भी यक्ष-किन्नर आदि देवी-देवताओं के चित्र अंकित हैं।[२५] नालन्दा में प्रस्तर पर खुदे किन्नर मिले हैं।[२६] भरहुत में स्तूप का निर्माण ई०पू० दूसरी शती में हुआ था। इस स्तूप में राजा के साथ किन्नर-युगल अंकित है।[२७] मन्दसोर के ४७३-४७४ ई० सन् के प्रस्तर-अभिलेख में किन्नरों को सूर्य की स्तुति करते हुए वर्णित किया गया है। वहाँ उल्लेख आता है कि वह सूर्य आपकी रक्षा करें जो उदित होने पर गन्धर्वों, देवताओं, सिद्धों, किन्नरों तथा नरों से स्तूयमान होते हैं।[२८] ११वीं शताब्दी के अधिकृत वास्तु-ग्रन्थ, समराङ्गण-सूत्रधार में भी किन्नर की ऐसी प्रतिमा बनाने का उल्लेख किया गया है, जो मणि तथा रत्नों से जड़ित हो।[२९]

वास्तव में किन्नर देवों का यशगान करते हैं। संगीत के दिव्य आचार्यों में इनका विशेष स्थान है।

---

१८. राक्षसाश्च पुलस्त्यस्य वानरा: किंनरास्था। यक्षाश्च मनुजव्याघ्र पुत्रास्तस्य च धीमतः॥ महाभारत, आदिपर्व, ६६.७

१९. अनुवादक सन्तराम, अलबेरूनी का भारत, पहला भाग, पृ०, ११५-११६

२०. श्री वामन शिवराम आप्टे, The students Guide to Sanskrit Compositiont का डॉ० उमेशचन्द्र पाण्डेय कृत हिन्दी अनुवाद, पृ०, ४३२

२१. भूलोकचक्रे सप्त पूर्यो भवन्ति तासां मध्ये साक्षात् ब्रह्मगोपालपुरी हीति। तत्र तेष्वेवं गहनेष्वेव देवा मनुष्या गन्धर्वा नागाः किंनरा गायन्तीति नृत्यन्तीति। ईशादिविंशोत्तरशतोपनिषदः, गोपालोत्तरतापिन्युपनिषदः, पृ०, ५९५-५९६

२२. डॉ० इन्दुमती मिश्र, प्रतिमा विज्ञान, पृ०, ३४३

२३. डॉ० हरदेव बाहरी, प्राचीन भारतीय संस्कृति कोश, पृ, ३९०

२४. डॉ० वासुदेव उपाध्याय, प्राचीन भारतीय मूर्ति-विज्ञान, पृ०, २०८

२५. रमानाथ मिश्र, भारतीय मूर्तिकला का इतिहास, पृ०, ९६

२६. डॉ० वासुदेव उपाध्याय, प्राचीन भारतीय मूर्ति-विज्ञान, पृ०, २०८

२७. डॉ० रमानाथ मिश्र, भरहुत, पृ०, ३१

२८. गन्धर्वामरसिद्धकिन्नरनरस्संस्तूयतेऽभ्युत्थितो भक्तेभ्यश्च ददाति योऽभिलषितं सवित्रे नमः। भारतीय अभिलेख संग्रह, प्रारम्भिक गुप्त शासकों के अभिलेख (खण्ड - ३), पृ०, १००

२९. किन्नरं कौस्तुभं हर्म्यं धार्मिकं निषधं वसु। साटिकं वामनं गौरमस्थिरं क्रमिणं खलम्॥ समराङ्गणसूत्रधारे, चतुःशालविधानं, १९.६६

महाभारत में युधिष्ठिर की सभा में गन्धर्वों तथा किन्नरों के सशास्त्र गायन के सम्बन्ध में वर्णन आता है कि लयस्थान तथा प्रमाण सीखने में जिन्होंने पर्याप्त परिश्रम किया है ऐसे किन्नर गन्धर्वों के साथ तुम्बुरु की प्रेरणा पाकर गाते हैं। वे मनस्वी किन्नर गन्धर्व आदि दिव्य तान से नियमपूर्वक गा बजाकर पाण्डवों और ऋषियों को उस सभा में प्रसन्न करते हैं।[३०] विष्णुधर्मोत्तर पुराण में किन्नरों के आवाहन का विशेष विधान बतलाते हुये वर्णन आता है कि मैं देव-गायक किन्नरों का आवाहन करता हूँ। मधुर स्वर-ध्वनि वाले सभी किन्नर आयें।[३१] गान-विद्या में केवल किन्नर ही प्रवीण नहीं होते, बल्कि किन्नरियाँ भी अपनी मधुर कण्ठ-ध्वनि के लिए प्रसिद्ध हैं। रामायण के अनुसार रावण ने उस कैलाश पर्वत की नैसर्गिक शोभा को निहारा जहाँ मधुर-कण्ठ वाले कामार्त किन्नर अपनी कामिनियों के साथ रागयुक्त गीत गा रहे थे।[३२] रावण ने विन्ध्यगिरि पर्वत पर आकर उस गगनचुम्बी शैल को देखा, जहाँ देवता, दानव, गन्धर्व और किन्नर अपनी-अपनी स्त्रियों और अप्सराओं के साथ क्रीड़ा कर रहे थे।[३३] महाभारत में गौतम ने किन्नरियों के गीत से युक्त वन का उल्लेख किया है।[३४] ई०पू० प्रथम शती[३५] के महाकवि कालिदास शिव के प्रबोधनकाल पर किन्नरों के द्वारा गाए जाने वाले कैशिक राग का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि जब किन्नरों ने आलाप भरते हुये भगवान् शिव को जगाने के लिए मंगल-गान आरम्भ किया तो सुनहले कमलों के साथ ही देवों के पूज्य भगवान् शिव की भी आँखें खुल गयीं।[३६] कैशिक राग के साथ ही साथ किन्नरों के द्वारा गाये जाने वाले एक ऐसे उद्गान का भी उल्लेख प्राप्त होता है जो गान्धार-ग्राम को अभिव्यञ्जित करता है और जिसका गायन केवल देवयोनियों द्वारा ही किया जाता है।[३७] कालिदास उल्लेख करते हैं कि हिमालय गुफा रूपी मुख की वायु से बाँसों के छिद्रों को भरता हुआ ऐसा प्रतीत होता है, मानो गाने वाले किन्नरों को तान देने की इच्छा कर रहा है।[३८] कालिदास विरचित मेघदूत में अलकापुरी के मार्ग के सङ्गीतमय वातावरण का वर्णन करते हुये यक्ष मेघ से कहता है कि हे मेघ! वहाँ हवा से भरे हुये बाँस मधुर शब्द करते हैं। एकत्रित होकर किन्नरियाँ

---

३०. गीतवादित्रकुशलाः शम्यातालविशारदाः। प्रमाणेऽथ लयस्थाने किन्नरा कृतनिश्रमाः। संचोदितास्तुम्बुरुणा गन्धर्वाः सहिता जगुः॥ गायन्ति दिव्यतानैस्ते यथान्यायं मनस्विनः। पाण्डुपुत्रानृषींश्चैव रमयन्त उपासते॥ महाभारत, सभापर्व, ४.३१-३३

३१. आवाहयिष्यामि तथा किन्नरान् देवगायनान्। आयान्तु किन्नराः सर्वे सुस्वरास्तु सुलोचना॥ विष्णुधर्मोत्तर पुराण, १०३.१८, (डॉ० इन्दुमती मिश्र की पुस्तक प्रतिमा-विज्ञान में पृष्ठ, ३४२ पर उद्धृत)

३२. किंनरा मदनेनार्ता रक्ता मधुरकण्ठिनः। समं सम्प्रजगुर्यत्र मनस्तुष्टिविवर्धनम्॥ रामायण, उत्तरकाण्ड, २६.७

३३. प्रपातपतितैः शीतैः साट्टहासमिवाम्बुभिः। देवदानवगन्धर्वैः साप्सरोभिः सकिंनरैः॥ वही, ३१.१६

३४. ममाग्रे यद्वनं भाति रम्यं। सुपुष्पितं किन्नरीगीतजुष्टम्॥ महाभारत, अनुशासनपर्व, १०५.२०

३५. स्वर्गीय पाण्डेय तथा व्यास, संस्कृत साहित्य की रूपरेखा, पृ०, ३६

३६. (क) स व्यबुध्यत बुधस्तवोचितः शातकुम्भकमलाकरैः समम्। मूर्छनापरिगृहीतकैशिकैः किन्नरैरुषसि गीतमङ्गलः॥ कुमारसम्भवम्, ८.८५ (ख) तया मूर्च्छनया परिगृहीतकैशिकैः स्वीकृतरागविशेषैः किन्नरैर्गीतमङ्गलः सन्। वही, मल्लिनाथ टीका

३७. उद्गास्यतां देवयोनित्वादुच्चैर्गान्धारग्रामेण गानं करिष्यताम्। उक्तं च नारदेन-'षड्जमध्यमनामानौ ग्रामौ गायन्ति मानवाः। न तु गान्धारनामानं स लभ्यो देवयोनिभिः।' इति किन्नराणां देवगायकानां तानप्रदायित्वम्। कुमारसम्भव, १.८ पर मल्लिनाथकृत टीका

३८. यः पूरयन् कीचकरन्ध्रभागान् दरीमुखोत्थेन समीरेण। उद्गास्यतामिच्छति किन्नराणां तानप्रदायित्वमिवोपगन्तुम्॥ वही, १.८

त्रिपुर-विजय गाती हैं।[३९] रघुवंश में वर्णन आता है कि रघु ने अपने भुज-बल का गान भी किन्नरों द्वारा करवाया था।[४०] प्रथम शती[४१] के सुप्रसिद्ध महाकवि अश्वघोष उल्लेख करते हैं कि जब बुद्ध नन्द को धर्म के मार्ग पर चलने का उपदेश देते हैं तो नन्द अपने अश्रु-प्लावित मुख का कारण एक भिक्षु को बतलाते हुये कहते हैं कि प्रिया के बिना मैं उसी प्रकार धर्म में आनन्द नहीं पा रहा हूँ जिस प्रकार पहाड़ की चोटियों पर विचरण करने वाला काम से पीड़ित किन्नर अपनी कामिनी के बिना आनन्दित नहीं होता है।[४२] दिव्यावदान, जिसका समय लगभग तृतीय शती[४३] है, में ब्रह्मसभा नामक पुष्किरिणी के समीपवर्ती आश्रम में रहने वाले एक ऋषि का कथन है कि किन्नरराजद्रुम की मनोहरा नामक पुत्री का मधुर-संगीत पशु-पक्षिओं को भी लज्जित होने पर विवश कर देता था। ऋषि आगे कहता है कि उस मधुर-संगीत को सुनकर मैं भी एक सप्ताह तक का समय मानसिक प्रीति-सुख से व्यतीत कर लेता हूँ।[४४] छठी शती[४५] के गद्य-काव्यकार सुबन्धु उल्लेख करते हैं कि उदयाचल के शिखर पर विश्राम करते हुये किन्नर-मिथुन के रक्त-वस्त्र से आच्छादित वीणा की तुम्बी के समान चन्द्रमा उदित हुआ।[४६] सुबन्धु आगे वर्णन करते हैं कि कहीं-कहीं पर रुरु नामक मृगों का समूह पास में स्थित किन्नरियों के द्वारा गाये जाने वाले गीतों का आनन्द ले रहा था।[४७] गद्यकार बाणभट्ट, जिनका समय निःसन्देह रूप से सप्तम शती का पूर्वाद्ध है[४८], चन्द्रापीड़ के दिग्विजय वर्णन के प्रसंग में लिखते हैं कि उस सुवर्णपुर में रहने के समय में ही एक दिन चन्द्रपीड इन्द्रायुद्ध पर आरोहण कर शिकार खेलने के लिए निकला। तब वनमध्य में विचरण करते-करते पहाड़ की चोटी पर से उतरा हुआ एक किन्नर का जोड़ा उसे दिखाई दिया।[४९] चन्द्रापीड कहता है कि इन किन्नरों के जोड़े को पकड़ने अथवा न पकड़ने से मुझे क्या फल?[५०] दसवीं शती के जैन-कवि पुष्पदन्त[५१] ने एक ऐसे वन का उल्लेख किया है

---

३९. शब्दायन्ते मधुरमनिलैः कीचकाः पूर्येमाणाः। संसक्ताभिस्त्रिपुरविजयो गीयते किन्नरीभिः॥ मेघदूत, पूर्वमेघ, ५६

४०. जयोदाहरणं बाह्वोर्गापयामास किन्नरान्। रघुवंश, ४.७८

४१. स्वर्गीय पाण्डेय तथा व्यास, संस्कृत साहित्य की रूपरेखा, पृ०, ५७

४२. तदिदं शृणु मे समासतो न रमे धर्मविधावृते प्रियां। गिरिसानुषु कामिनीमृते कृतरेता इव किन्नरश्चरन्॥ सौन्दरनन्द, ८.१२

४३. Divyāvadāna came into existence between 200 and 350 A.D., Divyāvadāna, edited by P.L.Vaidya, introduction, P. xi

४४. अस्यां पुष्किरिण्यां पञ्चदशम्यां मनोहरा नाम द्रुमस्य किन्नरराजस्य दुहिता पञ्चकिन्नरीशतपरिवारा नानाविधस्नानोद्वर्तनैरागत्य स्नाति। स्नानकाले चास्या मधुरगीतवादितशब्देंन मृगपक्षिणोऽव व्ह्यन्ते। अहमपि तं शब्दं श्रुत्वा महता प्रीतिसौमनस्येन सप्ताहमतिनामयामि। वही, सुधनकुमारावदानम्, पृ०, २८७-२८८

४५. वासवदत्ता, भमिका, पृ०, ३

४६. पूर्वाचल शिखरविश्रान्तकिन्नरमिथुनरक्तवस्त्रकञ्चुकितवीणालाबुरिव रजनीपतिरुदयमाससाद। वही, पृ०, १६१

४७. समासन्नकिन्नरीगीतश्रवणरममाणरुरुविसरेण। वही, पृ०, २२०

४८. हर्षचरित, भूमिका, पृ०, ६

४९. एकदा तु तत्रस्थ एवेन्द्रायुधमारुह्य मृगयानिर्गतः विचरन् काननं शैलशिखरादवतीर्ण यदृच्छया किन्नरमिथुनमद्राक्षीत्। कादम्बरी, पृ०, ३६३

५०. किमनेन गृहीतेनागृहीतेन वा किन्नरयुगलेन प्रयोजनम्। वही, पृ०, ३६५

जहाँ लतागृहों में स्थित होकर किन्नर क्रीड़ा कर रहे थे।[५२] पन्द्रहवीं शती के ऐतिहासिक ग्रन्थ जैन-राजतरङ्गिणी[५३] के अनुसार किन्नरों को राजगौरव प्राप्त था।[५४]

किन्नर शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ

प्राचीन काल से ही आखेट राजाओं तथा सम्पन्न-व्यक्तियों के जीवन का मुख्य अंग रहा है। आखेट-प्रिय अनेक लोग नगर की संस्कृति से दूर हिमालय की ओर अपने शिकार की खोज में निकल पड़ते थे। आखेट जहाँ एक ओर ऐसे वैभवशाली लोगों के आमोद-प्रमोद का प्रमुख साधन था, वहीं दूसरी ओर उनके शरीर के लिए व्यायाम का कार्य भी करता था। अनेकों पर्वतों, नदियों, गुफाओं तथा वनों, वृक्षों और वनस्पतियों से आच्छादित ऐसे स्थानों में पहुँचकर वे लोग मानसिक शान्ति की प्राप्ति करते थे। जो शिकारी राजा के इच्छित मृग को पकड़कर या मारकर राजा के सामने उपस्थित कर देते थे, उनका राजदरबार में विशेष सम्मान होता था। शिकार के लिए प्रस्थान करते समय इन शिकारियों को मार्ग-व्यय के लिए राजकीय कोष से धन मिलता था।[५५] नगर में सभी सुख-सुविधाओं का उपभोग करने वाले ये शिकारी लोग मार्ग की कठिनाइयों का सामना करते-करते ऐसे दुर्गम स्थानों में पहुँच जाते थे, जहाँ मनुष्य के निवास की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। परन्तु इन्हें जङ्गली पशुओं का विशद ज्ञान होता था।[५६] इन पर्वतीय स्थलों पर शिकार का पीछा करते-करते ये शिकारी लोग अचानक जब किसी मनुष्य को देखते थे तो उनके मुख से सहसा ही ये शब्द निकलल जाते थे - किम् नरः (क्या नर अर्थात् मनुष्य है)। हिमाच्छादित ऐसे दुर्गम स्थानों में रहने वाले मनुष्यों के लिए शिकारियों के आश्चर्य को अभिव्यक्त करने वाला किम् नरः (क्या नर अर्थात् मनुष्य है) प्रयोग ही किन्नर शब्द का मूल अर्थ है। किम् नरः इस दशा में म् को अनुस्वार[५७] होकर किं नरः यह स्थिति आती है। पुनः अनुस्वार को परसवर्ण[५८] होकर किन्नरः रूप की निष्पत्ति होती है। गायक और गायिकाओं के रूप में विद्यमान संगीत साधक ये किन्नर और किन्नरियाँ हिमालय के निवासी हैं। हिमालय में रहने वाले इन गायकों को किन्नर या किंपुरुष नाम शिकारियों द्वारा दिया गया है। इस विषय में एक किन्नरी का वाराणसी के राजा भल्लातिय से किया गया वार्तालाप प्रमाण है जिसमें वह

---

५१. जसहरचरिउ, प्रस्तावना, पृ०, २२

५२. लयाहरत्थकीलमाणकिंणरं। वही, ३.१६.६

५३. अनुवादक : डॉ रघुनाथ सिंह, श्रीवरकृता : जैनराजतरङ्गिणी, भूमिका, पृ०, ४०

५४. अनुगीत इवात्रस्थैः किंनरै राजगौरवात्। वही, १.५.१०१

५५. डॉ० प्रभास चन्द्र मिश्र, पालि निकायों में प्राचीन भारत की सामाजिक एवं आर्थिक संस्थायें, पृ०, २१४-२१५

५६. (क) तस्य ह्रदस्य नातिदूरे द्वौ लुब्धकौ प्रतिवसतः, सारको हलकः। यावदसौ लुब्धकः सप्तमे दिवसे प्रतिगुप्ते प्रदेशे आत्मानं गोपयित्वा अवस्थितः। अपरेण समयेन हलको लुब्धको मृगयामन्वेषमाणस्तेन तेनानुविचरन्नन्यतमं पर्वतमनुप्राप्तः। दिव्यावदानम्, सुधनकुमारावदानम्, पृ०, २८४-२८५, २८७ (ख) वाराणस्यामन्यतमो लुब्धकः। स हिमवन्तं गत्वा मृगान् प्रघातयति तेन पञ्चानां मृगशतानां नयनान्युत्पाटितानि। वही, कुणालावदानम्, पृ०, २७१

५७. मोऽनुस्वारः। पाणिनि, ८.३.२३

५८. अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः। वही, ८.४.५८

कहती है कि मृग तो हमें मनुष्य मानते हैं, परन्तु शिकारी लोग हमें किन्नर अथवा किंपुरुष कहते हैं।[५९]

किन्नरियों का अभूतपूर्व सौन्दर्य

किन्नरियों की गणना जगत् सुन्दरियों में की जाती है। किन्नर कन्याओं के रूप का उल्लेख करते हुए उन्हें परमदर्शनीय, माधुर्ययुक्त अङ्गों और प्रत्यङ्गों से युक्त, परमकुलीन, सभी आभूषणों से विभूषित, हँसाने-रिझाने और सेवा करने में तत्पर तथा नृत्य-गीत और वादन की कलाओं में कुशल कहा गया है।[६०] इतिहास में किन्नरियों के माता, भगिनी, दुहित्री तथा प्रेयसी आदि सभी रूपों का वर्णन प्राप्त होता है।[६१] बदरद्वीपमहापत्तन के सौवर्णकिन्नरनगर, रूप्यमयकिन्नरनगर, वैडूर्यमयकिन्नरनगर तथा रत्नमयकिन्नरनगर में क्रमशः चार[६२], आठ[६३], सोलह[६४] तथा बतीस[६५] किन्नर कन्यायें वाराणसी के महासार्थवाह सुप्रिय का अभिनन्दन करती हैं। वे कन्यायें सार्थवाह की परीक्षा लेने की दृष्टि से उसे अनेक प्रकार के प्रलोभन देती हैं। परन्तु जब वह महासार्थवाह उनके प्रलोभनों में नहीं आता तो अन्त में परम संतुष्ट होकर वे किन्नर-कन्यायें कहती हैं कि आश्चर्य है! आप कामभोगों में न तो लिप्त होते हो और न ही उनमें बांधे जाते हो।[६६] प्रथम शती के पूर्वार्ध के महाकवि अश्वघोष उल्लेख करते हैं कि जब बुद्ध नन्द को स्वर्गदर्शन के लिए ले जाते हैं तो वहाँ रहने वाली किन्नरियाँ, जिनके नितम्ब, स्तन और उदर मनोहर थे, चारों ओर ऐसे शोभित हुईं जैसे फलों से भरी हुईं लतायें।[६७] तृतीय शती के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ दिव्यावदान में किन्नरराज-द्रुम की पुत्री मनोहरा के अभूतपूर्व सौन्दर्य को देखते हुये लुब्धक (शिकारी) सोचता है कि यह परमदर्शनीया है। इससे पहले कि राजकुमार सुधन मनोहरा को मुझसे बलपूर्वक छीन ले मैं स्वयं ही इसे उसको सौंप दूंगा। राजकुमार सुधन भी स्त्री के अट्ठारह लक्षणों से युक्त, परमदर्शनीया, मनोहरा को देखकर सहसा दृढ़

---

५९. मिगा मनुस्साव निभासवण्णा, जानन्ति नो किम्पुरिसाति लुद्दा ति। खुद्दकनिकाये, जातक-अट्ठकथा-४, भल्लातियजातकवण्णा, पृ०, ३९७

६०. ततश्चतद्रः किन्नरकन्या निर्गमिष्यन्ति अभिरूपा दर्शनीयाः प्रासादिकाश्चातुर्यमाधुर्यसम्पन्नाः सर्वाङ्गप्रत्यङ्गोपेताः परमरूपाभिजाताः सर्वालंकारविभूषिता हसितरमितपरिचारितनृत्तगीतवादित्रकलास्वभिज्ञाः। दिव्यावदानम्, सुप्रियावदानम्, पृ०, ७१

६१. तत्र ते तासु मातृसंज्ञा उपस्थापयितव्या, भगिनीसंज्ञा, दुहितृसंज्ञा उपस्थापयितव्या। वही

६२. ततः सुप्रियेण महासार्थवाहेन त्रिकोटिते द्वारे चतस्रः किन्नरकन्या निर्गताः। वही, पृ०, ७२

६३. तत्रापि सुप्रियेण सार्थवाहेन त्रिकोटिते द्वारेऽष्टौ किन्नरकन्या निर्गताः। वही, पृ०, ७३

६४. तत्रापि सुप्रियेण सार्थवाहेन त्रिकोटिते द्वारे षोडश किन्नरकन्या निर्गताः। वही

६५. ततः सुप्रियेण सार्थवाहेन त्रिकोटिते द्वारे द्वात्रिंशत् किन्नरकन्या निर्गताः। वही

६६. ता अप्येवमाहुः- एतु महासार्थवाहः। स्वागतं महासार्थवाहाय। अस्माकमस्वामिकानां स्वामी भव, अपतीनां पतिरलयनानां लयनोऽद्वीपानां द्वीपोऽशरणानां शरणोऽत्राणानां त्राणोऽपरायणानां परायणः। प्रभूतानि च जाम्बुद्वीपकानि रत्नानि, एतानि च ते वयं च। अस्माभिः सार्धं क्रीडस्व रमस्व परिचारयस्व। निषण्णः सुप्रियो महासार्थवाहो सुबह्वपि प्रलोभ्यमानो न शक्यते स्खलयितुम्। तुष्टाश्च ताः किन्नरकन्याः कथयन्ति - आश्चर्यं यत्रेदानीं दहरश्च भवान् धर्मकामश्च। न च कामेषु सज्जसे वा बाध्यसे वा। वही

६७. दरीचरीणामतिसुन्दरीणां मनोहरश्रोणिकुचोदरीणां। वृन्दानि रेजुर्दिशि किन्नरीणां पुष्पोत्कचानामिव वल्लरीणाम्॥ सौन्दरनन्द, १०.१३

रागरूपी बाण से विद्ध जाता है।[६८] जैन काव्यकार सङ्घदासमणि अपने ग्रन्थ वसुदेवहिण्डि में वसुदेव तथा वंधुमती के परिणय के अवसर पर उल्लेख करते हैं कि जब अनेकों सुन्दरियाँ उपस्थित होकर अपना-अपना परिचय देती हैं तो किन्नरी कहती है कि मैं किन्नरी हूँ।[६९] दसवीं शती[७०] के काव्यकार पुष्पदन्त प्राकृत-भाषा में रचित अपने ग्रन्थ णायकुमारचरिउ में उल्लेख करते हैं कि राजा ने जयन्धर से कहा कि इन जगत् सुन्दरियों में से कौन सी जेट्ठी है और कौन सी छोटी है। हे कामदेव! शीघ्र बतलाओ कि कौन मनोहरी है और कौन किन्नरी है। मदन (कामदेव) ने कहा कि जो अपनी दृष्टि से लोगों के मन को जीतती है वह छोटी है तथा दूसरी किन्नरी जेट्ठी है।[७१] ग्यारहवीं शती[७२] में मुनि कनकामर द्वारा प्राकृत-भाषा में लिखे गये करकंडचरिउ नाम ग्रन्थ में वर्णन आता है कि जब माली ने वृक्ष के नीचे बैठी हुई रानी को देखा तो वह उसके अभूतपूर्व सौन्दर्य को देखकर विचार करता है कि यह कोई साधारण स्त्री तो है नहीं। वह उसे पुत्री कहकर अंपने घर ले जाता है। माली की पत्नी कुमुदलता उसके सौन्दर्य को देखकर कहती है कि यह कोई किन्नरी है या विद्याधरी जो आँखों को ऐसी प्यारी लगती है।[७३]

किन्नरियों के लिए कामार्त किन्नर तथा अन्य पुरुष

बौद्ध साहित्य में ऐसे अनेक सन्दर्भ प्राप्त होते हैं जहाँ किन्नर तथा किन्नरियाँ कामभावना से पीड़ित होकर एक-दूसरे की प्राप्ति के लिए सन्तप्त होते हैं। प्राचीन समय में जब राजा ब्रह्मदत्त अपने शयनागार में बैठे हुए थे तो आधी रात के समय उन्हें आठ शब्द (आवाजें) सुनाई दिये। इन आवाजों में से सातवीं आवाज वहीं रहने वाले एक किन्नर की थी।[७४] राजा ने (इन शब्दों का फल जानने के उद्देश्य से) अपने ही उद्यान की मङ्गलशिला पर बैठे हुये तपस्वी से प्रार्थना की।[७५] उस तपस्वी ने किन्नर की शब्द-ध्वनि (आवाज) के विषय में पूछे जाने पर कहा कि हे महाराज! आपके राजभवन में जो एक किन्नर है उसने अपनी किन्नरी के उपकार को याद करके कामासक्त होकर असमय (अर्धरात्रि) में यह आवाज की है, क्योंकि एक दिन वे दोनों (किन्नर तथा किन्नरी) ऊँचे पर्वत-शिखर पर चढ़ गये थे। वहाँ उन दोनों को नाना वर्णों और सुगन्धी वाले पुष्पों को चुनते और धारण करते हुए सूर्यास्त का

---

६८. इयं च परमदर्शनीया। यद्येनां द्रक्ष्यति, बलाद् ग्रहीष्यति, यन्वहमेनां प्राभृतन्यायेन स्वयमेवोपनयेयम्। सुधनकुमारो मनोहरां किन्नरीमभिरूपां स्त्रीलक्षणैः समलंकृतां दृष्ट्वा सहसा पपात विद्धो दृढरागशरेण। दिव्यावदानम्, सुधनकुमारावदानम्, पृ०, २८८

६९. अण्णा भणति - अहं किण्णरि त्ति। वसुदेवहिण्डि, प्रथम खण्डम्, पृ०, २८१

७०. पुष्पदन्त का समय ९७२ ई० माना गया है। जसहरचरिउ, प्रस्तावना, पृ०, २२

७१. चवइ धरित्तिणाहु का गुरु का लहुई भुअण सुंदरी। भणु भणु बम्पदेव कंदप्प मणोहरि किं व किण्णरी।। दिट्ठिए जिणइ स सस लहुआरी कहइ मयणु किण्णरि गरुयारी। णायकुमारचरिउ, ३.६.२

७२. करकंडचरिउ की रचना का काल ग्यारहवीं शती का मध्यभाग है। करकंडचरिउ, प्रस्तावना, पृ०, १२

७३. धत्ता - एह णारि विसिट्ठी ते तहिं दिट्ठी किण्णरि। वही, १.१५.१०

७४. तदा बाराणसिराजा सिरिसयने निसिन्नो अड्ढरत्तसमये अट्ठ सद्दे अस्सोसि। सत्तमं तत्थेव पोसावनियकिन्नरो। खुद्दकनिकाये, जातक-अट्ठकथा, ततियो भागो, अट्ठसद्दजातकवण्णना, पृ०, ३७९

७५. एको तापसो उय्याने मङ्गलसिलायं निसिन्नो। राजा वेगेन तत्थ गन्त्वा तापसं वन्दित्वा कतपटिसन्थारो निसीदित्वा 'सच्चं किर, भन्ते, तुम्हे मया सुतसद्दानं निप्फत्तिं जानाथा' ति पुच्छि। वही, पृ०, ३८०

ध्यान ही न रहा। जब वे पर्वत-शिखर से उतरने लगे तो अन्धेरा हो चुका था। उसी समय किन्नरी ने अपने स्वामी किन्नर के प्रति कहा था, स्वामी! अन्धकार है, विना फिसले प्रमाद रहित होकर उतरो। ऐसा कहते हुए किन्नरी ने किन्नर को हाथ से पकड़कर उतारा। उसी प्राण-प्रिय किन्नरी के उपकार को याद करके उसके प्रति कामासक्त होकर किन्नर ने अर्धरात्रि में आवाज की थी।[७६] इस विषय में गाथा इस प्रकार है -

घोर अन्धकार में पर्वत के उच्च शिखर पर
उसने मुझसे कोमल-स्वर में कहा था, स्वामी!
आपके पैर को ठोकर न लग जाए। [७७]

एक अन्य स्थल पर उल्लेख आता है कि वाराणसी का राजा भल्लातिय अपना राज्य अमात्यों को सौंप कर हिमालय पर पहुँचा। वहाँ उसने हेमवती नदी के किनारे आपस में आलिङ्गन, चुम्बन और विलाप करते हुये दो किन्नरों को देखा। राजा ने उन दोनों (किन्नर तथा किन्नरी) से पूछा, 'तुम दोनों किस कारण से रो रहे हो।[७८]' राजा के वचन को सुनकर किन्नर तो शान्त हो गया, किन्नरी राजा से बोली कि, हे शिकारी! एक रात हम दोनों अनिच्छापूर्वक एक-दूसरे का स्मरण करते हुये वियुक्त हो गये थे। उस एक रात के दुःख को याद करते हुये हम सोच रहे हैं कि वह रात फिर कभी न आये।[७९] उस दिन मैं पर्वत पर यह सोचकर फूल चुनती रही कि मेरा प्रिय मालाधारी होगा और मैं उसकी मालिनी बनकर उसको प्राप्त होऊँगी। उस दिन मैंने शाल के फूल चुनकर बिछौने बिछाये कि आज रात हम दोनों इन पर विहार करेंगे। मैं प्रमादिनी होकर चन्दन को शिला पर पिसती रही कि मेरा स्वामी अङ्गलेप करेगा और मैं अङ्गलिप्त होकर उसे प्राप्त होऊँगी।[८०] उसी समय तेज बहाव वाली नदी की धारा आयी और मेरे चुने हुए फूलों को बहाकर ले गयी, लेकिन मैं उस नदी को पार न कर सकी। हे शिकारी! मेरा

---

७६. महाराज, 'पोसावनियो किन्नरो अत्थी' ति पुच्छित्वा 'अत्थी' ति वुत्ते 'सो, महाराज, अत्तनो किन्नरिया कतगुणं अनुस्सरित्वा किलेसातुरो सद्दमकासि। सो हि ताय सद्धिं एकदिवसं तुङ्गपब्बतसिखरं आरुहि। ते तत्थ वण्णगन्धरससम्पन्नानि नानापुप्फानि ओचिनन्ता पिळन्धन्ता सूरियं अत्थङ्गतं न सल्लक्खेसुं, अत्थङ्गते सूरिये ओतरन्तानं अन्धकारो अहोसि। तत्र नं किन्नरी 'सामि, अन्धकारो वत्तति, अपक्खलन्तो अप्पमादेन ओतराही' ति वत्वा हत्थे गहेत्वा ओतारेसि, सो तायं तं वचनं अनुस्सरित्वा सद्दमकासि। वही, पृ०, ३८३

७७. 'अन्धकारतिमिसायं, तुङ्गे उपरिपब्बते। सा मं सण्हेन मुदुना, मा पादं खलि यस्मनी' ति।। वही

७८. अतीते बाराणसियं भल्लातियो नाम राजा रज्जं अमच्चानं निय्यादेत्वा हिमवन्तं पविसित्वा रमणीयाय हेमवतनदिया तीरे द्वे किन्नरा अञ्ञमञ्ञं आलिङ्गित्वा परिचुम्बित्वा नानप्पकारेहि परिदेवन्ता रोदन्ति। सो तेसं सन्तिकं गन्त्वा 'किंकारणा तुम्हे रोदथा' ति किन्नरे पुच्छि। वही, जातक-अट्ठकथा - ४, भल्लातिय जातकवण्णना, पृ०, ३९६

७९. रञ्ञो वचनं सुत्वा किन्नरो तुण्ही अहोसि, किन्नरी पन रञ्ञा सद्धिं सल्लपि - मयेकरत्तं विप्पवसिम्ह लुद्द, अकामका अञ्ञमञ्ञं सरन्ता। तमेकरत्तं अनुतप्पमाना, सोचाय 'सा रत्ति पुनं न होस्सति।। वही, पृ०, ३९७-३९८

८०. पियो च मे हेहिति मालभारी, अहञ्च नं मालिनी अज्झुपेस्सं। अहञ्च सालस्स सुपुप्फितस्स, ओचेय्य पुप्फानि करोमि भारं। इदञ्च नो हेहेति सन्थरत्थं, यत्थज्जिमं विहरिस्साम रत्तिं।। अहञ्च खो अगळुं चन्दनञ्च, सिलाय पिंसामि पमत्तरूपा। पियो च मे हेहेति रोसितङ्गो, अहञ्च नं रोसिता अज्झुपेस्सं।। वही, गाथा-संख्या, १९८-२००, पृ०, ३९८-३९९

स्वामी शीघ्रगामी नदी को यह सोचकर पार कर गया कि मैं पीछे-पीछे आ रही होऊँगी।[८१] किन्नरियाँ जल से डरने वाली होती हैं, इसलिए मैं नदी को पार न कर सकी।[८२] उस रात हम दोनों एक-दूसरे को देखते हुये नदी के दो अलग-अलग किनारों पर खड़े थे। कभी रोते थे, कभी हँसते थे। हम दोनों की वह रात कठिनाई से बीती। किन्नरी आगे कहती है कि प्रातः सूर्योदय होने पर जब नदी का उतार कम हुआ तो हम दोनों एक-दूसरे का आलिङ्गन कर कभी रोते थे और कभी हँसते थे। हे भूमिपाल ! यहाँ एक बार का रहना भी जीवन-भर लगता है। बिना प्यार के यहाँ कौन रहे ?[८३]

केवल किन्नर ही नहीं बल्कि किन्नरेतर पुरुष भी किन्नरियों की प्राप्ति के लिये कामभावना से पीड़ित होकर विलाप करते हैं। तृतीय शती के ग्रन्थ दिव्यावदान के अनुसार हस्तिनापुर का राजकुमार सुधन अपनी प्राण-प्रिया किन्नरी, मनोहरा के वियोग के दुःख से दुःखी होकर विलाप करते हुए कहता है[८४] -

> **मैं मनोरथ के गुणों से युक्त मनोहरा को नहीं देख रहा हूँ।**
> **सुन्दर रूप से युक्त मेरी मनोहरा कहाँ चली गयी।**
> **मैं मन से दौड़ रहा हूँ, मेरा मन मूर्च्छित हो रहा है।**
> **उसके विना मेरा हृदय बार-बार जल रहा है।**
> **मनोहरा के विना मेरा शरीर जल रहा है।**
> **मुझ पर यह विपत्ति कहाँ से आ गयी?** [८५]

राजकुमार आगे कहता है कि मनोहरा के बिना मैं रति-सुख कहाँ प्राप्त करुँगा। पूर्व अनुभूत रति-सुख का स्मरण करते हुये[८६] राजकुमार सुधन चन्द्रमा, मृगी, भ्रमर, कोयल, अशोक वृक्ष तथा ऋषि को सम्बोधित करते हुये कहता है कि क्या तुम सब ने कहीं मेरी मनोहरा नामक प्राण-प्रिया को देखा है ?[८७]

---

८१. अथ मे पियसामिको किन्नरोमं 'पच्छतो आगच्छती' ति मञ्ञमानो एतं नदिं उत्तरीति आह। वही, पृ०, ३९९

८२. किन्नरा नाम उदकभीरुका होन्ति, इति सा ओतरितुं न विसहि। वही, पृ०, ४००

८३. उभोसु तीरेसु मयं तदा ठिता, सम्पस्सन्ता उभयो अञ्ञमञ्ञं। सकिम्पि रोदाम सकिं हसाम, किच्छेन नो आगमा संवरी सा॥ पातोव खो उग्गते सूरियम्हि, चतुक्कं नदिं उत्तरियान लुद्द॥ आलिङ्गिया अञ्ञमञ्ञं मयं उभो, सकिम्पि रोदाम सकिं हसाम। वस्सेकिमं जीवितं भूमिपाल, को नीध कन्ताय विना वसेय्य। वही, गाथा-संख्या, २०२-२०४, पृ०, ३९९

८४. स मनोहरा वियोगदुःखार्तः कृच्छ्ं विललाप, करुणं परिदेवते। दिव्यावदानम्, सुधनकुमारावदानम्, पृ०, २९४

८५. मनोहरां न पश्यामि मनोरथगुणैर्युताम्। साधुरूपसमायुक्ता क्व गता मे मनोहरा॥ २१॥ मनसा संप्रधावामि मनो मे संप्रमुह्यते। हृदयं दह्यते चैव रहितस्य तया भृशम्॥ २२॥ मनोभिरामा च मनोहरा च मनोनुकूला च मनोरतिश्च। सन्तप्तदेहोऽस्मि मनोहरां विना कुतो ममेदं व्यसनं समागतम्॥ २३॥ वही

८६. कुतो मे रतिरनुप्राप्यतामिति ? अनुभूतपूर्वरतिमनुस्मरन् एवं विललाप। वही, पृ०, २९४-२९५

८७. भोः पूर्णचन्द्र रजनीकर तारराज। हे त्वं कुरङ्गि तृणवारिपलाशभक्षे॥ नीलाञ्जनाचलसुवर्णमधुद्विरेफ। भोः कोकिलोत्तम वनान्तरवृक्षवासिन्॥ मनोहरा शोकविमूर्च्छितं मां एषोऽञ्जलिस्ते कुरु वीतशोकम्। वन्दे ऋषे नतशिरा वद मे लघु त्वं दृष्टा त्वया मम मनोहरनामधेया॥ वही, गाथा-संख्या, २४-२६, २८-३०, पृ०, २९५-२९६

पतिव्रता किन्नरियाँ

चन्दा नामक किन्नरी ने पतिव्रत धर्म का पालन करते हुये अपने मृतपति को पुनर्जीवित किया था। प्राचीन काल में हिमालय प्रदेश में किन्नर योनि में उत्पन्न चन्द नामक एक किन्नर था और चन्दा नामक किन्नरी उसकी भार्या थी। वे दोनों चन्द नामक रजतपर्वत पर रहते थे। एक बार वाराणसी का राजा अपना राज्य अमात्यों को सौंपकर, पञ्चायुधों से सन्नद्ध होकर अकेला ही हिमालय की ओर चल पड़ा। वह राजा मृग-माँस को खोजता हुआ, एक क्षुद्र नदी का अनुसरण करता हुआ ऊपर चढ़ा। चन्द पर्वत पर रहने वाले किन्नर वर्षाकाल में नीचे नहीं उतरते थे। वे गर्मी के समय में ही नीचे उतरते थे। गर्मी के मौसम में वह चन्दकिन्नर अपनी भार्या के साथ मधुर-स्वर से गाते हुए नीचे उतरकर उस क्षुद्र नदी पर पहुँचा। फिर फूलों को पानी में बिखेरकर उन्होंने जलक्रीड़ा की।[८८] तदुपरान्त वे दोनों रजत-वस्त्र के रङ्ग वाले बालु (रेत) में पुष्प-शैय्या तैयार कर बैठ गये। चन्द-किन्नर ने बाँस की एक नाल (बाँसुरी) लेकर मधुर-स्वर से गाना शुरु कर दिया। चन्द-किन्नरी अपने कोमल हाथों को झुकाकर उसके समीप ही खड़े होकर नाचने और गाने लगी। जब राजा ने उनकी आवाज सुनी तो अपने पैरों की आवाज किये बिना ही धीरे-धीरे आकर और पास में ही छिपकर उन किन्नरों को देखने लगा। उन दोनों को देखकर, किन्नरी पर आसक्त हो, उस राजा ने सोचा कि इस किन्नर को मारकर इस किन्नरी के साथ सहवास करुँगा। ऐसा निश्चय कर उस राजा ने चन्दकिन्नर को बेंध दिया।[८९] वेदना से अभिभूत होकर विलाप करते हुये उस चन्द-किन्नर ने चन्दा-किन्नरी के प्रति ये चार गाथायें[९०] कहीं-

हे चन्दे! ऐसा लग रहा है कि लहू के बहने से मैं ले जाया जा रहा हूँ। आज मैं जीवन छोड़ रहा हूँ, मेरे प्रांण रुक रहे हैं।

हे चन्दे! किसी और शोक से नहीं, केवल तुम्हारी चिन्ता से मैं डूबता सा जा रहा हूँ। मुझे दुःख है, मेरा हृदय जल रहा है।

---

८८. हिमवन्तपदेसे किन्नरयोनियं निब्बत्ति, चन्दा नामस्स भरिया। ते उभोपि चन्दनामके रजतपब्बते वसिंसु। तदा बाराणसिराजा अमच्चानं रज्जं निय्यादेत्वा सन्नद्धपञ्चायुधो एककोव हिमवन्तं पाविसि। सो मिगमंसं खादन्तो एकं खुद्दकनदिं अनुसञ्चरन्तो उद्धं अभिरुहि। चन्दपब्बतवासिनो किंन्नरा वस्सारत्तसमये अनोतरित्वा पब्बतेयेव वसन्ति, निदाघसमये ओतरन्ति। तदा च सो चन्दकिन्नरो अत्तनो भरियाय सद्धिं ओतरित्वा खुद्दकनदिं पत्वा, ओतरित्वा उदके पुप्फानि विकिरित्वा उदककीळं कीळित्वा। खुद्दकनिकाये, जातक-अट्ठकथा, चतुत्थो भागो, चन्दकिन्नरी - जातकवण्णना, पृ०, २५२-२५३

८९. ततो चन्दकिन्नरो वेळुं वादेन्तो मधुरसद्देन गायि। चन्दकिन्नरी मृदुहत्थे नामेत्वा तस्स अविदूरे ठिता नच्चि चेव गायि च। सो राजा तेसं सद्दं सुत्वा पदसद्दं असावेन्तो सणिकं गन्त्वा पटिच्छन्ने ठत्वा ते किन्नरे दिस्वा किन्नरिया पटिबद्धचित्तो हुत्वा 'तं किन्नरं विज्झित्वा जीवितक्खयं पापेत्वा इमाय सद्धिं संवासं कप्पेसामी' ति ठत्वा चन्दकिन्नरं विज्झि। वही, पृ०, २५३

९०. सो वेदनाप्पत्तो परिदेवमानो चतस्सो गाथा अभासि - 'उपनीयतिदं मञ्ञे, चन्दे लोहितमद्दने। अज्ज जहामि जीवितं, पाणा मे चन्दे निरुज्झन्ति।। 'ओसीदि मे दुक्खं हदयं, मे डय्हते नितम्मामि। तव चन्दिया सोचन्तिया, न नं अञ्ञेहि सोकेहि।। 'तिणमिव वनमिव मिलायामि, नदी अपरिपुण्णाव सुस्सामि। तव चन्दिया सोचन्तिया, न नं अञ्ञेहि सोकेहि।। 'वस्समिव सरे पादे, इमानि अस्सूनि वत्तरे मय्हं। तव चन्दिया सोचन्तिया, न नं अञ्ञेहि सोकेहि' ति।। वही

हे चन्दे! किसी और शोक से नहीं, केवल तुम्हारी चिन्ता से मैं तिनके की तरह कुम्हला (म्लान हो) रहा हूँ, अपूर्ण नदी की तरह सूख रहा हूँ।

हे चन्दे! किसी अन्य शोक से नहीं, केवल तुम्हारी चिन्ता से मेरे आँसू उसी तरह बह रहे हैं जिस तरह पर्वत के ऊपर से नीचे तालाब में वर्षा का जल बहता है।

आनन्द में मस्त होने के कारण चन्द-किन्नरी यह न जान सकी कि चन्द-किन्नर बेंधा जा चुका है। किन्तु उसे औंधे मुँह पड़ा देखकर वह सोचने लगी - मेरे प्रिय स्वामी को क्या दु:ख है? घाव में से बहते हुए लहू को देखकर अपने प्रिय-स्वामी के दु:ख को न कह सकने के कारण वह उच्च-स्वर से विलाप करने लगी। इसी बीच राजा ने किन्नर को मरा हुआ समझकर अपने आपको प्रकट किया। चन्द-किन्नरी ने राजा को देखकर---निश्चित रूप से इसी चोर ने मेरे प्रिय-स्वामी को बेंध दिया है, ऐसा मानकर, काँपते हुये भागकर, पर्वत की चोटी पर खड़े होकर राजा को शापित करते हुये ये पाँच गाथायें[९१] कहीं -

पापी है वह राजपुत्र, जिसने मुझ बेचारी के प्रिय-पति को वन के मूल में बींध दिया है। बींधा हुआ वह भूमि पर पड़ा है।

हे राजपुत्र! किन्नर को चाहने वाली मुझ (किन्नरी) का जो यह हृदय का शोक है, वह तेरी माता को प्राप्त हो।

हे राजपुत्र! किन्नर को चाहने वाली मुझ (किन्नरी) का जो यह हृदय का शोक है, वह तेरी पत्नी को प्राप्त हो।

हे राजपुत्र! तू ने मेरे प्रति कामुकता के कारण जो मेरे निर्दोष किन्नर को मारा है, इस कारण मेरी आह (बद्दुआ) है कि तुम्हारी माता न तो पुत्र को देख सके और न ही पति को।

हे राजपुत्र! तू ने मेरे प्रति कामुकता के कारण जो मेरे निर्दोष किन्नर को मारा है, इस कारण मेरी आह (बद्दुआ) है कि तुम्हारी पत्नी न तो पुत्र को देख सके और न ही पति को।

पाँच गाथाओं के द्वारा विलाप करती हुई, पर्वत के शिखर पर खड़ी उस किन्नरी के प्रति राजा ने यह गाथा कही -

---

९१. अत्तनो रतिया मत्ता हुत्वा तस्स विद्धभावं न जानाति, विसञ्ञं पनं न परिवत्तित्वा निपन्नं दिस्वा 'किं नु खो मे पियसामिकस्स दुक्ख' न्ति उपधारेन्ती पहारमुखतो पग्घरन्तं लोहितं दिस्वा पियसामिके उप्पन्नं बलवसोकं सन्धारेतुं असक्कोन्ती महासद्देन परिदेवि। राजा 'किन्नरो मतो भविस्सती' ति निक्खमित्वा अत्तानं दस्सेसि। चन्दा तं दिस्वा 'इमिना मे चोरेन प्रियसामिको विद्धो भविस्सती' ति कम्पमाना पलायित्वा पब्बतमत्थके ठत्वा राजानं परिभासन्ती पञ्च गाथा अभासि - पापो खोसि राजपुत्त, यो मे इच्छितं पतिं वराकिया। विज्झसि वनमूलस्मिं, सोयं विद्धो छमा सेति॥ इमं मय्हं हदयसोकं, पटिमुञ्चतु राजपुत्त तव माता। इमं मय्हं हदयसोकं, पटिमुञ्चतु राजपुत्तं तव जाया। मा च पुत्तं मा च पतिं, अद्दक्खि राजपुत्त तव माता। मा च पुत्तं मा च पतिं, अद्दक्खि राजपुत्त तव जाया। वही, पृ०, २५४

'हे चन्दे ! तू मत रो, जङ्गल के अन्धकार की सी आँखों वाली, तू सोच मत। तू मेरी भार्या होगी और राजकुल में स्त्रियों के द्वारा पूजी जाओगी।' [९२]

चन्दा-किन्नरी ने राजा के ऐसे घृणित वचनों को सुनकर सिंहनाद (शेर की सी गर्जना) करते हुये एक दूसरी गाथा कही –

हे राजपुत्र! मैं मर भले ही जाऊँ, परन्तु तेरी नहीं होऊँगी। [९३]

चन्दा-किन्नरी के इस प्रकार के निरपेक्ष वचनों को सुनकर राजा चला गया। चन्दा-किन्नरी ने भी राजा को गया हुआ जानकर, पृथ्वी पर औंधे मुँह पड़े हुए किन्नर का आलिङ्गन कर, उसे पर्वत-शिखर पर ले जाकर, पर्वत के समतल भाग पर लेटाकर, किन्नर का सिर अपनी गोद में रखकर, जोर-जोर से विलाप करते हुये[९४] बारह गाथाओं में सम्पूर्ण हिमालय पर्वत का वर्णन करते हुये यही कहा कि हे किन्नर! यहाँ सब कुछ होगा, परन्तु तू नहीं दिखाई देगा। ऐसी स्थिति में मैं क्या करुँगी।[९५] विलाप करते-करते किन्नरी का हाथ किन्नर की छाती पर पड़ गया और किन्नरी को उसमें उष्णता (गर्मी) की अनुभूति हुई। किन्नरी ने लोकपालों का स्मरण किया। उसके शोक की तीव्रता से शक्र (इन्द्र) का आसन गर्म हो गया। शक्र (इन्द्र) ने ध्यान मग्न होकर, किन्नरी के शोक के कारण को जानकर, ब्राह्मण के वेष में आकर कुण्डी से जल को छिड़क कर किन्नर को जीवित कर दिया।[९६] इस प्रकार चन्दा-किन्नरी ने पतिव्रत धर्म का पालन करते हुये अपने मृत-पति को (इन्द्र) से जिन्दा करवाया।

किन्नरों के राज-परिवार तथा उनके वैवाहिक सम्बन्ध

इतिहास में अनेक किन्नर-राजाओं का उल्लेख प्राप्त होता है। तृतीय शती[९७] के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'दिव्यावदान' में किन्नरराज द्रुम का वर्णन है जिसकी मनोहरा नामक पुत्री थी।[९८] उत्तर-दिशा में नौ कालरूपी पर्वतों को लाँघकर तथा रङ्गा, पतङ्गा, तपनी, चित्रा, रुदन्ती, हसन्ती, आशीविषा और वेत्रनदी नामक नदियों को पार करके, जहाँ हिमवान् पर्वतराज (हिमालय) स्थित है, वहीं किन्नरराज द्रुम के भवन (महल) की स्थिति

---

९२. 'मा त्वं चन्दे रोदि मा सोपि, वनतिमिरमत्तक्खि। मम त्वं हेहिसि भरिया, राजकुले पूजिता नारीभी' त्ति॥ वही

९३. अपि नूनहं मरिस्सं, नाहं राजपुत्त तव हेस्सं। वही, पृ०, २५५

९४. सा तस्स गतभावं ञत्वा ओरुय्ह महासत्तं आलिङ्गित्वा पब्बतमत्थकं आरोपेत्वा पब्बततले निपज्जापेत्वा सीरामस्स अत्तनो ऊरूसु कत्वा बलवपरिदेवं परिदेवमाना द्वादश गाथा अभासि। वही

९५. गाथा संख्या, ३०-४१, वही, पृ०, २५५-२५६

९६. परिदेवित्वा महासत्तस्स उरे हत्थं ठपेत्वा सन्तापभावं ञत्वा 'चन्दो जीवतियेव, देवुज्झानकम्मं कत्वा जीवितमस्स दस्सामी' ति चिन्तेत्वा 'किं नु खो लोकपाला नाम नत्थि, उदाहु विप्पवुत्था, अदु मता, ते मे प्रियसामिकं न रक्खन्ती' ति देवुज्झानकम्मं अकासि। तस्सा सोकवेगेन सक्कस्स आसनं उण्हं अहोसि। सक्को आवज्जेन्तो तं कारणं ञत्वा ब्राह्मणवण्णेन आगन्त्वा कुण्डिकतो उदकं गहेत्वा महासत्तं आसिञ्चि। तावदेव विसं अन्तरधायि। महासत्तो सुखितो उट्ठासि। वही, पृ०, २५७

९७. Divyāvadāna came into existence between 200 and 350 A.D.. Divyāvadāna, edited by P.L. Vaidya, Introduction, p. xi

९८. मनोहरा नाम द्रुमस्य किन्नरराजस्य दुहिता। वही, सुधनकुमारावदानम्, पृ०, २८७

बतलायी गयी है।[९९] सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के सुप्रसिद्ध इतिहासकार बाण उल्लेख करते हैं कि किन्नरराजद्रुम बर्फ से ढका हिमालय जैसा रक्षक पाकर भी साहस के अभाव में कुरुराज अर्जुन का किंकर (सेवक) हो गया था।[१००] द्रुम ही नहीं बल्कि द्रुम के पुत्र का राज्य भी अर्जुन ने जीत लिया था।[१०१]

इसके अतिरिक्त बदर नामक एक अन्य किन्नर-राजा का उल्लेख प्राप्त होता है[१०२] जिसका जम्बुद्वीप में बदरद्वीप नामक एक महान् नगर था।[१०३] उस बदरद्वीप में चार किन्नर-नगर थे। वाराणसी के सार्थवाह सुप्रिय ने लोकहित की भावना से अनमोल रत्नों की प्राप्ति के लिये इन चारों किन्नर-नगरों में प्रवेश किया था।[१०४] सर्वप्रथम सुप्रिय सार्थवाह सौवर्ण नामक किन्नर-नगर में प्रवेश करता है।[१०५] सौवर्ण किन्नर-नगर से निकलने के उपरान्त उसने दूसरा रूप्यमय किन्नर-नगर देखा।[१०६] रूप्यमय किन्नर-नगर से निष्क्रमण करने के पश्चात् सुप्रिय सार्थवाह वैडूर्यमय तृतीय किन्नर-नगर में प्रवेश करता है।[१०७] तृतीय किन्नर-नगर से निकलने के उपरान्त महासार्थवाह सुप्रिय ने रत्नमय चतुर्थ किन्नर-नगर को देखा।[१०८] बदर नामक किन्नर-राजा ने सुप्रिय सार्थवाह को एक बहुमूल्य मणिरत्न दिया था। उस मणिरत्न की अलौकिक शक्ति के कारण वह सार्थवाह लोगों की दृष्टि में न आता हुआ आकाश से उतर सकता था। वह मणिरत्न सभी प्राणियों के मनोरथ को सम्पन्न करने वाला जम्बुद्वीप का रत्नविशेष था।[१०९]

बारहवीं शती[११०] के ऐतिहासिक ग्रन्थ कल्हण कृत **'राजतरङ्गिणी'** में भी कश्मीर के अनेक राजाओं की परम्परा में एक किन्नर नामक राजा का वर्णन आता है। युद्ध में किये हुये उसके पराक्रम किन्नरों द्वारा गाये जाते थे।[१११] पहले अत्यन्त सदाचारी होते हुये भी कुछ समय के पश्चात् जब वह राजा अनेक प्रकार के अनर्थ करने लगा

---

९९. उत्तरे दिग्भागे त्रयः कालपर्वताः, तानतिक्रम्य अपरे त्रयः, तानप्यतिक्रम्य अपरे त्रयः, तानतिक्रम्य हिमवान् पर्वतराजः। रङ्गा, पतङ्गा, तपनी, चित्रा, रुदन्ती, हसन्ती, आशीविषा वेत्रनदीं च समतिक्रम्य द्रुमस्य किन्नराजस्य भवनमिति। वही, पृ०, २९२-२९३

१००. सहिमहिमवद्वयवहितोऽप्युवाह बाहुबलव्यतिकरकातरः करं कौरवेश्वरस्य किङ्कर इवाकृती द्रुमः। हर्षचरितम्, सप्तम उच्छ्वास, पृ०, ३८०

१०१. देशं किंपुरुषावासं द्रुमपुत्रेण रक्षितम्, व्यजयत्पाण्डवश्रेष्ठः करे चैव न्यवेशयत्। महाभारत, सभापर्व, २५.१

१०२. इदमस्माकं महासार्थवाह मणिरत्नं बदरेण भ्रात्रा किन्नरराज्ञा प्रदत्तम्। दिव्यावदानम्, सुप्रियावदानम्, पृ०,७३

१०३. अस्ति खलु महासार्थवाह अस्मिन्नेव जम्बुद्वीपे बदरद्वीपो नाम महापत्तनो। वही, पृ०, ६४

१०४. साधु साधु महासार्थवाह, सफलीकृता ते श्रद्धा। साधिता बदरद्वीपमहापत्तनयात्रा। वही, पृ०, ७४

१०५. अथ सुप्रियो महासार्थवाहः प्रमुदितमनाः सुखप्रतिबुद्धः काल्यमेवोत्थाय सौवर्णं किन्नरनगरमनुप्राप्तः। वही, पृ०, ७२

१०६. सौवर्णात् किन्नरनगरात् प्रतिनिष्कान्तः अद्राक्षीत् सुप्रियो महासार्थवाहो रूप्यमयं किन्नरनगरम्। वही, पृ०, ७२-७३

१०७. रूप्यमयात् किन्नरनगरात् प्रतिनिष्कान्तो यावत् तृतीयं वैडूर्यमयं किन्नरनगरमनुप्राप्तः। वही, पृ०, ७३

१०८. तृतीयात् किन्नरनगरात् प्रतिनिष्कान्तः अद्राक्षीत् सुप्रियो महासार्थवाहश्चतुर्थं चतूरत्नमयं किन्नरनगरम्। वही

१०९. अस्यरत्नस्यानुभावादाकाशादवतरिष्यन्ति। अधिगतं ते सर्वजनमनोरथसंपादकं जम्बुद्वीपप्रधानं रत्नविशेषम्। वही, पृ०, ७४

११०. कल्हण राजतरङ्गिणी, शोभना नामक हिन्दी-व्याख्या से संवलित, यत्किञ्चित्, पृ०, ३

१११. किन्नरापरनामाथ किन्नरैर्गीतविक्रमः। विभीषणस्य पुत्रोऽभून्नरनामा नरधिपः। वही, प्रथमस्तरङ्गः, १९७

तो किन्नरपुर के विहार में ही रहने वाले एक बौद्ध-भिक्षु ने योगबल से उसकी पत्नी का अपहरण कर दिया।[११२] सोलहवीं सदी के ग्रन्थ शुक-राजतरङ्गिणी के अनुसार किन्नर-राजा ने उन्नतालीस वर्ष नौ मास तक राज्य किया।[११३] वह किन्नर-नामक राजा नागराज सुश्रवा की विवाहिता-पुत्री चन्द्रलेखा पर जो कि ब्राह्मण-कुमार विशाख[११४] की पतिव्रता पत्नी थी[११५], आसक्त हो गया। लज्जारूपी जंजीरों को तोड़ते हुए[११६], अपनी कामाग्नि को नियन्त्रित न कर पा सकने के कारण, जब उस किन्नर-राजा ने विशाख नामक ब्राह्मण के घर को चारों ओर से घेर लिया तो वह ब्राह्मण-कुमार पत्नी सहित अपने ससुर के घर पहुँचा। नागराज सुश्रवा ने अपने ब्राह्मण-जामाता से सारा वृतान्त जानकर मेघ-गर्जन के समान फुफकारते हुए ओले के बड़े-बड़े पत्थर बरसाकर किन्नर राजा समेत उस नगर को नष्ट कर दिया।[११७]

किन्नरराज द्रुम की पुत्री का हस्तिनापुर के राजा महाधन के पुत्र से विवाह

दिव्यावदान में किन्नरराज द्रुम की पुत्री मनोहरा तथा हस्तिनापुर के राजकुमार सुधन के विवाह का विस्तारपूर्वक वर्णन आता है। जब किन्नरराज ने राजकुमार सुधन के अद्भुत सौन्दर्य को देखा तो उन्होंने विस्मित होकर सुधन को कहा कि तुमने अपनी सुन्दरता के कराण मेरी पुत्री के दिल को जीत लिया है, परन्तु यदि तुम इस दिव्य-सम्बन्ध को चाहते हो तो तुम्हें अपने पराक्रम को दिखलाना होगा। यदि तुम धनुर्वेद में अपना कौशल दिखलाते हो तभी यशरूपी पताका यह मनोहरा तुम्हारी होगी।[११८] राजकुमार सुधन ने धनुर्वेद की परीक्षा के लिए राजा द्रुम द्वारा गढ़वाये गये खम्भों को छिन्न-भिन्न कर दिया[११९] जिससे किन्नरराज विस्मित हो उठा। तब उसने मनोहरा के ही रूप वाली हजारों सुन्दर किन्नरियों के मध्य में मनोहरा को खड़ी करके राजकुमार सुधन से कहा, कि हे राजकुमार! आओ, और मनोहरा को पहचान लो। तब राजकुमार सुधन ने मनोहरा को पहचान लिया।[१२०]

---

११२. सदाचारोऽपि स नृपः प्रजाभाग्यविपर्ययैः। व्यधाद्विषयदोषेण महाऽनर्थपरंपराम्। विहारे निवसन्नेकः किंनरग्रामवख्रतनि। तस्य योगबलात्कोऽपि श्रमणोऽपाहरत्प्रियाम्॥ वही, १९८-१९९

११३. श्रीकिन्नराभिधः। (व ३९/मा ९)। शुक-राजतरङ्गिणी तथा राजतरङ्गिणी संग्रहः, १९, पृ० २०५

११४. विशाखाख्योऽविशद्द्विजः। कल्हण-राजतरङ्गिणी, प्रथमस्तरङ्गः, २०४

११५. भुजगेन्द्रतनूजापि तं पतिं पतिदेवता। अतोषयत्परार्घ्यश्रीः शीलाचारादिभिर्गुणैः॥ वही, २४५

११६. सर्वोपायैरसाध्यां च विप्रस्तत्पतिरप्यसौ तेनायाच्यत लुब्धेन रागान्धानां कुतस्त्रपा॥ वही, २५५

११७. ताभ्यामभ्येत्य वृत्तान्ते ततस्तस्मिन्निवेदिते। क्रोधान्धः सरसस्तस्मादुज्जगाम फणीश्वरः॥ उद्गर्जज्जिह्मजीमूतजनितध्वान्तसंततिः। स घोराशनिवर्षेण ददाह सपुरं नृपम्॥ वही, २५८-२५९

११८. ततो द्रुमः किन्नरराजः सुधनं कुमारं ददर्श अभिरूपं दर्शनीयं प्रासादिकं परमया शुभवर्णपुष्कलतया समन्वागतम्। दृष्ट्वा च पुनः परं विस्मयमुपगतः। आह च -त्वया कान्त्या जितास्तावदेते किन्नरदारकाः। संदख्रशतप्रभावस्तु दिव्यसंबन्धमर्हसि॥ संदर्शय धनुर्वेदे दृढलक्षादिकौशलम्। ततः कीख्रतपताकेयं तवायत्ता मनोहरा॥ दिव्यावदानम्, सुधनकुमारावदानम्, पृ० २९८-२९९

११९. द्रुमस्य किन्नरराजस्य सौवर्णस्तम्भसमीपं गत्वा तान् स्तम्भान् कदलीच्छेदेन खण्डखण्डं छेत्तुमारब्धः। वही, पृ०,२९९

१२०. ततः किन्नरीसहद्रस्य मनोहरासमानरूपस्य मध्ये मनोहरां स्थापयित्वा सुधनः कुमारोऽभिहितः - एहि कुमार, प्रत्यभिजानासि मनोहरामिति ? ततः सुधनः कुमारस्तां प्रत्यभिज्ञातः। वही

वहाँ उपस्थित अन्य किन्नरों ने जब बल, वीर्य और पराक्रम से युक्त सुधन को देखा तो उन्होंने किन्नरराज से कहा। देर किस लिये? इसको मनोहरा दे दो।[१२१] तब किन्नरराज द्रुम ने किन्नर समाज द्वारा चयनित एवं मानित सुधन कुमार को अत्यधिक सत्कारपूर्वक, दिव्य अलंकारों से विभूषित उस मनोहरा को देते हुए कहा - किन्नरियों से घिरी हुई यह मनोहरा तुम्हें पत्नी के रूप में दी गई है। इसका कभी त्याग मत करना।[१२२] तब वह राजकुमार सुधन, मनोहरा के साथ कुछ समय तक किन्नर-भवन में ही रहा।[१२३] कुछ समय के पश्चात् हजारों श्रेष्ठ जनों से घिरे हुए उसने मनोहरा के साथ हस्तिनापुर में प्रवेश किया। पिता ने उसे गले से लगा लिया। तब राजा महाधन ने उसके बल, वीर्य और पराक्रम को जानकर उसका राज्याभिषेक कर दिया।[१२४]

किन्नरी - भाषा

किसी समय सारा हिमालय प्राचीन किन्नरी भाषा बोलता था।[१२५] आज भी किन्नरी-भाषा हिमालय क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान बनाये हुये है। इसका मुख्य कारण यह है कि किन्नरी-भाषा की अपनी लिपि रही है।[१२६] प्रथम अथवा द्वितीय शताब्दी[१२७] के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ ललितविस्तर में चौंसठ लिपियों की गणना में किन्नरलिपि को स्वतन्त्र लिपि माना गया है। जब बोधिसत्त्व लिपिज्ञान के लिए लिपिशाला में प्रवेश करते हैं तो वे अपने आचार्य विश्वामित्र से प्रश्न करते हैं कि हे उपाध्याय! चौंसठ लिपियों[१२८] में से आप मुझे कौन सी लिपि सिखायेंगे?[१२९]

---

१२१. किन्नराः कथयन्ति - देव, अयं सुधनः कुमारो बलवीर्यपराक्रमसमन्वितो मनोहरायाः प्रतिरूपः। किमर्थं विप्रलभ्य? दीयतामस्य मनोहरेति। वही

१२२. ततो द्रुमः किन्नरराजः किन्नरगणेन संवर्णितः सुधनं किन्नराभिमतेन महता सत्कारेण पुरस्कृत्य मनोहरां दिव्यालंकारविभूषितां वामेन पाणिना गृहीत्वा दक्षिणेन सौवर्णभृङ्गारं सुधनं कुमारमभिहितः - कुमार, एषा ते मनोहरा किन्नरीपरिवृता भार्यार्थाय दत्ता। एनां न परित्यक्षसीति। वही

१२३. सुधनः कुमारो द्रुमस्य किन्नरराजस्य प्रतिश्रुत्य किन्नरभवनस्थो मनोहरया सार्धं निष्पुरुषेण तूर्येण क्रीडते रमते परिचारयति। वही

१२४. ततः कुमारोऽनेकनरवरसहद्रपरिवृतो मनोहरया सार्धं हस्तिनापुरं नगरं प्रविष्टः। पित्रा कण्ठे परिष्वक्तः। ततो धनेन राज्ञा अतिबलवीर्यपराक्रम इति विदित्वा राज्याभिषेकेणाभिषिक्तः। वही, ३००

१२५. राहुल सांकृत्यायन : किन्नर देश, पृ०, ३२१

१२६. Kimnara – Lipi, a kind of script. Franklin Edgerton ë Buddhis' Hybrid Sanskri' Grammer and Dictionary, P. 183

१२७. प्रथम अथवा द्वितीय शताब्दी में ललितविस्तर ग्रन्थ प्राप्त था। ललितविस्तर, प्रस्तावना, पृ०, १८

१२८. विश्वामित्रमाचार्यमेवमाह - कतमां मे भो उपाध्याय लिपिं शिक्षापयसि। ब्राह्मीखरोष्टीपुष्करसारिं अङ्गलिपिं वङ्गलिपिं मगधलिपिं मङ्गल्यलिपिं अङ्गुलीयलिपिं शकारिलिपिं ब्रह्मवलिलिपिं पारुष्यलिपिं द्राविडलिपिं किरातलिपिं दाक्षिण्यलिपिं उग्रलिपिं संख्यालिपिं अनुलोमलिपिं अवमूर्धलिपिं दरदलिपिं खाष्यलिपिं चीनलिपिं लूनलिपिं हूणलिपिं मध्याक्षरविस्तरलिपिं पुष्पलिपिं देवलिपिं नागलिपिं यक्षलिपिं गन्धर्वलिपिं किन्नरलिपिं महोरगलिपिं असुरलिपिं गरुडलिपिं मृगचक्रलिपिं वायसरुतलिपिं भौमदेवलिपिं अन्तरिक्षदेवलिपिं उत्तरकुरुद्वीपलिपिं अपरगोडानीलिपिं पूर्वविदेहलिपिं उक्षेपलिपिं निक्षेपलिपिं विक्षेपलिपिं प्रक्षेपलिपिं सागरलिपिं वज्रलिपिं लेखप्रतिलेखलिपिं अनुद्रुतलिपिं शास्त्रावर्तां गणनावर्तलिपिं उक्षेपावर्तलिपिं निक्षेपावर्तलिपिं पादलिखितलिपिं द्विरुत्तरपदसंधिलिपिं यावद्दशोत्तरपदसंधिलिपिं मध्याहारिणीलिपिं सर्वरुतसंग्रहणीलिपिं विद्यानुलोमाविमिश्रितलिपिं ऋषितपस्तप्तां

किन्नरों के वाद्य

हिमाचल प्रदेश का किन्नौर जिला एक जनजातीय क्षेत्र है। जनजातियाँ आदिम प्रकार के एक सितार का प्रयोग करती है। इसमें बाँस की पतली खपच्चियों के चार तार होते हैं तथा इसका घट लकड़ी या कद्दू का होता है।[१३०] हिमालय की अधित्यकाओं में रहने वाले देवगायक किन्नरों के भी अपने वाद्य हैं। इन वाद्यों में किन्नरी-वीणा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। ११२९ ई० में सोमेश्वर द्वारा विरचित मानसोल्लास नामक ग्रन्थ में तीन प्रकार के तुम्बकों का उल्लेख किया गया है[१३१]- १. लघु तुम्ब, २. पृथुतुम्ब, ३. किन्नरी तुम्ब। सोमेश्वर ने किन्नरी तुम्बक के विषय में लिखा है कि जो एक बित्ता से अधिक लम्बी, स्नायु और तन्त्री से युक्त तथा तीन तुम्बकों से युक्त हो, वह किन्नरी वीणा होती है।[१३२] सङ्गीत रत्नाकर शार्ङ्गदेव के अनुसार किन्नरी-वीणा के दो भेद हैं - लघ्वी किन्नरी तथा बृहती किन्नरी। लघ्वी किन्नरी-वीणा की लम्बाई तीन बित्ता, पाँच अङ्गुल तथा मोटाई (वर्तुल प्रमाण) पाँच अङ्गुल की होती है। इसकी तन्त्री लौह-निख्रमत होती है। बृहती किन्नरी-वीणा लघ्वी से एक बित्ता अधिक लम्बी होती है। इसकी चौड़ाई भी लघ्वी से एक अङ्गुल अधिक होती है। इसमें तन्त्री स्नायु निख्रमत होती है। इन दोनों प्रकार की किन्नरी-वीणाओं में तीन तुम्ब होते हैं। किन्नरी-वीणा के देशी भेद तीन हैं - १. बृहती २. मध्यमा ३. लघ्वी।[१३३] रुद्रवीणा अथवा रौद्री वीणा भी किन्नरी-वीणा का ही परिष्कृत रूप है।[१३४] वैजयन्ती कोष में अनेक प्रकार की वीणाओं के वर्णन में किन्नरी-वीणा का भी उल्लेख किया गया है।[१३५] ब्रजभाषा सूर-कोष में भी किन्नरी का उल्लेख प्राप्त होता है।[१३६] आधुनिक युग के सभी वाद्य जिनमें सारिकायें हैं, किन्नरी के ही विकसित रूप हैं। कलकता संग्रहालय में जो किन्नरी-वीणा प्रदख्रशत है वह पैंतीस अङ्गुल लम्बी था तीन तुम्ब वाली है।[१३७] कुछ ऐसे चित्र देखने योग्य हैं, जिनमें वीणा-वादक किन्नरी-वीणा के साथ देखे जा सकते हैं -

---

रोचमानां धरणीप्रेक्षिणीलिपिं गगनप्रेक्षिणीलिपिं सर्वौषधिनिष्यन्दां सर्वसारसंग्रहणीं सर्वभूतरुतग्रहणीम्। वही, लिपिशालासंदर्शनपरिवर्तः, पृ०, ८८

१२९. आसां भो उपाध्याय चतुष्षष्टीलिपिनां कतमां त्वं शिष्यापयिष्यसि ? वही

१३०. हीरा लाल शुक्ल, आदिवासी संगीत, पृ०, ३१

१३१. प्रथमं लघु तुम्बं स्याद् द्वितीयं पृथुतुम्बकम्। कथिता किन्नरी लघ्वी तुम्बकत्रयभूषिता।। मानसोल्लास : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ०, ४२५-४२६

१३२. वितस्त्यवधिकायामा परिणाहे गुणाधिका। स्नायुतन्त्रीसमायुक्ता तुंबकत्रयसंयुता।। वही, पृ०, ४२६

१३३. डॉ० सुषमा कुलश्रेष्ठ : कालिदास-साहित्य एवं वादन-कला, पृ०, ४५

१३४. वही, पृ०, ४३

१३५. काण्डवीणा कुवीणा च ढक्कारी किन्नरीति च। सारिका कुड्णुणी चाथ यो दण्डोऽल्पकल स्वनः।। वैजयन्ती कोष, ३.९.१२८

१३६. झंझ झालरी किन्नरी रँग भीजी ग्वालिनि। ताल मुरज रबाब बीना किन्नरी रस सार। बाजत बीन रबाब किन्नरी अमृत कुंडली यंत्र। ब्रजभाषा : सूर कोश, प्रथम खण्ड, पृ०, २५८

१३७. डॉ० सुषमा कुलश्रेष्ठ : कालिदास-साहित्य एवं वादन-कला, पृ०, ४५
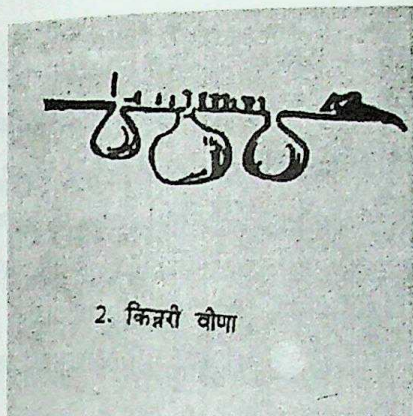
[१३८]

[१३९]

चित्रा-वीणा-वादक, अजन्ता, गुफा न० ४, द्वितीय शताब्दी ई०पू० से षष्ठ शताब्दी तक। इस वाद्य में परदों की प्रतीति होती हैं। यद्यपि मतङ्ग की किन्नरी से पहले किसी वाद्य में परदों का उल्लेख उपलब्ध नहीं है।[१४०]

[१४१] [१४२]

वीणावादिनी, अबानेर,
हसरत माता का मन्दिर,
वीणावादिनी, बेलूर, चित्रकेश्वर
मन्दिर, द्वादश दशम
शताब्दी, यह किन्नरी-
वीणा का आदिम शताब्दी।
किन्नरी-वीणा का एक प्रकार। बाँयी रूप प्रतीत होता है।[१४३] और दाँयी ओर की छोटी प्रतिमायें क्रमशः हुडुक तथा मञ्जीरा बजा रही है।[१४४]

---

१३८. डॉ० असित कुमार बनर्जी, हिन्दुस्तानी संगीत : परिवर्तनशीलता, परिशिष्ट : चित्रसूची, चित्र-संख्या, २
१३९. डॉ० सुषमा कुलश्रेष्ठ, कालिदास-साहित्य एवं वादन-कला : चित्र-वीथी, चित्र-संख्या, ८, पृ०, १५
१४०. वही, चित्र-सूची, पृ०, ४
१४१. वही, चित्र-वीथी, चित्र-संख्या, १३, पृ०, १८
१४२. वही, चित्र-संख्या, १४, पृ०, १९
१४३. वही, चित्र-सूची, पृ०, ४
१४४. वही, चित्र सूची, पृ०, ४

किन्नरों के लिए अश्वमुख अथवा तुरङ्गवदन प्रयोग क्यों

साहित्य में किन्नरों के लिये अश्वमुख[१४५] तथा तुरङ्गवदन[१४६] जैसे शब्दों का प्रयोग प्राप्त होता है जिसका अर्थ है कि किन्नरों का मुख अश्व अर्थात् घोड़े के जैसा होता है। महाकवि कालिदास भी इस प्रयोग से अछूते नहीं रहे। इसीलिए किन्नर-स्त्रियों के लिये अश्वमुखी[१४७] शब्द का प्रयोग करते हुये वे उल्लेख करते हैं कि हिमालय पर पत्थर की चट्टान जैसे कड़े हिम-युक्त मार्ग में चलती हुई किन्नरों की स्त्रियाँ हिम की शीतलता के कारण अङ्गुलि और एड़ियों में कष्ट पाने पर भी नितम्ब तथा स्तनों के भार से अपनी स्वाभाविक मन्द-गति को नहीं छोड़ पाती हैं। एक ओर तो किन्नर स्त्रियों के शारीरिक सौन्दर्य का इतना उदात्त वर्णन और दूसरी ओर उन्हें अश्वमुखी कहना आपस में उतना ही विरोधी है जितना कि प्रकाश और अन्धकार।

पिछले पृष्ठों में किन्नर तथा किन्नरियों से सम्बन्धित जो भी उल्लेख किया गया है उससे कहीं भी यह प्रतीत नहीं होता कि किन्नर तथा किन्नरियों का मुख किसी पशु जैसा रहा होगा। इसीलिए किन्नर शब्द के दुरुपयोग की यथार्थता को जानना आवश्यक हो जाता है। जिस प्रकार वर्तमान समय में किन्नर शब्द का भ्रामक प्रचार हो रहा है, उसी प्रकार का प्रचार भारतवर्ष में शताब्दियों पहले भी हो चुका है। यह तो सर्वविदित है कि भारतवर्ष में संस्कृतियों की विविधता है। हमें याद रखना चाहिये कि जब सिकन्दर भारत में (३२३ ई० पू०) आया था तब यूनान दर्शन, कला, साहित्य आदि में उन्नति के शिखर पर पहुँचा हुआ था। उस समय और बाद में भी लाखों यूनानी हमारे देश में आकर सदा के लिए यही रह गये और आज वे हमारे रक्त-माँस में इस तरह घुल-मिल गये हैं कि उनका पता आँख से नहीं बल्कि इतिहास के ज्ञान से ही मिलता है। जिस तरह यूनानियों का रुधिर-माँस चुपचाप हमारा अभिन्न अंग बन गया, उसी प्रकार उनके ज्ञान का बहुत-सा हिस्सा भी हमारे ज्ञान में समा गया।[१४८] हिन्दू विवाह के लिए अत्यन्त पुण्य लग्न 'जामित्र' जिसमें कालिदास ने **'शिव और पार्वती'** के दैवी जोड़े को विवाह-सूत्र में बाँधा था,[१४९] मूल यूनानी शब्द **'दियमेत्रोन'** से लिया गया था।[१५०] किन्नरों को अश्वमुख अथवा तुरङ्गवदन वाला कहना भी यूनानी सभ्यता की ही देन है। भारत में यूनानियों के आगमन से पहले किन्नर शब्द के लिए कहीं भी अश्वमुख जैसा प्रयोग नहीं मिलता है। परन्तु यदि विद्वत्जन सचेत न रहें तो किसी भी शब्द का दुरुपयोग हो सकता है जैसा कि वर्तमान समय में भी हो रहा है। **वास्तव में किन्नर यूनानियों के एक कल्पित पशु हैं जिनका सिर मनुष्य जैसा और निचला भाग घोड़े जैसा है। यूनानियों की यह आकृति राशि-चक्र के**

---

१४५. अश्वमुखत्वात्कुत्सिता नराः। अमरकोष, १.१.११ पर रामाश्रमी व्याख्या

१४६. स्यात् किंनरः किंपुरुषस्तुरङ्गवदनो मयुः। वही, १.१.७१

१४७. (क) उद्वेजयत्यङ्गुलिपार्ष्णिभागान्, मार्गे शिलीभूतहिमेऽपि यत्र। न दुर्वहश्रोणिपयोधरार्त्ता भिन्दन्ति मन्दां गतिमश्वमुख्यः॥ कुमारसम्भवम्, १.११ (ख) अश्वानां मुखानीव मुखानि यासां ता अश्वमुख्यः किन्नरस्त्रियः। वही, मल्लिनाथ टीका

१४८. राहुल सांकृत्यायन, दर्शन-दिग्दर्शन, पृ०, २९

१४९. तिथौ च जामित्रं लग्नात्सप्तमं स्थानं तस्य गुणः शुद्धिः सा च ग्रहराहित्यं तेनान्वितायां सत्याम्। यद्यपि जामित्रशुद्धिर्लग्नधर्मस्तथापि तद्द्वारा तिथेरपि तथा व्यपदेशे न दोषः। कुमारसम्भव, ७.१ पर मल्लिनाथ टीका।

१५०. भगवत शरण उपाध्याय, भारतीय संस्कृति के स्रोत, पृ०, ६६

धनिष्ठा नक्षत्र का चिह्न है।[१५१] अब यह विद्वानों के लिए गवेषणा का विषय है कि विभिन्न प्रतिमाओं में किन्नर की आकृति को पशु के सदृश दर्शाना ज्योतिष के अनुसार क्या संकेत करता है?

किन्नरों का निवास-स्थान/किन्नरदेश/किन्नरवर्ष

यदि ऐतिहासिक साक्ष्यों का गहनता से अध्ययन किया जाए तो प्रतीत होता है कि पहले किन्नर-देश का क्षेत्र बहुत विस्तृत था। कश्मीर से पूर्व नेपाल तक प्रायः सारा ही पश्चिमी हिमालय किन्नर जाति का निवास स्थान था।[१५२] यही कारण है कि कैलाश पर्वत[१५३], गन्धमादन पर्वत[१५४], गङ्गाद्वार[१५५], गोकर्ण तीर्थ[१५६], चित्रकूट पर्वत[१५७], दण्डकारण्य[१५८], मन्दाकिनी का तट[१५९], मन्दराचल[१६०], मैनाक पर्वत[१६१], वसिष्ठ-आश्रम[१६२], विन्ध्य पर्वत[१६३], सौगन्धिक पर्वत[१६४] तथा हिमालय पर्वत[१६५] इत्यादि अनेक स्थलों पर किन्नरों के निवास का उल्लेख प्राप्त होता है। सृष्टि के नौ महाद्वीपों में एक किन्नरद्वीप भी माना जाता है।[१६६] गदाधर मन्दिर के प्राङ्गण में राजा रणवीर सिंह द्वारा लगे विक्रमी संवत् १९२९सन् १८७२ ई० में देवनागरी लिपि के शिलालेख में हिमालय के उत्तर में स्थित किन्नरवर्ष का उल्लेख किया गया है।[१६७] भारतीय भाषाओं में ही नहीं बल्कि जर्मन-भाषा के शब्द-कोष में भी किन्नर-वर्ष का उल्लेख प्राप्त होता है।[१६८]

---

१५१. अनुवादक सन्तराम, अलबेरूनी का भारत, पहला भाग, पृ०, ११६

१५२. राहुल सांकृत्यायन : किन्नर-देश, पृ०, २९२

१५३. असंख्येयास्तु कौन्तेय यक्षराक्षसकिन्नराः। नागाः सुपर्णा गन्धर्वाः कुबेरसदनं प्रति॥ महाभारत, वनपर्व, १३९.१२

१५४. विद्याधरानुचरितं किन्नरीभिस्तथैव च। गजसङ्घसमावासं सिंहव्याघ्रगणायुतम्॥ वही, १५८.३९

१५५. गन्धर्वयक्षरक्षोभिरप्सरोभिश्च सेवितम्। किरातकिन्नरावासं शैलं शिखरिणां वरम्॥ वही, ९०.२०

१५६. भूतयक्षपिशाचाश्च किंनराः समहोरगाः। सिद्धचारणगन्धर्वमानुषाः पन्नगास्तथा॥ वही, ८५.२५

१५७. किंनराचरितं देशं पश्य शत्रुघ्न पर्वते। हयैः समन्तादाकीर्णं मकरैरिव सागरम्॥ रामायण, २.९३.११

१५८. ऋक्षाः पृषतसङ्घाश्च वानराः किन्नरास्तथा। विहरन्ति महाबाहो रूपश्रेष्ठा महाबलाः॥ वही, ३.४३.१२

१५९. तत्र देवाः सगन्धर्वाः साप्सरोरगकिंनराः। विहारशीलाः सततं रमन्ते सर्वदाश्रिता॥ वही, ७.११.४३ - ४४

१६०. वसुमद्भिरविभ्रान्तैरलंविद्यैरविस्मितैः। यद्बभासे नरैः कीर्णं मन्दरः किन्नरैरिव॥ सौन्दरनन्द, १.४८

१६१. कामरूपिभिराविष्टमभीक्ष्णं सपरिच्छदैः। यक्षकिंनरगन्धर्वैर्देवकल्पैः सपन्नगैः॥ रामायण, ५.१.६

१६२. देवदानवगन्धर्वैः किंनरैरूपशोभितम्। प्रशान्तहरिणाकीर्णं द्विजसङ्घनिषेवितम्॥ वही, १.५१.२४

१६३. देवदानवगन्धर्वैः साप्सरोभिः सकिंनरैः। स्वस्त्रीभिः क्रीडमानैश्च स्वर्गभूतं महोच्छ्रयम्॥ वही, ७.३१.१६

१६४. तत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयश्च तपोधनाः। सिद्धचारणगन्धर्वाः किंनराश्च महोरगाः॥ महाभारत, वनपर्व, ८४.५

१६५. किन्नरैरप्सरोभिश्च निषेवितशिलातलम्। दिग्वारणविषाणाग्रैः समन्ताद्धृष्टपादपम्॥ वही, १०८.१०

१६६. १. कुरु २. हिरण्मय ३. रम्यक ४. इलावृत ५. हरि ६. केतुमाला ७. भद्राश्व ८. किन्नर और ९. भारत। वामन शिवराम आप्टे : संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ०, ९०४

१६७. अनुवादक : डॉ० रघुनाथ सिंह, श्रीवरकृता : जैनराजतरङ्गिणी, पृ०, १७१

१६८. किन्नर-वर्ष - Eines Nördlich Von Bhāratavarsha gelegenen varsha golādhj bhuv 27. Otto Böhtlingk ë Sanskri' Wörter Buch, 1.Band

यद्यपि किन्नरों का निवास-स्थान उर्ध्व, मध्य और अधः - इन तीनों लोकों में बतलाया गया है[१६९] तथापि प्रमुख रूप से किन्नौर जिला के निवासी किन्नर कहे जाते हैं।[१७०] यह जिला हिमाचल प्रदेश में है।[१७१] प्रथम मई १९६० को महासू जिले से चिनी तहसील को अलग करके एक नये जिले की स्थापना की गई तथा किन्नर बहुल इस भू-भाग का नाम किन्नौर रखा गया।[१७२] किन्नौर के पूर्व में पश्चिमी तिब्बत, पश्चिम में कुल्लू तथा स्पीति, दक्षिण में टेहरी गढ़वाल, जन्वल कोट है। यह सतलुज नदी की उपत्यका क्षेत्र में फैला हुआ है। यह भूखण्ड लगभग ७० मील लम्बा और उतना ही चौड़ा है। समुद्र सतह से इसकी ऊँचाई कम से कम ५००० फीट है। यहाँ ग्यारह हजार फीट की ऊँचाई तक आबादी मिल जाती है।[१७३]

भौगोलिक विभाजन के कारण किन्नरों का प्रमुख निवास-स्थान चन्द्राभागा नदी यद्यपि आज हिमाचल प्रदेश के ही लाहौल-स्पीति जिला में शामिल है परन्तु यह तो स्पष्ट है कि **इसी चन्द्राभागा नदी के तीर पर चन्द नामक एक किन्नर रहता था जिसके कारण इस पूरी घाटी का नाम चन्द्रभागा पड़ा। चन्द के भाग से जो जानी जाती है, वह चन्द्रभागा। उस चन्द्रभागा नदी के तीर पर अर्थात् समीप में।**[१७४]

चन्द्राभागा नदी चन्द्रा और भागा इन दो शिखरों से होकर बहती है। ये दोनों धारायें तान्डी नामक क्षेत्र पर मिल जाती हैं जहाँ यह एक बहुत बड़ी नदी का रूप धारण कर लेती है। वहाँ से यह मध्य-हिमालय के उत्तर की ओर समीपवर्ती क्षेत्रों से होकर बहती है।[१७५] चन्द्राभागा वही नदी है जिसका ऋग्वेद में असिक्नी[१७६] के नाम से वर्णन प्राप्त होता है। बाद में यह चन्द्रभागा के नाम से प्रचलित हुई। अब यही पंजाब की चेनाब है।[१७७] यूनानी

---

१६९. विवेचक : पँ० सुखलाल संघवी, तत्त्वार्थसूत्र, पृ०, १०१

१७०. अनुवादक : डॉ० रघुनाथ सिंह, श्रीवरकृता : जैनराजतरङ्गिणी, पृ० १७०

१७१. वही

१७२. रूप शर्मा : हिमाचल प्रदेश - अन्धकार से प्रकाश की ओर, पृ०, ७५३

१७३. अनुवादक : डॉ० रघुनाथ सिंह, श्रीवरकृता : जैनराजतरङ्गिणी, पृ०, १७०

१७४. सो किन्नरो तं भगवन्तं विज्जोतमानं तत्थ निसित्रं दिस्वा पसत्रमानसो सुगन्धचन्दनेन पूजेसि। तत्थ चन्दं मनं रुचिं अज्झासयं ञत्वा विय जातोति चन्दो। चन्देन भागा सदिसाति चन्दभागा, तस्सा चन्दभागाय नदिया तीरे समीपेति अत्थो। खुद्दकनिकाये : विसुद्धजनविलासिनी, अपदान-अट्ठकथा, दुतियो भागो, चन्दनपूजनकत्थेर- अपदानवण्णना, पृ०,१३७

१७५. The Chandrábhága is the Name by which the Chenáb is known in the hills. I' rises near the top of the Bárá Lácha Pass in British Láhul by two heads, the Chandra and Bhága. These Unite a' Tāndi and form one River of grea' size and volume, which flows immediately to the north of the Mid-Himālaya and parallel to it. Districts and States Gazetteer of undivided Punjab (Prior to independence), vol. iii, P. 294.

१७६. (क) यत् सिन्धौ यदसिक्न्यां यत् समुद्रेषु मरुतः सुबर्हिषः। ऋग्वेदसंहिता : ८.२०.२५ (ख) इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या। असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयाऽऽर्जीकीये शृणुह्या सुषोमया।। वही, १०.७५.५

१७७. (ख) व्याख्याकार : डॉ० रामकुमार राय, मैकडौनेल और कीथ कृत वैदिक इण्डैक्स, भाग - १, पृ०, ५४ (ख) आचार्य बलदेव उपाध्याय : वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ०, ३८८-३८९

लोग इसे 'अकेसिनेस' के नाम से जानते थे।[१७८] यूनानी सम्राट् मेनाण्डर तथा बौद्ध-भिक्षु नागसेन के मध्य हुये संवादों के आधार पर लिखे गये प्रथम शती के ग्रन्थ मिलिन्दपञ्ह में भी चन्द्राभागा नदी का उल्लेख प्राप्त होता है।[१७९]

बारहवीं शती के सुप्रसिद्ध इतिहासकार कल्हण ने अपने ग्रन्थ राजतरङ्गिणी में उल्लेख किया है कि राजा रणादित्य विविध शुभ-स्वप्नों एवं देवी चमत्कारों को देखकर चन्द्रभागा नदी के प्रवाहों का भेदन करके नमुचि दैत्य की कन्दरा में पहुँचा।[१८०] एक अन्य स्थल पर उल्लेख आता है कि राजा जयापीड़ तूलमूल्य ग्राम का अपहरण करके जब चन्द्रभागा नदी के तट पर विद्यमान था, तब उसे यह समाचार मिला कि निन्यानवे ब्राह्मण नदी में डूब कर मर गये हैं।[१८१] इसी चन्द्रभागा नदी के समीप रहने वाले दो कुलों (Tribes) ने आपस में सहयोग करके यूनानी सम्राट् सिकन्दर से भिड़ना चाहा। पर जरनैल कौन बनेगा, इस पर दोनों में झगड़ा हो गया और वे दोनों सिकन्दर का सामना न कर सके।[१८२]

इस चन्द्रभागा घाटी में शिखर के प्रकार का केवल एक मन्दिर है। यह तीनों लोकों के स्वामी प्रसिद्ध त्रिलोकनाथ की प्रतिमा है। इसी का दूसरा नाम अवलोकितेश्वर है जो कि प्रसिद्ध बोधिसत्त्व है। यह बौद्ध-दर्शन का स्मारक है।[१८३] इस क्षेत्र में बौद्ध-धर्म का इतना अधिक प्रभाव रहा है कि बुद्ध-काल में अनेकों किन्नरों तथा किन्नरियों ने चन्द्रभागा नदी के तीर पर निर्वाण (मोक्ष) की प्राप्ति की। चन्द्राभागा नदी के तीर पर निवास करने वाले अज्जुनपुप्फियत्थेर नामक एक ऐसे किन्नर का उल्लेख प्राप्त होता है जिसने अपने सभी क्लेशों का परित्याग कर दिया है और वह अनास्रव होकर विहार करता है। वह कहता है कि आज मैं शाक्यपुत्र के शासन में पूजा जाने

---

१७८. वही

१७९. यथा वा पन, महाराज, हिमवन्ता पब्बता पञ्च नदीसतानि सन्दन्ति तेसं, महाराज, पञ्चन्नं नदीसतानं दसेव नदीगणनाय गणीयन्ति, सेय्यथीद-गङ्गा, यमुना, अचिरवती, सरयू, मही, सिन्धु, सरस्सती, वेत्रवती, वीतंसा, चन्द्रभागा। मिलिन्दप०हपालि : मेण्डकप०हे, इद्धिबलवग्गो, पथविचलनप०हो, पृ०, ९०

१८०. स्वप्नैश्च सिद्धिलिङ्गैश्च जाताभङ्गुरनिश्चयः। चन्द्रभागाजलं भित्त्वा नमुचेः प्राविशद्बिलम्। कल्हण : राजतरङ्गिणी, ३.४६८

१८१. तूलमूल्यापहर्ता च चन्द्रभागातटे स्थितः। विप्राणां शतमेकोनमश्रृणोत्तज्जले मृतम्। वही, ४.६३८

१८२. त्यागमूर्ति भाई परमानन्द जी : देशपूजा में आत्मबलिदान, पृ०, ६७

१८३. In the Chandrabhágá valley only one Temple of the Shikhara type is found. I' is the famous sanctuary of Triloknáth "The Lord of the three worlds"; which is another name for Avalokiteshvara, the popular Bodhisattva. I' is of special interes' to note tha' the Triloknáth Temple has a purely Indian type and must, therefore, be regarded as a Monumen' of Indian Buddhism. Districts and States Gazetteer of Undivided Punjab (Prior to independence) vol. iii, P. 300

योग्य हो गया हूँ। किन्नर-देह का परित्याग करके मैं तद्गति को प्राप्त हो जाऊँगा।[१८४] सळलपुप्फियत्थेर नामक एक अन्य किन्नर का कहना है कि प्रसन्नचित्त, शोभन-मन और परम-प्रीति से सळल पुष्प को ग्रहण करके मैं जिस बुद्ध की पूजा करता हूँ उस बुद्ध पूजा का ही यह फल है कि मैं दुर्गति को नहीं जानता हूँ।[१८५] चन्द्राभागा नदी के ही तीर पर निवास करने वाला एक अन्य किन्नर भी है जो आकाश-मार्ग से जाते हुये भगवान्-बुद्ध को देखकर, प्रसन्नचित्त हो, अञ्जलि बाँधकर (हाथ जोड़कर), चन्दन-रस को घिसकर, चन्दन-गन्ध और फूलों से वन्दना करके, उत्तर की ओर अभिमुख होकर परिक्रमा करता है और कहता है कि मैंने क्लेशों का परित्याग कर दिया है।[१८६]

निर्वाण-प्राप्ति में किन्नरियाँ भी पीछे नहीं हैं। चन्द्रभागा नदी के तीर पर निवास करने वाली एक किन्नरी कहती है कि मैंने देवों के देव को आकाश में विचरण करते हुये देखा। अञ्जलि बाँधकर, प्राणियों में उत्तम की वन्दना करके, शाक्यचित्त को प्रसन्न करके तब मैं पर्वत पर चढ़ी। बुद्ध-पूजा का यह फल है कि मैं दुर्गति को नहीं जानती हूँ। मैंने क्लेशों का परित्याग कर दिया है और मैं अनास्रव होकर घूम रही हूँ।[१८७] चन्द्रभागा नदी के ही तीर पर निवास करने वाली एक अन्य किन्नरी कहती है कि मैंने विरज, अपराजित बुद्ध को देखा। प्रसन्नचित्त होकर, नलमाला को ग्रहण करके मैंने स्वयम्भू का पूजन किया। किन्नरी-देह का परित्याग करके मैं तद्गति को प्राप्त हो जाऊँगी। मैंने चक्रवर्ती महर्षि के दर्शन कर लिये हैं। आज शाक्यपुत्र के शासन में मैं पूजा के योग्य हो गयी हूँ। मेरा मन विशुद्ध तथा पापरहित हो चुका है। मेरे सभी आस्रव क्षीण हो चुके हैं। अब मेरा पुनर्जन्म नहीं होगा। नळमाला का यह फल है कि मैं दुर्गति को नहीं जानती हूँ।[१८८]

---

१८४. चन्दभागानदीतीरे अहोसि किन्नरो तदा। किलेसा झापिता मय्हं.. ..पे.. ..विहरामि अनाद्रवो।। पूजारहो अहं अज्ज, सक्यपुत्तस्स सासने। जहित्वा किन्नरं देहं, तावतिंसमगच्छहं।। सुत्तपिटके : खुद्दकनिकाये अपदानपालि-२, बुद्धवंसपालि, अज्जुनपुप्फियत्थेरअपदानं, पृ०, ९५

१८५. चन्दभागानदीतीरे, अहोसि किन्नरो तदा। पसन्नचित्तो सुमनो, परमाय च पीतिया।। पग्गय्ह सळलं पुप्फं, यं पुप्फमभिपूजयिं। दुग्गतिं नाभिजानामि, बुद्धपूजायिदं फलं।। सुत्तपिटके : खुद्दकनिकाये अपदानपालि, पठमो भागो, सळलपुप्फियत्थेरअपदानं, पृ०, २४७

१८६. चन्दभागानदीतीरे, अहोसिं किन्नरो तदा। अत्थदस्सी तु भगवा, लोकजेट्ठो नरासभो।। विलीनं चन्दनादाय, अगमासिं जिनन्तिकं। पसन्नचित्तो सुमनो, बुद्धस्स अभिरोपयिं।। पामोज्जं जनयित्वान, पक्कामिं उत्तरामुखो। किलेसा झापिता मय्हं.. .पे.. .कतं बुद्धस्स सासन 'न्ति।। खुद्दकनिकाये : परमत्थदीपनी, थेरगाथा-अट्ठकथा, पठमो भागो, सीहत्थेरगाथावण्णना, पृ०, १९३-१९४

१८७. चन्दभागानदीतीरे, अहोसिं किन्नरी तदा। अद्दसाहं देवदेवं, चङ्कमन्तं नरासभं।। अञ्जलिं पग्गहेत्वान, वन्दित्वा द्विपदुत्तमं। सकं चित्तं पसादेत्वा, ततो पब्बतमारुहिं।। दुग्गतिं नाभिजानामि, बुद्धपूजायिदं फलं। किलेसा झापिता मय्हं.. .... पे.. .... विहरामि अनासवा।। खुद्दकनिकाये : अपदानपालि-२, सकळपुप्फिकाथेरीअपदानं, पृ०, १९२-१९३

१८८. चन्दभागानदीतीरे, अहोसिं किन्नरी तदा। अद्दसं विरजं बुद्धं, सयम्भुं अपराजितं।। पसन्नचित्ता सुमना, वेदजाता कतञ्जली। नळमालं गहेत्वान, सयम्भुं अभिपूजयिं।। जहित्वा किन्नरीदेहं, तावतिंसमगच्छहं। दसन्नं चक्कवत्तीनं, महेसित्तमकारयिं।। पूजारहा अहं अज्ज, सक्यपुत्तस्स सासने। विसुद्धमनसा अज्ज, अपेतमनपापिकं।। सब्बासवपरिक्खीणा, नत्थि दानि पुनब्भवो। दुग्गतिं नाभिजानामि, नळमालायिदं फलं।। खुद्दकनिकाये : अपदानपालि - २, नळमालिकाथेरीअपदानं, पृ०, १९८

ऊपरलिखित सन्दर्भों से यह स्पष्ट है कि वर्तमान समय में चेनाब के नाम से जानी जाने वाली लाहौल-स्पीति क्षेत्र की चन्द्रभागा नदी के आस-पास का क्षेत्र ही किन्नरों का प्रमुख निवास-स्थान रहा है। अतः किन्नर जाति उतनी ही प्राचीन है जितनी कि यह चन्द्राभागा नदी। और चन्द्राभागा नदी उतनी ही प्राचीन है जितनी कि ऋग्वेद में वर्णित असिक्नी। इसलिए निःसन्देहपूर्वक कहा जा सकता है कि ऋग्वैदिक काल से ही हिमाचल प्रदेश का यह भू-खण्ड किन्नरों का निवास स्थान रहा है।

पिछले पृष्ठों में जो विषय-सामग्री प्रस्तुत की गई है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इतिहास में किन्नर तथा किन्नरियाँ स्त्री तथा पुरुष दोनों ही रूपों में उपलब्ध होते हैं। भारत के पड़ोसी देश तिब्बत के शब्द-कोष में किन्नर के लिए मीअम्-ची तथा किन्नरी के लिए मीअम्-ची-मो शब्द का प्रयोग हुआ है।[१८९] यही शब्द जब भारतीय सीमाओं को लाँघता हुआ पाश्चात्य विद्वानों की लेखनी तक पहुँचता है तो वे भी इसका अर्थ स्वर्गीय गायक करते हैं और उल्लेख करते हैं कि भारतवर्ष का उत्तरी भाग किन्नरों का निवास-स्थान है।[१९०] अतः यह प्रमाणित हो जाता है कि यद्यपि समस्त उत्तरी-भारत किन्नरों का निवास-स्थान है तथापि प्रमुख रूप से किन्नर हिमाचल प्रदेश के किन्नौर जिला के निवासी हैं। किन्नरों के अपने राज-परिवार भी हैं तथा अन्य राज-परिवारों से भी इनके वैवाहिक सम्बन्ध रहे हैं। इस शोध पत्र को लिखने का उद्देश्य यही है कि किसी भी स्तर पर किन्नर शब्द का प्रयोग हिजड़ों के लिये नहीं किया जाना चाहिये और यदि कहीं हो रहा हो तो उस पर पूर्णतया प्रतिबन्ध लगा दिया जाना चाहिये।

---

१८९. Sara' Chandra Das ë A Tibetan-English Dictionary, p. 960-961

१९०. i.Celestial Musicians-Kinnara ; Miuue-am-cuuei. Austine Waddell ë Buddhism and Lamaism of Tibet. p. 367 ii.Sie Werden Zu den Gandharva gezähl' und als Sänger gerühmt, erscheinen in Gefolge Kuberauues. Eines Nőrdlich Von Bháratavarsha gelegenen Varshagoládhj bhuv 27. Otto Bőhtlingk ë Sanskri' Wőrter Buch, 1. Band

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २००९ अङ्क ११ (पृ०२१८-२३५)

भारतीय इतिहास-लेखन की अधुनातन प्रवृत्तियाँ

डॉ० देवेन्द्र कुमार गुप्ता (रीडर)[1]

धर्मेन्द्र प्रसाद (प्रवक्ता)[2]

मनुष्य अपना वर्तमान जीवन जीते हुए भी सदा अतीत एवं भविष्य से जुड़ा रहता है। जिस भविष्य को उसने देखा नहीं, उसके सपने सजाता है और जिस अतीत को वह जी चुका है, उसे संजोये रखना चाहता है। दूसरे शब्दों में कहें तो किसी न किसी रूप में वह उसे अपने स्मृति पटल पर बनाये रखता है। अतीत के प्रति इस लगाव से ही इतिहास-लेखन की आवश्यकता उत्पन्न हुई और इतिहास लिखा जाने लगा। अब चूँकि भिन्न-भिन्न युगों की आवश्यकताएं एवं उनका वातावरण भिन्न होता है। उसी के अनुरूप मानव विचार एवं उसकी प्रवृत्तियां भी परिवर्तनशील रहती हो। अत: इतिहास-लेखन की प्रवृत्ति एवं प्रकृति भी युगानुरूप समायोजित होती रही है, जो कि एक अविरल एवं गतिमान प्रक्रिया है। आधुनिक युग के इतिहास-लेखन में भी अभिनव प्रवृत्तियों का उद्भव एवं विकास हुआ। पीटर जेइल के शब्दों में -

Just as the Seventeenth century in Europe was the Age of Scholarship, the Eighteenth that of Enlightenment and Reason, the Nineteenth was the century for History[3]

यह तथ्य न केवल यूरोप में इतिहास एवं इतिहास-लेखन के लिए सत्य है, अपितु भारत में भी इतिहास-लेखन के विकास के लिए भी उतना ही प्रासंगिक है। भारत में क्रमबद्ध, सुव्यवस्थित एवं वैज्ञानिक इतिहास-लेखन का प्रारम्भ इन्हीं शताब्दियों में हुआ, जब अनेक विद्वानों ने साहित्यिक एवं पुरातात्विक साक्ष्यों के द्वारा भारत के अतीत को कुरेदना प्रारम्भ किया और प्राचीन भारतीय गौरव को लोगों के समक्ष प्रस्तुत किया।

भारत में इतिहास-लेखन की परम्परा अति प्राचीनकाल से रही है। गाथा,[4] नाराशंसी,[5] कथा, आख्यान,[6] आख्यायिका,[7] उदाहरण, पुराण[8] एवं वंशावलियाँ[9] आदि विभिन्न शैलियों के माध्यम से अतीत को पुनर्जीवित किया

---

१. प्राचीन भारतीय इतिहास,संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

२. प्राचीन भारतीय इतिहास,संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

३. पीटर जेइल, यूज एंड एब्यूज ऑफ हिस्ट्री, पृ. ३२

४. ऋग्वेद, ८/३२/१, ९/९९/४, १/४३/४

५. अथर्ववेद, १५/६/११-१२, निरुक्त, ९/९

६. निरुक्त, ११/१९, १०/२६, १२/१०

७. तैत्तिरीय आरण्यक, १/६/१९

८. शुक्रनीति, ४/३/५३,ब्रह्माण्ड पुराण, १/१/१७३, विण्टरनिट्ज, इंडियन लिटरेचर, पृ. २१३

९. श्रीमद्भागवतपुराण, १२/७/१६

जाता रहा है। 'इतिहास' शब्द का प्राचीनतम उल्लेख अथर्ववेद के व्रात्य काण्ड में मिलता है।

'स बृहतो दिशमनुव्यचलत्। तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च। नाराशंसीश्चानुव्यचलन्।।[१०]**'**

अर्थात् दिक् एवं लक्ष्य की ओर जो व्रती (व्यक्ति, समाज-राष्ट्र) चलता है, उसका अनुसरण इतिहास, पुराण, गाथा तथा नाराशंसी करते हैं। इसी प्रकार महर्षि शुक्राचार्य ने अपनी शुक्रनीति में कहा है[११]-

'प्रागवृत्तकथनं चैकराजकृत्यमिषादितः।

यस्मिन् स इतिहासः स्यात् पुरावृत्तः स एव हि।।'

अर्थात् जिसमें किसी एक राजा के चरित्र-वर्णन के व्याज से प्राचीन व्यवहारों का वर्णन हो, उसे इतिहास कहते हैं; इसे ही पुरावृत्त भी कहा गया है।

प्राचीन भारत में इतिहास-लेखन की परम्परा वास्तव में कई धाराओं में प्रस्फुटित हुई थी। वैदिक साहित्य में गाथा, नाराशंसी एवं कल्पजोक्तियाँ अथवा कल्पशुद्धि[१२] (भिन्न-भिन्न कल्पों (समय विशेष) में उत्पन्न होने वाले विषयों का कथन या विवरण) आदि का उल्लेख मिलता है। जिनका सम्बन्ध किसी न किसी रूप में अतीत का इतिहास कहना या दोहराना था। ये अतीत पर प्रकाश डालने वाली अलग-अलग शैलियां थीं। जिन्हें सम्भवतः उस युग में इतिहास माना जाता था। पुराणों में उल्लिखित वंशानुचरित के अंश भारतीय इतिहास-लेखन के सबसे विश्वसनीय उदाहरण कहे जा सकते हैं। कौटिल्य (चाणक्य) के समय में इतिहास का इतना महत्त्व बढ़ गया था कि कौटिल्य ने राजा के लिए प्रतिदिन मध्याह्नोत्तर इतिहास सुनना अपरिहार्य ठहराया,[१३] यथा-

'पूवमहर्भागं हस्त्यश्वरथप्रहरणविद्यासु विनयं गच्छेत्। पश्चिममितिहासश्रवणे।'

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इतिहास-लेखन से सम्बन्धित कुछ अधिक सूचनाएं प्राप्त होती हैं। वे इतिहास के अन्तर्गत पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र की गणना करते है।[१४]

भारतीय दृष्टिकोण से रामायण, महाभारत, पुराण, राजतरंगिणी, नेपाल राजवंशावली, कलियुग राजवृत्तान्त, अनेक नाटक तथा चम्पू ग्रन्थ आदि सब इतिहास के उपजीव्य हैं। इनके बिना केवल अधूरे शिलालेखों, सिक्कों, मूर्तियों तथा परदेसी-प्रवास वर्णनों के सहारे तो ऑक्सफोर्ड के विद्वान् भी अपने 'भारत का इतिहास' नहीं लिख सकते थे। भारत के प्रसिद्ध पुरातत्त्वविद् महामहोपाध्याय डॉ. हरप्रसाद शास्त्री ने लिखा है 'हमारे पुराणों जैसे साधन और परम्पराएँ जो पहले अविश्वसनीय मान ली गई थीं, उनका महत्त्व पुनः प्रतिष्ठित हो गया है।'[१५]

---

१०. अथर्ववेद, १५/६/११-१२
११. शुक्रनीति, ४/३/५२
१२. विष्णुपुराण, ३/६/१५,
१३. अर्थशास्त्र, १/५
१४. वही, १/३, १/५
१५. जर्नल ऑफ बिहार ओरियण्टल स्टडीज, ग्रन्थ १४, पृ. ३२५-३२६

प्राचीन इतिहास-लेखन के इन उल्लेखों एवं संदर्भों के होते हुए भी यह प्रतीत होता है कि तत्कालीन लेखकों का इतिहास दृष्कोण एवं इतिहास लेखन वर्तमान युग में परिभाषित इतिहास दृष्टिकोण एवं लेखन शैली से भिन्न था। प्राचीन भारत में हेरोडोट्स और लिवी जैसे इतिहासकार पैदा नहीं हुए। कल्हण की राजतरंगिणी को छोड़कर एक भी ग्रन्थ ऐसा नहीं है, जिसे हम सही रूप में इतिहास ग्रन्थ कह सकें। इस सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का कहना है कि प्राचीन भारत के इतिहास ग्रन्थ लुप्त हो गए या नष्ट हो गए हैं। कुछ कहते हैं कि भारत के प्राचीन लोग भौतिक जीवन और उसके लेखन में कम रुचि रखते थे। आध्यात्मिक क्षेत्र के विभिन्न विषयों और दर्शन जगत् में उनकी रुचि अधिक थी। तीसरी श्रेणी के विद्वानों का कहना है कि भारत में इतिहास की परिभाषा ही कुछ भिन्न थी। वे शुष्क ऐतिहासिक घटनाओं, महापुरुषों तथा उनके वर्णन को ही इतिहास न मानकर विशाल जीवन, समाज और संस्कृति के सभी पक्षों के वर्णन में रुचि रखते थे। परिणामतः उनकी इतिहास की परिभाषा बड़ी व्यापक और विस्तृत थी। उनके प्राचीन ग्रन्थ- वेद, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, पुराण और महाकाव्य- सभी इस अर्थ में इतिहास ग्रन्थ हैं। कुछ अन्य विद्वानों का कहना है कि वस्तुतः भारतीयों ने केवल जानकारी के लिए ऐतिहासिक तथ्यों के लेखन में अपेक्षित रुचि नहीं ली। अतीत तथा इसकी स्मृति की सुरक्षा को उन्होंने धार्मिक तथा काव्यात्मक मूल्यों के अधीनस्थ रखा।[१६]

यह विचारणीय है कि अतीत के इन मानवीय अनुभवों की खोज में भारतीयों ने कहां तक रुचि ली? इनमें से किस पक्ष ने उन्हें अधिक आकृष्ट किया? अतीत के केवल ज्ञान के लिए ही ऐतिहासिक तथ्यों का देश और काल के अनुसार एक आलोचनात्मक वैज्ञानिक तथा विश्लेषणात्मक विवरण रखना ही क्या इतिहास है और है, तो भारतीयों ने इस कार्य में कहां तक सफलता प्राप्त की थी। भारतीयों में इतिहास बोध के विवाद पर सोचते समय समस्या के कई आयामों पर विचार करना होगा। इतिहास की आधुनिक परिभाषा देते समय और प्राचीन इतिहास लेखन की कमी को मद्देनजर रखकर तो यह कहना सही प्रतीत होता है कि भारत के प्राचीन मनीषियों की ऐतिहासिक विचारधारा आधुनिक परिभाषित इतिहास विचारधारा से भिन्न थी और किसी ने भी आज के युगानुरूप परिभाषित इतिहास ग्रन्थ नहीं लिखा। लेकिन जब हम यह विचारें कि इतिहास लेखन एक ऐसा विषय है, जिसकी परिभाषा समय-समय पर बदलती रही है तो ऐसे में ज्ञात होता है कि भारत के प्राचीन इतिहासकारों ने इतिहास की बड़ी व्यापक परिभाषा विश्लेषित की थी। इस सम्बन्ध में मूर्धन्य विद्वान् बेवर का कहना है-**प्राचीन भारत में इतना अधिक साहित्य मिलता है कि उसमें से यह छाँटना कठिन हो जाता है कि उसमें कौन सा हिस्सा इतिहास नहीं है।**[१७]

भारतवासी इतिहास लिखते तो थे परन्तु उनके इतिहास लिखने का उद्देश्य वह नहीं था जो कि पाश्चात्य लेखकों का है। यूनान, रोम, मिस्र, फ्रांस, इंग्लैण्ड इत्यादि देशों में वहाँ के राजा, रईसों, जमीदारों तथा विजेताओं द्वारा इतिहास लिखने के लिए कुछ लोग नियुक्त किये जाते थे। परिणामस्वरूप वे इतिहास उन राजा, रईसों की

---

१६. गिरजाशंकर प्रसाद मिश्र, इतिहासः स्वरूप एवं सिद्धांत (सम्पादक गोविन्द चन्द्र पाण्डे), पृ. ५०
१७. लालता प्रसाद पाण्डेय, भारतीय इतिहास-दर्शन, पृ. २९

प्रशंसा में और उनकी रुचि अनुसार ही लिखे जाते थे। भारत में यह प्रथा नहीं थी। यहाँ के लेखक नगरों और राजा-महाराजाओं के दरबारों में नहीं रहते थे। वे प्रायः वनों में स्थित अपने आश्रमों में रहते और अपना पठन-पाठन का कार्य करते हुए इतिहास आदि लिखते थे। उनके इतिहास लिखने का उद्देश्य राजा-महाराजाओं को प्रसन्न करना नहीं, वरन् जन-साधारण के ज्ञान की वृद्धि करना होता था। जन-साधारण को इतिहास से क्या शिक्षा लेनी चाहिए, उन्हें यही अभिप्रेत था। इस कारण भारतीय लेखक केवल ऐतिहासिक घटनाओं को ही लिख देने से सन्तोष नहीं करते थे। वरन् प्रत्येक घटना का कारण और उस घटना से उत्पन्न परिणाम का दर्शन आवश्यक समझा जाता था। इस तरह इतिहास-लेखन का प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण आज के परिभाषित ऐतिहासिक दृष्टिकोण से यद्यपि भिन्न माना जा सकता है, तथापि यह तो स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय विद्वान् लोकहित आधारित ऐतिहासिक लेखन कार्य में अधिक रुचि रखते थे।

चूँकि समय गतिशील है, समाज का स्वरूप एवं उसकी आवश्यकताएं बदलती रहती हैं। अतः उसी के अनुरूप इतिहास के प्रति प्राचीन दृष्टिकोण एवं उसके लेखन शैली में भी परिवर्तन हुआ है। आधुनिक समाज-जीवन की संरचना एवं सम्बन्ध जटिलतर हो रहे हैं। प्रारम्भिक ऐतिहासिक चिन्तन से वर्तमान का चिन्तन विशिष्ट एवं बहुविध है। इस सम्बन्ध में रेनियर ने कहा है कि **प्रत्येक युग का समाज अपने समकालीन इतिहासकारों से प्रश्न करता है और इतिहासकार नित-नूतन साक्ष्यों से उत्तर प्राप्त कर समाज के सम्मुख प्रस्तुत करता है।**[१८]

आज इतिहास साक्ष्यों के आधार पर अतीत में घटी सत्य घटनाओं की खोज ही नहीं माना जाता। वरन् उन घटनाओं के पीछे निहित कारकों यथा- सामाजिक, आर्थिक, वैयक्तिक, समष्टिगत, वैचारिक, वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक, धार्मिक, प्राकृतिक, परिस्थितिजन्य एवं तकनीकी आदि विभिन्न पहलुओं का वैज्ञानिक और आलोचनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करना भी आवश्यक होता है। इसके साथ ही इतिहासकार के वैयक्तिक दृष्टिकोण से बचाव हेतु अन्य अनेक शोध विधियों का पालन भी करना पड़ता है। सत्य की खोज में विषय-वस्तु की सतह तक पहुँचने के लिए साक्ष्यों की व्याख्या में उसे विज्ञान के सभी आयामों, कला सम्बन्धित सभी विषयों एवं गणित-सांख्यिकी आदि का प्रयोग करना अब इतिहास लेखन में नई शोध-विधाएं हैं।

भारतीय इतिहास लेखन के क्षेत्र में अट्ठारहवीं शताब्दी में नए प्रकार का विकास हुआ। यह स्थिति बहुत हद तक पश्चिम से आए यूरोपीय व्यक्तियों, यात्रियों तथा ईसाई मिशनरियों के संपर्क से प्रारम्भ हुई थी। पश्चिम में वैज्ञानिक आविष्कारों, मानवतावादी दृष्टिकोण और बौद्धिक क्रांति के कारण इतिहास लेखन काफी सीमा तक धर्मनिरपेक्ष तथा आलोचनात्मक हो चुका था। अब इतिहास-लेखन की विशेषताएं नव रूपों में स्थापित हुईं। जिसमें निम्नलिखित पहलुओं को महत्ता दी जाने लगी-

१. इतिहास एवं ऐतिहासिक अध्ययन का उद्देश्य

२. अध्ययन पद्धति

३. साक्ष्य, स्रोतों के प्रति दृष्टिकोण

---

१८. जी.आई.रेनियर, हिस्ट्रीः इट्स परपज एण्ड मैथड़, पृ. ८

४. व्याख्या एवं विश्लेषण के सिद्धान्त

इसका भारत पर भी प्रभाव पड़ा और समाज एवं शिक्षा के विभिन्न पक्षों को प्रभावित करते हुए इतिहास लेखन में नए प्रकार की दृष्टि सृजित हुई। जॉर्ज फारेस्टर, फ्रोसिस ग्लैडिवन, हॉकिन्स, विलियम फिन्च, टेरी, वर्नियर एवं टैवेनियर के प्रयासों से भारतीय अतीत (इतिहास) नए ढंग से प्रकट हुआ।[१९] वैसे तो मध्यकाल में अरब इतिहासकारों के माध्यम से भारत में नए प्रकार के इतिहास लेखन का सूत्रपात पहले ही हो चुका था। लेकिन इस युग में इतिहास-लेखन को यहाँ पुनः नई दिशा मिली। आधुनिक युग में अंग्रेजी राज्य की स्थापना, नए-नए संधि-पत्रों की रचना तथा आधुनिक पश्चिम की नई राजनीति और रणनीति के सृजन से देश में नए-नए विचारों का आगमन हुआ। इन नवीन घटनाओं से इस तरह नए प्रकार के इतिहास लेखन के बीज बोये जा रहे थे।

एशियाटिक सोसायटी

भारतीय विद्या और प्राचीन ज्ञान में रुचि रखने वाले पाश्चात्य विद्वानों में विलियम जोंस ने १७८४ ई० में बंगाल में **एशियाटिक सोसायटी** की स्थापना की। जो धीरे-धीरे भारतीय विद्या और इतिहास की खोज का प्रमुख माध्यम बनी। भारत की प्राचीन लिपियों को पढ़ने का प्रयास किया गया। इसमें जेम्स प्रिसेंप के बाद चार्ल्स विल्किन्स को भी १७८५ ई० में सफलता मिली। इन विद्वानों ने विभिन्न भाषाओं में सृजित मौलिक स्रोतों को प्रकाश में लाने की भी चेष्टा की। भारत का इतिहास मूलतः संस्कृत, पालि, प्राकृत, फारसी, तुर्की, उर्दू तथा अन्य भारतीय भाषाओं में बिखरा हुआ था। उन्होंने उनका अध्ययन किया और धीरे-धीरे उन्हें अंग्रेजी में अनूदित करके सब लोगों के लिए सुलभ बनाया।

इन पाश्चात्य विद्वानों के साथ-साथ उन्नीसवीं शती में भारतीय मनीषियों ने भी अतीत को नए रूप में उजागर करने में रुचि दिखाई। क्योंकि देश की नई चेतना से वह भी अछूते नहीं रहे। १९वीं शताब्दी में अनेक भारतीय विद्वानों, विशेषकर भगवान् लाल इन्द्राजी, भाऊ दाजी तथा राजेन्द्र लाल मित्रा आदि ने ऐतिहासिक अध्ययन में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। इनका इतिहास लेखन सामान्यतः अभिलेखों तथा हस्तलिखित ग्रन्थों के सम्पादन तथा प्रारम्भिक भारतीय समस्याओं पर केन्द्रित था।[२०] राजेन्द्र लाल मित्रा जो इतिहास लेखन की पाश्चात्य तकनीक एवं पद्धति से परिचित थे, भारत के प्रथम वैज्ञानिक इतिहासकार थे।[२१] राजेन्द्र लाल मित्रा ने सैकड़ों शोधपत्र भारतीय इतिहास, संस्कृति तथा पुरातत्त्व पर लिखे।

रामकृष्ण गोपालकृष्ण भण्डारकर, प्राचीन भारत पर लिखने वाले प्रारम्भिक भारतीय इतिहासकार थे, ने Early History of Deccan (1814) तथा A Peep into the Early History of India लिखकर भारतीय इतिहास लेखन को विशेष आयाम दिये। इनका इतिहास लेखन वस्तुतः **'अतीत जैसा था वैसा ही लिखा'** के सिद्धान्त पर आधारित है। इनका इतिहास के प्रति दृष्टिकोण एवं इतिहास लेखन अत्यधिक

---

१९. बी.आर. आलचिन, द बर्थ ऑफ इंडियन सिविलाइजेशन, भूमिका, पृ. १९

२०. ए.एल. बाशम, मॉर्डन हिस्टोरियंस ऑफ एऐशियंट इण्डियन हिस्ट्री एंड कल्चर, पृ. २१८-२१९

२१. शिशिर कुमार मित्रा, हिस्टोरियंस एण्ड हिस्टिरियोग्राफी इन मार्डन इण्डिया, इन एस.पी.सेन (एडीशन)

विश्लेषणात्मक है। इनका दृष्टिकोण उस समय के भारतीय इतिहास के यूरोपीय इतिहासकारों से अधिक विश्लेषित एवं समीक्षात्मक है।[२२]

सर जदुनाथ सरकार जिन्होंने भारत के मध्यकालीन इतिहास का गवेषणात्मक लेखन किया है, ने २०वीं शताब्दी के भारतीय इतिहास लेखन को अत्यधिक प्रभावित किया। इतिहास एवं इतिहास लेखन के प्रति उनके दृष्टिकोण, उद्देश्य, तथ्यों का विश्लेषण, अध्ययन पद्धति तथा इतिहास की व्याख्या आदि बातों में २०वीं शताब्दी के भारतीय इतिहास-लेखन की दिशा निर्धारित की। उन्होंने अपना इतिहास-लेखन जाति, धर्म, देश आदि की सीमाओं से स्वतन्त्र होकर किया। उनका इतिहास-लेखन सत्य की खोज है। इतिहास-लेखन के दिशा निर्धारण सम्बन्धी अपने भाषण, जो उन्होंने १९१५ में बंगीय साहित्य सम्मेलन के इतिहास प्रभाग में कहा था-

We shall to-day
Put our mind on truth!
We shall understand truth, worship truth,
and seek truth[२३]

इस प्रकार उन्होंने इतिहास लेखन में इतिहासकार द्वारा सत्य की खोज की आवश्यकता पर बल दिया। इतिहास-लेखन के क्षेत्र में इनका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान ऐतिहासिक शोध को सही दिशा प्रदान करना है।[२४]

पुरातत्त्व शास्त्र

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में भारत की पुरातात्त्विक धरोहर को प्रकाश में लाने के लिए काफी प्रयास किए गए।[२५] जनरल कनिंघम के प्रयासों के फलस्वरूप १८७१ ई० में **पुरातत्त्व शास्त्र** की नींव रखी गई। भारतीय इतिहास लेखन के इस दौर में विद्वानों ने अद्भुत कार्य किए। इन्होंने अभिलेखों का संपादन करके प्राचीन भारत के इतिहास लेखन में नया अध्याय जोड़ा।[२६] भारतीय कलाकृत्तियों तथा स्मारकों का पता लगाया, विभिन्न संग्रहालयों में इन्हें सुरक्षित रखवाया और रखी गई कलाकृतियों का महत्त्वपूर्ण एवं योजनाबद्ध कैटलॉग तैयार किया। स्मारकों, मंदिरों, गुफा-मंदिरों, मस्जिदों तथा अन्य प्रकार के भवनों का तैथिक और वास्तु शास्त्रीय अध्ययन किया। इस कार्य में अंग्रेज पुरातत्त्वशास्त्रियों के अतिरिक्त अनेक भारतीय विद्वानों की भागीदारी भी सराहनीय रही। इन मनीषियों में एम०एस० वत्स, के०एन० दीक्षित, आर०जी० भण्डारकर, डी०आर० भण्डारकर, डी०आर० साहनी एवं पी०सी० नाहर आदि पुरातत्त्वविदों के कार्य अविस्मरणीय हैं।

इस दौर में प्राचीन भारतीय साहित्यिक स्रोतों को उजागर करने के लिए भी अनेक प्रयत्न किए गए।

---

२२. ए.एल. बाशम, पूर्वोक्त, पृ. २१९
२३. सुबोध कुमार मुखोपाध्याय, इवोल्यूशन ऑफ हिस्टिरियोग्राफी इन मॉर्डन इण्डिया, परिशिष्ट -१, पृ. १६२
२४. आर.सी. मजूमदार, हिस्टिरियोग्राफी इन मॉर्डन इण्डिया, पृ. ५६
२५. लालता प्रसाद पाण्डेय, पूर्वोक्त, पृ. ४८
२६. 'एपिग्राफिका इण्डिका' के अनेक जिल्दों में इन्हें प्रकाशित किया गया। कार्पस इन्सिक्रिप्शनम इण्डिकेरम् में तथा अलग-अलग ग्रन्थों में भी इन्हें प्रकाशित किया गया।

रॉयल एशियाटिक सोसायटी की विभिन्न शाखाओं की देखरेख में विभिन्न विषयों से सम्बन्धित प्राचीन पांडुलिपियों को प्रकाशित किया गया। देशी और विदेशी विद्वानों ने पुस्तकों और पांडुलिपियों के अनेक कैटलॉग प्रकाशित किए। भारत के प्राचीन अभिलेखों तथा सिक्कों को भी प्रकाश में लाने के लिए इस समय अन्य अनेक विद्वान् व्यस्त थे। इन सब ने भारत के विभिन्न क्षेत्रों में संस्कृत तथा प्राकृत में लिखे गए अभिलेखों को पढ़ा और उनका संपादन किया। अभिलेखों की तरह चूँकि सिक्के भी विश्वसनीय ऐतिहासिक स्रोत हैं। अत: उनके प्रकाशन से भारत का प्राचीन इतिहास लिखने में बड़ी मदद मिली। ऐसे प्रकाशनों में डी.डी. कोसाम्बी के कार्य विशेष रूप से अग्रगण्य और प्रशंसनीय हैं।[२७]

पुरातत्त्व शास्त्र के क्षेत्र में इस प्रकार का विकास भारतीय इतिहास लेखन में युगान्तरकारी सिद्ध हुआ। इनके आधार पर भारतीय अतीत पर प्रकाश डालने वाले ये ऐतिहासिक ग्रन्थ अधिक विश्वसनीय सिद्ध हुए। साहित्यिक स्रोतों को समझने परखने में तो मदद मिली ही, साथ ही यह अधिक तथ्यात्मक भी हुए। इनसे परम्पराओं को इतिहास में वैज्ञानिक तरीके से लाने में सहायता मिली। इस तरह भारतीय इतिहास लेखन में धीरे-धीरे वस्तुनिष्ठता आती गई और इसे वैज्ञानिक बनाने का प्रयास किया गया।

धर्म और दर्शन

भारतीय धरोहर को उजागर करने वाले विद्वानों ने यहाँ के **धर्म और दर्शन** की ओर भी अपनी दृष्टि डाली। इस क्षेत्र में कई मानक ग्रन्थ प्रकाश में आए। बार्थ, ब्लूम फिल्ड, मैकडॉनल, कीथ एवं भण्डारकर आदि विद्वानों ने भारत के धार्मिक विकास पर कई ग्रन्थों की रचना की।[२८] कीथ द्वारा लिखित वैदिक धर्म एवं दर्शन (१९२५) आज भी उत्तम ग्रंथ माना जाता है। डॉ० राधाकृष्णन् ने भारतीय दर्शन पर दो जिल्दों में अपने स्तरीय ग्रन्थों की रचना की।

आर्थिक दृष्टि से व्याख्या पूर्ण इतिहास लेखन

आर्थिक दृष्टि से व्याख्या पूर्ण इतिहास लेखन इस युग की एक प्रधान विशेषता है। सर विलियम एश्ले के अनुसार[२९] 'आर्थिक विचार स्वयंमेव ऐतिहासिक तथ्यों से सम्बद्ध होते हैं। उन्नीसवीं सदी ई० में भारत का धन विदेशों में जाने लगा तो अनेक इतिहासकारों ने इसके विरोध में खूब लिखा। इस दृष्टि से लिखे गए इतिहास ग्रन्थ राष्ट्रीय दृष्टिकोण से उद्भूत व्याख्या का दिग्दर्शन कराते हैं। रमेश चन्द्र दत्त, जिन्हाऐने दो भागों में 'Economic History of India' (1902, 1904) तथा तीन भागों में A History of Civilization in Ancient India' लिखकर सबसे पहले भारत की आर्थिक स्थिति का आंकलन किया। ऐसे ही अन्य इतिहासकारों में दादा भाई नैरोजी, रजनी पाम दत्त और महादेव गोविन्द रानाड़े आदि भी प्रमुख हैं।

---

२७. डी.डी. कोसाम्बी, कम्बाइंड मैथड इन इंडोलॉजी; इण्डो आर्यन जर्नल, वाल्यूम-६, इन्ट्रोडक्शन, पृ. ६४

२८. लालता प्रसाद पाण्डेय, पूर्वोक्त, पृ. ५१

२९. विलियम एश्ले, इकोनॉमिक हिस्ट्री रिव्यु, पृ. १०

बीसवीं सदी के मध्य के भारतीय इतिहास-लेखन में अतीत की व्याख्या में एक नया अध्याय जोड़ा गया, वह था **मार्क्सवाद का प्रभाव।** मार्क्स ने कहा 'सामाजिक तनाव और परिवर्तन का सही कारण समाज में विद्यमान आर्थिक अन्तर होता है। जो समय-समय पर नए औजारों और उत्पादन के उपकरणों से पैदा होता है। इस पर जिनका अधिकार होता है। वे आर्थिक लाभ अर्जित करके अपने उद्योगों में समाज के उस वर्ग का का इस्तेमाल करते हैं जिनके पास यह नहीं होता। अत: धीरे-धीरे पूंजीवाद पैदा होता है और वह विकास करता है। परिणामत: समाज में धनी और निर्धन शोषक और शोषित नामक दो वर्ग बनते हैं। इन्हीं के आपसी टकराव और संघर्ष से इतिहास का निर्माण होता है और उसकी दिशा बदलती है।' कार्ल मार्क्स ने स्पष्ट लिखा है कि आर्थिक कारण इतिहास की आधारशिला है।[३०] एक स्तर पर यह विचारधारा भारतीय लेखकों में भी लोकप्रिय हुई। डी०डी० कोसाम्बी ने इस मार्क्सवादी अर्थव्यवस्था को परिवर्तन का मूल आधार मानकर अपने इतिहास लेखन में ऐतिहासिक व्याख्या का नया आयाम जोड़ा। उन्होंने लिखा- **'उत्पादन के संसाधनों एवं सम्बन्धों में उत्तरोत्तर परिवर्तनों का तिथिक्रमानुसार प्रस्तुतीकरण ही इतिहास है।'**[३१] कोसाम्बी के इतिहास लेखन में विद्वत्ता, मौलिकता और विश्लेषण की अद्भुत नवीनता मिलती है। उनके विश्लेषण के अनेक आयाम हैं। उन्होंने गणित और सांख्यिकी, जीवशास्त्र, साहित्य, नृ तत्त्वशास्त्र, परम्पराओं और मिथकों के विश्लेषण से अतीत का इतिहास लिखा है, उनकी दृष्टि वैज्ञानिक है। वे केवल वर्णन को इतिहास नहीं मानते। उनकी दृष्टि में अनेक प्रकार के स्रोतों पर आधारित और अनेक प्रकार के आयामों से विश्लेषित अतीत के सत्य की प्रस्तुति इतिहास है।

राजवंशों का इतिहास

इस समय के इतिहास लेखन में राजवंशों का इतिहास भी एक प्रमुख धारा थी। अनेक विद्वानों ने भारत में विभिन्न कालों में उदित राजवंशों का इतिहास लिखा। यह सिलसिला एच.सी.रे से प्रारम्भ हुआ जिन्होंने **'द डायनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ नार्थ इण्डिया'** लिखकर उत्तर भारत के विभिन्न राजवंशों पर प्रकाश डाला।[३२] इसी प्रकार गुर्जर-प्रतिहारों, राष्ट्रकूटों, राजस्थान के चौहानों, खजुराहों के चन्देलों, गुजरात के चालुक्यों, कल्याणी के चालुक्यों, वारंगल के काकतीयों, चोलों, देवगिरि के यादवों, उड़ीसा के गंगों तथा अन्य अनेक राजवंशों पर अलग-अलग शोध ग्रन्थ लिखे गये।[३३] इनमें हर प्रकार के स्रोतों का उपयोग किया गया और उन्हें अनेक आयामों में लिखा गया। इनमें प्राय: सभी उत्तम और वैज्ञानिक शोध के उदाहरण हैं। इन ग्रन्थों से भारत की क्षेत्रीय अस्मिता प्रकाश में आई।

क्षेत्रीय (स्थानीय) इतिहास-लेखन

क्षेत्रीय (स्थानीय) इतिहास-लेखन आधुनिक काल की एक अन्य प्रमुख धारा बनी। मध्यकाल में बड़े-

३०. बी. रसेल, इकोनॉमी कॉजेशन इन हिस्ट्री, पृ. २९५
३१. डी. डी. कोसाम्बी, कल्चर एण्ड सिविलाइजेशन, पृ. १०
३२. एच.सी.रे, द डायनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ नार्दन इण्डिया
३३. लालता प्रसाद पाण्डेय, पूर्वोक्त, पृ. ५९, २८०

बड़े साम्राज्यों के विघटन के बाद छोटे-छोटे स्थानीय राज्यों ने जन्म लिया था। कुछ विद्वानों का ध्यान ऐसे राज्यों के जन्म, विकास और पतन की ओर गया और उन्होंने उनका इतिहास लिखा। उदाहरणार्थ- गोलकुण्डा का इतिहास एवं बीजापुर का इतिहास आदि। इधर समसामयिक युग में जिलों का इतिहास भी लिखा जाने लगा है। नगरों का इतिहास या नगरीकरण की प्रक्रिया का इतिहास ऐसे ही इतिहास-लेखन का परिणाम है। इन शोधकार्यों से जगह-जगह की संस्कृति और उसमें विद्यमान जीवनी शक्ति प्रकाश में आई और भारतीय संस्कृति की मूल धारा को समझने में मदद मिली।[३४]

विशेषीकरण

इस काल के इतिहास-लेखन की एक अन्य विशेषता है- **विशेषीकरण।**[३५] इतिहास लेखन में अलग-अलग प्रकार की रुचि और स्रोतों को संभालने की योग्यता के आधार पर विद्वानों ने प्राचीन, मध्यकालीन और आधुनिक भारत के अध्ययन एवं लेखन में विशेष रूप से दक्षता प्राप्त की। इससे प्राचीन इतिहास जानने और लिखने में सुविधा प्रदान की, तो फारसी भाषा के ज्ञान ने मध्यकालीन इतिहास लिखने में सहूलियत दी। क्योंकि इन दोनों युगों के अधिकांश मूल-स्रोत इन्हीं भाषाओं में लिखे गए है। कुछ विद्वानों ने संस्कृति के विभिन्न पक्षों के अध्ययन, विश्लेषण और लेखन में विशेष दक्षता प्राप्त की। सामाजिक दशा पर विभिन्न आयामों में सभी प्रकार के स्रोतों का उपयोग करते हुए विभिन्न युगों में भारत की जीवनी-शक्ति, सामाजिक संगठन या विघटन तथा सामाजिक परिवर्तन के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डाला। कुछ ने प्रशासन, राजनीति और राजस्व व्यवस्था को अपने विशेष अध्ययन का क्षेत्र चुना, तो कुछ ने धर्मों और विभिन्न धर्म-संप्रदायों के उद्भव और विकास का पूर्ण अध्ययन प्रकाशित किया। कुछ ने उद्योग, व्यापार, अर्थव्यवस्था और अन्य अनेक आर्थिक पक्षों को उद्घाटित किया। चित्रकला, मूर्तिकला, भवन-निर्माण-कला, संगीत-कला, मृणमूर्ति कला तथा मुद्राशास्त्र आदि पर अनेक ग्रन्थ लिखे गए, जिनसे भारत के विविध सांस्कृतिक पक्षों और परम्पराओं का पूर्ण ज्ञान प्राप्त हुआ।

बीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध भारतीय इतिहास-लेखन में विशेष प्रगति का युग माना जा सकता है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद इस कार्य में भारतीय तथा विदेशी दोनों प्रकार के विद्वानों ने गुण, विस्तार और संख्या सभी दृष्टियों से अद्भुत सफलता प्राप्त की। इसके लिए मूलभूत कारणों में से एक भारत की स्वतन्त्रता प्राप्ति भी थी। लोकतन्त्र में जनमानस स्वच्छन्द हो गया था। 'लोकतन्त्र के विकास ने इतिहास के अध्ययन क्षेत्र को और अधिक परिवर्धित किया।'[३६] हर प्रकार के स्रोत भी उपलब्ध होने लगे। अब इतिहास केवल विशिष्ट व्यक्तियों का ही इतिहास न होकर सम्पूर्ण जनमानस का इतिहास बन गया। इसके साथ ही आधुनिक काल में इतिहास लेखन की एक अन्य विशेषता भारतीय इतिहासकारों का विदेशों में प्रशिक्षण भी है। मेधावी युवक इतिहासकार किसी न किसी माध्यम से विदेश गए। वहां उन्होंने विदेशी पुरातत्त्वशास्त्रियों, इतिहासकारों एवं अन्य निर्देशकों के साथ

---

३४. लालता प्रसाद पाण्डेय, पूर्वोक्त, पृ. ६०

३५. वही, पृ. ६०-६१

३६. झारखण्ड चौबे, इतिहास दर्शन, प्राक्कथन (हीरालाल सिंह), पृ. ५

कार्य किया। वहां के अभिलेखागारों और संग्रहालयों में स्रोत सामग्रियों का अध्ययन किया। इससे उनकी अध्ययन दृष्टि व्यापक हुई और वैज्ञानिक शोध के लिए नए-नए आयाम सामने आए। वैज्ञानिक शोधों का इतिहास-लेखन पर काफी प्रभाव पड़ा। भारत सरकार द्वारा नियोजित शिक्षा और उसके प्रसार ने इसमें बड़ी मदद की। देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों में एक विषय के रूप में इतिहास के पठन-पाठन एवं शोधकार्य से इतिहास लेखन की नवीन प्रवृत्तियों के विकास में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इतिहास-लेखन एक जीवन्त प्रक्रिया है। जो नए वातावरण, नए क्षितिजों, नई जटिलताओं और विकसित होते नव सन्दर्भो के प्रति संवेदनशील है। यही कारण है कि आधुनिक काल में भारतीय इतिहास-लेखन विश्लेषण की दृष्टि से कई स्तरों से गुजरी है। आज इसका क्षेत्र बहु-आयामिक है। इतिहास-लेखन में नव प्रवृत्तियों का विकास हुआ है और इसके लिए आज पुरातात्त्विक, अभिलेखीय, साहित्यिक तथा वैज्ञानिक पद्धतियों एवं साक्ष्यों आदि को आधार बनाया जाता है। इस तरह इतिहास-लेखन अब देश एवं काल के ढाँचे में अतीत का सिर्फ उद्घाटन मात्र न होकर उसका वैज्ञानिक, वैचारिक और आलोचनात्मक विश्लेषण भी है।

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २००९ अङ्क ११ (पृ०२२८-२३५)

रूसी-जनमानस में संस्कृत की छवि

डॉ० पंकज मालवीय[1]

रूसी भाषा के अध्ययन और अध्यापन की अवधि में मुझे रूसी भाषा और संस्कृत के मध्य इतनी सूक्ष्म समानता देखने को मिली कि उसने मेरे समक्ष अनेक प्रश्न उपस्थित कर दिए: क्या संस्कृत और रूसी बोलने वाली जातियाँ एक-साथ रहती थीं? क्या इन जातियों के मध्य परस्पर घनिष्ठ सांस्कृतिक, धार्मिक एवं साहित्यिक सम्बन्ध थे? क्या स्लाव तथा आर्यों में आनुवांशिक सम्बन्ध थे? क्यों रूसी-साहित्य में भारत की छवि इतनी प्रखरता से देखने को मिलती है? दोनों भाषाओं में इतनी घनिष्ठ समानता मात्र संयोग है? इन सब प्रश्नों के घेरे में प्रस्तुत पत्र में हम यह देखने की चेष्टा करेंगे कि कैसे संस्कृत के माध्यम से रूसी-जनमानस में भारत की छवि निर्मित हुई है?

कहते हैं कालासागर के उत्तरी तटवर्ती मैदानों में प्राचीन युग में आर्य रहते थे। क्रीमिया के पास 'दंदके', 'बूतोनातोस' व 'महादावा' नाम के स्थान थे, जो संस्कृत के नाम 'दंडके एवं 'महादेव' से काफी मिलते-जुलते थे। यह तथ्य आर्यों के निवास-स्थान की ओर संकेत करता है। इसके साथ यहाँ आर्यों के मूल-निवास पर संक्षिप्त चर्चा विषयान्तर न होगी।

आर्यों के मूल-निवास के विषय में विभिन्न विद्वानों के विभिन्न मत हैं। गंगानाथ झा ने गंगा और यमुना के ऊपरी दोआब क्षेत्र ब्रह्मर्षि देश, डी.एस. त्रिवेदी ने मुल्तान में देविका नदी के आसपास के क्षेत्र, एल.डी. काला ने कश्मीर और हिमालय के अंचल, बाल गंगाधर तिलक ने उत्तरी ध्रुव के पास का क्षेत्र, आर. जी. हर्षे ने पुराण और महाभारत का हवाला देते हुए मेरु-पर्वत या 'सुमेरु-पर्वत' का क्षेत्र, दयानन्द सरस्वती ने तिब्बत, वी. जी. अंगल ने बर्मा, एच. हिर्ट ने जर्मनी के पूर्वी भाग, जेम्स हट्टन ने अर्मेनिया एवं रूसी विद्वान् श्रेडर ओटटो ने दक्षिणी रूस के मैदानी क्षेत्रों को आर्यों के मूल-निवास का स्थान सिद्ध करने की कोशिश की है।

आर्यों के मूल-निवास के विषय में रूसी विद्वानों के विचार विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। रूसी विद्वान् श्रेडर ओट्टो ने अपनी पुस्तक "The Prehistoric Antiquities of Aryan People" में आर्यों के मूल-निवास को दक्षिण रूस के मैदानी क्षेत्रों में बताया है। उनकी मान्यता है कि दक्षिण रूस के मैदानी क्षेत्रों की जलवायु और भू-आकृति भाषाई जीवाश्म विज्ञान द्वारा निर्धारित आर्यों के मूल-निवास की ओर संकेत करती है। इसके अतिरिक्त, वहाँ के हिम युगोत्तर मानव के प्रारम्भिक अवशेष उस संस्कृति से काफी मेल खाती है जिसका भाषा-शास्त्रियों ने विस्तार से विश्लेषण किया है। रूसी विद्वान् ग्रिगोरी बोंगार्द लेविन और एडविन ग्रान्तोव्स्की भी दक्षिण पूर्व यूरोप में द्नेपर नदी से लेकर उराल पर्वत के बीच के स्थान को आर्यों का मूल-निवास मानते हैं। यह स्थान मैदानी है और उसका ढाल दक्षिण से उत्तर की ओर है। यहाँ उराल, वोल्गा दोन और द्नेपर नदी दक्षिण से उत्तर

---

१. डॉ. पंकज मालवीय, विभागाध्यक्ष, रूसी भाषा विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़-१६००१४

की ओर बहती है। आर्यों के निवास-स्थान की पूर्वी सीमा उराल के मैदान तक तथा उत्तरी सीमा उराल-पर्वत तक जो आर्कटिक वृत और आर्कटिक सागर तक फैला हुआ है। भाषाई समानता के आधार पर भाषाशास्त्रियों का मत है कि आर्यों के अपने उत्तरी पड़ोसियों से पर्याप्त घनिष्ठ सम्बन्ध थे। रूसी विद्वानों के अनुसार आर्यों ने अपने उत्तरी पड़ोसियों के माध्यम से उत्तरी ध्रुव की जानकारी हासिल थी। इनके मतानुसार जंगलों और ताइगा से ढके पूर्वी यूरोप और उराल के इलाकों में जो जातियाँ रहती थी उनका अपने दक्षिणी पड़ोसियों-आर्यों के साथ शताब्दियों से घनिष्ठ सम्बन्ध थे। पूर्वी यूरोप और उराल के जंगलों और ताइगा में फिनो उग्रिक जाति रहती थी। उनकी भाषा में तमाम ऐसे शब्द प्रयुक्त होते हैं, जो भारत-ईरानी भाषाओं में पाये जाते हैं।

विश्व की भाषाएं

भारोपीय भाषा समूह
इतर भारोपीय भाषा समूह
केन्तुम
सतम्
ग्रीक
रेडिक
आयोनिक
डोरिक
लातिन
रूमानियन
दूता लवी
स्पेनी
फ्रांसीसी
डच
केल्टिक
गालिक
वेल्श
आयरिश
स्काच
मैंक्स
जर्मनिक
उत्तरी जर्मन
(गॉथिक)
डैनिस
नार्वेजियन
स्वेडिश
आइसलैन्डिक
पश्चिमी जर्मन
निम्न जर्मन
फ्रिसियन
अंग्रेजी
डच
फ्लेमिश
स्वैबियन
उच्च जर्मन
बवेरियन
अल्मैनिक
तोरवारी
अल्बानियम
बाल्टिक
लियुआनियन
लाटविया
आर्मीनियन
कुस्तुन्तुनिया
अरारात्
स्लाव
पश्चिमी
स्लाव
स्लोवाक्
पोलिश
चेक
दक्षिणी
स्लाव
बुल्गारिया
सर्बो
क्रोएशियन
पूर्वी
स्लाव
रूसी
श्वेत रूसी
लघु रूसी
आर्य
भारतीय
भाषा
संस्कृत
ईरानी
पूर्वी
अवेस्ता
सागडियन
पश्चिमी
मॉगडियन
पुरानी फ़ारसी
द्रविण
चीनी
सेमेटिक
हिब्रु
अरबी
अकाटियन
हेमेटिक
पुरानी मिस्र
सोमाली
जापानी कोरियन
काकेशियन
चेचन
आर्जिया
बुशमैन
अमरीकी
उराल
अल्ताइक
फिनिश
अस्तेनिया
मंगोलियन
अजरबैजान
उज्बेक
किर्ग्रीज
कजाक
टर्की
सूडानी
आस्ट्रो एशियाटिक
कम्बोडियन
निकोबार
ब्रह्ममा
मलय पालिनेशियन
सुमात्रा
जावा
इन्डोनेशियन
न्यूजीलैंड

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यद्यपि यह सर्वमान्य नहीं है, तथापि हम कह सकते हैं कि पूर्वी यूरोप में किसी न किसी समय पर आर्यों की भाषा एवं संस्कृति का इतना गहरा प्रभाव था कि आज भी हमें पूर्वी यूरोप की भाषा एवं उसकी प्राचीन संस्कृति में आर्यों की भाषा एवं संस्कृति की झलक मिलती है।

पूर्वी यूरोप की भाषाओं और भारत-ईरानी भाषाओं के उद्भव एवं उनके पारम्परिक निकटता को हम एक चार्ट के माध्यम से समझने का प्रयास करेंगे।

यदि विश्व की सभी भाषाओं का आकलन करें तो उन्हें दो मुख्य समूह में बांटा जा सकता है: भारोपीय समूह (Indo-European) एवं इतर भारोपीय समूह (Non-Indo-European)। भारोपीय समूह की भाषाओं का वर्गीकरण कण्ठ ध्वनि (Gluttural Sounds) `क ख ग घ' और संघर्षी ध्वनि (Aspirated Sounds) 'श ज' के आधार पर किया गया है। जिन भाषाओं में कण्ठ ध्वनि उच्चारण कण्ठध्वनि जैसा ही रहे उन्हें 'केन्तुम्' (Kentum) भाषा वर्ग में रखा गया और जिन भाषाओं में कण्ठ ध्वनि संघर्षी ध्वनि में परिवर्तित हो गई उन्हें सतम् (Satam) भाषा वर्ग में रखा गया। केन्तुम् और सतम् का अर्थ सौ होता है। सौ का उच्चारण जिन-जिन भाषाओं में कण्ठ ध्वनि से प्रारम्भ होता है वे केन्तुम् भाषा वर्ग में आती हैं और जिन-जिन भाषाओं में सौ का उच्चारण संघर्षी ध्वनि से प्रारम्भ होता है वे सतम् भाषा वर्ग में आती है। रूसी और संस्कृत भाषा में सौ का उच्चारण क्रमशः 'स्तो' और 'शत' होता है। इसलिए वे दोनों भाषाएं 'सतम् भाषा वर्ग' में रखी गई हैं।

रूस ने ९८८ में ईसाई-धर्म अपनाया। इसके पूर्व स्लाव-जाति के पूज्य देवी-देवता आर्यों के देवी-देवताओं की भांति प्राकृतिक संकल्पनाओं के प्रतिरूप थे। आर्यों के धर्म का विवरण ऋग्वेद में दिया गया है, जिसमें प्रकृति का मानवीकरण किया गया है। आर्यों के मुख्य देवता इन्द्र (The Rain God) देवताओं के राजा हैं। इसी प्रकार वरुण (The Lord of Water) मित्र नस्तयास (वायु एवं वाता) (The Wind God), अग्नि (The fire) आदि अन्य देवता हैं। आर्य धर्म में सूर्य का अत्यन्त महत्त्व है।

स्लाव-जाति का धर्म आश्चर्यजनक रूप से आर्य धर्म से काफी मिलता-जुलता है। स्लाव-जाति भी प्राकृतिक संकल्पनाओं के आधार पर अपने देवताओं को पूजते थे। 'पेरून' (The God of Thunder) उनका मुख्य देवता था। 'पेरून' का दूसरा नाम 'स्वरोग' था। 'स्वरोग' शब्द संस्कृत का शब्द है जो दो भागें से बना है:- 'स्वरा' (आकाश, प्रकाश) और 'गा' (विचरण) अर्थात् आकाश में विचरण करने वाला (एफ. आई. बुस्लायेव : १८४८, ५०) 'स्वरोग' के दो पुत्र थे:- सूर्य और अग्नि। सूर्य को स्लाव-भाषा में 'दझबोग' (Dazhbog) भी कहा जाता था। 'दझबोग' दो शब्दों से मिलकर बना है- 'दझ' और 'बोग'। 'दझ' शब्द संस्कृत के 'दाह' और 'बोग' 'भगस्' शब्द से आया है। 'दाह' शब्द का अर्थ 'जलना' है और 'भगस्' शब्द का अर्थ 'भगवान्' है। इस तरह 'दझबोग' का अर्थ 'अग्नि भगवान्' (The burning God) अर्थात् सूर्य है। रूसी साहित्य की पहली रचना 'स्लावा अ पोल्कु ईगरवु' (ईगर की वीर गाथा) में रूसियों को 'दझबोग' की सन्तान कहा गया है, जो भारतीय मिथक में 'सूर्यवंशी' से मिलता है। पुरानी स्लाव-भाषा में सूर्य के लिए 'सूर' (Sur) शब्द का भी प्रयोग है।

आर्य एवं स्लाव जाति की इस धार्मिक समानता के अतिरिक्त कालान्तर में रूसी जनमानस पर भारत की

छवि मुख्य रूप से दो स्रोतों से बनी है- प्रथम, रूसी साहित्य की रचनाओं में भारत के आध्यात्मिक एवं दार्शनिक सन्दर्भो की छवि व रूसी लोक साहित्य में भारतीय जातक कथाओं, पञ्चतन्त्र की कहानियों, ऋग्वेद में वर्णित आर्यों की आस्थाओं एवं भारतीय वीरगाथाओं के प्रभाव का अंकन। रूसी साहित्य की इन रचनाओं ने भारत की छवि के प्रति रूसी-जनमानस में अनूठी उत्कंठा जगाई है। दूसरा स्रोत- संस्कृत की श्रेष्ठ रचनाओं का रूसी-भाषा में अनुवाद है। इस अनुवाद ने भारत की छवि निर्मित करने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

११वीं सदी की रूसी साहित्यिक रचना 'स्लोवो ओ जाकोने ई ब्लागोदाती (विधान एवं कल्याण कथा) में येशु के शिष्य थामस द्वारा भारत में ईसाई धर्म के प्रचार का विवरण आता है। इसी तरह रूसी इतिवृत्त 'पोवेस्त व्रेमेन्निख लेत' (काल क्रमिक कथा) में बाख्त्रीय लोगों जिन्हें राहनन भी कहा जाता था कि तुलना भारतीय ब्राह्मणों से की गई है। रूस में ईसाई धर्म के प्रचार से भारतीय कथानकों और साहित्य का काफी प्रचार हुआ। दूसरी ओर बैजंतिया के माध्यम से भारतीय साहित्य और संस्कृति की जानकारी रूस तक पहुंची। रूसी लोक साहित्य में भारत की छवि अत्यन्त प्रखरता से दृष्टव्य है। प्रसिद्ध रूसी इतिहासकार स्तासव ने रूसी लोक कथा 'सादको की कहानियों' में 'समुद्र का राजा' या 'जलराज' की कल्पना भारतीय लोक-साहित्य के 'नागराज' से की है। प्रसिद्ध रूसी चित्रकार निकोलाई रेरिक के अनुसार रूसी पेगन भगवान् 'लेल' कोई और नहीं, बल्कि भगवान् कृष्ण के अवतार हैं, जो बांसुरी बजाते हुए गाय की पीठ पर टेक लगाए खड़े हैं। १२ वीं सदी के रूस में बुद्ध की जीवनी पर आधारित 'बेरलाम और जोआसफ की कहानियां' अत्यन्त लोकप्रिय थी। जोआसफ शब्द भारतीय 'बोधिसत्व' से 'बुदास्फ' के माध्यम से बना है। इस कहानी में भारतीय राजकुमार का वर्णन है, जो सांसारिक सुखों को त्यागकर एक श्रेष्ठ लोक की ओर अपना ध्यान लगाता है। कालान्तर में रूस में जोआसफ की सम्पूर्ण जीवनी को वर्णित करता भजन भी रचा गया। रूसी लोक-साहित्य की रचना 'गोलुबीनया क्नीगा' (मर्मग्रन्थ) में मनुष्य की उत्पत्ति का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि आदम के सिर से राजा, उसके पवित्र धड़ से मन्त्री व पैर से ईसाई किसानों का जन्म हुआ है। 'गोलुबीनया क्नीगा' (मर्मऋग्वेद) की यह पंक्ति वर्णों की उत्पत्ति के बारे में साहित्य की रचना 'स्काजानिये ओब इन्दीस्कोमत्सारस्त्वे' (कथा भारतीय राज की) में भारत में प्रचलित दंतकथाओं का समावेश है जिसमें हाथी, ऊंट, एक शृंगी जानवर आदि विचित्र जानवरों का वर्णन है। इस कथा में सूदूर और रहस्यमय भारत की कल्पना की गई है। 'फिजियोलोगस' (पशुपक्षी कथा संग्रह) में गरुड़ की कहानियाँ रूस में बहुत लोकप्रिय थीं। प्राचीन रूसी साहित्य में 'अलेक्सान्द्रिया' नामक कथा काफी चर्चित थी। इस कथा में सिकन्दर महान् का भारत अभियान और उसका ब्राह्मण और ऋषि-मुनियों से वार्ता का विस्तार से वर्णन है। इसमें ब्राह्मणों के जीवन का विशेष वर्णन किया गया है।

१५वीं सदी में रूस में पञ्चतन्त्र की कथा पर आधारित कहानी 'स्तेफानित और इख्तिलात' काफी लोकप्रिय हुई। जार्जिया में विवाहोपरान्त वर-वधू को पञ्चतन्त्र की कहानियों का संग्रह भेंट स्वरूप देने की परम्परा आज भी देखने को मिलती है।

समृद्ध भारत की छवि १३वीं सदी के रूसी लोकसाहित्य की रचना वीर काव्यों 'बिलीना' विशेषकर नोवगोरद के 'बिलीना' काव्यों में मिलती है, जिसमें नायक वीर मिखाइल पोतीक भारत व्यापार करने जाता है।

१५वीं सदी में प्रकाशित अफानसी निकीनि की पुस्तक 'तीन समुद्र पार की यात्रा' भारत यात्रा के वृतांत की महत्त्वपूर्ण पुस्तक है।

लिखित साहित्य में 'आजबुकोन्निकी ईलि अल्फावीति इनोस्त्रान्निख रेचेई' (ककहरों यानी विदेशी बोलियों की वर्ण मालाओं) नामक पुस्तक का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें अनेक स्रोतों से एकत्रित की गई भारत सम्बन्धी जानकारी दी गई है। इसमें स्वर्ग से निकली गंगा और उसके किनारे रहने वाले ब्राह्मणों-ऋषि मुनियों की कहानियों का वृतान्त है। रूस में १६७० में छपी 'कोस्मोग्राफी' में भारत के अनेक नगरों की चर्चा है। यद्यपि रूसी साहित्यिक रचनाओं की यह सूची बड़ी लम्बी है, पर यह निश्चित है कि भारत रूस के साहित्यिक व सांस्कृतिक सम्बन्ध चाहे प्रत्यक्ष रूप में हो या अप्रत्यक्ष रूप में शताब्दियों से चले आ रहे हैं।

रूस में संस्कृत-विद्या के अध्ययन और अध्यापन के प्रसार में फ्रीडरिक आडेलुंग, पावेल पित्रोव, काएतान कोसोविच, ईवान मिनायेव, फ्योदोर श्चेर्बात्स्की, सेर्गेई ओल्देनबुर्ग, बरान्निकोव, बोंगार्द लेविन आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। संस्कृत भाषा के विषय में प्रसिद्ध जर्मन भारतविद् फ्रीडरिख श्लेगेल ने लिखा था, 'यही सभी भाषाओं; मानव-आत्मा के सभी विचारों और सारे काव्य का स्रोत है। सभी कुछ निरपवाद रूप से सभी कुछ भारत से ही उत्पन्न हुआ है। इस स्रोत के सम्पर्क में आने का अवसर पाने के पश्चात् मैं हर वस्तु को दूसरी दृष्टि से देखने लगा हूं।' रूसी भारतविद् सेर्गेई उवारोव के संस्कृत-भाषा के प्रति विचार महत्त्वपूर्ण हैं कि संस्कृत संसार की सभी ज्ञात भाषाओं से श्रेष्ठ है। भारत का साहित्य पूरब के सभी साहित्यों में सर्वप्रथम, सर्वाधिक और व्यापकतम है।' (बोंगार्द लेविन, अ. विगासिम : १९८४, ८१)

१८०४ में मास्को, कजान और खार्गोव विश्वविद्यालयों में प्राच्य भाषाओं का विभाग खोला गया जिसमें संस्कृत भाषा और संस्कृत-साहित्य के अध्ययन को सर्वोपरि स्थान दिया गया।

१८०६-०७ में रूसी पत्र-पत्रिकाओं में संस्कृत के बारे में जानकारी प्रकाशित होने लगी। एंटोन कॉनरड ने जो मास्को विश्वविद्यालय से सम्बद्ध थे 'रूसी भाषा तथा संस्कृत के साथ उसका समान मूल' नामक एक छोटी पुस्तक प्रकाशित की। उसी समय १८११ में रूसी विद्वान् फ्रीडरिख आंडेलुंग ने 'संस्कृत भाषा की रूसी से समानता' नामक पुस्तक प्रकाशित की। इस पुस्तक ने रूस में संस्कृत भाषा के प्रति लोगों की जागरूकता बढ़ाने में विशेष भूमिका निभाई। १८१० में सेर्गेइ उवारोव के नेतृत्व में रूस में एशियाई अकादमी की रूपरेखा बनी जिसमें संस्कृत-विद्या के अध्ययन को विशेष बल दिया गया, इसमें संस्कृत-शब्दकोश, वेद ओर महाभारत के अनुवाद को सर्वोपरि रखा गया। १८१८ में रूस में एशियाई संग्रहालय स्थापित किया गया, जो प्राच्य विद्या का एक महत्त्वपूर्ण प्रतिष्ठान था। १८३० में फ्रीडरिख आंडेलुंग ने 'संस्कृत भाषा के साहित्य की विवेचना' नामक पुस्तक प्रकाशित की, जिसमें उन्होंने १७० भारतीय लेखकों और संस्कृत की ३५० रचनाओं का विवरण दिया। १८३३ में प्रो. डोर्न जो यद्यपि जर्मन थे पर खार्कोव विश्वविद्यालय में संस्कृत पढ़ाते थे। रूस में संस्कृत पर लिखा गया उनका शोध कार्य 'स्लाव भाषा और संस्कृत का सम्बन्ध' बड़ा रोचक और महत्त्वपूर्ण कार्य था। १८३० में पीटर्सबर्ग में स्थित विज्ञान अकादमी में प्राच्य साहित्य और पुराणशेषों का विभाग खोला गया उसमें संस्कृतविद् तैयार करने का भार राबर्टलेंज को सौंपा गया।

लेंज ने १८३३ में कालिदास का नाटक 'विक्रमोर्वशीय' और एशियाई संग्रहालय में रखी संस्कृत-पांडुलिपियों की सूची प्रकाशित की। १८३६ में उन्होंने 'ललितविस्तरपुराण' पर एक लेख व राधाकांत देव के शब्दकोश 'शब्दकल्पद्रुम' पर समीक्षा प्रकाशित की। संस्कृत-विद्या के अध्ययन के क्षेत्र में पावेल पित्रोव का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। अच्छे बड़े पद को ठुकराते हुए पित्रोव ने लिखा था 'मुझे धन का लोभ नहीं है, मैं तो अपना जीवन संस्कृत को अर्पित कर रहा हूं।' (बोगार्द लेविन, अ. विगासिम : १९८४, ८८) पेत्रोव ने रामायण के 'सीताहरण', महाभारत से 'सावित्री' और 'द्रौपदी चीरहरण' की कथा एवं जयदेवकृत 'गीतगोविन्द' के अंशों का अनुवाद प्रकाशित किया। पेत्रोव संस्कृत एक जीवित भाषा के रूप में बोलते और लिखते थे। रूस के संस्कृत-विद्या के जाने-माने साहित्यकारों में काएतान कोसोविच (१८१५-१८८३) का नाम विशेष उल्लेखनीय है। १८४४ में कोसोविच ने जीमूतवाहन द्वारा रचित 'विद्याधर की कथा,' महाभारत से 'सुंद-उपसुंद की कथा,' भागवत पुराण से 'ध्रुव की कथा, शूद्रक के 'मृच्छकटिकम्' के पहले अंक व कृष्ण मित्र के 'प्रबोधचन्द्रोदय' का १८४५ में अनुवाद किया। कोसोविच का मानता था कि रूस को जितनी गणितज्ञ, इतिहासविद् की आवश्यकता है, उतनी ही संस्कृतविद् की भी।

१८४४ में जब वसीली झुकोव्स्की का नलदमयन्ती का अनुवाद छपा तो उसने रूसी जनमानस पर इतनी गहरी छाप छोड़ी कि आज तक रूसी रंग्मंच पर उसका ओपेरा मंचित हो रहा है।

इन रचनाओं के अतिरिक्त ओट्टो निकोलाएविच बोटलिंग द्वारा १८३९-४० में पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' का प्रकाशन यूरोप में संस्कृत के अध्ययन की अप्रतिम घटना थी। बोटलिंग ने कालिदास के नाटक 'अभिज्ञान-शाकुंतलम्, हेमचन्द्ररचित शब्दकोश 'अभिधानचिन्तामणि' (१८४७), संस्कृतशब्दकोश 'बृहद् पीटर्सबर्ग-कोश' प्रकाशित कर रूस में संस्कृत-विद्या के अध्ययन को नया आयाम प्रदान किया।

यद्यपि संस्कृत-साहित्य की उत्कृष्ट रचनाओं के अनुवाद की सूची बहुत लम्बी है, फिर भी कतिपय नामों का उल्लेख पाठकों की जानकारी के लिए आवश्यक है। १८७५ में फिलीप्प फोर्तुनव द्वारा 'सामदेव आरण्यक संहिता' का प्रकाशन, १८१६ में व्सेवोलोद मिल्लेर की पुस्तक 'आर्यमिथक और प्राचीनतम संस्कृति के साथ उसका सम्बन्ध-एक रूपरेखा, १८९८ में पावेल रित्तेर द्वारा दंडीकृत 'दशकुमारचरित' एवं कालिदास के मेघदूत का अनुवाद, १९१७ में दामीत्री कुद्रयाव्स्की द्वारा हितोपदेश का अनुवाद, २०वीं सदी के अन्तिम दशक में 'मनुस्मृति', धम्मपद, भगवद्गीता, सुत्तनिपात, अश्वघोष का बुद्धचरित और कालिदास के नाटकों का अनुवाद, १९६२ में बरान्निकोव द्वारा 'जातकमाला' का अनुवाद, १९३२ में ओल्देनबुर्ग द्वारा अर्थशास्त्र का अनुवाद, श्चेर्बात्स्की द्वारा वरदराज के व्याकरण-ग्रन्थ 'लघुसिद्धान्तकौमिदी' का अनुवाद, १९३० में शोर द्वारा पञ्चतन्त्र, १९३६ में 'बेताल पञ्चविंशति' का अनुवाद, १९५० में बरान्निकोव की पहल पर 'महाभारत' के पूर्ण अनुवाद ने रूसी जनमानस में संस्कृत-विद्या के माध्यम से भारत की ऐसी छवि निर्मित की जिस पर हम भारतवासी को गर्व की अनुभूति हो सकती है।

सन्दर्भः-

१. अलेक्सांद्रिया। १५वीं शताब्दी की एक रूसी हस्तलिखित प्रति में उपलब्ध रूपांतर। मास्को-लेनिनग्राद १९६५।
२. उल्यानीत्स्की, व. अ.; १६वीं-१७वीं शताब्दियों में मध्य एशिया और भारत के साथ रूस के सम्बन्ध। मास्को, १८८९।
३. बोंगार्द-लेविन, अ. विगासिम, 'भारत की छवि', प्रगति प्रकाशन, मास्को, १९८४।
४. त्रुबाच्योव, ओ. न.; 'उत्तरी काला सागर क्षेत्र में इंडो-आरिका।' वाङ्मीमांसा के प्रश्न, १९८१, अंक २
5. Rishi W.R.; "India & Russia" Linguistic and cultural Affinity", Roma Publication, Chandigarh. १९८२.

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २००९ अङ्क ११ (पृ०२३६-२४३)

Applied Philosophy: Need and Importance

Dr. Rajjan Kumar

The concept of Applied Philosophy is of recent origin and a new discipline of study. It is very much built into the notion of the discipline of Philosophy in quite different manner. The concept of Applied Philosophy has tremendous potentiality for solving human problems. It has extended from material (moral, social etc.) level up to the spiritual level of life. It has a vital role to play in shaping people's life in the world.

Applied Philosophy: Old or New

The nomenclature of Applied Philosophy of course is a recent origin of 'Philosophy' but it is not entirely new as acclaimed by the experts of Applied Philosophy is the mother of knowledge (in crude sense the subject). Hence, philosophy can be considered the originator of knowledge. In this sense philosophy becomes applied itself. Further it is opine that Philosophy as such is not a subject. Philosophy means deep study of anything. It also proofs the applied format of Philosophy.

Philosophy is empirical rather than theoretical. From its beginning up to modern times Philosophy is always very keen to search the ultimate truth and try to solve the mysterious questions of society and individuals. It shows Philosophy always be applied. Philosophy is considered a kind of life style. That is why it is said that Applied Philosophy be a misnomer. It may be true at a certain length, but we cannot deny thinking about the applied nature of Philosophy that is old and new forever.

Philosophy in its applied form is considered as an endless and eternal stream in search of the endless and ever new enigma, making man anxious to solve and elucidate them. The applied form of Philosophy can be grasped in the word of Huxley, who states that all of us cannot be classified as philosophers and non-philosophers but as perfect and imperfect philosophers. But it is as perfect and imperfect philosophers. By nature, everyone either literate or illiterate is a philosopher to some extent.

Philosophy from its beginning and even at present is considered a kind of social consciousness. It proves that applied form of philosophy is not a new concept. It is very old, but as a discipline of course. Applied Philosophy is a new conception. It includes the conceptions of the general laws of being and cognition and of the relation of thought of being. The principle functions of philosophy are the cognitive, the worldview, the methodological and the ideological.

A worldview is interpreted as a historically shaped system of generalized views of the outside world, social life and the attitude of man to this world and to himself; these views act as principles determining man's behavior and the ways and the methods of cognition of the world.

Application of the worldview principles to the process of cognition and transformation of reality is referred to as methodology. The philosophical worldview was not scientific from its very emergence. It became so only with the development of dialectical and historical materialism. Philosophy is a science. But it is a special science studying the most general laws of nature, society and thinking. That is why its contents are best considered in comparison with the particular sciences.

But the philosophical worldview differs from the natural-scientific one in that it is based on the most general principles, synthesizing the most general views expressed in the most general categories. Perhaps it considers the most established applied form of Philosophy.

It is well-established fact that philosophy is linked with ideology- a system of ideas and views expressing the position and needs of a definite class, social group, or the whole of society and acting as a guideline for social action. Philosophy or Applied Philosophy performs a similar function.

What is Applied Philosophy?

Philosophy as discipline has had always attracted brilliant minded students Contents of syllabus of Philosophy by nature are constructed in such manner that it got a charge it is too abstract, abstruse and hackneyed. It seems to be cut off, in some way or another, from social nexus, earthly existence, historical and actual life of human existence. What is even worse, if offers very little job opportunity and does not teach an art of earning a living.

There must be a need to construct or introduce a new format of syllabus of Philosophy that at least can promise to serve the aspirations of students or one who is keen to take Philosophy for his career. This is the right time that we, the man of Philosophy or student of Philosophy think and re-think to innovate a course on Applied Philosophy.

Applied Philosophy should be designed in a manner that it should address the basic requirements, aspirations, challenges, prospects and problems of our new millennium. It should also show the relationship of continuity or discontinuity from ancient to the medieval and from both these to the modern between philosophy on the one hand, and religion, science, technology, information technology, politics, economics, environmental issues, professional ethics etc.

Philosophy is defined as the most general interpretation of Nature, Society and Human thinking. Unlike other disciplines of Social and Natural Sciences, Philosophy does not have a strictly

defined subject matter of its own. For its subject - matter, Philosophy goes to what is being said and practiced in the sciences, social science, political theories, religions, cultures and so on.

As Philosophy, so Applied Philosophy has to be the philosophy of something. Applied Philosophy has to take issues from what is being done in the fields of science and technology, politics and economics, religion and culture, or what is being said by the politicians, the economists, the sociologists, the scientists, the journalists, the futurists and the like.

Applied Philosophy could be known as the promoter of philosophical study and research that has a direct bearing on areas of practical concern. It arose from an increasing awareness that many topics of public debate are capable of being illuminated by the critical, analytic approach characteristic of Philosophy, and by direct consideration of questions of value. The different topics come from a number of different areas of life- law, politics, economics, science, technology, medicine, education etc. The purpose of Applied Philosophy should be to foster and promote them that is intend to make a constructive contribution to problems in these areas.

In recent times, however, there has come about a cleavage between Philosophy and Applied Philosophy to such an extent that reaction has started which emphasizes the importance of studies in Applied Philosophy, and a number of subjects are developing today such as Ethics, Applied Ethics, applied Philosophy of Law, Applied Philosophy of Medicine, Applied Philosophy of Management- in brief Applied Philosophy of Life.

In against this background we can easily understand the nature of Applied Philosophy. Here we can present ourselves a fresh line of development, in which we can recover a balance between Philosophy and Applied Philosophy.

Scope of Applied Philosophy

Applied Philosophy is a philosophy pertaining to action, consisting of, involving or resulting from action. Applied Philosophy suggests the ability to adopt means to an end or to turn what is at hand into a skill, the action or process of performing of doing something. Applied Philosophy, as it is, should show the way to study all the subjects. Applied Philosophy has to innovate a method of participation between knowledge and action, wisdom and behavior, value and fact, theory and practice, and all such traditional and modern dichotomies.

If we are able to show the participation, say, between abstract and concrete, we shall be in a position to appreciate the issues concerning Applied Philosophy. This will help us to solve some of the apparently insoluble epistemological, ontological, moral and aesthetic problems.

The scope of Applied Philosophy consists in how best philosophy can solve the practical problems of human beings. Not only in the field of social, moral and religious life, but also in the field of science and technology, can philosophy be practical help. It cannot only sort out the moral

and the religious problems of human life but also can guide us in the use of science and technology. That is why there has been a growing realization that philosophy must be made an applied rather than a merely speculative and intellectual exercise.

The practical application of Philosophy in the life-situations, which need urgent solution, constitutes the scope of Applied Philosophy. Philosophy in its applied form has tremendous potentiality for solving human problems. Ranging from moral, social and political problems to the problems of spiritual life, there is vast scope of philosophy to be of practical help and to bring enlightenment to the people at large.

Philosophy through its method of reasoning cannot only bring conceptual clarity on the subject matter of hand, but also can prepare the ground for maing decision on vital issues. Through applying the reasoning one can make effective distinction between what is good and what is bad in human actions and can also take appropriate decisions.

Thus we can evaluate the scope of Applied Philosophy and can easily say that Applied Philosophy has a vital role to play in shaping people's life in the world.

Aims & Objectives of Applied Philosophy

One of the best-suited objectives of Applied Philosophy can be considered as it takes philosophy a problem-solving activity rather than a theory simplifier. Philosophy as applied to human situations does not need to be a theory as such; it is an activity of analyzing and solving problem.

There should be made a tool via Applied Philosophy in such a manner that Philosophy in true sense can intervene in all spheres of activity and make room for right thinking. it stands for right and reasoned thinking. Philosophy should be considered the most rational way of dealing with a problem. Problems need rational handling. Applied Philosophy is best suited to handle all these problem- cases and when they arise.

We are living in a newly created synthetic world where everything is evaluated in quite distinct manner. Meaning of development and way of progress has changed and has established a different kind of definition. It is unquestionable that in actual life there are many conditions, which are dissimilar. If we are able to show the participation, say between abstract and concrete, we shall be in a position to appreciate the issues concerning Applied Philosophy.

Theory and practice are two important aspects of learning. There is no science that retains its theoretical nature permanent. In its gradual development, it makes some definite suggestion for the improvement of mankind in respect of happiness, synthesis, comfort and prosperity; in this manner every science has a definite applied aspect. Since the practical aspect of all sciences are

concerned with the betterment of human life and general prosperity. Applied Philosophy should consider the very fact of application of ideas in every walk of life.

One of the relevant objectives of Applied Philosophy is to make Philosophy a living subject. Philosophy can become a living subject only if there are some fundamental changes in the way we approach it. We have to make it relevant to everyday life. The philosophical ideals to life should not be anti-life. It should be practical, pragmatic, based on common sense, moderate, eclectic, malleable, flexible and something that can be immediately applied to our daily problems.

To do something innovative that establishes Applied Philosophy modern, contemporary, scientific, logical, rational and based on reason. It should help causeless happiness and to achieve a greater equipoise, emotional equilibrium, balance, harmony, peace, calm. It should be dynamic and should change with changing circumstances, so as to retain its relevance in every situation.

The best way to define the objectives of Applied Philosophy is to define its twin tasks- to revive and revitalize our philosophic heritage with the globosity of consciousness.

In a nutshell, Applied Philosophy is said to be innovative and relevant if it is humanistic, result-oriented, science-oriented, capable of guiding the people and making them better individuals; it must meet the challenging situations of present day society and should not hamper the march of material and spiritual progress of mankind.

Course Contents of Applied Philosophy

Applied Philosophy is often confined to the study of Ethics and Applied Ethics. Applied Philosophy and Applied Ethics are sometimes used as synonyms, but Applied Philosophy is in fact broader, covering also such fields as Law, Education and Art, and theoretical issues in artificial intelligence. These areas include Philosophical problems-metaphysical and epistemological-that are not statically ethical. Hence, there is a need to enhance the course content of Applied Philosophy in the light of following considerations. Many of the issues it treats to do in fact involve other aspect of Philosophy such as medical ethics, professional ethics, environmental ethics, business ethics etc. and so on.

- The course of Applied Philosophy would underline the study of those uplifting forces which have provided to humanity the basic impetus to raise higher and higher levels of culture and would thus stimulate students to practice in their own life the lessons of human culture.
- Applied Philosophy can be considered as a part of value-oriented education.
- Various attitudes toward environment, which are present in Eastern and Western culture, should also be emphasized.
- The subject of harmony with nature and love of vegetable and animal kingdom should also be stressed.

- Mass media, television and telepathy may bring world events in our living room; hence they should become the part of study of Applied Philosophy.
- Science and Technology, health and medicine, computer and internet etc. becomes effective and impressive programme of Applied Philosophy.
- Philosophy the nearest counterpart of Applied Philosophy should always be the integral part of Applied Philosophy.

Thus the course of Applied Philosophy should be multidisciplinary. It should be moderate, up-to-date and possesses the potency to cope the crying status of Philosophy in the world of vocational and earthly earning education system.

Future of the Applied Philosophy

Contemporary Philosophers concerned with the practice might therefore do better to adopt something of the approach of causality and practical philosophy rather than to think, as at present, in the somewhat limiting terms suggested by the phrase 'Applied Philosophy'. There is certainly need and considerable scope for the philosophical study of the practice of thinking about practice- that is to say; there is requirement for a 'meta-philosophical' account of moral reasoning.

If such an enquiry were to lead to preconception of the subject of normative branch of Philosophy especially ethics along the lines suggested in connection with earlier styles of thought, that would certainly have implications for ties future development. As it is, there can be little doubt but that the growth of publications, college and university courses, in-service professional training sessions, and other forms of activity concerned with the philosophical treatment of social and spiritual questions will continue at more or less its present rate.

It is impossible to be conflict about developments beyond that point, but it seems likely that applied Philosophers will look for new fields of operation. For the most part, that will involve seeking out existing areas of life that have not yet been made the subject of academic enquiry; but it will also lead to greater novelty as technology extends the limits of possible and thereby changes patterns of behavior, and as other factors bear upon the structure of personal and social relationships.

We have seen how the development of electronic data-gathering and data-recording has given rise to increased concerns about privacy, and how reproductive technology has prompted worries about the proper limits of control over the creation of life. Doubtless at this very moment someone is writing a book on the different aspects of 'Applied Philosophy'.

As these interests develop so will the publishing and other services that cater for them. A decade earlier there were no academic philosophical journals or institutions concerned primarily or

even largely with normative, first order Applied Philosophical questions. Today, such journals and institutions abound and more are created every year.

The present range includes the following: International Journal of Applied Philosophy, Journal of Applied Philosophy, Philosophy and Public Affairs, Philosophy and Technology, Social Philosophy and Policy, Social Theory and Practice, Journal of Social Philosophy, Journal of Medicine and Philosophy, etc.

Some pioneer institutions, which marched in the area of Applied Philosophy in various ways, either conducting research or running courses at different levels or operating both research and teaching are noted here- Centre for Applied Philosophy and Public Ethics established in २००० in Australia, Society for Applied Philosophy founded in 1975 in UK, Department of Applied Philosophy in British University of Columbia, Department of Applied Philosophy established in १९९७ in M.J.P. Rohilkhand University, Bareilly, India.

However, the subject develops, there will be no shortage of journals, reading materials, institutions- such, for good and ill, is academic and professionalism.

Thus, we understand about the need and importance of Applied Philosophy. However still many queries persist i.e. how and why Applied Philosophy is introduced as a new discipline of study.

We conclude our enquiry by saying that it is not necessary that philosophical investigation must end in a discovery of meaning; a philosophy may even come to the conclusion that there is no such thing as meaning; but even such a philosophy can be designated as philosophy only if it has attempted to exercise the sense of meaning in its fullness and arrived at its own conclusion after having exhausted its search for meaning.

Readings and References:

- A Kenny (198): Essays in Philosophy and Public Policy, USA, Blackwell Publications
- Adam Morton (1996): Philosophy in Practice, An Introduction to the main Questions, Cambridge, Blackwell Publishers
- Phillips Griffiths (1985): Philosophy And Practice, New York, Cambridge University Press
- B.N. Moore & Kenneth Bruder (1995): Philosophy the Power of Ideas, California, Mayfield Publishing Company
- Carlos J. Moya (1990): The Philosophy of Action, An Introduction, UK, Polity Press
- C.E.M. Joad : Guide to Philosophy, London, The English University Press
- Dale Jacquette (2004): Pathways in Philosophy, New York, Oxford University Press
- David E. Cooper (1996): World Philosophies, USA, Blackwell Publishers Ltd.

- Earl R. Winkler & Ferrold R. Coombs (1993): Applied Ethics: A Reader USA, Blackwell Publishers
- Frank Thilly (1985): A History of Philosophy, Allahabad, central Publishing House
- John H. Piet & Ayodhya Prasad (Edits 2000): An Introduction to Applied Ethics, New Delhi, Cosmo Publications
- K. Satchindanand Murty (1985): Philosophy in India: Traditions, Teaching & Research, New Delhi, ICPR
- M. Warnock (1992): The uses of Philosophy, Oxford, Blackwell Pub.
- R.P. Singh (Edt. 2003): Applied Philosophy, New Delhi, Om Publications
- Ruth Chadwick (1998): Encyclopedia of Applied Ethics, UK, Academic Press

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २००९ अङ्क ११ (पृ०२४४-२४७)

CONCEPT OF PAIN IN AYURVEDA AND ITS MANAGEMENT

Dr. S.K.J
Additional Medical Superintend
State Ayurvedic College & Hosp
Gurukul Kangari, Hardwar, Uttarakh

Pain is one of the most common features of traumatic lesions and therefore understanding of nature and its properties are important for its management. Pain is a psychical response of an impera protective reflex; pain is the sensation one feels when get injured. Pain must be explained as an experie rather than a sensory change in the real neurological sense. One cannot give any precise definition of p because of the difficulty of explaining, where the afferent pain impulses by traumatic agent arise before th pass up in to the central nervous system to be explained by the psychical and emotional state of an indivi based upon the previous and present experience about the trauma. Just after birth newborn child g experience of traumatic pain during the umbilical cord resection. It is the first experience of a baby wh goes in to the memory of the child. Any other pain experience in the coming life gives the compara feeling to the child.

Pain is produced by stimuli exceeding the intensity threshold for sensory nerve endings. The nerv impulses produced by the stimulation of peripheral receptors, which is inferred as pain with in the high cerebral centers, such type of nervous activities may be produced by a number of physical phenomena pressure, squeezing, tension, puncturing and by the change of temperature, cold and hot or by the chem effects such as the change of pH i.e. concentration of histamine like substances, bradykinine, serotonin other polypeptide compounds.

In the dermis the most coetaneous sensory nerve endings are made up of a dense network unmyelinated fibers, similar nerve network is present in the walls of blood vessels, periosteum of bo sinovium and joint capsule. In the muscle this function is carried by small myelinated fibers. Cartilage has sensory end organs. In ligaments and tendons sensory end organ is present in the form of stretch receptors controls the muscles and give the feeling of pain also. Bone and periosteum respond to pressure percussion. Synovium contains few scattered free new nerve endings in deep and superficial plexuses. muscles the pain receptors are related to the presence of small myelinated fibers. Pain sensitive nerve endi are also present in fibrous capsule of apophyseal joints; inter spinal, longitudinal and flaval ligam vertebral periosteum, in duramater and epidural adipose tissue. Pain may be Local or confined to one pl Diffuse, Radicular or radiating and Referred. Local pain is felt at the pathological/ traumatic site and superficial structures, on examination there is marked local tenderness on palpation and percussion. Diff

pain is usually deep seated and has more or less segmental distribution. Radicular/ radiating pain is paroxysmal in character and its radiation from the center to periphery. It is often associated with parasthesia and tenderness along the nerve root, as in brachialgia and sciatica.

In *Susruta Samhita, Maharshi Susruta* has mentioned that the commonest feature of wound is pain. Wound and pain are both coexisting features of trauma. Pain is a feeling of uneasiness. In *Ayurveda, vedana, dukha, pida, sula, ruk, ruja, bheda, sadana, avasada*, words are used for the pain. According to *Susruta Samhita*, the main causative factor of pain is *vata.* The seat of pain is *mana* (psyche) and *sharira* (body).

In all cases of *vatika* predominance, the chances of pain are quiet common along with other clinical presentation of *vatika* anomalies. In normal state the *vata* is responsible for the activation of a number of functions of different systems. According to the *Astanga Hrdaya Sutrasthana (12/ 49-50)*, derangement, displacement, dilatation, piercing pain, anesthesia, lethargy, pricking and incising pain, constricting pain, breaking pain, twisting pain, excitation of hair follicle and thirst due to severe pain, tremor, hardening, porosity, dryness, stimulation, spasm, distaste of mouth, black and reddish black discoloration are due to the *vata.*

According to *Susruta-Samhita, Marmas* causing pain are predominant in qualities of *Agni* and *vayu* as they particularly cause pain; some on the other hand, quote that pain is related to all five elements *(panchamahabhutas).*

Types of pain in wounds—

Vatika Vedana: ----*Todana* (pricking pain), *Bhedan* (cutting/ incising pain), *Tadana* (pain due to blunt injury), *Chedana* (cutting/ excising pain), *Ayamana* (streaching pain), *Manthana* (gripping pain), *Viksepana* (pulling pain), *Cumcumayana* (tingling sensation), *Nirdahana* (burning pain), *Avabhanjana* (breaking pain), *Sphotana* (bursting pain), *Vidarana* (perforating pain), *Utpatana* (tearing pain)

Kampana (tremoring pain), *Vislesana* (dislocating pain), *Vikirana* (radiating pain), *Purana* (distending pain), *Stambhana* (stiffness/ ankylosing pain), *Swapana/ swapa* (anaesthesia), *Akuncana* (spasmodic pain), *Ankusika* (anchoring/ hanging pain), *Atimatra vedana* (sudden excessive pain), *Vividha shoola* (different pain)

Pattika Vedana: --- *Osa* (burning pain), *Chosa* (scalding pain), *Paridaha, Dhumayana, Gatrangaravakirnamiva pacyate, Usmabhivriddhi* (increased temperature), *Kshate ksharavasiktavaccha vedana* (caustic application over wound like pain)

Kaphaja Vedana: --- *Alpavedanama* (mild pain), *Suptatvama* (numbness), *Avedanam/aruja* (anaelgesia), *Parvasubheda*

Tridosaja/ sannipataja Vedana: --- *Vividha vedana, sarva vedana.*

In different *Ayurvedic* texts, the abdominal colic *(sula)* is described to be of eight types. They are due to the separate three *dosas*, due to combination of all three *dosas*; due to *ama dosa* and rest three are due to

ombination of two *dosas (vayu and kapha, kapha* and *pitta, vayu* and *pitta).* However in all these colics there s predominance of *vayu.* Apart from the *dosa* vitiating diet, suppression of the natural urges of defecation, jaculation, urination and flatus is responsible for the colicy (spasmodic) pain. The sites of pain are precordial egion, flanks, back, sacral and suprapubic regions. The *Vatika Sula* is characterized by spasmodic in nature having the periods of exacerbations and remissions repeatedly with the retention of urine, flatus and faeces. It can be identified as pricking or tearing type of pain. The *Paittika Sula* is very severe and sudden in onset. The colicky pain is associated with thirst, fainting, burning sensation and pain in the umbilical region. Excessive perspiration, vertigo are also accompanied with the *paittika sula*. The *Kaphaja sula* is low intensity colicky pain in the abdomen. It is associated with nausea, cough, malaise, anorexia, excessive salivation, and heaviness of abdomen. The colicky pain is aggravated after meals and in early morning. In *Sannipataja sula* all three *dosas* get vitiated. The clinical presentation may be varied accordingly. The all symptoms may be in aggravated state. *Amaja sula* may be compared with *kaphaja sula*. The pain is associated with abdominal distention, increased intestinal movements, nausea, vomiting, constipation and excessive salivation.

The site of *Kapha vatika sula* is urinary bladder (suprapubic region), precordium, flanks and back. The *Kapha paittika sula* occurs in epigastrium, cardiac and mid umbilical regions. The *Vata paittika sula* is very severe in nature with burning sensation and fever.

The colicky pain (*Parinama sula*) caused by *pitta* and *kapha* mostly occurs during the period of digestion, envelops the vitiated *Vayu*. In comparison to *kaphaja sula* it takes place in empty stomach when food material passes towards the intestine for the digestion. In *Vatika parinama sula* the spasmodic pain get relieved usually on taking warm and fatty meals. The pain is associated with flatulence, tympanitis, constipation, oliguria and restlessness. In *Paittika parinama sula*, the colic is accompanied with thirst, burning sensation, uneasiness and excessive sweating. The pain is aggravated by taking pungent, sour and salty food and relieved by the ingestion of cold substances. In *Kaphaja parinama sula* the colic pain is of low intensity associated with nausea, vomiting, confusion. The pain is static/ constant in nature. The pain gets relieved on taking pungent, bitter and hot substances. Mixed clinical features are presenting the vitiation of two *dosas*.

In *Sannipatika parinama sula* all three *dosas* are vitiated. The pain is associated with excessive weakness, catchexia and indigestion. It is considered as incurable.

Annadrava Sula (colic pain) persists irrespective of food intake, during and after the digestion of food. The colic does not subside by any means of dietatary alteration. Pain only subsides until unless the bilious substance comes out after the vomiting, spontaneous or effortful.

The management of pain is comprises of multifold approach. It can be categorized in local management and systemic management. The pain caused by traumatic lesions can be managed by the local fomentation, irrigation, application of local medicament and bandaging. According to *Susruta Samhita*,

application of ghee and *Madhuyasthi kalka* is the best analgesic agent for the management of pain caused by the application of sharp instruments (*Sastranipata janya vedana*). The surgeon should prescribe sprinkling with not very cold *ghee* or *Bala- taila* in accidental/ traumatic and painful wound. (Su.Ch.Chapter-2/81).

According to *Charaka samhita* following medicines are analgesics and anti spasmodic. These plants are enumerated under the heading of *Shulaprashamana* and *Vedanasthapana.*

Sulaprashamana Mahakashaya: -- *Pippali* (Piper longum), *Pippalamula* (Root of Piper longum), *Chavya* (Piper chaba), *Chitraka* (Plumbago zeylinica), *Sunthi* (Zingibe officinalis), *Maricha* (Piper nigrum), *Ajamoda* (Trachyspermum roxburghianum), *Ajagandha* (Gynandropsis gynendra), *Ajaji* (Carum carvi), *Gandir* (Ranunculus sceleratus).

Vedanasthapana Mahakashaya: -

Sala (Sorea robusta), Kataphala (Myrica negi), *Kadamb* (Anthocephalius indicus/cadambus*), Padmaka (*Prunus pudum*), Tumburu/Tejabala (*Zemthoxylum olatum*), Mocharasa (*Gum of Salmelia malberica*), Shirisha (*Albizzia lebbeck*), Vajula /Jalavetasa, Alua* (Socotrin aloes*) and Ashoka (*Saraca asoka*).*

In *Ayurveda* the term *Vedana* is more or less used for the feeling. It may be the feeling of wellbeing or feeling of illness (*Sukhatamaka* and *Dukhatmaka*). The drugs used for the conversion of the feeling of illness in to the feeling of wellbeing are known as *vedanasthapana*. The governance of all kind of body sensations is the subject of the *Vata*. But during the vitiation of *Vata* all these functions get disturbed and the excessive activity of vitiated *Vata* may cause pain sensation. According to *Ayurveda*, all painkillers *(Vedanasthapana)* are *Vatashamaka*. The *Vatashamaka* drugs are mostly *UshnaVirya*, i.e. *Guggulu, Sala, Kayaphala, Ahiphena, Vatsanabha* etc.

The pain has no outside or external existence. It is most personal experience, cannot be shared by any other person. Pain is an individual experience of ill being. Inadequate management of pain cause impaired function, depression and insomnia. One kind of pain may not be managed by single medicine or manual practice, because may have different causes. In *Ayurvedic* there is no particular uniform medicine for any kind of pain. Management of pain depends upon the causative factor or *doshika* predominance responsible for the pain. In modern medical science a number of analgesics are available for the pain management. Only one analgesic preparation cannot solve the problem of pain.

Pain management aims at minimizing the distress, feeling of unrest and improving the quality of life. A cardinal point in the management of pain, which should be holistic and patient centered in its application. It can be fulfill only by the *Ayurvedic* approach.

विद्वत्परिचयः

क्रम	विद्वान् का नाम	पता
१.	प्रो. ज्ञान प्रकाश शास्त्री	प्रोफेसर एवं अध्यक्ष वैदिक शोधसंस्थान, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.
२.	स्वामी अनन्त भारती	पूर्व प्रोफेसर, लाल बहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली.
३.	प्रो. राजेश्वर दीक्षित	संस्कृत-विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र
४.	डॉ. रूपकिशोर शास्त्री	एसोशियेट प्रोफेसर वेद-विभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.
५.	डॉ. वेदपाल	अध्यक्ष संस्कृत-विभाग, जनता वैदिक कालेज, बड़ौत (उ०प्र०)
६.	डॉ. सत्यदेव निगमालंकार	एसोशियेट प्रोफेसर, वैदिक शोधसंस्थान, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.
७.	डॉ. दिनेशचन्द्र शास्त्री	एसोशियेट प्रोफेसर वेद-विभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.
८.	डॉ० मृदुल जोशी	प्रवक्ता हिन्दी, कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.
९.	श्री अमित चौहान	प्रवक्ता श्रद्धानन्द वैदिक शोधसंस्थान, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.
१०.	डॉ. हरीश्वर दीक्षित	उपाचार्य एवं अध्यक्ष संस्कृत-विभाग, राजा हरपाल सिंह स्नातकोत्तर महाविद्यालय सिंगरामऊ, जौनपुर. मो०९४५००८५५२१
११.	डॉ. नीरज कुमार	प्रोजेक्ट फैलो, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.
१२.	डॉ० दीनदयाल वेदालंकार	वैदिक कर्मकाण्ड विभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.
१३.	डॉ. योगेश शास्त्री	प्राचार्य विद्यालय विभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.
१४.	प्रो. त्रिलोक चन्द	प्रोफेसर दर्शन विभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.

विद्वत्परिचय:

१५.	श्री भारत वेदालंकार	प्रवक्ता- धर्म, दर्शन एवं संस्कृति विभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्याय, हरिद्वार.
१६.	डॉ. ब्रह्मदेव	एसोशियेट प्रोफेसर संस्कृत-विभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार.
१७.	प्रो. ईश्वर भारद्वाज	प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, योग विभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार.
१८.	डॉ. देवी सिंह	संस्कृत-पालि-प्राकृतविभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र
१९.	वेद प्रकाश	शोधछात्र संस्कृत-पालि-प्राकृतविभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय कुरुक्षेत्र
२०.	श्री युद्धवीर सिंह	शोधछात्र, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-७
२१.	डॉ०सोहनपाल सिंह आर्य	एसोशियेट प्रोफेसर दर्शन-विभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार.
२२.	डॉ. जितेन्द्र कुमार	दयानन्द कालेज अजमेर
२३.	डॉ. डोली जैन	वरिष्ठ प्रवक्ता संस्कृत, दर्शन एवं वैदिक अध्ययन, वनस्थली विद्यापीठ
२४.	डॉ. मधु सत्यदेव	प्रवक्ता संस्कृत-विभाग, दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय गोरखपुर.
२५.	प्रो. किरण टण्डन	कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल उत्तराखण्ड
२६.	प्रो. कौशल्या चौहान	फ्लैट नं०४, ब्लॉक नं०१, टीचर्स कालौनी, समरहिल, शिमला-१७१००५
२७.	डॉ. देवेन्द्र गुप्ता एवं धर्मेन्द्र प्रसाद	रीडर, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.
२८.	डॉ. पंकज मालवीय	रूसी विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़
२९.	डॉ. रज्जन कुमार	रीडर एवं अध्यक्ष एम.जे.पी. रुहेलखण्ड विश्वविद्यालय, बरेली पिन २४३००६
३०.	डॉ. सुनील जोशी	राजकीय आर्युर्वैदिक कालेज, गुरुकुल काँगड़ी हरिद्वार.

निबन्ध भेजने वाले विद्वानों से निवेदन

- गुरुकुल-शोध-भारती गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय की षाण्मासिक शोध-पत्रिका है। यह प्रमुख रूप से वेद, वैदिक एवं लौकिक साहित्य, धर्म, दर्शन, संस्कृति, योग, आयुर्वेद तथा अन्य प्राच्यविद्या से सम्बन्धित शोधपरक आलेखों को प्रकाशित करने के लिये कृतसङ्कल्प है।
- गुरुकुल-शोध-भारती में प्रकाशन हेतु शोधनिबन्ध की मूलप्रति प्रेषित करें, फोटो स्टेट प्रति स्वीकार्य नहीं होगी। साथ ही अपठनीय लेख में लिखी हुई प्रति के आधार पर लेख प्रकाशित कराना सम्भव नहीं होगा। इसी प्रकार पृष्ठ के दोनों ओर लिखे हुए लेख स्वीकार नहीं होंगे।
- गुरुकुल-शोध-भारती में शोधनिबन्ध मूल्याङ्कन कराने के पश्चात् प्रकाशित किये जाते हैं। अत: विद्वान् लेखकों से अनुरोध है कि वे वही निबन्ध इस पत्रिका के लिये प्रस्तुत करें, जो सब प्रकार से शोध की कसौटी पर खरे हों।
- गुरुकुल-शोध-भारती में केवल शोध-निबन्ध ही प्रकाश किये जायेंगे। जिनमें शोध-प्रविधि का प्रयोग नहीं किया गया है, ऐसे लेखों को प्रकाशित करना सम्भव नहीं होगा।
- शोध-निबन्ध में लेखक का निष्कर्ष सुसङ्गत, प्रमाण एवं तथ्यों पर आधारित तथा परम्परा से पोषित होना चाहिये।
- अन्धविश्वास को बढ़ावा देने वाले निबन्धों को प्रकाशित करना सम्भव नहीं हो सकेगा, अत: अन्धविश्वास का समर्थन करने वाले निबन्ध कृपया न भेजें।
- सभी विद्वानों से अनुरोध है कि वे गुरुकुल-शोध-भारती के लिये कम्प्यूटर से टंकण कराये गये शोध-निबन्ध ही भेजें, जिससे लेख तथा उसके उद्धरणों को शुद्धतम रूप में प्रकाशित किया जा सके। साथ ही टंकण के समय **फुटनोट निबन्ध के अन्त में दें,** जिससे उनको यथास्थान प्रस्तुत करने में सुमगता रहे।
- जो विद्वान् अपने शोधपत्र **'कृतिदेव 010'** फोण्ट में टाइपिंग करने के उपरान्त सी.डी. बनवाकर प्रेषित करेंगे, उनके शोधनिबन्ध प्राथमिकता के आधार पर प्रकाशित किये जायेंगे।
- शोध-निबन्ध मौलिक होना चाहिये। किसी अन्य विद्वान् की पुस्तक अथवा निबन्ध की नकल करके निबन्ध भेजना बौद्धिक अपराध तथा अपनी प्रतिभा का हनन है।
- किसी अन्य पत्रिका में पूर्व प्रकाशित निबन्ध को पुन: प्रकाशित करने के लिये कृपया न भेजें। निबन्ध की मूलप्रति ही प्रकाशित करने के लिये भेजें। हस्तलिखित फोटोस्टेट निबन्ध अपठनीय होने के कारण प्रकाश्य नहीं होंगे।

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

श्री स्वामी श्रद्धानन्द अनुसंधान प्रकाशन केन्द्र के प्रकाशन

क्र.सं.	पुस्तक का नाम	कीमत रु.
1.	स्वामी श्रद्धानन्द	500 रु.
2.	वेद का राष्ट्रिय गीत	200 रु.
3.	श्रुतिपर्णा	95 रु.
4.	वैदिक साहित्य संस्कृति एवं समाज दर्शन	500 रु.
5.	वेद और उसकी वैज्ञानिकता	300 रु.
6.	शोध सारावली	220 रु.
7.	भारतवर्ष का इतिहास (दो खंडों में)	350 रु. प्रति खंड
8.	क्लासिकल राइटिंग ऑन वैदिक एण्ड संस्कृत लिट्रेचर	80 रु.
9.	दीक्षालोक	500 रु.
10.	स्वामी श्रद्धानन्द के सम्पादकीय लेख	500 रु.
11.	स्वामी श्रद्धानन्द की सम्पादकीय टिप्पणियां	450 रु.
12.	कुलपुत्र सुनें	300 रु.
13.	ग्लिम्पस आफॅ इनवायरमेन्टल परसेप्ट्स ऑफ वैदिक लिट्रेचर	50 रु.
14.	स्वामी श्रद्धानन्द समग्र मूल्यांकन	300 रु.
15.	पं0 इन्द्रविद्यावाचस्पति कृतित्व के आयाम	300 रु.
16.	बातें मुलाकातें	125 रु.
17.	वेदों की वर्णन शैलियां	50 रु.
18.	हिन्दी काव्य को आर्यसमाज की देन	400 रु.
19.	श्रुति विचार सप्तक	500 रु.
20.	स्तूप निर्माण कला	55 रु.
21.	ईशोपनिषद्भाष्य	40 रु.
22.	इन्द्रविद्यावाचस्पति	40 रु.
23.	भारतवर्ष का इतिहास (तृतीय खंड)	55 रु.
24.	अग्निहोत्र	25 रु.
25.	वेद विमर्श	25 रु.
26.	आधुनिक भारत में वक्तृत्व कला की प्रगति	25 रु.
27.	आहार	35 रु.
28.	वैदिक वन्दना गीत	25 रु.
29.	ऋषिदेव विवेचन	25 रु.
30.	विष्णु देवता	25 रु.
31.	सोम	20 रु.
32.	ऋषि दयानन्द का पत्र व्यवहार	25 रु.
33.	अध्यात्म रोगों की चिकित्सा	40 रु.
34.	गुरुकुल की आहुति	12 रु.,
35.	ब्राह्मण की गौ	25 रु.
36.	ऋषि-रहस्य	25 रु.
37.	धर्मोपदेश (भाग प्रथम और द्वितीय)	25 रु. प्रति खंड
38.	वैदिक कर्त्तव्य शास्त्र	40 रु.
39.	मेरा धर्म	500 रु.
40.	गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय कलेण्डर भाग-1	250 रु.

विश्वविद्यालय से प्रकाशित होने वाली पत्रिकाओं का विवरण

1.	गुरुकुल पत्रिका	वार्षिक मूल्य 100 रु.
2.	वैदिक पॉथ	वार्षिक मूल्य 100 रु.
3.	प्राकृतिक एवं भौतिकीय शोध विज्ञान पत्रिका	वार्षिक मूल्य 500 रु.
4.	आर्य भट्ट	वार्षिक मूल्य 100 रु.
5.	गुरुकुल बिजनेस रिव्यू (GBR)	वार्षिक मूल्य 100 रु.

नोट :-ये सभी पुस्तकें कुलसचिव, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के नाम ड्राफ्ट भेजकर निम्न पते से प्राप्त की जा सकती है। क्रमांक १ से १२ एवं क्रमांक १८ तथा १९ पर ५० प्रतिशत तथा अन्य सभी पुस्तकों पर २० प्रतिशत की छूट देय है।

पुस्तकें मंगाने का पता : पुस्तकालयाध्यक्ष/व्यवसाय प्रबन्धक, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-२४९४०४ (उत्तरांचल)

ISSN 0974 - 8830

गुरुकुल-शोध-भारती

मूल्याङ्कित शोधपत्रिका

(A Refereed Research Journal)

अंक १२, सितम्बर २००९

सम्पादक

प्रो. ज्ञानप्रकाश शास्त्री

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष

श्रद्धानन्द वैदिक शोध-संस्थान

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-249404

कुलपिता, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय

स्वामी श्रद्धानन्द जी

१८५६-१९२६

ISSN 0974 – 8830

ओ३म्

गुरुकुल-शोध-भारती

मूल्याङ्कित शोधपत्रिका

(A Refereed Research Journal)

अंक १२, सितम्बर २००९

सम्पादक
प्रो. ज्ञानप्रकाश शास्त्री
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
श्रद्धानन्द वैदिक शोध-संस्थान

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-249404

सम्पादक-मण्डल

परामर्शदात्री समिति

विषयानुक्रमणिका

यास्कीय निरुक्त का आकार

प्रो. ज्ञान प्रकाश शास्त्री[१]

निरुक्त के आकार के सम्बन्ध में विचार करने पर ज्ञात होता है कि जिस रूप में और जितना निरुक्त नाम से ग्रन्थ उपलब्ध होता है, वह सब यास्कीय नहीं है। इस विषय में सबसे अधिक ध्यान देने एवं स्वीकार करने योग्य तथ्य यह है कि निरुक्त के दुर्ग एवं स्कन्द ये दोनों प्राचीन भाष्यकार जितने निरुक्तभाग की व्याख्या कर रहे हैं, उनकी दृष्टि में वही यास्कीय निरुक्त है। उक्त प्रकरण में यह बात विना किसी विवाद के कही जा सकती है कि द्वादश अध्याय पर्यन्त निरुक्त की सीमा को मानने में किसी को कोई आपत्ति नहीं रही है और न है। इसके अतिरिक्त इस विषय में यह भी कहा जा सकता है कि निरुक्त का प्रणयन निघण्टु के लिये हुआ था। यदि इस दृष्टि से अवलोकन करें तो ज्ञात होता है कि निघण्टु की व्याख्या की परिसमाप्ति द्वादश अध्याय पर हो जाती है। निघण्टु में तीन काण्ड हैं-नैघण्टुक, नैगम तथा दैवत। इन तीन काण्डों के पदों का व्याख्यान १२वें अध्याय की समाप्ति के साथ यह कार्य पूर्ण हो जाता है। चूँकि यह स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है, इसकी आश्रयता निघण्टु पर निर्भर है, अत: १२वें अध्याय से आगे निरुक्त का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता।

आचार्य दुर्ग की दृष्टि में निरुक्त का आकार

निरुक्त के प्राचीन व्याख्याकार आचार्य दुर्ग निरुक्तवृत्ति का प्रारम्भ **'समाम्नाय: समाम्नात: स व्याख्यातव्य:'**[२] से करते हैं। इसके अतिरिक्त निरुक्त के विषयों का परिगणन करते हुए वे प्रथम विषय के रूप में **'नामाख्यातोपसर्गनिपातलक्षम्'**[३] तथा अन्तिम विषय के रूप में **'देवताभिधाननिर्वचनफलं देवताताद्भाव्यमित्येष समासतो निरुक्तशास्त्रचिन्ताविषय:'**[४] कहते हैं। इस प्रकार दुर्ग की दृष्टि में निरुक्त का प्रारम्भ जहाँ प्रथम अध्याय से होता है, वहीं उसकी समाप्ति द्वादश अध्याय पर हो जाती है। इस तथ्य को मुखत: स्वीकार करते हुए वे आगे कहते हैं-**'इयं च तस्या द्वादशाध्यायी भाष्यविस्तर:। तस्या इदमादिवाक्यं 'समाम्नाय: समाम्नात:' इति। गवादिदेवपत्न्यन्त: शब्दसमुदाय उच्यते।'**[५] कि यह यास्क के द्वादशाध्यायी भाष्य का विस्तार है। उसका प्रथम वाक्य है-**'समाम्नाय: समाम्नात:'**। गो से लेकर देवपत्नी पर्यन्त शब्द समुदाय का इसमें विवेचन है।

दुर्ग के सन्दर्भ में एक तथ्य ध्यान देने योग्य है कि दुर्ग ने निरुक्तविषयों के परिगणन में त्रयोदश और चतुर्दश अध्यायों के विषयों का समाम्नान नहीं किया है। इनमें से भी चतुर्दश अध्याय पर उनकी वृत्ति भी नहीं है, अत: चतुर्दश अध्याय को निरुक्त का भाग मानने के विषय में वे असहमत हैं, ऐसा प्रथम दृष्ट्या स्वीकार किया जा सकता है। जहाँ तक त्रयोदश अध्याय का प्रश्न है, इस पर दुर्ग की व्याख्या मिलती है, परन्तु फिर भी दुर्ग ने

---

१ प्रो. ज्ञान प्रकाश शास्त्री, अध्यक्ष श्रद्धानन्द वैदिक शोधसंस्थान एवं सम्पादक गुरुकुल-शोध-भारती, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.

२. निरु०१.१, दुर्गनिरुक्तवृत्ति, भूमिका, पृ०१, आनन्दाश्रमसंस्कृतग्रन्थावलि: ८८, आनन्दाश्रममुद्रणालय, पूना १९२६

३. दुर्गनिरुक्तवृत्ति, भूमिका, पृ०३, आनन्दाश्रमसंस्कृतग्रन्थावलि: ८८, आनन्दाश्रममुद्रणालय, पूना १९२६

४. दुर्गनिरुक्तवृत्ति, भूमिका, पृ०४, आनन्दाश्रमसंस्कृतग्रन्थावलि: ८८, आनन्दाश्रममुद्रणालय, पूना १९२६

५. दुर्गनिरुक्तवृत्ति, १.१ पृ०५, आनन्दाश्रमसंस्कृतग्रन्थावलि: ८८, आनन्दाश्रममुद्रणालय, पूना १९२६

उसको निरुक्त का भाग नहीं माना है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि निरुक्त का लक्ष्य निघण्टु है, जहाँ निघण्टु के निर्वचनों का कार्य पूर्ण हो जाता है, वही उनकी दृष्टि में निरुक्त की पूर्णता है। यह केवल दुर्ग की या देवराजयज्वा की ही बात नहीं है, यह प्रवृत्ति प्राचीन परम्परा में रही है। सम्भवत:, उन संस्कारों के वशीभूत होकर दुर्ग या अन्य आचार्य निघण्टु की सीमा को ही निरुक्त की सीमा मानकर चल रहे हैं।

यह भी यहाँ ध्यान देने योग्य तथ्य है कि दुर्ग निरुक्त के त्रयोदश अध्याय के अन्त में लिखते हैं-'**इति श्रीमज्जम्बूनिवासिनो भगवद्दुर्गाचार्यस्य कृतावृज्व्यर्थायां निरुक्तवृतावष्टादशोऽध्याय: समाप्त॥ निरुक्तवृत्ति: समाप्ता॥**'[६] एक अन्य संस्करण में '**निरुक्तवृत्ति: समाप्ता**' के स्थान में '**इति सपादसप्तदशाध्यायी ऋज्वर्था नाम निरुक्तवृत्ति: समाप्ता**'[७] लिखा है। लेकिन १२वें अध्याय के अन्त में ऐसा कोई वक्तव्य देखने को नहीं मिलता। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि दुर्ग की दृष्टि में निरुक्त का त्रयोदश अध्याय द्वादश अध्याय का अनुषङ्गी है। इसलिये वे उसको सपाद द्वादशाध्याय कह रहे हैं। दुर्ग उसको सपाद कहें या फिर त्रयोदश अध्याय, स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि में त्रयोदश अध्याय यास्कीय है।

आचार्य स्कन्दस्वामी के मत में निरुक्त का आकार

आचार्य स्कन्दस्वामी निरुक्त के आरम्भ का उल्लेख करते हुए कहते हैं-'**तस्य निरुक्तस्य पञ्चाध्याया 'गौर्ग्मा'-इत्यादयो निघण्टवस्तेषां व्याख्यानार्थं षष्ठप्रभृति 'समाम्नाय: समाम्नात:' (निरुक्त १.१) इति** भगवतो **यास्कस्य भाष्यम्।**'[८] कि उस निरुक्त के पञ्चाध्यायों में गौर्ग्मा इत्यादि निघण्टु है, उसके व्याख्यान के लिये षष्ठ अध्याय से '**समाम्नाय: समाम्नात:**' इस वाक्य से भगवान् यास्क का भाष्य प्रारम्भ होता है। आगे स्कन्द कहते हैं '**एवं गवादिदेवपत्न्यन्तस्य समाम्नायस्य व्याख्या प्रतिज्ञाता**'[९] कि इस प्रकार यास्क ने गौ से लेकर देवपत्नी पर्यन्त शब्दों के समाम्नाय की व्याख्या करने की प्रतिज्ञा की है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्कन्द की दृष्टि में निरुक्त का विस्तार द्वादश अध्याय पर्यन्त है। पुन: यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब निरुक्त १२ अध्याय पर्यन्त है, तब क्यों स्कन्द ने त्रयोदश अध्याय का व्याख्यान किया? इसका जो उत्तर दुर्ग के प्रसङ्ग में दिया है, वही यहाँ भी घटित होता है।

आचार्य स्कन्दस्वामी त्रयोदश अध्याय के व्याख्यान के अवसर पर कहते हैं-'**यथा प्रतिज्ञातं समाम्नायो व्याख्यात:। इदानीं पूर्वाचार्याणां मतानुवृत्तितत्परतया।**'[१०] कि जैसी प्रतिज्ञा की है, तदनुसार समाम्नाय का व्याख्यान कर दिया। इस समय पूर्व आचार्यों के मत का अनुसरण करते हुए इस प्रकरण का प्रारम्भ किया जा रहा है।

उक्त स्कन्दस्वामी के कथन के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि यद्यपि निरुक्त की पूर्णता द्वादश अध्याय में हो जाती है, फिर भी अन्य पूर्व आचार्यों के मत का प्रतिपादन करने के लिये त्रयोदश अध्याय का व्याख्यान किया गया है। इस कथन से दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं कि जो प्रकरण प्रारम्भ किया जा रहा है, वह परम्परा से निरुक्त माने जाने वाले भाग से भिन्न है तथां दूसरा यह कि यह भी यास्क अभिप्रेत है। यही बात है कि

---

६. दुर्गनिरुक्तवृत्ति, १३.१३ पृ०१००६, आनन्दाश्रमसंस्कृतग्रन्थावलि: ८८, आनन्दाश्रममुद्रणालय, पूना १९२६

७. दुर्गनिरुक्तवृत्ति, १३.१३ दैवतकाण्डभाष्य पृ०४२९, श्री जीवानन्दभट्टाचार्य, सरस्वतीयन्त्र, कलकत्ता १८९१

८. स्कन्दनिरुक्तवृत्ति, १.१ पृ०४

९. स्कन्दनिरुक्तवृत्ति, १.१ पृ०६

१०. स्कन्दनिरुक्तवृत्ति, १३.१

दोनों प्राचीन वृत्तिकारों का त्रयोदश अध्याय पर भाष्य करने के लिये प्रेरित कर रही है। दुर्ग के समान स्कन्दकृत १३वें अध्याय के भाष्य के अन्त में लिखा है- **'इति महेश्वरविरचिता निरुक्तभाष्यटीका समाप्ता।'** इससे भी यह पुष्ट होता है कि १३वाँ अध्याय यास्कीय निरुक्त का भाग है।

आचार्य वररुचि के मत में निरुक्त का आकार

आचार्य वररुचि स्कन्दस्वामी से भी प्राक्कालिक माने जाते हैं। उन्होंने अनेकशः यास्क को उद्धृत किया है। वे जहाँ निरुक्त के अन्य अध्यायों के उद्धरण देते हैं, वहीं उन्होंने १३वें अध्याय को एक स्थान पर उद्धृत किया है- **'प्रकरणश एव निर्वक्तव्याः'**[११] **इति भाष्यकारवचनम्।'**[१२] इस आधार पर निष्कर्ष ग्रहण किया जा सकता है कि वररुचि से पूर्व भी १३वें अध्याय को निरुक्त का भाग माना जाता था। इस प्रकार वररुचि की दृष्टि से १३वाँ अध्याय यास्कीय है, यह माना जा सकता है। लेकिन वररुचि ने एक भी स्थान पर १४वें अध्याय को उद्धृत नहीं किया है। इसलिये १४वाँ अध्याय यास्कीय है, यह अभी नहीं कहा जा सकता।

आचार्य पतञ्जलि के मत में निरुक्त का आकार

आचार्य पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य के पस्पशाह्निक के प्रारम्भ में कतिपय मन्त्रों का व्याख्यान किया है, उनमें से कुछ मन्त्र त्रयोदश अध्याय में आते हैं, उनकी यहाँ तुलना करके यह जानने का प्रयास करेंगे कि आचार्य पतञ्जलि को निरुक्त के त्रयोदश अध्याय में कितना ज्ञात है-

क्रम	मन्त्र	निरुक्त त्रयोदश अध्याय की व्याख्या	पतञ्जलिकृत व्याख्या
१.	**च॒त्वारि॒ शृङ्गा॒ त्रयो॑ अस्य॒ पादा॒ द्वे शी॒र्षे स॒प्तहस्ता॑सो अस्य। त्रिधा॑ ब॒द्धो वृ॑ष॒भो रोरवीति म॒हो दे॒वो मर्त्याँ॒ आ विवेश॥** (ऋ०४.५८.३)	चत्वारि शृङ्गेति वेदा वा एत उक्ताः। त्रयोऽस्य पादा इति सवनानि त्रीणि। द्वे शीर्षे प्रायणीयोदयनीये। सप्त हस्तासः सप्त छन्दांसि। त्रिधा बद्धस्त्रेधा बद्धो मन्त्रब्राह्मणकल्पैः। वृषभो रोरवीति। रोरवणमस्य सवनक्रमेण ऋग्भिर्यजुर्भिः सामभिर्यदेनमृग्भिः शंसन्ति यजुर्भिर्यजन्ति सामभिः स्तुवन्ति। महो देव इत्येष हि महान् देवो यद्यज्ञो मर्त्याँ आविवेशेति। एष हि मनुष्यानाविशति यजनाय। तस्योत्तरभूयसे निर्वचनाय॥७॥ (निरु०१३.७)	चत्वारि शृङ्गा चत्वारि पदजातानि नामोख्यातापसर्गनिपाताश्च। त्रयो अस्य पादाः। त्रयः काला भूतभविष्यद्वर्तमानाः। द्वे शीर्षे सुपस्तिङश्च। सप्त हस्तासो अस्य सप्त विभक्तयः। त्रिधा बद्धः त्रिषु स्थानेषु बद्ध उरसि कण्ठे शिरसि च। वृषभो वर्षणात् कामानाम्। रौतिः शब्दकर्मा। महो दे वो मर्त्याँ आं विवेश। महता देवेन नस्तादाम्यं यथा स्यादित्येध्येयं व्याकरण्। (व्याक०महा०, पस्पशाह्निक।)
२.	**च॒त्वारि॒ वाक्प॑रिमिता प॒दानि॒ तानि॑ विदुर्ब्राह्मणा ये**	चत्वारि वाचः परिमितानि पदानि। तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मेधाविनः। गुहायां त्रीणि निहितानि नार्थं वेदयन्ते। गुहा गूहतेः।	ये मनीषिणः मनस ईषिणो मनीषिणः। गुहायां त्रीणि निहितानि नेङ्गयन्ति। न चेष्टन्ते न निमिषन्ति। तुरीयं वाचो

११. निरु०१३.१२
१२. आचार्य वररुचि, निरुक्तसमुच्चय, द्वितीय कल्प, पृ०३१

	मनीषिणः। गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥ (ऋ०१.१६४.४५)	तुरीयं त्वरतेः। कतमानि तानि चत्वारि पदानि। ओंकारो महाव्याहृतयश्चेत्यार्षम्। नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्चेति वैयाकरणाः। मन्त्रः कल्पो ब्राह्मणं चतुर्थी व्यावहारिकीति याज्ञिकाः। ऋचो यजूँषि सामानि चतुर्थी व्यावहारिकीति नैरुक्ताः। सर्पाणां वाग्वयसां क्षुद्रस्य सरीसृपस्य चतुर्थी व्यावहारिकीत्येके। पशुषु तूणवेषु मृगेष्वात्मनि चेत्यात्मप्रवादाः। अथापि ब्राह्मणं भवति। **सा वै वाक्सृष्टा चतुर्धा व्यभवत्। एष्वेव लोकेषु त्रीणि पशुषु तुरीयम्। या पृथिव्यां साग्नौ सा रथन्तरे। याऽन्तरिक्षे सा वायौ सा वामदेव्ये। या दिवि सादित्ये सा बृहति सा स्तनयित्नौ। अथ पशुषु ततो या वागत्यरिच्यत तां ब्राह्मणेष्वदधुः। तस्माद् ब्राह्मणा उभयीं वाचं वदन्ति या च देवानां या च मनुष्याणाम्।** (मै०सं०१.११.५) इति। अथैषाक्षरस्य॥९॥ (निरु०१३.९)	मनुष्या वदन्ति। 'तुरीयं ह वा एतद्वाचो यन्मनुष्येषु वर्तते। (व्याक०महा०, पस्पशाह्निक।)

उपर्युक्त प्रस्तुतीकरण से विदित होता है कि उक्त दो मन्त्रों के पतञ्जलिकृत व्याख्यान में यास्ककृत व्याख्या का प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता। जहाँ चत्वारि पद का अर्थ यास्क **'कतमानि तानि चत्वारि पदानि। ओंकारो महाव्याहृतयश्चेत्यार्षम्। नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्चेति वैयाकरणाः। मन्त्रः कल्पो ब्राह्मणं चतुर्थी व्यावहारिकीति याज्ञिकाः। ऋचो यजूँषि सामानि चतुर्थी व्यावहारिकीति नैरुक्ताः। सर्पाणां वाग्वयसां क्षुद्रस्य सरीसृपस्य चतुर्थी व्यावहारिकीत्येके।' करते हैं जबकि पतञ्जलि-'चत्वारि शृङ्गा चत्वारि पदजातानि नामोख्यातापसर्गनिपाताश्च।'**[१३] करते हैं। इसी प्रकार अन्य पदों के व्याख्यान में भी अर्थभेद परिलक्षित होता है। हम यह कह सकते हैं कि पतञ्जलि कम से कम यास्ककृत इन मन्त्रार्थों से परिचित नहीं हैं। यदि पतञ्जलि यास्क के उक्त व्याख्यान से परिचित होते तो वे भी अवश्य **'चत्वारि'** के विभिन्न अर्थ प्रस्तुत करते। इसलिये एक अनुमान यह लगाया जा सकता है कि त्रयोदश अध्याय निरुक्त में कालान्तर में जोड़ा गया है।

इसके अतिरिक्त हम यहाँ निरुक्त के प्रथम अध्याय में व्याख्यात मन्त्र को प्रस्तुत कर रहे हैं, जिसका व्याख्यान पतञ्जलि ने भी किया है, उसको देखकर निर्णय लेने में सरलता होगी-

---

१३. ऋ०१.१६४.४५, निरु०१३.९

क्रम	मन्त्र	निरुक्त त्रयोदश अध्याय की व्याख्या	पतञ्जलिकृत व्याख्या
१.	उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्। उतो त्वस्मै तन्वं१ वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः। (ऋ०,१०.७१.४)	अप्येकः पश्यन्न पश्यति वाचम्। अपि च शृण्वन्न शृणोत्येनाम्। इत्यविद्वांसमाहार्धम्। अप्येकस्मै तन्वं विसस्र इति स्वमात्मानं विवृणुते। ज्ञानं प्रकाशमनमर्थस्याह। अनया वाचा। उपमोत्तमया वाचा। जायेव पत्ये कामयमाना सुवासा ऋतुकालेषु यथा स एनां पश्यति स शृणोति। इत्यर्थज्ञप्रशंसा। तस्योत्तरे भूयसे निर्वचनाय॥१९॥ (निरु०१.१९)	अपि खल्वेकः पश्यन्नपि न पश्यति। अपि खल्वेकः शृण्वन्नपि न शृणोत्येनाम्। अविद्वांसमाहार्धम्। त्वस्मै अन्यस्मै तन्वं विसस्रे तनुं विवृणुते। जायेव पत्य उशती सुवासाः। यथा जाया पत्ये कामयमाना सुवासाः स्वमात्मानं विवृणुते एवं वाक् वाग्विदे स्वमात्मानं विवृणुते। (व्याक०महा०, पस्पशाह्निक।)

उपर्युक्त मन्त्रार्थ में दोनों आचार्यों की शैली में पर्याप्त समानता है, देखकर प्रतीत होता है कि एक दूसरे से परिचित हैं। जबकि यह निश्चयात्मक रूप से कहा जा सकता है कि त्रयोदश अध्याय के मन्त्रार्थ से पतञ्जलि परिचित प्रतीत नहीं होते हैं। इस आधार पर हम यह निष्कर्ष ग्रहण कर सकते हैं कि निरुक्त में त्रयोदश अध्याय कम से कम पतञ्जलि के काल तक सम्मिलित नहीं था। सम्भवतः यह कालान्तर में जोड़ा गया है।

आचार्य पतञ्जलि ने जर्भरी तुर्फरीतू आदि शब्दों के विषय में कहा है–**'बहवोऽपि हि शब्दा येषामर्था न विज्ञायन्ते 'जर्भरी तुर्फरीतू।'**[१४] यदि पतञ्जलि ने यास्क के त्रयोदश अध्याय को देखा होता तो यह कहने की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि निरुक्त के त्रयोदश अध्याय में यास्क ने इन पदों का व्याख्यान करते हुए कहा है–**'तथाश्विनौ चापि भर्तारौ। जर्भरी भर्तारावित्यर्थः। तुर्फरीतू हन्तारौ। नैतोशेव तुर्फरी पर्फरीका।'** इससे भी यही प्रतीत होता है कि यास्क के उक्त वक्तव्य से पतञ्जलि परिचित नहीं है।

आचार्य देवराजयज्वन् के मत में निरुक्त का आकार

आचार्य देवराजयज्वन् निरुक्त की सीमा का परिज्ञान कराते हुए कहते हैं–**'भगवता यास्केन समाम्नायं नैघण्टुकनैगमदेवताकाण्डरूपेण त्रिविधं गवादिदेवपत्न्यन्तं निर्ब्रुवता नैगमदेवताकाण्डपठितानि पदानि प्रत्येकमुपादाय निरुक्तानि दर्शितनिगमानि च'।**[१५] इस प्रकार देवराजयज्वा की दृष्टि में निरुक्त की सीमा गो से लेकर देवपत्नी पर्यन्त है। निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि देवराजयज्वा को द्वादश अध्याय पर्यन्त निरुक्त स्वीकार्य है। जिस अतिस्तुति की चर्चा के लिये त्रयोदश अध्याय का आरम्भ माना जाता है, उसका उल्लेख देवराजयज्वा ने नहीं किया है।

यदि हम देवराजयज्वा का उक्त कथन का विवेचन करें तो ज्ञात होता है कि देवराजयज्वा को निघण्टु व्याख्या से प्रयोजन है। इसलिये वे निरुक्त का प्रारम्भ नैघण्टुक काण्ड से मानते हैं, उसमें भी गो शब्द के विवेचन से, जो कि द्वितीय अध्याय के पञ्चम खण्ड से प्रारम्भ होता है। अतः यदि देवराज के कथन को स्वीकार किये जाने

---

१४. पतञ्जलि, व्याक०महा०२.३.१
१५. देवराजयज्वा, निघण्टु-निर्वचनम्, भूमिका-१.

पर निरुक्त का प्रथम अध्याय सम्पूर्ण एवं द्वितीय अध्याय के चतुर्थ खण्ड तक का भाग तथा सम्पूर्ण त्रयोदश एवं चतुर्दश अध्याय को भी अयास्कीय मानना होगा। अत: इस विषय में इतना ही स्वीकार किया जाना चाहिये कि देवराजयज्वा का उद्देश्य निघण्टु का व्याख्यान है, वह जिस सीमा में हुआ है, वहीं तक उसने उसका उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त इनका उद्देश्य निरुक्त का व्याख्यान करना नहीं है, अत: देवराजयज्वा के उक्त कथन के आधार पर निश्चयात्मक रूप से निरुक्त की सीमा को रेखाङ्कित नहीं किया जा सकता।

आचार्य सायण की दृष्टि में निरुक्त का आकार

आचार्य सायण ने निरुक्त की सीमा का उल्लेख करते हुए कहा है-'**पञ्चाध्यायरूपकाण्डत्रयात्मके एतस्मिन् ग्रन्थे परनिरपेक्षतया पदार्थस्योक्तत्वात् तस्य ग्रन्थस्य निरुक्तत्वम्। तद्व्याख्यानं च 'समाम्नाय: समाम्नात:' इत्यारभ्य 'तस्यास्ताद्भव्यमनुभवत्यनुभवति' इत्यन्तै: द्वादशभिरध्यायैर्यास्को निर्ममे।**'[१६] 'पाँच अध्यायों वाले काण्डत्रयात्मक निघण्टु के व्याख्यान में परनिरपेक्ष रूप से पदार्थ का कथन होने से उस ग्रन्थ की निरुक्तता है। उस निरुक्त का व्याख्यान '**समाम्नाय: समाम्नात:**' से प्रारम्भ होकर '**तस्यास्ताद्भव्यमनुभवत्यनुभवति**' तक १२ अध्यायों में यास्क ने निरुक्त का प्रणयन किया है।'

इस प्रकार सायण की दृष्टि में निरुक्त का प्रारम्भ '**समाम्नाय: समाम्नात:**' से होता है तथा उसकी पूर्णता '**तस्यास्ताद्भव्यमनुभवत्यनुभवति**' इस वाक्य के साथ होती है। सायण यद्यपि निरुक्त को द्वादशाध्यायात्मक बता रहे हैं, लेकिन वे उक्त जिस वाक्य को निरुक्त का अन्तिम वचन बता रहे हैं, वह १२वें अध्याय के अन्त में न होकर १३वें अध्याय के अन्त में आता है। निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि सायण की दृष्टि में यास्कीय निरुक्त की सीमा १३वें अध्याय पर्यन्त है।

इसके अतिरिक्त सायण ने एक स्थान पर निरुक्त के तथाकथित १४वें अध्याय को भी उद्धृत किया है- '**अत्र 'द्वौ द्वौ प्रतिष्ठितौ सुकृतौ धर्मकर्तारौ' (निरु.१४.३०) इत्यादि निरुक्ते गतम् अस्य मन्त्रस्य व्याख्यानमनुसंधेयम्।**'[१७] उक्त निरुक्त का वक्तव्य '**द्वा सुपर्णा**' मन्त्र के व्याख्यान के अवसर पर कहा गया है और सायण ने भी इसी मन्त्र का व्याख्यान करते हुए इसे उद्धृत किया है। इस आधार पर यह निष्कर्ष ग्रहण किया जा सकता है कि सायण के काल तक १४वां अध्याय निरुक्त में समाविष्ट हो चुका था। लेकिन इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र के व्याख्यान के अवसर पर सायण निरुक्त के १४वें अध्याय में दिये गए मन्त्रार्थ या उसके अंश को उद्धृत नहीं करते, यहाँ तक कि इस मन्त्र के व्याख्यान की दिशा भी सर्वथा भिन्न है। जहाँ निरुक्त में इस मन्त्र का व्याख्यान अध्यात्म शैली में किया गया है, वहीं सायण आदित्य देवता मानकर मन्त्रार्थ कर रहे हैं।[१८] इसी प्रकार '**न तं विदाथ**'[१९] निरुक्त के १४वें अध्याय में व्याख्यात इस मन्त्र के व्याख्यान के अवसर पर सायण निरुक्त को उद्धृत नहीं करते और न इस अध्याय में व्याख्यात अन्य अनेक मन्त्रों के व्याख्यान के अवसर पर निरुक्त के १४वें अध्याय का उल्लेख करते हैं, इससे यह संकेतित हो रहा है कि सायण भी इसको पूरी तरह से यास्कीय मानने के पक्ष में नहीं है।

---

१६. ऋग्वेदभाष्य, उपोद्घातप्रकरण, पृ०२८-२९, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना १९९५.

१७. सायण, ऋग्वेदभाष्य, १.१६४.२०

१८. सायण, ऋग्वेदभाष्य, १.१६४.३१

१९. सायण, ऋग्वेदभाष्य, १०.८२.७

सत्यव्रत सामश्रमी के मत में निरुक्त का आकार

'कियान् निरुक्तग्रन्थः' विषय का प्रतिपादन करते हुए श्री सत्यव्रत सामश्रमी कहते हैं कि हमारे मत में **'समाम्नायः समाम्नातः'** से प्रारम्भ होकर **'य ऋतुः कालो जायानाम्'** तक द्वादशाध्यायात्मक निरुक्त ही यास्कीय है। १२वें अध्याय से आगे अतिस्तुति और ऊर्ध्वमार्ग का व्याख्यान करने वाले अध्याय यास्कीय नहीं हैं। इसका कारण यह है कि समाम्नात निघण्टुपदों का व्याख्यान और उससे सम्बन्धित विशेष वक्तव्य द्वादशाध्याय में पूर्ण हो जाता है। इसलिये उद्देश्य के सिद्ध होने पर अन्य विषय में यास्क की प्रवृत्ति कैसे हो सकती है?[२०]

निरुक्त द्वादशात्मक या त्रयोदशात्मक

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर दो पक्ष प्रबल रूप से अभिव्यक्त होकर आ रहे हैं, प्रथम मत में निरुक्त की सीमा त्रयोदश अध्याय पर्यन्त है, जिसके पक्ष में निरुक्त के दोनों प्राचीन वृत्तिकार हैं। जबकि द्वितीय पक्ष में देवराजयज्वा तथा समस्त निरुक्त परम्परा, उसके साथ आचार्य पतञ्जलि भी हैं।

विना किसी पूर्वाग्रह के यह कहा जा सकता है कि यदि पतञ्जलि के माध्यम से उठाये गये तर्क को छोड़ दिया जाए, क्योंकि पतञ्जलि के माध्यम से जो निष्कर्ष निकलता दिखायी दे रहा है, वह आनुमानिक अधिक है। इसलिये जब तक किसी अन्य प्रमाण से उसकी पुष्टि नहीं हो जाती, तब तक यह माना जाना चाहिये कि यद्यपि निरुक्तपरम्परा निरुक्त की सीमा द्वादश अध्याय पर्यन्त मानती आयी है और उसके व्याख्याकार भी द्वादश अध्याय का कथन करते हैं, फिर भी यास्कीय निरुक्त की परिसमाप्ति त्रयोदश अध्याय की पूर्णता के साथ होती है। इस सम्बन्ध में एक कारण यह भी है कि दोनों प्राचीन वृत्तिकार त्रयोदश अध्याय का व्याख्यान करते हैं।

द्वितीय कारण यह है कि आचार्य दुर्ग निरुक्त के १३वें अध्याय की उपयोगिता प्रतिपादन करते हुए कहते हैं-**'नैरुक्तासमयानुवृत्तयेऽतिस्तुतयः प्रदर्श्यन्ते।'**[२१] कि निरुक्त प्रतिपादित सिद्धान्तों के समर्थन के लिये अतिस्तुति प्रदर्शित कर रहे हैं।' कहने का आशय यह है कि अतिस्तुति नैरुक्त परम्परा का भाग नहीं है, परन्तु इससे नैरुक्तसिद्धान्त का समर्थन होता है, इसलिये अतिस्तुति का प्रारम्भ किया जा रहा है। एक प्रकार से यास्क नैरुक्त पक्ष को पुष्ट करने के लिये इस प्रकरण को प्रारम्भ कर रहे हैं।

तृतीय कारण यह है कि पतञ्जलि के प्रसङ्ग में जो हमने त्रयोदश अध्याय के तीन प्रमाण प्रस्तुत किये हैं, उसमें से दो ऐसे हैं, जिनका व्याख्यान दुर्ग और स्कन्द ने भी नहीं किया है। सम्भवतः उनके बाद में ये निरुक्त में समाविष्ट हुए होंगे। इसलिये पतञ्जलि के माध्यम से निकाले गये निष्कर्ष बहुत विचारणीय नहीं हैं। इस विषय में आगे हम त्रयोदश अध्याय के चार खण्ड, जो व्याख्यान करने से छूट गये हैं, उनका विवेचन करने जा रहे हैं।

निरुक्त की दृष्टि से त्रयोदश अध्याय की उपयोगिता

आचार्य यास्क ने निरुक्त का प्रारम्भ करते हुए उसकी भूमिका के रूप में जो कुछ कहा है, वह भी निरुक्त का आकार निश्चित करने में सहयोगी है। आचार्य यास्क **'उ॒त त्वं॑ स॒ख्ये स्थि॒रपी॑तमाहुः'** मन्त्र का व्याख्यान करते हुए कहते हैं-**'अर्थं वाचः पुष्पफलमाह। याज्ञदैवते पुष्पफले। देवताध्यात्मे वा।'**[२२] 'अर्थ वाणी का पुष्प और

---

२०. निरुक्तालोचनम्, पृ०४७-४८, सत्ययन्त्र कलकत्ता, द्वितीय संस्करण, सन् १९०७

२१. निरु०दुर्गवृत्ति, १३.१

फल है। जब याज्ञिक पक्ष पुष्प होता है, तब देवता उसका फल है और जब देवता पुष्प होता है, तब अध्यात्म उसका फल है।' इस प्रकार यास्क की दृष्टि में यज्ञ, देवता तथा अध्यात्म- ये सङ्क्षेप में तीन वाणी के अर्थ माने जाते हैं। इनमें भी पूर्व पूर्व से उत्तर उत्तर वाला अधिक श्रेष्ठ है। इसका कारण यह है कि जहाँ याज्ञिक पक्ष की दृष्टि सीमित है, क्योंकि वह नाम, रूप और कर्म के आधार पर प्रत्येक देवता का अस्तित्व पृथक्-पृथक् मानता है, वहीं दैवतपक्ष स्थान के आधार पर देवताओं में पार्थक्य स्थापित करता है। लेकिन अध्यात्मवादी की दृष्टि में नाम से केवल उस परम सत्ता के गुण विशेष का बोध होता है, वस्तुतः देवता एक ही है, उनमें नाम, रूप और कर्म की दृष्टि से कोई भेद नहीं है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि देवता के प्रति दृष्टि के क्रमिक विकास का नाम ही याज्ञिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक है। निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि जहाँ प्रथम का देवता के प्रति दृष्टिकोण व्यक्तिवादी है, वहाँ द्वितीय पक्ष इससे कुछ ऊपर उठने का प्रयास करता दिखायी देता है, जबकि तृतीय पक्ष सभी बन्धनों से मुक्त ऐकात्म्य का बोध कराता है।

आचार्य यास्क ने त्रयोदश अध्याय का प्रारम्भ करते हुए अतिस्तुति नाम से जिस प्रकरण का प्रारम्भ किया है, यह वस्तुतः यास्क का उसी दिशा में बढ़ता हुआ एक कदम है।

इसके अतिरिक्त त्रयोदश अध्याय का यास्कीय प्रकृति से भी तादात्म्य भी है। निरुक्त वस्तुतः, १२ वें अध्याय के साथ समाप्त हो जाता है, लेकिन यास्क को ऐसा प्रतीत होता है कि अभी कुछ और कहना शेष है, जो नैरुक्तपक्ष की सीमा से परे है। सम्भवतः, इसी कारण वे निरुक्त के साथ परिशिष्ट को जोड़ते हैं। इस प्रकार जहाँ यास्क ने नैरुक्त परम्परा को अक्षुण्ण रक्खा है, वहाँ उन्होंने परिशिष्ट रूप त्रयोदश अध्याय के द्वारा अध्यात्म-पक्ष के प्रति अपनी गहन आस्था का भी परिचय दिया है। नैरुक्तपक्ष की सीमा में यास्क ने प्रमुखरूप से नैरुक्तपक्ष का ही प्रतिपादन किया है, लेकिन जहाँ निरुक्त की सीमा समाप्त हो जाती है, वहीं से वे अध्यात्म-पक्ष का विवेचन प्रारम्भ कर देते हैं, जो नैरुक्तों के लिये कुछ विचित्र-सा प्रतीत होता है, परन्तु यास्क एक सच्चे नैरुक्त हैं। जिस सत्य की उन्हें अनुभूति हुई है, यदि प्रतीत होने वाली वह अनुभूति अपनी परम्परा के विरुद्ध भी हो, तो भी यास्क उसे स्वीकार करने में सङ्कोच नहीं करते और यही कारण है कि अन्य अनेक सम्प्रदायों के होते हुए भी यास्क के निरुक्त ने प्रतिष्ठा प्राप्त की तथा अन्य निरुक्त यास्कीय निरुक्त के आगे टिक न सके और आज उनके अस्तित्व का परिचय भी यास्कीय निरुक्त से मिलता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि यास्क से पूर्व ऐसी स्थिति अवश्य रही होगी कि नैरुक्त-परम्परा में अन्य याज्ञिक, ऐतिहासिक तथा आत्मविद् के मतों को अवहेलित किया गया होगा, अपने अदम्य साहस का परिचय देकर यास्क ने इस स्थिति को समाप्त कर दिया है:-**'महाभाग्याद्देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति'**[२३] के द्वारा यास्क ने इसी सत्य का उद्घोष किया है। अध्यात्म को जहाँ नैरुक्तरूप वृक्ष की जड़ या मूल बताया गया है, वहाँ ऐतिहासिक तथा याज्ञिक-पक्ष को उस वृक्ष की शाखा और प्रशाखाएँ मध्य का आधारभूत स्तम्भ स्वयं नैरुक्तपक्ष है।

इस प्रकार यास्क ने अपने समय की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि को उपर्युक्त शब्दों में व्यक्त कर दिया है। प्रथम पङ्क्ति जहाँ आत्मवादी के मौलिक होने का प्रतिपादन करती है, वहाँ द्वितीय पङ्क्ति याज्ञिक-पक्ष के प्रत्यङ्ग रूप का प्रतिनिधित्व करती है। यहाँ आत्मवादी शरीररूप है, नैरुक्तपक्ष अङ्गरूप तथा याज्ञिक-पक्ष प्रत्यङ्गरूप है। जितना

२३ निरु०,७.४.

शरीर और अङ्गों में अन्तर होता है, उतना ही आत्मवादी और नैरुक्त-पक्ष में अन्तर है और जितना अङ्ग और प्रत्यङ्ग में अन्तर होता है, उतना ही नैरुक्तपक्ष और याज्ञिक-पक्ष में अन्तर है। अङ्ग से प्रत्यङ्ग भिन्न नहीं है और शरीर से पृथक् अङ्गों का अस्तित्व नहीं हो सकता। इस दृष्टि को आत्मसात् कर लेने पर उपर्युक्त मतों में दिखायी देने वाली विभिन्नतायें तिरोहित होकर एकत्व का दर्शन कराती हैं। एकत्व की इस समन्वयपूर्ण घोषणा से यास्क ने अध्यात्म, नैरुक्त तथा याज्ञिक आदि मतों के मध्य सदियों से चले आ रहे विवादों का एक शाश्वत समाधान प्रस्तुत कर दिया है, जिसको समझने के पश्चात् विवाद करने की आवश्यकता अनुभव नहीं होती।

आचार्य यास्क का यह साहसपूर्ण कार्य माना जाना चाहिये कि उन्होंने अपने पक्ष वालों की आलोचना की चिन्ता न करते हुए उपर्युक्त सिद्धान्त को अत्यधिक दूरदृष्टि और मौलिक उद्भावना का परिचय देते हुए, नैरुक्त-क्षेत्र में प्रतिष्ठापित किया है। जो आज भी ऐतिहासिक शिलालेख के समान अपनी दृढ़ता तथा औचित्य का बोध कराता है।

इसलिये निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि यद्यपि निघण्टु का व्याख्यान १२वें अध्याय के साथ पूर्ण हो जाता है, यास्क से पूर्व की निरुक्त परम्परा और स्वयं यास्क ने भी निघण्टु के व्याख्यान के लिये निरुक्त का प्रणयन किया है, इसलिये सामान्य रूप से यह माना जाता रहा है कि जहाँ निघण्टु का व्याख्यान समाप्त, वहीं निरुक्त पर विराम लग जाता है, परन्तु यास्क की समन्वयवादी अवधारणा, जिसके संकेत यास्क ने निरुक्त के प्रारम्भ से देने शुरू कर दिये थे, ने निरुक्त में त्रयोदश अध्याय का समावेश कराया है।

त्रयोदश अध्याय की एक विसंगति

यहाँ तक हमने यह निर्णायक रूप से स्वीकार कर लिया है कि निरुक्त का आकार त्रयोदश अध्याय पर्यन्त है, लेकिन दुर्ग और स्कन्द की वृत्तियाँ सहसा एक विसंगति की ओर ध्यान आकर्षित कर रही हैं। जहाँ इन दोनों वृत्तिकारों ने १३वें अध्याय को यास्कीय माना है, वहीं ये सम्पूर्ण त्रयोदश अध्याय का भाष्य नहीं करते। १३वें अध्याय में केवल १३ खण्ड हैं, इनमें से प्रथम चार खण्डों तथा नवम खण्ड से लेकर त्रयोदश खण्ड तक व्याख्या की है। इस प्रकार १३ में से ९ खण्ड व्याख्यात हुए हैं, चार नहीं हुए हैं। इन चार के व्याख्या न करने के मूल में दो सम्भावनायें हो सकती हैं कि ये पञ्चम खण्ड से लेकर अष्टम खण्ड तक का भाग बाद में समाविष्ट किया गया हो। या फिर यह कि इनको जो निरुक्त मिला हो, उसमें इसे इतना अंश किसी कारण से नष्ट हो गया हो।

जहाँ तक प्रथम सम्भावना का प्रश्न है, वह स्वीकार्य नहीं हो सकती क्योंकि व्याख्यात खण्डों के प्रारम्भ और अन्त में द्वादश को द्वादश और त्रयोदश को त्रयोदश आदि नामों से अभिहित किया गया है। इसी प्रकार नवम, दशम और एकादश खण्डों के अन्त में देखने को मिलता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अव्याख्यात ५-८ तक के खण्ड दोनों वृत्तिकारों के काल में विद्यमान थे। यदि बाद में जोड़े गये होते तो इनकी क्रम संख्या में भेद आ जाता, जो नहीं है। अतः उक्त सम्भावना निर्मूल हो जाती है।

जहाँ तक दूसरी सम्भावना का प्रश्न है, वह काफी कुछ स्वीकार्य हो सकती है। यह किसी सीमा तक सम्भव है कि किसी कारणवश उक्त दोनों प्राचीन वृत्तिकारों को उक्त खण्ड उपलब्ध नहीं हो पाये, जिससे वे उक्त खण्डों का व्याख्यान नहीं कर सके। परन्तु इसमें भी यह विचारणीय है कि जब उनको नहीं मिले थे तो बाद में कहाँ से मिले और किसने प्रथम इनको निरुक्त में समाविष्ट किया। इसका उत्तर देना आज सम्भव नहीं है, जब

तक कोई प्रबल प्रमाण न मिल जाये, तब तक केवल अनुमान का आश्रय लेकर किसी निष्कर्ष पर पहुँचना वास्तविकता को आवृत करने के समान है।

उपर्युक्त ५-८ तक के खण्डों के विषय में जब तक कोई अन्य पुष्ट प्रमाण नहीं मिल जाता तब तक यह मानना चाहिये कि ये खण्ड यास्क प्रणीत नहीं हैं।

निरुक्त का चतुर्दश अध्याय

हम सायण के प्रसङ्ग में चतुर्दश अध्याय के विषय में विवेचन कर चुके हैं। उसने भी केवल एक बार निरुक्त के १४वें अध्याय को उद्धृत किया है, लेकिन उसके अतिरिक्त अन्य किसी प्राचीन आचार्य ने निरुक्त के १४वें अध्याय को उद्धृत नहीं किया है। ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि जिन्होंने निरुक्त के क्षेत्र में दुर्ग और स्कन्द को लेकर गम्भीर अनुसन्धान कार्य किया है, ऐसे वी.के. राजवाडे तथा डॉ. लक्ष्मण स्वरूप इस विषय में मौन हैं या फिर वे दुर्ग और स्कन्द की सरणि का अनुसरण करने के पक्ष में हैं।

इसके अतिरिक्त निरुक्त के आधुनिक व्याख्याकार जैसे पं०भगवद्दत्त, स्वामी ब्रह्ममुनि, चन्द्रमणि विद्यालंकार सदृश विद्वान् प्रायः निरुक्त के अन्य अध्यायों के साथ १४वें अध्याय का भी व्याख्यान करते हैं। ऐसी स्थिति में यह कहा जा सकता है कि प्राचीन परम्परा किसी प्रकार १३वें अध्याय को यास्कीय निरुक्त मानने के पक्ष में है, लेकिन पुरातन परम्परा सर्वसम्मत रूप से १४वें अध्याय को निरुक्त का भाग नहीं मानती आयी है। निरुक्त के आधुनिक व्याख्याकरों के द्वारा १४वें अध्याय को निरुक्त का भाग मानने के पीछे यह उद्देश्य प्रतीत होता है कि १४वें अध्याय में ऐसा कुछ नहीं कहा है जो वेद की दृष्टि से अनुपयोगी हो। उन्हें सम्भवतः यह प्रतीत होता है कि वे किसी वैदिक उपनिषद् को पढ़ रहे हैं।

हम यहाँ निष्कर्ष रूप में स्वीकार कर सकते हैं कि त्रयोदश अध्याय के समान चतुर्दश अध्याय के लिखे जाने का कोई अन्तःसाक्ष्य उपलब्ध नहीं होता है, अतः यास्कीय निरुक्त त्रयोदश अध्याय पर पूर्णता को प्राप्त हो जाता है।

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २००९ अङ्क १२ (पृ०११-१८)

स्वामी श्रद्धानन्द : एक अद्भुत व्यक्तित्व

प्रो० अमरनाथ पाण्डेय[1]

श्रद्धानन्द का नाम मुंशीराम था। उनके पिता का नाम नानकचन्द था। मुंशीराम जी पहले पंजाब में वकालत करते थे। उन्होंने वकालत छोड़ दी और समाज के लिए अपना सर्वस्व अर्पित कर दिया। उन्होंने गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना ४ मार्च, १९०२ में की।

आर्यसमाज में शिक्षा की दो पद्धतियों ने जन्म लिया। इसका एक वर्ग अंग्रेजी शिक्षा के मूल्य को स्वीकार करता था और उसका झुकाव उदार कार्यक्रम की ओर था। इस वर्ग के मुख्य प्रतिनिधि लाला हंसराज थे। इसके विरुद्ध कार्यक्रम के रूप में गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार की स्थापना हुई, जो वर्तमान काल में वैदिक आदर्श को पुनरुज्जीवित करना चाहता था। हंसराज आदि वैदिक शिक्षा के साथ अंग्रेजी शिक्षा को भी संनिविष्ट करते थे, जबकि स्वामी श्रद्धानन्द मानते थे कि वैदिक शिक्षा से ही आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के रहस्य का भी साक्षात्कार हो जाएगा तथा हमारे अभीष्ट की सिद्धि भी होगी।

The Arya Samaja has not, however escaped the rationalism of the present age. Already there is a grooving section among it which recognizes the value of English education and is inclined to a more liberal programme. Its chief exponent is lala Hans Raj and its visible symbol the Dayanand Anglo-Vedic College of Lahore. As a counter move to this, we may point to the famous Gurukula of Hardwar founded in 1902 Which seeks to revive the Vedic ideal in modern life.[2]

यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि श्रद्धानन्द आर्यसमाज के सिद्धान्त को समग्र रूप से स्वीकार करते हैं और स्वामी दयानन्द की शिक्षा-पद्धति को परिपूर्ण मानते हैं, उसमें किसी प्रकार के संशोधन की आवश्यकता नहीं समझते। मुझे लगता है कि स्वामी जी ने भविष्य में होने वाले शिक्षा-सङ्कर को देख लिया और जानते थे कि यदि वैदिक शिक्षापद्धति और पाश्चात्त्य शिक्षापद्धति को मिला दिया जाएगा, तो वैदिक शिक्षापद्धति दब जायगी और पाश्चात्त्य शिक्षापद्धति ही प्रबल हो जाएगी। उनका साक्षात्कार निर्मल तथा यथार्थ था, जैसा कि आज Anglo- Vedic College की शिक्षा प्रणाली के स्वरूप को देखकर स्फुट-रूप से मूल्याङ्कन कर सकते हैं। गुरुकुल के जो उद्देश्य निश्चित किये गये, वे सर्वाङ्गीण दृष्टि से विमृष्ट थे-

१.हिन्दी के उन्नयन के लिए प्रयत्न एवं हिन्दी के माध्यम से अध्यापन।

२.वेद तथा संस्कृत-साहित्य का विशिष्ट अध्ययन।

३.अंग्रेजी-साहित्य, विज्ञान आदि नवीन शास्त्रों के अध्ययन की व्यवस्था।

४.संस्कृत का प्राधान्य।

५.गुरु- शिष्य-परम्परा तथा वैदिक आदर्श का पोषण।

---

१ प्रो० अमरनाथ पाण्डेय, एन १/३०, ए-९ नगवा, वाराणसी-२२१००५

२. R.C. Majumdar and otherse An Advanced History of India, P. 884.

६.गुरुकुल का उदारभाव।

७.वैदिक शिक्षा प्राचीन आदर्श के अनुसार।

८.यज्ञ की प्रतिष्ठा।

९.सत्य का अवलम्बन नितान्त आवश्यक।

१०.सरकार से सहायता नहीं लेना।

११.शिक्षित वर्ग तथा जनता के बीच की खाई पाटी जाय इत्यादि।

हम यह मानते हैं कि स्वामी जी का प्रयोग शिक्षा की स्थिति के समाधान में पूर्णत: सफल भले न रहा हो, किन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि स्वामी जी ने सत्य के आधार पर प्रयोग किया था। गुरुकुल शिक्षा प्रणाली का प्रभाव उस समय भी था और आज भी है, किन्तु Anglo- Vedic College की शिक्षा प्रणाली तो अभीष्ट प्रभाव को उत्पन्न करनें में सफल नहीं रही। स्वामी श्रद्धानन्द जी की शिक्षानीति ने तो देश को आन्दोलित कर दिया। उनके आधार पर चलने वाले एक विशिष्ट वर्ग का निर्माण कर दिया, जिसने शिक्षा तथा सांस्कृतिक अवदान से राष्ट्र की भूमिका को पुष्ट किया। इस शिक्षा-पद्धति की रचना में, व्याख्यान में, समीक्षा में और परिष्कार में उन्होंने व्यापक दृष्टि का आश्रय लिया और वैदिक रिक्थ की रक्षा के लिए जो अपेक्षित था, उसका अभिनन्दन किया। अपनी योजना में उसका संनिवेश किया और कहीं भी किसी आग्रह में बँधे नहीं। उसको इस रूप में समझ सकते हैं- जिस उचित माध्यम से उसकी रक्षा हो सकती है, उसे सम्मान दिया, जिसके कारण गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की एक-एक इष्टिका सौरभ-मण्डित हो उठी। यह सम्भव हो सका स्वामी जी के विशाल हृदय के कारण, क्योंकि उनका द्वार सदा खुला रहा। वे सङ्कुचित विचार-धारा का आश्रय नहीं लेते थे।

गुरुकुल की स्थापना ब्रह्मचर्याश्रम के आधार पर की गयी थी। मुख्यत: वैदिक साहित्य तथा संस्कृत साहित्य का अध्ययन, साथ ही अंग्रेजी तथा विज्ञान का अध्ययन, हिन्दी-माध्यम-शिक्षा के ये मुख्य स्तम्भ थे। यह पहली संस्था थी जहाँ उच्च शिक्षा हिन्दी (आर्यभाषा) के माध्यम से दी जाती थी। यहाँ हिन्दी में उच्च मानदण्ड की पुस्तकें लिखी गयीं। प्रबन्ध-तन्त्र पूर्णत: भारतीय था तथा शिक्षा का आदर्श-प्राचीन शिक्षाप्रणाली।

यह कहा जा सकता है कि गुरुकुल पौरस्त्य तथा पाश्चात्त्य ज्ञान के समन्वय का निदर्शन था। यहाँ पश्चिम के श्रेष्ठ तत्त्वों को भी लिया गया। आँख मूद कर नहीं, परीक्षण करके लिया गया। जिस प्रकृति की गोद में प्राचीन काल में शिक्षा दी जाती थी, उसी प्रकृति की गोद में, उसी प्रकृति के आँचल में शिक्षा दी जाती थी। ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्याश्रम में रहकर शिक्षा ग्रहण करता था। ऐसा कमनीय संयोग उपलब्ध था। गुरुकुल विश्वविद्यालय में, जिसके कारण जो यहाँ आता था, वह यहाँ की बौद्धिक तथा प्राकृतिक छटा को देखकर मुग्ध हो जाता था।

श्री सत्यव्रत सिद्धान्तालङ्कार ने १९०५ ई० में गुरुकुल में प्रवेश लिया। वे लिखते है- वहाँ के छात्र अपने माता-पिता को भी भूल जाते थे। एक लड़का यज्ञशाला में आकर मेरे पीछे बैठ गया और लगातार मेरी ओर देखता रहा। मैं सोचने लगा कि यह मेरी ओर क्यों देख रहा है। मैं दुविधा में लघुशंका के लिए बाहर जाने लगा, तो देखता हूँ कि वह मेरे पीछे-पीछे आने लगा। मैंने उससे पूछा कि तुम मेरा पीछा क्यों कर रहे हो? उसने कहा- मैं सोमदत्त हूँ, तुम्हारा छोटा भाई।

जातपाँत, छुआछूत का भेद नहीं था। एक बार नाभा के राजा गुरुकुल पधारे। उन्होंने महात्मा मुंशीराम से पूछा-क्या सभी वर्गों के छात्र एक साथ पढ़ते हैं? महात्मा ने कहा-हमारे छात्र जानते नहीं कि कौन किस वर्ण का

है। महात्मा ने राजा से पूछा कि क्या आप आकृति देखकर बता सकते हैं कि कौन किस वर्ण का है ? राजा ने कहा हाँ। तब पूछने पर कृष्णवर्ण के बालक को राजा ने शूद्र बताया और गौरवर्ण के बालक को ब्राह्मण, जबकि तथ्य इसके विपरीत था।[३]

अपने पिता जी की मृत्यु पर श्री सत्यव्रत ने महात्मा जी को लिखा कि मेरी फीस देने वाला कोई नहीं है। मैं अब गुरुकुल नहीं लौट सकूँगा। उस समय गुरुकुल की फीस १० रु० मासिक थी। महात्मा जी का उत्तर मिला-पुत्र, तुम लौट आओ, तुमसे फीस नहीं ली जायगी।[४] उस स्निग्ध पत्र ने सत्यव्रत के जीवन का नक्शा ही बदल दिया।

गुरुकुल के वातावरण में दो शब्द महत्त्वपूर्ण थे- संयम तथा ब्रह्मचर्य। श्री सत्यव्रत लिखते हैं-प्राचीन परम्परा के अनुसार गुरु शिष्य से कुछ नहीं लेता था। यद्यपि तत्कालीन परिस्थिति को देखते हुए किसी विद्यार्थी को नि:शुल्क शिक्षा देना और उससे भोजन आदि का भी व्यय न लेना और इस प्रकार की शिक्षा-संस्था को चला सकना असम्भव था। तो भी महात्मा जी ने मुझे सब प्रकार के व्ययों से मुक्त कर दिया। मुझे ही नहीं, उन्होंने एक साल तक परीक्षण भी किया था कि किसी ब्रह्मचारी से किसी प्रकार का व्यय न लिया जाए और सबको शिक्षा, भोजन आदि सब-कुछ मुक्त कर दिया जाय। ऐसी स्थिति चिरकाल तक चल नहीं सकती थी। किन्तु शिक्षाशुल्क तो छोड़ दिया गया, लेकिन भोजन आदि का व्यय लिया जाने लगा।[५]

श्रद्धानन्द आर्य-जगत् तथा शिक्षा-जगत् के जाज्वल्यमान नक्षत्र हैं। ऐसी दिव्य विभूतियाँ इस पृथिवी पर विरल ही होती हैं। प्राक्तन पुण्य के बल से कभी-कभी इस प्रकार के महापुरुषों का जन्म होता है और उनके व्यक्तित्व तथा क्रियाकलाप से मानवता का पोषण तथा जगत् का कल्याण होता है। किन परिस्थितियों में श्रद्धानन्द बनते हैं और किस प्रकार उनके स्वरूप का परिष्कार होता है-इससे शिक्षा जगत् तथा आर्य-जगत् पूर्णतः परिचित है।

महात्मा गांधी तथा गुरुकुल कांगड़ी

महात्मा गांधी किसी व्यक्ति से जल्दी प्रभावित नहीं होते थे। जब वे महात्मा मुंशीराम से मिले, तो अत्यधिक प्रभावित हुए। उन्हें गुरुकुल की शान्ति तथा नगर के शोरगुल तथा होहल्ला में आश्चर्यजनक वैषम्य देखने को मिला। नगर के शोरगुल से खिन्न गांधी जी को गुरुकुल के वातावरण में शान्ति मिली। एक ओर गुरुकुल की शान्ति थी, तो दूसरी ओर नगर का कोलाहल-

It was a positive relief to reach the Gurukula and meet Munshi Ramji, with his giant frame. I at once felt the wonderful contrast between the peace of the Gurukula and the dim and noise of Hardwar.

The Mahatma overwhelmed in with affection. The Brahmacharis were all attention. It was here that It was first introduced to Acharya Ramadevji and I could immediately see that what a force and power he may be. We had different viewpoints is several matters, nevertheless our acquaintance soon ripened into friendship.

---

३ वैदिक साहित्य, संस्कृति और समाजदर्शन गुरुकुल कांगड़ी, पृ. १३९

४ वैदिक साहित्य, संस्कृति और समाजदर्शन पृ० १४०

I had long discussion with Acharya Ramadevji and other professors about the necessity of introducing industrial training its the Gurukula. When time come for going away, it was a wrack to leave the place.[६]

महात्मा गांधी का गुरुकुल के सम्बन्ध में यह विचार सामान्य है। यदि एक करोड़ लोग गुरुकुल की प्रशंसा करें, तो भी उसे महात्मा गांधी की इस टिप्पणी की तुलना में नहीं रखा जा सकता। गुरुकुल-विषयक अपनी सम्पत्ति में गांधी जी ने श्रद्धानन्द की शिक्षापद्धति की संस्तुति की है और यह भी अङ्कित कर दिया है कि श्रद्धानन्द ने आर्यसमाज के रहस्य को पकड़ लिया था और उसका प्रयोग अपनी कार्यशाला में कर रहे थे। उनका यह प्रयोग आर्यसमाज के सभी प्रयोगों से उत्कृष्ट था। इस प्रयोग की तुलना में आर्य समाज का कोई प्रयोग न तो उस समय था और न तो वर्तमान काल में है। यह मर्म गांधी जी के वक्तव्य से प्रकाशित होता है। मुझे ऐसा लगता है कि महात्मा श्रद्धानन्द भी अपने प्रयोग के गौरव तथा सौन्दर्य की विभावना उस समय नहीं कर सके थे और न तो आर्य-समाज का कोई महापुरुष इस रहस्य का साक्षात्कार कर सका था। मैं यह कह सकता हूँ कि आदर्शसमाज के सिद्धान्त का सर्वोत्कृट निदर्शन गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय है और सबसे महान् प्रयोगकर्ता श्रद्धानन्द। श्रद्धानन्द के व्यवहार तथा आचार्य रामदेव के पाण्डित्य से गाँधी जी प्रभावित थे। यद्यपि गाँधी जी और प्रो० रामदेव में कई बिन्दुओं पर मतभेद था। फिर भी दोनों का परिचय मित्रता में बदल गया। गाँधी जी ने प्रो० रामेदव तथा अन्य आचार्यों के साथ गुरुकुल में औद्योगिक शिक्षा के सन्निवेश के विषय में विचार किया था।

हरिद्वार दर्शन से गाँधी जी को यह निश्चय करने में सुविधा हुई कि वे किस स्थान पर रहें और क्या करें।

गुरुकुल विश्वविद्यालय में दिये गये गाँधी जी के दीक्षान्त भाषण का यह अंश महत्त्वपूर्ण है:- मैं दो बार गुरुकुल में आ चुका हूँ। अपने आर्यसमाजी भाईयों के साथ कुछ महत्त्वपूर्ण मतभेद होने पर भी उनके लिए मेरे दिल में पक्षपात है। आर्यसमाज के काम का सबसे अच्छा फल गुरुकुल की स्थापना और उसे चलाने में दिखता है। उसका प्रभाव महात्मा मुंशीराम जी की उत्साह बढ़ाने वाली मौजूदगी के कारण है। फिर भी यह सच्ची राष्ट्रीय तथा स्वाधीन संस्था है।[७]

जब गाँधी जी गुरुकुल से जाने लगे, तब उन्हें बड़ा दु:ख हुआ था। गाँधी जी के इस निरूपण से स्पष्ट होता है कि वे गुरुकुल-सम्बन्धी तीन बातों से अत्यधिक प्रभावित थे-

१.गुरुकुल का शान्त वातावरण।

२.महात्मा मुंशीराम का व्यक्तित्व तथा अपने प्रति उनका अत्यधिक प्रेमभाव।

३.आचार्य रामदेव जी का पाण्डित्य तथा सामर्थ्य।

गुरुकुल में औद्योगिक शिक्षा प्रारम्भ करने की आवश्यकता के सम्बन्ध में गाँधी जी ने आचार्य रामदेव तथा अन्य आचार्यों के साथ लम्बा विचार-विमर्श किया था। इससे प्रकट होता है कि गाँधी जी गुरुकुल में औद्योगिक शिक्षा के समर्थक थे।

गांधी जी सदा शान्तियुक्त वातावरण में रहना पसन्द करते थे। गुरुकुल इसके लिए अनुकूल परिस्थिति

---

६. Gandhi, My Experiments with truth, P. 288.

७ दीक्षालोक गुरुकुल कांगड़ी, १९९७ पृ. ३४।

पैदा करता था। फीनिक्स से एक दल भारत, जो यहाँ रहकर यहाँ के आचार-व्यवहार को जानना चाहता था। वह गुरुकुल में रुका था। श्रद्धानन्द ने दल के सदस्यों को उसी प्रकार स्नेह दिया था, जिस प्रकार पिता पुत्र को देता है।

जवाहर लाल जी आत्मकथा में श्रद्धानन्द जी के सम्बन्ध में लिखते हैं- विशुद्ध शारीरिक साहस का अथवा किसी भी कार्य के लिए कष्ट सहन करने एवं उस कार्य के लिए मृत्यु तक परवाह न करने वाले गुणों का मैं प्रशंसक रहा हूँ ...... स्वामी श्रद्धानन्द में इस प्रकार निर्भीकतापूर्ण साहस आश्चर्यजनक मात्रा में विद्यमान था। वृद्धावस्था में भी उनकी उन्नत सीधी आकृति, संन्यासी के वेश में दिव्य मूर्ति, दीर्घकाया, शाहाना सूरत, अन्तर्भेदी दीप्त नयन और कभी-कभी दूसरों की कमजोरियों पर चेहरे पर उभरने वाली झुँझलाहट या गुस्से की छाया का गुजरना- मैं इस जीवन्त मूर्ति को कैसे भूल सकता हूँ। प्रायः यह तस्वीर मेरी आँखों के सामने आ खड़ी होती है।[८]

ग्रेट ब्रिटेन के मजदूर दल के नेता तथा एक समय के प्रधान मन्त्री रेम्जे मैक्डानल्ड के विस्मय में निकले शब्द- **'वर्तमान काल का कोई कलाकार यदि ईसा की मूर्ति बनाने के लिए कोई जीवित माडल सामने रखना चाहे, तो मैं इस भव्य मूर्ति की ओर संकेत करूँगा। यदि कोई मध्यकालीन चित्रकार सैंट पीटर के लिए नमूना माँगेगा, तो मैं उसे इस जीवित मूर्ति के दर्शन करने की प्रेरणा दूँगा।'**[९]

और फिर देखें सरोजिनी नायडू द्वारा प्रस्तुत चित्र- मैं सदैव अनुभव करती हूँ कि श्रद्धानन्द भारत के वीरकाल की एक दिव्य विभूति थे। अपने भव्य एवं उन्नत व्यक्तित्व द्वारा वे अपने साथियों में देवता की तरह विचरण करते थे। वे एक बड़े शिक्षा-केन्द्र गुरुकुल कांगड़ी के (संस्थापक) मुख्याधिष्ठाता भी रहे। यद्यपि उन्होंने किसी बड़े विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त नहीं की थी, तो भी वे अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक, जो शहादत से आलोकित हो उठा था, साहस और कर्मयोगी की अनुपम मूर्ति रहे और भारतीय जीवन के धार्मिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्र में और राष्ट्र सुधार के कार्यों में इन गुणों का सुन्दर तथा सटीक परिचय देते रहे। मानवसमाज की सेवा के सम्बन्ध में उनके भावों का मैं बहुत आदर करती हूँ।[१०]

ऐसा व्यक्तित्व था महात्मा मुंशीराम का। वे प्रारम्भ में अनेक परिस्थितियों से होते हुए आर्य-समाज की ओर आकृष्ट होते हैं और यही उनके जीवन का सर्वस्व -वर्तमान तथा भविष्य बन जाता है। मानसिक आन्दोलन, सैद्धान्तिक झंझावात, सामाजिक घातप्रतिघात, परम्पराप्राप्त आकर्षण तथा विकर्षण तथा पारिवारिक हस्तक्षेप के अनेक सोपानों को लाँघते हुए। वे अपने लक्ष्य के शिखर पर पहुँच जाते हैं। उनके निर्माण में उनकी निष्ठा दृढ निश्चय, आस्था तथा समर्पण का परम संयोग है। इतिहास में उनके गुणों को रोकने का कोई अवरोध नहीं मिलता। ४ मार्च, १९०२ का दिन उनके नक्षत्र के प्रभाव का पुञ्जीभूत फल है। इसी दिन गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना होती है। इसके सामने श्रद्धानन्द के जन्म तथा बलिदान की तिथियाँ निष्प्रभ हो जाती हैं। इसी तिथि से श्रद्धानन्द के जीवन की सभी तिथियाँ पकड़ ली जाती हैं और सम्पूर्ण विवरण सम्यक् रूप से तैयार कर लिया जाता है।

श्रद्धानन्द के व्यक्तित्व के विशिष्ट पक्ष

१.श्रद्धानन्द का अनुशासन कठोर था। वे अनुशासन में किसी को छूट नहीं देते थे। बलदेव नामक ब्रह्मचारी ने कुछ शरारत की। महात्मा मुंशीराम ने उसे ४० या ५० बेंत मारने का दण्ड दिया। यह काम मास्टर

---

८. दीक्षालोक, पृ. ५४९-५५०।
९. दीक्षालोक, पृ. ५५०।
१०. दीक्षालोक, पृ. ५५०।

गोवर्धन जी को सौंपा गया। मास्टर जी ने ३०-४० बेंत लगाये।[११]

इस घटना की चर्चा करते हुए श्री सत्यव्रत सिद्धान्तालङ्कार ने लिखा है- हम लोगों ने दीवालों पर लिख दिया- राक्षस गोवर्धन।

यद्यपि इस घटना से आज का व्यक्ति निष्कर्ष निकाल सकता है कि स्वामी श्रद्धानन्द का यह निर्णय उचित नहीं था। किन्तु श्रद्धानन्द अनुशासन मानदण्ड की समीक्षा करने पर यही विचार स्थित होता है कि उनका निर्देश उचित था। बलदेव की शरारत से गुरुकुल व्यवस्था खण्डित हो रही थी। मुख्य बात तो यह है कि इस प्रकार के आचरण से हमारी प्राचीन परम्परा तथा संस्कृति सुरक्षित नहीं रह सकती थी। इसी के कारण श्रद्धानन्द को इस प्रकार का कठोर तथा अप्रिय निर्णय लेना पड़ा। वे किसी भी स्थिति में अनुशासन को शिथिल देख नहीं सकते थे।

२. श्रद्धानन्द सत्य को जीवन तथा शिक्षा का आधार मानते थे। इस दृष्टि से वे गांधी जी की भाँति सत्य के अनुयायी थे। गांधी जी ने अपना जीवन ही सत्य के परीक्षण में लगा दिया। श्रद्धानन्द ने सत्य को दृढ़ता से पकड़ा। सारे संसार का सत्य ही आधार है। यदि तुम्हारा मन, वचन और कर्म सत्यमय है तो समझो कि तुम्हारा उद्देश्य पूरा हो गया। प्रसिद्धि के पीछे भाग कर कोई काम मत करो....., बनावटी मत बनो, वाणी हो, न सही, किन्तु आचरण सत्यमय हो।[१२]

स्मरण रखो यह संसार सत्य पर आश्रित है। सत्य के विना राजनीति धिक्कारने योग्य है। यदि तुम्हारे जीवन का अवलम्बन है, तो मुझे न कोई चिन्ता है और न कुछ माँगना है।[१३]

३.श्रद्धानन्द ने पण्डित काशीनाथ शास्त्री-जैसे आचार्यों को आमन्त्रित किया और गुरुकुल विश्वविद्यालय में सम्मान-पूर्वक रखा। उनके शिष्यों में इन्द्र विद्यावाचस्पति, हरिश्चन्द्र तथा जयचन्द्र विद्यालङ्कार के नाम प्रतिष्ठित हैं।

४.स्वामी जी का सम्बन्ध काशी विद्यापीठ से भी था। वे प्रथम सञ्चालक मण्डल के सदस्य थे।

५.पत्रकार के रूप में श्रद्धानन्द का योगदान

श्रद्धानन्द ने सद्धर्मप्रचारक (साप्ताहिक) उर्दूपत्र कन्या महाविद्यालय जालंधर के संस्थापक लाला देवराज के सहयोग से निकाला। इसके माध्यम से वे पंजाब में आर्यसमाज के सिद्धान्तों का प्रचार तथा वैदिक धर्म के तत्त्वों का प्रकाशन करना चाहते थे। इस पत्र का प्रथम अङ्क १९ फरवरी, १८८९ को निकला। इसका हिन्दी-संस्करण १९०७ में निकला। १९०८ में सद्धर्मप्रचारक प्रेस गुरुकुल लाया गया। उन्होंने श्रद्धा नामक पत्र भी निकाला। इसका प्रथम अङ्क २३ अप्रैल १९२० को प्रकाशित हुआ।

स्वामी जी ने दिल्ली से **'The liberator'** नामक पत्र (१ अप्रैल १९२६) निकाला। वे लिखते है-'द लिबरेटर न्याय तथा सत्य की शक्ति को ही धर्म समझता है। यही उसके अस्तित्व का आधार है। यह निष्ठापूर्वक

---

११. वैदिक साहित्य, संस्कृति और समाजदर्शन, पृ. १४४

१२. दीक्षालोक, पृ० २९।

१३. वही, पृ० ३१।

ईश्वरीशक्ति के प्रति समर्पित है।'[१४]

उन्होंने अपने लेखों में शिक्षा, धर्म, नीति, राजनीति आदि विषयों के विविध सन्दर्भों को प्रकाशित किया है।

(क) स्वामी जी ने अपने सम्पादकीय में राष्ट्रशिक्षा तथा ग्रामीणों की शिक्षा को आवश्यक बताया है। वे चाहते थे कि सभी शिक्षित हों, कोई भी अशिक्षित न हो (श्रद्धानन्द के सम्पादकीय लेख, पृ. २७२-२७३)

(ख) अपने सम्पादकीय लेखों में स्वामी जी ने अपने दार्शनिक विचार भी प्रकाशित किये हैं- अविद्या ही दुःख की भूमि है। शास्त्र में कहा गया है कि मिथ्या ज्ञान से दोष उत्पन्न होते हैं, दोष से प्रवृत्ति (जगत् के विषयों में फंसावट), प्रवृत्ति से जन्म मरण का बन्धन और उससे दुःख उत्पन्न होता है। इन सबका उत्पत्ति स्थान अविद्या ही है। इसलिए दुःख को दूर करने की एक ही औषधि विद्या है। सूर्य के प्रकाश देने पर जैसे अँधेरा दूर होता है वैसे ही यथार्थ ज्ञान का प्रादुर्भाव होते ही मिथ्या ज्ञान का नाश हो जाता है।[१५]

(ग) स्वाध्याय तथा ब्रह्मचर्य का महत्त्व-ब्रह्मचर्याश्रम को धारण किय हुए मनुष्य का प्रथम कर्तव्य यह कि वह उत्तम शूद्रवत् बनने की कोशिश करे अर्थात् निन्दा, ईर्ष्या, अभिमान को सर्वथा त्याग करके अपने बड़ों की, आचार्य, अध्यापक, अधिष्ठाता तथा अन्य पूज्य मनुष्यों की भक्तिपूर्वक सेवा करें। जिससे उसकी आयु, विद्या यश तथा बल बढ़े।[१६]

इससे दिखाया गया है कि मनुष्यों को सारा जीवन ही स्वाध्याय में लगाना चाहिए। ब्रह्मचर्याश्रम में विशेष बल इसलिए दिया गया है कि वह अगले आश्रमों का आधार है। यदि वहाँ स्वाध्याय में रहने का आधार हो जायगा, तो अगले आश्रमों में भी स्वाध्यायी रह सकेगा।[१७]

जो मनुष्य ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करते, वे बलहीन, बुद्धिहीन हो जाते हैं। स्वाध्याय करने में समर्थ नहीं रहते।[१८] उन्होंने स्वाध्याय तथा ब्रह्मचर्य की दृष्टि से सम्पादकीय लिखा है।[१९]

(घ) स्वराज के सम्बन्ध में वे लिखते हैं-अपने ऊपर अपना आधिपत्य-इस शब्दार्थ में कोई विशेष राजनीतिक स्पर्श नहीं है। इसीलिए स्वराज्य शब्द को केवल राजनीतिक स्वराज्य के अर्थों में प्रयुक्त करना शब्द के साथ अन्याय करना है। स्वराज्य शब्द मनुष्य की हर प्रकार की जीवनप्रवृत्ति के सम्बन्ध में प्रयुक्त किया जा सकता है। हम चार प्रकार के स्वराज्य का परिगणन कर सकते हैं-

(१) आस्तिक स्वराज्य।

(२) धार्मिक स्वराज्य।

(३) साहित्यिक स्वराज्य।

---

१४. स्वामी श्रद्धानन्द के सम्पादकीय लेख गुरुकुल कांगड़ी, १९९८ पृ. ३२ इस पत्र के माध्यम से स्वामी जी ने नवयुग के निर्माण की रूपरेखा प्रस्तुत की।

१५. सम्पादकीय, पृ. २६८

१६. सम्पादकीय, पृ. २९४।

१७. सम्पादकीय पृ० २९७।

१८. सम्पादकीय पृ. २९५।

१९. प्र० ३०/- ३०६

(४) सामाजिक या नैतिक स्वराज्य।

इससे बहुत आगे और पीछे भी इस सिद्धान्त का विस्तार है।[२०]

(ङ) स्वामी जी ने उस समय राजनीति की निन्दा की है। वर्तमान राजनीति के क्षेत्र में सत्य का कम आदर होता है। हम लोग यह भी कहते हैं और ठीक कहते हैं कि लोगों ने अशुद्ध राजनीतिक देवता स्थापित कर लिये हैं और उनकी पूजा प्रारम्भ कर दी है। राजनीति के क्षेत्र में भी वैदिक आदर्श बहुत उच्च हैं।[२१]

(च) स्वामी जी भविष्य -द्रष्टा थे। गांधी जी के सम्बन्ध में वे लिखते हैं- 'शीघ्र ही समय आने वाला है, जब भारत की जनता महात्मा गांधी को अपने विश्वास का परिचय दे सकेगी। होलियों पर गुरुकुल विश्वविद्यालय का उत्सव है। महात्मा गांधी उस पर पधारेंगे और एक सम्मेलन में सभापति-आसन को सुशोभित करेंगे। उस समय आर्यजन अपने हृदय को एक सच्चे महात्मा के दर्शन से शान्त करेंगे।[२२]

परन्तु हमें महात्मा गांधी जी पर पूरा विश्वास है। यदि एक ओर सारी राजनीतिक दुनियाँ खड़ी हो जाये, तो हम यही कहेंगे कि महात्मा गांधी ही सत्य कह रहे हैं।

(छ) स्वामी जी आत्म-परीक्षा भी करते थे। वे लिखते हैं- पंजाब पर सरस्वती देवी का प्रकोप है। पंजाब ने गत शताब्दी में सरस्वती का कोई सच्चा पुत्र नहीं तैयार किया।[२३]

(ज) आर्यसमाज की भी आलोचना- 'राजनीति अपने भयानक रूप में प्रकट हुई। भारतवर्ष का एक कोना भी उसके प्रभाव से खाली नहीं रहा। यहाँ तक कि सार्वदेशिक वैदिक धर्म का प्रचार करने वाला आर्यसमाज भी कई स्थानों में उसके प्रवेश से कलंकित हो चला।

(झ) स्वामी जी ने यह भी लिखा है कि आवश्यकता होने पर संन्यासी को शस्त्र धारण करना चाहिए।

इस लघु निबन्ध में स्वामी जी के सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं पर प्रकाश डाला गया है। उनका व्यक्तित्व विशाल था। उसके अनेक पक्ष हैं। उन पर पृथक् रूप से भी विस्तृत विमर्श अपेक्षित है। ऐसे महापुरुष के जीवन के क्षण-बहुमूल्य होते हैं। उनके चिन्तन में गम्भीर तत्त्व समाहित रहते हैं। तदर्थ सूक्ष्म दृष्टि की अपेक्षा है।

---

२०. सम्पादकीय, पृ. ३६५-३६६।

२१. सम्पादकीय, पृ. २९३।

२२. सम्पादकीय, पृ. ३२२

२३. सम्पादकीय, पृ० १६०।

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २००९ अङ्क १२ (पृ०१९-३०)

मानवता के सन्देश के लिए वेदों एवं श्रीगुरुग्रन्थ साहिब का योगदान

डॉ० रूप किशोर शास्त्री

जर्मनी देश के प्रसिद्ध भारतीय प्राच्य विद्या विशारद प्रो० मैक्समूलर ने अपनी पुस्तक **इण्डिया-ह्वाट कैन इट टीच अस** में एक स्थान पर लिखा है कि 'यदि में विश्वभर में उस देश को खोजने के लिए चारों दिशाओं में आँख उठाकर देखूँ जिस पर प्रकृति देवी ने अपना सम्पूर्ण वैभव, पराक्रम और सौन्दर्य को खुले हाथों से लुटाकर उसे पृथिवी का स्वर्ग बना दिया है, तो मेरी अङ्गुली भारत की ओर उठेगी। अगर मुझसे पूछा जाय कि अन्तरिक्ष के नीचे कौनसा वह स्थान है, जहाँ मानव ने अपने हृदय में निहित ईश्वर प्रदत्त अनन्यतम सद्भावों को पूर्ण रूप से विकसित किया है-गहराई में उतरकर जीवन की कठिनतम समस्याओं पर विचार किया है, उनमें से अनेकों को इस प्रकार सुलझाया है, जिसको जानकर प्लेटो तथा काण्ट का अध्ययन करने वाले मनीषी भी आश्चर्यचकित रह जायें, तो मेरी अङ्गुली भारत की तरफ उठेगी और अगर अपने से पूछूँ, कि हम योरोप के वासी जो अब तक केवल ग्रीक, रोमन तथा यहूदी विचारों में पलते रहे हैं, किस साहित्य से प्रेरणा ले सकते हैं जो हमारे भीतरी जीवन का परिशोध करे, उसे उन्नति के पथ पर अग्रसर करे, व्यापक बनाए, सही अर्थों में मानव बनाए, जिससे ध्येय इस पार्थिव जीवन को ही नहीं हमारी सनातन आस्था को शान्ति मिले, तो फिर मेरी अङ्गुली भारत की तरफ ही उठेगी।'

जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक शोपनहावर का कथन था कि विश्व के सम्पूर्ण साहित्य भण्डार में किसी ग्रन्थ का अध्ययन मानव के विकास के लिए इतना हितकर तथा ऊँचा उठाने वाला नहीं जितना उपनिषदों के अध्ययन से मुझे जीवन में शान्ति मिली है और इनके अध्ययन से ही मुझे मृत्यु के समय भी शान्ति की प्राप्ति होगी। शोपनहावर के इन शब्दों का उल्लेख करते हुए मैक्समूलर ने लिखा है कि अगर शॉपनहावर की इस भावना का समर्थन करने की आवश्यकता हो तो दर्शन तथा धर्म के अध्ययन में व्यस्त अपने दीर्घ जीवन के अनुभव के आधार पर इन शब्दों का सहर्ष अनुमोदन करता हूँ।

मैक क्रिंडल ने सिकन्दर के आक्रमणों पर लिखी अपनी पुस्तक में मैगस्थनीज के **इण्डिका** ग्रन्थ का उद्धरण देते हुए लिखा है कि जब सिकन्दर भारत पर आक्रमण करने के लिए निकला तब उसके गुरु अरस्तू ने उसे उपदेश दिया कि वहाँ से लौटते हुए दो तोहफे लेते आना-एक था भगवद्गीता तथा दूसरा वहाँ का कोई सन्त। सिकन्दर जब भारत भूमि से लौटने लगा तब उसने ओनियोक्रोटस नामक अपने प्रतिनिधि को किसी सन्त को ढूँढ़कर साथ ले चलने के लिए भेजा। एक सन्त मिला जिसका नाम **'डैडमीज'** लिखा है, ने साथ चलने से इन्कार कर दिया। **डैडमीज** शब्द दण्डी-स्वामी का ग्रीक रूप प्रतीत होता है, क्योंकि नाम के साथ ईज लगाना ग्रीक पद्धति रही थी। दण्डी स्वामी को सिकन्दर के दूत ने कहा कि आप चलेंगे तो जुपिटर का पुत्र सिकन्दर आपको मालामाल कर देगा। दण्डी स्वामी ने हंसकर उत्तर दिया-हमारे रहने के लिए यह शस्य-श्यामला भारत की धरती, पहनने के लिए ये वल्कल वस्त्र, पीने के लिए कलकल रव करती गङ्गा की शीतल धारा, खाने के लिए एक पाव आटा बहुत है, हम आत्मधन के धनी हैं, आत्मधन जो धनों का धन है, उस धन की दृष्टि से दरिद्र सिकन्दर हमें

---

१. डॉ० रूप किशोर शास्त्री, रीडर, वेद विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार उत्तराखण्ड

ाया दे सकता है।

औरंगजेब का भाई दारा शिकोह उपनिषदों पर इतना आसक्त था कि उपनिषद् विद्याविदों से लगातार छः महीने तक उसकी व्याख्या सुनता रहा। १६५६ में उसने इनका फारसी में अनुवाद किया। दारा के इसी भाषान्तर को फ्रेंच विद्वान् एन्क्विटिल डयुपैरों ने पढ़ा और इसे पढ़कर उसे प्राच्य शास्त्रों को पढ़ने की रुचि हुई। उपनिषदों के फारसी अनुवाद के आधार पर ही एन्क्विटिल डयुपैरों ने १८०१ में इनका लैटिन में अनुवाद किया। इस प्रकार दारा शिकोह द्वारा मुस्लिम एवं एन्क्विटिल द्वारा ईसाई जगत् में उपनिषदों की विचारधारा का इतना सिक्का जमा कि पूर्व और पश्चिम में इन ग्रन्थों को अत्यन्त श्रद्धा से पढ़ा जाने लगा। अरस्तू, दारा शिकोह, मैक्समूलर तथा शोपनहावर जिस विचारधारा की तरफ आँख उठाकर देख रहे थे, उसका आदि स्रोत वेद है। वेदों की विचारधारा ने भारत की भूमि को ही आप्लावित नहीं किया, अपितु विश्वभर की विचारधाराओं को प्रभावित भी किया है। यह वैदिक ज्ञान एवं विद्या ही है, जिसने सभी को कुछ दिया है, अपना मार्गदर्शन किया है, यही विचारधारा है जिसकी मौलिकता के आलोक में अन्य ग्रन्थों ने भी मानवजाति को दिव्य गुणों, अध्यात्म, आचार-विचार एवं चरित्र की शिक्षा दी है, उनमें गुरुवाणियों के रूप में निबद्ध अत्यन्त पवित्र ग्रन्थ श्रीगुरुग्रन्थ साहिब प्रमुख है। निश्चय ही परम तपस्वियों गुरुओं की वाणियाँ लोक कल्याण एवं विश्वशान्ति का सन्देश देती हैं।

भारतीय चिन्तन में वेदों को अपौरुषेय, ईश्वर की वाणी तथा सृष्टि के प्रारम्भ में आदि ऋषियों के हृदयों में प्रकाशित ज्ञान माना गया है, ये वेद चार हैं-ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद। चारों वेदों के मन्त्रों की संख्या २० हजार से अधिक है। महर्षि मनु एवं अन्य ऋषियों ने वेद को **वेदोऽखिलो धर्ममूलम्** अर्थात् वेद सभी धर्मों का मूल एवं सभी विद्याओं का भण्डार कहा है। इनको संसार एवं मानव जाति के आदि ग्रन्थ माना गया है। परवर्ती वाङ्मय के विस्तार में इन्हीं का महान् एवं मौलिक योगदान है। वेद, वैदिक संस्कृत भाषा में निबद्ध तथा सैकड़ों ऋषियों के हृदय में परमात्म-प्रेरणास्वरूपतः प्रकाशित मन्त्रों की राशि के रूप में गुम्फित हैं, वहीं अनेक गुरुओं एवं सन्तों के हृदय में उत्पन्न वाणी के रूप में मूलतः गुरुमुखी में लिखित श्री गुरुग्रन्थ साहिब है, जिसमें गुरुवाणियों को ३१ मिश्रित रागों में प्रमुखता से उच्चारा गया है और प्रत्येक वाणी के आदि में राग का नाम दिया है जैसे सिरी राग, राग माझ, राग गउडी, राग आसा, राग गुजरी आदि। इसके बाद में वाणीकार गुरुओं एवं सन्तों का नाम का क्रमवार सङ्केत महला-१ (गुरु नानक देव) महला-२ (गुरु अङ्गद), महला-३ (गुरु अमर दास) महला-४ (गुरु रामदास) महला-५ (गुरु अर्जुन देव) महला-९ (गुरु तेगबहादुर) दिया है। तत्पश्चात् भक्तवाणी के सन्त का नाम दिया है-जैसे-वाणी-भक्त कबीर, भक्त नामदेव, भक्त रविदास, भक्त त्रिलोचन, सूफी शेख फरीद, सन्त धन्ना, भक्त सधना, भक्त सूरदास, जैदेव, भक्त वेणी, भक्त मीखण, भक्त रामानन्द, भक्त सुन्दर, भक्त परमानन्द, भक्त पीपा, भक्त बलबण्ड सता, भक्त मरदाना, भक्त सैण इत्यादि।

वैदिक वाङ्मय सभी ज्ञान एवं विज्ञान का मूलाधार एवं विश्व संस्कृति का उन्मेषक भण्डार है इसको या **संस्कृतिः सा प्रथमा विश्ववारा** कहा है, धर्म एवं सभ्यता का विशाल साम्राज्य वेद की आधारभूमि पर ही विकसित हुआ है। वस्तुतः वेद सम्पूर्ण मानवजाति के लिए एक शाश्वत संविधान एवं आचार संहिता है। वेदों के प्रसिद्ध भाष्यकार आचार्य सायण का कहना है कि इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट का परिहार करना वेद का नैसर्गिक सन्देश है।[२] दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि वेद उन्नति और प्रगति का मार्ग बताता है तथा दुष्कर्मों से होने

वाले कुपरिणामों से सतत निवृत्ति की प्रेरणा देता रहता है। वेद के इन अलौकिक रहस्यों, ज्ञान एवं पराविद्या को पश्चाद्वर्ती वाङ्मय यथा-ब्राह्मण ग्रन्थों, आरण्यकों, उपनिषदों, धर्मसूत्रों, रामायण, महाभारत, महाकाव्यों एवं समय-समय पर हुए दिव्य सन्तों एवं धर्मगुरुओं ने अपने शब्दों में व्याख्यायित किया है। वेद की उक्त परम्पराओं ने पुरुषार्थ चतुष्टय पर बल दिया है तथा उनके सन्देश का अन्तिम लक्ष्य सांसारिक प्रलोभनों को त्यागकर वास्तविक सत्य का अन्वेषण करना अर्थात् सा **विद्या या विमुक्तये** रहा है। वेद, ऋषियों एवं सन्तों के चिन्तन की परम्परा में ज्ञान का उद्देश्य निःश्रेयस् है। अन्धकार से प्रकाश की ओर, असत्य से सत्य की ओर, मृत्यु से अमृत की ओर जाने पर बल दिया गया है।[३]

मानव एक बुद्धिजीवी प्राणी है और बुद्धितत्त्व की कामना वेद में बहुशः देखने को मिलती है,[४] वहीं वेद ने उसे मानव होते हुए भी सच्चे अर्थों में मानव बनने एवं दिव्य गुणों के धारण करने की धारणाओं से अवगत कराना आवश्यक समझा है।[५] मानव के जीवन में पदे-पदे अनेकानेक विघ्न बाधाओं के फलस्वरूप मानवीय मूल्यों के गिरने की सम्भावना बनी रहती है, इसलिए सतत सावधानी बरतने की दृष्टि से उसे वेद ने **मनुर्भव** का उपदेश दिया है, यहीं मानव को अत्यधिक उदात्त मूल्यों के संरक्षण एवं वर्धन की बात कही है, इन्हीं को लक्ष्य कर वेद ने उदात्त मानवीय मूल्यों के आश्रय में रहकर जीवन जीने की चर्चा की है, इन्हीं मानवीय मूल्यों का सटीक स्वरूप श्रीगुरुग्रन्थ साहिब में सरल, सरस, हृदयग्राह्य एवं लौकिकभाषा में प्रस्तुत किया गया है।

उक्त पवित्र ग्रन्थों में संक्षेप एवं कहीं कहीं विस्तार से धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष आदि के पर्यालोक में अध्यात्म, नैतिकता, आचार-संहिता, सन्मार्गगामिता, विधि-निषेध का ज्ञान, लौकिक एवं पारलौकिक उत्कर्ष, मर्यादा पालन इत्यादि का सारगर्भित प्रतिपादन है। वैदिक वाङ्मय ने विना किसी जाति, धर्म, देश के भेदभाव के एक सामान्य धर्म निर्वहन, कर्त्तव्यपालन एवं मानवीय गुणों को धारण करने का उल्लेख किया है और यही सर्वसामान्यजन हिताय श्रीगुरुग्रन्थ साहिब में बड़ी सरल, सरस, शब्दावली में सुदृढ़ता के साथ सुन्दर रूप में किया गया है।

पारिवारिक आदर्श-मानव जीवन की एक सर्वाधिक प्रमुख इकाई है- परिवार। प्रत्येक सदस्य परस्पर आजीवन जुड़ा रहता है, उनके लिए प्रशस्त आदर्श का सन्देश अथर्ववेद देता है कि प्रत्येक का कर्त्तव्य है कि अपने माता-पिता के प्रति स्वस्तिमय सद्भाव का आचरण करे, कदापि उनकी उपेक्षा न करता हुआ उन्हें सदैव सत्कृत एवं सन्तुष्ट रखें।[६] वेद की यह शिक्षा सुतराम् धारणीय होनी चाहिए कि जन्मोपरान्त बचपन में माता-पिता को कष्ट पहुँचाता हुआ मैं स्वयं अत्यन्त प्रमुदित रहा तो मुझे चाहिए कि वे शिथिल हो चले हैं, उन्हें कदापि किसी भी रूप में पीड़ित न करता हुआ उनकी सदा सेवा एवं सत्कार में रहकर प्रसन्नतापूर्वक उनके ऋण से उऋण

---

३ असतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्मामृतं गमय। बृहद्० उप०१.३.१८ अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते। यजु ४०.१४

४ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥ ऋग्०३.६२.१०, यजु०३६.३॥ यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते। तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु॥ यजु०३२/१४॥

५ मनुर्भव जनया दैव्यं जनम्। ऋग्०१०/५३/६॥

६ स्वस्ति मात्र उत पित्रो नो अस्तु। अथर्व० १.३१.४॥

होऊँ,[७] इसी दिशा में पारिवारिक सदस्यों को वेदोक्त आचार संहिता अपने जीवन में इस आचार को अपनाने को कहती है कि पुत्र पिता के अनुकूल कर्त्तव्यनिष्ठ होवे, माता के साथ श्रद्धायुक्त मनवाला रहे, पत्नी पति के प्रति मधुर, शान्तिमयी वाणी का व्यवहार करे, भाई-भाई के प्रति द्वेष न करे, बहिन-बहिन के साथ प्रेम के साथ व्यवहार करे तथा अन्य सभी परस्पर प्रेम एवं सद्भाव रखें।[८] इससे पूर्व अथर्ववेद ने स्पष्ट सन्देश दिया है कि परम सत्ता की ओर से सभी सदस्यों का हृदय परस्पर प्रेम एवं सद्भाव वाला बनाया गया है, इसलिए परस्पर एक-दूसरे को सभी तरह से चाहो जैसे गौ अपने सद्योजात अभिनव बछड़े के प्रति अत्यन्त स्नेह रखती है, वैसे तुम भी सब परस्पर छल, कपट, द्वेष से सर्वथा रहित होकर विशुद्ध स्नेह से युक्त होकर आनन्दित रहो।[९] श्रीगुरुग्रन्थ साहिब एवं सभी सन्तों की वाणियों से यही ध्वनित होता है कि सुखी संसार एवं जीवन का मेरुदण्ड सुखी परिवार एवं गृहस्थ है। जहाँ परस्पर प्रेम, स्नेह, मधुर व्यवहार एवं बड़ों का सम्मान हो, यही सुखी परिवार के लक्षण हैं।

पुण्यमयी एवं भद्रा लक्ष्मी प्राप्ति-सन्देश- वेद अन्याय, अनीति, रिश्वत अथवा विना परिश्रम एवं किसी को कष्ट देकर अर्जित लक्ष्मी अर्थात् धन मानव को विनाशकारी, समाज में संघर्षकारी एवं पापकारी बनाता है। श्रम, धर्मयुक्त उपायों, तथा दूसरों को विना कष्ट पहुँचाए अर्जित, लक्ष्मी की वेद प्रशंसा करता है और मानव के लिए यह कहते हुए चेताता है कि जिस प्रकार वन्दना (अमरबेल) नामक लता हरे-भरे वृक्ष को पनपने नहीं देती, शोषण करती है, उसी प्रकार भ्रष्ट तरीके से अर्जित लक्ष्मी दुर्गतिकारिणी एवं धर्म व नीति से भ्रष्ट करने वाली होती है। वेदों में दोषपूर्ण लक्ष्मी से सदा दूर रहने का परामर्श दिया गया है।[१०] पुण्यार्जित लक्ष्मी में रमण करने से अत्यन्त सुख शान्ति मिलती है तथा पापमय साधनों से अर्जित कुलक्ष्मी उसी मनुष्य को सकुल बार-बार नाश करती है, **अनीनशम्** आख्यात पद बार-बार नाश करने की ओर इङ्गित करता है। ऐसी पापमयी लक्ष्मी को घर से दूर चले जाने एवं दूर रहने की प्रार्थना की गई है।[११] श्री गुरुग्रन्थ साहिब में श्री गुरुनानक की वाणी का सन्देश वेदोक्तभाव का अक्षरशः समर्थक है। उनका कहना है कि मनुष्य पवित्रता से जीविकोपार्जन तो करे ही, साथ ही उसी पुण्यार्जित धन से दूसरे लोगों को दानादि देकर सहायता भी करे, वही व्यक्ति वास्तविक मार्ग का पथिक बताया है।[१२] गुरुनानक यहीं नहीं रुकते वे सन्देश देते हैं कि जो प्रभुनामस्मरण के साथ-साथ परिश्रमशील हैं, उनके मुख उज्ज्वल होते हैं और वे स्वयं तथा दूसरों के भी मुक्ति के आदर्श बनते हैं।[१३]

दुराचरण निवारण ही मानवता का बहुमुखी विकास-वेद का दृढ़ सन्देश है कि मानव जब तक

---

७ यदापिवेष मातरं पुत्रः भवतु प्रमुदितो धयन्। एतत्तदग्रे अनृणो भवाम्यहतौ पितरौ मया।। यजु०१९.११

८ अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमना। जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्ति वाम्।। मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा। सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदतु भद्रया। अथर्व० ३.३०.२-३

९ सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः। अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या। अथर्व०३.३०.१

१० या मा लक्ष्मीः पतयालूरजुष्टाभिचस्कन्द वन्दनेव वृक्षम्। अन्यत्रास्मात् सवितस्तामितो धा हिरण्यहस्तो वसु नो रराणः।। अथर्व०७.११५.२।।

११ रमन्तां पुण्यां लक्ष्मीर्याः पापीस्ता अनीनशम्। अथर्व० ७.११५.४।। प्र पतेतः पाप लक्ष्मि नश्येतः प्रामुतः पत।। अथर्व० ७.११५.१।।

१२ घालि खाई किछु हथहु देइ। नानक राहु पछाणहि सेइ।। श्री गुरुग्रं०सा०पृ०-१२४५।।

१३ जिनी नामु धिआइआ गये मसकति घालि। नानक ते मुख उजले केती छुटी नालि।।

दुराचरण व दुर्व्यसनों को तिलाञ्जलि नहीं देता तब तक सच्चे अर्थों में उसके मानवीय गुणों का विकास होना नितान्त असम्भव है। गुरु नानकदेव की इस सम्बन्ध में एक पवित्र वाणी का उल्लेख मिलता है जिसमें उन्होंने धर्म के मार्ग पर चलने वालों को कुकर्मों से सर्वथा सर्वथा के लिए तिलाञ्जलि देने का उपदेश किया है। ऐसा सुकृतकर्मी ही ईश्वर का ध्यान कर सकता है।[१४] इन दुर्व्यसनों एवं दुराचरणों के फलस्वरूप मनुष्य का अन्तःस्थल पशुता व दानवीय दुर्गुणों का भण्डार बन जाता है, जिससे वह अविलम्ब ही छुटकारा पाये यह ऋग्वेद का कहना है।[१५] इसलिए मानवीय गुणों के विकास के लिए जाग्रत अथवा सुप्तावस्था अथवा ज्ञाताज्ञातावस्था में बुरे संस्कारों, दुष्प्रवृत्तियों एवं दुष्टाचरणों को जीवन में स्थान कथमपि न देना परम आवश्यक है।[१६] गुरु नानकदेव की दृष्टि में काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहङ्कार इत्यादि दुर्गुण मनुष्य की मनुष्यता को भ्रष्ट कर देते हैं, इसलिए उनका मत है कि जो पढ़ने तथा शिक्षा लेने के उपरान्त भी लोभ, अहङ्कार में लिप्त वह पढ़ा हुआ मूर्ख ही है अर्थात् अपने आचार-विचार से भ्रष्ट है।[१७]

सुखी जीवन में माधुर्य का प्रातिष्ठ्य– मानवीय जीवन के सौन्दर्य में मधुरता की अहं भूमिका को वेद ने रेखाङ्कित किया है। मधुरता का अभिप्राय सहजता, नैसर्गिकता, सरलता एवं मधुर वाक् प्रयोग है। जीवन के उत्कर्ष एवं आनन्द में इन गुणों की अत्यन्त प्रतिष्ठा है। मधुर वाणी प्रयोग का उद्देश्य दुःखों से रक्षा करना माना जाता है। बनावटी जीवन, कर्कश व्यवहार एवं कठोर वाणी का प्रयोग वस्तुतः सामाजिक अथवा वैधानिक दृष्टि से विशेष दोष या अपराध न होने पर भी नैतिक दृष्टि से अपराध माना जाता है। ऋग्वेद ने कर्कश व्यवहारकर्त्ता एवं कठोर वाक् प्रयोग करने वालों की निन्दा करते हुए उन्हें गर्हित व्यक्ति कहा है[१८] जैसा जीवन वैसा मरण यह सामान्य नियम है। जीवन की मधुरता अथवा कटुता क्रमशः निर्भर करती है मधुर वाग्व्यवहार पर। अतः मानवीय जीवन अच्छा, मधुर एवं सुखकारी हो, एतदर्थ अथर्ववेद में मधुरता का उल्लेख उदात्तरूप से मिलता है।[१९] इसी के साथ ही परस्पर मधुर सम्भाषण करने, वृद्धों का मधुरता से सम्मान करने, सुविचारशीलों को एकमत होने पर पर्याप्त बल दिया गया है।[२०] किसी को दुःख पहुँचाने वाला कठोर वचन न बोलना ही वचन की पवित्रता है। बहु, व्यर्थ या अनर्गलभाषण ही वचन की अपवित्रता है, अतः वचनों में शुचिता एवं परनिन्दा का परिहार आवश्यक है,

---

१४ सेव कीती संतोखीईं जिन्हीं सचु धिआइआ। ओन्हीं मन्दै पैरु न रखिओ करि सुकृतु धरमु कमाइआ॥ श्रीगु०ग्र०सा०पृ०२८४॥

१५ श्रेष्ठो जातस्य रुद्र श्रियासि तवस्तमस्तवसां वज्रबाहो। पर्षि णः पारमंहसः स्वस्ति विश्वा अभीति रपसो युयोधि॥ ऋग्०२.३३.३॥

१६ यदाशसा निःशसाभिशसोपारिम जाग्रतो यत् स्वपन्तः।. अग्निर्विश्वान्यप दुष्कृतान्यजुष्टान्यारे अस्मद् दधातु॥ ऋग्० १०.१६४.३॥

१७ पड़िया मूरख आखिए जिसु लबु लोभु अहंकारा॥ श्रीगु०ग्र०सा०पृ०-१०८॥

१८ इन्द्राग्नी अवसा गतमस्यभ्यं चर्षणीसहा।मा नो दुःशंसः ईशत॥ ऋग्०७.९४.७

१९ जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम्। ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि॥ मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्। वाचा वदामि मधुमत् भूयासं मधुसन्दृशम्॥ अथर्व० १.३४.२-३॥

२० ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वियौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः। अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि॥ अथर्व०३.१३.५॥

इसलिए परनिन्दा गुरुनानक देव के मत में अत्यन्त गर्ह एवं मलस्वरूप है।[२१] उन्होंने परनिन्दा एवं वाक्पारुष्य को बन्धन का कारण एवं पतनोन्मुखी करार दिया है।[२२]

द्वेष रहितता, मित्रभाव एवं विश्वबन्धुत्व- वैदिक मान्यता ने इस संसार में सभी को समानाधिकार, समभाव एवं परस्पर सङ्गठनात्मक प्रवृत्ति पर बल दिया है। सभी को समान अवसर एवं मातृभाव मिले तो इस सङ्गठनात्मक दृष्टि से सभी को न्याय मिलता है।[२३] वेद ने तो स्पष्ट संकेत दिया है कि प्रत्येक मानव का अन्न, जल इत्यादि प्राकृतिक भोग्य पदार्थों पर समान अधिकार है तथा सभी इस तरह सङ्गठित रहें जैसे रथ के पहिए के अरे एक केन्द्र में स्थित रहते हैं। निश्चय ही यहाँ सह अस्तित्व की अवधारणा मानव के लिए आवश्यक बताई गई है।[२४] सभी मिलकर अभ्युदयकारक अच्छे सत्य-हित-प्रिय वाक्यों को ही बोलें तथा सभी के मन, सुख, दुःखादिरूप भाव को सबके लिए समानरूप से जानें। परस्पर अलगावभाव या विरोध मानव विरोधी आचरण है। सभी के हृदय सङ्कल्प, मन, निश्चय, प्रयत्न समान समभाव वाले हों, यह मानव के लिए सन्देश वेद में पहले से ही निर्धारित कर दिया गया है।[२५] वेद में द्वेष को ऐसा मानवीय दुर्गुण कहा है जिससे सिवाय शत्रुता के कुछ भी प्राप्त नहीं होता, इसलिए अथर्ववेदीय **मनसा परिक्रमा** के मन्त्रों में द्वेष की प्रवृत्ति को प्रभु की न्याय व्यवस्था में रखने की बात कही है।[२६] यजुर्वेद ने परस्पर मिलकर रक्षा करने, भोज्य पदार्थों का सेवन करने, अध्ययन करने की चर्चा कर मैत्रीभाव रखना एवं द्वेषभावों से सुतराम् दूर रहने पर बल दिया है।[२७] ऋग्वेदीय ऋचा में द्वेष एवं असूया को प्रायः समतुल्य कहा है। और इस द्वेष व असूया के जन्म में वस्तुतः मानसिक दुर्बलता मूल कारण है, जो पाप एवं अपराध की ओर उन्मुख करती है।[२८] यही कारण है कि वेद ने द्वेषभाव का शमन करने के लिए प्राणियों से मित्रभाव रखना अनिवार्य कहा है।[२९] यही भावना है विश्वबन्धुत्व की और यही कारण था वैदिक परम्परा एवं संस्कृति से ही निकला एक विश्व प्रसिद्ध नारा **वसुधैव कुटुम्बकम्**। यह थी उदात्त परिकल्पना वैदिक चिन्तन की जिसमें एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति की रक्षा की बात कही गई है।[३०] ऐसा नहीं है मानव मानवमात्र

---

२१ परनिन्दा पर मलु मुख सुधी अगनि क्रोध चंडालु। श्रीगु०ग्र०सा०पृ०२६॥

२२ वाधे मुकति नाही न निन्दक डूबहिं निंद पराई हे। श्रीगु०ग्र०सा०पृ०५८२॥

२३ स वः पृच्यन्तां तन्वः सं मनांसि समुव्रता। स वोऽयं ब्रह्मणस्पतिर्भगः सं वो अजीगमत्। अथर्व०६.७४.१

२४ समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि। सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः॥ अथर्व०३.३०.६

२५ संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्। देवा भागं यथा पूर्वे सञ्जानाना उपासते॥ ऋग्०१.१९१.२॥ मा वियोष्ट अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त। अथर्व०३.३०.४ समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः। समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥ ऋग्०१०.१९१.४ समानो मन्त्रः समितिः समानी मनः सह चित्तमेषाम्। समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि॥ ऋग्०१०.१९१.२

२६ यो ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ अथर्व० ३.२७.१-६॥

२७ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै। तैत्ति० आ० ९/१

२८ इन्द्रासोमा समघशंसमभ्यय१घं तपुर्ययस्तु चरुरग्नि वाँ इव। ब्रह्मद्विषे क्रव्यादे घोरचक्षसे द्वेषो धत्तमनवायं किमीदने॥ ऋग्० ७.१०४.२॥

२९ दृते दृहं मा मित्रस्य या चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥ यजु०३६.१८

३० पुमान्पुमांसं परिपातु विश्वतः। ऋग्० ६.७५.१४॥

की रक्षा अपितु प्राणिमात्र अर्थात् द्विपाद् चतुष्पाद् आदि प्राणियों की रक्षा कल्याण एवं हित की बात कही गई है। श्रीगुरुग्रन्थ साहिब पृ०-३७६ में अधिकार की कमाई, सन्तोष, निर्बैरता, निर्भयता, प्रेमभाव, सहनशीलता आ सद्गुणों पर बल दिया गया है, इनसे जीवन की धन्यता के लिए सन्देश प्राप्त होता है। श्री गुरुनानकदेव ने अप वाणी में कहा है कि सभी प्राणियों में एक ही परमात्मा की ज्योति है।[३२] **नानक उत्तमु नीच न कोई** अर्थात् उनक दृष्टि में यहाँ कोई भी उत्तम या नीच नहीं है अर्थात् सभी समान हैं क्योंकि एक ही ईश्वर ने सभी प्राणियों क बनाया है।[३३] गुरुनानक की दृष्टि में नीच वह है जो परमात्मा के प्रति अपनी भक्ति नहीं रखता, उसके स्मरण विना सभी की जाति घटिया है।[३४] वैदिक साहित्य एवं सन्तों की वाणी में व्यक्ति और समाज से ऊपर उठकर वि के कल्याण की बात कही गई है। यहाँ **सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चि दुःखभाग भवेत्**-ही विश्वबन्धुत्व एवं विश्वकल्याण भावना की दृष्टि है।

पुण्यकर्माधारित मानवजीवनसौन्दर्य- मानव के जीवन को वैदिक कर्म सिद्धान्तानुसार सुखदुःखात्म कहा है, परन्तु मानव अति काम-क्रोध-लोभ-मद-मात्सर्य के कारण अपने जीवन को दुःखयुक्त ही कर लेता है इन्हीं अतिदुःखों एवं असफलताओं के वशीभूत जीवन में नीरसता, असरसता एवं नारकीयता के कारण आत्महत्य तक कर लेता है, परन्तु वेद ने जीवन को एक स-ाम मानते हुए अपने लक्ष्य साधन के लिए यह कहते हुए सत अध्यवसायी बताया है और प्रेरणा की है कि जिस व्यक्ति ने जन्म लिया है वह जीवन को सुन्दर बनाने के लि उत्पन्न हुआ है, क्योंकि धीर व्यक्ति अपनी मननशक्ति से अपने कर्मो में पवित्रता रखते हैं।[३५] जिस कार्य को कर पुण्य माना जाता है वह धर्म और जिसके करने से पाप होता है वह अधर्म है। अतः वेदों एवं श्री गुरुग्रन्थ साहि में पापकर्मों का निषेध किया है, वेद में पाप के लिए दुरित, एनस्, अंहस्, अघ, अनृत, अवद्य, आगस्, किल्विष दुष्कृत, रेपस्, रिप्र, अमेध्य इत्यादि पदों का व्यवहार हुआ है। श्रीगुरुग्रन्थ साहिब में पापकर्म को बुरा कहा है। श्र गुरु नानक देव का कहना है कि पापी मनुष्य पाप को प्यार करते हैं, वे पाप का बोझ व्यर्थ में उठाते हैं और अप व्यवहार व कार्य-व्यापार में उसी का विस्तार करते हैं, परन्तु जो मानव पापवृत्तियों को त्यागकर आत्म स्वरूप क पहचान लेता है, उसे शोक, सन्ताप, वियोग आदि नहीं छू पाते। यही मानव जीवन की सार्थकता है।[३६] गु नानकदेव का सन्देश है। मानव जीवन की सार्थकता इसी में है कि जब वह धर्म के तत्त्वों के जानने में ही ल रहने की अपेक्षा शुद्धाचरण पालन में रहे। वही सच्चे सुख एवं निःश्रेयस् को प्राप्त कर सकता है। यही जीवन क

---

३१ शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे। ऋग्०७.५४.१

३२ सभ महि जोति जोति है सोई-श्री गु०ग्र०सा०पृ०-३७२॥

३३ सबको ऊँचा आखीए नीच न दीसै कोइ। इकनै भांडे साजिए इकु चानणु तिड लोइ॥ श्री गु०ग्र०सा०पृ०-८२॥

३४ खसमु विसारिये ते कमजाति। नानक नावै बाझु सनाति॥ बिन नावै सभ नीच जाति है बिसटा का कीड़ा होइ॥ श्री गु०ग्र०सा०पृ०-४७६॥

३५ जातो जायते सुदिनत्वे अह्नां समर्य आ विदथे वर्धमानः। पुनन्ति धीरा अपसो मनीषा देवया विप्र उदियर्ति वाचम्। ऋग्०३.८.५॥

३६ पापु बुरा पापी कउ पिआरा। पापि लदे पापे पसारा। परहरि पापु पछाणै आपु। न तिसु सोगु विजोगु संतापु।

स्तविक सौन्दर्य है।[३७]

सत्य का सन्देश- ऋग्वेद में ऋत अर्थात् सत्य को धर्म कहा गया है-**सुगा ऋतस्य पन्था:** इस वाक्य से ष्ट है कि धर्म सुख से गमन करने योग्य है। भवसागर से पार लगाने वाले सत्य तत्त्व को उच्चता प्रदान की गई [३८] इसका पालन ही वास्तविक धर्म है।[३९] गुरुनानक देवजी इसी विचार के पोषक हैं, उनका मानना है कि सत्य सामने सब कुछ तुच्छ है तथा सत्याचार मूर्धन्य है[४०] अत: धर्म ही सत्य और सत्य ही धर्म ऐसा तत्त्व है जो भ्युदय और नि:श्रेयस सिद्धि का प्रदायक है। ऐसा महर्षि कणाद ने वैशेषिक दर्शन में स्वीकार किया है।[४१] यद्यपि र्षि मनु ने सत्य को धर्म के दश तत्त्वों में प्रमुख तत्त्व माना है।[४२] वहीं गुरुनानक देव भी महर्षि मनु से पृथक् चार नहीं रखते हैं।[४३] गुरु अर्जुनदेव ने उपदेश दिया है कि धर्म का मार्ग तभी अनुसरणीय है जब मानव असत्य कूड़) को त्यागकर नष्ट कर दे।[४४] इसलिए मानव को गुरुनानक देव ने चेताया है कि सत्य और सन्तोष उसकी ी पूँजी है जिसके कारण वह इस संसार से अलग होकर प्रभु के आश्रय को प्राप्त करता है तथा कभी भी खस्वरूप नरक को नहीं भोगता है।[४५]

अहिंसा- वैदिक वाङ्मय एवं ऋषियों, सन्तों व आचार्यों ने सत्याचरण के अतिरिक्त अहिंसा को उदात्त नवीय गुण कहा है। **अहिंसा परमो धर्म:** वैदिक संस्कृति का महावाक्य है जो संसार के मनुष्यों के लिए दूसरों ा कष्ट न पहुँचाने का सन्देश है। महर्षि पतञ्जलि ने कहा है कि अहिंस्य भाव रखने से संसार के प्राणियों के साथ भाव का हमेशा-हमेशा के लिए त्याग हो जाता है।[४६]

अहिंसा एक ऐसा पावन गुण एवं कर्म है जिससे मानव आजीवन सुख-शान्ति से रह सकता है। किसी ा प्राणी को मन-वचन एवं कर्म से कष्ट पहुँचाना, शारीरिक क्षति करना, वध करना, मारना आदि ये सब हिंस्य र्म माने गये हैं। इसलिए वेद ने कहा है कि किसी भी प्राणी को कष्ट न दो, ना मारो।[४७] ऋग्वेद में अहिंसक के िए **अवृक** पद का प्रयोग किया गया है।[४८] अन्यत्र हिंसा से रहित अनिन्द्य, पापरहित तथा स्तोता बनने की प्रेरणा लती है।[४९] सभी मानव को **अदब्ध**-अर्थात् अहिंसक होने का सन्देश वेद में विद्यमान है।[५०] इसलिए अहिंसा एवं

---

७ करि आचारु सचु सुखु होई। श्रीगु०ग्र०सा०पृ०४७८॥

८ सत्यस्य नाव: सुकृतमपीपरन्॥ ऋग्० ९.७३.१॥

९ यो वै स धर्म: सत्यं वै तत्। तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति॥ बृहद्० उप० १.४.१४॥

० सचहु ओरै सभु को उपरि सचु आचारु॥ श्रीगु०ग्र०सा०पृ०८२॥

१ यतोऽभ्युदय नि:श्रेयस सिद्धि स धर्म:॥ वै०द०१.१.२॥

२ धृति: क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रह:। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥ मनु० ६.९२॥

३ एको धरमु दृड़े सचु कोई। गुरमति पूरा जुगि जुगि सोई॥ श्रीगु०ग्र०सा० पृ०६६६॥

४ कूड़ह करे विणास धरमे तगीऐ॥ श्रीगु०ग्र०सा० पृ०५१८

५ सतु सन्तोखु सदा सचु पलै सचु बोले पिर भाये। नानक बिछुड़ि ना दुखु पाये गुरमति अंकि समाए॥ श्रीगु०ग्र०सा०पृ०४१०

६ अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्याग:। योग०द०२/३५॥

७ मा हिंसीस्तन्वा प्रजा:। यजु०४.१॥

८ असुं य ईयुरवृका:। ऋग्०१०.१५.१

९ यथा चित्पर्वे जरितार आसरनेद्या अनवद्या अरिष्टा:। ऋग्० ६.१९.४॥

अहिंस्यभाव को महाभारतकार ने परम धर्म, परम तप, परम सत्य, परम दान, परम यज्ञ, परम मित्र, परम ती एवं परम सुख कहा है।[५१] इसलिए महर्षि मनु ने मानव के लिए उद्घोषणा की कि जो मनुष्य किसी भी प्राणी व बन्धन या बन्ध नहीं करता, कष्ट नहीं पहुँचाता और दूसरों का हितचिन्तक है, वह मनुष्य अपार सुख को प्र करता है।[५२] गुरुनानक देव जी की वाणी के अनुसार हिंसा से अभिप्राय वध एवं जीवों पर अत्याचार करने से है अपने सुख के लिए जीवहत्या, अत्याचार, कष्ट पहुँचाना हिंस्य कर्म है जो सर्वथा त्याज्य है।[५३] उनकी धारणा है कि परमात्मा में मन की अनुरक्ति से ही अभिमान, हिंसा एवं लोभ की निवृत्ति सम्भव है।[५४]

नारी सम्मान की भावना–वेदों द्वारा नारी जाति को अत्यन्त सम्मान एवं प्रतिष्ठा को प्रदान करने व सन्देश दिया गया है, इसके कन्या, माँ, दादी, बहिन, पत्नी इत्यादि रूप हैं, सभी रूपों में उसे सम्मान ही न बल्कि पूज्य स्थान भी दिया गया है। महर्षि मनु ने तो यहाँ तक कह दिया है कि **यत्र नार्यन्तु पूज्यन्ते रमन्ते त देवताः। यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः।**[५५] अर्थात् जहाँ नारी जाति का सम्मान होता है, वहाँ देव अर्थात् दिव्य शक्तियाँ रमण करती हैं, जहाँ नारी का सम्मान नहीं होता उस समाज का पतन अवश्यम्भावी है वस्तुतः वैदिक साहित्य में नारी जाति को परिवार, समाज एवं राष्ट्र का मेरुदण्ड कहा गया है। उसे त्याग, समर्पण निष्ठा, धीरता, दिव्य शक्ति की प्रतिमूर्ति एवं साक्षात् लक्ष्मी कहा गया है। नारी जाति के विना मानव का अस्तित अधूरा ही नहीं असम्भव कहा गया है। यदि पिता के घर है तो वह कन्या स्वरूप में पूज्य एवं प्रियदर्शिनी है ससुराल में जाने पर उसकी संज्ञा वेद में **सम्राज्ञी** कही गई है अर्थात् जैसे नदियों में सिन्धु मान्य है उसी प्रका समाज एवं कुल में स्त्री पूज्य है। अथर्ववेद का ऋषि तो उसे स्वसृ, श्वसुर, देवर, ननद, पति इत्यादि की सम्राज्ञी घोषित करता है[५६] वस्तुतः वेद का यह उपदेश मानव के लिए वरदान है।

अकेला खानेवाला पापी–वेद में मानव के लिए सन्देश है कि कोई भूखा न रहे। सदा मिल बाँटक खाने की अवधारणा वेद में बलवती है। जिसे धन की चञ्चलता और अस्थिरता का बोध नहीं है, उसे वेद **अप्रचेता**-अज्ञानी, बेसमझ कहा है। जो मात्र धनलिप्सा में अन्यों को भूल जाता है, कञ्जूस हो जाता है, ऐसे व्यक्ति को अन्न धनादि की प्राप्ति व्यर्थ है, क्योंकि वह अपने को उसका अकेले ही उपभोग एवं खानेवाला मानता है, ऐसे व्यक्ति को पापी कहा गया है। वह अपनी बहुत बड़ी हानि करता है।[५७] इसलिए ऋग्वेद कहता है अन्न अर्थात

---

५० ऋग्०१.८९.१॥

५१ अहिंसा परमो धर्मस्तथा हिंसा परं तपः। अहिंसा परमं सत्यं यतो धर्मः प्रवर्तते॥ अहिंसा परमं दानमहिंसा परमं तपः अहिंसा परमो यज्ञश्चाहिंसा परमं फलम्॥ अहिंसा परमं मित्रमहिंसा परमं सुखम्। सर्वदानफलं वापि नैतत् तुल्यमहिंसया॥ महा० अनु०पर्व ११५.२३-३०॥

५२ यो बन्धनवधक्लेशान् प्राणीनां न चिकीर्षति। स सर्वस्य हितप्रेप्सुः सुखमत्यन्तमश्नुते॥ मनु०स्मृति-५.४६॥

५३ श्रीगु०ग्र०सा०पृ०७३६-७३८॥

५४ जिसु मनु मानै अभिमानु न ताकउ हिंसा लोभु बिसारे। श्रीगुरु०ग्र०सा०पृ०६८०॥

५५ मनुस्मृति-३.५६॥

५६ यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषा। एवा त्वं सम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्य॥ सम्राज्ञ्येधि श्वशुरेषु सम्राज्ञ्युत देवृषु। ननान्दुः सम्राज्ञ्येधि सम्राज्ञ्युत श्वश्र्वाः॥ अथर्व०१४.१.४३-४४॥

५७ मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य। नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥ ऋग्०१०.११७.६॥

ाग्य पदार्थ की कामना करने वाले निर्धन याचक को जो अन्न देता है, वही वास्तव में भोजन करता है, वही हुत धन धान्य की प्राप्ति एवं रक्षा करने वाला होता है।[५८] इस वेदोक्त अवधारणा की प्रत्यक्ष क्रियान्विति यदि ाहीं दिखाई देती है तो इसका साक्षात् स्वरूप गुरुलङ्गरों के रूप में प्रतिदिन देखने को मिलता है, जहाँ बिना ि़सी भेदभाव के समानभाव से अन्नदान द्वारा पवित्र भाव बनाए जाते हैं। वहाँ अकेले खाने की भावना नहीं है। ात: स्पष्ट सन्देश है कि जिसके अन्न में अन्य व्यक्ति भाग नहीं लेते वह सभी पापों से मुक्त नहीं होते।[५९] इसलिए ानुष्य अपने सम्मुख जीवन का दीर्घ पथ देखे और याचना करने वाले को दान देकर सुखी करे और स्वयं सुखी ावे।[६०]

विश्व शान्ति की अवधारणा- आज समस्त विश्व अशान्त दिखाई देता है। प्राय: प्रत्येक समाज, राष्ट्र एवं ाकृतिक भूततत्त्वों में पर्यावरणिक अशान्ति इत्यादि अपनी चरम सीमा पर हैं। प्राकृतिक पदार्थों में भी असन्तुलन ानता जा रहा है, इस सम्बन्ध में वेदों में प्रारम्भ से ही अपनी चिन्ता से मानव को चेता दिया है। आज विश्व में ाशान्ति का कारण भी मानव ही है। इसलिए मानव के लिए वेद का सन्देश है कि यदि मानवीय सृष्टि को बचाकर ापने अस्तित्व को बचाकर रखना चाहते हो तो द्युलोक, पृथिवीलोक, अन्तरिक्षलोक, जल, ओषधियाँ, ानस्पतियाँ, देवतत्त्वों और ब्रह्म में भी शान्ति बनाए रखने में सतत प्रयत्न करो।[६१] जपुजी साहिब की अन्तिम ाणी, पृ०-८ पर श्री गुरुनानक देव का इस सम्बन्ध में बड़ा ही सारगर्भित सन्देश है, जहाँ उन्होंने इन सभी ाकृतिक दिव्य पदार्थों को आदरणीय शब्दों का प्रयोग कर इनमें शान्ति बनाए रखने की ओर संकेत दिया है, ान्होंने पवन, जल, पृथिवी को क्रमश: गुरु, पिता एवं माता बताया है, इस संसार के लिए जिनका कार्य मार्गदर्शन ारना, पृथिवी पर वनस्पतियाँ, ओषधियाँ, जीवों का अस्तित्व एवं जीवन बनाए रखना है। अत: इसमें सदा शान्ति ा बना रहना आवश्यक है, क्योंकि जीवों को मोक्ष तक पहुँचने के ये ही पवित्र सांसारिक साधन हैं।[६२] इसके ापाय में ऋग्वेद-५.५१.१२, ६.५१.१६, ७.३५.४, ७.३५.५, ७.३५.८, ७.३५.९-११, ७.९८.११, १०.१८.३, १०.३५.१ इत्यादि सैकड़ों मन्त्रों में प्राकृतिक देवतत्त्वों, जल, वायु, औषधि, वनस्पति, द्यावापृथिवी, अन्तरिक्ष, ासूर्य, अग्नि, नदियों, पर्वतों, पृथिवी, पर्जन्य को प्रदूषणमुक्त रखने तथा चेतन तत्त्वों यथा-प्राणियों के संरक्षण ामाता-पिता, आचार्य एवं पितरों के प्रति आदरभाव व सेवा शुश्रूषा इत्यादि द्वारा मानव को अपने उत्तरदायित्वों एवं ाकर्त्तव्यों द्वारा विश्वशान्ति स्थापित करना प्रत्येक मानव का कर्त्तव्य होना चाहिए। इसलिए वेद का ऋषि मानव के

---

५८ स इद्भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय। अस्मै भवति यामहूता उतापरीषु कृणुते सखायम्॥ ऋग्०१०.११७.३॥

५९ सर्वो वा एषोऽजग्धपाप्मा यस्यान्नं नाश्नन्ति॥ अथर्व०९.२.९॥

६० पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान् द्राघीयांसमनु पश्येत पन्थाम्॥ ऋग्० १०.११७.५॥

६१ द्यौ: शान्तिरन्तरिक्षं शान्ति: पृथिवी शान्तिराप: शान्तिरोषधय: शान्ति:। वनस्पतय: शान्तिर्विश्वे देवा शान्तिर्ब्रह्म शान्ति: सर्वं शान्ति शान्तिरेव शान्ति: सा मा शान्तरेधि॥ यजु०३६.१७॥

६२ पवणु गुरु पाणी पिता माता धरति महतु। दिवसु राति दुइ दाई दाइआ खेलै सगल जगतु॥ चंगिआईआ बुरि आईआ वाचै धरमु हदूरि। करमी आपो आपणी के नेड़ै के दूरि॥ जिनी नामु धिआइआ गए मसकति घालि। नानक ते मुख उजले केती छुटी नालि॥

लिए समस्त दिशाओं को अपना मित्र बनाने की प्रेरणा देता है।[६३]

आध्यात्मिक सन्देश- वेदों को सभी सत्यविद्याओं का आगार माना गया है, जिसमें अध्यात्मविषयक पर्याप्त सामग्री विद्यमान है। परवर्ती वाङ्मयों में प्रायः सभी विद्याओं का विकास वेद से ही माना गया है। अध्यात्मपरक विकास के अनेक सन्दर्भों ने बाद में विविध आयामों का स्पर्श किया है। जीवात्म-परमात्म, मन, प्राण, बुद्धिपरक तथा कर्मविपाकगत हजारों मन्त्र वेदों में विद्यमान हैं। ऋग्वेद १.१६४.३० में उल्लेख है कि आत्मा अमर है, जिसका विनाश मृत्यु भी नहीं कर सकती है। इस जगत् का सृष्टिकर्त्ता परमात्मा सर्वज्ञ और जीवात्मा अल्पज्ञ है, परन्तु वह जब परमात्मा को योग के माध्यम से जान लेता है तब उसी परमात्मा में अपने को समाया हुआ पाता है।[६४] उसी परमात्मा को जानकर मोक्ष को प्राप्त करना ही श्रेयस्कर है इसके अलावा अन्य कोई उपाय नहीं है।[६५] वेदों के बाद परवर्ती वाङ्मय विशेषकर लौकिक भाषागत वाणी में श्रीगुरुग्रन्थ साहिब ऐसा ग्रन्थ है, जो विशेषतः अध्यात्म पक्ष को ही प्रबलता से प्रतिपादित करता है। यह आत्मा, परमात्मा के स्वरूप का चिन्तन, मन व बुद्धि की सत्य से शुद्धि एवं अक्षर ओङ्कार का स्मरण, कीर्तन का प्रकृष्ट रूप से प्रतिपादक ग्रन्थ है। श्रीगुरुग्रन्थ साहिब में आत्मा-परमात्मा के मिलन का सुन्दर चित्रण सरस भाषा में मिलता है। जहाँ इनके मिलन की तुलना किरण की सूर्य तथा जल से जल की तरह कही है।[६६] वैदिक साहित्य में अध्यात्म परिप्रेक्ष्य में मोक्ष सम्बन्धी अनेक नामों का उल्लेख स्वाभाविक है, परन्तु श्रीगुरुग्रन्थ साहिब की वाणियों में प्रयुक्त मुक्तावस्था सम्बन्धी शब्दावली इस बात का ज्ञापक है कि श्रीगुरुग्रन्थ साहिब मानव के लिए पग-पग पर अध्यात्मपरक जीवन जीने की पराकाष्ठा का अहर्निश सन्देश दे रहा है। वहाँ कतिपय प्रमुख शब्दावली का प्रयोग इस प्रकार मिलता है।[६७]

मुकति= राम नाम बिन मुकति न होई...........॥ -श्रीगु०ग्र०सा०पृ०-५७८॥
मोख (मोक्ष)= नाउ सुणि मनु रहसीऐ, ता पाए मोख दुआर। श्रीगु०ग्र०सा०पृ०-२९०।
निहकेवलु= दरसनु देखि भई निहकेवलु......॥ - श्रीगु०ग्र०सा०पृ०-४१२॥
मोखंतरु=तउ नानक मोखंतरु पाए। - श्रीगु०ग्र०सा०पृ०-२९४॥
पारंगति=नानक सो पारंगति होइ॥ - श्रीगु०ग्र०सा०पृ०-५२॥
महासुख=मुकति महासुख गुर सबदु बीचारि। - श्रीगु०ग्र०सा०पृ०-५१४॥
परमपदु=हउमै जाद परमपदु पाइऐ॥ - श्रीगु०ग्र०सा०पृ०-१७६॥
चउथापद=तीनि समावै चउथै वासा॥ - श्रीगु०ग्र०सा०पृ०-४३४॥
अमरापद=अमरा पदु पाइआ आप गवाइआ......। - श्रीगु०ग्र०सा०पृ०-३८०॥

---

६३ सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु। अथर्व० १९.१५.६। असपत्नाः प्रदिशो मे भवन्तु न वै त्वा द्विष्मौ अभयं नो अस्तु॥ अथर्व० १९.१४.१॥

६४ य इत्तद्विदुस्त इमे सखासते। ऋग्०१.१६४.३९॥

६५ वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमस्तः परस्तात्। तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ यजु०३१.१८॥

६६ सूरज किरणि मिले जल का जलु हुआ राम। जोती जोति रली संपूरनु थीआ राम॥ श्रीगु०ग्र०सा०पृ०-८४६॥

६७ गुरु नानकवाणी में वैदिक धर्म दर्शन-डॉ० गुरमीत सिंह, पृ०-२४६.२४७

निरवाण पद= सबद रपै घरु पाइऐ निरवाणी पदु नीति। –श्रीगु०ग्र०सा०पृ०-७०॥

निरभउ पद= तउ निरभउ पदु पाइ पाईऐ। – श्रीगु०ग्र०सा०पृ०-३९८,

बंदिखलासी= बंदिखलासी भाणै होइ। – श्रीगु०ग्र०सा०पृ०-१४॥

बन्धन-मुकति= बन्धन काटि मुकति घर आणै॥ – श्रीगु०ग्र०सा०पृ०-४८२॥

तुरीयावसथा=तुरीयावसथा गुरुमुखि पाईऐ संत सभा की ओट लही॥ – श्रीगु०ग्र०सा०पृ०-२१४॥

परमानंदु=गुरमति पाए परमानंदु। – श्रीगु०ग्र०सा०पृ०-१४८॥

इस तरह संक्षेपत: उक्त सन्दर्भों से विवेचित है कि वेदों ने जहाँ प्राय: सभी परवर्ती वाङ्मय, संस्कृति एवं सभ्यता को प्रभावित किया है वहीं श्रीगुरुग्रन्थ साहिब ने जन जन तक अपनी सन्तवाणी द्वारा गहराई तक प्रभाव छोड़ा है। मानव जाति के सर्वाङ्गीण विकास के क्षेत्र में दोनों धर्मग्रन्थों का अनुपम योगदान एवं सन्देश दिव्यता को लिए हुए है, जो सदा सुतराम् अभिनव एवं ज्वलन्त बना रहेगा।

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २००९ अङ्क १२ (पृ०३१-३९)

महर्षि दयानन्द की दृष्टि में यानविद्या

डॉ० सत्यदेव निगमालंकार[1]

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के अन्तर्गत **'अथ नौ विमानादिविद्याविषयस्संक्षेपतः'** शीर्षक में विषय को बताने के लिये ऋग्वेद के ग्यारह मन्त्र उपस्थापित किये हैं। इन मन्त्रों में नौ विमानादि विद्या के लाभ, प्रकार और विधि का संक्षेपतः वर्णन है। यहाँ प्रथम, चतुर्थ और नवम मन्त्रान्तर्गत नौ विमानादि के लाभ हैं-

तुग्रो ह भुज्युमश्विनोदमेघे रयिं न कश्चिन्ममृवाँ अवाहाः।
तमूहथुर्नौभिरात्मन्वतीभिरन्तरिक्षप्रुद्भिरपोदकाभिः।।[2]
यमश्विना ददथुः श्वेतमश्वमघाश्वाय शश्वदित्स्वस्ति।
तद्वां दात्रं महि कीर्त्तेन्यं भूत पैद्वो वाजी सदमिद्धव्यो अर्यः।।[3]
आ नो नावा मतीनां यातं पाराय गन्तवे। युञ्जाथामश्विना रथम्।।[4]

मन्त्रों का भाव क्रमशः इस प्रकार है-

१-जो कोई सोना, चाँदी, तांबा, पीतल, लोहा और लकड़ी आदि पदार्थों से अनेक प्रकार की कलायुक्त नौकाओं को रचके, उनमें अग्नि वायु और जल आदि का यथावत् प्रयोग कर और पदार्थों को भर के, व्यापार के लिये समुद्र और नदी आदि में आवे-जावे, तो उसके द्रव्यादि पदार्थों की उन्नति होती है। जो कोई इस प्रकार से पुरुषार्थ करता है, वह पदार्थों की प्राप्ति और उनकी रक्षा सहित होकर दुःख से मरण को प्राप्त कभी नहीं होता। क्योंकि वह पुरुषार्थी होके आलसी नहीं रहता। वेदोक्त युक्ति से सिद्ध किये हुए नाव विमान और रथ अर्थात् जल आकाश और भूमि में चलनेवाली सवारियों का जाना-आना जिन पदार्थों से देश-देशान्तर में सुख से होता है।

२-जिन यानों में बैठ के समुद्र और अन्तरिक्ष में निरन्तर स्वस्ति अर्थात् नित्य सुख बढ़ता है। वैश्य लोग तथा शिल्पविद्या का स्वामी इनको अवश्य ग्रहण करें, क्योंकि इन यानों के विना द्वीपान्तर में जाना-आना कठिन है।

३-जैसे बुद्धिमान् मनुष्यों के बनाये नाव आदि यानों से समुद्र के पारवार जाने के लिये सुगमता होती है, वैसे ही वायु और अश्वि का योग यथावत् कर समुद्र के पार और वार में जाना-आना कर सब देश-देशान्तर में भी जाना-आना करे।

उपर्युक्त तीनों मन्त्रों का भाव यह है कि नाव, विमान और रथ के उपयोग से समय की बचत होती है, सुख प्राप्त होता है और व्यापार में वृद्धि होती है।

प्रथम मन्त्र के भावार्थ में **अन्तरिक्षप्रुद्भिः** का व्याख्यान करते हुए महर्षि दयानन्द सरस्वती ने लिखा है- **अन्तरिक्षं प्रति गन्तृभिर्विमानाख्ययानैः** अर्थात् जिनसे आकाश में जाने-आने की क्रिया सिद्ध होती है, जिसका नाम

१. डॉ० सत्यदेव निगमालंकार, रीडर-श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार
२ ऋ०अ०१,अ०८,व०८,म०३
३ ऋ०अ०१, अ० ८, व०९,म०१
४ ऋ०अ०१,अ०३,व०३४,म०१

विमान **'शब्द करके प्रसिद्ध है'**।

वस्तुतः अनेकशः प्रतिपक्षिगण यह कहते हैं कि स्वामी दयानन्द सरस्वती तथा उनके अनुयायी आर्यसमाजी इस संसार में भारतीय तथा अभारतीय वैज्ञानिकों के द्वारा अन्वेषित ज्ञान को देख तथा सुन-सुना कर वेद से भी उन्हीं बातों को दिखाने का प्रयत्न करते हैं। हमारी दृष्टि में उन प्रतिपक्षियों का यह आक्षेप सर्वथा निर्मूल है। महर्षि द्वारा परिभाषित विमान पद को ही लें। सन् १८७५ पूना-प्रवचन के पांचवें में महर्षि ने कहा-**'मैंने भी विमानरचना का पुस्तक देखा है'**॥

राजा भोज के समराङ्गण सूत्रधार ग्रन्थ जो ११वीं शती में लिखित है, में विमान रचने का संक्षिप्त वर्णन प्राप्त होता है। पाश्चात्त्य देशों में विमान की प्रथम उड़ान का समय १९०१ है, किन्तु महर्षि दयानन्द सरस्वती ने उपर्युक्त प्रथम मन्त्र के अन्तर्गत **'अन्तरिक्षप्रुद्भिः'** पद का भावार्थ सन् १८७६ में किया था। अतः प्रतिपक्षियों द्वारा उपर्युक्त आक्षेप सर्वथा निराधार है।

हमारे संस्कृत साहित्य में रामायण और महाभारतान्तर्गत विमान का वर्णन आता है। इन सबके अतिरिक्त **'भारद्वाज विमानशास्त्र'** नामकग्रन्थ स्वामी ब्रह्ममुनि जी महाराज ने प्रकाशित कर प्रतिपक्षियों को निरुत्तर किया है। विषयान्तर्गत दूसरा, तीसरा, पांचवा, छठा, सातवाँ, दशवाँ और ग्यारहवाँ मन्त्र विधि और प्रकार को ज्ञापित करते हैं-

तिस्रः क्षपस्त्रिरजहातिव्रजद्भिर्नासत्या भुज्युमूहथुः पतङ्गैः।
समुद्रस्य धन्वन्नार्द्रस्य पारे त्रिभी रथैः शतपद्भिः षळश्वैः॥[५]
अनारम्भणे तदवीरयेथामनास्थाने अग्रभणे समुद्रे।
यदश्विना ऊहथुर्भुज्यमस्तं शतारित्रां नावमातस्थिवांसम्॥[६]
त्रयः पवयो मधुवाहने रथे सोमस्य वेनामनु विश्व इद्विदुः।
त्रयः स्कम्भासः स्कभितास आरभे त्रिर्नक्तं याथस्त्रिर्वश्विना दिवा॥[७]
त्रिर्नो अश्विना यजता दिवेदिवे परित्रिधातु पृथिवीमशायतम्।
तिस्रो नासत्या रथ्या परावत आत्मेव वातः स्वसराणि गच्छतम्॥[८]
अरित्रं वां दिवस्पृथु तीर्थे सिन्धूनां रथः। धिया युयुज्र इन्दवः॥[९]
कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति।
त आ ववृत्रन्त्सदनादृतस्यादित् घृतेन पृथिवी व्युद्यते॥
द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नाभ्यानि क उतच्चिकेत।
तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः॥[१०]

---

५ ऋ०अ०१,अ०८,व०८,म०४,
६ ऋ०अ०१,अ०८,व०८,म०५
७ ऋ०अ०१,अ०३,व०४,म०२
८ ऋ०अ०१,अ०३,व०५,म०१
९ ऋ०अ०२,अ०३,व०३४,म०३
१० ऋ०अ०२,अ०३,व०२३,म०१,२

मन्त्रों में नौका, विमान और रथ के निर्माण की विधि और प्रकार को निम्न भावों में दर्शाया गया है-

१-द्वितीय मन्त्र में '**षडऽश्वैः**' का 'छः अश्व, अर्थात् उनमें अग्नि और जल के छः घर बनाने चाहियें। जैसे उन यानों से अनेक प्रकार के गमानागमन हो सकें, तथा '**पतङ्गैः**' का 'जिनसे तीन प्रकार के मार्गों में यथावत् गमन हो सकता है'-अर्थ महर्षि ने किया है।

'**अश्वि**' पद का अर्थ दिखाने हेतु महर्षि ने निरुक्तकार का वचन[11] उद्धृत कर व्याख्यान किया है-'वायु और अग्नि आदि का नाम अश्वि है, क्योंकि सब पदार्थों में धनञ्जयरूप करके वायु और विद्युत् रूप से अग्नि ये दोनों व्याप्त हो रहे हैं, तथा जल और अग्नि का नाम भी अश्वि है, क्योंकि अग्नि ज्योति से युक्त और जल रस से युक्त होके व्याप्त हो रहा है। '**अश्वैः**' अर्थात् वे वेगादि गुणों से भी युक्त है। जिन पुरुषों को विमान आदि सवारियों की सिद्धि की इच्छो हो, वे अग्नि, वायु और जल से उनको सिद्ध करें, यह और्णवाभ आचार्य का मत है, तथा कई एक ऋषियों का ऐसा मत है कि अग्नि की ज्वाला और पृथिवी का नाम अश्वि है। पृथिवी के विकार काष्ठ और लाहा आदि के कलायन्त्र चलाने से भी अनेक प्रकार के वेगादि गुण सवारियों या अन्य कारीगरियों में किये जाते हैं तथा कई एक विद्वानों का ऐसा मत है कि '**अहोरात्रौ**' अर्थात् दिन-रात्रि का नाम अश्वि है, क्योंकि इनसे भी सब पदार्थों के संयोग और वियोग होने के कारण से वेग उत्पन्न होते हैं अर्थात् जैसे शरीर और औषधि आदि में वृद्धि और क्षय होते हैं। इसी प्रकार कई एक शिल्पविद्या जाननेवाले विद्वानों का ऐसा भी मत है कि '**सूर्य्याचन्द्रमसौ**' सूर्य और चन्द्रमा के आकर्षणादि गुणों से जगत् के पृथिवी आदि पदार्थों में संयोग-वियोग, वृद्धि क्षय आदि श्रेष्ठ गुण उत्पन्न होते हैं, तथा '**जर्भरी**' और '**तुर्फरीतू**' ये दोनों पूर्वोक्त अश्वि के नाम हैं। जर्भरी अर्थात् विमान आदि सवारियों के धारण करने वाले और तुर्फरीतू अर्थात् कलायन्त्रों के हनन से वायु, अग्नि, जल और पृथिवी के युक्तपूर्वक प्रयोग से विमान आदि सवारियों का धारण पोषण और वेग होते हैं। जैसे घोड़े और चाबुक मारने से शीघ्र चलते हैं, वैसे ही कलाकौशल से धारण और वायु आदि को कलाओं करके प्रेरने से सब प्रकार की शिल्पविद्या सिद्ध होती है। '**उदन्यजे**' अर्थात् वायु, अग्नि और जल के प्रयोग से समुद्र में सुख करके गमन हो सकता है।'

इस प्रकार महर्षि ने निरुक्तकार के प्रमाण का व्याख्यान कर वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, दिन, रात्रि, सूर्य्य, चन्द्रमा, जर्भरी और तुर्फरीतू अश्वि नाम से माने हैं अर्थात् मन्त्र में आये अश्वि के छः घर विमानादि के संचालन हेतु बनाये जायें। यह विमानरचना की विधि है, जिनसे वह तीन प्रकार के मार्गों में यथावत् गमनागमन कर सकता है।

२-यानों को पुरुषार्थ से रच लेवें। जो यान वायु आदि अश्वि से रचा जाता है, वह उत्तम भोगों को प्राप्त कर देता है। उन नौकादि सवारियों में सैकडह अरित्र अर्थात् जल की थाह लेने, उनके थांभने और वायु आदि विघ्नों से रक्षा के लिये लोह आदि के लंगर भी रखने चाहिये, जिनसे जहाँ चाहे, वहाँ उन यानों को थांभे। इसी प्रकार उनमें सैकड़ह कलाबन्धन और थांभने के साधन रचने चाहिये॥

---

११ अथातो द्युस्थाना देवतास्तासामश्विनौ प्रथमागामिनौ भवतोऽश्विनौ यद् व्यश्नुवाते सर्वं, रसेनान्यो ज्योतिषाऽन्योऽश्वैरश्विनावित्यौर्णवाभः। तत्कावश्विनौ द्यावापृथिव्यावित्येकेऽहोरात्रावित्येके सूर्य्याचन्द्रमसावित्येके॥ निरु० अ०१२,खं १ तथाश्विनौ चापि भर्तारौ। जर्भरी भर्तारावित्यर्थः। तुर्फरीतू हन्तारौ। उदन्यजेव जेमना मदेरू।

३-यह यान किस प्रकार बनाना चाहिये कि जिसमें तीन पहियें हों जिनसे वह जल और पृथिवी के ऊपर चलाया जाय और मधुर वेगवाला हो, उसके सब अंग वज्र के समान दृढ़ हों, जिनमें कलायन्त्र भी दृढ़ हों, जिनसे शीघ्र गमन होवे। उसमें तीन-तीन थम्भे ऐसे बनाने चाहिये कि जिनके आधार पर सब कलायन्त्र लगे रहें, तथा वे थम्भे भी दूसरे काष्ठ वा लोहे के साथ लगे रहें। जो कि नाभि के समान मध्यकाष्ठ होता है, उसी में सब कलायन्त्र जुड़े रहते हैं। सब शिल्पी विद्वान् लोग ऐसे यानों को सिद्ध करना अवश्य जानें।

४-वे (सवारी) लोहा, तांबा, चांदी आदि तीन धातुओं से बनती हैं। और जैसे नगर वा ग्राम की गलियों में झटपट जाना-आना बनता है, वैसे दूर देश में भी उन सवारियों से शीघ्र-शीघ्र जाना आना होता है। इसी प्रकार विद्या के निमित्त पूर्वोक्त जो अश्वि हैं, उनसे बड़े-बड़े कठिन मार्ग में भी सहज से जाना आना करें। जैसे मन के वेग के समान शीघ्र गमन के लिये सवारियों से प्रतिदिन सुख से सब भूगोल के बीच जावें आवें।

५-जो पूर्वोक्त अरित्रयुक्त यान बनते हैं, वे जो रथ बड़े-बड़े समुद्रों के मध्य से भी पार पहुँचाने में श्रेष्ठ होते हैं, जो विस्तृत तथा आकाश तथा समुद्र में जाने-आने के लिये अत्यन्त उत्तम होते हैं, उन रथों में जो मनुष्य यन्त्र सिद्ध करते हैं वे सुखों को प्राप्त होते हैं। उन तीन प्रकार के यानों में वाष्पवेग के लिये एक जलाशय बना के उसमें जलसेचन करना चाहिये। जिससे वह अत्यन्त वेग से चलने वाला सिद्ध हो॥

६-अग्निजलयुक्त कृष्ण अर्थात् खैंचने वाला जो निश्चित यान है, उसके वेगादि गुणरूप, अच्छी प्रकार गमन कराने वाले, जो पूर्वोक्त अग्न्यादि अश्व हैं वे जलसेचनयुक्त वाष्प को प्राप्त होके उस काष्ठ लोहा आदि से बचे हुए विमान को आकाश में उड़ा चलते हैं, तब अर्थात् यथार्थ सुख के देने वाले होते हैं। जब जलकलाओं के द्वारा पृथिवी जल से युक्त की जाती है, तब उससे उत्तम-उत्तम भोग प्राप्त होते हैं॥

७-इन यानों के बाहर भी थम्भे रचने चाहिये, जिनमें सब कलायन्त्र लगाये जाये। उनमें एक चक्र बनाना चाहिये, जिसके घुमाने से सब कला घूमें। फिर उसके मध्य में तीन चक्र रचने चाहियें कि एक के चलाने से सब रुक जायें, दूसरे के चलने से आगे चलें और तीसरे के चलाने से पीछे चलें। उसमें तीन-तीन सौ बड़ी-बड़ी कीलें अर्थात् पेंच लगाने चाहियें कि जिनसे उनके सब अङ्ग जुड़ जायें और उनके निकालने से सब अलग-अलग हो जायें। उनमें ६० साठ कलायन्त्र रचने चाहिये, कई एक चलते रहें और कुछ बन्द रहें अर्थात् जब विमान को ऊपर चढ़ाना हो, तब भाफघर के ऊपर के मुख बन्द रखने चाहिये और जब ऊपर से नीचे उतारना हो तब ऊपर के मुख अनुमान से खोल देना चाहिये। ऐसे ही जब पूर्व को चलाना हो, तब पूर्व के बन्द करके पश्चिम के खोलने चाहिये और जो पश्चिम को चलाना हो तो पश्चिम के बन्द करके पूर्व के खोल देने चाहियें। इसी प्रकार उत्तर दक्षिण में भी जान लेना। उनमें किसी प्रकार की भूल न रहनी चाहिये'॥

अन्त में इस यान विद्या की विधि के विषय में महर्षि ने लिखा है-

'इस महागम्भीर शिल्पविद्या को सब साधारण लोग नहीं जान सकते, किन्तु जो महाविद्वान् हस्तक्रिया में चतुर और पुरुषार्थी लोग हैं, वे ही सिद्ध कर सकते हैं[१२]।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने न केवल ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के अन्तर्गत 'नौ विमानादिविद्या विषयः' की प्रस्तुति की है, अपितु वेदभाष्य में अनेकों मन्त्रों के अर्थ तथा भावार्थ करते समय उसकी स्थापना भी की है।

१२ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-नौ विमानादिविद्याविषयः॥

विमान का मुख्य साधन उन्होंने अग्नि को माना है-**'योऽग्निः स्वव्याप्त्या प्रजासु प्रविष्टस्तेन सर्वाणि वेगवन्ति यन्त्रकलाप्रचलितानि यानानि शीघ्रगामीनि विधेयानि'**॥[१३]

यह अग्नि बीस, तीस, चालीस पचास, साठ अथवा सत्तर घोड़ों से भी अधिक बलवान् है-**'यथा विंशतिः त्रिंशच्चत्वारिंशत्पञ्चाशत् षष्टिः सप्ततिश्च बलिष्ठा अश्वा युगपद्युक्त्या यानं सद्यो गमयन्ति ततोऽप्यधिकवेगेन वह्न्यादयो गमयन्ति'**।[१४]

अग्नि के द्वारा संचालित यानों में बैठकर नीचे, ऊपर तथा तिरछे स्थान में जाने की, कामनाओं की पूर्ति करने की और कार्यों की सिद्धि की चर्चा है[१५]। **'अश्वी'** का अर्थवेद वेदभाष्य में अग्नि और जल किया गया है। इन दोनों के वेग से चालित यान अत्यन्त दूर स्थान पर भी चला जाता है[१६]। अग्नियान से यात्रा करने पर कोई देश दूर नहीं रहता है।[१७] वस्तुतः यदि मनुष्य पेट की अग्नि को प्रदीप्त रखे और बाहर की अग्नि का सम्यक् प्रयोग करे, तो यह बाह्य अग्नि घोड़े के समान यानों को दूसरे देश में शीघ्र पहुँचा सकता है[१८]। आग्नेय यान मनुष्यों को धन आदि वस्तु प्रदान करा सकते हैं[१९]। कलायन्त्र आदि से युक्त यानों में भलीभाँति मन्थनपूर्वक सञ्चालित किया गया अग्नि सबसे अधिक वेग से यानों को गतियुक्त करता है[२०]। अग्नि-संचालित यान सुख का हेतु है[२१]। दूत शब्द का भौतिक अग्नि में अन्य स्थान तक द्रव्य तथा यान को पहुँचाना-यह अर्थ मानकर इस दूत पद का प्रयोग किया गया है। इस अग्नि से संचालित यान और यन्त्र युद्ध में रक्षा करते हैं। अग्नि आदि पदार्थों का यानों में संयोग करने से दिव्य पदार्थों का प्रकाश होता है तथा कार्यों की सिद्धि होती है[२२]। अग्नि ही यान का मुख्य साधक है। वस्तुतः कोई भी मनुष्य अग्नि जल आदि के द्वारा संचालित यान के विना भूमि, समुद्र और आकाश में सुखपूर्वक नहीं जा सकता है[२३]।

महर्षि दयानन्द ने स्पष्ट लिखा है कि भूमि जल और आकाश में जाने के लिये जो यान बनाये जाते हैं उनमें पशु नहीं जोड़े जाते हैं, अपितु वे यान जल-अग्नि और कलायन्त्र आदि के द्वारा ही चलते हैं-

यानि भूजलान्तरिक्षगमनार्थानि यानानि निर्मितानि भवन्ति, तत्र पशवो नो युज्यन्ते, किन्तु तानि जलाग्निकलायन्त्रादिभिरेव चलन्ति।।[२४]

---

१३ ऋ०२,४,२ का भावार्थ॥
१४ ऋ०२,१८,५ का भावार्थ॥
१५ ऋ० ३,४१,९,६७,२,६,१६,४३ दयानन्द-भाष्य।
१६ ऋ० १,२२,४ दयानन्द भाष्य।
१७ य० ३४,१९ दयानन्द भाष्य॥
१८ य० २९,१ दयानन्द भाष्य॥
१९ ऋ० ३,२६,३ दयानन्द-भाष्य॥
२० ऋ० ३,२३,१ दयानन्द-भाष्य
२१ ऋ १,१२,१ दयानन्द-भाष्य
२२ ऋ० १,२८,८,१,१३,१,१,१४,[illegible] का दयानन्द भाष्य
२३ ऋ० १७,४,८,१,१८३,६,१,४६,८ का दयानन्द भाष्य

एवं महर्षि ने विमान का मुख्य साधन अग्नि को बताया है।

विमान के प्रयोजन:-

महर्षि दयानन्द ने विमान के विविध प्रयोजन दर्शाये हैं। जिनमें विमान से सुख-प्राप्ति, ऐश्वर्य-उपलब्धि, कामनाओं की पूर्ति, दरिद्रता का नाश, धनोपलब्धि, समाज में सत्कार, शोभान्वित होना, श्रीमान् बनाना और ठगों से बचाव आदि प्रमुख हैं। महर्षि ने वेदभाष्य में स्थान-स्थान पर इन प्रयोजनों का उल्लेख करते हुए लिखा-

जो विमान से हंस के समान आकाश में आ जाकर विरुद्ध आचरण को त्यागकर सत्य की कामना करते हैं, वे बहुत सुख पाते हैं। जो शिल्पविद्या के अध्यापक तथा विद्यार्थी लोग, अग्नि जल आदि से संयुक्त और काष्ठ आदि से बने हुए यानों को चलाकर उनसे दूसरे देश में जाकर धन की वृद्धि करते हैं, वे निरन्तर सुख पाते हैं। मनुष्यों को ऐसा प्रयत्न करना चाहिये, जिससे वे पदार्थविद्या के द्वारा प्रशंसनीय यान बना सकें। ऐसा किये विना समस्त सुख नहीं हो सकते हैं। हे मनुष्यो! आप लोग जैसे पतिव्रता पत्नियाँ पति आदि को सुखी करती हैं, वैसे ही वायु के समान वेगवाले रथ पर धार्मिक जनों और विद्वान् को बिठाकर सबको सुखी करें। जब तक मनुष्य पृथिवी, जल तथा अग्नि आदि पदार्थों के गुणज्ञान और उनसे उपकारग्रहण के द्वारा पृथिवी जल तथा आकाश में जाने के लिये यानों का निर्माण नहीं करते हैं, तब तक उनके राज्य और सम्पत्ति दृढ़ और उत्तम सुख देने वाले नहीं होते हैं। मनुष्यों को, सर्वत्र जाने-आने के लिये सरल शुद्ध मार्गों का निर्माण करके और उनमें विमान आदि यानों से भलीभाँति यात्रा करके, अनेक प्रकार के सुख प्राप्त करने चाहियें। विमान आदि यानों के और विद्वानों की संगति के विना किसी को सुख होना सम्भव नहीं है। इसलिये विद्वानों की सभा बनाकर और पदार्थों का ज्ञान तथा उपयोग करके सबको आनन्दित होना चाहिये। जो मनुष्य पूर्णविद्या वालों के साथ संगति करके पदार्थ विद्या ग्रहण करते हैं, वे विमान आदि बनाकर मेघसमूह में अथवा उससे ऊपर तथा समुद्रों में और नदियों में सुखपूर्वक विचरण कर सकते हैं। हे मनुष्यो! तुम अनेक प्रकार के अनेक कलाचक्रों को और पशु तथा अश्व द्वारा खींचे जाने से रहित, किन्तु जल द्वारा संचालित विमान आदि यानों को बनाकर भूमि पर जल में और आकाश में जा-आकर तथा ऐश्वर्य प्राप्त करके पुष्ट सुख वाले बनो[२५]।

विद्युत् यानों से सांसारिक तथा पारलौकिक सुखों की वृद्धि होती है तथा अत्यन्त सुखों की प्राप्ति की चर्चा भी महर्षि ने की है[२६]। साथ ही अतिविशाल नौकाओं के द्वारा वायु के तुल्य वेग से व्यवहार के लिये समुद्र के आर-पार जा-आकर सम्पत्ति की वृद्धि से सुख-प्राप्ति की चर्चा भी उन्होंने दिखायी है[२७]।

विमान यान से ऐश्वर्य की प्राप्ति का उल्लेख महर्षि दयानन्द ने अनेकत्र किया है। उनका मानना है कि जो लोग शीघ्र पहुँचाने वाले, पक्षी के समान आकाश में जाने के साधन रूप और अङ्गों तथा उपाङ्गों सहित भलीभाँति निर्मित यान को सिद्ध नहीं करते हैं, वे कैसे ऐश्वर्य प्राप्त कर सकते है[२८] ? महर्षि ने न केवल अपने ही लिये अपितु

---

२५ ऋ० ५,७८,१,२,३७,५,१,१५७,३,५,४१,६,१६,२,१,४६,११,१,५१,१२,४,३४,८,४,३६,१,६,६२,६,६,६३,७ दयानन्द भाष्य।

२६ ऋ० १,२३,११,३,१४,१ का दयानन्द भाष्य।

२७ ऋ० १,१६७,२ दयानन्द भाष्य

२८ ऋ० १,१८,३१ दयानन्द भाष्य

कुटुम्ब और देश में पूर्ण ऐश्वर्य उत्पन्न करने की चर्चा यान के द्वारा ही बतायी है[२९]। उन्होंने स्पष्ट उल्लेख किया है कि विद्युत् अग्नि तथा जल आदि रूपी अश्वों से युक्त यान को रचकर, समस्त लोकों के आधार आकाश में सुखपूर्वक गमनागमन करने से सम्पूर्ण ऐश्वर्य प्राप्त किया जा सकता है[३०]। अग्नि को यान आदि कार्यों में सम्यक् प्रयोग करने से ही ऐश्वर्य की प्राप्ति सम्भव है[३१]।

ये यान कामनाओं की पूर्ति करके धन आदि प्रदान कराकर दरिद्रता का नाश करते हैं। महर्षि दयानन्द ने बहुश: मन्त्रों में इस प्रकार की चर्चा की है। उन्होंने लिखा-

ये शिल्पिनो मनुष्या अग्निजलादीन् पदार्थान् सुकलायुक्तेषु यानेषु संयुज्य चालयन्ति, ते दारिद्र्यं विमुच्य धनधान्यमाप्नुवन्ति। हे मनुष्या:! यथाऽध्यापकोपदेशका: शिल्पिन उत्तमानि यानानि निर्मिमते, तथैव सुखसाधनानि यूयं सृजत। मनुष्यैर्यानि भूजलान्तरिक्षगमकानि सुशोभितानि सूर्यवत्प्रकाशितानि यानानि निर्मातव्यानि, तैरभीष्टा: कामा: साधनीया:[३२]॥ ये विद्या प्रकाशम्प्राप्य विमानादीनि यानानि निर्माय तत्राऽग्न्यादिकं प्रयुज्यान्तरिक्षे गच्छन्ति ते प्रियाचारान् सखीन् प्राप्येव दारिद्र्यमुच्छिन्दन्ति[३३]। हे मनुष्या:! यथा पक्षिणो भूमेत्यायाऽन्तरिक्षमार्गेण गत्वाऽऽगत्य स्वप्रयोजनं साध्नुवन्ति, तथैव देशदेशान्तरं विमानादिना गत्वा स्वप्रयोजनं साध्नुवन्तु[३४]। यदा मनुष्या विद्याहस्तक्रिययोर्मध्ये परमप्रयत्नेन प्रादुर्भूत्वा विमानादीनि यानानि विधाय गतानुगतं शीघ्रं कुर्वन्ति, तदा तेषां श्री: सुलभा: भवति। ये क्रियाकौशलेन रचितैर्विमानादियानैरश्वादिभिश्च शीघ्रं गतिमन्त: सन्ति ते कं कं द्वीपं देशं वाऽगत्वा राज्याय धनं च नाप्नुवन्ति, किन्तु सर्वत्र गत्वा सर्वमाप्नुवन्ति[३५]।

इसी प्रकार अनेक मन्त्रों के भावार्थ में महर्षि ने विमानादि यान की सिद्धि से कभी क्षीण न होने वाले धन की चर्चा की है[३६]। विद्युत् आदि पदार्थों से विमान आदि यानों को चलाकर इच्छाओं की पूर्ति करना बताया है[३७]। अश्वतरी नामक नौकाओं द्वारा धनधान्यों को प्राप्त करना[३८] तथा वाष्प यानों से कार्यसिद्धि और सुख की वृद्धि के उपाय भी दर्शाये है[३९]। महर्षि दयानन्द ने विमानादि यानों के द्वारा समाज में सत्कार और शोभावृद्धि की चर्चा की है। वही मनुष्य **'श्रीमान्'** पदवाच्य है जो विमानादि यानों का उपयोग करता है-

ये मनुष्या: सूर्यवदात्मप्रकाशा न्यायाधीशवद् व्यवहर्त्तारो विमानादियानयुक्ता: सन्ति, तान् सततं सत्कुरुत। हे राजन्! ये मनुष्या: शिल्पविद्याया विमानादिकं निर्मायान्तरिक्षादिषु गत्वाऽऽगत्य सर्वेषां

---

२९ ऋ० ३,५८,९ दयानन्द भाष्य
३० ऋ० १,१६४,२ दयानन्द भाष्य
३१ ऋ० २,२,१ दयानन्द भाष्य
३२ ऋ० ३,३५,३;५,७४,८; यजु० ३३,७३ दयानन्द का भावार्थ
३३ ऋ० ३,४३,१; दयानन्द का भावार्थ
३४ ऋ० ४,२६,६ दयानन्द का भावार्थ
३५ ऋ० ११,१२;१६,३१; दयानन्द का भावार्थ
३६ ऋ० १,९२,१९ दयानन्द का भावार्थ
३७ ऋ० ६,६०,१२ दयानन्द का भावार्थ
३८ ऋ० १,८०,८ दयानन्द का भावार्थ
३९ ऋ० २९,२; दयानन्द का भावार्थ

सुखयैश्वर्यमाश्रयन्ति, ते जगद्विभूषका नौकादिकं निर्माय श्रीमन्तो भवन्तु। ये मनुष्याः सूर्यजलादिविद्या विज्ञाय नावादिकं चालयेयुस्ते श्रीमन्तो जायन्ते[४०]।

यानों की गति की चर्चा करते हुए महर्षि दयानन्द ने लिखा कि जब मनुष्य ऐसे यानों में बैठकर उन्हें चलाते हैं तब तीन दिनरात में सुखपूर्वक समुद्र के पार और ग्यारह दिनरात में भूगोल के चारों और जा सकते हैं- **यदा मनुष्या ईदृशेषु स्थित्वा चालयन्ति, तदा त्रिभिरहोरात्रैः सुखेन समुद्रपारमेकादशैरहोरात्रैर्भूगोलस्याभितो गन्तुं शक्नुवन्ति।।**[४१]

एक मन्त्र ऋ० १,८५,४ के भावार्थ में उन्होंने मन के समान वेगवान् विमानादि यानों से उपकार करने की चर्चा भी की है। **'पण्डित'** पद वाच्य उन्होंने उन्हें माना जो विमान आदि यान बनाकर भूगोल में चारों ओर भ्रमण कराते हैं-**एव पण्डिता ये विमानादीनि यानानि निर्मायभूगोलेऽभितो भ्रामयन्ति**[४२]।

जैसे सिर सबसे उत्तम अङ्ग है वैसे ही विमान को सर्वोत्तम यान माना गया है[४३]। इस विमान से मेघसमूह के ऊपर जाया जाता है[४४]। यानों का प्रकार सैंकड़ों तरह का है[४५]। स्तुति के योग्य मनुष्य वे कहलाये गये हैं जो अग्नि आदि अनेक पदार्थों से सिद्ध किये गये यन्त्रों के द्वारा सञ्चालित यानों में बैठकर जाते-आते हैं[४६]। यान की यात्रा ठगों से बचाती है[४७], दुःख-दरिद्रता का नाश कराती है[४८], अभीष्ट पदार्थ देती है[४९], हजारों कोसों के मार्ग को शीघ्रता से पार कराती है[५०], विद्या और धर्म को उन्नति में सहायक है,[५१] तथा आनन्दरस का उपभोग कराती है[५२]। विमान आदि यानों में बैठकर और उन्हें उन्मुक्त करके पत्नी सहित घर पर आना और अन्य देश में जाने के आदेश महर्षि ने दिया है[५३]।

वस्तुतः वेदों में भूसंचारी, जलसंचारी और अन्तरिक्षसंचारी यानों का भूरिशः वर्णन है, जो यान बैल, अश्व, यन्त्र, आदि से चलते हैं। एक स्थान पर विना घोड़े के चलने वाले तीन पहियों वाला यान का वर्णन भी है,

---

४० ऋ० ५,५७,४;५,५९,१;४,३०,१२;५,४५,१०; दयानन्द भाष्य
४१ ऋ० १,३४,११;
४२ ऋ० ५,१०,६; दयानन्द भाष्य
४३ य० २९,१७ दयानन्द भाष्य
४४ ऋ० ६,६२,११ दयानन्द भाष्य
४५ ऋ० २,१८,६ दयानन्द भाष्य
४६ ऋ० २,१८,४ दयानन्द भाष्य
४७ ऋ० ६,४७,९ दयानन्द भाष्य
४८ ऋ० १,२०,३ दयानन्द भाष्य
४९ ऋ० ५,६३,५ दयानन्द भाष्य
५० य० ३३,७ दयानन्द भाष्य
५१ ऋ० ३,३५,४ दयानन्द भाष्य
५२ ऋ० १,१०८,१ दयानन्द भाष्य
५३ ऋ० ३,५३,६ दयानन्द भाष्य

जिसके लगाम भी नहीं है और वह बहुत तेज दौड़ता है[५४]। हमारी दृष्टि में वह थ्रीह्वीलर के आकार-प्रकार का हो सकता है। सोने के सींग और लोहे के पैर वाले अश्वाकृति यान की चर्चा यजुर्वेद २९.२० में गयी है। अग्नि से चलने वाली रेलगाड़ी का वर्णन क्या प्रस्तुत मन्त्र में नहीं है-

प्रत्यस्य श्रेणयो ददृश्र एकं नियानं बहवो रथासः।
बाहू यदग्ने अनुमर्मृजानो न्यङ्ङुत्तानामन्वेषि भूमिम्।।[५५]

मन्त्र का अर्थ एवं सम्भव है-दर्शक कह रहा है-अग्नि के रथों की श्रेणियां दिखाई दे रही हैं। नियान (इञ्जन) एक है, किन्तु रथ (डिब्बे) बहुत से हैं। हे अग्नि! तू इञ्जन की दो बाहुओं को यथाक्रम से कभी आगे तथा कभी पीछे करता हुआ समतल भूमि पर दौड़ता है।

वस्तुतः वेदों में तो युद्धयान, भारवाहक यान, अश्वियुगल के यान, इन्द्रयान, तथा अग्नियान की विभिन्न रूपों में चर्चा है। महर्षि दयानन्द ने वेदभाष्य में स्थान-स्थान पर इन सब का विभिन्न रूपों में वर्णन किया है। महर्षि ने न केवल वेदभाष्य के अन्तर्गत अपितु स्वरचित अन्य ग्रन्थों में भी विमान की चर्चा करते हुए लिखा-

'उपरिचर नामक राजा था। वह सदा भूमि को न स्पर्श करता हुआ हवा में ही फिरता रहता था। पहले के जो लोग लड़ाइयाँ लड़ते थे, उन्हें विमान रचने की विद्या भली प्रकार विदित थी। मैंने भी एक विमान रचना का पुस्तक देखा है। भाई, उस समय दरिद्रों के घर में भी विमान थे। भला सोचें कि उस व्यवस्था के सम्मुख रेलगाड़ी की प्रतिष्ठा क्या हो सकती है'[५६]।

वहीं पर उन्होंने चर्चा कि कलाकौशल की व्यवस्था करनेवाला विश्वकर्मा नामक एक पुरुष हुआ। विश्वकर्मा परमेश्वर का भी नाम है और एक शिल्पकार का भी था। अस्तु, विश्वकर्मा ने विमान की युक्ति निकाली फिर उस विमान में बैठकर आर्य लोग इधर-उधर भ्रमण करने लगे'।

अन्त में महर्षि दयानन्द-रचित सत्यार्थ प्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास में वर्णित यानचर्चा विषयक स्वर्णाक्षरों का वर्णन कर यह लेख समाप्त करता हूँ। वे लिखते हैं-

घट्यैकया क्रोशदशैकमश्वः सुकृत्रिमो गच्छति चारुगत्या।
वायुं ददाति व्यजनं सुपुष्कलं विना मनुष्येण चलत्यजस्रम्।। भोजप्रबन्ध

राजा भोज के राज्य में और उसके समीप ऐसे शिल्पी थे जिन्होंने घोड़े के आकार का एक यान यन्त्रकलायुक्त बनाया था, जो एक कच्ची घड़ी में ग्यारह कोश और एक घंटे में साढ़े सत्ताईस कोश जाता था। वह भूमि और अन्तरिक्ष में भी चलता था और दूसरा पंखा ऐसा बनाया था जो विना मनुष्य के चलाये कलायन्त्र के बल से नित्य चला करता था और पुष्कल वायु देता था। जो ये दोनों पदार्थ आज तक बने रहते, तो यूरोपियन इतने अभिमान में न चढ़ जाते'।।

---

५४ ऋ० ४,३६,१ दयानन्द भाष्य
५५ ऋ० १०,१४२,५
५६ पत्र-पत्रक सं० ...

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २००९ अङ्क १२ (पृ०४०-४४)

वेदों में सूर्य का महत्त्व एवं सूर्य की रचना और उसमें विद्यमान तत्त्व

डॉ. नीरज शास्त्री[1]

वेदों में सूर्य विषयक मन्त्रों का अध्ययन करने पर महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक जानकारी प्राप्त होती है और सृष्टि में सूर्य की जो प्रमुख महत्ता है, उसका भी ज्ञान होता है। अब हम सूर्य की महत्ता का विज्ञान की कसौटी पर विवेचन करते हैं। वेद में मन्त्र आया है कि किरण समस्त जगत् के प्रयोजन के देखने अथवा जानने के लिये जो उत्पन्न हुए सब पदार्थों को जानता व मूर्तिमान् पदार्थों को प्राप्त होता है, उस दिव्य गुण सम्पन्न सूर्य को तर्क के साथ प्राप्त कराते हैं।[2] इस मन्त्र से यह प्रतीत होता है कि प्राणियों के लिये सूर्य की रश्मियाँ अपने प्रकाश के माध्यम से भौतिक और रासायनिक महत्त्व के साथ प्रभावित और प्रकाशित करती हैं। यह प्रभाव प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष जीवन और ऊर्जा शक्ति (Energy power) प्रदान करता है। इसी अनुक्रम में अगले मन्त्र की भावना है कि-

जो सविता अर्थात् सूर्य सत्य-क्रिया से नेत्र आदि के समान विद्वानों, मित्र व प्राण श्रेष्ठ पुरुष व उदान अग्नि के अद्भुत बलवत्तर सेना के तुल्य प्रसिद्ध प्रभाव के दिखलाने वाले गुणों को अच्छे प्रकार प्राप्त होता है और (जगत् के) जंगम प्राणी और स्थावर संसारी पदार्थों का आत्मा के तुल्य होकर आकाश तथा भूमि और अन्तरिक्ष को सब प्रकार से व्याप्त होने के समान है।[3]

अर्थात् भौतिक जगत् के सन्दर्भ में कहा कि **'सूर्य संसार की आत्मा है।'** सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का भौतिक विकास सूर्य के ऊपर ही नर्भर करता है। यदि सूर्य की शक्ति न होती तो जीव जन्तुओं और वनस्पतियों की सृष्टि तो दूर की बात है, सम्पूर्ण पृथ्वी के अस्तित्त्व पर ही प्रश्न चिह्न लग जाता है अर्थात् पेड़ पौधों के अंकुरण, पौधे और पौधों का वानस्पतिक विकास फूलने फलने की स्थिति नहीं होती। रज, वीर्य से अण्डों का निर्माण आदि कुछ भी क्रियायें न होने से सृष्टिक्रम ही न होता अर्थात् यह जड़ प्रकृति ही सही किन्तु इस भौतिक व्यवस्था में जड़ सूर्य के न होने से प्रकृति आत्मा विहीन होती, जैसे विना आत्मा के शरीर हो जाता है। पृथ्वी की भौगोलिक स्थिति चौबीस घण्टे अपनी कीली पर घूमती रहती है, जिसके परिणाम स्वरूप पृथ्वी का जो भाग सूर्य की किरणों के साम्नने आता है, वह दिन होता है और जो भाग सामने नहीं होता, वहाँ रात होती है। यह भी सिद्ध है कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाती है। यह चक्कर एक वर्ष में पूर्ण होता है। जिसके अनुसार छः ऋतुएँ सृष्टि के अवयवों में (जन्तु और वनस्पतियों में) रसों का परिपाक सुनिश्चित करती है। वानस्पतिक और शारीरिक शक्तियों का विकास और उसके अन्दर जीवनीय शक्ति सूर्य से ही आती है। इसलिये सूर्य पिता के तुल्य जीवन दाता है और पृथ्वी माता के समान जन्मदात्री और पालन करने वाली है। तभी तो वेद ने कहा-**'माता भूमिः पुत्रोऽहं**

---

१. डॉ नीरज शास्त्री, प्रोजेक्ट फैलो, श्रद्धानन्द वैदिक शोधसंस्थान, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.

२. यजु० ७.४१ उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्यं स्वाहा॥

३. यजु० ७.४२ चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः। आप्रा द्यावापृथिवीऽन्तरिक्ष छं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा॥

पृथिव्याः'[४] भौतिक जगत् के वानस्पतिक और जन्तुओं के शारीरिक रसों का परिपाक सूर्य की ऊर्जा से ही होता है।

शक्तियों का विकास यथा- अङ्गों का परिपुष्ट होना, उत्सर्जि और स्वेदन क्रियाओं का होना आदि सूर्य की महनीय शक्ति पर निर्भर करता है। यह क्रम सृष्टि के जड़-चेतन जीवधारियों के जीवन चर्चा की प्रक्रियायें हैं इन्हीं से जीवन को गति मिलती है। सूर्य की प्रचण्ड किरणें पृथ्वी से करोड़ों मील दूर हैं, फिर भी उन किरणों में रोग नाशक शक्ति है। किरणों की उपस्थिति में संक्रामक रोग भी नष्ट हो जाते हैं। परिश्रम और पुरुषार्थ करने वाले जीवजन्तुओं के अन्दर जठराग्नि को प्रज्ज्वलित करने की क्षमता उसी से प्राप्त होती है और जठराग्नि के तीव्र प्रज्ज्वलित होने पर श्रम करने के बाद तीव्र भूख लगती है। तत्पश्चात् प्रकृति से प्राप्त भोज्य पदार्थ यथा- फल, फूल, मूल, सब्जी, तना (कन्दादि) अन्न आदि या इनसे बने पदार्थों का सेवन करते हैं। वनस्पतियाँ सूर्य की सौर-ऊर्जा को ही भोज्य पदार्थों में बदलती हैं। वेद की इस सत्यता को यहाँ पर आधुनिक विज्ञान प्रमाणित करता है कि हरे पौधे अपने अन्दर के हरे पदार्थ से जीवों द्वारा उत्सर्जित निश्वसन क्रिया **'कार्बनडाईऑक्साईड'** और प्राकृतिक जल से सूर्य के प्रकाश की ऊर्जा की उपस्थिति में कार्बोहाइड्रेट प्रोटीन और वसा का निर्माण करते हैं और इस क्रिया में पुनः वायुमण्डल को शुद्ध करने वाली प्राणवायु अर्थात् आक्सीजनको अवमुक्त करते हैं। जिससे आक्सीजन प्राणियों के उत्तम स्वास्थ्य के काम श्वसन-क्रिया के माध्यम से आती है। इस वैज्ञानिक क्रिया को आधुनिक वनस्पति-शास्त्र और रसायन-विज्ञान में प्रकाश संश्लेषण की क्रिया कहा है। प्रकाश संश्लेषण की क्रिया पर निम्नलिखित वैज्ञानिकों ने अपने-अपने प्रयोगात्मक अनुसन्धान किये हैं-

वॉन हेल्मोण्ट, जोसफ प्रिस्टले, जॉन इन्जेन- हौज, जीन सिनेबियर, एन्टोनी लैवोइजियर, निकोलस डे-सोस्यूर, हुबेर मिचेल तथा डिजेनहोफर। इन वैज्ञानिकों को इस क्षेत्र में विशेष कार्य करने के सन्दर्भ में सन् १९८८ का नोबेल पुरुस्कार भी दिया जा चुका है।[५]

ऋग्वेद प्रकाश संश्लेषण की क्रिया सिद्धान्त को एक मन्त्र के माध्यम से स्पष्ट करता है, जिसका भाव है- कल्याण दात्री सूर्य की रश्मियों से पृथिवी में अन्न एवं पौष्टिक शक्ति (समस्त प्रकार के भोज्य पदार्थ सब्जी फल आदि) उपजती हैं। अतः अश्व इत्यादि प्राणियों में भी उनसे (पौष्टिक अन्नादि) उपयोगी बल क्रम सृष्टि का सृजन होता है। औषधियों व अन्न, शाक, फल, फूल को भी इन्हीं रश्मियों से शक्ति मिलती है। ये ही सूर्य को आकाश में दीप्त करती हैं। रोग निवारण आदि कर्मों में भी ये प्रभावी ढंग से उपयोगी सिद्ध होती हैं।[६]

इस मन्त्र में वर्णित सूर्य रश्मियों से औषधियों और वनस्पतियों को जो शक्ति मिलती है, वह प्रकृति में दिखाई पड़ने वाला हरा रंग महत्त्वपूर्ण है, इसको आधुनिक विज्ञान सिद्ध करता है कि हरा रंग ही क्यों दिखाई देता है। इसको वैज्ञानिक भाषा में आधुनिक विज्ञान प्रकाश संश्लेषण में प्रकाश संश्लेषी वर्णकों का कार्य बताता है। (Role of Photosynthetic Pigments in Photosynthesis) पत्ती पर पड़ने वाले सूर्य किरण से कुछ तरंग-दैर्घ्य वाली किरणें ही अवशोषित होती हैं और प्रकाश संश्लेषण के काम आती हैं। शेष किरणें पत्ती से

---

४ अ०वे० १२.१.१२

५ वनस्पति विज्ञान, डॉ. एम० पी० कौशिक, संस्करण ३० वाँ, पृष्ठ १९६४-१९६६

६ ऋक्० १०.६६.११ ब्रह्म गामश्वं जनयन्त औषधीर्वनस्पतीन्पृथिवीं पर्वताँ अपः। सूर्यं दिवि रोहयन्तः सुदानव आर्या व्रता विसृजन्तो अधिक्षमि॥

परावर्तित हो जाती हैं या इससे होकर बाहर निकल जाती हैं। प्रकाश अवशोषित करने वाले अणुओं को प्रकाश संश्लेषी वर्णक (Photosynthetic Pigment) कहते हैं। ये ग्राना (Granna) की झिल्लियों में पाये जाते हैं और मुख्यत: नीला, बैगनी, लाल, नारंगी किरणों का अवशोषण कर लेते हैं। हरे रंग की प्रकाश किरणें परावर्तित हो जाती हैं, इसी से पत्तियाँ हरे रंग की दिखाई पड़ती हैं। अत: सिद्ध होता है, फूल वाले पौधों में रंग बिरंगे फूल सूर्य की रश्मियों से रंगों का अपनी-अपनी झिल्लियों की प्रकृति के अनुसार अवशोषण कर फूलों में रंगों को परावर्तित करती हैं। जिस रंग को परावर्तित करती हैं, वही फूल अपने प्राकृतिक रंग को प्रदर्शित करता है।[७] शारीरिक स्वास्थ्य अर्थात् चिकित्सा की दृष्टि से भी सूर्य का महत्त्व कम नहीं है, रोगनिवृत्ति के लिये भी सूर्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वेदों में सूर्य किरणों से चिकित्सा का विस्तार से वर्णन आता है। वेद के जिन मन्त्रों के आधार पर सूर्य-चिकित्सा का प्रतिपादन सिद्धान्तत: प्रमाणिक सिद्ध होता है। वह प्रतिपादित सिद्धान्त निम्नलिखित ऋचाओं में बातये गये हैं-

१. सूर्य रोगों को दूर करता है।[८]

२. सूर्य रोगों को दूर करने के साथ ही बुद्धि को शुद्ध करता है और ज्ञान की वृद्धि करता है।[९]

३. उदय होता हुआ सूर्य मृत्यु के सभी कारणों को नष्ट करता है।[१०]

उपर्युक्त मन्त्रों के आधार पर ही इस चिकित्सा प्रणाली का प्रतिपादन किया गया, यह चिकित्सा प्रणाली प्रसिद्ध है। उन प्रसिद्ध प्रचलित नामों यथा- सूर्य-चिकित्सा, सूर्य-किरण चिकित्सा, रंग-चिकित्सा अँग्रेजी में इसे Colour therapy, Chromo therapy, Chromopathy कहते हैं। इस चिकित्सा पद्धति में सूर्य की किरणों का शरीर पर सीधे प्रयोग अथवा सूर्य की किरणों से प्रभावित जल, चीनी, तेल, घी, ग्लिसरीन आदि का प्रयोग किया जाता है। पाश्चात्य देशों में इस पद्धति का प्रचलन चिकित्सा जगत् में पहली बार जनरल पाली जान होन (Poly john Hone) ने किया, इसके बाद डॉ. पेन स्काट (Dr.Panne Escot), डॉ. राबर्ट बोहलेण्ड (Dr. Robert Bohland) और डॉ. एडबिन बेबिट (Dr. Addwin Babiet) ने किया। शनै:-शनै: यह चिकित्सा पद्धति फ्रांस आदि देशों में भी प्रचलित होकर फैल गयी। इस चिकित्सा पद्धति पर अब प्रचुर मात्रा में विदेशी और स्वदेशी साहित्य उपलब्ध है और बहुत से लोग इस पद्धति का लाभ भी उठा रहे हैं। भारत में विशेष रूप से हिन्दी में इस चिकित्सा सिद्धान्त के प्रचार और उन्नयन का श्रेय डॉ. द्वारिका नाथ नारंग और श्री गोविन्द बापू जी टोंगू को हैं। हमारे पृथ्वी के जन-जीवन के लिये सूर्य और उसकी शक्ति आत्मा के समान है, जिससे जन-जीवन और वनस्पतियाँ स्वस्थ रहते हैं। इस प्रकार वेदों के आधार पर सूर्य की महत्ता का वैज्ञानिक महत्त्व सिद्ध होता है।

सूर्य की रचना

वेद प्रतिपादित विचार धारा यह स्पष्ट करती है कि सूर्य जैसे प्रकाशमान ऊर्जास्त्रोत की रचना भी सृष्टि के आरम्भ में वैसे ही हुई जैसे की पूर्वकल्पों में हुई थी और समस्त लोक-लोकान्तर भी सृष्टि के आदि काल में उसी

---

७ वनस्पति विज्ञान, डॉ. एम० पी० कौशिक, संस्करण ३१ वाँ, पृष्ठ ७६९

८ ऋक्० १०.१००.८ अपामीवां सविता साविषत्।

९ ऋक्० ८.१८.१० अप सेधत दुर्मतिं आदित्यास:॥

१० अथर्व० १७.१.३० उद्यन सूर्यो नुदतां मृत्युपाशात्।

व्यवस्था और नियमों के आधार पर बने। यह सृष्टि रचना उस परमपिता परमात्मा के ज्ञानमय, सत्यमय व्यवहार से हुई और अतिप्रज्वलित तप से उसके नियम से ही प्रलय रात्री हुई। उस प्रलय के पश्चात् जाज्वल्यमान (प्रकाशमान) नक्षत्र (सूर्यादि) अन्तरिक्ष जलों से परिपूर्ण पृथ्वी समुद्र आदि प्रकट हुए समस्त अन्तरिक्ष अर्थात् ब्रह्माण्ड परमाणुओं से भरा था।[११] पुनः आगामी मन्त्र में कहा है कि-

जलपूर्ण समुद्र अर्थात् परमाणुपूर्ण अन्तरिक्ष से समय-काल-गणना प्रकट हुई अर्थात् सूर्य बना, दिन और रात बने, प्राणवान् विश्व को वश में अर्थात् (भौतिक और रासायनिक) नियमों में धारण किया।[१२] उस धारण करने वाले सूर्य और चन्द्रमा को द्युलोक, पृथ्वीलोक, अन्तरिक्षलोक और स्वर्गलोक को यथा-पूर्व अर्थात् क्रमशः पूर्व सृष्टि में जैसे निर्माण किया।[१३]

उपर्युक्त ज्ञान से इस बात को बल मिलता है कि सूर्य, चन्द्र, तरागण और पृथ्वी आदि नक्षत्रों की रचना एक साथ सृष्टि के आरम्भ में हुई। इस विचार धारा से आधुनिक वैज्ञानिकों की इस विचारधारा को धक्का लगा कि **'पृथ्वी सूर्य का एक पिण्ड या अंश थी'** जो कालान्तर में ठन्डी हुई। वेद की इस विचारधारा को अधिकतम बल तब मिला, जब आधुनिक परमाणु भौतिकी (Modern Atomic Physics) के जनक अल्बर्ट आइन्स्टीन (Albert Aainsten) ने यूरेनियम (Urenium) नामक तत्त्वों को परिष्कृत कर (यूरेनियम २३५+यूरेनियम २३८) से परमाणु बम का निर्माण किया। इस दिशा में कार्य करने वाले अन्य प्रमुख वैज्ञानिकों में से रदर फोर्ड, विलियम, नील बोहर एण्ड बरी और ओपेन हाईमर ने उल्लेखनीय काम किया। उन्होंने यह अभूतपूर्व कार्य किया जिसके परिणाम स्वरूप परमाणु विज्ञान के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ हुईं और हाईड्रोजन बम का भी निर्माण (आविष्कार) हुआ। इस प्रकार के रासायनिक और भौतिक क्षेत्रों में किये गये प्रयोगों से यह तथ्य प्रकाश में आया कि पृथ्वी पर हाईड्रोजन और यूरेनियम जैसे अनेक तत्त्व जब उपस्थित हैं, तो पृथ्वी के ठण्डे होने का प्रश्न ही नहीं उठता। सूर्य के समान उच्च तापक्रम में यूरेनियम और हाईड्रोजन विस्फोटक तत्त्वों की विद्यमानता में पृथ्वी का शीतल होना सम्भव ही नहीं प्रतीत होता, क्योंकि जल और उसके अंश में हाईड्रोजन प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। इसलिए यह कहना कि **'पृथ्वी कभी सूर्य का टुकडा थी और धीरे-धीरे शीतल हुई'** यह भ्रामक और अवैज्ञानिक तथ्य है। आज दुनियाँ के अधिकांश वैज्ञानिकों में इस विषय में मतभेद पैदा हो चुका है कि पृथ्वी सूर्य का अंश थी। क्योंकि आधुनिक भौतिक शास्त्रियों ने दो प्रकार के पदार्थों की चर्चा की है एक प्रकाशमान (Luminous Body) दूसरा अप्रकाशमान (Non Luminous Body)। इसी बात को पुष्ट करते हुए महर्षि दयानन्द सरस्वती ने भी **'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका'** में **'वेद विषयकविचारः'** नामक अध्याय में सूर्यादि लोक को प्रकाशमान माना है।[१४] ऋग्वेद के मन्त्र में **'हिरण्यसदृशः'** का अर्थ हिरण्य सरीखे तेजस्वि अर्थात् प्रकाशमान किया गया है।[१५]

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि पृथ्वी अप्रकाशमान है और सूर्य प्रकाशमान है। यह दिन सूर्य के प्रकाश से ही होता है, क्योंकि विवेचना के प्रारम्भ में पीछे दिन और रात्री की चर्चा भी की जा चुकी है। यह दिन

---

११ ऋक्० १०.१९०.१ ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत। ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः॥

१२ ऋक्० १०.१९०.२ समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत। अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी॥

१३ ऋक्० १०.१९०.३ सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः॥

१४ ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, दूसरा संस्करण, पृ० ६०

१५ ऋक्० ८.६.३[illegible]

सूर्य के प्रकाश के कारण ही होता है, रात्री प्रकाश के अभाव में होती है।[१६] इससे वेद की मान्यतायें वैज्ञानिक प्रतीत होती हैं। सूर्य की रचना और उसकी विपुल शक्तियों का आभास होता है। सूर्य के विद्यमान तत्त्वों में ऋग्वेद प्रमुख रूप से तेजस्तत्त्वों का वर्णन करता है और यह स्पष्ट कहता है कि सूर्य की किरणें विषैले रोगाणुओं का नाश करती हैं।[१७] यह महान् सूर्य द्युलोक को प्रकाशित करता हुआ प्राणवायु से नाड़ियों द्वारा ऊर्जा देता है और अन्तरिक्ष में विचरण करता है।[१८] यहाँ सूर्य की महान् शक्ति का वर्णन किया गया है।

सूर्य के चारों ओर वरुण-तत्त्व

वरुणो राजा सूर्याय अन्वेतवे उरुं पन्थां चकार- वरुण राजा अर्थात् प्रकाश हेतु वायु सूर्य के गमनागमन के लिए विस्तार-युक्त मार्ग को सिद्ध करता है। इस मन्त्र में वरुण जिसकी संज्ञा है, वह एक वायु है जो राजा है। राजा जैसे सर्वोपरि होता है, उसी प्रकार से वरुण वायु सर्वोपरि है। राजा शब्द **राजृ दीप्तौ** धातु से बनता है।

अतः यह वरुण वायु विशेष सर्वोपरि होने के साथ दीप्तिमान् है। इसी वरुण को **'अपामधिपतिः'** जलों का स्वामी कहा है।[१९] अतः जल का यह स्वामी वरुण है, **मित्रावरुणौ वृष्ट्या अधिपती** तथा मित्र और वृष्टि के अधिपति हैं। अतः वरुण का सम्बन्ध जलों के निर्माण करने वाले तत्त्वों से हैं। इसी वरुण को उदान भी कहते हैं, क्योंकि ऊपर की ओर गति प्रदान करने वाला है, जैसा कि **उत् ऊर्ध्वम् अनतीत्युदानः**- इस व्युत्पत्ति से ज्ञात होता है कि यह उदान वरुण-तत्त्व सब से हलका होने से उदान है। अतः राजा बनकर सबसे ऊपर विराजमान है। इस मन्त्र में कहा है कि वरुण-तत्त्व उदान हाइड्रोजन ही सूर्य को मार्ग देता है अर्थात् सूर्य के चारों ओर हाइड्रोजन गैस रूप में है, उससे अपने तेज से बना रहता है और उसकी किरणों को उससे मार्ग प्राप्त होता है। इस प्रकार वरुण-तत्त्व का प्रकाश से सम्बन्ध है।[२०]

उपर्युक्त विवेचन से वेदों में वर्णित सूर्य का महत्त्व एवं सूर्य की रचना और उसमें विद्यमान सृष्टिकारक, रोगनाशक एवं स्वास्थ्यप्रद तत्त्वों के विषय में सूक्ष्मातिसूक्ष्म वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त होता है, जो हमारे जीवन के लिये महत्त्वशाली एवं उपयोगी है।

---

१६ ऋक्० १०.१८९.३ त्रिंशद्धाम वि राजति वाक्पतङ्गाय धीयते। प्रति वस्तोरह द्युभिः॥
१७ ऋक्० १०.१८७.३ यो रक्षांसि निजूर्वति०।
१८ ऋक्० १०.१८९.२ व्यख्यन्महिषो दिवम्॥
१९ अथर्व० ५.२४.४
२० वैदिक सम्पदा, पं० वीरसेन वेदश्रमी, वेदविज्ञानाचार्य, गोविन्दराम हासानन्द, अर्धशताब्दी संस्करण, पृष्ठ ३७६

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २००९ अङ्क १२ (पृ०४५-४७)

गर्भाधानसंस्कारस्य माहात्म्यम्

प्रो. मनुदेव बन्धु[1]

संस्कारशब्दस्यार्थोऽस्ति कस्यापि वस्तुनः स्वरूपस्य परिवर्त्तनम्, तस्य च नवीनीकरणम्। वैदिकसंस्कृतौ मानवजीवनाय षोडश संस्कारस्य विधानं विद्यते। अस्य तात्पर्यमिदमस्ति यज्जीवने षोडशवारं मानवस्य परिवर्त्तनाय तस्य च नवनिर्माणाय प्रयासो विधीयते। यथा स्वर्णकारोऽशुद्धं सुवर्णमग्नौ प्रक्षिप्य संस्करोति, तथैव सद्योजातं बालकं संस्कारस्य चुल्लिकायां पातयित्वा तस्य दुर्गुणान् निस्सार्य तस्मिंश्च सद्गुणानामाधानस्य प्रयासः वैदिकविचारधारायां संस्कार इत्युच्यते। चरकमहर्षणा भणितम्- **संस्कारो हि गुणान्तराधानमुच्यते।** महर्षिदयानन्दः स्वसंस्काराविधौ लिखति- **गर्भस्याधानं वीर्यस्थापनं यस्मिन् येन वा कर्मणा तद्गर्भाधानम्।** संस्कारैरुच्चभावनाः समागच्छन्ति। दुर्गुणाः दूरीभवन्ति। सद्गुणाः प्रविशन्ति। संस्कारात् पूर्वं यज्ञो भवति। यज्ञो हि श्रेष्ठतमं कर्म उच्यते। न कोऽपि वाञ्छति यन्मे पुत्रः कुपुत्रो भवेत्, दुर्गुणीभवेत्, अविद्वान् भवेत्, आलसी प्रमादी च भवेत्। सर्वे एकस्वरेण कथयन्ति यदस्माकं पुत्रः रामकृष्णदयानन्दश्रद्धानन्दादिमहापुरुषाणां मार्गे प्रचलेत् तेषामिव कार्यं कुर्यात्।

मानवस्य नवनिर्माणयोजना

मानवस्य नवनिर्माणस्य आधारः संस्कारपद्धतिरस्ति। कर्मजन्यसंस्काराणां समापनं भवति। यथा प्रस्तरे प्रतिदिनं कुम्भाधानेन चिह्नं भवति तथैव संस्कारकरणेन सर्वश्रेष्ठगुणानां चिह्नानि समुद्भवन्ति। शनैः-शनैः तस्मिन् बालके सद्गुणानां वृक्षः समुत्पद्यते। संस्काराः सूक्ष्मशरीरे निवसन्ति। यथा स्थूलशरीरं भवति तथैव सूक्ष्मशरीरं भवति। सूक्ष्मशरीरमेव स्थूलशरीरस्य आधारो भवति। मानवः स्वसम्पूर्णे जरीवने यत्किमपि करोति, तत्सर्वं सूक्ष्मशरीरमाध्यमेन आगामिनि जन्मनि गच्छति। स मानवः स्वकृतकार्यस्य फलं भुङ्क्ते। नवीनसंस्कारैः पुरातनसंस्काराः परावर्त्तयितुं शक्यन्ते। अनेनेदं सिंद्ध यज्जनकादीनामाचार्यादीनां परमं कर्त्तव्यमस्ति यत्ते स्वसन्तानानां स्वशिष्याणां वा यथाशक्ति संस्कारं कुर्युः, सदुपदेशेन सत्कुर्युः।

गर्भाधानस्यायुः

पूर्णयूनां पूर्णयुवतीनामेव विवाहो भवेत्। ते युवानः ताश्च युवतयः सर्वगुणसम्पन्नीभूत्य स्वानुकूलं वरं स्वानुकूलां कन्यां च वृत्वा पूर्णवैदिकरीत्यनुसारेण विवाहं कृत्वा गर्भाधानं कुर्युः। महर्षिदयानन्दस्य संस्कारविध्यनुसारेण वरस्य आयुर्न्यूनातिन्यूनं पञ्चविंशतिः वर्षं भवेत् कन्यायाः आयुः न्यूनातिन्यूनं षोडशवर्षं भवेत्। अस्मादधिकं भवेत्तदा महांल्लाभो भविष्यति। सुश्रुतग्रन्थे लिखितमस्ति-पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान् नारी तु षोडशे। समत्वागतवीर्यौ जानीयात् कुशलो भिषक्॥[2]

यथाबीजं तथा वृक्षः-

सर्वे: कृषकाः जानन्ति यद् यादृशं बीजं भवति तादृशो वृक्षो भवति। अतोऽशुद्धं बीजं न भवेत्। मनुष्यबीजं मानवस्य वीर्यं भवति। तदेव गर्भाधानद्वारा स्त्रीशरीरे निधीयते। अतो मानव पूर्णयुवा स्यात् मनवचनकर्मसु योग्यो

---

१. प्रो. मनुदेव बन्धु, अध्यक्ष वेद-विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

२ सुश्रुतः सूत्रस्थानम्, अध्यायः ३५

भवेत्। शरीराच्छरीरमुत्पद्यते। अद्यापि बीजानि सर्वगुणसम्पन्नौषधिषु उपचर्यन्ते। पवित्रीक्रियन्ते। बीजानां दोषा अपसार्यन्ते। बीजवपनात् पूर्वं क्षेत्रस्य शोधनं भवति। युवतिः क्षेत्रवदस्ति। साऽपि विदुषी, बलवती, धार्मिकी गुणवती च भवेत्। उभयोः रजोवीर्यमेलनेन सन्तानोत्पतिर्भवति। त्रयः उपस्तम्भाः शरीरस्य आहारः स्वप्नो ब्रह्मचर्यमिति ब्रह्मचर्यमायुष्यकारणमेव पालयितव्यम्। सुश्रुतग्रन्थे लिखितमस्ति-

ध्रुवं चतुर्णां सान्निध्यात् गर्भः स्याद्विधिपूर्वकः।
ऋतुक्षेत्राम्बुबीजानां संयोगाद् अंकुरो यथा।।

यथा ऋतु-क्षेत्र-अम्बु-बीज-इत्येषां चतुर्णां विधिपूर्वकमेलनेन अंकुरस्य समुत्पत्तिर्भवति, तथैव स्त्रीपुरुषयोः ऋतु-क्षेत्र अम्बु-बीजानां विधिपूर्वकसंयोगेन सन्तानस्य जन्म भवति। अतः एतेषामुपचारो भवेत्। गर्भाधानसंस्कारमाध्यमेन अमीषां परिशोधनं भवति।

पुत्रकन्ययोरुत्पतिः-

पत्युरधिकवीर्येण पुत्र उत्पद्यते जायाया अधिकार्त्तवेन कन्या उत्पद्यते। पुरुषस्य दक्षिणाण्डेन पुत्रस्योत्पत्तिर्भवति, वामाण्डेन च कन्याया उत्पत्तिर्भवति। स्त्रियः दक्षिणडिम्बकोशात् पुत्रः, वामाण्डकोषात् कन्या उत्पद्यते। पुत्रोत्पत्तौ पतिरेव कारणं भवति।

गर्भानाधानासंस्कारकरणे लज्ञा-

अद्यत्वे विवाह-अन्नप्राशन-नामकरण मुण्डनादिसंस्काराः क्रियन्ते कार्यन्ते च। परन्तु गर्भाधानसंस्कारः न क्वापि क्रियते कार्यते वा। अस्मिन् लज्ञा आगच्छति। जनाः किं कथयिष्यन्ति। सर्वे उपहसिष्यन्ति। परिवारेष्वपमानं भविष्यति इत्यादयो विचारा आगच्छन्ति। यदि कस्यापि कार्यस्य लाभो भवति। सुदीर्घकालिको लाभो दरीदृश्यते। तदा तु तत्कार्यमवश्यं कर्त्तव्यम्। गर्भाधानसंस्कार एकं धार्मिकं कृत्यं वर्तते। मानवनिर्माणस्य प्रथम सोपानमस्ति। इत एव मानवनिर्माणप्रक्रिया प्रचलति। गर्भाधानसंस्कारमन्त्रेष्वत्युच्चभावनाः सन्ति, याभ्यो भावनाभ्यो बालकाः सद्गुणवन्तो भूत्वा पितरौ राष्ट्रं चोन्नमयिष्यन्ति। अतो न लज्ञितव्यम्।

गर्भाधानसंस्कारेण मनसि प्रभावः

अस्मिन् कर्मणि पतिपत्न्यौ यज्ञं यजतः। सम्बन्धिनश्चामन्त्रयतः। एकः यज्ञकारयिता पुरोहितः क्रियते। पुरोहितः पूर्णवैदिकविद्वान् भवति। स वैदिकविधिद्वारा याजयति। ऋषिदयानन्दप्रणीतसंस्कारविध्यनुसारेण गर्भाधानसंस्कारस्य मन्त्रान् उच्चारयति। मध्ये मध्ये मन्त्राणाञ्चार्थं बोधयति।

'गर्भं धेहि सिनीवाली गर्भं धेहि सरस्वति।
गर्भं ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजा स्वाहा।।
विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु।
आसिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते स्वाहा।।
हिरण्ययी अरणी यं निर्मन्थितो अश्विना।
तं ते गर्भं हवामहे दशमे मासि सूतवे स्वाहा।।[३]
रेतो मूत्रं विजहाति योनिं प्रविशदिन्द्रियम्।

३ ऋ. १०/१९/७६/१-३

गर्भो जरायुणावृत उल्वं जहाति जन्मना।
ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानं शुक्रमन्धस
इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु स्वाहा॥[४]

एतेषु मन्त्रेषु विष्णुभगवन्तं प्रति। प्रार्थनाऽस्ति यन्मे गर्भः पुष्टः स्वस्थश्च भवेत्।

गर्भाधानसंस्कारस्य महत्त्वम्-

गर्भाधानकाले शरीरमनसोरवस्थायाः सन्तानोपरि प्रभावो भवति। चरकग्रन्थे लिखिमस्ति- **'सायं प्रातश्च शश्वत् श्वेतं महान्तं वृषभमाजनेयं वा हरिचन्दनाङ्गदं पश्येत्।'** पतिपत्न्यौ गर्भकाले पूर्णयुवानं श्वेतवर्णयुतं वृषभम् अश्वं वा पश्येताम्। सन्तानोत्पतिविषयाः आधारभूताः विचारा एवमासन्

अङ्गादङ्गात्सम्भवसि हृदयादधिजायसे।
आत्मान वै पुत्र नामासि स जीव शरदः शतम्।[५]

हे पुत्र! त्वम् आवयोरङ्गादङ्गात् सम्भवसि। त्वमावयोर्हृदयात् जायसे। त्वं साक्षादस्मदीय आत्मासि। अस्माकमाशीर्वादोऽस्ति यत्त्वं न्यूनातिन्यूनं शरदः शतं जीव। अन्यत्रापि लिखितमस्ति- यस्य यस्य हि अङ्गावयवस्य बीजे बीजभागः उपतप्तो भवति तस्य तस्य हि अङ्गावयवस्य विकृतिरुपजायते, नोपजायते चानुपतापात्, तस्माद् उपायोपपत्तिः। तन्मना बीजं गृह्णीयात्। उत्तमगुणी सन्तानोत्पादने कृतभूरि परिश्रमो भवेत्।

महाभारतस्य पाठका जानन्ति यद्यदा अभिमन्युः सुभद्राया उदरे आसीत् तदा अर्जुनः तां चक्रव्यूहभेदस्य कथां श्रावयाञ्चकार। अस्याः कथायाः प्रभावेन अभिमन्युः चक्रव्यूहभेदने समर्थो बभूव। एवं श्रूयते यद् अष्टावक्रः गर्भावस्थायामेव वेदान्तविद्यामधिजगे। माता मदालसा गर्भावस्थायां गायति स्म।

शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरञ्जनोऽसि।
संसारमायापरिवर्जितोऽसि॥

हे मम पुत्र! त्वं शुद्धः बुद्धः संसारमायानिर्लिप्तश्चासि। अनेन तस्याः अष्टौ सन्तानानि ब्रह्मर्षयोऽजायन्त। पत्या उक्ते सति वंशः कथं चलिष्यति तदा विचाराणां दिशा परिवर्तिता। तस्याः एकं सन्तानं राजा बभूव। यदा नेपोलियनः मातुर्गर्भे आसीत् तदा माता सैनिकान् पश्यति स्म। तेषां कृत्यानि दृष्ट्वा सा प्रफुल्लिता भवति स्म। गर्भाधानं धार्मिकसंस्कारस्य रूपं दत्त्वा वैदिकसंस्कृतौ मानवस्य नवनिर्माणे चामत्कारिकविचारान् जनयामासुः ऋषयः। अतो गर्भाधानसंस्कारस्य प्रचारः प्रसारश्च भवेताम्॥

---

४ यजुर्वेद १९/७६
५ निरुक्त ३/४

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २००९ अङ्क १२ (पृ०४८-५०)

संस्कृतवाङ्मये संस्काराणां वैज्ञानिकता

डॉ० दिनेश चन्द्र शास्त्री[1]

सम् उपसर्गपूर्वकात् **'डुकृञ् करणे'** इत्यास्माद्धातोः **'घञ्'** प्रत्यये कृते सति संस्कारशब्दः निष्पद्यते यस्य अर्थाः सन्ति- संस्करणं, परिष्करणं, विमलीकरणं, परिमार्जनं विशुद्धिकरणञ्चेत्येवमादयः। इतरशब्देषु वयं वक्तुं पारयामो यत् मण्डनाय, भूषणाय, अलंकरणाय अथवा दोषानपाकृत्य गुणानामाधानाय क्रियमाणं कर्म, विधिः पद्धतिर्वा **'संस्कार'** इति कथ्यते। आचार्य चरकाः निर्दिशन्ति-**'संस्कारो हि गुणान्तराधानमुच्यते'**[2] अर्थात् दुर्गुणान् दोषान् वा परिहृत्य गुणानां परिवर्तनं विधाय भिन्नानां नवीनानां गुणानामाधानकरणं नाम संस्कारः। निर्गुणं गुणैः सह योजनं विकाराणामशुद्धीनां निवारणं मूल्यवतां गुणानां संक्रमणं संस्काराणामेव कार्यमस्ति। यथा साधारणोऽश्मा शिल्पिनः शिल्पकर्मणा बहुमूल्यतां देवविग्रहत्वं वा अवाप्नोति तथैव मानवीयं जीवनं संस्कारैः सुसंस्कृतं सभ्यं श्रेष्ठं च भवति। वस्तुतः संस्कारो हि एका मूल्यवर्धकप्रक्रिया अस्ति। संस्कारः स्नेहदीपकवत् अस्ति यः मानुषमन्धकारात् असभ्यतायाश्च वा पङ्कात् बहिष्कृत्य सतां कोटिषु स्थापयति। संस्कारेण आशयोऽस्ति यत् पवित्रधार्मिकक्रियाभिः व्यक्तेः शारीरस्य, मानसस्य, बौद्धिकस्य आत्मिकस्य च परिष्काराय क्रियमाणानि तानि सर्वाणि अनुष्ठानानि यैः व्यक्तिः स्वीयं व्यक्तित्वं पूर्णरूपेण विकासं प्रापय्य जीवनस्यान्तिमं लक्ष्यं प्रति अग्रेसरति।

संस्कारो हि वैज्ञानिकावधारणायाः, भारतीय जीवनपद्धतेः सर्वतोऽप्यधिका स्पृहणीया सर्वस्वीकृता चैका महत्त्वपूर्णा आनुष्ठानिकप्रक्रिया अस्ति। संस्कारैः पदार्थस्य प्राणिनो वा अधिकादपि अधिकं सुसंस्कृतकरणे, परिमार्जितकरण उपादेयकरणे वास्योद्देश्यमस्ति। सभ्यतायाः, संस्कृतेः प्रज्ञायाश्च विकासेन सह भारतीयैः मनीषिभिः मानुषः जीवनमधिकादधिकं क्षमतासम्पन्नं, संवेदनशीलं, भावप्रवणं च कर्तुमेषां संस्काराणामुपयोगित्वमुररीकृतम् अस्ति। महर्षिजैमिनिमतानुसारं संस्कारो नाम सा क्रिया अस्ति यया कोऽपि जनः किमपि वस्तु वा कस्यचित् कार्यस्य कृते योग्यो भवति। यथा चाऽऽह भगवान् जैमिनिः-**'संस्कारो नाम स भवति यस्मिञ्जाते पदार्थो भवति योग्यः कस्यचिदर्थस्य।'** भौतिकानां पदार्थानामेव न भवति केवलं संस्कारोऽपितु अखिलं जीवजगत् पशुः स्यात् पक्षी वा भवेत् स्व-स्व रीत्या संस्कारं करोति। मनुष्यस्तु स्वयं चैतन्ययुक्तमस्ति। तस्य जननं तु स्वजनन्याः कुक्षेः स्वाभाविकरूपेण जातमेव, परन्तु तस्य एतत्प्राकृतिकं स्वाभाविकं जीवनमधिकादधिकं परिष्कर्तुम्, संवेदनशीलकरणाय लक्ष्योन्मुखीकरणाय च धर्मशास्त्रेषु मर्यादा निर्धारिता अस्ति।

आध्यात्मिकदृष्ट्या तु संस्काराः गौरवं निदधते एव वैज्ञानिकदिशाऽपि एषां महत्त्वमस्ति। अस्माद्धेतोरेव संस्काराः मनुष्यस्य जीवनचक्रं सुव्यवस्थितं कर्त्तुं शरीरस्य मनसः बुद्धेर्वा स्वस्थविकासाय जीविते सद्गुणानामाधानकरणं तथाऽन्तःकरणपवित्रीकरणाय, अभ्युदयनिःश्रेयस सिद्ध्यर्थं च विधायकत्वेन सुप्रतिष्ठिताः सन्ति। भारतीयानाम् ऋषीणां मुनीनां च अयं द्रढीयान् विश्वासः आसीत् यत् शारीर-मानस-बौद्धिक दृष्टिभिः मानुषः स्वेच्छया परिवर्तयितुं शक्यते तस्मिंश्च स्वेच्छानुरूपगुणनामाधानमपि कर्तुं वयं शक्नुमः। संस्काराणां विकासो विस्तारो वा अनया दृष्ट्या एव जातः। बृहदारण्यकोपनिषदि अस्मिन् विषये विस्तरेण वर्णनमुपलभ्यते। आयुर्वेदे

---

१. डॉ० दिनेश चन्द्र शास्त्री, रीडर वेद विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

२. द्र. चरकसंहिता विमान १/२७

तन्त्रशास्त्रे चापि अस्यां दिशायां महत्त्वपूर्णाः प्रयोगाः कृतास्सन्ति। अतः सुनिश्चितमस्ति यन्मनुष्यस्य वैयक्तिक-सामाजिकदृष्ट्या उपयोगित्वकरणं लौकिकपारलौकिकदिशाऽपि सफलतां प्रति उन्मुखीकरणमेव संस्काराणां मुख्यमुद्देश्यं लक्ष्यं वाऽस्ति।

संस्काराणां विस्तरेण विवेचनं यद् धर्मशास्त्रीयग्रन्थेषु कृतमुपलभ्यते तदायुर्वेदपुराणादिषु ग्रन्थेष्वपि मिलति। धर्मशास्त्रेषु विशेषतः पारस्कर-शांखायन-आश्वलायनप्रभृतिषु एषां पृथक्-पृथक् संख्या अवाप्यते। गौतमसूत्रेषु पत्र ४८ अष्टचत्वारिंशद् संस्काराणां परिगणनं जातं तत्रैव सुमन्तुराचार्यः २५ पञ्चविंशतिसंख्यात्मकाः संस्काराः भवन्तीति उल्लिखति। व्याससमृतौ १६ षोडश संस्काराणां विवरणं मिलति। स्वामिना दयानन्देनापि **'संस्कारविधिः'** इति ग्रन्थे षोडशसंस्काराणामेव सविधिकविवेचनं कृतमस्ति। डॉ. कपिलदेवद्विवेदिना निर्मितैः श्लोकैस्ते च सन्ति–

गर्भाधानं-पुंसवनं-सीमन्तोन्नयनं तथा। जातेष्टि-नामकरणे, निष्क्रमणान्नप्राशने।१।।

चूडाकर्म-कर्णवेधौ तथोपनयन क्रिया। वेदारम्भ-समावर्तौ विवाहजो वानप्रस्थता।। २।।

संन्यासश्रम संस्काराः, अन्त्येष्ठिश्च तदन्ततः। इमे षोडश संस्काराः, आख्याता जीवने नृणाम्।। ३।।

एषु गर्भाधानं, पुसवनं तथा सीमन्तोन्नयनं मुख्यतया गार्भिकाः संस्कारास्सन्ति यान् पितरौ कुरुतः। अग्रिमाः षट् संस्काराः जातकर्मतः कर्णवेधपर्यन्तं शैशवावस्थायाः सन्ति ये च परिवारपरिजनैः निष्पाद्यन्ते। अग्रिमास्त्रयस्संकाराः उपनयन-वेदारम्भ-समावर्ताश्च विद्याध्ययनसम्बद्धिनो वर्त्तन्ते। विवाह-वानप्रस्थ-संन्यासाश्च आश्रमत्रयाणां प्रवेशद्वाराणि। अन्तिमश्चान्त्येष्टिः पुत्रपौत्रादिभिरिष्टमित्राणां सहयोगेन निष्पद्यते।

उपर्युक्ताः समे षोडश संस्काराः कर्मकाण्डबहुलाः, पुनरपि मूलतः वैज्ञानिकचिन्तनस्योपरि आधृताः सन्ति। ये च मनोविज्ञान-शरीरशास्त्र-समाजशास्त्र-सामुद्रिकशास्त्र-ज्योतिषशास्त्र-भौतिकविज्ञानादिभिः सम्मता एषां सोद्देश्यता चापि प्रतीयते। यथा च गर्भाधानं स्त्रीपुरुषाभ्यां सम्बद्धः संस्कारः। मनोविज्ञानस्य चिकित्साशास्त्रस्य च मान्यता अस्ति यत् स्त्रीपुरुषयोः यादृशो भावो भवति, यथा च तावाहारविहारौ कुरुतः, गर्भे तादृश एव प्रभावो आपतति। अत एव निषेकात् प्राक् उत्कृष्टगर्भाय प्रार्थना क्रियते इति बृहदारण्यकोपनिषदि निर्दिष्टमस्ति। न केवलं वेदे मनुस्मृतौ एव अपितु सुश्रुतसंहिताप्रभृतिषु ग्रन्थेष्वस्योपरि विस्तरेण विवेचनं विहितमस्ति। आधुनिकविज्ञानमपि अस्य संस्कारस्य महत्त्वमुररीकरोति। स्वामिदयानन्दानुसारं गर्भाधानं (निषेकः) वर्जितासु अष्टमी पूर्णिमाऽमावस्यासु रात्रिषु निषिद्धमस्ति। यतोहि तदानीं पृथिव्याः स्थितिः चन्द्रसूर्ययोः समस्थितौ भवत्येव तदा च तयोः आकर्षणशक्तिर्द्विगुणिता भवति, द्विगुणितत्त्वाच्च पृथिव्यां तयोः प्रभावः चेतनाचेतनेषु प्रबलतरो भवति। अतो मानवीयं जीवनमपि प्रभावक्षेत्रे आयाति। नाना कुष्ठादिरोगाः मानसरोगाश्च संभाव्यन्ते। अतो गर्भाधान संस्कार आसु रात्रिषु वर्जितः। गर्भस्थे शिशौ वाञ्छितगुणानां दृष्ट्या पुंसवनसीमन्तोन्नयने महत्त्वपूर्णौ संस्कारौ। द्वित्रमासस्य गर्भचिह्ने जाते गर्भस्थशिशो रक्षणाय अनवलोभनस्य क्रियाऽपि भवति स्म। षष्ठे अष्टमे वा मासे सीमन्तोन्नयनद्वारा गर्भस्य शुद्धिर्भवति। पुंसवनसंस्कारः कन्यायाः पुत्रस्य वा कामनयाऽपि क्रियते। **'शमीमश्वत्थः आरूढस्तत्र पुंसवनं कृतम्। तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत् स्त्रीष्वा भरामसि'**[3]-इति आथर्वणिको मन्त्रः प्रमाणीभूतः। **'सीमन्तोन्नयनसंस्कारः'** अजातसन्ततेः मानसविकासेन सह सम्बद्धोऽस्ति। आधुनिकचिकित्साशास्त्रानुसारमपि चतुर्थमासस्य गर्भानन्तरं शिशोः अंगप्रत्यंगानि उद्भवन्ति। हृदि स्पन्दनं, चेतनायाः नवोन्मेषः कामनाश्च जायन्ते। अतीव महत्त्वपूर्णोऽयं गर्भस्य कालः। एष दोहदकालोऽपि कथ्यते यदा गर्भिण्याः प्रीतये जनाः यतन्ते। अस्मिन् काले गर्भस्य मंगलाय

रुचिकराहारविहारैः साकमेव औषधिसेवनमपि कर्त्तव्यम् इति शास्त्रकारैः निर्दिष्टम्। नारदेन प्रह्लादं प्रत्युपदेशः, अभिमन्योश्चक्रव्यूहभेदनस्य च शिक्षा अस्मिन्नेव काले अवाप्ता आसीत्। गार्भिकसंस्कारान् एव विशेषेण मनसि निधाय स्वामिना दयानन्देन लिखितम्-शिक्षयौषधिभिर्नित्यं सर्वथा सुखवर्धनः' इति।[४] मनोविश्लेषकः फ्रायड अपि अमन्यत यद्यदा शिशु मातुः गर्भे अंगुष्ठपानं करोति, तावद् आरभ्य तस्मिन् ते संस्काराः पतन्ति ये तस्य आगामिनो जीवनस्य निर्माणं कुर्वन्ति। विज्ञानस्य मान्यताऽस्ति यद् एभिः त्रिभिः संस्कारैः शिशोः गुणसूत्राणामुपरि च प्रभावः कर्तुं शक्यते।

बाल्यावस्थायाः षट् संस्कारा अपि पूर्णतः विज्ञानानुमोदिताः तर्कसंगताश्च सन्ति। यथा जातकर्मसंस्कारे घृतमधुप्रभृतिपदार्थानां सेवनं विज्ञानसम्मतमस्ति तथैव शिशोः कर्णे जनकस्य **'ओम् अग्निरायुष्मान्त्स वनस्पतिभिरायुष्मांस्तेन त्वाऽऽयुषाऽऽयुष्मतं करोमि'**[५] इति कथनमपि नामकरणसंस्कारे अंकशास्त्र-ज्योतिषशास्त्र-मनोविज्ञानप्रभृतीनामुपरि आधृतमस्ति इति इङ्गितं विद्वद्भिः।[६] निष्क्रमण अन्नप्राशन-चूडाकर्म-कर्णवेधसंस्कारा अपि पूर्णतः विज्ञानशरीशास्त्रम्मताः सन्ति। एते पञ्चमहाभूतानां पर्यावरणस्य चानुकूलतामाहारविहारस्य प्रासंगिकतां नाडीसंस्थानस्य विकासं स्वास्थ्यं च निभाल्य एव निरूपिताः सन्ति। चिकित्साशास्त्रेषु एषां भौतिकपक्षोऽपि विस्तरेण व्याख्यातोऽस्ति।

ब्रह्मचर्याश्रमसम्बद्धा विद्यासम्बन्धिनः संस्काराः उपनयनवेदारम्भादयोऽपि वैज्ञानिकचिन्तनोपरि आधृताः सन्ति। ये च समाजशास्त्रं मनोविज्ञानं च आधारीकृत्य बालकस्य सर्वाङ्गीणव्यक्तित्त्वस्य निर्माणाय विहिताः वर्तन्ते। तत्वत उपनयनवेदारभौ संस्कारौ गुरुशिष्यसम्बन्धानां रूप एकस्मात् चैतन्यकेन्द्रात् चैतन्यप्रवाहस्य यत्र प्रक्रियायाः रूपे स्तः तत्रैव व्यक्तित्वनिर्माणस्य कार्यशालेऽपि वर्त्तेते। अनया एव चैतन्यप्रवाहप्रक्रियया व्यक्तित्वनिर्माणकार्यशालया जीवन अनुशासनं श्रमशीलता श्रद्धापरायणता च आयान्ति। ज्ञानपरकैरेभिः संस्कारैः बालकानां जीवने यत्र सामुदायिकतायाः संवेदनशीलतायश्च सञ्चारो भवति तत्रैव तेषां जीवने धार्मिकी, आध्यात्मिकी च बौद्धिकशक्तिर्वृद्धिमायाति। **'समावर्तनम्'** विद्याध्ययनस्य अन्तिमः संस्कारः। विद्याध्ययनं समाप्य विद्यार्थी स्नातको भूत्त्वा स्वगुरोराज्ञामवाप्य स्वस्मिन् पितृगृहे समावर्तते। अत एव एषः **'समावर्तन संस्कारः'** इति नाम्ना कथ्यते।

'विवाहसंस्कारः' गृहस्थधर्मस्य आधारः, अयं स्त्रीपुरुषयोरेकात्मभावस्य प्रक्रिया वर्तते। अनयैव मनुष्यः कामुकतायाः मुक्तिं प्राप्य मर्यादाशीलो भवति। समलैंगिकता- लिवइन रिलेशनशिप प्रभृतीनां प्रवृत्तीनामवैज्ञानिकता नैके च दोषाः सततं भारतेतरदेशेषु अद्य विलोक्यन्ते इति विवाहसंस्कारेण तस्य च विधीनां सम्यग् अनुसान्धानेन ज्ञायते। इत्थमेव वानप्रस्थ-संन्यासावपि संस्कारौ लौकिकपारलौकिकदृष्ट्या पूर्णरूपेण व्यावहारिकौ स्तः। अन्त्येष्टिश्च जीवनयात्रासंवरणस्य आत्मिककल्याणसम्बद्धोऽतीव महत्त्वपूर्णः अन्तिमः संस्कारो वर्तते। अग्निना शरीरस्य पञ्चमहाभूतानां स्व-स्वांशेषु विपरिणमनं सम्यक्तया भवति नान्यैः विधिभिः। अतो वाजसनेयिसंहितायां **'भस्मान्तं शरीरम्'**[७] इति निगदितमस्ति। निष्कर्षतः एते पूता वैदिकसंस्काराः एकतो यत्र जीवनयापनस्य कलां शिक्षयन्ति अथवा व्यक्तित्वनिर्माणं कुर्वन्ति तत्रैव अपरतः वैज्ञानिकदृष्ट्या शरीरमनोबुद्धिचेतनानां स्तरेषु नैतिकतया ओतप्रोतस्य समाजस्य निर्माणमपि कुर्वन्ति। अत एव इमे वरेण्याः सन्ति भविष्यन्ति चेति दिक्।

---

४. द्र. संस्कारविधिः, मंगलाचरण, श्लोक, ५

५. पा. १/१६/६

६. द्रष्टव्यम्, विश्वज्योतिः संस्कार अंक- २, जून-जुलाई २००८, पृ. १२६, वि.वै.शो. सं. साधुआश्रम होशियारपुर।

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २००९ अङ्क १२ (पृ०५१-५७)

गृह्यसूत्रों में वर्णित नारी जीवन

डॉ० देवेन्द्र कुमार गुप्ता[1]

किसी भी देश अथवा समाज की प्रगति इस बात पर निर्भर करती है कि उस समाज अथवा देश में स्त्रियों की दशा कैसी है ? इस दृष्टि से भारतीय समाज में स्त्रियों को प्रारम्भ से ही गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त था और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। इस सम्बन्ध में अल्तेकर का यह कथन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि विश्व की लगभग सभी प्राचीन सभ्यताओं का अध्ययन करते समय हम जितने प्राचीनतम काल की ओर जाते हैं, स्त्री का स्थान समाज में उतना ही असन्तोष जनक पाते हैं, जबकि इसके विपरीत जब हम भारतीय सभ्यता के प्राचीनतम काल पर दृष्टिपात करते हैं तो स्त्रियों का स्थान समाज में उतना ही महत्त्वपूर्ण पाते हैं।[2] उसे माता, पत्नी तथा पुत्री सभी रूपों में समाज में अत्यन्त उच्च स्थान प्राप्त था। वास्तव में गृह का अस्तित्व स्त्री के अस्तित्व में ही निहित माना जाता था। यही कारण है कि धर्मशास्त्रकारों ने स्त्री एवं पुरुष को जीवन रूपी गाड़ी के दो पहिये मानकर दोनों को समान अधिकार दिया और स्त्री को पुरुष की अर्धांगिनी माना है।

वैदिक कालीन समाज में स्त्रियों को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। वह सभी दृष्टियों से पुरुषों के समान थीं। पुरुषों की भाँति उनका भी उपनयन संस्कार होता था और वे विना किसी भेदभाव के उच्चतम आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक ज्ञान प्राप्त करतीं थीं। ऋग्वेद में अनेक ऐसी विदुषी महिलाओं के उल्लेख मिलते हैं जिन्होंने ऋग्वेद की ऋचाओं के प्रणयन में अपना योगदान दिया था। धार्मिक कार्यों में उनकी उपस्थिति अनिवार्य मानी जाती थी। पति और पत्नी दोनों को सम्मिलित रूप से धार्मिक कृत्य सम्पन्न करने पड़ते थे। यहाँ तक कि पत्नी के विना कोई भी पुरुष यज्ञ सम्पन्न नहीं कर सकता था। यही कारण है कि तैत्तिरीय संहिता तथा शतपथ ब्राह्मण में अपत्नीक पुरुष को यज्ञ का अनधिकारी कहा गया है।[3] स्त्रियों को न केवल पति के साथ धार्मिक कृत्यों में भाग लेने का अधिकार था, अपितु वह पति के विना भी स्वयं धार्मिक कृत्य कर सकती थीं।[4] इस काल में स्त्रियों पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं था। वे पुरुषों की भाँति ही सामाजिक एवं धार्मिक समारोहों तथा सभा एवं विचार गोष्ठियों में भाग लेती थीं और विचारों का आदान-प्रदान करती थीं। इस काल में उन्हें अपना जीवन साथी चुनने की भी पूर्ण स्वतन्त्रता थी। विवाह प्रायः वयस्क होने पर ही किया जाता था। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वैदिक काल में स्त्रियों को समाज में अत्यन्त उच्च स्थान प्राप्त था।

वैदिक काल के पश्चात् जिस साहित्य का निर्माण हुआ उसे वेदांग अथवा सूत्र साहित्य के नाम से जाना जाता है। लेकिन अब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि वैदिक काल के पश्चात् सूत्रकाल में स्त्रियों की दशा में क्या परिवर्तन हुए? क्या वे पूर्व की भाँति ही अपने समस्त अधिकारों का उपभोग करती थीं अथवा उन्हें उनके अधिकारों से वंचित कर दिया गया था। प्रायः यह माना जाता है कि वैदिक काल के पश्चात् स्त्रियों की दशा में

---

१ डॉ० देवेन्द्र कुमार गुप्ता, रीडर, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
२ ए०एस० अल्तेकर, प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, पृ० १५५
३ तैत्तिरीय संहिता, २/२/२/६, ३/३/३/१; 'अज्ञयो वा एषः। योऽपत्नीकः। शतपथ ब्राह्मण, ५/१/६/१०,
४ ऋग्वेद, ८/९/१, ४/४२/९, ५/[illegible]

गिरावट आनी शुरू हो गयी थी और उसे अनेक अधिकारों से वंचित कर दिया गया था। लेकिन यह मत उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि जब हम गृह्यसूत्रों का अध्ययन करते हैं तो स्पष्ट पता चलता है कि वैदिक काल की भाँति गृह्यसूत्रों के समय में भी स्त्रियों की दशा अत्यन्त उच्च कोटि की थी और वे उन समस्त अधिकारों का उपभोग करती थीं जो वैदिक कालीन स्त्रियों को प्राप्त थे। इनके महत्त्व का अनुमान इस बात से भी लगाया जा सकता है कि समस्त सूत्र साहित्य में कहीं पर भी स्त्रियों के प्रति दुर्भावनाएँ प्रकट नहीं की गई हैं। सूत्रकार जहाँ एक ओर पुरुष को गृहस्वामी का पद प्रदान करते हैं वहीं वे स्त्रियों को गृहस्वामिनी का पद प्रदान करते हैं। साथ ही गृह्यसूत्रों में कहीं पर भी पत्नी को पति की सम्पत्ति या दासी नहीं बताया गया है, अपितु दोनों के लिए दम्पत्ति शब्द प्रयुक्त किया गया है। जिसका अर्थ है **'समान स्वत्व रखने वाला।'** इस प्रकार यह तथ्य परिवार में दोनों की समान स्थिति का द्योतक है।

इस काल में स्त्रियों को पुरुषों की भाँति ही शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार था। यद्यपि दुर्भाग्यवश सूत्रसाहित्य से हमें स्त्री शिक्षा के विषय में विस्तृत जानकारी नहीं मिलती, लेकिन फिर भी यत्र-तत्र जो उद्धरण मिलते हैं, उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस समय तक उन्हें उपनयन संस्कार का अधिकार पूर्ववत् प्राप्त था और वे उच्च कोटि का ज्ञान प्राप्त करती थीं। काठक गृह्यसूत्र में कन्या के ब्रह्मचर्य की अवधि १० तथा १२ वर्ष बताई गयी है और साथ ही ब्रह्मचर्य की समाप्ति पर किये जाने वाले संस्कारों का भी वर्णन किया गया है।[६] आश्वलायन गृह्यसूत्र में स्पष्ट शब्दों में स्त्रियों के समावर्तन संस्कार[७] की चर्चा की गई है, जिसके अनुसार समावर्तन के समय हाथों में उबटन लगाकर ब्राह्मण अपने मुख को, क्षत्रिय अपनी दोनों भुजाओं को, वैश्य अपने उदर को, स्त्री अपने गर्भस्थान को तथा सरणजीवी अपनी जंघाओं का लिप्त करे। हारीत के अनुसार भी रजोदर्शन से पूर्व स्त्रियों का समावर्तन संस्कार होता है।[८] आपस्तम्ब ने भी पण्डिता स्त्रियों के परिपक्व ज्ञान और उनकी विद्वत्ता की चर्चा की है।[९] पारस्कर गृह्यसूत्र के अनुसार अग्रहायण विधि के स्रस्तरारोहण संस्कार में पत्नी को कई वैदिक मन्त्रों का पाठ करना पड़ता था।[१०] गोभिल तथा काठक गृह्यसूत्र से पता चलता है कि दुलहिनें पढ़ी-लिखी होती थीं, क्योंकि विवाह संस्कार के समय उन्हें मन्त्रों का उच्चारण करना पड़ता था।[११] इसके साथ ही गोभिल गृह्यसूत्र में स्पष्टतः कहा गया है कि कन्याएं यज्ञोपवीत धारण करती थीं।[१२] आश्वलायन तथा पारस्कर गृह्यसूत्र में भी विवाहित स्त्रियों द्वारा पढ़े जाने वाले मन्त्रों का उल्लेख मिलता है।[१३] मानव तथा वाराह गृह्यसूत्र में विवाह के सन्दर्भ में वर-वधू

---

५ गोभिल गृह्यसूत्र, १/४/१७

६ काठक गृह्यसूत्र, १९/२-३, 'दशवार्षिकं ब्रह्मचर्यं कुमारीणां द्वादशवार्षिकं वा........।'

७ आश्वलायन गृह्यसूत्र, ३/८/११, अनुलेपनेन पाणी प्रलिप्य मुखमग्रे। ब्राह्मणोऽनुलिम्पेद् बाहू राजन्य उदरं वैश्य उपस्थं स्त्र्यूरू सरणजीविनः।

८ हारीत, वीरमित्रोदय, भाग १, पृ० ४०४, 'प्राग्रजसः समावर्त्तनमिति हारीतोक्त्या।'

९ आपस्तम्ब धर्मसूत्र, २/११/२९/१२,१६, आथर्वणस्य वेदस्य शेष इत्युपदिशन्ति। स्त्रीभ्यस्सर्ववर्णेभ्यश्च धर्मशेषान्प्रतीयादित्येक इत्येके।'

१० पारस्कर गृह्यसूत्र, ३/२/६-८

११ गोभिल गृह्यसूत्र, २/१/१९-२२, काठक गृह्यसूत्र, २५/२३

१२ वही, २/१/१९, 'प्रावृतां यज्ञोपवीतिनीमभ्युदानयन् जपेत् सोमोऽददद्गन्धर्वायेति।'

१३ आश्वलायन गृह्यसूत्र १/८/६, पारस्कर गृह्यसूत्र, १/६

की जिन योग्यताओं (गुणों) का वर्णन किया गया है, उसमें विद्या को वर-वधू का आवश्यक गुण बताया गया।[१४] जो यह स्पष्ट करता है कि गृह्यसूत्रों के समय तक वर के साथ-साथ कन्या की शिक्षा पर भी पर्याप्त ध्यान दिया जाता था। इस प्रकार ये उद्धरण स्पष्ट करते हैं कि गृह्यसूत्रों के समय तक स्त्रियों को वेदाध्ययन का अधिकार पूर्ववत् प्राप्त था। वैदिक शिक्षा के साथ-साथ स्त्रियों को अन्य विषयों की भी शिक्षा दी जाती थी। शांखायन तथा कौषितकि गृह्यसूत्र में विवाह के अवसर पर की जाने वाली क्रियाओं में स्त्रियों के द्वारा नृत्य एवं गायन आदि कार्यक्रम किये जाने का उल्लेख मिलता है।[१५] काठक गृह्यसूत्र में भी विवाह के अवसर पर की जाने वाली क्रियाओं में स्त्रियों के द्वारा नृत्य एवं गायन आदि किये जाने का उल्लेख मिलता है। साथ ही उनके द्वारा विभिन्न वाद्ययन्त्रों जैसे नाड़ी, तूणव, मृदंग तथा पणव आदि बजाये जाने का उल्लेख मिलता है।[१६] मानव गृह्यसूत्र में स्त्रियों के संगीत कला में निपुण होने का उल्लेख मिलता है।[१७] ये उद्धरण स्पष्ट करते हैं कि इस समय स्त्रियों को संगीत की शिक्षा भली-भाँति दी जाती थी। हारीत के अनुसार तत्कालीन समाज में दो प्रकार की स्त्रियाँ होती थीं एक सद्योवधू और दूसरी ब्रह्मवादिनी। सद्योवधू स्त्रियाँ वे होती थी जो विवाह से पूर्व ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए विद्याध्ययन करती थीं। इन्हें प्रार्थना और यज्ञों के लिए आवश्यक महत्त्वपूर्ण मन्त्र पढ़ाये जाते थे तथा संगीत और नृत्यकला की शिक्षा दी जाती थी। तत्पश्चात् वे विवाह कर गृहस्थ जीवन में प्रवेश करती थीं। जबकि ब्रह्मवादिनी स्त्रियाँ वे होती थीं, जो विवाह एवं गार्हस्थ्य जीवन का त्याग कर आजीवन विद्याध्ययन करती हुई अनवरत तपस्या और अनुशासन का जीवन व्यतीत करती थीं।[१८] इस प्रकार उपर्युक्त उद्धरणों के आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि वैदिक काल से लेकर सूत्रों के समय तक स्त्रियों को उपनयन संस्कार का पूर्ण अधिकार प्राप्त था और वे पुरुषों की भाँति ही शिक्षा प्राप्त करने के निमित्त ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करती थीं।

गृह्यसूत्रों के उपर्युक्त विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि जब पर्याप्त मात्रा में स्त्रियाँ उच्च शिक्षा ग्रहण करती थीं और विद्या के विकास में भी अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दे रहीं थी तो उनमें से सम्भवतः कुछ निश्चित रूप से अध्यापन कार्य भी करती रही होगीं। संस्कृत साहित्य में उपाध्याया या उपाध्यायानी जैसे शब्दों की उपस्थिति इस विचार को बल प्रदान करती है। यद्यपि उपाध्यायानी जैसे शब्द तो उपाध्याय की पत्नी के लिये भी प्रयुक्त होते थे जो आवश्यक नहीं था कि वह विदुषी हो। लेकिन उपाध्यायी या उपाध्याया[१९] शब्द निश्चित रूप से महिला अध्यापिकाओं के द्योतक हैं। पाणिनि के अनुसार भी जो स्त्रियाँ अध्यापन कार्य करती थीं वे **'उपाध्यायी'** और **'उपाध्याया'** कहलाती थीं।[२०] कात्यायन ने अपने वार्तिक में स्त्री शिक्षिकाओं को उपाध्यायी कहा है। उनके

---

१४ मानव गृह्यसूत्र, १/७/६, वाराह गृह्यसूत्र, १०/५; 'पञ्च विवाहकारकाणि भवन्ति वित्तं रूपं विद्या प्रज्ञा बान्धव इति।'

१५ शांखायन गृह्यसूत्र, १/११/५, 'चतस्रोऽष्टौ वाऽविधवाः शाकपिण्डीभिः सुरयान्नेव च तर्पयित्वा चतुरानर्तनं कुर्युः।', कौषितक गृह्यसूत्र, १/७/२

१६ काठक गृह्यसूत्र १७/२, २१/१

१७ मानव गृह्यसूत्र १/९/२९, 'प्राकूस्विष्टकृतश्चतस्रो अविधवानन्दी रूपवादयन्ति।'

१८ हारीत, वीरमित्रोदय, भाग १, पृ० ४०२, द्विविधाः स्त्रियो ब्रह्मवादिन्यः सद्योवध्वश्च। तत्र ब्रह्मवादिनीनामग्नीन्धनं वेदाध्ययनं स्वगृहे भिक्षाचर्येति। सद्योवधूनां तूपस्थिते विवाहे कथंचिदुपनयनमात्रं कृत्वा विवाहः कार्य इति।

१९ पतञ्जलि महाभाष्य, ३/३/२१, 'उपेत्याधीयते तस्या उपाध्यायी उपाध्याया।'

२० अष्टाध्यायी ३/३/२१

अनुसार समाज में अध्यापक स्त्रियों की संख्या बहुत अधिक थी। गृह्यसूत्रों में भी अनेक स्त्री अध्यापिकाओं के नाम मिलते हैं। शांखायन गृह्यसूत्र में गार्गी, वाचक्नवी, वडवा, सुलभा, प्रातिथेयी तथा मैत्रेयी आदि स्त्रियों के शिक्षिका होने का उल्लेख मिलता है।[२१] आश्वलायन गृह्यसूत्र में भी इन स्त्री आचार्यों का उल्लेख मिलता है।[२२] ए०एस० अल्तेकर के अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि इन विदुषी महिलाओं ने निश्चित रूप से ज्ञान के विकास में अपना बहुमूल्य योगदान दिया, अन्यथा इनका नाम ब्रह्मयज्ञ में नित्य तर्पण किये जाने वाले ऋषियों की सूची में नहीं मिलता। लेकिन दुर्भाग्यवश हमें इन विदुषी महिलाओं के नाम के अतिरिक्त इनके विषय में और कोई जानकारी नहीं मिलती। इनके द्वारा किया गया कार्य भी सम्भवत: सदैव के लिए विस्मृत हो गया है।[२३] इस प्रकार उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट होता है कि गृह्यसूत्रों के समय तक महिलाओं में प्रभूत शिक्षा का प्रचार ही नहीं था, वरन् वे विभिन्न विषयों में विशेषज्ञता प्राप्त कर अध्यापन कार्य भी करतीं थीं।

वेदाध्ययन के साथ-साथ धार्मिक कार्यों में उनकी उपस्थिति अनिवार्य मानी जाती थी। पति-पत्नी दोनों संयुक्त रूप से यज्ञों का सम्पादन करते थे। आपस्तम्ब के अनुसार विवाह के बाद पति-पत्नी समस्त धार्मिक कृत्य एक साथ करते हैं, पुण्यफल तथा धन-सम्पत्ति में समान भाग पाते हैं। पत्नी पति की अनुपस्थिति में भेंट आदि भी दे सकती है।[२४] गोभिल गृह्यसूत्र के अनुसार पत्नी को गृहा कहते हैं और इसी से इस अग्नि को गृह्याग्नि कहते हैं। इसीलिए पत्नी के इच्छा करने पर पति को उसके साथ मिलकर प्रात: और सायं काल अग्नि में आहुति डालनी चाहिए।[२५] अन्यत्र वे कुछ आचार्यों के मत को उद्धृत करते हुए कहते हैं कि यदि पति प्रात:काल बलिहरण करता है तो सायंकाल में उसकी पत्नी को बलिहरण करना चाहिए।[२६] लेकिन पति की अनुपस्थिति में पत्नी ही प्रात: और सायं दोनों समय अग्नि में आहुति देती थी। वास्तव में यदि देखा जाए तो प्राय: सभी श्रौतयज्ञों में पत्नी की उपस्थिति उतनी ही आवश्यक मानी जाती थी, जितनी की पति की। पाणिनि ने पत्नी शब्द की व्युत्पत्ति में बताया है कि वही स्त्री पत्नी कहलाती है जो यज्ञ की अधिकारिणी एवं यज्ञ के फ़ल की भागी होती है।[२७] वैदिक काल की भाँति इस काल में भी स्त्रियाँ न केवल पति के साथ अपितु स्वतन्त्र रूप से भी यज्ञों का सम्पादन करती थीं। पारस्कर गृह्यसूत्र के अनुसार वे शस्य वृद्धि के उद्देश्य से सीता यज्ञ, पशुओं की वृद्धि एवं प्रचुरता के लिए रुद्रबली यज्ञ तथा कुंआरी कन्याओं के भावी वैवाहिक जीवन की सौभाग्य कामना से रुद्रयाग करती थीं।[२८] ये तीनों यज्ञ स्त्रियों द्वारा पुरुषों से स्वतन्त्र किये जाते थे। विवाह के समय प्रज्वलित अग्नि को जीवन भर प्रज्वलित रखने की जिम्मेदारी पति के साथ-साथ पत्नी की भी होती थी। उसे अकेले प्रतिदिन संध्या के समय और कभी-कभी प्रात:

---

२१ शांखायन गृह्यसूत्र, ४/१०/३, 'वाचक्नवी वडवा प्रातिथेयी। सुलभा मैत्रेयी। ये चान्ये आचार्यास्ते सर्वे तृप्यंत्विति।'

२२ आश्वलायन गृह्यसूत्र ३/४/४

२३ ए०एस० अल्तेकर, पूर्वोक्त, पृ० १०

२४ आपस्तम्ब धर्मसूत्र, २/६/१४/१६-१९, 'जायापत्योर्न विभागो विद्यते। पाणिग्रहणाद्धि सहत्वं कर्मसु तथा पुण्यफलेषु। द्रव्यपरिग्रहेषु च।'

२५ गोभिल गृह्यसूत्र, १/३/१५; 'कामं गृह्येऽग्नौ पत्नी जुहुयात् सायंप्रातर्होमौ गृहा: पत्नी गृह्य एषोऽग्निर्भवतीति।'

२६ वही, १/४/१९ 'स्त्री ह सायं प्रात: पुमानिति।'

२७ अष्टाध्यायी, ४/१/३३, 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे।'

२८ पारस्कर गृह्यसूत्र, २/१७,२०, ३/८,१०,

काल भी गृह्याग्नि में हविः देनी पड़ती थी। आश्वलायन गृह्यसूत्र के अनुसार पत्नी को पति की अनुपस्थिति में गृह की अग्नि की पूजा करती थी और उसके बुझ जाने पर वह उपवास करती थी। साय: **'अग्नये स्वाहा'** और प्रातः **'सूर्याय स्वाहा'** के मन्त्रों के साथ इस अग्नि में आहुति देती थी और एक-एक आहुति मौन रहकर प्रजापति को देती थी।[२९] आपस्तम्ब, भारद्वाज तथा हिरण्यकेशि गृह्यसूत्र के अनुसार वैवाहिक अग्नि को प्रज्वलित रखने की जिम्मेदारी पति-पत्नी दोनों की होती है और बुझ जाने पर पति अथवा पत्नी दोनों में से किसी एक को उपवास करना पड़ता है।[३०] गोभिल तथा आपस्तम्ब के अनुसार पत्नी को संध्या काल में पके हुये भोजन की आहुति देनी चाहिए।[३१] इसके साथ-साथ स्त्रियाँ यज्ञों के अवसर पर भी अनेक कार्यों का सम्पादन करतीं थीं, जैसे स्थालीपाक (अन्न की भूसी को अलग करना), उपस्कृत पशु को नहलाना और श्रौतयज्ञों में आज्य की ओर देखना।[३२] इस प्रकार ये उद्धरण स्पष्ट करते हैं कि वैदिक काल से लेकर गृह्यसूत्रों के समय तक स्त्रियों के यज्ञाधिकार में कोई कमी नहीं आई थी और वह अपने पति के साथ प्रत्येक धार्मिक कार्यों में कन्धे से कन्धा मिलाकर सहयोग करती थीं। साथ ही धार्मिक क्रियाओं की भाँति उनसे उत्पन्न फल के भोग में भी पति के समान ही अधिकारिणी समझी जाती थीं।

वैदिक काल की भाँति इस काल में भी स्त्रियाँ विना परदे के स्वच्छन्दतापूर्वक विचरण करती थीं और विना किसी प्रतिबन्ध के सामाजिक एवं धार्मिक समारोहों तथा उत्सवों में भाग लेती थीं। आश्वलायन गृह्यसूत्र में ऋग्वेद के एक मन्त्र के आधार पर कहा गया है कि जब वर वधू को लेकर अपने गांव वापस लौटता था तो प्रत्येक ठहरने के स्थान पर वह लोगों को दिखाई जाती थी।[३३] शांखायन गृह्यसूत्र में वर के द्वारा वधू के घर प्रस्थान करने पर सुन्दर युवती कन्याओं का उसके साथ चलने का उल्लेख मिलता है।[३४] काठक गृह्यसूत्र में भी विवाह के अवसर पर स्त्रियों का पुरुषों के साथ मिलकर गाने-बजाने तथा नाचने का उल्लेख मिलता है।[३५] श्रौतसूत्रों में भी स्त्रियों के महत्त्वपूर्ण यज्ञों में प्रमुख रूप से भाग लेने तथा जनता के बीज में जाने का उल्लेख मिलता है। ये सब उद्धरण स्पष्ट करते हैं कि समाज में परदा प्रथा का प्रचलन नहीं था और सामाजिक उत्सवों एवं समारोहों के अवसर पर वे पुरुषों के साथ समान रूप से भाग लेतीं थी।

इस समय सतीप्रथा का भी प्रचलन नहीं था। सम्पूर्ण सूत्र साहित्य में जहाँ मनुष्य की सभी सामाजिक प्रथाओं का उल्लेख मिलता है, वहाँ स्त्रियों के सती होने का संकेत मात्र भी नहीं मिलता। यदि सतीप्रथा उस समय प्रचलित होती तो गृह्यसूत्र के मरणोत्तर विधि-विधानों में इसका उल्लेख अवश्य मिलता, किन्तु हमें ऐसा कोई वर्णन नहीं मिलता। अपितु इसके विपरीत आश्वलायन गृह्यसूत्र के मरणोत्तर विधि-विधानों में यह व्यवस्था अवश्य

---

२९ आश्वलायन गृह्यसूत्र, १/९/१-९,

३० आपस्तम्ब गृह्यसूत्र, २/५/१४-१८, भारद्वाज गृह्यसूत्र, १/१८, हिरण्यकेशि गृह्यसूत्र, १/७/२२/३-५

३१ गोभिल गृह्यसूत्र, १/४/१६-१९, आपस्तम्ब गृह्यसूत्र ३/८/३-४

३२ हिरण्यकेशि गृह्यसूत्र १/७/२३/३-४, गोभिल गृह्यसूत्र ३/१०/२९-३१

३३ आश्वलायन गृह्यसूत्र, १/८/७, 'वासे वासे सुमङ्गलीरियं वधूरितीक्षकानीक्षेत।'

३४ शांखायन गृह्यसूत्र १/१२/१ 'स्नातं कृतमङ्गलं वरमविधवाः सुभगा युवत्यः कुमार्यै वेश्म प्रपादयन्ति।'

३५ काठक गृह्यसूत्र, २२/१, 'चतस्रोऽष्टौ वाविधवा। शाकपिण्डीभिः स्त्रियाऽन्नेन च ब्राह्मणान्भोजयित्वा वीणागायिभिः सह संगायेयुरपि वा चतुरो नर्तनं कुर्यात्।'

मिलती है कि विधवा स्त्री को पतिस्थानीय देवर, मृत पति का शिष्य या उसका कोई विश्वस्त वृद्ध दास श्मशान से घर लाता है।[३६] भारद्वाज गृह्यसूत्र में स्पष्टतः कहा गया है कि विवाह के समय प्रज्वलित अग्नि को नियमित तौर पर प्रदीप्त रखना चाहिए और पति की मृत्यु के बाद पत्नी को उस पवित्राग्नि को प्रज्वलित रखना चाहिए।[३७] इसी के साथ अधिकांश गृह्यसूत्र विधवा स्त्री के पुर्नविवाह का उल्लेख करते हैं और धर्मसूत्रों में विधवा स्त्री के जीवन निर्वाह के लिये अनेक नियमों का उल्लेख मिलता है। ये उद्धरण स्पष्ट करते हैं कि इस काल में सतीप्रथा का प्रचलन नहीं था। पति की मृत्यु के पश्चात् विधवा स्त्री या तो संयमपूर्ण जीवन व्यतीत करती थी अथवा पुर्नविवाह कर लेती थी। सम्पूर्ण सूत्रसाहित्य में सती प्रथा के प्रचलन का एकमात्र उद्धरण विष्णुधर्मसूत्र में मिलता है, जहाँ कहा गया है कि अपने पति की मृत्यु पर विधवा या तो ब्रह्मचर्य का पालन करती थी या उसकी चिता पर चढ़ जाती थी।[३८] लेकिन यह धर्मसूत्र अन्य धर्मसूत्रों की अपेक्षा काफी बाद का माना जाता है।

इस काल में बाल विवाह का भी प्रचलन नहीं था। विवाह प्रायः वयस्क होने पर ही किया जाता था। इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि अधिकांश गृह्यसूत्रों में विवाह के लिए **'नग्निका'** कन्या को सर्वश्रेष्ठ माना गया है।[३९] नग्निका का साहित्यिक अर्थ है **'नग्न'**। परन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि इन लेखकों का वास्तव में इस शब्द से क्या अभिप्राय था। यद्यपि परवर्ती टीकाकारों ने इसका अभिप्राय उस कन्या से किया है जिसे अभी जवानी की भावनाओं की अनुभूति नहीं हुई है अर्थात् जो नग्न रहने में लज्जा का अनुभव नहीं करती है। परन्तु गृह्यसूत्रों में जिस रूप में नग्निका कन्या का उल्लेख मिलता है उससे यह विचार उपर्युक्त प्रतीत नहीं होता। हारीत के अनुसार नग्निका कन्या विवाह के समय ब्रह्मचारिणी होनी चाहिए।[४०] हिरण्यकेशि गृह्यसूत्र के अनुसार विवाह के समय कन्या का नग्निका होने के साथ-साथ अखण्डित कुमारी होना भी अनिवार्य है।[४१] किन्तु यह उसी दशा में सम्भव है जब कन्या युवा हो। महाभारत में सोलह वर्ष की कन्या को नग्निका कहा गया है।[४२] इससे स्पष्ट होता है कि विवाह के समय कन्या अल्पायु नहीं होती थी। पुनः सूत्र साहित्य में जिस रूप में विवाहों का वर्णन मिलता है उससे भी यह स्पष्ट हो जाता है कि विवाह के समय कन्या अल्पायु नहीं होती थी। अधिकांश गृह्यसूत्रों में विवाह के पश्चात् चौथे दिन चतुर्थी क्रिया का उल्लेख मिलता है।[४३] इस दिन पति सन्तान की इच्छा से अपनी पत्नी के साथ समागम करता था। एक प्रकार से यह क्रिया परवर्ती गर्भाधान संस्कार के समान ही है। इन उद्धरणों से यह स्पष्ट होता है कि विवाह के समय कन्या अवश्य ही युवती होती होगी, अन्यथा विवाह के ठीक चौथे दिन हमारे धर्मशास्त्रकार इस संस्कार की अनुमति कदापि नहीं देते। दूसरा यदि विवाह के समय कन्या युवती न होती तो इन

---

३६ आश्वलायन गृह्यसूत्र, ४/२/१८, 'तामुत्थापयेद्देवरः पतिस्थानीयोऽन्तेवासी जरद्दासो वोदीर्ष्वनार्यभिजीवलोकमिति।'

३७ भारद्वाज गृह्यसूत्र, ३/१

३८ विष्णु धर्मसूत्र, २५/१४,'मृते भर्तरि ब्रह्मचर्यं तदन्वारोहणं वा।'

३९ गोभिल गृह्यसूत्र, ३/४/६, मानव गृह्यसूत्र, १/७/८, वैखानस गृह्यसूत्र, ६/१२, ३/२, हिरण्यकेशि गृह्यसूत्र, १/६/१९/२,

४० हारीत गृह्यसूत्र, १/१९/२, 'नग्निका सजाता ब्रह्मचारिणी।'

४१ हिरण्यकेशि गृह्यसूत्र, १/६/१९/२

४२ अल्तेकर, पूर्वोक्त, पृं० ५१, 'त्रिंशद्वर्ष षोडशवर्षां भार्यां विन्देत नग्निकाम्।'

४३ आपस्तम्ब गृह्यसूत्र, ३/८/१४-११, पारस्कर गृह्यसूत्र १/११/१, शाखायन गृह्यसूत्र १/१८/१, गोभिल गृह्यसूत्र २/५/१, खादिर गृह्यसूत्र १/४/१२-१६,

गृह्यसूत्रकारों यह विधान अप्रासंगिक तथा व्यर्थ होता, क्योंकि आठ या दस वर्ष की आयु वाली कन्या के लिए विवाह के तीसरे या चौथे दिन पति-समागम का आदर्श हास्यास्पद होता। अत: इससे स्पष्ट जान पड़ता है कि इन सूत्रकारों के समय में भी ऐसी ही कन्याओं का विवाह होता था जो युवती थी तथा जो गर्भधारण में समर्थ समझी जाती थी। इसके साथ-साथ कुछ गृह्यसूत्रों से पता चलता है कि कन्याएं वैवाहिक क्रियाओं के बीच में ही रजस्वला हो जाती थी।[४४] इससे भी यह स्पष्ट होता है कि युवा होने पर ही कन्याओं का विवाह किया जाता था।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि इस काल तक स्त्रियों को न केवल वेदाध्ययन का पूर्ण अधिकार प्राप्त था, अपितु वे अध्यापन कार्य भी करती थीं। धार्मिक कार्यों में उनकी उपस्थिति अनिवार्य मानी जाती थी। वे न केवल पति के साथ अपितु स्वयं भी यज्ञादि धार्मिक कार्यों का सम्पादन करती थीं। उन पर किसी प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं था। वे स्वतन्त्रता पूर्वक विचरण करती थीं। सतीप्रथा, परदाप्रथा तथा बालविवाह जैसी कुरीतियाँ समाज में प्रचलित नहीं थी, अपितु इसके विपरीत विधवाविवाह तथा नियोग प्रथा जैसी परम्पराएँ समाज में प्रचलित थी। जिससे उनकी दशा प्रर्याप्त उन्नत थी। यदि यह कहा जाये कि गृह्यसूत्रों के समय में स्त्रियाँ उन समस्त अधिकारों का उपभोग करती थीं, जो वैदिक स्त्रियों को प्राप्त थे तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

---

४४ वैखानस गृह्यसूत्र ६/१३, बौधायन शेषसूत्र, ४/१६/४, कौशिक सूत्र, ७९/१६

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २००९ अङ्क १२ (पृ०५८-६५)

ऋग्वैदिक अनुक्रमणियों में निपात विचार

डॉ० मीरा रानी रावत[१]

(छ) निपात

चतुर्विध पद विभागों में निपातों का विशिष्ट महत्त्व है। भाषाशास्त्रियों का मत है कि निपात भाषा के बीज के समान है।[२] इसी बीज से भाषा रूपी वृक्ष पल्लवित हुआ है। प्रारम्भ में भावाभिव्यक्ति संकेत के माध्यम से होती थी। शनैः शनैः भावों को प्रकट करने हेतु संक्षिप्त उच्चारण अनायास ही उच्चरित हो गये, यही शब्द तत्तद् भावों की अभिव्यक्ति में सहायक हुए। इन्हीं भाषा के बीजों को निपात संज्ञा से अभिहित किया गया।[३]

परिभाषा एवम् स्वरूप

निपात शब्द 'नि' उपसर्ग पूर्वक पत् धातु से भाव में घञ् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है।[४] इसका अर्थ है गिरना, पतन आदि। पदविभाग की विधा विशेष के लिये भी इसका प्रयोग किया जाता है। निपात को परिभाषित कर पाना अत्यन्त कठिन है। सम्भवतः इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर व्याकरण शास्त्रवेत्ता पाणिनि ने इसको परिभाषित न करके केवल निपातों का परिगणन मात्र किया है। यास्क का विचार है कि विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होने के कारण इनको निपात कहा जाता है।[५] आचार्य दुर्ग ने भी इसी विचार की पुष्टि की है।[६]

शौनक ने यास्क का अनुसरण करते हुए निपातों का विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होने का वर्णन किया है। बृहद्देवता में उल्लेख मिलता है कि निपात विभिन्न सम्बद्धात्मक क्रियाओं के उद्देश्य से उपमा के अर्थ में तथा दोष पूर्ण पादों को पूर्ण करने के लिये प्रयुक्त किये जाते हैं।[७] ऋक् प्रातिशाख्य में उसके प्रयोग को ही प्रमुख आधार बनाया गया।[८] माधव भट्ट ने ऋग्वेदानुक्रमणी में विविध अर्थों में प्रयुक्त अथवा पतित होने के हेतु को स्वीकार किया है।[९]

कतिपय विद्वानों का विचार है कि ये शब्द अपने अर्थ को नाम तथा आख्यात के नियम से गिराते हैं, संयुक्त करते हैं, अतः निपात कहलाते हैं।[१०] सम्भवतः निपात मूलतः विभक्ति युक्त थे, कालक्रम के प्रभाव से

---

१. डॉ० मीरा रानी रावत, रीडर-संस्कृत विभाग, आर्य कन्या महाविद्यालय, हरदोई

२. ऋ० १/११७

३. द्र० वही माध्व भाष्य

४. नितरा पतनमिति नि+पत्+घञ्। श.क.द्रु. भाग-२, पृ. ८८३

५. अथ निपाताः उच्चावच्चैष्वर्थेषु निपतन्ति अप्युपमार्थे अपि कर्मोपसंग्रहार्थे। अपि पदपूरणाः॥ निरु० १/४

६. उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्तीति निपाताः। निरु० १/४

७. उच्चावचेषु चार्थेषु निपाताः समुदाहृताः। कर्मोपसंग्रहार्थे च क्वचिच्चौपम्यकारणात्। ऊनानां पूरणार्था वा पादानामपरे क्वचित्। बृ.दे. २/८९-९०

८. निपातानामर्थवशान्निपातनात्। ऋ० प्राति० १२/२६

९. उच्चावचेषु निपततामर्थेष्वेषु यथायथम्। ऋग्वेदानु ३/१/२७

१०. नियमेन पातयन्ति स्वार्थमत्यस्मिन्। [illegible] प्रथम भाग, पृ० ४४५।

उनकी विभक्तियों का पतन हो गया। अत: वे शब्द जिनसे विभक्तियाँ पतित हो गयी हैं, वे निपात कहे जाते हैं।[११] पाणिनि ने भी अपनी अष्टाध्यायी में निपातन शैली को अपनाया है, जिसके अनुसार शब्द के प्रकृति-प्रत्यय, सम्बन्ध, विकार आदि साधनिका की व्याख्या न करके शब्द जैसा है, उसी रूप में सिद्ध अङ्गीकार कर लिया जाता है। अत: जो शब्द किसी प्रकार के रूप परिवर्तन या शब्द में होने वाले विकारों के विना ज्यों के त्यों वाक्य में प्रयुक्त होते हैं, उन्हें निपात कहा जाता है।[१२] दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि जो शब्द भाषा में अज्ञात रूप मे आ गिरे तथा जिनके प्रकृति प्रत्यय के विषय में स्पष्ट रूप से कुछ भी ज्ञात नहीं है, वे निपात हैं। निपात शब्द का गौण अर्थ में भी बाहुल्येन प्रयोग दृष्टिगत होता है। निरुक्त में देवताओं के प्रसङ्ग में गौण देवताओं के लिये निपात शब्द प्रयोग हुआ है।[१३] बृहद्देवता में भी प्रधान तथा गौण देवताओं के स्वरूप के सम्बन्ध में उल्लेख मिलता है कि जिसको हवि दी जाती है तथा जिसकी सूक्तों में स्तुति की जाती है, वह प्रधान देवता तथा जिसकी अन्य प्रमुख देवताओं के साथ प्रसङ्गवश गणना की जाए, वे निपात गौण देवता होते हैं।[१४]

महत्त्व

वेदों में विभिन्न स्थलों पर भावों के उचित व्यक्तीकरण में निपातों की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। माधव भट्ट ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि मन्त्र और ब्राह्मण में निपातों का प्रयोग वाक्य में अर्थ की स्पष्टता एवम् उत्कर्ष उत्पन्न करने के लिये किया जाता है। कतिपय स्थलों पर मन्त्र का मुख्य अर्थ ही निपात के प्रयोग पर केन्द्रित हो जाता है। यदि निपात को मन्त्र से हटा दिया जाय तो मन्त्र का अर्थ असंगत-सा प्रतीत होता है। एक ही निपात विविध स्थलों पर विविध अर्थें में प्रयुक्त हुआ है और उसके अर्थ निर्धारण में भाष्यकार भी एकमत नहीं है।[१५] माधव ने ऋग्वेदानुक्रमणी के छ: अध्यायों में निपातों के अर्थ, उनके सार्थक निरर्थक प्रयोग, संख्या, अनेकार्थता आदि विषयों पर सविस्तर विवेचन किया है, तथापि उन्होंने भी निपातों से सम्बद्ध अनेक तथ्यों का संकेत मात्र करके समुचित निरीक्षण की आवश्यकता पर बल दिया है।[१६] उनका स्पष्ट कथन है कि निपातों के प्रयोग को जानने में कुशल व्यक्ति उनके विविध अर्थों की कभी उपेक्षा नहीं करते।[१७] यास्क ने भी निपातों के विभिन्न अर्थों के अनुसन्धान पर बल दिया है।[१८] वस्तुत: निपातों के महत्त्व का कारण उनका बहुल तथा विविध प्रयोग, विविध अर्थाभिव्यक्ति तथा भाष्यकारों का मत वैभिन्न्य है।

---

११. द्र० निपातार्थ निर्णय हरिश्चन्द्र मणि त्रिपाठी।
१२. निपात्यन्ते यथा कथञ्चित् साधु क्रियते इति कर्मणि घञ्। टे०ट०ऑ०सं०ग्रा० प्रथम भाग, पृ० ४४७
१३. यस्तु सूक्तं भजते यस्मै हविर्निरुप्यतेऽयमेव सोऽग्निर्जातवेदा: निपातमेवैते उत्तरे ज्योतिषो एतेन नामधेयेन भजेते। निरु० ७/२०
१४. निरुप्यते हविर्यस्यै सूक्तं च भजते च या सैव तत्र प्रधानं स्यान् न निपातने या स्तुता। मन्त्रेऽन्यदैवतेऽन्यानि निगद्यन्तेऽत्र कानिचित्। सालोक्यात् साहचर्याद्वा तानि नैपातिकानि तु। बृ०दे० १/१८-१९
१५. माध्वस्तत्र वदति स्फुटत्वाद् ग्रहणादिकम्। वाक्यार्थे जनयन्त्येते मन्त्रब्राह्मणयोरिति॥ ऋग्वेदानु० ३/१/२८
१६. उच्चावचेषु निपततामर्थेष्वेषां यथायथम्। हानोपादानविद्विप्रो न मन्त्रार्थेषु गुह्यति॥ वही ३/१/२८
१७. निपातानां प्रयोगस्य स्थानं ज्ञात्वा न गुह्यति। अतो लोकानुसारेण निपातार्थं प्रदर्शयेत्। वही ३/३/२२
१८. एवमुच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति त उपक्षितव्या:। निरु० १/११

निपातों की संख्या

निपातों की संख्या के सम्बध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। विभिन्न आचार्यों ने निपातों की गणना का प्रयास किया है। पाणिनि ने निपातों का परिगणन निपात संज्ञा के अन्तर्गत किया है[१९] और इन्हें अव्यय माना है।[२०] निपात संज्ञा के अधिकार में पठित उपसर्ग गति तथा कर्मप्रवचनीय संज्ञक शब्दों की गणना निपातों में ही की गयी है, तीनों संज्ञाओं के अन्तर्गत १२५ शब्दों का परिगणन किया गया है।[२१] वामन जयादित्य ने निपात संज्ञा के चादिगण में १३९ निपातों का उल्लेख किया है।[२२] तैतालीस अन्य निपातों की गणना भी की है।[२३] अत: पाणिनि द्वारा परिगणित तीनों संज्ञाओं के १२५ निपातों को समाविष्ट कर लेने पर संख्या ३०७ हो जाती है।[२४] इनमें से १६ कर्मप्रवचननीय शब्दों को पृथक् कर देने पर संख्या २९१ हो जाती है। कर्मप्रवचनीय शब्दों का परिगणन उपसर्गों के अन्तर्गत किया जा चुका है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि पाणिनि तथा काशिकाकार द्वारा निपात वैदिक तथा लौकिक संस्कृत साहित्य में प्रयुक्त किये जाते हैं। अत: वैदिक साहित्य में प्रयुक्त निपातों की संख्या विचारणीय है। वाजसनेयि प्रातिशाख्य में १४ निपातों का उल्लेख मिलता है।[२५] निपातों की संख्या के सम्बन्ध में आचार्य शौनक का कथन है कि निपातों की संख्या निर्धारित नहीं है, प्रकरण के अनुसार निपातों का प्रयोग पद-पद पर होता है।[२६] आचार्य ने निरुक्त में निपातों की संख्या अपरिमित मानी है।[२७] ऋ० प्राति० में भी निपातों की संख्या की अनिश्चितता का कथन है।[२८] वेंकट माधव ने ऋग्वेदानुक्रमणी में ऋग्वेद में प्रयुक्त होने वाले १३० निपातों का उल्लेख किया है।[२९] उन्होंने ४० आद्युदात्त,[३०] पुन: २६ आद्युदात्त,[३१] ४० अन्तोदात्त[३२] निपातों का उल्लेख किया है। तत्पश्चात् पुन: १०अन्तोदात्त, २ स्वरित तथा १२ सर्वानुदात्त[३३] निपातों का उल्लेख है।

वहाँ भी उल्लेख मिलता है कि निपातों की गणना सम्भव नहीं है, क्रियावाची शब्दों के साथ लगने वाले

---

१९. प्रागीश्वरान्निपाता:। चादयो सत्त्वे। अष्टा० १/४/५७-५८

२०. स्वरादिनिपातमव्यम्। वही १/१/३६

२१. द्र० ऋग्वेद में निपात, पृ० १३, डॉ० सत्यपाल

२२. द्र० अष्टा० १/४/५६ पर काशिकावृत्ति

२३. द्र० ऋग्वेद में निपात, पृ० १३

२४. वही

२५. वाज० प्राति० २/१६

२६. इयन्त इति संख्यानां निपातानां न विद्यते। वशात्प्रकरणस्यैते निपात्यन्ते पदे पदे॥ बृ० दे० २/९३

२७. अपरिमिताश्च निपाता:। निरु० दुर्गवृत्ति १/१/८

२८. निपातानामर्थवशान्निपातनादनर्थकानामितरै च सार्थका:। नैयन्तं - - - संख्येह वाङ्मये मिताक्षरैश्चाप्यमिताक्षरै:॥ ऋ०प्रा०१२/२६

२९. द्र० ऋग्वदानु० ३/१/१-१२

३०. ऋग्वेदानु० ३/१/३-५

३१. वही ३/१/६-७

३२. वही ३/१/७-१०

३३. वही ३/१/१०-१२

उपसर्ग संज्ञक निपात २० हैं।[३४] वास्तव में निपातों की संख्या को अन्तिम नहीं कहा जा सकता। यही कारण है कि माधव भट् ने **'इयन्त इति संख्यानं निपातानां न शक्यते'**[३५] कहकर निपातों की संख्या आनिश्चित मानी है। निपातों के सूक्ष्म अन्वेषण की आवश्यकता को भी स्वीकार किया है।[३६]

निपातों की संख्या में अनिश्चितता का कारण निपातों का विविध प्रयोग है। वैदिक साहित्य में एक ही पद कहीं संज्ञा रूप में, तो कहीं विशेषण रूप में, अन्यत्र निपात रूप में प्रयुक्त दृष्टिगोचर होता है। यही विविध प्रयोग संदेह की स्थिति को उत्पन्न करता है।

निपातों का वर्गीकरण

अर्थ की दृष्टि से विचार करने पर निपातों के स्वरूप में मतवैभिन्य दृष्टिगोचर होता है, वाचकतावादी विद्वान् निपातों को पृथक् अर्थ का वाचक स्वीकार करते हैं। इसके विपरीत द्योतकतावादी का मत है कि निपातों में अर्थ बोधकता शक्ति नहीं होती। वे नामादि पदों का प्रकाशन मात्र करते हैं। निपातों का सार्थक व निरर्थक पक्ष भी विवादित है जो निपात अर्थ से युक्त होते हैं अर्थात् वाच्यार्थ में जिनका योगदान होता है, वे सार्थक निपात कहलाते हैं। इसके विपरीत जो निपात वाक्यार्थ में किञ्चित् मात्र भी सहायक नहीं होते हैं, केवल पादपूर्ति या छन्दःपूर्ति हेतु हेतु प्रयुक्त होते हैं, वे निरर्थक निपात कहलाते हैं।[३७] कम्, ईम्, इद्, व निपात इसी वर्ग में आते हैं।[३८] वेंकट माधव का विचार है कि निपात स्पष्टता तथा उत्कर्ष के विधायक होते हैं, यह स्पष्टता तथा उत्कर्ष कहीं सूक्ष्म होता है, कहीं स्फुट अर्थात् व्यक्त होता है, वहाँ निपात सार्थक होते हैं और जहाँ सूक्ष्म तथा अव्यक्त होते हैं वहाँ निपात पादपूरक होते हैं।[३९]

निपातों के वैज्ञानिक एवम् सूक्ष्म अध्ययन की महती आवश्यकता पर विचार करते हुए यास्क ने निपात को तीन वर्गों में विभाजित किया है- उपमार्थक कर्मोपसंग्रहार्थक एवम् पादपूरण।[४०] शौनक ने भी यास्क से प्रभावित निपातों को तीन भागों में वर्गीकृत किया है। उन्होंने अपने वर्गीकरण में कर्मोपसंग्रहार्थक निपातों को प्राथमिकता दी है, तत्पश्चात् उपमार्थक तथा पादपूरणार्थक निपातों का उल्लेख किया है।[४१]

वेंकट माधव ने निपातों को चार श्रेणियों में विभक्त किया है। आद्युदात्त, अन्तोदात्त, सर्वानुदात्त एवं स्वरित।[४२] अर्थ की दृष्टि से वर्गीकरण की सम्भावना को व्यक्त करते हुए निपातों को मुख्यतः पाँच वर्गों में विभक्त

---

३४. उपसर्गास्तु विज्ञेयाः क्रियायोगेषु विंशतिः॥ वही ३/१/२
३५. वही ३/१/२
३६. ऋचां निरीक्षणादेते निपातः शतमुद्धृताः। त्रिंशच्च सूक्ष्मेक्षिकया समुद्धार्यास्तथाऽपरे॥ वही ३/१/१३
३७. बृ०दे० २/९०, ऋ०प्रा० १२/३०, वा०प्रा० २/१६
३८. कमीमिद्विति विज्ञेया ये त्वनेकार्थकाश्च ते। बृ०दे० २/९१
३९. माधवोऽत्र वदति स्फुटत्वोद्ग्रहणादिकम्। वाक्यार्थे जनयन्त्येते मन्त्रब्राह्मणयोरिति॥ स्फुटत्वोदग्रणादिश्च क्वचित् सूक्ष्मः क्वचित् स्फुटः। यत्र स्फुटस्तदा सार्थः सूक्ष्मे स्युः पूरणा इति॥ ऋग्वेदानु ३/१/१८-१९
४०. निरु० १/४
४१. उच्चावचेषु चार्थेषु निपाताः समुदाहृताः। कर्मोपसंग्रहार्थे च क्वचिच्चौपम्यकारणत्॥ ऊनानां पूरणार्थे वा पदानामपरे क्वचित्। मिताक्षरेषु ग्रन्थेषु पूरणार्थास्त्वनर्थकाः॥ बृ०दे० २/८९-९०

किया जा सकता है- विकल्पार्थक, समुच्चयार्थक विनिग्रहार्थक, उपमार्थक एवम् पादपूरणार्थक। यद्यपि निपातों की संख्या तथा विविध प्रयोगों को देखते हुए इस वर्गीकरण में सभी निपातों का समावेश नहीं हो पाया है, फिर भी यह वर्गीकरण अनुक्रमणी साहित्य में उपलब्ध निपातों की स्थिति पर प्रकाश डालने में पूर्णतया सक्षम है।

यहाँ उपर्युक्त वर्गीकरण के आधार पर ही अनुक्रमणियों में उपलब्ध निपातों का वर्णन किया जा रहा है। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य उपलब्ध संङ्गत पर्यायवाची, आनन्तर्यवाची, निषेधार्थक आदि निपातों पर भी प्रकाश डाला जायेगा।

विकल्पार्थक निपात

वेंकट माधव ने विकल्पार्थक निपातों का उल्लेख किया है[४३] ये निपात ऋचाओं के आदि में प्रयुक्त नहीं होते हैं।[४४] निपातों के विभिन्न अर्थों में प्रयोग के कारण विकल्पार्थक निपातों की संख्या अधिक है।

उदाहरणार्थ 'उ' निपात के क्रोध विस्मय, अनुकम्पा, आदेश स्वीकृति प्रश्न सम्बोधन, निषेध, अवधारणा तथा 'अंगीकार' अर्थ मिलते हैं।[४५] वेंकट माधव ने इसे विनिग्रहार्थक[४६] निश्चयार्थक[४७] तथा पादपूरणार्थक[४८] भी माना है। 'उ' निपात ऋक् पाद के आदि में भी प्रयुक्त मिलता है।[४९] 'उ' उत्तम अर्थ में भी प्रयुक्त मिलता है।[५०] 'नञ्' निपात का प्रयोग भी निषेध, समुच्चय, इव, तथा पादपूरण अर्थ में होता है।[५१] उपमार्थक नञ् का प्रयोग वाक्य के आदि में नहीं होता है।[५२] इसी प्रकार अन्य निपात भी अनेक अर्थो में प्रयुक्त होते हैं।

समुच्चयार्थक निपात

माधव ने समुच्चयार्थक निपातों का भी उल्लेख किया है।[५३] समुच्चयार्थक निपात भी पाद के आदि में प्रयुक्त नहीं होते हैं।[५४] माधव ने नञ् निपात को समुच्चयार्थक माना है।[५५]

यथा-**अग्निमुषां न जरते**[५६] में नञ् समुच्चयार्थक है। यास्क ने यहाँ नञ् को निषेधार्थक माना है।[५७]

---

४३. ऋग्वेदानु० ३/३/२

४४. सर्वे वे न प्रयुज्यन्त ऋक्पादादिष्विति स्थितिः। इव देवदत्त इति, न हि लोके प्रयुज्यते॥ ऋग्वेदानु० ३/३/३

४५. श०क०द्रु०पृ० २१८, वैज० को पृ० २१५, वाच० पृ० १०५०

४६. उकारो विनिग्रहार्थस्ताऽनेकत्र दर्शनात्। ऋग्वेदानु ३/१/२

४७. एवकारेण सदृश उकारोऽन्यत्र दृश्यते। वही ३/१/३२

४८. उदुष्य देवः सविता पूरणस्तादृशेषु सः। वही ३/१/२२

४९. उ लोकमग्ने कृणवः। ऋ० ५/४/११

५०. ऋ० ९/२/८

५१. ऋग्वेदानु० ३/३/१३-१५

५२. प्रयुज्यते न वाक्यादावुपमार्थ इति स्थितिः। वही ३/३/१४

५३. ऋग्वेदानु० ३/३/२

५४. वही ३/३/३

५५. वही ३/३/१५

५६. ऋ० १/१८१/९

'नञ्' के समुच्चय अर्थ को प्रयुक्त करते हुए अन्य उदाहरण भी उपन्यस्त किये जा सकते हैं।[५८] च निपात समुच्चय अर्थ में प्रयुक्त होता है। यह चेत् के अर्थ में भी मिलता है, समुच्चय के अर्थ में जो काकु होता है, उसी विशेष अभिप्राय को विद्वान् चेत् का अर्थ मानते है[५९] और निपात किस स्थल नर चेत् (यदि) अर्थ का वाचक होगा तथा कहाँ पर समुच्चयार्थ होगा इस सम्बन्ध मे वेंकट माधव का कथन है कि जब 'च' निपात के योग में तिङन्त पद उदात्त स्वर युक्त होता है तो वह च निपात चेत् के अर्थ में प्रयुक्त होता है तथा च से युक्त तिङन्त पद सर्वानुदात्त होता है, पर 'च' निपात समुच्चय अर्थ वाला होता है।[६०]

त्वं च सोम नो वशो जीवातुं न मरामहे[६१] इन्द्रश्च मृळयाति नः[६२]

इन ऋचाओं में 'च' निपात क्रमशः **'वहातः'**, मरामहे तथा **'मृळयाति'** तिङन्त पदों से युक्त है। ये तिङन्त पद उदात्त स्वर वाले हैं। अतः **'च'** का अर्थ चेत् है।

समुच्चय अर्थ में **'हि'** निपात भी प्रयुक्त होता है। उससे पूर्व विद्यमान तिङन्त पद सर्वानुदात्त होता है।[६३] अन्यत्र भी इस प्रकार के प्रयोग दृष्टिगोचर होते हैं।

विनिग्रहार्थक निपात

विनिग्रह शब्द निर्धारण का वाचक है। दूसरे शब्दों में विनिग्रहार्थक को अवधारणार्थक कहा जा सकता है। वेंकट माधव ने 'ह' को विनिग्रहार्थक निपातों में माना है।[६४]

यथा-त्व ह त्यदिन्द्र विश्वम्[६५]

यहाँ 'ह' विनिग्रह के अर्थ में प्रयुक्त है। अह निपात भी विनिग्रह अर्थ में प्रयुक्त दृष्टिगोचर होता है।

अत्राह तत्कण्व एषाम्[६६] अत्राह दानुमातिरः[६७] अत्राह तदुरूगायस्य[६८] दिप्सन्त इद्रिपवो नाह[६९]

इन ऋक् मन्त्रों में अह निपात विनिग्रहार्थक है। सर्वत्र तिङन्त तद सर्वानुदात्त है।[७०] यहाँ **'अह'** एव अर्थ का वाचक है।

---

५८. द्र०ऋ० १/१६४/४८त्र १/५९/४
५९. चकारः समुच्चयार्थश्चेदर्थे चापि प्रवर्तते। काकुसमुच्चये कश्चित् तं चेदर्थं विदुर्बुधाः॥ ऋग्वेदानु ३/४/२
६०. यद्योगे तिङुदात्तः स्यात् स चेदर्थः प्रकीर्तितः। समुच्चयार्थं तं विद्याद् यद्योगे तिङ् निहन्यते॥ ऋग्वेदानु ३/४/३
६१. वही १/९१/६
६२. वही २/४१/११
६३. ऋग्वेदानु० ३/५/१३
६४. ऋ० ६/२०/१३
६५. त्व ह त्यदिन्द्र विश्वम् वर्तते हि विनिग्रहे। ऋग्वेदानु० ३/४/७
६६. ऋ० १/४८/४
६७. वही ४/३०/७
६८. वही १/१५४/६
६९. वही १/१४७/३
७०. अहा विनिग्रहार्थीयाश्चत्वारः समुदाहृताः। दृश्यन्ते बहवोऽन्ये च सर्वेषु निहतास्तिङः॥ ऋग्वेदानु० ३/४/९

उपमार्थीय निपात

उपमा सादृश्य या तुलना रूप अर्थ के बोधक निपात उपमार्थीय निपात कहलाते हैं, ऋग्वेदानुक्रमणी में उपमार्थक निपातों का उल्लेख मिलता है।[७१] ये निपात भी आदि में प्रयुक्त नहीं होते हैं।[७२] शौनक ने इव, न चित् और नु इन चार निपातों को उपमार्थक माना है।[७३]

इव निपात वैदिक एवम् लौकिक साहित्य में प्रयुक्त होता है। नञ् निपात उपमा निषेध तथा समुच्चय अर्थ में प्रयुक्त होता है।[७४] उपमार्थक नञ् के सम्बन्ध में माधव का स्पष्ट कथन है कि यह वाक्य के आदि में प्रयुक्त नहीं होता है।[७५]

बृहद्देवता में चित् और नु निपात का परिगणन उपमार्थक निपातों में किया गया है।[७६] माधव ने 'चित्' निपात को अनर्थक निपात माना है।[७७] **'चित्'** निपात उपमा अर्थ में भी प्रयुक्त मिलता है-**'कुमारश्चित् पितरं वन्दमानम्**[७८] यहाँ चित् निपात उपमा अर्थ में प्रयुक्त है। माधव ने 'नु' निपात को शीघ्रतावाची माना है तथा नु निपात के वाक्य के आदि में प्रयुक्त होने का उल्लेख मिलता है।[७९] **नू मूर्तो दयते**[८०] यहाँ 'नु' निपात क्षिप्रार्थक है। **वृक्षस्य नु ते पुरूहूत वयाः**[८१] यहाँ 'नु' निपात उपमार्थक है।

पादपूरणार्थक निपात

वाक्य में प्रयुक्त पदों के द्वारा जब प्रकृत अर्थ परिसमाप्त हो जाता है अर्थात् वाक्यार्थ पूर्ति हेतु जहाँ निपातों की अपेक्षा नहीं रहती है तथा प्रयुक्त निपात का वाक्यार्थ में किञ्चित् मात्र भी सहयोग नहीं होता हैं। निपात छन्दोबद्ध ग्रन्थों में पादपूर्त्ति या छन्दपूर्त्ति के उद्देश्य से प्रयुक्त होते हैं।

आचार्य शौनक ने बृहददेवता में स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि ऐसे निपात जिनका छन्दात्मक स्थलों पर केवल पादों का दोषपूर्त्ति मात्र की दृष्टि से प्रयोग किया जाता है, वह निरर्थक होते हैं। यास्क का कथन है कि अपरिसमाप्त वाक्यार्थों में यदि निपात अन्वित न हो तो उन्हें ऋक् में पादपूरक समझना चाहिये।[८२]

---

७१. ऋग्वेदानु ३/३/२

७२. सर्वे ते न प्रयुज्यन्त ऋक्पादादिष्विति स्थितिः। ऋग्वेदानु० ३/३/३

७३. बृ० दे० २/९१ तु० निरु० १/४

७४. ऋग्वेदानु० ३/३/१३-१४

७५. वही ३/३/१४

७६. बृ० दे० २/९१

७७. ऋग्वेदानु० ३/१/१५

७८. ऋ० २/३३/१२

७९. नु शब्दः क्षिप्रवचनो वाक्यादावपि दृश्यते। ऋग्वेदानु० ३/३/२१

८०. ऋ ७/१००/१

८१. वही ६/२३/४

८२. वाक्यार्थेष्वप्रवृत्तेषु निपाताश्चेदनन्विताः। ऋक् पादपूरणास्ते स्युरिति यास्कस्य दर्शनम्। ऋग्वेदानु० ३/१/१४ तु० अथ ये प्रवृत्तेऽर्थेऽमिताक्षरेषु ग्रन्थेषु वाक्यपूरणा आगच्छन्ति, पादपूरणास्ते मिताक्षरेष्वनर्थकाः कमीमिद्विति। निरु० १/९

बृहद्देवता में कम्, ईम् और व इन निपातों को पादपूरक माना गया है।[८३] ऋग्वेदानुक्रमणी में न, वै, किल, नु, नाम, अथ, खलु, इत्, आत्, अघ, सीम्, उ, कम्, उत्, नूनम्, इव्, ईम्, घ, स्म, चित्, ह, च, इन निपातों को पादपूरण माना है।[८४] उनका कथन है कि अन्य निपातों में पादपूरण नहीं देखा जाता है, 'न' आदि निपात भी तभी पादपूरण होते हैं जब ये वाक्ययर्थ में अन्वित नहीं होते[८५] पादपूरक निपात आदि में प्रयुक्त नहीं होते है,[८६] परन्तु यास्क पादपूरक निपातों के आदि में प्रयोग से सहमत हैं।[८७]

जहाँ निर्धारण सम्भव नहीं है ऐसे स्थलों पर 'उ' को पादपूरणार्थक माना गया है।[८८] इसके अतिरिक्त इत्,[८९] ईम्[९०], तथा नञ्[९१] निपातों को भी पादपूरण हेतुक माना गया है।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि ब्राह्मण ग्रन्थों में जहाँ पादपूरण की अपेक्षा नहीं, वहाँ पादपूरणार्थक निपातों का क्या प्रयोजन है? वेंकट माधव ने इस विषय पर स्पष्ट रूप से कहा कि मन्त्र और ब्राह्मण में ये निपातों वाक्य के अर्थ में स्पष्टता एवं उत्कर्ष उत्पन्न करते हैं। जहाँ स्पष्टता एवं उत्कर्ष व्यक्त होते हैं, वहाँ निपात सार्थक कहलाते हैं तथा जहाँ अव्यक्त होते, वहाँ ये निपात पादपूरणार्थक होते हैं।[९२]

पर्यायवाची निपात

निपातों पर विशेष विवेचना करते हुए माधव भट्ट ने समानार्थक निपातों का भी वर्णन किया है। **'अथ'** और अध निपात समान अर्थ वाले हैं। ऋग्वेद के विद्वान् इन निपातों का पाठ अत्यन्त सावधानी से करते हैं, जिससे इन दोनों निपातों की पृथक्ता का ज्ञान हो सके।[९३] दोनों निपातों में वर्णों तथा मात्राओं से छन्दों का गुरुत्व या लघुत्व नहीं होता किन्तु भिन्न प्रकार के प्रयत्नों से होता है। वेद में वर्णस्थ प्रयत्न गा एरव लाघव का कारण होता है।[९४] इसी प्रकार **'ह'** और **'घ'** पर्यायवाची निपात हैं जो प्रसिद्धि के द्योतक हैं। वैदिक विद्वान् दोनों का प्रयोग पृथक्-पृथक् अत्यन्त विद्वत्ता से करते हैं।[९५]

अतः निपातों को सीमित वर्गीकरण में आबद्ध करना असम्भव-सा है। किसी भी वर्गीकरण को अन्तिम नहीं कहा जा सकता।

---

८३. बृ० दे० २/९१
८४. ऋग्वेदानु० ३/१/१५
८५. अन्येषं तु निपातानां पूरणत्वं न दृश्यते। नादयः पूरणाश्च स्युर्यदा वाक्येष्वनन्विताः॥ वही ३/१/१६
८६. वही ३/३/७
८७. पादावपि सद्धावं पूरणानामपीच्छति। यास्को यदाह नूनं सा नूनमित्येष पूरणः। वही ३/३/१९
८८. वही ३/१/२२
८९. वही ३/१/२६
९०. वही ३/१/२७
९१. वही ३/३/१४
९२. वही ३/१/१७-१९
९३. वही ३/६/२
९४. न गुरुत्वं लघुत्वं वा वर्णैमात्राभिरेव च। भवतः छन्दसाकिन्तु प्रयत्नैश्च पृथग्विधैः॥ वही ६/६/३
९५. वही, ६/६/६

रुकुल-शोध-भारती सितम्बर २००९ अङ्क १२ (पृ०६६-७२)

अपादानसंज्ञासूत्रस्थ ध्रुव और अपाय पदार्थविमर्श

डॉ० ब्रह्मदेव[1]

अपादान शब्द **डुदाञ् दाने**[2] धातु से **अपादीयते विश्लिष्यतेऽस्मात्** इस विग्रहानुसार **अप** और आङ् उपसर्गद्वयपूर्वक **ल्युट्** प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। अपादानसंज्ञा अनुक्त रहती हुई पञ्चमी विभक्ति से अभिव्यक्त होती है[3] और उक्त होने पर प्रातिपदिकार्थमात्र में प्रथमा विभक्ति से।[4] यथा- **बिभेत्यस्मादिति** भीमः, **उद्विजन्तेऽस्मादिति उद्वेजनीयः, उद्धृत ओदनो यस्या असौ उद्धृतौदना स्थाली** यहाँ कृत्प्रत्यय और समास से अपादान के अभिहित हो जाने से प्रथमा विभक्ति का प्रयोग हुआ है।

आचार्य पाणिनि ने अपादानलक्षण **ध्रुवमपायेऽपादानम्**[5] सूत्र से किया है। इसके अनुसार अपादान संज्ञा वहाँ होती है, जहाँ दो वस्तुओं के अपाय अर्थात् विश्लेष में एक वस्तु ध्रुव रहती है। यथा-**ग्रामादागच्छति** यहाँ गाँव किसी कर्ता की विश्लेष क्रिया में ध्रुव है, अतः उक्त सूत्र से वह अपादानसंज्ञक होकर पञ्चमी विभक्ति से व्यक्त होता है।

ध्रुवपदार्थ-विमर्श

सामान्यतः **'ध्रुव'** पद का अर्थ स्थिर[6] किया जाता है, जो **'ध्रुवति स्थिरीभवति'** इस रूप में व्युत्पत्तिलभ्य है। **'ध्रुव'** शब्द का साधुत्व **'ध्रु गतिस्थैर्ययोः'**[7] धातु से पचादि सम्बन्धी **'अच्'** प्रत्यय करने पर उवङ् होकर माना जाता है अथवा **'ध्रुव स्थैर्ये'**[8] इस धातु से इगुपध सम्बन्धी **'क'** प्रत्यय द्वारा।[9] यदि इस व्युत्पत्ति से प्राप्त अर्थ स्थिर को ही लिया जाए तो उक्त **'ग्रामादागच्छति'** जैसे उद्धरणों की निष्पत्ति सम्भव है, क्योंकि वहाँ अपाय में ग्राम आदि का स्थैर्य विद्यमान है, परन्तु जहाँ गतिमान् पदार्थों में स्थिरता नहीं है, यथा- **'धावतोऽश्वात् पतति'** यहाँ अश्व धावन क्रिया से संयुक्त है, अतः गतिमान् है, स्थिर नहीं। यहाँ स्थिरता के अभाव में अश्व की अपादान संज्ञा अप्राप्त

---

१. डॉ० ब्रह्मदेव, रीडर संस्कृत विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

२-संस्कृत धातुकोष, पृ० ५२

३- पा० २.३.२८, अपादाने पञ्चमी।

४- पा० २.३.४६, प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा।

५- पा० १-४-२४

६- वाचस्पत्यम् भाग-५, स्थिरे, निश्चिते, तर्के, शाश्वते आदि। वही पर मेदिनी कोष को उद्धृत कर सन्ततम् एवं शाश्वतम् अर्थों को प्रदर्शित किया है, तो हेम के अनुसार स्थिरम् तथा निश्चितम्।

७- संस्कृत धातु कोष, पृ० ६९

८-वही, पृ० ६८

९- क पदमञ्जरी काशिका १.४.२४, ध्रु गतिस्थैर्ययोः इत्यस्मात्कुटादेः पचाद्यचि रूपम्। ये तु ध्रुव गतिस्थैर्ययोः इति पठन्ति, तेषामिगुपधलक्षणः कः प्रत्ययः। ख तत्त्वबोधिनी सिद्धान्तकौमुदी, पृ० १४७, **'ध्रु गतिस्थैर्ययोः'** अस्मात्पचाद्यचि कुटादित्वान्ङित्त्वे उवङ्। **'ध्रु'** स्थैर्ये इति केचित्। तत्र **'इगुपध-'** इति कः। ग बृहच्छब्देन्दुशेखर, भाग २, पृ० ८९९, **'ध्रु गतिस्थैर्ययोः'** इत्यतः कुटादेः पचाद्यच्। **'ध्रुव'**-स्थैर्ये इति पाठे इगुपधत्वात।

रहेगी,[१०] पर इष्ट है।

कात्यायन एवं पतञ्जलि के मत में 'ध्रुव' पदार्थ-

उक्त शंका का निरसन आचार्य कात्यायन के **'न वाऽध्रौव्यस्याविवक्षितत्वात्'**[११] इस वार्तिक को उद्धृत करते हुए महाभाष्यकार ने किया है। इसके अनुसार गतियुक्त पदार्थों में अध्रुवता की अविवक्षा करने पर कार्यसिद्धि हो जायेगी। **'धावतोऽश्वात् पतति'** वाक्य में अश्व के गतिमान् होने पर भी उसमें जो अश्वत्व है, वह ध्रुव है, वही यहाँ विवक्षित है।[१२] अश्व में धावन क्रिया के कारण जो गतिमत्ता है, वह यहाँ अविवक्षित है। वस्तुतः सभी अवस्थाओं में वस्तुस्वरूप समान रहता है, चाहे चल हो अथवा अचल। अश्व का अश्वत्व सर्वदा बना रहता है, वह ध्रुव है। गमन आदि त्वरता, जो अध्रुवता के रूप में कही जाती है, वह नैमित्तिक है, अतः अप्रधान है। इसलिए उसकी अविवक्षा कर दोनों आचार्यों ने **'अश्वात्त्रस्तात्पतितः'**, **'रथात्प्रवीतात्पतितः'**, **'सार्थाद् गच्छतो हीनः'** जैसे वाक्यों में अपादानत्व की अबाधरूपेण सिद्धि मानी है।

इसीप्रकार द्रव्य से व्यतिरिक्त **'धावतः पतितः'**, **'त्वरमाणात्पतितः'** जैसे अत्यन्त गतियुक्त वाक्यों की निष्पन्नता आचार्य पतञ्जलि ने स्वीकार की है।[१३] वस्तुतः **'धावतः पतितः'** वाक्य में ध्रुवत्व नहीं है और द्रव्य से सन्नद्ध न होने के कारण ध्रुवत्व की कल्पना (=विवक्षा) जिसमें की जा सके वह भी सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रकृत वाक्यों में शब्दप्रवृत्तिनिमित्त क्रिया को प्राधान्येन कहा गया है। वह अध्रुव है, उसमें ध्रुवता की विवक्षा कैसे की जा सकती है? इसके उत्तर में भाष्यकार लौकिक उद्धरण का सहारा लेते हैं कि जिस प्रकार लोक में विवक्षा से **'अलोमिकैडका'**, **'अनुदरा कन्या'** जैसे वाक्यों में विद्यमानता में भी अविद्यमानता की विवक्षा की जाती है। एवमेव **'समुद्रः कुण्डिका'** वाक्य में अविद्यमानता में विद्यमानता की विवक्षा की जाती है, उसी प्रकार धावन क्रिया में भी अविद्यमान अध्रुवता की अविवक्षा की जा सकती है, जिससे ऐसे स्थलों में भी अपादानत्व की प्राप्ति सरलता से हो जाती है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि **'ध्रुव'** शब्द के सम्बन्ध में किया गया ऐसा व्याख्यान महाभाष्य से अर्वाचीन वाङ्मय में उपलब्ध नहीं होता या यह कहिए कि शायद कुछ क्लिष्ट कल्पना पर इस विवरण पर आधारित होने के कारण पश्चाद्वर्ती वैयाकरणों ने इसे स्वीकार नहीं किया। इन्होंने **'ध्रुव'** पद के स्वरूप को अन्यन्त सरलता से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है।

भर्तृहरि के मत में 'ध्रुव' पदार्थ-

आचार्य भर्तृहरि ने **'ध्रुव'** पदार्थ की विवेचना करते हुए स्पष्टतः उद्घोषणा की है-**द्रव्यस्वभावो न**

१०- वा० १०९०, महाभाष्य भाग २, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, संस्करण १९८८, पृ० २४८, गतियुक्तेष्वपादानसंज्ञा नोपपद्यतेऽध्रुवत्वात्।

११- वा० १०९१, पृ० २४९

१२- महाभाष्य, पृ० २४९, यत् तदश्वत्वेऽश्वत्वमाशुगामित्वं, तद्ध्रुवं तद्य विवक्षितम्। तुलनीय- उद्योत, वही, अश्वनिष्ठाश्वत्वाशुगामित्वयोर्मध्ये तदश्वत्वमेव ध्रुवताप्रयोजकं तद्य विवक्षितम्।

१३- महाभाष्य भाग-२ पृ००२४९, त्वेतेऽत्यन्तं गतियुक्तास्तत्र कथम्॥ धावत पतितस्त्वरमाणात्पतित इति। अत्रापि 'न

ध्रौव्यमिति सूत्रे प्रतीयते। अपायविषयं ध्रौव्यं यत्तु तावद्विवक्षितम्॥[१४] अर्थात् अपादान के स्वरूप का कथन करने वाले **'ध्रुवमपायेऽपादानम्'**[१५] सूत्र में वर्तमान **'ध्रुव'** पद से द्रव्यस्वभावभूत कूटस्थता (=निर्विकारता), निष्क्रियता बोधित नहीं होती, अपितु अपायक्रिया से असंस्पृष्ट (=उदासीन) रहने वाला द्रव्य ही **'ध्रुव'** शब्द से विवक्षित है। यथा- **'धावतोऽश्वात् पतितः'** वाक्य में पतनक्रिया के प्रति अश्व उदासीन है और गिरने वाला संरब्ध अर्थात् क्रियाशील। अतः अपाय का प्रयोजक होते हुए भी वह निष्क्रिय होने के कारण अपादान कहलाता है। यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि अपाय द्विष्ठ हुआ करता है।[१६] अतः जहाँ से भी अपाय (=विश्लेष) हुआ वह अवधिभूत पदार्थ गमनक्रिया से अनाविष्ट होने के कारण ध्रुवता को प्राप्त हुआ **'अपादान'** कहलाता है। यहाँ यह शंका नहीं करनी चाहिए कि **'ग्रामादागच्छति पथा पर्वतम्'** (गाँव से वह पर्वत के रास्ते आता है।) वाक्य में **'पथा'** और **'पर्वतम्'** दोनों पद अपाय क्रिया से अनाविष्ट होने के कारण **'ध्रुव'** हैं, अतः उभयत्र अपादान संज्ञा हो जानी चाहिए, क्योंकि दोनों पदों की अनाविष्टता=निष्क्रियता आगमन क्रिया को लेकर नहीं है, अतः अपादानत्व की प्रसक्ति नहीं होगी।[१७] दूसरा करणादि संज्ञाओं से बाधित होने के कारण भी उक्त वाक्य में अपादान संज्ञा की आशंका नहीं करनी चाहिए।[१८]

उक्त गतियुक्त अश्व की पतनक्रिया के प्रति ध्रुवता को और अधिक स्पष्ट करने हेतु भर्तृहरि ने द्विविध गति की प्रकल्पना की है- प्रथम अश्वनिष्ठ धावनात्मिका गति **'सरण'** और द्वितीय देवदत्तनिष्ठ पतनात्मिका गति **'पात'**।[१९] जब सरणरूप गति होगी, जो अश्व में समवेतरूप में रहेगी, तब अपाय के आश्रयण में कारण अश्व **'अध्रुव'** कहलायेगा और देवदत्त **'ध्रुव'** उस **'सरण'** गति से अनाश्रित (=उदासीन) होने के कारण, तथा जब देवदत्त में समवेत **'पात'** क्रिया होगी, तब देवदत्त अपाय के आश्रित होने के कारण क्रियाशील अथवा **'अध्रुव'** कहा जायेगा और अश्व अपायजन्य पतन-क्रिया के प्रति अनाश्रयत्व रूप वाला होने से **'ध्रुव'** कहा जायेगा। इस प्रकार उभयत्र **'ध्रुवता'** होने पर भी पदार्थ अपायाश्रित होगा वही **'अध्रुव'**, **'क्रियाशील'** अथवा **'गतियुक्त'** कहा जायेगा और दूसरा **'ध्रुवत्व'** के अभिधान को प्राप्त कर **'अपादान'** संज्ञा से अभिषिक्त हुआ पञ्चमी विभक्ति से अभिव्यक्त होगा। यथा उक्त विवरण वाले उद्धरण **'धावतोऽश्वात् पतति देवदत्तः'** में देवदत्त अपायाश्रयत्व से संयुक्त हुआ **'अध्रुव'** कहा गया तथा **'अश्व'** पतनक्रिया में अनाश्रयत्वरूप होने से उदासीन है, अतः **'ध्रुव'** होने से अपादानत्व को प्राप्त हुआ।

यहाँ यह भी अवधेय है कि अश्व की वेगवती सरण गति में देवदत्त की ध्रुवता है, तथापि उसकी अपादान

१४- वाक्यपदीय ३.७.१३८ तुलनीय- प्रदीप महाभाष्य १.४.२४, ध्रुवमेकरूपमुच्यते। तच्च ध्रौव्यमपायविषयमाश्रीयते। न त्वनवच्छिन्नम्। ततोऽपाये यदनाविष्टं तदपाये ध्रुवमुच्यते। देवदत्तकर्तृके च पाते त्रस्तस्याप्यश्वस्यापायानावेशाद् ध्रुवत्वम्। देवदत्तस्यैवापायावेशादध्रुवत्वम्।

१५. पा०१.४.२४

१६- हेलाराजीयप्रकाशटीका वाक्यपदीय ३.७.१३८, संरब्धोदासीनसाधनसाध्यो ह्यपायः।

१७- भर्तृहरि का वाक्यपदीय, के० ए० एस० अय्यर, अनु० रामचन्द्र द्विवेदी, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, संस्करण १९८१, पृ० ३६१

१८- हेला० वाक्यपदीय ३.७.१३८, ग्रामादागच्छति पथा पर्वतमिति तु पथः करणस्य पर्वतस्य कर्मणोऽपायेनानावेशाद् ध्रुवतायां सत्यामपि परत्वात् करणादिसंज्ञाभिर्बाधनादपादानसंज्ञा न भवति।

संज्ञा इसलिए नहीं होती, क्योंकि अवधि के उपादान के विना गतिरूप क्रिया अपायरूपत्व को प्राप्त नहीं होती।[२०] हाँ, यदि देवदत्त का उपादान अवधिरूपेण किया जाना विवक्षित होगा तो उसकी अपादान संज्ञा होना अवश्यंभावी है और उस स्थिति में **'सरतो देवदत्ताद् धावत्यश्वः'** वाक्य बनेगा।[२१]

उभयकर्मज-विभाग में ध्रुवता का निर्धारण-

इस प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि दो पदार्थों में होने वाला विभाग दो प्रकार का हुआ करता है- प्रथम अन्यतरकर्मज, द्वितीय उभयकर्मज।[२२] किसी एक पदार्थ में होने वाली क्रिया से उत्पन्न होने वाले विभाग में विभागजनकक्रिया से अनाविष्ट पदार्थ की ध्रुवता स्पष्टतः सिद्ध है, परन्तु जहाँ उभयत्र विभाग को प्राप्त होने वाले पदार्थों में क्रिया हो वहाँ ध्रुवता की सिद्धि कैसे होगी? इस आशंका का निराकरण **'अपसर्पतो मेषान्मेषोऽपसरति'** अथवा **'परस्परान्मेषावपसरतः'** इन वाक्यों को दृष्टि में रखते हुए किया जा सकता है। यहाँ उभयकर्मज विभाग है। दोनों मेष कर्तृत्वेन होने वाले विश्लेष को लेकर सक्रिय हैं, इसलिए अपायाश्रित होने के कारण अध्रुव हैं तथापि एक मेष दूसरे मेष को स्वकीय अपायरूप अपसर्पण क्रिया से अनाविष्ट (=उदासीन) बनाता हुआ अध्रुव माना जायेगा और दूसरा ध्रुव। इस प्रकार एक दूसरे की क्रिया की अपेक्षा उदासीन हुए मेष एक दूसरे के प्रति अवधिभाव को अलग-अलग प्राप्त हुए ध्रुवत्व को प्राप्त होंगे और अपनी क्रिया के प्रति कर्तृत्व को।[२३] अतः उक्त प्रकार से परिस्पन्दनयुक्त पदार्थों में भी ध्रुवता को न मानने में कोई हेतु नहीं है। जब उभयसाध्या क्रिया अभेदरूपेण विवक्षित होगी और अवधित्व के रूप मे अन्य किसी पदार्थ पर्वतादि की विवक्षा होगी, तब वही अवधित्वेन उदासीन हुआ अपादानत्व को प्राप्त होगा और अपायक्रिया के दोनों मेष संयुक्त रूपेण कर्ता माने जायेंगे।[२४] न कि परस्पर अवधि के रूप में तब **'पर्वतान्मेषावपसरतः'** इस रूप में पर्वत की अपादानसंज्ञा प्रसक्त होगी।

काशिकाकारादि के मत में 'ध्रुव' पदार्थ-

काशिकाकार ने पूर्व मनीषियों के विवेचनों को दृष्टि में रखते हुए **'ध्रुव'** के प्रचलित अर्थ स्थैर्य को न मानते हुए इसके अभिप्रेतार्थ **'अवधिभूत'** को स्वीकार किया है। इसी अर्थानुसारी वृत्ति व्याख्येय सूत्र पर इन्होंने इस प्रकार से लिखी है- **ध्रुवं यदपाययुक्तमपाये साध्ये यदवधिभूतं तत्कारकमपादानसंज्ञं भवति।**[२५] अर्थात् अपाय विश्लेष के साध्य में जो ध्रुव (=अवधिभूत) अपाय से संयुक्त रहता है, उस कारक की अपादान संज्ञा होती है। अवधिभूत अर्थ ही काशिकाकार को क्यों अभिमत है, इसे न्यासकार ने स्पष्ट शब्दों में इसप्रकार समझाया है- **यद्यपि ध्रुवशब्दो लोक एकरूपतामाचष्टे ध्रुवमस्य शीलम्, ध्रुवमस्य रूपमिति, तथाप्यपाये साध्येऽभिहितया तया**

२०- वही ३.७.१४३, गतिर्विना त्ववधिना नापाय इति गम्यते।
२१- हेला० वाक्यपदीय ३.७.१३९, तथापादाने तु भवत्येव सरतो देवदत्ताद् धावत्यश्व इति।
२२- अम्बाकर्त्री व्याख्या वाक्यपदीय ३.७.१४०, विभागो द्विविधः। अन्यतरकर्मज उभयकर्मजश्च।
२३-वाक्यपदीय ३.७.१४१, मेषान्तरक्रियापेक्षमवधित्वं पृथक् पृथक्। मेषयोः स्वक्रियापेक्षं कर्तृत्वं च पृथक् पृथक्॥ तुलनीय- शब्दकौस्तुभ भाग-२, पृ०११५, तथा 'परस्परस्मान्मेषावपसरतः' इत्यत्र सृधातुना गतिद्वयस्याप्युपादानादेकमेषनिष्ठाङ्गतिं प्रत्यपरस्यापादानत्वं सिध्यति।
२४-वाक्यपदीय ३.७.१४२, अभेदेन क्रियैका तु द्विसाध्या चेद्विवक्षिता। मेषावपाये कर्तारौ यद्यन्यो विद्यतेऽवधिः॥

न कश्चिदर्थः सम्पद्यते इति नात्र ध्रुवताऽपायं प्रत्युपयुज्यते? सैवापादीयते, सा चावधिभाव एव। तस्मादपायशब्दस्य सन्निधौ ध्रुवशब्दः सम्बन्धात् संश्लेषलक्षणात् प्रच्यवमानस्यावधिभावमाचष्टे, इत्यत आह- अवधिभूतमिति। अत एवापाये साध्येऽवधिभूतं यत् तर्हि ध्रुवशब्देनोच्यते।[२६]

इस प्रकार भर्तृहरि ने जिस अवधिभाव का अपायक्रिया में महत्त्व मात्र बताया उसे काशिकाकार ने 'ध्रुव' शब्द से ही अभिव्यंजित कर सूत्रकार को जो अभीष्ट था, उसे निश्चितरूपेण स्पष्ट कर व्याकरणजगत् का महान् उपकार किया है। कालान्तर में प्रादुर्भूत वैयाकरणों में धर्मकीर्ति,[२७] भट्टोजिदीक्षित,[२८] वरदराजाचार्य,[२९] पुरुषोतमदेव,[३०] के० ए० सुब्रह्मण्यम् ऐयर,[३१] जार्ज कार्डोना[३२] आदि ने 'ध्रुव' का अवधिभूत अर्थ ही स्वीकार कर इसे सर्वमान्यता प्रदान कर दी है। इस अवधिभाव अर्थ के कारण चल अथवा अचल किसी भी प्रकार के पदार्थ में अपाय होने पर अपाय से संयुक्त अवधिभूत पदार्थ में विना किसी आशंका के अपादान संज्ञा निष्पन्न हो, पञ्चमी विभक्ति से परिलक्षित होती है।

सूत्रस्थ 'ध्रुवम्' का प्रयोजन-

आचार्य पतञ्जलि ने **'ध्रुवमपायेऽपादानम्'** (पा० १.४.२४) इस सूत्र का भाष्य करते हुए सर्वप्रथम इस प्रश्न को **'ध्रुवग्रहणं किमर्थम्?'** इस रूप में उठाया है। प्रकृत सूत्र में **'ध्रुवम्'** पद को न रखने से यह अतिव्याप्ति दोष से ग्रसित हो जाएगा। **'ग्रामादागच्छति शकटेन'**, **'ग्रामादागच्छन्कंसपात्र्यां पाणिनौदनं भुङ्क्ते'** दोनों वाक्यों में क्रमशः **'शकट'** और **'कंसपात्री'** अपाय के साधन होने पर भी विप्रतिषेध में एक ही संज्ञा का नियम है[३३], अतः करण और अधिकरण संज्ञाएँ अपादान को बाधकर[३४] हो जाती हैं, परन्तु **'वृक्षस्य पर्णं पतति'**, **'कुड्यस्य पिण्डः पतति'** जैसे वाक्यों में उक्त स्थिति नहीं है, अतः इन वाक्यों में अपादान संज्ञा की प्रसक्ति न होवे एतदर्थ 'ध्रुव' ग्रहण सूत्र में किया है- यह भाष्यकार का मत है।[३५]

२६- न्यास, वही

२७- रूपावतार, पृ० १५६, ध्रुवं यदपाययुक्तम् अपाये साध्ये यदवधिभूतं, तत्कारकम् अपादानसंज्ञम्।

२८- सिद्धान्तकौमुदी, सूत्र सं० ५८६, अपायो विश्लेषस्तस्मिन्साध्ये ध्रुवमवधिभूतं कारकमपादानं स्यात्।

२९- लघुकौमुदी, सूत्र सं० ८९९, अपायो विश्लेषस्तस्मिन्साध्ये यद् ध्रुवम् अवधिभूतं कारकं तदपादानं स्यात्।

३०- कारकचक्र पुरुषोत्तमदेव, पृ० ११०, अपाये साध्ये ध्रुवं यद् अवधिभूतं तत्कारकमपादानसंज्ञं भवति।

३१. The Vakyapidaya of Bhartrihari Chap. III, pt. I, P. 227. It is called apaya in relation to the starting point. thus helps in the accomplishment of this kind of movement and so it becomes the karka accessory to action called apadana.

३२- Panini: his work and its traditions Volume 1, P. 161. A firm point dhruvam with respect to movement away from something apaye, i.e., a point of departure.

३३- पा० १.४.१ आकडारादेका संज्ञा।

३४- पा० १.४.२ विप्रतिषेधे परं कार्यम्।

३५- महाभाष्य पा० १.४.२४, ध्रुवग्रहणं किमर्थम्? ग्रामादागच्छति शकटेन। नैतदस्ति। करणसंज्ञात्र बाधिका भविष्यति। इदं तर्हि ग्रामादागच्छन्कंसपात्र्यां पाणिनौदनं भुङ्क्त इति। अत्राप्यधिकरणसंज्ञा बाधिका भविष्यति। इदं तर्हि वृक्षस्य पर्णं पतति, कुड्यस्य पिण्डः पततीति।

परन्तु कैयट[३६], हरदत मिश्र,[३७] एवं भट्टोजिदीक्षित[३८] ने **'ध्रुव'** ग्रहण को चिन्त्य ही माना है। यह हेतु देते हुए कि शकट आदि में पर संज्ञा सूत्रों के बाध के कारण अपादानत्व की प्राप्ति नहीं होगी और **'वृक्षस्य पर्णं पतति'** यहा पर भी अपाय के अविवक्षित होने और सम्बन्ध के कारक न माने जाने के कारण **'वृक्ष'** में अपादान संज्ञा का कोई प्रश्न ही नहीं है। यदि यह कहा जाए कि **'ध्रुव'** को संज्ञिनिर्देशार्थ रखना अनिवार्य है, वह भी उचित नहीं, क्योंकि **'कारके'** की अनुवृति पूर्वसूत्र से आ रही है, उसी से संज्ञी का निर्देश मान लिया जायेगा। इस प्रकार निर्धार्यमाण संज्ञी के कारण अपायविषयक कारकों के मध्य में जो कारक संज्ञान्तर का अविषय होगा, वह अपादान मान लिया जायेगा। अत: ध्रुव ग्रहण आवश्यक नहीं।

उक्त विश्लेषण को पूर्वपक्ष के रूप में रखते हुए आचार्य क्षेमेन्द्र सरस्वती ने वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी की स्वीया तत्त्वबोधिनी टीका में 'ध्रुव' ग्रहण को सही ठहराया है। इनकी मान्यता है जब कारकत्वरूप व्यापकधर्ममात्र की विवक्षा में **'शकट'** की साधकतमत्व के रूप में यदि विवक्षा न की जाए, तो करण संज्ञा के प्रसंग से **'शकट'** को अपादानत्व की प्राप्ति होगी, उसी के वारण के लिए **'ध्रुव'** ग्रहण अपेक्षित है।[३९]

वस्तुत: यह सम्पूर्ण प्रपञ्च[४०] बुद्धि वैशारद्य पर निर्भर है। गुरुता अथवा लघुता की चिन्ता यहाँ नहीं की गई है।[४१] मात्र सूत्रकार का **'ध्रुव'** शब्द को रखने का अभिप्राय अनायास ही विना अधिक व्याख्यान के सामान्यजनों को भी अपादानत्व की सिद्धि करवाया जाना प्रतीत होता है।

'अपाय' पदार्थविमर्श-

यहाँ पर यह शब्द विश्लेष अथवा विभाग के अर्थ में प्रयुक्त हुआ माना जाता है।[४२] इसकी व्युत्पत्ति अप उपसर्ग पूर्वक इण् गतौ[४३] धातु से भाव में अच् प्रत्यय करने पर मानी जाती है। अत: व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ भी पृथक्

३६- KarakahnikaBy S. D. Joshi & J. A. F. Roodbergen, University of Poona, 1975, P. 58-59, Kaiyata feels that, still, the word dhruva is not necessary. The word dhruva is not necessary. The word karaka which is continued in the rule under discussion can take care of this distinction. In vrksasya parnam patati the tree does not figure as a karaka. So it cannot come within the scope of the designation apadan.

३७- पदमंजरी का० १ ४ २४, उभयप्रसंगे परत्वात्करणसंज्ञा भविष्यति। नन्वेवमक्रियमाणेऽपि शकटस्य नैव भविष्यति, एवं संज्ञान्तरविषये सर्वत्र। वृक्षस्य पत्रं पततीत्यत्र त्वपायस्याविवक्षितत्वादकारकत्वाद्य न भविष्यति। संज्ञिनिर्देशार्थं तु न **'कारके'** इति ससम्यन्तेन शक्य: संज्ञी निर्देष्टुम्, सिद्धं तु निर्धार्यमाणस्य संज्ञित्वादपायविषयेषु कारकेषु मध्ये यत्कारकं संज्ञान्तरस्या विषयस्तदपादानमिति, तदेवं ध्रुवग्रणं चिन्त्यप्रयोजनम्।

३८- शब्दकौस्तुभ, भाग २, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, संस्करण १९९१, पृ०११७, ११८, ध्रुवग्रहणं किमर्थम्? न च 'ग्रामादागच्छति शकटेन' इत्यत्र शकटेऽतिव्याप्तिवारणाय तदिति वाच्यम्......। न च संज्ञिनिर्देशार्थं ध्रुवग्रहणम्......। तस्माद् ध्रुवग्रहणं चिन्त्यप्रयोजनम्।

३९- तत्त्व० सिद्धान्तकौमुदी सूत्र सं० ५८६, मेहरचन्द लछमनदास पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, सन् १९८५, पृ० १४८,. ......ध्रुवग्रहणं चिन्त्यप्रयोजनमिति चेत्। अत्र वदन्ति। कारकत्वरूपव्यापकधर्ममात्रविवक्षायां साधकतमत्वेन विवक्षाभावदशायां करणसंज्ञाप्रसङ्गेन शकटस्यापादानत्वं स्यात्तन्मा भूदित्येतदर्थं ध्रुवग्रहणमिति।

४०- हेला० वाक्यपदीय ३.७.१४७, लक्षणप्रपंचाभ्यां हि व्याकरणम्।

४१- न्यास काशिका १.४.२५, न च प्रपंचे गुरुलाघवं चिन्त्यते।

४२- प्रभा टीका वैयाकरणभूषणसार, पृ० २०५, अपाय:=विश्लेष:=विभाग:

४३- संस्कृत धातुकोष, पृ० १०

गमन अर्थात् विश्लेष ही हुआ। नागेश भट्ट ने भी विभाग से उत्पन्न होने वाले और संयोगानुकूल अवधिकांक्ष गतिविशेष को **'अपाय'** के रूप मे मान्यता दी है और अपने इस कथन की भर्तृहरि की कारिका से पुष्टि की है।[४४] वस्तुतः अवधि सापेक्ष ध्रुव वस्तु से युक्त, चल में समवेत गतिविशेष ही **'अपाय'** के रूप में व्यपदिष्ट होती है।[४५] अत एव अवधिभूत उदासीन वस्तु जो गतिमान् वस्तु की क्रिया में कारण होते हुए भी अनासक्त रहती हुई अपादान कारकत्व को प्राप्त होती है। यथा- **'धावतोऽश्वात्पतति चैत्रः'** यहाँ गतिमान् वस्तु चैत्र की पतन क्रिया के प्रति **'अश्व'** अवधिभूत हुआ अनासक्त रहा है, यतः वह पतनक्रिया में निमित्त भी है, अतः अपादान कारक कहलाया।

कदाचित् पतनादि क्रिया में अपाय की अविवक्षा भी देखी जाती है। जब यह अविवक्षा होगी तब सम्बन्धमात्र में षष्ठी विभक्ति का ही प्रयोग होगा। यथा- **'वृक्षस्य पर्णं पतति'** यहाँ अपायत्व की अविवक्षा है, अतः पञ्चमी विभक्ति नहीं हुई। अपाय की विवक्षा में **'वृक्षात्पर्णं पतति'** ही प्रयोग होगा। इस स्थिति में ज्ञात नहीं होता कि पर्ण का सम्बन्ध किस से हैं।[४६]

निष्कर्षरूपेण कहा जा सकता है कि मात्र पतन ही अपाय नहीं होता, अपितु जहाँ मात्र संयोगानुकूल व्यापार होगा वहाँ गतिमात्र ध्वनित होगी और सम्बन्ध की विवक्षा रहेगी, परन्तु जब विभागजन्य संयोगानुकूल व्यापार विवक्षित रहेगा तब विभागजन्य अवधिभाव भी अपेक्षित रहेगा। अतः इस अपाय में ध्रुवत्व की अपादान संज्ञा भी हो जायेगी। इस प्रकार **'वृक्षस्य पर्णं पतति'** यहाँ मात्र संयोगानुकूल व्यापार ही कथ्य है। इस कारण यहाँ वाक्यस्थ **'वृक्ष'** में सम्बन्ध मात्र में षष्ठी ही हुई है।[४७]

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि संयुक्त दो वस्तुओं में से एक का जब चलन होता है, तब वह 'अपाय' कहा जाता है और जहाँ से अपाय होता है, वह वस्तु **'ध्रुव' अर्थात् 'अवधि'** के नाम से अभिहित की जाती है। इसी वस्तुस्थिति को ध्यान में रखते हुए पाणिनि से पश्चाद्वर्ती वैय्याकरणों ने भी अपादान शक्ति पर विचार किया है।

४४- उद्द्योत महाभाष्य १.४.२४ अपायोऽत्र विभागजसंयोगानुकूलोऽवधिसाकांक्षो गतिविशेषः। 'गतिर्विना त्ववधिना नापाय इति कथ्यते' इति हर्युक्तेः।

४५- वाक्यपदीय ३.७.१३७, ध्रुवावधिरपायोऽपि समवेतस्तथाऽध्रुवे।

४६- महाभाष्य पा० ४.१.२३, भाग २, पृ० २४१, अपायस्याविवक्षितत्वात्। नात्रापायो विवक्षितः। किं तर्हि? सम्बन्धः। यदा चापायो विवक्षितो भवति तदाऽपादानसंज्ञा। तद्यथा वृक्षात्पर्णं पततीति। सम्बन्धस्तु तदा न विवक्षितो भवति न ज्ञायते कङ्कस्य वा कुररस्य वेति।

४७-बृहच्छब्देन्दुशेखर, भाग २, पृ० ८९९, पतिमात्रन्तु नाऽपायः। .... वृक्षस्य पर्णं पततीति प्रयोगात्। अधोदेशसंयोगाऽनुकूलव्यापारो हि तत्र पतेरर्थः।

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २००९ अङ्क १२ (पृ०७३-७६)

काशकृत्स्न शब्दानुशासन में अदादिगणीय कतिपय विशिष्ट धातुएँ

डॉ० रविन्द्र कुमारी[1]

संस्कृत वाङ्मय में उपलब्ध एवं परिज्ञात व्याकरणशास्त्र को पाँच अंगों में विभक्त किया गया है इसलिए वैयाकरण-निकाय में व्याकरण को पञ्चाङ्ग व्याकरण आदि शब्दों से व्यवहृत किया जाता है व्याकरणशास्त्र के ये पाँच अंग इस प्रकार माने गए हैं-सूत्रपाठ, धातुपाठ, गणपाठ, उणादिपाठ, लिङ्गानुशासन।

शब्दशास्त्र में धातुपाठ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्राचीन साहित्य के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि धातुओं को ही सभी नामपदों का मूल माना जाता रहा है। यास्क ने अपने निरुक्त में निरुक्ताचार्यों के साथ-साथ प्रखर वैयाकरण का मन्तव्य उपस्थापित करते हुए यह सिद्धान्त स्थापित किया है कि सभी नाम आख्यातज हैं अत एव व्याकरण वाङ्मय में धातुशब्द का लक्षण इस प्रकार पठित है-**'दधाति धारयति विविधं शब्दरूपं यः स धातुः'** अर्थात् जो शब्दों के विविध रूपों को धारण करे, उसे धातु कहते हैं। शब्दकोशों में धातु को निम्न प्रकार से व्यवहृत किया गया है। अमरकोश में **'शब्दयोनिश्च धातवः'** अर्थात् शब्दों का कारणभूत होने के कारण धातु को शब्दयोनि कहा गया है। हलायुधकोश में 'धीयते सर्वमस्मिन्निति धातुः, शब्दमूलम् तच्च साधु शब्दप्रकृतिः' अर्थात सब कुछ जिसमें समाहित कर दिया जाए, वह धातु है और जो शब्द की मूल प्रकृति है। वाचस्पत्यम् में 'धातुर्नाम क्रियावाचको गणादिपठितः शब्दविशेषः। धातोरर्थः क्रियोच्यते' अर्थात् गणादिपठित क्रियावाचक शब्दविशेष का नाम **'धातु'** है। इससे स्पष्ट होता है कि धातु का अर्थ क्रिया होता है। संस्कृत-अंग्रेजीकोश में धातु को भाषा का मूल तत्त्व कहा गया है- 'As a primary element of the language'। मानकहिन्दीकोश में 'क्रिया के मूल रूप, जिससे अनेक भिन्न-भिन्न विकारी शब्द बनते हैं, उसे धातु कहते हैं।' हिन्दी विश्वकोश में 'क्रिया की वाचक प्रकृति धातु है, जितने भी शब्द देखे जाते हैं, वे सब धातु से निष्पन्न होते हैं'। पाणिनीयाष्टक में **'भूवादयो धातवः'** इस सूत्र के द्वारा क्रियावाचक भू आदि की धातुसंज्ञा कही गई है। भाष्यकार ने क्रियावचन और भाववचन को धातु कहा है-**क्रियावचनो धातुः भाववचनो धातुः। 'धातु'** शब्द **'डुधाञ् धारणपोषणयोः'** धातु से उणादिप्रत्यय **'तुन्'** करने पर निष्पन्न होता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि जो मूल शब्दरूप आवश्यकतानुसार प्रत्ययों से (कृत् और उणादि) युक्त होकर नाम शब्द बन जाए, आख्यात विभक्तियों से युक्त होकर क्रिया का द्योतन करने लगे तथा उभयविध विभक्तियों से रहित रहकर स्वार्थमात्र का द्योतक हो, वह तीनों रूप में परिणत होने वाला शब्द ही **'धातु'** है।

धातुपाठ का अर्थ

प्रत्येक शब्द के प्रकृतिभूत अंश की कल्पना का प्रदर्शन करने के लिए वैयाकरणों ने अपने शब्दानुशासन से सम्बद्ध धातुओं का खिलपाठरूप में संग्रह किया है। यही संग्रह **'धातुपाठ'** के नाम से व्यवहृत होता है व्याकरण में शब्दों की निष्पत्ति-हेतु विभिन्न वैयाकरणों ने जहाँ पर धातुओं को उनके अर्थ सहित पढ़ा हो अर्थात् उनका उपदेश किया हो, वही **'धातुपाठ'** है।

---

१. डॉ० रविन्द्र कुमारी, नागपाल भवन, १४० पटेल नगर, हिसार हरियाणा पिन-१२५००१

धातुपाठ की परम्परा

खिलपाठ के अन्तर्गत धातुपाठ की परम्परा व्याकरणशास्त्र के प्रवचन की परम्परा से अधिक अर्वाचीन नहीं है। व्याकरणशास्त्र के प्रवचन के साथ-साथ ही धातुपाठ का प्रवचन हुआ है। यह तथ्य सर्वसम्मत है कि जिस भी वैयाकरण ने अपने शब्दानुशासन का प्रवचन किया, उसने अपने शास्त्र से सम्बद्ध प्रकृतिप्रत्यय विभाग को दर्शाने के लिए धातुपाठ का भी प्रवचन किया था, क्योंकि धातुपाठ के प्रवचन के विना प्रकृतिप्रत्यय की कल्पना असम्भव है।

पाणिनि से पूर्ववर्ती अनेक वैयाकरणों ने स्वतन्त्ररूप से धातुपाठ का प्रवचन किया था। इस तथ्य के प्रमाण विभिन्न ग्रन्थों में उद्धृत हैं। विद्वानों ने पाणिनीय प्रत्याहारसूत्रों पर नन्दिकेश्वरविरचित काशिका (श्लोक-२) की उपमन्युकृत तत्त्वविमर्शिनी टीका के '**तथा चोक्तमिन्द्रेण अन्त्यवर्णसमुद्भूता धातवः परिकीर्तिताः**' इस सन्दर्भ के अनुसार इन्द्रप्रकल्पित धातुओं का निर्देश होने से इस बात की पुष्टि करने का प्रयास किया गया है कि इन्द्र ही धातुपाठ के प्रथम प्रवक्ता थे।

इसी प्रकार के अनेक उद्धरण प्राप्त होते हैं, जिनसे यह स्पष्ट होता है कि पाणिनीय धातुपाठ से पूर्व वैयाकरणों ने धातुपाठ का प्रवचन किया था, किन्तु केवल काशकृत्स्नधातुपाठ ही आज उपलब्ध होता है, अन्य सभी पूर्ववर्ती आचार्यों के धातुपाठ आज अनुपलब्ध हैं। शाकटायन के विषय में तो यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि इन्होंने धातु की पृथक् पहचान को उनके मूलार्थ की खोज सहित आगे बढ़ाया। आचार्य यास्क ने और भाष्यकार ने अपने ग्रन्थों में इसके पर्याप्त उद्धरण प्रस्तुत किए हैं-'**तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च**', किन्तु पाणिनि से उत्तरवर्ती अनेक वैयाकरणों के धातुपाठ आज उपलब्ध हैं, जिनमें कातन्त्र, जैनेन्द्र, सारस्वत, वोपदेव, हेमचन्द्र इत्यादि उल्लेखनीय हैं। सन्दर्भानुसार अब आचार्य काशकृत्स्न के धातुपाठ का अनुशीलन प्रस्तुत है-

काशकृत्स्नीय धातुपाठ

आचार्य काशकृत्स्न द्वारा प्रोक्त शब्दानुशासन के प्राप्त प्रथमसूत्र '**धातौ साधने दिशि पुरुषे चिति तदाख्यातम्**' से स्पष्ट है कि आचार्य काशकृत्स्न ने अपने शब्दानुशासन के साथ-साथ अपने धातुपाठ का भी प्रवचन किया था। उनका यह धातुपाठ 'काशकृत्स्न शब्दकलाप धातुपाठ' के नाम से उपलब्ध हुआ है।

धातुपाठ का नाम : शब्दकलाप

इस ग्रन्थ के '**शब्दकलाप**' नाम का क्या कारण है? इस विषय में टीकाकार मौन है। '**शब्दानां कलां धात्वंशं पाति रक्षति** अर्थात् शब्दों की धातुरूप कला (अंश) की रक्षा करना' इस व्युत्पत्ति के अनुसार शब्दकलाप को धातुपाठ का नामान्तर माना जा सकता है।

कर्नाटक टीका में वर्णित काशकृत्स्नधातुपाठ अपने सम्पूर्ण रूप में प्राप्त नहीं होता, इसमें कुछ ही धातुएँ सूचित हैं, क्योंकि टीकाकार ने टीका के अन्त में कहा है कि इस धातुपाठ में बारह हजार धातुओं का पाठ हुआ है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि प्रारम्भ में इस पाठ में १२००० धातुएँ पठित होंगी, किन्तु वर्तमान में केवल २४५६ धातुएँ ही प्राप्त होती हैं। इन धातुओं को ९ गणों में विभाजित किया गया है। वर्तमानकाल में उपलब्ध सभी धातुपाठों में यह धातुपाठ विशालतम है।

अदादिगण

इस गण में कुल ९५ धातुएँ पठित हैं। प्रसिद्धि के अनुसार इस गण के आरम्भ में ४४ धातुएँ परस्मैपदी, २१ आत्मनेपदी, तथा ९ धातुएँ उभयपदी पठित हैं। किन्तु इस गणना के बाद पुन: १३ धातुएँ परस्मैपदी, ६ उभयपदी और अन्त में २ धातुएँ आत्मनेपदी पढ़ी गई हैं। इस गण में भ्वादिगण के समान नियमबद्धता नहीं रही है, क्योंकि अन्य धातुपाठों के समान इस धातुपाठ में जुहोत्यादिगण का अलग से पाठ नहीं हुआ है, अपितु दूसरे धातुपाठों में पठित जुहोत्यादिगण की सभी धातुएँ इसी अदादिगण के अन्तर्गत पढ़ी गई हैं, जिससे पुन नियमबद्धता में व्यतिक्रम आया है। इस प्रकार नियमबद्धता के सिद्धान्त का पालन इस गण में नहीं किया गया है

विकरण-इस गण में पठित धातुओं में **'अन्'** विकरण के लुक् का विधान किया गया है। यहाँ कुछ नियमों की उपेक्षा हुई है। यथा-'पृजी (५१) पृङ्क्ते, वृजी वृङ्क्ते' में नुमागम तथा 'दीधीङ् दीधित:' (५५) में ह्रस्व तथा पृजी-पृक्तव्यम् में गुणाभाव आदि। इन कार्यों का कहीं उल्लेख नहीं किया गया है। यदि पाणिनीय नियमों के अनुसार सोचा जाए तो ये प्रयोग अशुद्ध ठहरते हैं। ऐसी स्थिति अन्यत्र भी मिलती है। सम्भवत: अनुपलब्ध कलापव्याकरण में इन नियमों के अपवादसूत्र रहे होंगे। इसी कारण अनेक स्थलों (यथा २.६२, पृ. १२८ **'ऊर्णोति'** में) पर पाणिनीय नियमों की दृष्टि से असंगति दृष्टिगोचर हुई है। इस गण की धातु संख्या ६२ पर **'उर्णुञ् आच्छादने'** धातु पढ़कर टीका में इसके बाद एक सूत्र **'तनादेरु:'** पढ़ा गया है, जो तनादिगण की धातुओं के लिए है। यहाँ व्याख्या में इस सूत्र के प्रस्तुतीकरण की आवश्यकता नहीं थी। सम्भव है कि काशकृत्स्न के मत में **'उर्णुञ्'** धातु के उकार को भी अनुबन्ध मान लिया जाता होगा। परन्तु आत्मनेपद विवक्षा में प्रस्तुत **'ऊर्णोति'** प्रयोग में ईकारागम कैसे हुआ? यह भी नहीं दर्शाया गया। धातु को भी उकारयुक्त पढ़ा गया है, किन्तु रूप ऊकारयुक्त है। इस प्रकार नियम की प्रस्तुति के विना रूपप्रयोग दर्शाए गए हैं। सम्भवत: कलापव्याकरण, जिसे विशाल माना जाता है, में इन सब प्रयोगों के नियमसूत्र रहे होंगे और उस समय लोक में ऐसे प्रयोग प्रचलित रहे होंगे। इस गण में ही अन्य धातुपाठों के जुहोत्यादिगण की धातुओं का पाठ होने से इस धातुपाठ में नौ गण हैं।

अदादिगणीय विशिष्ट धातुएँ

कसि-काशकृत्स्नधातुपाठ में प्रस्तुत धातु को **'कसि गतिशासनयो:'**(२.४६.आ.) रूप में पढ़ा गया है तथा-कंस्ते-गच्छति, उपविशति द्वारा स्पष्ट किया गया है। मैत्रेय ने प्रस्तुत धातु को **'कसि गतिनिशानयो:'** (२.१४.आ.) इस रूप में स्वीकारा है, किन्तु क्षीरस्वामी तथा सायण ने **'कसि गतिशासनयो:'** (२.१७.आ.) पाठ उद्धृत किया है। कातन्त्रकार इस धातु को **'कसि-गति शातनयो:'** (२.६६४.आ.) इस रूप में पढ़ते हैं। **'गति'** अर्थ सभी को अभीष्ट है, किन्तु दूसरे अर्थ में मतभेद है।

धातु से निष्पन्न **'कंस'** शब्द में काशकृत्स्न द्वारा उपदिष्ट **'शासन'** शब्द की पुष्टि की जा सकती है। कंस एक प्रसिद्ध राजा हुए थे, उन्होंने बहुत समय तक शासन किया था, अत: **'शासन'** अर्थ में प्रस्तुत **'कंस'** शब्द द्रष्टव्य है। **'शातन'** अर्थ भी इसी **'कंस'** शब्द में देखा जा सकता है। राजा कंस अत्याचार में अग्रणी था, उसने प्राणीमात्र का बहुत शोषण एवं ध्वंसन किया था। इसी **'शातन'** अर्थ में शब्दकल्पद्रुम में उद्धृत यह उदाहरण **'कंसते हरि: कंसम्'** द्रष्टव्य है। लोकभाषा में प्रयुक्त होने वाला **'कसाई'** शब्द भी इसी धातु से निष्पन्न एवम् इसी अर्थ में (तद्भव) प्रतीत होता है। अत: **'कसि'** धातु 'गति', **'शासन'** एवं **'शातन'** इन तीनों अर्थों में विद्यमान है।

हु-प्रस्तुत धातु काशकृत्स्न ने अपने धातुपाठ में **'हू दानादानयो:'**

(२.६५.उ.) पर दीर्घान्त पढ़ते हुए 'ददाति गृह्णाति च' आदि अर्थों में स्पष्ट की है। मैत्रेय ने इसे 'हु दाने' (३.१.प.) इस प्रकार ह्रस्वान्त पढ़कर 'आदानेऽप्येके' इस प्रकार अर्थ उद्धृत किया है। क्षीरस्वामी तथा सायण ने इसे उकारयुक्त पढ़ते हुए 'दानादानयोः' (३.१.प.) इन दो अर्थों का ही ग्रहण किया है। कातन्त्रकार ने इसे 'हु दाने' (२.६८३.प.) इस प्रकार पढ़ा है। महाभाष्य में इस धातु का 'प्रीणन' अर्थ दर्शाते हुए 'अग्निषु हूयमानेषु प्रयोगः तर्प्यमाणेष्वित्यर्थः' उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट किया गया है। क्षीरस्वामी ने प्रकृत धात्वर्थ की व्याख्या करते हुए 'दानमत्र हविःप्रक्षेपः, अदनं भक्षणम्' इस प्रकार हवन करना और भक्षण करना अर्थ दर्शाए हैं। 'दान' अर्थ में रघुवंश महाकाव्य का एक श्लोक यथा-'चिराय सन्तर्प्य समिद्भिरग्निं यो मन्त्रपूतां तनुमप्यहौषीत्।' अर्थात् जिसने लम्बे समय तक समिधाओं द्वारा अग्नि को तृप्त करके मन्त्रों द्वारा तृप्त किए हुए अपने शरीर का भी (हवि में प्रक्षेपण) दान कर दिया था, में यह अर्थ द्रष्टव्य है। 'दान' और 'अदान' दोनों अर्थों की एक साथ पुष्टि करता हुआ भगवद्गीता का यह श्लोकांश 'अहमग्निरहं हुतम्' द्रष्टव्य है। अतः प्रकृत धातु एवं धात्वर्थ के लिए काशकृत्स्नीय शैली का ही अनुकरण किया गया है।

काशकृत्स्न द्वारा उपदिष्ट धातुपाठ में धातुओं का पाठ विवक्षानुसार हुआ है, परन्तु कहीं-कहीं इसमें व्यतिक्रम हुआ है। धातुसूत्र तथा उनकी वृत्ति में अन्तर आया है। आचार्य ने व्याकरण के कुछ अप्रसिद्ध प्रयोग स्वधातुपाठ में दर्शाए हैं। सम्पूर्ण धातुवृत्ति में 'लट्' एवं 'लुट्' लकार के ही प्रयोग दर्शाकर कृदन्त प्रयोगों की प्रस्तुति पर अधिक बल दिया है। सम्भवतः ऐसी प्रस्तुति धातु के स्वरूप को शब्दों में दर्शाने के लिए की गई होगी, जिससे शब्दों द्वारा अप्रचलित धातु का ज्ञान हो सके। आचार्य ने केवल भ्वादिगण में धातुओं की परस्मैपदी, आत्मनेपदी तथा उभयपदी स्थिति को 'इति भ्वादिगणे परस्मैपदिनः समाप्ताः' इस प्रकार दर्शाकर उनका विभाजन प्रस्तुत किया गया है, किन्तु अग्रिम गणों में ऐसी कोई व्यवस्था धातुकार या धातुवृत्तिकार द्वारा निर्धारित नहीं की गई। विना भेद दर्शाए ही धातुओं की इस विवक्षा को परिवर्तित कर दिया गया है। क्योंकि शेष आठ गणों में प्रयोग के बल पर ही वृत्ति द्वारा धातुओं के परस्मैपदी, आत्मनेपदी तथा उभयपदी होने का ज्ञान होता है। कतिपय स्थलों पर परस्मैपदी-विवक्षा के मध्य आत्मनेपदी-विवक्षा को, इसी प्रकार आत्मनेपदी-विवक्षा के मध्य परस्मैपदी धातुओं के प्रयोग प्रस्तुत किए गए हैं, जो काशकृत्स्न-शैली के विरुद्ध हैं, क्योंकि काशकृत्स्न अपनी विवक्षाक्रम की शैली के लिए वैयाकरण-सम्प्रदाय में पर्याप्त प्रख्यात रहे हैं। भ्वादिगण में ही एक बड़ा भाग परस्मैपदी, आत्मनेपदी तथा उभयपदी-विवक्षा में एक साथ पढ़ा जाने के कारण इस धातुपाठ के विषय में यह धारणा बनी हुई है कि धातुपाठ में धातुओं का पदविवक्षानुसार अलग-अलग पाठ हुआ है, वह पूर्णतः ठीक नहीं हैं, क्योंकि अग्रिम गणों में धातुएँ संयुक्तविवक्षा में पढ़ी गई हैं। अनेक धातुओं की पुनरावृत्ति भी धातुपाठ में देखी गई है यथा तुडि भक्षणे (१.८१.प.) पर इस धातु का डान्त-प्रकरण में पाठ किया गया है। पुनः इसी धातु का पवर्गान्त-प्रकरण के प्रारम्भ में पाठ किया गया है। एक ही धातु का १२ धातुओं के अनन्तर पुनः पाठ करना व्यर्थ प्रतीत होता है। कुछ स्थानों पर धातुसूत्रों में अनेक धातुएँ छुटी हुई प्रतीत होती हैं, क्योंकि कुछ धातुओं को धातुसूत्रों में उपदिष्ट नहीं किया गया, किन्तु धातुवृत्ति में उनका पाठ किया गया है। अनेक धातुओं की व्याख्या में रूप-परिवर्तन भी हुआ है। काशकृत्स्नधातुपाठ की उपलब्धि से वैयाकरण-सम्प्रदाय चन्नवीरकवि का सदैव ऋणी रहेगा, क्योंकि यह व्याकरण का उपलब्ध धातुपाठों में सबसे विस्तृत धातुपाठ है।

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २००९ अङ्क १२ (पृ०७७-८०)

भारतीय आस्तिक दर्शनों में मानवचेतना के विकास की विधियाँ

डॉ. ईश्वर भारद्वाज[1]

मानव की ज्ञान के प्रति जिज्ञासा की प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप ही दर्शन का उद्भव हुआ है। दर्शन की प्रत्येक धारा मानव चेतना के विकास सम्बन्धी अपनी पृथक् दृष्टि रखती है। भारतीय दर्शनों की संख्या नौ मानी गयी है। इनमें छः आस्तिक हैं। ये वेदानुयायी हैं। ये हैं- न्याय, वैशेषिक, साँख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त। इनके अतिरिक्त तीन नास्तिक दर्शन हैं, जो वेदानुयायी नहीं हैं- चार्वाक, जैन और बौद्ध। यहाँ भारतीय आस्तिक दर्शनों में मानवचेतना के विकास की विधियों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

न्याय दर्शन में चेतना की विकास प्रणाली

न्यायदर्शन आत्मा को चेतना का केन्द्र बिन्दु मानता है, लेकिन यहाँ चैतन्यता आत्मा का स्वाभाविक गुण नहीं है, अपितु आगन्तुक गुण है। आत्मा का सम्पर्क मन से, मन का इन्द्रियों तथा इन्द्रियों का सम्पर्क बाह्य जगत् से होने पर यह चैतन्य हो जाती है। आत्मा का शरीर व इन्द्रियों के बन्धन से पूर्णतया मुक्त हो जाना ही मानव जीवन का चरम लक्ष्य, चेतना का चरम विकास है, इसे यहाँ अपवर्ग (मोक्ष) कहा गया है।

नैयायिकों के मतानुसार बन्धन का मूल कारण अज्ञान है। अज्ञान का नाश तत्त्वज्ञान द्वारा ही सम्भव है। तत्त्वज्ञान होने पर मिथ्या ज्ञान स्वयं निवृत्त हो जाता है। शरीर को आत्मा समझना मिथ्याज्ञान है, इसका नाश तभी सम्भव है, जब आत्मा अपने को शरीर, इन्द्रियों व मन से पृथक् समझे। इस तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के तीन निम्नांकित उपाय हैं-

(१) **श्रवण-** शास्त्रों में विशेषरूप से तत्त्वज्ञान विषयक उपदेशों को सुनना।

(२) **मनन-** सुने हुए उपदेश पर विचार करना व इसे सुदृढ़ बनाना।

(३) **निदिध्यासन-** मनन के उपरान्त योग पद्धति के अनुसार आत्मतत्त्व का ध्यान करना। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि-ये योग के आठ अंग हैं।[2]

इन अभ्यासों के फलस्वरूप उसके मिथ्याज्ञान का अन्त हो जाता है और वह जीवन के चरम लक्ष्य अपवर्ग को प्राप्त कर लेता है। यही चेतना के उच्चतम विकास की स्थिति है।

वैशेषिक दर्शन में चेतना के विकास की दृष्टि

वैशेषिक दर्शन में चेतना के विकास सम्बन्धी मान्यता बिल्कुल न्याय दर्शन जैसी ही है। वैशेषिक के अनुसार भी चेतना का विकास केवल ज्ञानप्राप्ति द्वारा ही सम्भव है। ज्ञान प्राप्त करके आत्मा में योगविधि से संयोग करके निजस्वरूप का प्रत्यक्ष कर सकता है।[3]

---

१. डॉ. ईश्वर भारद्वाज, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, मानवचेतना एवं योग विज्ञान विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

२. यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावंगानि। योगसूत्र २/२९

३. आत्मन्यात्ममनसोः संयोगविशेषादात्मप्रत्यक्षम्। वैशे. ९/१/११

सांख्य दर्शन में चेतना के विकास की प्रणाली

सांख्य दर्शन में चेतना का केन्द्रीय तत्त्व पुरुष है। यह नित्य मुक्त है, परन्तु अज्ञान के कारण वह स्वयं को अचेतन प्रकृति से युक्त समझने लगता है। इस कारण वह दु:खी रहता है। केवल ज्ञान की प्राप्ति के द्वारा ही वह अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानने में सक्षम हो पाता है। पुरुष को जब यह ज्ञान हो जाता है कि 'मैं (यह) नहीं हूँ अर्थात् मैं अचेतन विषय या ज्ञेय नहीं हूँ, मैं जड़ प्रकृति या अन्त:करण नहीं हूँ, मैं बुद्धि में प्रतिबिम्बित चैतन्य नहीं हूँ, '(यह) मेरा नहीं है' अर्थात् जो भी ज्ञेय विषय है, वह मेरा नहीं है, मेरा कुछ नहीं है, मैं '**ममकार**' से रहित हूँ कि '(यह) मैं भी मैं नहीं हूँ' अर्थात् मैं अहंकार भी नहीं हूँ और जब यह ज्ञान तत्त्वाभ्यास से सुदृढ़ हो जाता है और निर्विकल्प अनुभव का रूप ले लेता है, जहाँ ज्ञातव्य शेष नहीं रहता, तब इसे 'कैवल्य' या 'विशुद्ध' कहते हैं।[४] यह विशुद्ध चैतन्य पुरुष का स्वरूप है। इस स्वरूप की प्राप्ति हेतु ज्ञान के साधन के रूप में मनन व निदिध्यासन या अष्टांग योग को बताया है।[५] इसके फलस्वरूप पुरुष अपने वास्तविक स्वरूप की अनुभूति कर लेता है। यह चेतना के विकास की सर्वोच्च अवस्था है।

योगदर्शन में चेतना के विकास के सोपान

योगदर्शन में चित्तवृत्ति निरोध की अवस्था को चेतना के विकास की सर्वोच्च अवस्था माना गया है। इस अवस्था की प्राप्ति हेतु यहाँ अष्टांग योग का विवेचन किया गया है। इनका अति संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है-

(१) यम- यह अष्टांग योग का प्रथम अंग है। यह एक प्रकार का '**सामाजिक अनुशासन**' है। यह पाँच प्रकार का है-[६] (१) अहिंसा अर्थात् किसी भी प्राणी की मन, कर्म, वचन से हिंसा न करना, (२) सत्य अर्थात् झूठ न बोलना, (३) अस्तेय अर्थात् चोरी न करना, (४) ब्रह्मचर्य अर्थात् विषय-वासना की ओर झुकाने वाली प्रवृत्ति का त्याग, (५) अपरिग्रह अर्थात् अनावश्यक वस्तु के ग्रहण का त्याग।

(२) नियम- इन्हें 'वैयक्तिक अनुशासन' कहा जा सकता है। नियम भी पाँच हैं[७] - शौच अर्थात् बाह्य व आन्तरिक शुद्धि, (२) संतोष अर्थात् उचित प्रयास से जो भी प्राप्त हो, उसी में संतुष्ट रहना, (३) तप अर्थात् अच्छाई हेतु कष्ट सहना, (४) स्वाध्याय अर्थात् प्रणव आदि मन्त्रों का जप व मोक्षोपयोगी शास्त्रों का अध्ययन, (५) ईश्वरप्रणिधान अर्थात् अपने समस्त कर्मों का ईश्वर में श्रद्धा भाव से समर्पण।

(३) आसन- जिस स्थिति में दीर्घकाल तक स्थिरता के साथ सुखपूर्वक बैठा जा सके, वह आसन है। इससे शरीर स्थिर होता है फलत: मन भी स्थिर हो जाता है।[८]

(४) प्राणायाम- श्वास-प्रश्वास को नियन्त्रित करके उसमें एक क्रम लाना प्राणायाम कहा जाता है। इससे मन की चञ्चलता समाप्त होकर एकाग्रता आ जाती है तथा प्रकाश का आवरण हट जाता है।[९]

(५) प्रत्याहार- इन्द्रियों का अपने विषयों से विमुख होकर चित्त के स्वरूप में तदाकार सा हो जाना

---

४. एवं तत्त्वाभ्यासान्नाऽस्मि न मे नाऽहमित्यपरिशेषम्। अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥ - सांख्यकारिका, ६४

५. प्रो. हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा - भारतीय दर्शन, पृ. २५१

६. अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमा:। योगसूत्र २/३०

७. शौचसन्तोषतप:स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमा:। योगसूत्र २/३२

८. स्थिरसुखमासनम्।- पातंजल योग सूत्र - २/४६

९. तस्मिन सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेद: प्राणायाम:। योगसूत्र २/४९

अर्थात् अन्तर्मुखी हो जाना प्रत्याहार है।[१०]

(६) **धारणा-** धारणा का अर्थ है- 'चित्त को अभीष्ट विषय पर लगाना'।[११] इससे साधक ध्यान के योग्य हो जाता है।

(७) **ध्यान-** जिस ध्येय वस्तु में चित्त को लगाया जाये, उसी में चित्त का एकाग्र हो जाना (वृत्ति का निरन्तर चलना) ध्यान है।[१२]

(८) **समाधि-** ध्यान करते-करते जब चित्त ध्येयाकार में परिणत हो जाता है। उसके अपने स्वरूप का अभाव सा हो जाता है। इस ध्यान का नाम समाधि है।[१३]

समाधि की अवस्था में चित्तवृत्तियों का पूर्णतया निरोध हो जाता है। यहाँ चेतना अपनी परम विकसित अवस्था को अनुभव करती है।

मीमांसा दर्शन में चेतना की विकास प्रणाली

मीमांसकों के मतानुसार चेतना के विकास हेतु ज्ञान व कर्म दोनों ही आवश्यक हैं। प्रख्यात मीमांसक कुमारिल भट्ट की मान्यता है कि आत्मज्ञान को सुदृढ़ बनाने के लिए वेदान्त के श्रवण, मनन और निदिध्यासन का सेवन आवश्यक है।[१४] अज्ञान के अतिरिक्त कर्म की महत्ता को भी स्वीकारा गया है। कर्म तीन माने गये हैं-

(१) कर्त्तव्य कर्म- जिनके नित्य और नैमित्तिक कर्म के रूप में दो भेद हैं। ये वेदविहित होने से करणीय कर्म हैं। नित्य प्रति किये जाने वाले संध्यावन्दनादि नित्य कर्म हैं और अवसर विशेष पर करणीय व्रतादि नैमित्तिक कर्म हैं। कुमारिल का मत है कि इनको करने से पाप-क्षय होता है और न करने से पाप लगता है, इसलिए इन कर्मों को कर्त्तव्य मानकर, निष्काम भावना से अवश्य ही करना चाहिए।

(२) काम्य कर्म- ये किसी कामना की सिद्धि हेतु किये जाते हैं,[१५] इन्हें करना या न करना मनुष्य की इच्छा पर निर्भर करता है।

(३) प्रतिषिद्ध कर्म-ये अशुभ कर्म हैं, इन्हें करने पर पाप लगता है।

(४) प्रायश्चित कर्म- प्रमादवश प्रतिषिद्ध कर्म कर लेने पर प्रायश्चित कर्म द्वारा उसका शमन करने का प्रयास किया जाता है।[१६]

मनुष्य को मोक्ष की अवस्था को प्राप्त करने के लिए नित्य व नैमित्तिक कर्त्तव्य कर्मों तथा ज्ञान प्राप्ति के साधनों का अभ्यास अवश्य करना चाहिए।

---

१०. स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।- पातंजल योग सूत्र- २/५४
११. देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। योगसूत्र ३/१
१२. तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।- पातंजल योग सूत्र - ३/२
१३. तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः। पातंजल योग सूत्र - ३/३
१४. दृढत्वमेतद् विषयश्च यद्येदं शास्त्रं वेदाख्यमुच्यते। तदप्यधिष्ठितं सर्वमेकेन परमात्मना॥- श्लोकवार्तिक, पृ. ६२९
१५. काम्यानि स्वर्गादीष्टसाधनानि ज्योतिष्टोमादीनि। वेदान्तसार पृ. ५१, सू. ७
१६. प्रायश्चित्तानि पापक्षयसाधनानि। वेदान्तसार पृ. ५८ सू. ११

चेतना के विकास सम्बन्धी वेदान्त की मान्यता

अद्वैत वेदान्त के प्रणेता शंकराचार्य जी के मतानुसार अज्ञान के कारण आत्मा बन्धनग्रस्त रहती है, इस बन्धन से मुक्ति के लिए ज्ञान ही एकमात्र साधन है। कर्म व भक्ति इसमें केवल सहायक हो सकते हैं।[१७] परन्तु मोक्ष की प्राप्ति केवल ज्ञान से ही हो सकती है। ज्ञान की प्राप्ति के लिए साधक को निम्नांकित साधन-चतुष्टय का पालन करना पड़ता है-

(१) नित्यानित्यवस्तुविवेक- साधक को नित्य और अनित्य वस्तु में विवेक करने का विवेक होना चाहिए। क्योंकि केवल ब्रह्म ही नित्य वस्तु है और उसके अतिरिक्त सम्पूर्ण जगत् अनित्य है।[१८]

(२) इहामुत्रार्थफलभोग विराग- साधक को लौकिक और पारलौकिक भोगों की कामना का परित्याग करना चाहिए।[१९]

(३) शमदमादि षट्क सम्पत्ति- साधक को शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा व समाधान इन छह सम्पत्तियों को अपनाना चाहिए। '**शम**' का तात्पर्य है 'मन का संयम', '**दम**' का तात्पर्य 'इन्द्रियों का नियन्त्रण', '**उपरति**' का आशय है 'बाह्य विषयों से नियन्त्रित की गई इन्द्रियों को ब्रह्मविषयों से निरोध' '**तितिक्षा**' का अर्थ है 'सर्दी-गर्मी आदि को शरीर धर्म समझ कर सहना, '**समाधान**' का अर्थ समाधि अर्थात् वशीभूत मन को श्रवणादि एवं उसके अनुरूप विषयों में लगाना, '**श्रद्धा**' का तात्पर्य है 'गुरुओं के द्वारा दिये गये वेदान्त वाक्यों में विश्वास करना तथा मुमुक्षुत्व का आशय है '**मोक्ष की कामना करना**' या साधक में मोक्ष प्राप्ति के लिए दृढ़ संकल्प का होना।

इन छः सम्पत्तियों के वर्धन के अभ्यास के उपरान्त साधक में पात्रता विकसित हो जाती है। अत एव अब उसे ब्रह्मज्ञानी गुरु के सम्मुख जाना चाहिए। अग्रिम विकास हेतु साधक को तीन अन्तरङ्ग साधनों का भी पालन करना पड़ता है, ये निम्नवत् हैं-

(१) श्रवण- गुरु के उपदेशों को सुनना श्रवण कहलाता है।

(२) मनन- उपदेशों पर तार्किक दृष्टि से विचार करना मनन कहलाता है।

(३) निदिध्यासन- सत्य पर निरन्तर ध्यान रखना निदिध्यासन कहलाता है।[२०]

इन प्रणालियों से गुजरने के उपरान्त उसके पूर्व संचित संस्कार नष्ट हो जाते हैं। अब गुरु उसे 'तत्त्वमसि' की दीक्षा देते हैं। इसके उपरान्त उसे एक दिन '**अहं ब्रह्मास्मि**' की अनुभूति हो जाती है। यह चेतना के विकास की उच्चतम अवस्था है।

---

१७. डॉ. ममता मिश्रा - भारतीय दर्शन, पृ. २४४

१८. नित्यानित्यवस्तुविवेकस्तावत् ब्रह्मैव नित्यं वस्तुतोऽन्यदखिलमनित्यमेव। वेदान्तसार पृ. ६१ सू. १६

१९. वेदान्तसार पृ. ६२ सू. १७

२०. प्रो. हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा- भारतीय दर्शन, पृ. ३१८

भारतीय दर्शन में जीव विषयक मीमांसा

डॉ० ब्रजेश कुमार पाण्डे

'**जीवतीति जीवः**' जीव् प्राणे धातु से '**क**' प्रत्यय होकर जीव शब्द की निष्पत्ति होती है जिसका अर्थ 'प्राण धारण करने वाला चेतन तत्त्व'। इस शाब्दिक व्युत्पत्ति से यह अर्थ निकलता है कि जीव चैतन्य एवं कर्तृ की भावना का सम्मिश्रण है अर्थात् जीव में एक तरफ चैतन्यांश है तो दूसरी तरफ कर्तृत्वाभिमान।

दार्शनिक मीमांसा जीव से ही प्रारम्भ होती है-ब्रह्म से नहीं। ब्रह्म तो ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय की त्रिपुटी परे की सत्ता है (ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञातृरहितं परमार्थतत्त्वदर्शनम्)। इस त्रिपुटी की परिधि में ही अनुशीलन का प्रश्न उ सकता है। जीव का अस्तित्व इस परिधि से वेष्टित रहता है। नानात्व, द्वन्द्व और प्रपञ्च जीव के ही साथ हैं। य हम अपने को जीवत्व में नहीं पाते तो दर्शन का प्रारम्भ ही नहीं हो पाता। जब श्रुतियाँ हमारे पारमार्थिक स्वरू की ओर प्रस्थापन का संकेत करती हैं तभी हमारे अन्दर यह अन्तर्द्वन्द्व पैदा होता है कि हमारा अस्तित्व क्या है यदि उसका स्वरूप वह नहीं है जो बाह्य प्रतीत है तो फिर उसका अपने स्वरूप के प्रति अज्ञान क्यों?[२] जीव इसी मूल स्वरूप के अनुसन्धान का प्रयास सभी दर्शनों ने अपने-अपने ढंग से किया है। आस्तिक दर्शनों में जी का ईश्वर के प्रति आकर्षण इस अनुसन्धान का बीज है[३] तो नास्तिक दर्शनों में स्वरूपान्वेषण दुःखनिवृत्ति साधन।

क.वैदिक दर्शन

प्रारम्भिक वैदिक संहिताओं में जीव अथवा आत्मा का स्वरूप स्फुटरूप में नहीं मिलता। पुनर्जन्म परलोक सम्बन्धी उद्धरणों[४] से यह प्रमाण मिलते हैं कि उनका शरीर से पृथक् मूल आत्मतत्त्व के विषय में ज्ञा अवश्य था। वस्तुतः संहिताओं में जीव एवं ब्रह्म की तादात्म्यता के सूत्र मिलते हैं। परम तत्त्व को एक (**एकं स विप्रा बहुधा वदन्ति**) तथा अभय ज्योति[५] कहा गया है। अथर्ववेद में भी ब्रह्म की सर्व व्यापकता तथा आत्मा अभिन्नता सम्बन्धी विचार व्यक्त किये गए हैं। इस जगत् का आत्मा निष्काम, आत्मनिर्भर, अमर, स्वयंसिद्ध आनन्दमय सर्वश्रेष्ठ सदैव युवा और शाश्वत है। उसके ज्ञान से ही मृत्यु को जीता जा सकता है।[६]

उपनिषदों में आत्मतत्त्व अत्यन्त विशद तथा स्पष्ट रूप में प्रतिपादित है। शरीरस्थ जीव वस्तुतः ब्रह्म है। जैसे ही नश्वर बन्धन नष्ट होगा यह ब्रह्मलीन हो जाएगा।[७] आत्मा नित्य है जो मन बुद्धि एवं इन्द्रियों से परे तथ

---

१. डॉ० ब्रजेश कुमार पाण्डेय, उपाचार्य, संस्कृत विभाग, राजकीय महिला महाविद्यालय, हल्द्वानी नैनीताल, उत्तराखण्ड।

२. डॉ० शशीदेवी सिंह, शांकर वेदान्त में चैतन्य तत्त्व

३. अद्वैत वेदान्त में तत्त्व और ज्ञान, स्वामी महेश्वरानन्द गिरि, भूमिका, पृ० १०.

४. ऋक् - १०.६.१०, ९.४१.२, १.२५.६, २.२.१०, १०.१.३, १०.१३२.४, ४.५.९, १०.१५२.४

५. ऋग्वेद - १.१६४.४६

६. क स्कम्भ सूक्त - १०.७.८, उच्छिष्ट सूक्त - ११.९ ख अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः। तमे विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्॥ १०.८.४४

७. छान्दोग्य० १.१.१

विकारी है। न वह जन्म लेता है न मरता है। कठोपनिषद् के रथरूपक में आत्मा को शरीर रूपी रथ का स्वामी बताया गया है।[८] आत्मज्ञान ही सर्वोच्च ज्ञान है तथा इसको जान लेने से सब कुछ ज्ञात हो जाता है।[९] शङ्कराचार्य का **'जीवो ब्रह्मैव'** की कल्पना उपनिषदों में अपने सुस्पष्ट रूप में विद्यमान है। **'अयमात्मा ब्रह्म'**[१०] **अहं ब्रह्मास्मि'**[११] **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'**[१२] जैसे महावाक्य उपनिषदों के ही अंश हैं।

माण्डूक्योपनिषद् आत्मा की चार अवस्थाओं का वर्णन करता है-जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय। प्रथम तीन आत्मा की अपर अवस्थाएँ हैं, जिन्हें विश्व, तैजस् तथा प्राज्ञ कहा जाता है। शुद्ध एवं पूर्ण आत्मा **'तुरीय'** है। इस चतुर्थ आत्मा को अदृष्ट, अव्यवहार्य, अलक्षण, अव्यपदेश्य, केवल आत्मसार, प्रपञ्चोपशम, शान्त एवं शिव कहा गया है। इसे ही जानना चाहिए।[१३] ओङ्कार इसी आत्मा का द्योतक अक्षर है। अद्वैत की कथा ही पूर्ण आत्मलाभ की अनुभूति है।

ब्र.श्रीमद्भगवद्गीता

गीता में उपनिषदों के ही आत्मविषयक विचारों को आगे लाया गया है। गीता का द्वितीय अध्याय आत्मा के स्वरूप विज्ञान का अध्याय है। आत्मा वस्तुतः अज, सनातन और पुरातन है, जो शरीर के नष्ट हो जाने पर भी वर्तमान रहता है।[१४] आत्मा पुराने वस्त्रों की तरह जीर्ण शरीर का परित्याग कर देता है और सर्वथा नवीन शरीर प्राप्त कर लेता है।[१५] आत्मा नित्य, सर्वव्यापी, सरल, स्थिर और सनातन है।[१६] वह निष्क्रिय साक्षी, गुणातीत, तटस्थ द्रष्टा मात्र है। जीव को परमेश्वर का सनातन अंश कहा जाता है।[१७] जिस प्रकार सर्वत्र व्याप्त आकाश सूक्ष्म होने के कारण लिप्त नहीं होता वैसे ही देह में स्थित आत्मा निर्गुण होने कारण देह के गुणों से लिप्त नहीं होता।[१८] आत्मा सम्पूर्ण क्षेत्र (शरीर) में सूर्य की तरह प्रकाशित होता है।[१९] भगवान् कहते भी हैं कि मैं सभी भूतों में स्थित आत्मा हूँ।[२०]

---

८. आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च। इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाँस्तेषु गोचरान्। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥ - कठोपनिषद् १.३-४

९. आत्मनि खलु अरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विदितम्। -बृहदारण्यकोपनिषद् ४.५.६

१०. बृहदारण्यक० २.५.१९

११. बृहदा० १.४.१०

१२. छान्दोग्य० ३.१४.१, 'तत्त्वमसि' महावाक्य भी छान्दोग्योपनिषद् का ही है - ६.८.७

१३. माण्डूक्योपनिषद् - ७

१४. श्रीमद्भगवद्गीता - २.२०

१५. गीता - २.२२

१६. नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः। गीता - २.२४

१७. ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः। गीता - १५.७

१८. श्रीमद्भगवद्गीता - ३.३२

१९. गीता - ३.३३

२०. अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः। १०.२०

ग.चार्वाक

चूँकि चार्वाक दर्शन वस्तुवादी (जड़वादी) है, इसलिए मन व चेतना का विकास भी जड़ से ही मान है। चार्वाक केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है। अतः उसके अनुसार प्रत्यक्ष न होने से शरीर से पृथक् को आत्मा नहीं। चैतन्य से विशिष्ट देह ही आत्मा है।[२१] चेतन की उत्पत्ति **'पृथिव्यप्तेजवायु'** इन जड़ द्रव्यों का परिणाम है।[२२] चेतना शरीर का धर्म है, न कि आत्मा नामक किसी अन्य अदृश्य वस्तु का। देहात्मवादी मनसात्मवादी, इन्द्रियात्मवादी, प्राणात्मवादी आदि चार्वाकों के कई भेद हैं, जो क्रमशः देह, मन इन्द्रियों या प्रा को ही आत्मा मानते हैं। शंकर एवं वाचस्पति मिश्र ने चेतना के शरीरधर्मा होने का खण्डन करते हुए कहा है कि यदि चेतना शरीर का धर्म होती तो उसका प्रत्यक्ष होना चाहिए था।

घ.जैन

जैन दर्शन के अनुसार चेतन द्रव्य को जीव कहते हैं।[२३] जीव सामान्यतः दो प्रकार के हैं- बद्ध तथा मुक्त संसारी बद्ध जीवों के अनेक भेद स्वीकार किए गए हैं। गमनागमन सक्षम जीव त्रस कहलाते हैं, जबकि गमनशक्तिविहीन जीव स्थावर। पुनः उनके चार भेद किए गए हैं[२४]

(क) नारक-विभिन्न नरकों में निवास करने वाले,

(ख) मनुष्य,

(ग) तिर्यंच (पशु-पक्षी आदि लघुकाय जीव)

(घ) देव-ऊर्ध्वलोक में निवास करने वाले।

अपनी पूर्ण, शुद्ध एवं नैसर्गिक अवस्था में जीव अनन्त ज्ञान एवं अनन्त दर्शन से युक्त रहता है।[२५] परन्तु जीवों में आवरणीय कर्मों[२६] के कारण इन स्वाभाविक धर्मों का उदय नहीं हो पाता। अशुभ कार्यों के अनुष्ठान से यह तिरोहित हो जाता है। जीव शुभाशुभ कर्मों का कर्त्ता है तथा इनके कर्मफलों का भोक्ता भी वह स्वयं है। जैन दर्शन आत्मा को मध्यम परिमाण विशिष्ट मानता है (अद्वैत वेदान्ती इसको विभु मानते हैं, जबकि वैष्णव अणु) जीव शरीरावच्छिन्न (अस्तिकाय) होता है अर्थात् वह अपने शरीर के परिमाण को धारण करता है। अतः हस्ती के शरीर में रहने वाला जीव विपुल परिमाणात्मक होता है, जबकि चींटी के शरीर का निवासी जीव अल्प परिमाणात्मक। प्रदीप की तरह जीव भी संकोच एवं विकासशील है।[२७]

---

२१. चैतन्य विशिष्ट देह एवात्मा।

२२. क पृथिव्यप्तेजोवायुरिति तत्त्वानि, तेभ्यश्चैतन्यम् ख किण्वादिभ्यो मदशक्तिवत् चैतन्यमुपजायते सर्वदर्शनसंग्रहः, चार्वाक दर्शनम् ग जडभूतविकारेषु चैत्तन्यं यत्तु दृश्यते।

२३. चैतन्यलक्षणो जीवः। - षड्दर्शनसमुच्चय कारिका ४९

२४. तत्त्वार्थाधिगम सूत्र, २.३२-३६.

२५. सर्वदर्शनसंग्रह - ६

२६. ऐसे कर्म जो दर्शन के विविध प्रकारों को धुधला बना देते हैं, दर्शनावरणीय कर्म कहलाते हैं तथा ऐसे कर्म जो विविध प्रकार के ज्ञान को अस्पष्ट बना देते हैं, ज्ञानावरणीय कर्मकहलाते हैं। - भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग १, डॉ० दासगुप्त, पृ० २४१.

बौद्ध दर्शन

बुद्ध आत्मविषयक प्रश्नों पर मौन रह जाते थे। उनका मत था कि यदि जीवात्मा की स्थिति के विषय में कारात्मक उतर दिये जाएँ तो वह शाश्वतवाद होगा और यदि नकारात्मक उत्तर दें तो वह उच्छेदवाद होगा अतः द्ध अनात्मवादी दर्शन है। बौद्ध दर्शन के अनुसार सब कुछ क्षणिक, अनित्य एवं परिवर्तनशील है।[२८] इसलिए त्मा को भी नित्य नहीं माना जा सकता। आत्मा वस्तुतः चेतना का प्रवाह है। सतत प्रवाह में एकता का भ्रम ता है, जैसे कि नदी के जलकण निरन्तर प्रवाह में धारा का आभास देते हैं। आत्मा से आसक्ति वस्तुतः अश्रुत, स्पृष्ट रमणी से प्रेम के समान है।[२९] नाम रूप के पाँच स्कन्ध (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान) ही त्मा कहे जाते हैं।[३०] इनमें से किसी के भी स्थायी नहीं रहने से मनुष्य में निहित किसी अपरिवर्तनशील वस्तु या त्य तत्त्व की कल्पना कैसे की जा सकती है।[३१] **'महावग्ग'** में उन्होंने पञ्चवर्गीय भिक्षुओं को आत्मा के अनस्तित्व उपदेश दिया है। बुद्ध के अनुसार आत्मा-विषयक प्रश्नों का अनुसन्धान करना ठीक उसी प्रकार है, जैसे कोई ल्यविद्ध व्यक्ति अपनी चिकित्सा कराने से पहले यह पूछना शुरू कर दे कि जिस पुरुष ने मुझे वेधा है, उसका म गोत्र, निवास या जाति क्या है? इस तरह तो वह इन अज्ञात चीजों के अनुसन्धान क्रम में मर जायेगा।[३२] तुतः आत्मविषयक ऊहापोह दृष्टियों का बन्धन है। इनमें फंसा व्यक्ति दुःखों से निवृत्ति कैसे पा सकता है?[३३] लिन्द के प्रश्नों के उत्तर में नागसेन ने स्थायी आत्मा को अस्वीकार किया है।[३४]

बहुत से विद्वानों ने बौद्धों के नैरात्म्यवाद को औपनिषद् आत्मवाद के विरुद्ध नहीं माना है।[३५] किन्तु नकी आत्मा की अवधारणा मूलतः वैदिक आत्मा की अवधारणा से विभेद अवश्य रखती है।

न्याय दर्शन

न्याय दर्शन के अनुसार आत्मा ज्ञान इच्छा आदि गुणों का आधार है। यह प्रतिसन्धान, स्मरण और यभिज्ञान करने वाला तत्त्व है।[३६] आत्मा में ही सुख-दुःख, इच्छा-द्वेष, प्रयत्न और ज्ञान ये छः गुण रहते हैं।[३७]

---

२८. सर्वं क्षणिकं, सर्व दुःखम्।
२९. दीघ्घनिकाय, ९ पोट्टपादसुत्त
३०. डॉ० राधाकृष्णन् मानते हैं कि उपनिषदों में वर्णित नामरूप के आधार पर ही स्कन्धों की कल्पना विकसित की गयी है। - भारतीय दर्शन, खण्ड १, पृ० ३११ आचार्य बलदेव उपाध्याय के अनुसार बौद्धों का आत्मा प्रत्यक्षगोचर मानस प्रवृत्तियों का पुंजमात्र है। उसका सिद्धान्त आजकल के मनोवैज्ञानिकों के सिद्धान्त के समकक्ष है, जो मानस दशाओं को मानकर भी तदेकीकरणात्मक आत्मपदार्थ को मानने के लिए तैयार नहीं है। - भारतीय दर्शन, पृ० १२६
३१. संयुत्त निकाय - ४.५४
३२. मज्झिम निकाय - ६३, चूलमालुक्यसुत
३३. मज्झिम निकाय - ६४, दीघ्घनिकाय में भी यह विषय प्रस्तुत है।
३४. मिलिन्द प्रश्न - २.१.१
३५. कभारतीय दर्शन, खण्ड १, डॉ० राधाकृष्णन्, पृ० ३१६-३२० ख भारतीय दर्शन, चन्द्रधर शर्मा, पृ० ५४-५७, डॉ० शर्मा के अनुसार आत्मा को वस्तुतः बौद्धों ने **'निर्वाण'** के रूप में स्वीकार किया है।
३६. न्यायवार्तिक - १.१.१०

जीवात्मा की सत्ता के सम्बन्ध में शब्द एवं अनुमान प्रमाण हैं। प्राचीन नैयायिक आत्मा को प्रत्यक्ष अनुभूतिमय नहीं मानते, किन्तु नव्य नैयायिक मानस-प्रत्यक्ष के द्वारा आत्मज्ञान मानते हैं।[३८] आत्मा इन्द्रियों का अधिष्ठाता है।[३९] इन्द्रियाँ साधन के रूप में स्व-स्व विषयों का ग्रहण करती हैं, किन्तु उनका प्रेरक आत्मा अवश्य है।[४०] यदि जीवात्मा को एक मान लें (वेदान्त की तरह) तो फिर सुख-दु:खादि के सबके अनुभव समान क्यों नहीं हो जाते हैं।[४१] उपर्युक्त सुख-दु:खादि छः गुण एवं भावना नामक संस्कार तथा धर्म-अधर्म ये नौ आत्मा के विशेष गुण हैं। इनके अतिरिक्त संख्या, परिणाम, पृथक्त्व, संयोग, विभाग-ये पाँच आत्मा के सामान्य गुण हैं।

जीव के कर्तृत्व भोक्तृत्वादि धर्म तभी तक हैं, जब तक यह शरीरावच्छिन्न है। शरीर से सम्बन्ध विरह होते ही वह समस्त गुणों से विरहित हो जाता है। उसके समस्त दु:खों का उच्छेद ही अपवर्ग है।[४२] जयन्त भट्ट का मत है कि आत्मा का अपने स्वाभाविक रूप में अनन्त काल तक अवस्थान ही वस्तुतः मोक्ष है। अतः आत्मा के वास्तविक स्वरूप का विवेचन ही मोक्ष विवेचन है।[४३] अमरता की अवस्था भय से निर्मुक्त, अविनश्वर परमानन्द की प्राप्ति के भाव से युक्त ब्रह्म कही जाती है।[४४] मुक्तात्माओं की अवस्था की तुलना प्रगाढ़ स्वप्नविहीन निद्रा के साथ की जाती है।[४५]

न्याय चैतन्य को आत्मा का आगन्तुक गुण मानता है न कि स्वरूप गुण। जागृत अवस्था में मन के साथ संयोग होने से आत्मा में चेतन-गुण रहता है।[४६] अतः मोक्ष दशा में वह आगन्तुक गुण भी नष्ट हो जाता है।[४७] किन्तु इस आधार पर न्याय के अपवर्ग की कल्पना मुक्त आत्मा को पाषाण खण्ड बना देती है।

छ. वैशेषिक दर्शन

न्याय-वैशेषिक के समान तन्त्र होने के कारण वैशेषिक के जीव विषयक विचार भी न्याय के ही समान

---

३७. क इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-सुख-दु:खज्ञानान्यात्मनो लिंगम्। न्यायसूत्र - १.१.१० ख सुखदु:खेच्छाद्वेषप्रयत्नमतिः ज्ञानम्। - न्यायसिद्धांत मुक्तावली।

३८. न्यायसूत्रों में सिर्फ आत्मा के अनुमान की चर्चा है १.१.१० वात्स्यायन भी न्यायभाष्य - १.१.३ में प्रमाणसंप्लव की व्याख्या करते हुए आत्मा को योगज-प्रत्यक्ष का विषय बताते हैं न कि लौकिक प्रत्यक्ष का। किन्तु उद्योतकर न्यायवार्तिक - ३.१.१ तथा वाचस्पति मिश्र न्यायतात्पर्य टीका में आत्मा को **'अहम्'** पदार्थ के रूप में ज्ञानादि गुणों के साथ मानस प्रत्यक्ष का विषय मानते हैं। दोनों मतों का समन्वय करते हुए जयन्त भट्ट कहते हैं कि आत्मा को मानस-प्रत्यक्ष का विषय मानने पर भी उसे वस्तुतः अनुमेय मानना ही युक्तिसंगत है- अनुमेयत्वमेवास्तु लिंगेनेच्छादिनाऽत्मनः।

३९. आत्मेन्द्रियाद्यधिष्ठाता करणं हि सकर्तृकम्। न्यायसिद्धांतमुक्तावली

४०. इन्द्रियार्थप्रसिद्धिरिन्द्रियार्थान्तरस्तु हेतुः। वैशैषिक सूत्र - ३.१.१

४१. न्यायभाष्य ३.२.३२

४२. न्यायसूत्र १.१.२२, न्यायभाष्य ३.२.६७

४३. न्यायमंजरी, भाग २

४४. तदभयम् अजरममृत्युपदं ब्रह्मक्षेमप्राप्तिः। न्यायभाष्य १.१.२२

४५. सुषुप्तस्य स्वप्नादर्शने क्लेशाभाववदपवर्गः। न्यायसूत्र ४.१.६३

४६. न्यायसूत्र - १.१.१० पर न्यायवार्तिक एवं न्यायभाष्य

४७. अशेषविशेषगुणोच्छेदो मोक्षः। तात्पर्यटीका - १.१.२

हैं। कणाद एवं प्रशस्तपाद आत्मा का मानस प्रत्यक्ष नहीं मानते[४८] किन्तु शंकर मिश्र मानते हैं। आत्मा ज्ञान का कर्त्ता एवं विषय दोनों नहीं हो सकता।[४९]

आगम (शब्द) एवं अनुमान ही आत्मविषयक ज्ञान में हमारे सहायक हैं।[५०] वैशेषिक सूत्रों में आत्मा की सिद्धि में अनेक प्रमाण दिए गये हैं।[५१] अपनी स्वाभाविक अवस्था में आत्मा ज्ञानशून्य होती है। इसे वस्तुगत बोध तभी होता है, जब यह शरीर संसर्ग प्राप्त करती है। चैतन्य के सन्दर्भ में इसका मत न्यायवत् ही है अर्थात् यह इसका अनिवार्य तथा अविच्छेद्य अभिलक्षण नहीं। वैशेषिक दर्शन में भी आत्मा की अनेकता प्रतिपादित की गयी है। स्थिति में पार्थक्य तथा अवस्थाओं का वैभिन्न्य इसकी अनेकता के प्रतिपादक हैं।[५२] शास्त्र भी आत्माओं को अनेक ही मानते हैं।[५३] प्रत्येक आत्मा अपने कर्मों का पृथक् फलभोग करता है।[५४] आत्माओं के अनन्त होने के कारण ही कुछ आत्माओं के मोक्ष प्राप्त कर लेने पर भी जगत्-विलयन नहीं होता। वैशेषिकों के मत में मन भी अनन्त है और वह जन्म जन्मान्तर में आत्माओं के साथ सम्बद्ध रहता है।[५५]

वैशेषिकों के अनुसार मुक्तात्मा समस्त अनुभूतियों से रहित हो जाता है। इसी से खीझकर वैष्णव भक्त कहते हैं कि वैशेषिक के इस मोक्ष से तो वृन्दावन के सुरम्य जंगल में शृङ्गाल बनकर रहना अधिक श्रेयस्कर है।

ज. सांख्य दर्शन

सांख्य दर्शन का आधार उसकी प्रकृति और पुरुष की संकल्पना है। इनमें पुरुष ही आत्मा है जो स्वयंप्रकाश, अभौतिक, अवाङ्मनसगोचर, नित्यशुद्धबुद्ध, अविकृत, उदासीन, साक्षी चैतन्य तथा निस्त्रैगुण्य है।[५६] सांख्य में इसके अस्तित्व की सिद्धि के लिए अनेक युक्तियाँ दी गयी हैं। ये युक्तियाँ उसके द्वारा परिकल्पित दूसरा तत्त्व प्रकृति के सापेक्ष हैं।[५७] पुरुष इन्द्रियों तथा बुद्धि से भिन्न है। इन्द्रियाँ दर्शन के साधन मात्र हैं, जबकि पुरुष द्रष्टा है। पुनः बुद्धि (प्रवृत्ति) अचेतन है, जबकि पुरुष चेतन। वह सर्वदा प्रकाशस्वरूप है जिसके आलोक में प्रकृति को देखते हैं।[५८] यह सुख-दुःख एवं तीनों गुणों से सर्वथा रहित है, क्योंकि ऐसी स्थिति न मानने पर उसका मोक्ष असंभव हो जाएगा। सांख्य पुरुष को सिर्फ़ चैतन्यमय मानता है, न कि आनन्दमय जैसा कि वेदान्त का मत है। सांख्य पुरुष की अनेकता को स्वीकार करता है। चेतन प्राणियों में शारीरिक, नैतिक एवं बौद्धिक विभिन्नताएँ पायी जाती हैं। प्रत्येक मनुष्य के कर्म तथा कर्म-दृष्टियाँ और उनसे प्राप्त कर्मफल भिन्न देखे जाते हैं। ये पुरुष की

---

४८. वैशेषिक सूत्र - ८.१.२
४९. वै०सू० - ३.२.६
५०. वै०सू० - ३.२.८, ३.२.१८
५१. प्राणापाननिमेषोन्मेष जीवनमनोगतिइन्द्रियान्तरविकारसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मानो लिंगानि। वै०सू० - ३.२.४
५२. व्यवस्थातो नाना० - वै०सू० ३.२.२०.
५३. शास्त्रसामर्थ्यात् - वै०सू० ३.२.२१
५४. वै०सू० - ६.१.५
५५. पदार्थधर्मसंग्रह - ७.२.२१, ३.२.२२
५६. सांख्यकारिका १९
५७. संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्। पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थप्रवृत्तेश्च।। - सांख्यकारिका १७
५८. सांख्यप्रवचनभाष्य १.७५ सांख्यप्रवचनसूत्र १.१४६

अनेकता को प्रमाणित करते हैं।[५९] यदि आत्मा एक ही होती तो किसी एक के मोक्ष की स्थिति में सभी मुक्त हो जातीं। वस्तुतः सांख्य का पुरुष विचार उपनिषदों के आत्मतत्त्व पर ही आधृत है।[६०] त्रिगुणात्मिका प्रकृति के क्रियाकलापों का यह तटस्थ दर्शक मात्र है।

सांख्य के अनुसार पुरुष वस्तुतः नित्यमुक्त है और प्रकृति के व्यापारों के कारण प्रतीत होने वाला बन्धन कृत्रिम एवं अवास्तविक है।[६१] प्रकृति के अपने कार्य से निवृत्त होते ही पुरुष अपने **'स्व'** रूप में स्थित हो जाता है।[६२] तत्त्वज्ञान के पश्चात् प्रारब्ध कर्मों के भोग के लिए शरीर भले ही वर्तमान रहे, किन्तु आत्मा मुक्त हो चुकी होती है। यह जीवनमुक्ति है।[६३] कर्मों का क्षय होने पर विदेह मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

(झ) योग दर्शन

योग दर्शन भी सांख्य की ही तात्त्विक पृष्ठभूमि पर आधृत है। इसलिए इसमें जीव की परिकल्पना लगभग सांख्य जैसी ही है।

चैतन्यस्वरूप पुरुष या जीव अनन्त हैं, जो प्रकृति में रहने के कारण अपनी स्वाभाविक निर्मलता से च्युत हो जाते हैं। वस्तुतः प्रकृति और आत्मा का संयोग ही संसार का हेतु है, अतः इस संयोग के पूर्ण विनाश का नाम ही मोक्ष है। सम्यक् तात्त्विक ज्ञान होने पर ही यह दृष्टि प्राप्त हो सकती है।[६४] आत्मा द्रष्टा कहा गया है, जबकि प्रकृति ज्ञान का विषय है। सांख्य की अपेक्षा योग का पुरुष अधिक स्वातन्त्र्यसम्पन्न है, क्योंकि मोक्षमार्ग में उसे ईश्वर का साहाय्य उपलब्ध है।[६५] सांख्य मोक्षार्थ जहाँ ज्ञान पर बल देता है, वही योग में चित्त की एकाग्रता एवं क्रियात्मक प्रयत्न को महत्त्व दिया गया है।[६६]

द्रष्टा पुरुष वस्तुतः निर्विकार है, किन्तु वह चित्त की वृत्तियों के अधीन हो तदनुरूप चेष्टाशील बन जाता है।[६७] प्रकृति का समस्त व्यापार पुरुष के भोग एवं अपवर्ग के लिए ही है।[६८] प्रकृति के स्वव्यापार से निवृत्त होते ही पुरुष स्वस्थित हो जाता है।[६९] चित्त पुरुष का दृश्य रूप है। चित्त को निर्मित करने वाले गुणों का जीवात्मा के

---

५९. कजननमरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च। पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव॥ सांख्यकारिका - १८ ख सांख्यप्रवचनसूत्र - ६.४५, १.१४९, १५०.
६०. भारतीय दर्शन, खण्ड २, डॉ० राधाकृष्णन् पृ० २४४
६१. कसांख्यकारिका - ६२ ख सांख्यप्रवचनसूत्र - २.८
६२. सांख्यकारिका - ५९, ६८
६३. सांख्यकारिका - ६७
६४. दुःखबहुलः संसारो हेयः। प्रधानपुरुषयोः संयोगो हेयहेतुः। संयोगस्यात्यन्तिकी निवृत्तिर्हानम् हानोपायः सम्यग्दर्शनम्। -व्यासभाष्य - २.१७
६५. योग ने सांख्य के पच्चीस तत्त्वों के अतिरिक्त 'पुरुषविशेष ईश्वर की कल्पना की हैमि जो क्लेशकर्मादि विपाकों से रहित है।'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषः ईश्वरः' १.२४
६६. देखें - भगवद्गीता - १३.२४
६७. योगसूत्र - २.२०
६८. योगसूत्र - २.२१
६९. सांख्यकारिका - ५७.६०

प्रयोजन (भोगापवर्ग) की सिद्धि के पश्चात् अपने कारण में लीन हो जाना ही कैवल्य है। चित्तवृत्तियों के पूर्ण निरोध से आत्मा की स्वरूपोपलब्धि ही मोक्ष कही गयी है।[७०] चूँकि आत्माएँ अनन्त हैं, अतः दृश्य का विलोपन केवल मुक्त पुरुष के लिए ही होता है, अन्य बद्ध जीवों के लिए उस दृश्य का नैरन्तर्य बना रहता है।[७१]

(ञ) मीमांसादर्शन

चूँकि मीमांसक **'स्वर्गकामो यजेत्'** की अवधारणा के अनुसार स्वर्ग के अनिर्वचनीय आनन्द की कल्पना करते हैं, अतः शरीर विनिपात के पश्चात् किसी शाश्वत आत्मा की स्थिति भी उन्हें अवश्य स्वीकार्य है जो इस आनन्द का भोक्ता बन सके। यही अशरीरी आत्मा स्वर्ग जाता है तथा समस्त कर्मों का कर्त्ता एवं कर्मफल का भोक्ता है।[७२] शरीर को भोगायतन कहा जाता है। सूत्रकार जैमिनि आत्मा को बुद्धि तथा इन्द्रियों से परे बताते हैं,[७३] यद्यपि उन्होंने आत्मा के तात्त्विक विश्लेषण पर विशेष ध्यान नहीं दिया है। वृत्तिकार उपवर्ष ने १.१.२ की वृत्ति के क्रम में बताया है कि आत्मा के विषय में उत्तरमीमांसा में विचार किया जायेगा। श्लोकवार्त्तिक के अंतिम श्लोक में कुमारिल भट्ट शबर के मत का उल्लेख करते हुए इसी का समर्थन करते हैं।[७४] शबरस्वामी के अनुसार ज्ञान का ज्ञाता आत्मा है, जो स्वयंवेद्य है।[७५] यह समस्त परिवर्तनों का साक्षी अवश्य है, किन्तु सर्वदा अपरिवर्तनीय एवं एकरस रहता है। बोध या ज्ञान आत्मा से सम्बद्ध एक क्रिया है।[७६] आत्मा बोध का आश्रय एवं जनक दोनों है। यह नित्य सर्वव्यापक एवं विभु है।

बौद्धों ने आत्मा को विचारों की एक सतत शृंखला कहा है, जिनमें से प्रत्येक विचार अपने पूर्ववर्ती विचार से संस्कार ग्रहण करता है। कुमारिल भट्ट के अनुसार बौद्धों का यह मत भ्रामक एवं अवास्तविक है, जो कर्मफल एवं पुनर्जन्म की व्याख्या नहीं कर सकता। यदि कर्मफल स्वीकार्य है तो उसका एक सामान्य अधिष्ठान होना चाहिए और यही अधिष्ठान शाश्वत आत्मा है।

आत्मज्ञान के सन्दर्भ में भाट्ट एवं प्रभाकर मीमांसकों में मतभेद है। कुमारिल के अनुसार- आत्मा ज्ञान का विषय एवं विषयी दोनों ही है।[७७] यह विरोधी गुण नहीं है क्योंकि आत्मा के भीतर द्रव्यात्मक एवं चैतन्य दोनों ही अंश हैं जो क्रमशः बोध के विषय एवं विषयी हैं। आत्मसंवित्ति (स्वयं को जानना) से ही आत्मज्ञान होता है। अतः आत्मा मानसप्रत्यक्षरूप अहंप्रत्ययगम्य है। प्रभाकर के अनुयायियों ने इस मत पर आपत्ति की है। उनके अनुसार एक वस्तु एक ही साथ कर्त्ता और कर्म कैसे हो सकती है ? यदि आत्मा का प्रत्ययात्मक अंश बुद्धिशून्य है तो वह आत्मा ही नहीं है। इसलिए केवल इसका चैतन्यांश विषय एवं विषयी दोनों है। यहाँ आत्मा को

---

७०. योगसूत्र - १.२-३

७१. योगसूत्र - २.२२

७२. मीमांसा सूत्र - १.१.५

७३. मीमांसा सूत्र - १.१.४ बुद्धि की अनुपस्थिति जैसे निद्रा में भी आत्मा वर्तमान रहता है। उसी प्रकार इन्द्रियों के क्षत होने या नष्ट हो जाने पर भी जीवत्व नष्ट नहीं हुआ करता। अतः यह इन दोनों से परे है।

७४. इत्याह नास्तिक्यनिराकरिष्णुरात्मास्ति तां भाष्यकृदत्र युक्त्या। दृढत्वमेतद् विषयश्च बोधः प्रयाति वेदान्तनिषेवणेन॥

७५. कुमारिल के मत के लिए देखें - श्लोकवार्त्तिक, आत्मवाद, १४२-१४३

७६. श्लोकवार्त्तिक, आत्मवाद - १००

७७. श्लोकवार्तिक - आम्रवाद - १०७.

अहंप्रत्ययवेद्य कहा गया है। कुमारिल भट्ट के अनुसार चैतन्य का विशुद्ध रूप विषयी है और वही चैतन्य लौकिक दृष्टि से परिवर्तित होकर विषय हो जाता है।[७८]

कुमारिल के मतानुसार विषय चैतन्य के साथ वृत्ति द्वारा सम्बद्ध प्रतीत होते हैं। आत्मा का अचित् अंश ही अन्तःकरण है जिसके द्वारा आत्मसंविति की अनुभूति होती है।

ट. वेदान्त दर्शन

वेदान्त का प्रतिपाद्य ही है आत्मतत्त्व का सम्यक् विवेचन।[७९] समस्त उपनिषदों की एकवाक्यता सिद्ध करने के लिए व्यास ने ब्रह्मसूत्रों की रचना की। किन्तु इन सूत्रों में व्यक्त, मन्तव्यों पर, परवर्ती आचार्य एकमत नहीं रह सके और उन्होंने अपने-अपने विचारों के अनुसार सूत्रों की व्याख्या की। फलतः वेदान्त में अनेक उपसम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ। स्वाभाविक है कि विचारसरणि की भिन्नता के कारण इन सम्प्रदायों की जीव-सम्बन्धी धारणा भी भिन्न-भिन्न ही है। इनके जीव विचारों की संक्षिप्त रूपरेखा आगामी पंक्तियों में व्यक्त की गयी है-

(क) अद्वैत वेदान्त (शंकराचार्य)

आचार्य शंकर के अनुसार परमार्थतः जीव एवं ब्रह्म में अद्वैत है।[८०] उनका दृश्यमान भेद व्यावहारिक सत्ता मात्र है। आत्मा अपरिच्छिन्न है और ज्ञान का विषय नहीं हो सकता। वह द्रष्टा, विभु, निरवयव, देशकालातीत परमार्थ एवं परम सत् है। जैसे सूर्य और चन्द्र के जल में अनेक प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ते हैं, उसी प्रकार ब्रह्म माया के कारण अनेक जीवों के स्वरूप में परिलक्षित होता है। जीवात्मकता अविद्याजन्य अध्यास मात्र है।[८१]

ब्रह्मसूत्रभाष्य में आचार्य शंकर जीव को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि वह आत्मा जो शरीर और इन्द्रियरूपी पंजर का स्वामी है तथा कर्मफल का सम्बन्धी है वही जीव है।[८२] आचार्य ने इसे अविद्यावच्छिन्न तथा अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य कहा है। अविद्या काम और मन शारीरक तन्त्र (शरीर, इन्द्रियाँ एवं अन्तःकरण) जीव

---

७८. घटावच्छिन्ना हि ज्ञातृता ग्राह्या शुद्धैव ज्ञातृता ग्राहिका। -न्यायमंजरी, ४३०. ध्यातव्य - प्रभाकर का ज्ञानविषयक मत त्रिपुटी-प्रत्यक्षवाद कहलाता है। उनके अनुसार प्रत्येक ज्ञान में ज्ञेय, ज्ञान और ज्ञाता की त्रिपुटी का प्रत्यक्ष होता है। स्वप्रकाशरूप होने से ज्ञान ज्ञेय को प्रकाशित करते ही स्वयं भी प्रकाशित हो जाता है तथा अपने आश्रयभूत आत्मा को भी प्रकाशित कर देता है। कुमारिल का ज्ञानविषयक मत ज्ञाततावाद कहलाता है। प्रभाकर के विपरीत यह ज्ञान को स्वप्रकाशरूप नहीं मानते। ज्ञान की साक्षात् अनुभूति नहीं होती तथा ज्ञेय पदार्थ में 'ज्ञातता' धर्म के उत्पन्न होने से ज्ञान की प्रतीति होती है। -चन्द्रधर शर्मा, पृ० १९८-१९९.

७९. 'आत्मानं विद्धि' ही इसका सूत्रवाक्य है।

८०. 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' शङ्कर। 'अहं ब्रह्मास्मि' बृहदा० १.४.१० 'अयमात्मा ब्रह्म' बृहदा० - २.५.१९ 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का० ३.१४.१ 'एकमेवाद्वितीयम्' छान्दोग्य० ६.२.२ तत्त्वमसि छान्दोग्य - ६.८.७ आदि श्रुतिवाक्य इसी अद्वैत का प्रतिपादन करते हैं।

८१. जीव को ब्रह्म प्रतिपादित करते हुए कहते हैं - आकाशवन्निर्मलनिर्विकल्पं निःसीमनिःस्पन्दननिर्विकारम्। अन्तर्बहिःशून्यमनन्यमद्वयं स्वयं परं ब्रह्म किमस्ति बोध्यम्॥ -विवेकचूड़ामणि, ३९३

की उपाधियाँ हैं।[८३]

आचार्य शंकर मानते हैं कि आत्मा ही बुद्धि में प्रतिबिम्बित होकर जीवभाव को प्राप्त होता है। जैसे जलरूपी उपाधि के आते ही एक द्रष्टा दो रूपों में दिखाई देते लगता है।[८४] सुरेश्वराचार्य के अनुसार बुद्धि उपहित चित् जीव है।[८५] जीव एवं ब्रह्म का औपाधिक भेद है।[८६] जैसे उपाधिपरिच्छिन्न घटाकाश से अनुपाधिक अपरिच्छिन्न आकाश भिन्न है, वैसे ही अविद्याकल्पित कर्त्ता-भोक्ता विज्ञानाख्य जीव से परमेश्वर भिन्न है।[८७] यद्यपि विज्ञानात्मा जीव परमात्मा से अनन्य ही है तथापि अविद्याकृत मर्त्यत्व तथा भय के अध्यारोप के कारण उसमें अमृतत्व तथा अभयत्व की उपपत्ति नहीं होती।[८८] स्थाणु में पुरुष बुद्धि के समान द्वैत-लक्षण अविद्या के कारण जब तक जीव को अपने कूटस्थ नित्य तथा दृक् स्वरूप का ज्ञान नहीं हो जाता तभी तक उसका जीवत्व है। पूर्ण ज्ञान होते ही वह दृक् स्वरूप आत्मा हो जाता है।[८९] 'जीव ब्रह्म' बन जाता है' यह कहना भी उपचार मात्र है, क्योंकि वस्तुतः जीव सदा ही ब्रह्म है। रज्जु में सर्प, शुक्तिका में रजत आदि के समान जीवत्व-प्रतीति अविद्याजन्य है। वेदान्त में एक ही कूटस्थ-नित्य विशुद्धिविज्ञानस्वरूप परमात्मतत्त्व है और वही अविद्या के कारण अनेक रूपों में प्रतीत होता है।[९०] श्रुतियों में जीव एवं ब्रह्म का वास्तविक भेद खोजने वाले विद्वान् शंकर भगवत्पाद की दृष्टि में पण्डितापसद (पण्डितों में निकृष्टतम) हैं।[९१]

(ख) भेदाभेद (भास्कराचार्य)

भास्कराचार्य ने ब्रह्मसूत्र की अपनी व्याख्या में जीव एवं ब्रह्म के भेदाभेद का प्रतिपादन किया है। उन्होंने ब्रह्म को जीव से भिन्न एवं अभिन्न दोनों माना है।[९२] जीव का स्थान हृदय में है, किन्तु वह समस्त शरीर में चंदन की सुगंधि के समान व्याप्त है। बन्धनमुक्त हो वह अणुरूप रहता है। किन्तु मूलतः ब्रह्माद्वैत के कारण वह अणुरूप नहीं है। बुद्धि, अहंकार, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ एवं पञ्च प्राण से प्रभावित होकर जीव पुनर्जन्म के चक्र में फंसता है।

भास्कर जीवों में परस्पर भेद मानते हैं। जीव स्वभावतः चैतन्यरूप है।[९३] जीवों का ब्रह्म से भेद एवं अभेद ठीक उसी प्रकार है, जिस प्रकार फेन तरंगादि का समुद्र से। वस्तुतः जो एक है वह नाना रूप भी है, उसकी

---

८३. कशांकरभाष्य, ब्रह्मसूत्र १.२.६ या १.३.१४ खशांकरभाष्य, बृहदारण्यकोपनिषद्, ३.८.१२
८४. शतश्लोकी ५०
८५. बुद्धितत्कारणोपाधिक्षेत्रज्ञेश्वर संज्ञको बृहदारण्यको० भा० १.४.६.६
८६. पारमार्थिक रूप से तो श्रुतियाँ जीव को अज, नित्य एवं अविकारी बताती हैं – 'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः' कठ २.१०
८७. शांकरभाष्य १.१७.१७
८८. शा० भा० १.२.१७
८९. शा० भा० १.३.१९
९०. यावदविद्या.. .... यावद्.. .... देहेन्द्रियमनोबुद्धिसंघातः तावज्जीवस्य जीवत्वम्। अविद्याकल्पितं जीवभेदं दर्शयति। कूटस्थनित्यदृक्स्वरूप आत्मा। शा० भा० ब्रह्मसूत्र १.३.१९
९१. गीता, शांकरभाष्य १३.२
९२. भिन्नाभिन्नरूपं ब्रह्म इति स्थितम्। – ब्रह्मसूत्रभास्कर भाष्य १.१.४
९३. भास्करभाष्य २.३.१८, २२, २३

सत्ता न तो नितान्त एक रूप है और न नितान्त भिन्न रूप है।[९४] ऐसा मानना इसलिए आवश्यक है कि अन्यथ बन्धन एवं मोक्ष की अवस्था ही नहीं बन पायेगी। यदि एकजीववाद को मान लें तो फिर एक ही जीव के मुक्त हो जाने से सबकी मुक्ति हो जानी चाहिए, किन्तु ऐसा असम्भव है।[९५] जीव एवं ब्रह्म के बीच औपाधिक भेदाभेद है ईश्वर अंश जीवों की यह विशेषता है कि वे ब्रह्म से एक होते हुए भी अनादिकाल से अविद्या, इच्छा और कर्मों के प्रभाव में रहते हैं।[९६] सत्य उपाधियों (बुद्धि, अहंकार, मन, प्राण इन्द्रिय आदि) के नष्ट हो जाने पर जीव का ब्रह्म से भेद मिट जाता है, जैसे घट के फूट जाने पर घटाकाश और महाकाश अभिन्न हो जाते हैं। जीव एवं ब्रह्म के इसी भेद एवं अभेद में समस्त वेदान्तवाक्यों का तात्पर्य निहित है।[९७] भास्कर जीवन्मुक्तिवाद को नहीं मानते, क्योंकि जब तक शरीर की स्थिति है, तब तक संचित कर्मानुसार वर्ण और आश्रम धर्म का पालन करना ही पड़ेगा।

(ग) विशिष्टाद्वैत (रामानुजाचार्य)

आचार्य रामानुज ने तीन तत्त्वों की सत्ता स्वीकार की है-चित्, अचित् तथा ईश्वर। इनमें चित् ही जीव तत्त्व है। ईश्वर या ब्रह्म इस चित् और अचित् दोनों से ही विशिष्ट (युक्त) है। जीव देह, इन्द्रिय, मन, प्राण और बुद्धि से विलक्षण अनन्त, आनन्दरूप, नित्य, अव्यक्त, अचिन्त्य, निर्विकार एवं ज्ञानाश्रय है। आत्मा को स्वभाव से ही ज्ञाता कहा गया है।[९८] ज्ञान उसका आवश्क धर्म भी है और अपृथक् स्वरूप भी। इसलिए उसे ज्ञानाश्रय एवं ज्ञान स्वरूप दोनों कहा जाता है। हृत्प्रदेश में निवास करने के कारण वह अणुरूप है।[९९] किन्तु उसके ज्ञान को विभु कहा गया है। विभु ज्ञान गुण के कारण वह व्यापक है।[१००] अद्वैत मत में जीव को स्वभावतः एक माना गया है, जो देहादि उपाधियों के कारण अनेक रूपों में प्रतीत होता है, किन्तु रामानुज के अनुसार जीव अनन्त हैं और वे एक दूसरे से नितान्त पृथक् हैं।[१०१]

रामानुज ने जीवों के तीन भेद माने हैं-बद्ध, मुक्त तथा नित्यमुक्त। अविद्या एवं कर्म के कारण भवचक्र में दुःख भोगते जीव बद्ध कहलाते हैं।[१०२] बन्धन से निवृत्त जीव मुक्त कहलाते हैं।[१०३] सबसे श्रेष्ठ नित्यमुक्त जीव हैं जो

---

९४. भा० भा० २.१.१८
९५. जीवानां परस्परं भेद एव परमात्मना च अभेदः फेनतरंगादीनामिव सत्येवमेकस्मिन् युक्ते परो न मुच्यते इति उपपद्यते बन्धमोक्ष-व्यवस्था.. ....। -ब्रह्मसूत्र भा०भा० १.४.४०
९६. भा०भा० - १.४.२१
९७. भा०भा० - १.४.२५
९८. अतो ज्ञातृत्वमेव जीवात्मनः स्वरूपम्। श्रीभाष्य - २.२.३१
९९. वैष्णव सम्प्रदायों में जीव को अणुरूप मानने का आधार श्वेताश्वतर का यह श्लोक प्रतीत होता है - 'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवस्स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते।' - श्वेता० ५.९ इसके अतिरिक्त मुण्डकोपनिषद् - ३.१.९ भी द्रष्टव्य **'स चायमात्माऽणुपरिमाणः'** - २.३.३१
१००. श्रीभाष्य - २.३.३६
१०१. वेदार्थसंग्रहः, प्रारंभ
१०२. श्रीभाष्य - ४.४.१५
१०३. श्रीभाष्य - ४.४.२०

कभी बन्धन में नहीं पड़ते तथा अविद्या, कर्म और प्रकृति से सदा मुक्त रहते हैं।[१०४] रामानुज जीव के जीवन्मुक्तिवाद को प्रवाद मात्र मानते हैं। भला शरीर के वर्तमान रहने पर कौन कैसे मुक्त कहा जा सकता है? शरीरपात के पश्चात् भी जीव ही रहता है न कि ब्रह्म हो जाता है। हाँ, उस समय निरवच्छिन्न ब्रह्मानन्द के अनुभव से कृतार्थ हो, वह सर्वभयविनिर्मुक्त हो जाता है।[१०५] जीव शुद्ध स्वसंवेद्य 'अहं रूप' है जो बद्धावस्था के **'अहंकार-ममकार'** से भिन्न है।[१०६]

(घ) द्वैत (मध्वाचार्य)

आचार्य मध्व जीव एवं ब्रह्म में आत्यन्तिक भेद के समर्थक हैं।[१०७] भगवदभिन्न कदापि नहीं हो सकता। भगवान् एवं जीव में सेव्य सेवक का भाव है, इसलिए दोनों में नित्यभिन्नत्वभाव है। उन्होंने जिस पञ्चविध भेद[१०८] की कल्पना की है उनमें प्रथम ईश्वर और जीव में भेद ही है।

द्वैतदर्शन के अनुसार जीव अनेक, अणुरूप, नित्य कर्तृत्व-भोक्तृत्व ज्ञातृत्वादि संपन्न, निरवयव एवं शरीर के संयोग-वियोगादि से संसक्त है। जीवों में परस्पर भी अत्यन्त भेद होता है। स्वरूपतः जीव पूर्ण ज्ञान संपन्न होता है। किन्तु धर्माधर्म के कारण प्रकट नहीं होता। नित्य होते हुए भी शरीर सम्बन्ध के कारण इनका जन्म होता है।[१०९]

अन्य वैष्णव सम्प्रदायों की भाँति मध्व भी जीव को अणु परिमाम किन्तु ज्ञान गुण द्वारा विभु-रूप बताते हैं। आचार्य के मतानुसार श्रुतिवाक्यों की तभी संगति बैठ सकती है जब जीव का अणुपरिमाणत्व स्वीकार किया जाए।[११०]

गुणों के तारतम्यभेद से वे तीन प्रकार के हैं-मुक्तियोग्य, तमोयोग्य एवं नित्यसंसारी। मुक्तियोग्य जीव देव, ऋषि, पितृ, चक्रवर्तिन् और उत्तम मानव हैं। नित्यसंसारी अपने कर्मानुसार स्वर्ग के सुख, मर्त्य के सुख-दुःख एवं नरक के दुःख भोगते रहते हैं। सबसे अधम तमोयोग्य जीव होते हैं। (दानव, राक्षस, पिशाचादि) जो नित्य अभिशप्त हैं।

मुक्तावस्था में भी गुणों के परिमाण की पुष्टि से जीवों में भेद होता है। शाङ्करमत के विपरीत जीव विषय और विषयी दोनों है। वह अहं ज्ञान का विषय है, स्वसत्ता का ज्ञाता एवं पदार्थ का प्रकाशक भी है।

---

१०४. श्रीभाष्य - ४.४.२२
१०५. रामानुज के अनुसार - 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन' यह श्रुतिवाक्य भी इसी का समर्थन करता है।
१०६. 'तस्मात्स्वत एव ज्ञातृतयासिद्ध्यत्रहमर्थ एवं प्रत्यगात्मा, न ज्ञप्तिमात्रम्। अहंभावविगमे तु ज्ञप्तेरपि न प्रत्यक्त्वसिद्धिरित्युक्तम्।' - श्रीभाष्य १.१.१
१०७. पूर्णप्रज्ञ भाष्य - १.२.१२
१०८. माध्वमत में पंचविध नित्य भेद हैं - क ईश्वर ऐर जीव का भेद ख जीव और जीव का भेद ग ईश्वर और जड़ का भेद घ जड़ और जड़ का भेद तथा ङ जीव और जड़ का भेद।
१०९. पूर्णप्रज्ञ भाष्य - २.३.१९
११०. अणुर्ह्येष आत्मा यं वा ये ते सिनीत पुण्य चापुण्यं चेति श्रुतो अणुत्वं इत्यतो विरोध इति। पूर्णप्रज्ञ भाष्य - २.३.२३। मध्व के अनुसार - 'हृदि ह्येष आत्मा' प्रश्न ३.६ 'ये वै के चास्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति' कौषितकी० ३.३ 'तस्माल्लोकात्पुनरेत्यास्मै लोकाय कर्मणे' बृहद० ४.४.६ इत्यादि श्रुतियाँ जीव का अणुत्व प्रतिपादन करती हैं।

(ङ) द्वैताद्वैत (निम्बार्क)

आचार्य निम्बार्क ने ब्रह्मसूत्र के अपने भाष्य वेदान्तपारिजातसौरभ तथा दशश्लोकी में स्वाभिमत ब्रह्म जीव एवं जगत् का विवेचन किया है। इनके अनुसार जीव ज्ञानस्वरूप एवं ज्ञान को धारण करने वाला दोनों है, ठीक वैसे ही जैसे सूर्य प्रकाशस्वरूप भी है और प्रकाश का स्रोत भी। इस प्रकार ज्ञानस्वरूप आत्मन् और उसके धर्म ज्ञान में एकत्व होते हुए भी दोनों में धर्म-धर्मिभाव से पार्थक्य भी है।[१११] यह भी जीव को अणु परिमाण मानते हैं, किन्तु ज्ञान गुण की सर्वव्यापकता के कारण यह शरीरमात्र में सुख दुःखादि का अनुभव कर सकता है।[११२] ईश्वर के ही समान जीव भी आत्मचेतन है। यह कर्म का कर्त्ता एवं कर्मफल का भोक्ता है। जीवात्मा के ही साथ इन्द्रियादि पदार्थ भोग्य वस्तुओं का स्व स्वामिभाव सम्बन्ध है।[११३]

प्रत्येक आत्मा ब्रह्म के व्यक्तित्व के कारण परिणत हुई ज्योतिकिरण है।[११४] निम्बार्क जीव एवं ब्रह्म के मध्य भेद एवं अभेद दोनों स्वीकार करते हैं।[११५] दोनों में अंशांशीभाव होने के कारण भिन्नता है पर अन्ततः अभेद ही ठहरता है।[११६] यदि दोनों के मध्य नितान्त अभेद स्वीकार कर लिया जाए तो भेद-प्रतिपादक श्रुतिवाक्यों से असामंजस्य पैदा हो जाएगा। यही संशय तब भी उत्पन्न होगा जब जीव एवं ईश्वर को सर्वथा भिन्न बता दिया जाए। सर्वथा भिन्न होने की दशा में परमात्मा का सर्वव्यापकत्व खण्डित हो जाएगा। अभेद को यथार्थ मान लेने पर ब्रह्म अवस्थाओं के अधीन हो जाएगा जबकि अन्तर्यामी ब्रह्म जीवात्माओं के दोषों से सर्वथा अस्पृष्ट रहता है।[११७] इसलिए निम्बार्क के अनुसार द्वैत एवं अद्वैत दोनों ही यथार्थ हैं। स्वरूप एवं गुण वैभिन्न्य के कारण जीव एवं ब्रह्म में भेद है, जबकि ब्रह्म पर ही एकान्ततः आश्रित रहने[११८] तथा स्वतन्त्र अस्तित्व के अभाव के कारण दोनों में अभेद है। प्रतिशरीर में भिन्न असंख्य जीव का विशुद्ध स्वरूप अनादि अविद्या से उद्भूत कर्मों के कारण आवरण युक्त हो विकृत एवं परिच्छिन्न स्वरूप को प्राप्त कर लेता हैं। प्रपत्ति (ईश्वर की शरणागति) ही एकमात्र मोक्षमार्ग है। शरणागति से प्राप्त ईश्वरानुग्रह वस्तु-स्वरूप का ज्ञान करा देता है।[११९]

(च) शुद्धाद्वैत (वल्लभाचार्य)

महाप्रभु वल्लभाचार्य ने विशुद्ध अद्वैतवाद की प्रतिष्ठा की है। उन्होंने समस्त जड़ जगत् एवं जीवात्माओं को यथार्थ माना है, जो उनके अनुसार वस्तुतः सूक्ष्मरूप में ब्रह्म हैं। जीव, काल और प्रकृति (माया) सब नित्य

---

१११. ज्ञानस्वरूपं च हरेरधीनं शरीरसंयोगवियोगयोग्यम्। अणुं हि जीवं प्रतिदेहभिन्नं ज्ञातृत्ववत्वं यदनन्तमाहुः॥ - दशश्लोकी १

११२. वेदान्तपारिजातसौरभ २.३.२५

११३. जीवैनैवेन्द्रियाणां स्वस्वामिभाव सम्बन्धः २.४.१५ निम्बार्कभाष्य

११४. निम्बार्कभाष्य २.३.४२

११५. ब्रह्माभिन्नोऽपि क्षेत्रज्ञः स्वस्वरूपतो भिन्न एव। - वेदान्त पा०सौ० २.१.२२

११६. अविभागेऽपि समुद्रतरंगयोरिव सूर्यतत्प्रभयोरिव तयोर्विभागः स्यात्। - निम्बार्क भाष्य २.१.१३

११७. वेदा० पा० सौ० ३.२.११

११८. कर्तृत्वगुण होते हुए भी 'कर्ताशास्त्रार्थवत्वात्' ब्र०सू० २.३.३३ यह सूत्र जीव के कर्तृत्व-स्वातंत्र्य का निषेध ही करता है।

वस्तुएँ हैं जो ब्रह्म के ही तत्त्व से सम्बद्ध हैं। जीव अणुरूप है[१२०] तथा ब्रह्म होते हुए भी अग्निस्फुल्लिंगवत् उसका एक अंश है।[१२१] वस्तुतः भगवान् के अविकृत चिदंश से जीवों का निर्गमन होता है। वह ब्रह्मवच्चेतन तथा शुद्ध है। हृदयस्थ होते हुए भी जीव का चैतन्य सर्वशरीरव्यापी है।[१२२] ज्ञान गुण उसमें स्वाभाविक है। अतः उसे ज्ञाता कहा गया है। ज्ञातारूप धर्मी और ज्ञान रूप धर्म में अभेद सम्बन्ध होता है।[१२३] आनन्दरूप पर आवरण आ जाने से इसे उसे जीव कहते हैं। अतः यह भी ब्रह्मवत्, नित्य एवं यथार्थ हुआ। वल्लभ ने जीवों के तीन भेद स्वीकार किए हैं- शुद्ध, संसारी एवं मुक्त। शुद्ध जीवों के ऐश्वर्यादि गुण अविद्या से मलिन नहीं होने पाते। संसारी जीव अविद्यावश जन्म-मरण चक्र में भ्रमण करते रहते हैं जबकि मुक्त जीव संसार के समस्त बन्धनों से स्वतन्त्र हैं। मोक्ष की अवस्था में जीव अपने समस्त गुणों[१२४] को प्राप्त कर लेता है और ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाता है। मायाबद्ध जीव ईश्वरानुग्रह से ही मोक्ष का अधिकारी होता है। इनके अनुसार उच्चतम लक्ष्य मोक्ष नहीं वरन् कृष्ण के पादारविन्द की निरन्तर सेवा है तथा दिव्यलोकों (वृन्दावन) की प्रभुलीलाओं में भाग लेना है। जीव एवं ब्रह्म का सम्बन्ध विशुद्ध ऐक्य भाव का है। भगवदनुग्रह से जीव में तिरोहित आनन्दांश का आविर्भाव होते ही वह ईश्वरानन्द का अनुभव करने लगता है।

(छ) अचिन्त्य भेदाभेद-(विद्याभूषण)

महाप्रभु चैतन्य का दर्शन अचिंत्यभेदाभेद कहलाता है। श्री रूपगोस्वामी ने उज्ज्वलनीलमणि तथा भक्तिरसामृतसिंधु, श्री जीवगोस्वामी ने षट्सन्दर्भ और श्री बलदेव विद्याभूषण ने ब्रह्मसूत्र पर गोविन्दभाष्य लिखकर इस सम्प्रदाय को दार्शनिक प्रतिष्ठा दी।

इस मत के अनुसार भगवान् अपनी शक्तियों द्वारा जीवों के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। यह अभिव्यक्ति वास्तविक एवं पूर्ण सत्य है। ईश्वर से उनकी शक्तियों का अचिन्त्यभेदाभेद सम्बन्ध है।

भगवान् अपनी जिस शक्ति के द्वारा अणु परिमाण जीवों के रूप में अभिव्यक्त होते हैं वह तटस्थ शक्ति या जीव शक्ति कहलाती है। जीव अनेक, अणु रूप[१२५] एवं नित्य है। वह स्वरूपतः अनन्त, चेतन, स्वयं-प्रकाश एवं शुद्ध है। जीव ईश्वर पर पूर्णतः आश्रित है। वह ज्ञाता, कर्त्ता, भोक्ता, अहमर्थरूप है। मूलतः ज्ञानस्वरूप होते हुए भी अविद्या के कारण वह बद्ध हो जाता हैं जीव की समस्त क्रियाएँ, सारे भोग वास्तविक हैं। किन्तु यह ईश्वराश्रित ही है। वस्तुतः जीव अन्तःकरण की उपाधि से प्रतिबिम्बित ब्रह्म ही है। ब्रह्म का अंश होने से यह उससे भिन्न भी है। भक्ति से उन्हें अपने शुद्ध रूप का ज्ञान हो जाता है और तब कर्मबन्धन के क्षीण हो जाने से वे मुक्त हो जाते हैं।

---

१२०. अणुभाष्य २.३.१९

१२१. अणुभाष्य २.३.४३

१२२. जीवस्य हि चैतन्यं गुणः सर्वशरीरव्यापी। अणुभाष्य २.३.३

१२३. अणुभाष्य १.४.२

१२४. जीव में ब्रह्म का ऐश्वर्य तिरोहित रहता है। 'ब्रह्मैश्वर्यस्य तिरोहितत्वात् स दुःखस्य भागी भवति। यशस्तिरोभावात् सर्वहीनत्वं श्रीतिरोभावज्जन्मादिसर्वापद्विषयत्वं, ज्ञानतिरोभावाद् देहादिष्वहं बुद्धिः, वैराग्यतिरोभावाद्विषयासक्तिः॥' अणुभाष्य ३.२.५

१२५. गोविन्दभाष्य २.२.४१

(ज) शैव सिद्धांत

शैव तन्त्रों में जीव को पशु एवं परात्पर ब्रह्म शिव को पति की संज्ञा दी गयी है। जीव पशुवत् अविद्या रज्जु द्वारा संसार में बंधे होने से पशु कहलाते हैं। शैव तन्त्रों में प्रमुख शैव सिद्धांत मत जीवों को नित्य मानता है। जीव स्थूल शरीर से भिन्न तथा सूक्ष्म है और इच्छा, विचार तथा क्रिया उसके व्यापार है।[१२६] जीव अनादि, अनन्त तथा सर्वव्यापी चित् शक्ति है।[१२७] जीवात्माओं की संख्या नियत है जिनमें ह्रास या वृद्धि नहीं होती। प्रलयकाल में शरीर-विरहित जीव क्षमता तथा शक्ति के रूप में शिव में विश्राम करते हैं। पशु उपाख्य जीव देश कालानवच्छिन्न एवं नित्यचैतन्यस्वरूप है। प्रक्रियारूप में इसे नित्य कर्तृत्वसंपन्न कहा गया है।

बन्धन तीन प्रकार के माने गए हैं-अविद्या (मल), कर्म और माया।[१२८] अनादि अविद्या को **'आणव मल'** भी कहा जाता है। इस नित्य मल के कारण जीव स्वयं को सान्त, सीमित एवं अणुरूप में समझकर शरीरेन्द्रियान्तःकरणादि में आबद्ध हो जाता है। जीव की स्वाभाविक ज्ञान क्रियात्मक शक्ति इससे बाधित हो जाती है। कर्म जीवों द्वारा कृत व्यापार है जो सूक्ष्म अदृष्ट रूप है तथा फल भोग करने के लिए जीवों को शरीरादि से तथा समस्त भोग्य पदार्थों से सम्बद्ध कर देता है। माया इस प्राकृत सृष्टि का उपादान कारण है जो जीवों को शरीरादि भोगायतन, इन्द्रियादि भोग-साधन और भोग्य पदार्थ उपलब्ध कराती है। इन तीनों मलों के आधार पर पशु भी तीन प्रकार के हो जाते हैं-विज्ञानाकल (आणवमल युक्त), प्रलयाकल (आणव एवं कार्मणमल युक्त) तथा सकल (आणव, कार्मण एवं मायीय तीनों से युक्त)। इन मलों से विमुक्ति शिव के अनुग्रह से ही संभव है। जीव का स्वभाव है अपने विषय के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेना। जिस प्रकार वृद्धावस्था में वह जड़ पदार्थों से तादात्म्य स्थापित कर लेता है उसी प्रकार मोक्षावस्था में उसका शिव के साथ तादात्म्यीकरण हो जाता है। (यद्यपि नित्य होने के कारण तब भी उसकी सत्ता बनी रहती है) मोक्ष में जीव अपने शुद्ध स्वरूप अनन्त ज्ञान एवं आनन्द का पूर्ण अनुभव कर लेता है।

(झ) काश्मीर प्रत्यभिज्ञामत

वसुगुप्त का प्रत्यभिज्ञामत पूर्णतः अद्वैतवादी है, जिसके अनुसार एक अद्वय शिव ही परम तत्त्व हैं। काश्मीर शैव दार्शनिकों के अनुसार आत्मा ही मुक्त रूप में शिव है, जबकि वही ब्रह्म रूप से जीव या पशु है। आत्मा की सत्ता स्वयंसिद्ध है तथा आत्मा का निषेध भी उसके अस्तित्व का ही प्रमाणक है।[१२९] सच्चिदानन्द शिव माया से आच्छादित होकर जीव रूप में भासित होते हैं। वस्तुतः शिव स्वतन्त्र, चिद्रूप, स्वभाव से प्रकाशस्वरूप तथा एक हैं, किन्तु वे लीलार्थ स्वयं ही अणु एवं अनन्त हो जाते हैं।[१३०] शिवावस्था में तो उसे अपनी पूर्णता का ज्ञान रहता है, किन्तु पशु अवस्था में यह विस्मृत हो जाता है। प्रत्यभिज्ञा का अर्थ ही है अपने विस्मृत स्वरूप का

---

१२६. शिवज्ञानसिद्धियार ३.१

१२७. शिवप्रकाशम् १.१

१२८. मृगेन्द्रागम २.३-७

१२९. तेन आत्मादेर्निराकरणे साधने वाऽपि अवश्यमेव साधयिता पूर्वकोटा वातिपः सिद्धः। न हि साधयितारमन्तरेण अर्थानां साध्यतैव स्यात्। स च स्वतः सिद्धप्रकाशात्मा परमार्थरूपः परमेश्वर शिव एव। - तंत्रालोक विवेक, १.५६

१३०. तेन स्वातन्त्र्यशक्त्या प्रकाशात्मा स्वभावतः। रूप-प्रच्छादन-क्रीडायोगादणुरनेककः। - तन्त्रालोक भाग ८.१३.१०३

परिज्ञान। जीव द्वारा '**स्व**' रूप की उपलब्धि एवं पूर्ण चिदानन्द लाभ ही मोक्ष है।[१३१] माया और उसके पञ्चकंचुकों से आत्मा की शक्तियाँ आवृत्त एवं परिसीमित हो जाती हैं। फलतः ससीम एवं अपूर्ण ज्ञानशक्तियुक्त हो वह 'पुरुष' या '**पशु**' बन जाता है। इस दर्शन में भी पूर्वोक्त मलत्रय की सत्ता स्वीकार्य है। विज्ञानाकल, प्रलयाकल एवं सकल मलों से आवृत्त जीव की तीन अवस्थाएँ हैं। सकल अवस्था में तीनों मल सक्रिय हो जाते हैं। यही जीवावस्था है जब आत्मा पशु पद से अभिहित होती है। शिव की दृष्टि से बन्धन लीलारूप है, जबकि अपूर्ण आत्मा की दृष्टि से बन्धन सत्य है। इससे विमुक्ति के लिए साधनापूर्वक स्वरूपोपलब्धि की जाती है।

---

१३१. मोक्षो हि नाम नैवान्यः स्वरूपप्रथनं हि सः। - अभिनवगुप्त

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २००९ अङ्क १२ (पृ०९७-१००)

छान्दोग्योपनिषद् में प्राकृतिक तत्त्व

आराध

छान्दोग्योपनिषद् सामवेद की तलवकार ब्राह्मण के अन्तर्गत आता है।[२] यह आध्यात्मिक ज्ञान दर्शन ग्रन्थ है, इसमें हमें अनेक विद्याएँ प्राप्त होती है जिसका ब्रह्म के अलग-अलग विषयों द्वारा वर्णन किया गया छान्दोग्योपनिषद् में हमें ब्रह्म तथा प्रकृति का सम्बन्ध अनेक स्थानों पर प्राप्त होता है जहाँ पर ब्रह्म का व प्रकृति के तत्त्वों की उपमा देकर किया गया है, जैसै कि 'नदियाँ पूर्ववाहिनी होकर पूर्व की और बहती हैं, दक्षि वाहिनी होकर दक्षिण की तरफ बहती हैं, ये समुद्र से निकल कर पुनः समुद्र में मिल जाती हैं, वह समुद्र मैं हूँ।'[३]

१. सृष्टि का ज्ञान

प्रकृति सृष्टि के प्रारम्भिक काल से ही निरन्तर सघनता को प्राप्त हुई है सृष्टि के प्रारम्भिक काल में त बीजों से सृष्टि का विकास माना गया ये तीन बीज अण्डज, जीवज और उद्भिज है[४] जो निरन्तर विकसित होते और सृष्टि का निर्माण किया। अण्डज, जीवज, उद्भिज में अण्डज उन्हें कहा गया जो अण्डे से उत्पन्न हुए जैसे प और सर्प, जीवज उन्हें कहा गया जो जीव से उत्पन्न हुए हैं, जैसे पुरुष और पशु जाति तथा उद्भिज अर्थात् स्था उन्हें कहा गया जो पृथ्वी को ऊपर की ओर भेदते हैं, जैसे धान व वनस्पतियाँ इत्यादि।[५]

इसके साथ ही जब ईश्वर ने इच्छा कि की मैं बहुत हो जाऊँ तो तेज, जल और पृथ्वी रूप तीन देवता में जीवात्मा के साथ प्रवेश करके नाम रूप को प्रकट कर बहुत से नाम रूपों को विस्तृत किया,[६] जिसके का तेज की वृद्धि से प्रकाश का गमन कोने-कोने पर हुआ इससे प्राणियों को ऊर्जा प्राप्त हुई। सृष्टि में जल अधिकता से प्राणियों की संख्या में वृद्धि हुई जिससे कि प्राणियों के विकास का क्षेत्र और भी विस्तृत हुआ।

प्राणी को जीवित रहने के लिए वायु की आवश्यकता होती है, इसलिए वायु की महत्ता को वर्णित क हुए छान्दोग्योपनिषद्[७] में वायु को देवता की उपाधि प्रदान की गई और कहा गया कि वायु ही सबसे अधि

---

१. आराधना शोधछात्रा, छत्रपति शाहूजी महाराज विश्वविद्यालय, कानपुर

शिवशंकर- छान्दोग्योपनिषद् भाष्यम्, अजमेर, १९०५, पृ.७

३. इमाः सोम्य नद्यः पुरस्तात्प्राच्यः स्यन्दन्ते पश्चात्प्रतीच्यस्ताः समुद्रात्समुद्रमेवापियन्ति स समुद्र एव भवति ता यथा तत्र विदुरियमहमस्मीयम्हमस्मीति। छान्दोग्योपनिषद्, ६/१०/१

४. तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्त्याण्डजं जीवजमुद्भिज्जमिति। वही, ६/३/१

५. आण्डजमण्डाज्ञातमण्डजम्, अण्डजमेवाण्डजं पक्ष्यादि। पक्षिसर्पादिभ्यो हि पक्षिसर्पादयो जायमाना दृश्यन्ते। तेन पक्ष पक्षिणां बीजं सर्पः सर्पाणां तथान्यदप्यण्डाज्ञातं तज्जातीयानां बीजमित्यर्थः --------------- तथा जीवाज्ञा जरायुजमित्येतत्पुरुषपश्वादि। उद्भिज्जमुद्भिनत्तीत्युद्भित्स्थावरं-----। छान्दोग्योपनिषद्, शांकर भाष्य, ६/३/१

६. सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविष्य नामरूपे व्याकरवाणीति। एकादषोपनिषत्संग्रह, भाष टीका, ६/३/२

७.शांकरभाष्य, ६/३/२

...नवान् है, जो सभी तत्त्वों को अपने आधीन रखता है अपने में लीन कर लेता है इसके विना सृष्टि की कल्पना नहीं की जा सकती अत: सृष्टि के निर्माण में तेज, जल, पृथ्वी, वायु इन सभी की आवश्यकता होती है।

. कृषि का ज्ञान

उपनिषद्[८] में अन्न को ब्रह्म कहकर कृषि के महत्त्व को बहुत ही बढ़ा दिया गया है, अन्न ही ईश्वर के ...मान उपासनीय है, वह प्रत्येक प्राणी को बल प्रदान करता है, कोई भी प्राणी विना अन्न खाये जीवित नहीं रह ...कता। छान्दोग्योपनिषद्[९] में अन्न के रूप में हमें उड़द का वर्णन प्राप्त होता है, जिसमें एक महावत से घुने हुए ...ड़द की याचना की गई है।

उपनिषद् कालीन व्यक्तियों के पास सम्पत्ति के रूप में क्षेत्र की परिगणना प्राप्त होती है।[१०] उस समय ...माज का एक बड़ा वर्ग कृषि में प्रवृत्त था, अधिकांशत: लोग जो खेती ही किया करते थे और अपनी आजीविका ...सी से चलाते थे।[११]

मनुष्य अपने श्रम से कृषि को समुन्नत बनाते थे, किन्तु ओले और पत्थरों के गिरने से वह नष्ट हो जाती ...ी। छान्दोग्योपनिषद्[१२] में वर्णित है कि ओले इत्यदि इस प्रकार की दैवीय आपदा से कुरुदेश के लोगों की खेती ...ष्ट हो जाती थी।

धान्य- मेघों के वर्षण करने पर धान्यों की उत्पत्ति के साथ औषधि तथा वनस्पति का उल्लेख प्राप्त होता ...।[१३] छान्दोग्योपनिषद्[१४] में धान्यों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि यह आत्मा धान, यव, सरसों तथा ...ण्डुल से भी सूक्ष्म है। इससे ज्ञात होता है कि इन सभी धान्यों का उत्पादन उस समय किया जाता रहा होगा।

वृक्ष- वृक्षों ने हमारी सृष्टि को सदैव पल्लवित पोषित किया है इससे प्राप्त होने वाले औषधीय पदार्थों से ...्यक्ति सदैव लाभान्वित होता आया है। हमें छान्दोग्योपनिषद्[१५] में आंवले, बेर तथा बहेड़े के वृक्षों का वर्णन प्राप्त ...ोता है। वट वृक्ष का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वह वट का वृक्ष मोटी-मोटी शाख, स्कन्ध, फल और पत्तों ...वाला महान् वट वृक्ष उत्पन्न होकर स्थित है।[१६]

३. जल का ज्ञान

जल हमारी सृष्टि के लिए अत्यन्त उपयोगी है इसी से हमारे वन्यजीव, पेड़ पौधे औषधियाँ वनस्पतियाँ ...वृद्धि को प्राप्त होती आई हैं। हमारे प्रकृति के संसाधन जल कारक हैं, हमारी सृष्टि जल पर निर्भर करती है,

---

८. अन्न ब्रह्मेत्युपास्ते ----------। छान्दोग्योपनिषद्, ७/९/२

९. वही, १/१०/२

१०. हस्तिहिरण्यदासभार्याक्षेत्राण्यायतनानीति----। वही, ७/२४/२

११. गैरोला, वाचस्वती- वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, प्रगति प्रेस ७६ कल्याणदेवी रोड, इलाहाबाद, १९६९, पृ० ४८

१२. छान्दोग्योपनिषद्, १/१०/१

१३. मेघो भूत्वा प्रवर्षति त इह व्रीहियवा औषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्ते-----। वही, ५/१०/६

१४. एष म आत्मान्तर्हृदयेऽणीयान्व्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वैष---------। वही, ३/१४/३

१५. यथा वै द्वे वामलके द्वे वा कोले द्वौ वाक्षौ मुष्टिरनुभवत्येव-----। वही, ७/३/१

इसलिए जल की उपासना करनी चाहिए।[१७]

जल औषधि कारक है,[१८] जिससे औषधियों की उत्पत्ति होती है, जिसके प्रयोग से मानवों को नवजीव
प्राप्त होता है। जल वर्षा रूप में सर्वत्र विद्यमान रहता है, बादलों के एकत्रित होने पर मेघ बनने से जल की व
होती है, बिजली चमकती है, कड़कती है, फिर वृष्टि होती है।[१९] इससे हमें प्रकृति में बादलों के बनने वर्षा ह
तथा उसके स्वरूप का ज्ञान होता है।

इस सृष्टि में जहाँ-जहाँ भी जल की वर्षा होती है, वहीं पर हमें अन्न की प्राप्ति होती है, विना वर्षा के अ
की प्राप्ति असम्भव है।[२०] इसलिए बरसते हुए मेघों की निन्दा नहीं करनी चाहिए।[२१]

वैदिक ग्रन्थों से हमें यह ज्ञात होता है कि उस समय मनुष्य के लिए जो वस्तु कल्याणकारी होती थ
उसी की पूजा वा उपासना देव रूप में करने लगते थे, अत: उपनिषदो में जल की उपासना ईश्वर के रूप में
गई है।[२२]

४. ऋतुओं का ज्ञान

ऋतुएँ हमारी प्रकृति का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा है, इनके समयानुसार परिवर्तन से सभी वन-वनस्पति
इत्यादि समय-समय पर फल-फूल इत्यादि देते हैं। ग्रीष्म, वर्षा, शरत्, हेमन्त तथा वसन्त ऋतुओं के समयानुस
गति करने से ही प्राणियों को पुष्टिवर्धक रस प्राप्त होते रहते हैं।

छान्दोग्योपनिषद् में हमें पाँच ऋतुओं का वर्णन प्राप्त होता है। वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरत् तथा हेमन
इसमें कहा गया है कि ऋतुओं में पाच प्रकार के साम की उपसना करनी चाहिए, जिसमें वसन्त सबसे पहला ह
के कारण हिंकार है, ग्रीष्म प्रस्ताव है, क्योंकि इस समय वर्षा ऋतु के लिए जौ आदि अन्नों के संग्रह का प्रस्त
किया जाता है, प्रधानता के कारण वर्षा उद्गीथ है। रोगी और मृत व्यक्तियों के प्रतिहरण करने के कारण शरद् ऋ
प्रतिहार है तथा वायु के अभाव में प्राणियों का निधन होने के कारण हेमन्त ऋतु निधन है।

५. ऊर्जा का स्रोत- सूर्य

हमारी सृष्टि को उष्मा प्रादान करने वाला एकमात्र कारण सूर्य है उसी के आतप से जल वाष्पित होव
आकाश को सब और से व्याप्त कर लेता है फिर वर्षा होती है, यह तेज ही अपने को अद्भुत हुआ दिखाकर ज
की उत्पत्ति करता है वह तेज ही वर्षा का हेतु है।[२३] इसलिए तेज स्वरूप सूर्य की निन्दा नहीं करनी चहिए।[२४]

---

१७. यद्देवमनुष्या यत्पशवष्च वयांसि च तृणवनस्पतयः श्वापदान्याकीटपतंगपिपीलिकमाप एवेमा मूर्ता अप उपास्स्वेति
छान्दोग्योपनिषद्, ७/१०/१

१८. अपामोषधयो रसः, अप्परिणामत्वादोषधीनाम्। छान्दोग्योपनिषद्, शांकरभाष्य, १/१/२

१९. अभ्राणि संप्लवन्ते स हिंकारो मेघो जायते स प्रस्तावो वर्षति स उद्गीथो विद्योतते स्तनयति स प्रतिहार उद्गृह्ण
तन्निधनमेतद्वैरूपं पर्जन्य प्रोतम्। छान्दोग्योपनिषद्, २/१५/१

२०. तस्माद्यत्र क्व च वर्षति तदेव भूयिष्ठमन्नं भवत्यद्भ्य एव तदध्यन्नाद्यं जायते। वही, ६/२/४

२१. वर्षन्तं न निन्देत्तद्व्रतम्। वही, २/१५/२

२२. अपो ब्रह्मेत्युपास्त आप्नोति सर्वान्कामांस्तृप्तिमान् भवति------। वही, ७/१०/२

२३. छान्दोग्योपनिषद्, ७/११/१

२४. तपन्तं न निन्देत्तद्व्रतम्। वही, २/१४/२

यह सम्पूर्ण पृथ्वी में सभी रसों, प्रकाशमान किरणों और संसार के प्राणियों को प्रेरित करने वाला सूर्य है, ी प्रकाशमान पुञ्जों में सबसे उत्कृष्टतम ज्योति सूर्य ही है।[२५] जो अन्नों की वृद्धि करके सृष्टि को पोषित करता सूर्य के कारण ही सृष्टि में प्रकृति का विकास हुआ।

जीव जन्तुओं का ज्ञान

प्रकृति के चक्र को सुचारु रूप से बनाए रखने के लिए प्रत्येक प्राणी का होना अनिवार्य है, चाहे वह ावर जंगम कोई भी प्राणी हो, सभी का इस सृष्टि में होना आवश्यक है, क्योंकि सृष्टि में प्रत्येक प्राणी का जीवन ्-दूसरे पर निर्भर करता है। उपनिषदों में हमें अनेक ऐसे जीव जन्तुओं का वर्णन प्राप्त होता होता है, जो हिंसक त्र थे, वे वनों में ही रहकर विचरण किया करते थे। प्राचीन काल में गायों को पूजनीय माना जाता था, अतः ों का स्थान पवित्र होने के कारण गायों के स्थान को हवनोपयोगी माना गया।

मनुष्यों द्वारा संरक्षण में रहने वाले पशुओं में बकरे, भेड़, गायों, अश्व आदि थे, जिनको मनुष्य अपनी ररतों के लिए पालते थे और इनसे कार्य लेते थे। शारीरिक रूप से मजबूत पशु जैसे अश्व व बैल आदि को झा ढोने वाले पशुओं की भाँति प्रयोग में लाया जाता था। छान्दोग्योपनिषद् में वर्णन आता है कि अश्व व बैल ड़ी में जिस तरह जुता रहता है, उसी प्रकार यह प्राण इस शरीर में जुता रहता है। इसी के साथ उपनिषद् में हमें ाघ्र, सिंह, शूकर, कीट, पतंग, साड़, अथवा मच्छर इत्यादि जीव जन्तुओं का वर्णन भी प्राप्त होता है।

इस प्रकार छान्दोग्योपनिषद् में हमें प्रकृति से सम्बधित अनेक तत्त्व प्राप्त होते हैं, सृष्टि की रचना करने ने ईश्वर को इसमें प्रकृति से सम्बन्धित पेड़-पौधे, जीव जन्तु, इत्यादि तत्त्वों से सम्बद्ध किया गया है।

. रसानां रश्मीनां प्राणनां च जगत् ईरणात्सूर्यस्तमुदान्न गतवन्तो ज्योतिरुत्तमं सर्वज्योतिभ्य उत्कृष्टतममहो----। वही,

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २००९ अङ्क १२ (पृ०१०१-११०)

मन:स्थैर्य-प्रबन्धन और गीता

डॉ० राजेश्वर मिश्र[१]

मनुष्य के समग्र शारीरिक व्यापार को सुचारु रूप से संचालित करने वाली एकादश इन्द्रिय-संघात में **'मन'** सर्वोपरि है, क्योंकि शेष सभी इन्द्रियाँ इसी मन से आदिष्ट होकर अपने अपने व्यापार में सम्यक्तया संलग्न होती है। मन के सम्पर्क के विना कोई भी इन्द्रिय अपने विषय को ग्रहण नहीं कर सकती, क्योंकि शरीर की सम्पूर्ण क्रियाएं और इन्द्रिय-चेष्टाएं मन के विना संभव ही नहीं है। यही उन सभी इन्द्रियों को स्व-स्व व्यापार में संयुक्त करता है। संभवत: इसलिए चरक-संहिता सत्त्वसंज्ञक मन को अतीन्द्रिय मानती है, परन्तु कुछ इसे चित्त मानते हैं, क्योंकि यही सभी इन्द्रियों की चेष्टाओं का कारण है।[२] अत: मानव देह में इसका विशिष्ट स्थान है। यही कारण है कि **'मैत्रायणी उपनिषद्'** में इसी को मनुष्य के सुख और दु:ख का कारण माना गया है।[३] श्रुति भी इसे श्रोत्रादि इन्द्रियों का एकमात्र प्रकाशक अथवा प्रवर्तक मानती है[४] तथा इसे प्रज्ञान, सम्यक्, ज्ञापयिता और सभी प्रजाओं में अन्तर्ज्योतिस्वरूप मानती है।[५] **'अथर्ववेद'** में भी इस मन को दश इन्द्रियों से श्रेष्ठ एकादश इन्द्रिय के रूप में अथवा इनसे पृथक् एक विशिष्ट इन्द्रिय का रूप माना गया है।[६] मानव व्यवहार के आधारभूत इस मन के विषय में जिज्ञासा करते हुए इसी वेद में ऋषि नारायण ने भी **'केनास्मिन् निहितं मन:'**[७] इस प्रश्नपरक उक्ति से इसके वैशिष्ट्य की ओर संकेत किया है। आचार्य सायण इसे द्योतनात्मक अन्त:करण मानते हैं।[८] निरुक्त के टीकाकार आचार्य दुर्ग ने भी मन को **'सर्वेन्द्रियवृत्तिदीपक'** माना है।[९] इस प्रकार संकल्प-विकल्प की हेतुभूत अन्त:करणवृत्ति का नाम ही मन है।

शुभ और सत्यसंकल्प के कारण संकल्प-विकल्प का अधिष्ठान इस दैवी मन की शक्ति असीमित होती हैं। इसलिए मानसिक शक्तियों के विकास अथवा मन की दृढ़ता के लिये देवताओं से भी प्रार्थनाएं की जाती हैं। यही मनुष्य को पापाचरण में भी प्रवृत्त करता है। इसलिए वैदिक ऋषि **'तन्मे मन: शिवसंकल्पमस्तु'**[१०] की कामना करता है, क्योंकि मनुष्य की नाना प्रकार की भावनाएं उसके मन से उत्पन्न होती हैं, अत: शुभाशुभ भावनाओं का साक्षात् सम्बन्ध मन से होता है। **'वाल्मीकिरामायण'** में भी वाल्मीकि ने हनुमान द्वारा इस बात का संकेत किया है

---

१. डॉ० राजेश्वर मिश्र, आचार्य संस्कृत विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र
२. अतीन्द्रियं पुनर्मन: सत्त्वसंज्ञकं चेत इत्याहुरेके। तदर्थात्मसंपत्तदायत्तचेष्टं चेष्टाप्रत्ययभूतमिन्द्रियाणाम्॥ चरक, सूत्रस्थान, इन्द्रियोपक्रमणी,८
३. मन एवं मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो:। मैत्रा० उप०, ४/११
४. दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं.. .. तन्मे मन: शिवसंकल्पमस्तु॥ यजु० ३४/१
५. यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु-- १। वही, ३४/३
६. अथर्व०, ५/१५/१, ५/१६/११
७. अथर्व., १०.२.१९
८. द्रष्टव्य अथर्व०, १/१/२ पर सायणभाष्य।
९. द्रष्टव्य नि० १०/१८/१ पर दुर्गवृत्ति।
१०. यजु. ३४/१-६

कि इन्द्रियों के शुभ और अशुभ कर्म में प्रवृत्त होने का कारण मन है।[११] यदि मन स्वस्थ है तो अच्छी भावनाओं का जन्म होता है, परन्तु यदि मन दूषित है तो बुरी भावनाएं पैदा होती हैं। इसी प्रकार यदि मन स्थिर और दृढ़प्रतिज्ञ है अथवा संयमित है तो उसमें किसी प्रकार का मानसिक विकार उत्पन्न नहीं होता और न ही मोह माया सुख-दु:ख आदि उसे प्रभावित करते हैं। ऐसा मन शोक, चिंता आदि मानसिक विकारों अथवा उन्माद आदि दोषों से भी ग्रसित नहीं होता। यहाँ निर्दशन के रूप में वाल्मीकि रामायण में हनुमान् द्वारा कही गयी वह उक्ति उद्धृत करने योग्य है जो अन्त:पुर में रावण की स्त्रियों को देखकर भी उनके अविकृत मन की परिचायक है-

कामं दृष्ट्वा मया सर्वा विश्वस्ता: रावणस्त्रिय:।
न तु मे मनसा किञ्चिद् वैकृत्यमुपपद्यते।।[१२]

इस प्रकार स्वस्थ, शान्त एवं निष्कल्मष मन में तो दूषित भावनाओं की संभावना नहीं होती। परन्तु यदि मन अशान्त अथवा चञ्चल हो तो नाना प्रकार के मानसिक रोगों की संभावना बनी रहती है। चरक के मत में मानसिक विकारों से उत्पन्न मानस दोष रजोगुण और तमोगुण के कारण होते हैं और मन दूषित होने के कारण ही काम, क्रोध, मोह, ईर्ष्या, मद, शोक, चिन्ता, भय, हर्ष, विषाद आदि अनेक विकारों का जन्म होता है।[१३] इन मानसिक विकारों व दूषित भावनाओं का शमन ही इसका उपचार है। शोक, मोह, चिंता आदि मानसिक व्यथाओं से स्वयं को दूर रखने हेतु अपने मन को स्थिर व शान्त रखने की आवश्यकता होती है, जिससे मनोद्वेग व्यक्ति को विचलित अथवा अशान्त न कर सकें। आज का मानव दूषित व विकृत समाज में विभिन्न प्रकार के मानसिक तनावों से ग्रसित है तथा किंकर्तव्यविमूढ़ मन से सदैव भ्रमित रहता है और अपने कर्तव्य से भटका हुआ है। ऐसे विचलित मानव मन को 'गीता' स्थैर्य का मार्ग बताती है, क्योंकि इसका उपदेश द्वन्द्वात्मक मन:स्थिति से ग्रसित अर्जुन के अशान्त मन को शान्त करने हेतु ही किया गया था। इसके प्राय: प्रत्येक अध्याय में प्रतिपादित विषय विकृत मनोदशा को प्रकृत अथवा स्वस्थ अवस्था में लाने हेतु अनेक मार्गों का उपदेश करता प्रतीत होता है।

गीता के प्रथम अध्याय में ही क्षात्रधर्म-पालन रूप युद्ध के लिये तैयार परन्तु अपने श्रेष्ठ बन्धु-बान्धवों को देखकर करुणा के कारण शोकाकुल अर्जुन का अंग-शैथिल्य, मुख की शुष्कता, शारीरिक कम्पन एवं रोमांचित होना आदि उसकी विकृत मनोदशा के परिचायक हैं।।[१४] अन्तत: अर्जुन का यह वचन **'भ्रमतीव च मे मन:'** उसके मनोदौर्बल्य अथवा अस्थिर चित्त का ही द्योतक है। मन:स्थैर्य के अभाव के कारण ही युद्ध की भावी अवस्था की चिन्ता में डूबा हुआ मोहग्रसित उसका मन युद्धभूमि में अपने कर्तव्य से विमुख होकर स्वजन वध, तत्फलस्वरूप सनातन कुलधर्म के विनाश और उसके परिणाम (नरक पतन) से भयाक्रान्त एवं चिन्तित हो उठता है, तथा शोक से उद्विग्न अर्जुन का वह मन युद्ध न करने का निर्णय कर बैठता है।[१५] शोकाकुल अर्जुन की तुच्छ मानसिक

---

११. मनो हि हेतुस्सर्वेषामिन्द्रियाणां प्रवर्तने। शुभाशुभास्ववस्थासु तच्च मे सुव्यवस्थितम्।। वाल्मी०, सुन्दर० ११/४२

१२. वा.सुन्दर ११.४१

१३. रजस्तमश्च मानसौ दोषौ। चरक, विमानस्थान, ५।

१४. कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्। गीता, १/२७ दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्।। सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति। वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।। वही १/२९। गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते। न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मन:।। वही/१/३०।

१५. एवमुक्त्वार्जुन: सङ्ख्ये रथोपस्थ उपाविशत्। विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानस:।। गीता १,४७

दुर्बलता और चित्त अर्थात् मन की अस्थिरता को दूर करने के लिये ही गीता के शेष अध्यायों का विषय प्रवर्तित हुआ है। द्वितीय अध्याय के प्रारम्भ में ही कहे गये संजय और श्रीकृष्ण के ये वचन **'विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदन:**[१६] **क्लैव्यं मा स्म गम: पार्थ नैतत्त्वयुपपद्यते। क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप॥'**[१७] इस बात के प्रमाण हैं। अथ च पूजीय गुरुजनों के वध से प्राप्त अर्थ और कामरूप भोगों को अश्रेयस्कर तथा भिक्षान्न को श्रेयस्कर मानने वाले[१८] अर्जुन का मोहग्रसित मन युद्ध में प्रवृत्ति और निवृत्ति रूप कर्म की श्रेष्ठता का निर्णय न कर सकने के कारण[१९]

कार्पण्यदोषोपहतस्वभाव: पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेता:।
यच्छ्रेय: स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥[२०]

इत्यादि उक्तियों से कायरता रूप मानसिक दोष के वशीभूत होकर कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान करने में असमर्थ अपनी द्वन्द्वात्मक अवस्था को ही व्यक्त करता है। इस प्रकार अर्जुन का अस्थिर मन शोक चिन्ता आदि ऐन्द्रिय विकारों से स्वयं को मुक्त करने अर्थात् अप्रभावित रखने वाले उपायों को जानने में असमर्थ पाता है।[२१] अर्जुन के इसी मनोविकार को दूर करने हेतु ही श्रीकृष्ण ने गीता के अग्रिम श्लोकों में पहले ऐन्द्रिय सुखों को शारीरिक बाह्य धर्म बताते हुए शनै: शनै: उनसे मन को हटाने के लिये अनेक मार्गों का उपदेश किया है।

द्वितीय अध्याय में जीवात्मा के इन्द्रियसंघात-रूप नाशवान् शरीर को ऐन्द्रिय चेष्टाओं एवं क्रियाओं का उपदेश करती हुई गीता मानव को इन्द्रिय विषयोपभोगजनित सुख दु:ख मन को अविकृत करने अर्थात् स्थिर रखने का ही उपाय बताती है। तदनुसार शीतोष्ण और सुख दु:ख देने वाली इन्द्रियाँ शब्द स्पर्शादि विषय और विषयों के साथ संयोग ये सब उत्पत्ति, विनाशशील और अनित्य होते है[२२] इसलिए सुख दु:ख को समान समझने वाले पुरुषों को ये इन्द्रियाँ एवं विषयों के संयोग व्याकुल नहीं करते[२३] क्योंकि नाशरहित, अप्रेमय, नित्यस्वरूप जीवात्मा के सभी देह नांशवान् हैं, अत: इनकी चिन्ता न करते हुए मनुष्य (तुम) को अपना कर्म (युद्ध) करना चाहिए,[२४] पुन: अग्रिम श्लोकों में आत्मा को अजन्मा, नित्य, सनातन, अच्छेद्य, अदाह्य, अविकारी आदि बताने वाली[२५] गीता शोक न करने का उपदेश करती है-**'नानुशोचितुमर्हसि'**[२६] तथा मानसिक शोक से मुक्ति पाने के लिये यह भी

---

१६. गीता २.१
१७. गीता २.३
१८. गुरूनहत्वा हि महानुभावांछ्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके। हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्॥ वही, २/५
१९. न चैतद्विद्म: कतरन्नो गरीयो.. .... वही, २/६।
२०. गीता २.७
२१. न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्॥ वही, २/८
२२. मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदु:खदा:। आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥ गी. २/१४
२३. यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ। समदु:खसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥ वही, २/१५
२४. अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ता: शरीरिण:। अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत॥ वही,२/१८
२५. गी०, २.१९-२५।
२६. गीता २.२...

निर्देश देती है कि यद्यपि यह आत्मा अजर अमर है तथापि यदि मनुष्य इसे (आत्मा को) जन्म लेने वाला और मरण धर्मा मानता है तो भी उसे शोक नहीं करना चाहिए[२७] क्योंकि जन्म लेने वाले की मृत्यु और मरने वाले का जन्म निश्चित है[२८] इस प्रकार आत्मा सबके शरीर में सदा अवध्य है, इस शाश्वत सत्य का प्रतिपादन करती हुई अर्जुन के माध्यम से गीता यह उपदेश करती है कि किसी भी व्यक्ति को सम्पूर्ण प्राणियों के मरने की चिन्ता नहीं करनी चाहिए[२९] यही नहीं, इसी अध्याय में अस्थिर चित्त (मन) वाले अर्जुन (व्यक्ति) को पर-परिहासरूप मानुषी प्रवृत्ति जो मन का और अधिक दुःख देने वाली होती है, के द्वारा भी समझाने का प्रयास करती हुई गीता युद्ध के लिये प्रेरित करती है[३०] यही गीता का ज्ञानयोग है।

तत्पश्चात् इसी अध्याय में कर्तव्यकर्म के प्रति निवृत्तिपरक भाव रखने वाले विचलित मन को कर्म में प्रवृत्त करने हेतु कर्मयोग का उपदेश किया गया है। यहाँ यह उपदिष्ट है कि कर्मयोग में निश्चयात्मक बुद्धि का होना अत्यावश्यक है, क्योंकि अस्थिर चित्त वाले विवेकहीन सकाम पुरुष की बुद्धियाँ निश्चयेन अनेक प्रकार की और अनन्त होती हैं,[३१] ऐसी बुद्धिवाला व्यक्ति कर्म में भी निष्काम भाव से प्रवृत्त नहीं होता और भोगों एवं ऐश्वर्यों के प्रति आकृष्ट चित्त से उन्हें में अत्यन्त आसक्त होने के कारण एकमात्र परमात्मा में भी उसकी आस्था अथवा निश्चित बुद्धि नहीं होती,[३२] यदि ऐसे व्यक्ति कर्म में प्रवृत्त होते भी हैं तो कर्मफल रूप परिणाम को दृष्टि में रखते हैं, अतः गीता अर्जुन के माध्यम से ऐसी मानसिकता वाले व्यक्ति को अनासक्त भाव से फलाफल का विचार न करते हुए कर्म में प्रवृत्त होने तथा अकर्मण्यता के त्याग का उपदेश करती है,[३३] क्योंकि कर्मफल में आसक्ति त्यागकर सिद्धि और असिद्धि में समान भाव रखते हुए कर्तव्य कर्म में प्रवृत होने वाला व्यक्ति पुण्य और पाप रूप कर्मफल को इसी लोक में त्याग देता है। यही समत्व योग है तथा कर्मबन्धन से मुक्त होने का उपाय भी है।[३४] इस प्रकार अनासक्त भाव से बार-बार कर्म करने वाले व्यक्ति का मन जब सम्पूर्ण कामनाओं को भली भाँति त्याग देता है और स्वयम् अपनी आत्मा में ही संतुष्ट रहता है, तब वह स्थितप्रज्ञ हो जाता है[३५] इसी प्रकार दुःखों की प्राप्ति होने पर जिसका मन खिन्न नहीं होता तथा सुख-प्राप्ति में सर्वथा निःस्पृह एवं राग, भय, क्रोधादि मनोविकारों से रहित रहता हुआ सर्वत्र स्नेहरहित होकर शुभाशुभ वस्तु प्राप्त होने पर न प्रसन्न होता है और न ही दूसरों के प्रति द्वेषभाव रखता है, प्रत्युत कछुए की भाँति इन्द्रियों को विषयों से सर्वथा हटा लेता है (रोक लेता है), तब वह व्यक्ति स्थिरबुद्धि कहा जाता है[३६]

---

२७. अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्। तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि॥ वही २/२६।
२८. जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च। तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥ वही, २/२७।
२९. देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत। तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि॥ वही, २/३०।
३०. गीता, २/३५-३७।
३१. व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन। बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्। गी. २/४१।
३२. भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहतचेतसाम्। व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥ गी. २/४४।
३३. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥ वही, २/४७।
३४. वही, २/२८-५०।
३५. प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्। आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्यस्तदोच्यते। गी. २/५५।
३६. गी०, २/५६-५८।

परन्तु इन्द्रियों के चञ्चल स्वभाव की चर्चा करती हुई गीता पुन: व्यक्ति को सचेत करती है कि विषयों के प्रति आसक्ति का सर्वथा विनाश न होने पर प्रबल इन्द्रियाँ बुद्धिमान् पुरुष के मन को भी बलात् आकृष्ट कर लेती हैं,[३७] अत: इन्हें वश में करके समाहित चित्त अथवा मन वाला होकर परमात्मा का ध्यान करना चाहिए तब चित्त (मन) की स्थिरता प्राप्त होती है[३८] क्योंकि विषयों के प्रति मन में भाव उत्पन्न होने पर उनके प्रति आसक्ति बनी रहती है, आसक्ति से विषयों की इच्छा उत्पन्न होती है और इच्छा पूर्ण न होने पर या बाधा पड़ने पर क्रोध उत्पन्न होता है[३९] तदन्तर क्रोध से मूढभाव (सम्मोह), सम्मोह से स्मृतिभ्रम और स्मृतिभ्रम से बुद्धि अर्थात् ज्ञानशक्ति नष्ट हो जाती है और ऐसे व्यक्ति का पतन हो जाता है।[४०] यहाँ यह ध्यातव्य है कि मनुष्य के इस पतन का कारण एकमात्र मन को माना गया है, क्योंकि जल में चलने वाली नाव को जैसे वायु अपनी गति की ओर बहा लेता है, उसी प्रकार विषयों में लीन जिस इन्द्रिय के साथ मन सम्पृक्त (जुड़ा) होगा, वही इन्द्रिय अस्थिर चित्त वाले पुरुष की बुद्धि को भी अपनी और आकृष्ट कर लेती है,[४१] इसके विपरीत इन्द्रिय निग्रहपूर्वक रागद्वेष भाव से सर्वथारहित इन्द्रियों द्वारा विषयोपभोग करता हुआ व्यक्ति अपने में स्थित होकर आनन्दित होता है,[४२] परन्तु अपने मन को और इन्द्रियों को जो व्यक्ति नियन्त्रित नहीं रखता उसकी बुद्धि कुछ भी निश्चय नहीं कर सकती और अस्थिर चित्त (मन) वाले ऐसे व्यक्ति के मन में कोई भावना भी नहीं होती तथा भावनाहीन मनुष्य को शान्ति नहीं मिलती और शान्ति के अभाव में वह सुखी नहीं रह सकता है,[४३] क्योंकि जो व्यक्ति सभी इच्छाओं को त्यागकर ममता, अहंकार और स्पृहारहित मन से व्यवहार करता है, वही शान्ति अर्थात् सुख प्राप्त करता है।[४४] ऐसा व्यक्ति कभी मोहित नहीं होता और सांसारिक कर्तव्यों का पालन करता हुआ अन्ततः ब्रह्मलीन होकर ब्रह्मानन्द को प्राप्त करता है अर्थात् ब्रह्ममय हो जाता है।[४५]

गीता के द्वितीय अध्याय में कर्मयोग की अपेक्षा ज्ञानयोग को श्रेष्ठ बताकर भी अर्जुन को कर्ममार्ग में प्रेरित करने से पुन: द्वन्द्वात्मक मन:स्थिति उत्पन्न हो जाती है और किंकर्त्तव्यविमूढ़ अर्जुन के कल्याणकारी एक मार्ग पूछे जाने पर[४६] कृष्ण के मुखारविन्द से गीता कर्ममार्ग के गूढ़ रहस्य का उपदेश करती है। तदनुसार कर्मों में प्रवृत्त हुए विना न तो निष्कर्मता अर्थात् योगनिष्ठा (अथवा फल न उत्पन्न करने की अवस्था) प्राप्त की जा सकती है और न ही कर्मों के त्याग से सिद्धि अर्थात् ज्ञानयोग,[४७] क्योंकि प्रकृतिजन्य गुणों द्वारा परवश होकर व्यक्ति क्षणमात्र भी

---

३७. यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चित:। इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मन:॥ गी. २/६०।
३८. तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्पर:। वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ वही, २/६१।
३९. ध्यायतो विषयान्पुंस: सङ्गस्तेषूपजायते। वही, २/६२।
४०. क्रोधाद्भवति सम्मोह: सम्मोहात्स्मृतिविभ्रम:। स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥ वही, २/६३।
४१. इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते। तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥ गी० २/६७।
४२. रागद्वेषविमुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्। आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥ वही, २/६४
४३. नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना। न चाभावयत: शान्तिरशान्तस्य कुत: सुखम्॥ वही, २/६६।
४४. विहाय कामान्य: सर्वान्पुमांश्चरति नि:स्पृह:। निर्ममो निरहङ्कार: स शान्तिमधिगच्छति॥ वही, २/७१।
४५. एषा ब्राह्मी स्थिति: पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति। स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥ वही, २/७२।
४६. गीता, ३/१-२।
४७. न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते। न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥ वही, ३/४।

कर्म किये विना नहीं रह सकता[४८] अतः कर्म तो करना पड़ता है, परन्तु जो मन्दंबुद्धि व्यक्ति समग्र इन्द्रियों को हठपूर्वक बलात् उनके विषयों से रोककर मनसा उन विषयों का चिन्तन करता रहता है, वह दम्भी कहा जाता है[४९] इसके विपरीत जो मन से इन्द्रियों को वश में करके अनासक्त भाव से इन्द्रियों द्वारा कर्म में प्रवृत्त होता है, वही श्रेष्ठ है।[५०] इसलिए शास्त्रविहित कर्तव्य कर्म करना चाहिए, क्योंकि अकर्मण्यता से तो शारीरिक जीवन का निर्वाह भी नहीं हो सकता।[५१] इसलिए गीता समर्पण भाव वाले यज्ञादि सदृश मानव समाज के लिये कल्याणकारी शास्त्रसंगत कार्यों की प्रेरणा देती है, जिसे अनासक्ति रहित जनकादि ज्ञानी जनों ने किया था।[५२] अतः लोक कल्याण हेतु कार्य करना चाहिए। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि सभी कार्य प्रकृति के गुणों के अनुसार किये जाते हैं, तो भी जिसका अन्तःकरण या चित्त अथवा मन अहंकार से मोहित है, वह अज्ञानी व्यक्ति स्वयं को कर्ता मानता है।[५३] वस्तुतः इसका कारण यह है कि सभी प्राणी अपने स्वभाव के कारण परवश होकर कर्म करते हैं और प्रत्येक इन्द्रिय के विषय में रोग-द्वेष भाव छिपे हुए रहते हैं। मनुष्य को उन राग-द्वेषादि भावों के वशीभूत नहीं होना चाहिए, क्योंकि ये दोनों मनोभाव ही कल्याण मार्ग में विघ्न डालने वाले शत्रु माने गये हैं।[५४] इसी प्रकार रजोगुण से उत्पन्न काम-क्रोध मनोभाव भी कल्याण मार्ग के वैरी है॥[५५] क्योंकि काम भावना मन, बुद्धि और इन्द्रियों में ही रहती है तथा इन्हीं के द्वारा ज्ञान को अच्छादित करके मनुष्य को मोहित कर पापाचरण में प्रवृत्त करती है।[५६] इसी लिये अर्जुन के माध्यम से गीता मनुष्यों को अपनी इन्द्रियों को वश में करके मन में काम भावना को नष्ट करने का उपदेश करती है कि **'तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ'**[५७] क्योंकि इन्द्रियों (पांच कार्मेन्द्रियों और पांच ज्ञानेन्द्रियों) को स्थूल देह से श्रेष्ठ, बलवान् और सूक्ष्म माना गया है। इन इन्द्रियों से श्रेष्ठ, बलवान् और सूक्ष्म मन है तथा इससे भी परे बुद्धि है और तदनन्तर आत्मा का अस्तित्व माना जाता है।[५८] अतः गीता के अनुसार बुद्धि से सूक्ष्म, बलवान् और श्रेष्ठ आत्मा को पहचान कर बुद्धि द्वारा मन को वश में करके कामरूप शत्रु को समाप्त कर देना चाहिए।[५९] इस प्रकार बुद्धि द्वारा मनःस्थैर्य प्राप्त कर अर्थात् मन को नियन्त्रित करके मनुष्य नाना प्रकार के द्वन्द्वात्मक मनःस्थिति से स्वयं को निकाल सकता है। गीता में प्रतिपादित मनःस्थैर्य का यह सिद्धान्त सार्वत्रिक और सार्वकालिक है, क्योंकि जब तक मनुष्य-जीवन है, तब तक यह मानसी प्रवृत्ति भी जीवित रहेगी। अतः मन को नियन्त्रित करने का गीतोक्त मार्ग सर्वदा अनुकरणीय है और रहेगा भी। जो व्यक्ति इसका अनुसरण करेगा वह

---

४८. न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्। कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥ गी. ३/५।
४९. कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मानसा स्मरन्। इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥ वही, ३/६
५०. यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन। कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥ वही, २/८।
५१. नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः। शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥ वही, ३/८।
५२. गीता २-२०।
५३. प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥ वही, ३/२७।
५४. गीता, ३/३३-३४.
५५. वही, ३/३७
५६. इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते। एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥ वही, ३/४०।
५७. गी., ३.४१
५८. इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ गी० ३.४२।
५९. एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना। जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥ वही, ३/४३।

निश्चयेन पाप मार्गी न होकर धर्ममार्गी होगा अर्थात् कल्याणकारी कर्म में प्रवृत्त होगा।

यही नहीं गीता के प्राय: सभी अध्यायों में भी मन को अथवा मनोविकारों को वश में करने की बात प्रकारान्तर से कही गयी है तद्यथा-

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिता:।[६०]

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।

नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मन:॥[६१]

इसी प्रकार पञ्चम अध्याय **'कर्मसंन्यास योग'** के लिए भी मन का नियन्त्रण परमावश्यक माना, क्योंकि जिसका मन वश में है, जो जितेन्द्रिय है तथा विशुद्ध अन्त:करण वाला है, वही कर्मयोगी माना जाता है और वह कर्म में आसक्ति नहीं रखता है।[६२] ऐसा व्यक्ति अर्थात् कर्मयोगी ममता आदि भावों से रहित होकर केवल इन्द्रियों, मन, बुद्धि और शरीर से आसक्ति त्याग कर अन्त:करण की शुद्धता के लिए कर्म करता है।[६३] क्योंकि अन्त:करण अर्थात् मन के नियन्त्रित हो जाने पर सभी कर्मो को मन से त्याग कर नवद्वारों अर्थात् इन्द्रियों के संघर्षरूप घर में सच्चिदानन्दरूप परमात्मा के रूप में अवस्थित हो जाता है।[६४] ऐसा व्यक्ति जिसका मन समभाव में निरत हो जाता है, वह जीवनधारण करते हुए ही समग्र संसार को जीत लेता है।[६५] क्योंकि गीता के अनुसार ऐसा व्यक्ति सभी इन्द्रियों, मन और बुद्धि पर विजय प्राप्त कर विषय भोग की चिन्ता नहीं करता, प्रत्युत इच्छा, भय, क्रोध आदि में सर्वथा मुक्त हो जाता है और मोक्षपरायण हो जाता है।[६६] इस अवस्था को प्राप्त होने पर व्यक्ति सांसारिक क्रिया-कलापों अथवा सब प्रकार के द्वन्द्वों से रहित होकर **'सर्वे भवन्तु सुखिन:'** अर्थात् सर्वहित की बात करता है।

इसी प्रकार गीता के छठे अध्याय में भी इसी मन को शरीरस्थ मित्र और शत्रु की संज्ञा दी गयी है। मनुष्य का मन यदि शान्त -स्थिर है, वश में है तो मित्रवत् कार्य में प्रवृत्त होगा, परन्तु यदि मन अशान्त है, अस्थिर है इन्द्रियों सहित अपने नियन्त्रण में नहीं है तो वह शत्रुवत् व्यवहार करता है, यथा-

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जित:।

अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥[६७]

इसीलिए इसी अध्याय में गीता इस मन को नियन्त्रित करने के लिए योगाभ्यास करने का उपदेश करती है कि चित्त अर्थात् मन और इन्द्रियों की क्रियाओं पर नियन्त्रण रखते हुए मन को एकाग्र करना चाहिए तभी अन्त:करण की शुद्धि सम्भव है, अन्यथा नहीं।[६८] यह तभी सम्भव है जब मन स्थिर होता है, अत: गीता बार-बार

---

६०. गीता ४.१०
६१. गीता ४.४०
६२. योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रिय:। सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥ वही, ५/७।
६३. कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि। योगिन: कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥ गी. ५/११।
६४. सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी। नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्॥ वही, ५/१३।
६५. इहैव तैर्जित: सर्गो येषां साम्ये स्थितं मन:॥ वही, ५/१९।
६६. यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायण:। विगतेच्छाभयक्रोधो य: सदा मुक्त एव स:॥ वही, ५/२८।
६७. गी० ६/६
६८. तत्रैकाग्रं मन: कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रिय:। उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥ वही. ६/१२।

मन:स्थैर्य की बात करती है, यथा- **मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः**[६९] क्योंकि योगी नियत मन वाला होकर ही शान्ति प्राप्त करता है।[७०] अतः गीता अग्रिम श्लोकों में मन को स्थिर करने के लिए योगाभ्यास की विधि बताती है कि-संकल्प-विकल्प रूप मन से उत्पन्न होने वाली सम्पूर्ण इच्छाओं को पूर्णरूपेण त्यागकर उसी मन द्वारा इन्द्रियों के समूह को सभी ओर से भलीभाँति रोकने का बार-बार अभ्यास करते हुए विषयभोगों से मुक्ति पानी चाहिए तथा उसी मन को धैर्ययुक्त बुद्धि से परमात्मा का ही एकमात्र चिन्तन करना चाहिए।[७१] यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि यह मन अत्यन्त चञ्चल और अस्थिर माना गया है, अतः मन जिन-जिन शब्द आदि विषयों के माध्यम से संसार में विचरण करता है, उन-उन विषयों से हटकर स्थिर करने की आवश्यकता पर बल दिया गया है,[७२] क्योंकि संयमित और शान्त मन वाला व्यक्ति पापाचरण में प्रवृत्त नहीं होता और ब्रह्मभाव को प्राप्त करके उत्तम आनन्द प्राप्त करता है।[७३]

यहाँ पुनः अवधेय यह है कि आत्मभोग की यह विधि जानकर भी मन के चञ्चल स्वभाव के कारण उसे नित्य रूप में स्थिर कर सकने की असमर्थता व्यक्त करने वाला अर्जुन (व्यक्ति) पुनः प्रमथन स्वभाव वाले, चञ्चल, दृढ़ और बलवान् मन को, वायु को रोकने की भाँति दुष्कर मानता हुआ[७४] अपने मन की दुर्बलता ही व्यक्त करता है, परन्तु इस मन को चञ्चल और कठिनाई से वश में होने योग्य मानती हुई भी गीता बार-बार मन को विषयों से रोकने और भगवद् भजन में लगाने के अभ्यास को इसके निग्रह का मार्ग बतलाती है।

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।।[७५]

यह मन अत्यन्त चञ्चल स्वभाव वाला होने के कारण अस्थिर रहता है और इसी कारण दुर्बल मन वाला व्यक्ति अपने मन के वशीभूत होकर नाना प्रकार की इच्छाओं की पूर्ति-हेतु अच्छा और बुरा कर्म करता है। यदि मन सात्त्विक है तो अच्छा कर्म करेगा परन्तु यदि मन तामसिक वृत्ति से युक्त है तो बुरे कर्म में प्रवृत्त होगा। अतः गीता सभी मार्गों के द्वारा इसी चञ्चल मन के स्थैर्य की बात करती है। सप्तम अध्याय में **मय्यासक्तमनाः पार्थ**[७६] कहकर ज्ञान-विज्ञान की बात बताती है, **मन्मना भव मद्भक्तः**[७७] का आदेश करके राजविद्या अथवा परमात्मस्वरूप गुह्यज्ञान का उपदेश करती है, पुनः विभूतियोग में मन को परमात्मा की विभूति बताती हुई[७८] भी मन से ही

---

६९. गीता ६/१४
७०. युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः। गी. ६/१५
७१. संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः। मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः।। शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया। आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।। वही, ६/२४-२५।
७२. यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्। ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्।। वही, ६/२६।
७३. गीता, ६/२७-२८।
७४. चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्। तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।। वही, ६/३४
७५. गीता ६/३५
७६. गीता ७/१
७७. गीता ९/३४
७८. इन्द्रियाणां मनश्चास्मि। गी०, १०/२२।

परमात्मरूप मन में स्थिर होने की बात करती है। इसी प्रकार द्वादश अध्याय में **'मय्यावेश्य मनो मे मां नित्ययुक्ता उपासते'**[७९] कहकर भक्तियोग से मनोनिग्रह के द्वारा सर्वभूतहित में निरत होने की चर्चा करती है।[८०] पुन: इसी अध्याय में-**मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय**[८१] तथा **अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्**[८२] इन उक्तियों में भी मन:स्थैर्य की बात करती है। पुन: सभी जीवों के प्रति द्वेषभाव न रखना, सबके प्रति नि:स्वार्थ प्रेम, हेतुरहित दयाभाव, निर्ममत्व, निरहंकारता, सुख-दु:ख में समान व्यवहार, क्षमा, सार्थक सन्तुष्टि, मन-इन्द्रियों सहित शरीर निग्रह और ईश्वर मे दृढ़ निश्चय का भाव रखते हुए मन एवं बुद्धि को ईश्वर में अर्पित करके प्रिय भगवद्भक्त होने के कथन[८३] में भी प्रकारान्तर से मनोनिग्रह की बात निगूहित है, क्योंकि इन भावों का जन्म मनोनिग्रह के पश्चात् ही सम्भव है। त्रयोदश अध्याय में तो क्षेत्र अर्थात् शरीर धर्म और क्षेत्रज्ञ विभाग की चर्चा करते हुए- **स्थैर्यमात्मविनिग्रह:**[८४] इसी उक्ति से गीता स्पष्टत: इन्द्रियों सहित मन:स्थैर्य की बात करती है। पञ्चदश अध्याय में पुरुषोत्तम योग का उपदेश करती हुई भी गीता स्फुट रूप से यह संकेत करती है कि जीवात्मा (मनुष्य) श्रोत्र, चक्षु, त्वचा, रसना, घ्राण और मन के द्वारा सांसारिक विषयों को ग्रहण करता है।[८५] यहाँ भी मन के द्वारा विषयों में प्रवृत्त होने की बात पुष्ट होती है। तदनन्तर षोडश अध्याय में अज्ञान से विमोहित तथा अनेक प्रकार से भ्रमित मन (चित्त) से विषयासक्त असुरों के नरकगामी होने की चर्चा करती हुई भी गीता परोक्षरूप से भ्रमित अन्त:करण (मन) वाले आधुनिक मानवों को भी आसुरी भावना से बचने के लिए मनोनिग्रह का उपदेश करती है।[८६] एवमेव सत्रहवें अध्याय में शास्त्रसम्मत कर्म करना कर्त्तव्य है, इसी सात्त्विक भाव के लिए भी मन की अनिवार्यता स्वीकार करने वाली गीता मन:स्थैर्य की ही चर्चा करती है।[८७]

अन्तिम अठारहवें अध्याय में भी सभी कर्मों को मन से ईश्वर को समर्पित करके समबुद्धि से भगवत् परायण चित्त वाला होने का निर्देश देने वाली[८८] एवं मन्मनाभव का उपदेश देते हुए ईश्वर में सच्चे मन वाला होने की बात[८९] करने वाली गीता मन:स्थैर्य का ही उपदेश करती प्रतीत होती है। यही नहीं, इस अध्याय के अन्त में सम्पूर्ण गीताज्ञान को समझने के लिए भी चित्त (मन) की एकाग्रता की बात एवम् एकाग्रचित्त होकर गीताश्रवण से अज्ञानजनित मन के मोहनाश का प्रश्न करने वाली गीता सर्वत्र मन:स्थैर्य-प्रबन्धन का ही उपदेश करती प्रतीत

---

७९. गीता १२/२
८०. सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धय:। ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रता:॥ वही. १२.४।
८१. गीता १२/८
८२. गीता १२/९
८३. अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्र: करुण एव च। निर्ममो निरहङ्कार: समदु:खसुख: क्षमी॥ सन्तुष्ट: सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चय:। मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्त: स मे प्रिय:॥ वही. १२/१३-१४।
८४. गीता १३/७
८५. श्रोत्रं चक्षु: स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते॥ गी० १५/९
८६.. .... इत्यज्ञानविमोहिता:॥.. .... अनेक चित्रविभ्रान्ता मोहजालसमावृता:। प्रसक्ता: कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥ वही, १६/१५-१६।
८७. यष्टव्यमेवेति मन: समाधाय स सात्त्विक:॥ वही, १७/११
८८. चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्पर:। बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्त: सततं भव॥ वही, १८/५७।
८९. मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु। वही, १८/६५।

होती है। श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन से पूछा गया यह प्रश्न इस बात की पुष्टि करता है–

कच्चिदेच्छुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रणष्टस्ते धनंजय॥ [१०]

अन्ततः इस प्रश्न के उत्तर में अर्जुन के इस कथन–

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥ [११]

द्वारा इसका समाधान प्रस्तुत करने वाली गीता प्रायः सभी अध्यायों में प्रकारान्तर से मनःस्थैर्य का ही उपदेश करती है। उपर्युक्त तथ्यों के आलोक में यह कहा जा सकता है कि अर्जुन को माध्यम बनाकर सुदूर अतीत काल में गीता में उपदिष्ट मनोनिग्रह आधुनिक युग में भी उतना ही प्रासङ्गिक है जितना उस समय था। अपने स्वार्थ के कारण अस्थिर एवं किंकर्त्तव्यविमूढ मन वाले आधुनिक मानव के मन को स्थैर्य प्रदान करने हेतु गीता का यह उपदेश मनःस्थैर्य का एक अद्भुत मार्ग है। जिसका पालन करते हुए कोई भी व्यक्ति स्थिरचित्त होकर ईश्वरभक्ति एवं लोककल्याण हेतु निःस्वार्थ भाव से अपने कर्म में प्रवृत्त हो सकता है। अतः गीता का मनःस्थैर्य-प्रबन्धन सार्वत्रिक एवं सार्वकालिक है, इसमें लेशमात्र भी सन्देह का अवकाश नहीं है। इसलिए गीता का मनोनिग्रह का यह अद्भुत मार्ग आधुनिक युग में भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है एवम् अत्यन्त उपयोगी है। जिसके सम्यक् पालन से व्यक्ति एक आदर्श जीवन का निदर्शन उपस्थित कर सकता है।

---

१०. गीता १८/७२

११. गीता १८/७३

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २००९ अङ्क १२ (पृ०१११-११४)

बौद्धन्याय में अविनाभावनियम

डॉ० देवी सिंह[१]

भारतीयदर्शन में अनुमान की प्रक्रिया मुख्यतः दो तत्त्वों पर आधारित है-पक्षधर्मता और व्याप्ति।[२] तर्कशास्त्र में **'पक्षधर्मता'** को कारिकाकार ने स्पष्ट करते हुए कहा है कि साध्य को सिद्ध करने की इच्छा को सिषाधयिषा कहते हैं। जहाँ सिषाधयिषा होती है, उसे पक्ष कहा जाता है और इसी पक्ष में हेतु की वृत्तिता से अनुमिति होती है, जो पक्षधर्मता कही जाती है।[३] बौद्धन्याय में भी पक्षधर्मता को अनुमान का एक आवश्यक अङ्ग माना जाता है। मनोरथनन्दी अपनी वृत्ति में कहते हैं कि अनुमेय (धर्मी) धर्म का समुदाय पक्ष है। दोनों एकदेशीय होने के कारण उपचार से पक्ष कहे गए हैं। इस प्रकार पक्ष के धर्म को पक्षधर्मत्व कहा जाता है।[४] पक्षधर्मता का ज्ञान होने पर भी व्याप्ति का ज्ञान होना अत्यावश्यक है, क्योंकि व्याप्तिज्ञान के विना अनुमान नहीं किया जा सकता।

अर्थ एवं स्वरूप

'व्याप्ति' शब्द **'वि+आप्ति'** के योग से निष्पन्न होता है, जिसका शाब्दिक अर्थ है-**'विशेषसम्बन्ध'**। तर्कशास्त्र में विशेष सम्बन्ध उन दो पदार्थों के नियतसाहचर्य को कहा जाता है, जिनमें गम्य-गमकभाव या साध्य-साधनभाव होता है। लिङ्ग-लिङ्गी या साध्य-साधन में गम्य-गमकभाव या साध्य-साधन का प्रयोजक जो सम्बन्ध है वही विशेषसम्बन्ध कहलाता है, यथा-विशिष्ट मेघ और वृष्टि का सम्बन्ध। सामान्यतः साहचर्य दो प्रकार का होता है-(क) अनियत-साहचर्य, (ख) नियत-साहचर्य। अनियत-साहचर्य के अन्तर्गत धूम और अग्नि का सम्बन्ध अनियत सम्बन्ध है, क्योंकि अग्नि के होते हुए भी कभी-कभी धूम नहीं होता, जैसे-किसी तप्त लोह अयस्क की अग्नि के साथ धूम नहीं होता। अनियत सम्बन्ध में एक की उपस्थिति दूसरे के विना भी सम्भव होती है। अतः यह साहचर्य सम्बन्ध अनियमत या व्यभिचरित कहलाता है। व्यभिचार या अनियत-साहचर्य से तात्पर्य है-एक के अभाव में दूसरे का सद्भाव। नियत-साहचर्य या अव्यभिचरित के अन्तर्गत साधन और साध्य का सम्बन्ध अव्यभिचरित होता है, यथा-धूम और अग्नि का सम्बन्ध। **यत्र धूमस्तत्राग्निः** का उदाहरण नियत-साहचर्य के अन्तर्गत आता है।

बौद्धन्याय में **'व्याप्ति'** के लिये **'अविनाभाव'** शब्द का प्रयोग अधिकतर उपलब्ध होता है, जिसका अर्थ है-**विना न भवति इति** अर्थात् जो किसी के विना नहीं हो सकता वह अविनाभाव कहलाता है। लिङ्ग या हेतु अपने साध्य का अविनाभावी हुआ करता है, क्योंकि धूम रूपी लिङ्ग अपने साध्य अग्नि के विना हो ही नहीं सकता। बौद्धों का यह **'अविनाभाव-सम्बन्ध'** अपने स्वरूप के समान ही **'प्रतिबन्ध'** या **'स्वभाव-प्रतिबन्ध'** के नाम से भी अभिहित किया जाता है। जो वस्तु अपनी सत्ता के लिये दूसरी पर आश्रित है, वह **'स्वभाव-प्रतिबद्ध'**

---

१. डॉ० देवी सिंह. संस्कृत, पालि एवं प्राकृत विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

२ सिषाधयिषयाशून्या सिद्धिर्यत्र न विद्यते ।

३ सिषाधयिषयाशून्या सिद्धिर्यत्र न विद्यते। सपक्षस्तत्रवृत्तित्वं ज्ञानादनुमितिर्भवेत्। कारिकावली, का० ७०

४ प्र० वा० (मनोरथनन्दिवृत्ति), ३.१

कहलाती है[५] और उन दोनों का सम्बन्ध **'स्वभाव-प्रतिबन्ध'** कहलाता है। इस स्वभाव-प्रतिबन्ध के कारण ही एक वस्तु दूसरी की गमक या बोधक होती है।[६] इसके विपरीत स्वभाव से जिसका प्रतिबन्ध नहीं है, उसका अन्य वस्तु से अविनाभाव का नियम नहीं होता अर्थात् जो वस्तु जिस पर स्वसत्ता के लिये आश्रित नहीं है, वह उस अप्रतिबन्ध विषय वाली वस्तु के साथ अविनाभाव रूप से नहीं रहती या यों कहे कि उन दोनों में कोई परस्पर अव्यभिचार का नियम नहीं है।[७]

आचार्य धर्मकीर्ति[८] ने हेतुबिन्दु में और उनके टीकाकार अर्चट[९] ने व्याप्ति के सम्बन्ध में व्याप्य-व्यापक भाव का स्वरूप बताया है। वे कहते हैं कि व्यापक के होने पर ही व्याप्य का होना अथवा व्यापक के न होने पर व्याप्य का न होना ही हेतु की व्याप्ति है। यहाँ व्याप्य और व्यापक दोनों के धर्म को व्याप्ति कहा गया है। जब यह कहा जाता है कि व्यापक के होने पर ही व्याप्य का होना व्याप्ति है, तब व्याप्यनिष्ठ व्याप्ति होती है और यह प्रतिपादन किया जाता है कि व्याप्य के होने पर व्यापक का अवश्य होना ही व्याप्ति है, तब वह व्यापकनिष्ठ व्याप्ति कहलाती है। आचार्य दिङ्नाग कहते हैं कि हेतु पक्षधर्म से व्याप्त होता है। धर्मकीर्ति ने भी सद्हेतु के लक्षण में दिङ्नाग का ही अनुसरण किया है।[१०]

अविनाभाव-सम्बन्ध के नियामक :

बौद्धनैयायिक धर्मकीर्ति कहते हैं कि कार्य-कारण के सम्बन्ध से अथवा नियत स्वभाव के द्वारा अविनाभाव-सम्बन्ध का निर्णय होता है, दो वस्तुओं के भूय-सहचार दर्शन अथवा अदर्शन से नहीं।[११] यह अविनाभाव ही अनुमान का अङ्ग है, जो दो प्रकार से गृहीत होता है। एक तो कार्य-कारणभाव से, जैसे-धूम अग्नि का कार्य है वह अग्नि के विना नहीं हो सकता। इस कार्यकारणभाव से यह निश्चय किया जाता है कि धूम का अग्नि के साथ अविनाभावनियम है। दूसरे तादात्म्य से अविनाभाव के निश्चय किया जाता है, जैसे-शिशंपा होने से यह वृक्ष है। शिशंपा एक वृक्ष इस लिये शिशंपा का स्वभाव है-वृक्ष होना अथवा शिशंपा का वृक्ष विशेष से तादात्म्य। शिशंपात्व वृक्ष के विना नहीं रह सकता। इसलिये शिशंपात्व का वृक्षत्व के साथ अविनाभाव नियम है। इस प्रकार कार्य-कारण भाव या तादात्म्य से होने वाला ही अविनाभावनियम होता है।[१२]

इस प्रकार अविनाभाव-नियम के तादात्म्य और तदुत्पत्ति ये दोनों नियामक हैं। तादात्म्य का अर्थ है-तद्रूपता अथवा एकाकारता कोई ऐसा धर्म जो दो वस्तुओं में एक साथ पाया जाये जैसे-**वृक्षोऽयं शिशंपात्वात्** यहाँ शिशंपात्व और वृक्षत्व में तादात्म्य है। तदुत्पत्ति का अर्थ है-**तस्मात् उत्पत्तिः इति तदुत्पत्तिः** अर्थात् कारण से कार्य की उत्पत्ति ही तदुत्पत्ति कहलाती है, जैसे-धूम अग्नि से उत्पन्न होने के कारण धूम कार्य है और अग्नि कारण। इस

---

५ स्वभावप्रतिबद्धत्वं प्रतिबद्धस्वभावत्वम् इत्यर्थः। न्या०बि०टी०, पृ०१२९

६ स्वभावप्रतिबन्धे हि सत्यर्थोऽर्थं गम्येत्। न्या०बि०, २.१९

७ तदप्रतिबद्धस्य तदव्यभिचारनियमाभावात्। वही, २.२०

८ तस्य व्याप्तिर्हि व्यापकस्य तत्र भाव एव व्याप्यस्य वा तत्रैव भावः। हे०बि०, पृ०५३

९ हे०बि०टी०, पृ०१७-१८

१० पक्षधर्मस्तदंशेन व्याप्तो हेतुः त्रिधैव सः। अविनाभावनियमात् हेत्वाभासास्ततोऽपरे॥ हे०बि०, पृ०५२, प्र०वा०३.१

११ कार्यकारणभावाद्वा स्वभावाद्व नियामकात्। अविनाभावनियमोऽदर्शनान्न न दर्शनात्॥ प्र०वा, ३.३३

१२ बौ०द०वि०, पृ०१५२

दोनों (तादात्म्य और तदुत्पत्ति) के आधार पर ही स्वभाव हेतु और कार्यहेतु अपने-अपने साध्य की सिद्धि करने में समर्थ होते हैं और इनसे सिद्ध होने वाला पदार्थ भावरूप होता है, अभाव रूप नहीं।[१३] हेतु और साध्य की तद्रूपता के आधार पर स्वभाव हेतु किसी भावरूप पदार्थ को सिद्ध करता है तो हेतु और साध्य के कार्य-कारण सम्बन्ध के आधार पर कार्य हेतु अपने साध्य को सिद्ध करने में समर्थ है।[१४] एस० एन० दासगुप्त कहते हैं कि 'तादात्म्य और तदुत्पत्ति का सिद्धान्त धर्मकीर्ति की नवीन उद्भावना है तथा यह धर्मकीर्ति की बौद्धदर्शन को एक नवीन देन है।'

नैयायिक शंका करते हुए कहता है कि कार्य से जो कारण का अनुमान होगा वह उस कार्य से पूर्वकालीन कारण का ही अनुमान हो सकेगा, वर्तमानकालीन कारण का नहीं, क्योंकि कार्य के समकाल में हेतु का होना कार्योत्पत्ति के लिये आवश्यक नहीं है, अपितु कार्य से पूर्वकाल में होना आवश्यक है, जैसे-नदी के विशेष प्रकार की बाढ़ अपनी समकालीन वर्षा की अनुमिति नहीं करवाती अपितु उससे पूर्वकालीन वर्षा की ही अनुमिति कराती है। इसलिये साधक और बाधक प्रमाण न होने से तत्कालीन वर्षा में सन्देह करते हुए उसके अभिलाषी प्रवृत्त होते। इसी प्रकार धूम से भी पूर्वकालीन अग्नि का ही अनुमान होगा, वर्तमानकालीन का नहीं। ऐसा ही होने पर अग्नि के अभिलाषी वहाँ प्रवृत्त नहीं हो सकेंगे।[१५] इसके अतिरिक्त कार्य से कारण का अनुमान करने में एक दोष और होगा कि अनुमाता लोग रस के समान काल में रस के द्वारा उससे भिन्न रूप का अनुमान करते हैं अर्थात् रस को देखकर रूप का अनुमान किया जाता है, किन्तु रस और रूप का न तो कार्यकारणभाव है और न तादात्म्यभाव,[१६] अतः तादात्म्य और तदुत्पत्ति से प्रतिबन्ध होता है, यह मानना उचित नहीं है।

बौद्धन्याय की ओर से इसका समाधान प्रस्तुत करते हुए वाचस्पति मिश्र कहते हैं-यदि यह कहा जाये कि पूर्वकालीन रूप, रस गन्ध और स्पर्श के क्षणों से जो रसक्षण उत्पन्न होता है, वह कारणभूत पहले रूपक्षण का अनुमान कराता हुआ जैसे प्रथम रूपक्षण से उत्पन्न हुआ है, उसी प्रकार के रूपक्षण का अनुमान करा देता है और वह रूपक्षण अनुमापक रसक्षण के समकालीन रूप के क्षण का उत्पादक ही है, अतः वैसे ही रूपक्षण का बोधक होता है। इस प्रकार कार्य (रसक्षण) के समानकालीन रूप का अनुमान सिद्ध हो जाता है।[१७] अभिप्राय यह है कि रस के द्वारा जो रूप का अनुमान होता है, यद्यपि उसमें साक्षात् कार्यकारणभाव के आधार पर होने वाला प्रतिबन्धनियम काम नहीं करता तथापि परम्परया यही नियम है। पहले रस के द्वारा उसकी उत्पादक सामग्री का अनुमान किया जाता है, क्योंकि बौद्धमत के अनुसार पूर्वक्षणपुञ्ज से अन्यक्षणपुञ्ज की उत्पत्ति होती है। अतः उत्पादक सामग्री में रूपरसगन्धस्पर्शक्षण सम्मिलित हैं। इस सामग्री में स्थित रूपक्षण रस समानकालीन रूपक्षण का जनक है। वह अपने समान रूपक्षण का ही जनक होता है, यह उसका धर्म या स्वभाव है। अतः इसके समान रूपजनकत्व का अनुमान होने से रस समानकालीन रूप का भी अनुमान हो जाता है।[१८]

---

१३ न्या०बि०टी०, पृ०१३८
१४ वही
१५ न्या०वा०ता०, पृ०१६१
१६ वही, पृ०१६१-१६२
१७ बौ०द०वि०, पृ०१५४
१८ वही

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि बौद्धन्याय में अविनाभावनियम (व्याप्ति) को अन्य दर्शनों की अपेक्षा दो नियमकों (तादात्म्य और तदुत्पत्ति) सहित अपनाया गया है, क्योंकि बौद्धन्याय में अनुमान-प्रमाण के अन्तर्गत हेतु पर विशेष बल दिया गया है और कहा गया है कि वह हेतु पक्ष में ही होना चाहिये, सपक्ष में ही होना चाहिये, किन्तु विपक्ष में नहीं होना चाहिये। इस नियम के आधार पर पक्ष और सपक्ष दोनों में अविनाभावनियम का होना आवश्यक है, क्योंकि धूम और अग्नि का पर्वत रूप पक्ष में तभी अनुमान किया जा सकता है, जब उससे पूर्व पाकशालारूपी सपक्ष में उन दोनों का साहचर्यभाव जाना गया हो। इस नियत साहचर्य को ही बौद्धन्याय में तदुत्पत्ति रूपी नियामकों द्वारा समझा जाता है। तादात्म्य के द्वारा दो पदार्थों की एक स्वभावता या एकाकारता या एकरूपता का ज्ञान होता है और तदुत्पत्ति के द्वारा दो वस्तुओं में कार्य-कारण सम्बन्ध को जाना जाता है।

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २००९ अङ्क १२ (पृ०११५-११९)

बौद्ध-न्याय में पक्ष का स्वरूप

डॉ. श्रीमती लक्ष्मी मोर[१]

भारतीय दार्शनिक जगत् में बौद्ध-दर्शन विशेषत: बौद्ध-न्याय का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। बौद्ध न्याय अथवा बौद्ध तर्कशास्त्र से तात्पर्य न्याय कि उस शाखा से है, जिसकी उत्पत्ति प्रसिद्ध बौद्धाचार्य दिङ्नाग के आविर्भाव के साथ हुई तथा जिसके अन्तर्गत ज्ञान के स्वरूप और भेदों से लेकर वाद सम्बन्धी नियमों तक के विषयों का विवेचन विस्तार से किया जाता है। प्रसिद्ध रूसी विद्वान श्चेरबात्सकी के शब्दो में 'बौद्ध-न्याय मानवज्ञान के उन समस्त क्षेत्रों में व्याप्त है, जो प्रत्यक्ष जैसे साधारण विषयों से आरम्भ होकर सार्वजनिक वाद विवाद की जटिल प्रक्रिया में समाप्त होते हैं।'[२]

बौद्ध-न्याय में मुख्यत: दो ही प्रमाण स्वीकार किए गए हैं- प्रत्यक्ष और अनुमान, क्योंकि इसके अनुसार प्रमेय भी दो ही प्रकार के हैं-स्वलक्षण और सामान्यलक्षण।[३] इन दोनों प्रमाणों में से अनुमान प्रमाण वह है जिसे जिससे अनुमिति कि जाती है (येन हि अनुमीयते तदनुमानम्)। दिङ्नाग के अनुसार त्रिरूप लिङ्ग के द्वारा विषय का ज्ञान अनुमान कहलाता है।[४] अनुमान के भेदों के विषय में बौद्ध-विद्वानों में मतभेद पाया जाता है। जैसे दिङ्नाग के पूर्ववर्ती आचार्यो में से नागार्जुन ने तीन,[५] मैत्रेयनाथ ने दो,[६] और असंग ने पाँच[७] भेद माने हैं, किन्तु दिङ्नाग ने प्रमाणसमुच्चय में अनुमान के दो ही भेद स्वीकार किए हैं, स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। इनमें से प्रथम ज्ञानात्मक और द्वितीय शब्दात्मक है।

त्रिरूपलिङ्ग से प्रमाता को स्वयं होने वाला अनुमान 'स्वार्थानुमान तथा स्वानुभूत अर्थ का दूसरों के प्रति प्रकाशन कराने वाला अनुमान परार्थानुमान कहलाता है।[८] दिङ्नाग के पश्चात् प्राय: सभी बौद्धाचार्यो ने इन दो भेदों को ही स्वीकार किया है।[९]

न्यायप्रवेशसूत्रम् जो बौद्धन्याय का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, के रचनाकार के विषय में विद्वानों में मतभेद

---

१. डॉ. श्रीमती लक्ष्मी मोर, अध्यक्षा संस्कृत-विभाग, आर. के.एस.डी. पी.जी. कालेज, कैथल

२. It, thus, embraces the whole area of human-knowledge, beginning with rudimentary sensation and ending with the complicated appartus of a public debate.

३. 'प्रत्यक्षमनुमानं च प्रमाणे, यस्माद् लक्षणद्वयं प्रमेयं....।' प्रमाणसमुच्चय, १.२.

४. त्रिरूपाल्लिङ्गगतोऽर्थदृक् अनुमानम्। प्रमाणसमुच्चयम्,अ० २. (Vidyabhusana, S.C: History of Indian Logic, P.280, and Stcherbatsky,Bhudhist Logic pt.l p. 236) के आधार पर

५. उपायहृदयम्ळण्ज्नबबपए च्तम.क्पहदंहं ठनककीपेज जमगज वद स्वहपबए चण् १३

६. (क) History of Indian Logic, P.264, (ख) ब्रजनारायण शर्मा भारतीय दर्शन में अनुमान, पृ० २५८

७. क राहुल सांकृत्यायन, बौद्ध दर्शन, पृ० ११९ तथा उन्ही का दर्शनदिग्दर्शन, पृ० ७३०-३२ ख G. Tucci, Budhist Logic before Dignaga 466.67

८. अनुमानं द्विधा स्वार्थ त्रिरूपाल्लिङ्गतोऽर्थदृक्। परार्थानुमानं तु स्वदृष्टार्थं प्रकाशकम्॥ प्रमाणसमुचय, २.१

९. न्यायबिन्दु, २.१.२; तत्त्व-संग्रह का० १३६२; बौद्ध तर्कभाषा, पृ० १२,१८

:, तिब्बती परम्परा इसे दिङ्नाग की रचना मानती है तथा चीनी परम्परा इसे दिङ्नाग के शिष्य शंकरस्वामी की रचना मानती है। इस ग्रन्थ की आधारभूमि अन्य ग्रन्थों से बिल्कुल भिन्न है। इसके लेखक के अनुसार संविद् (ज्ञान) दो प्रकार का है- आत्मसंविद् और परसंविद्। आत्मसंविद् का अर्थ है-स्वयं के बोध के लिए स्वयं प्राप्त किया गया ज्ञान तथा परसंविद् का अर्थ है- पर (प्राश्निक) के अवबोध के लिए शब्दों द्वारा कराया गया ज्ञान। परसंविद् के लिए चार उपाय दर्शाए गए हैं- साधन, साधनाभास तथा दूषण और दूषणाभास।[१०] इनमें से प्रथम अर्थात् **'साधन'** वस्तुतः परार्थानुमान का ही है अपर नाम है। यद्यपि मूलग्रन्थ में यह स्पष्ट नहीं किया गया है, तथापि ग्रन्थ की वृत्ति और पञ्जिका से यह स्पष्टतः ज्ञात होता है कि **'साधन'** से तात्पर्य परार्थानुमान से ही है।[११] न्यायप्रवेश के अनुसार पक्षादि (पक्ष, हेतु, दृष्टान्त) का कथन करना **'साधन'** कहलाता है। तात्पर्य यह है कि परावबोध के लिए पक्ष, हेतु और दृष्टान्त रूप अवयवों वाले **'साधन'** की आवश्यकता होती है। प्रस्तुत शोधपत्र का उद्देश्य इन तीनें में से केवल पक्ष (प्रतिज्ञा) पर विचार करना है।

१. पक्ष (प्रतिज्ञा) का अर्थ एवं पर्याय

'पक्ष' शब्द की व्युत्पत्ति है-**'पच्यते इति पक्षः, पच व्यक्तीकरणे। पच्यते व्यक्तिक्रियते यो अर्थः स पक्षः**[१२] अर्थात् **'पक्ष'** शब्द **'पच'** धातु से निष्पन्न है जो व्यक्तीकरण (प्रकटीकरण) अर्थ में आती है, जो विषय व्यक्त किया जाता है, वह 'पक्ष' है वही 'साध्य' हैं। तात्पर्य यह हुआ कि प्राश्निक के प्रति जिस विषय को प्रकट किया जाता है वह 'पक्ष' या 'साध्य' है।

'पक्ष' को और अधिक स्पष्ट करते हुए यह भी कहा जा सकता है-पक्ष वह है जो अपने में **'साधन'** और **'साध्य'** दोनों को समाविष्ट करने की सामर्थ्य रखता हो जैसे -पर्वत वह्निमान् है, क्योंकि वहाँ धूम है। यहाँ साधन 'धूम' और साध्य 'अग्नि' है दोनों का अधिकरण **'पर्वत'** है, अतः वह पक्ष है।

पक्ष **'प्रतिज्ञा'** का विभिन्न दर्शन- ग्रन्थों मे प्रयोग किया गया है। न्याय-वैशेशिक ने **'पक्ष'** के स्थान पर प्रतिज्ञा शब्द का प्रयोग किया है।[१३] अकलंकदेव ने साध्य को **'पक्ष'** ही कहा है।[१४] बौद्ध न्याय में नागार्जुन, मैत्रेय, असंग, वसुबन्धु व दिङ्नाग ने **'प्रतिज्ञा'** को स्वीकार किया है।[१५] न्यायप्रवेश में प्रतिज्ञा के स्थान पर मुख्यतः **'पक्ष'** शब्द का ही प्रयोग उपलब्ध होता है, तथपि **'प्रतिज्ञा'** को उन्होंने पक्ष का पर्याय स्वीकार किया है। ऐसा उन्हीं की कुछ पंक्तियों से ज्ञात होता है।[१६]

२. पक्ष का स्वरूपः-

(क) बौद्ध-भिन्न मतों में पक्ष का स्वरूपः- न्याय-सूत्र में प्रतिज्ञा (पक्ष) की परिभाषा देते हुए कहा है-

---

१०. साधनं दूषणं चैव साभासं परसंविदे। न्यायप्रवेश सूत्रम्, का० १

११. क स्वार्थपरार्थभेदेनाभिधानात्। तत्र साधनं परार्थमनुमानमिदं पुनः स्वार्थम्। न्यायप्रवेशवृत्ति, पृ० ११, पृ० १५-१६ ख न्यायप्रवेशपञ्जिका, पृ० ४१,पं० १३, १४

१२. न्यायप्रवेशवृत्ति, पृ० १३, पं० १,२.

१३. न्यायसूत्र, १.१,३३

१४. न्यायविनिश्चय, २.१७२

१५. G. Tucci, Pre-Dignaga Budhist Text on Logic introduction, P. 19

१६. द्र० क न्यायप्रवेश, पृ० ३; ख न्यायप्रवेशवृत्ति, पृ० २२

'साध्य' के निर्देश को प्रतिज्ञा कहते हैं।'[१७] भाष्यकार वात्स्यायन के अनुसार साध्य के दो स्वरूप हो सकते हैं। (१) धर्मविशिष्ट धर्मी और (२) धर्मी विशिष्ट धर्म।[१८] यहाँ 'धर्म से साध्य-धर्म और धर्मी से पक्ष अभिप्रेत है। **'साध्यतेऽस्मिन् इति साध्यम्'** इस व्युत्पत्ति के आधार पर **'पक्ष'** अर्थात् धर्मी भी **'साध्य'** कहा जाता है। भाष्यकार के उक्त दोनों स्वरूपों का यही अभिप्राय प्रतीत होता है। धर्म और धर्मी विशेषण-विशेष्य का अन्तर होने के कारण ही उक्त दोनों स्वरूप प्रस्फुटित होते हैं। प्रथम स्वरूप में धर्मी विशेष्य है और धर्म विशेषण, द्वितीय रूप में धर्म विशेष्य है और धर्मी विशेषण। **'पर्वतो वह्निमान्'** इस अनुमिति स्थल में अग्निरूप साध्य धर्म से विशिष्ट धर्मी (पर्वत में प्रथम रूप का प्रयोग हुआ है तथा **'पर्वते वह्निः'** यहाँ पर्वत रूप धर्मी से विशिष्ट धर्म (अग्नि) रूप में द्वितीय स्वरूप का प्रयोग किया गया है। भाष्यकार को प्रथम स्वरूप ही अभीष्ट है, क्योंकि इन दोनों स्वरूपों के उदाहरणार्थ **'अनित्यः शब्द इति'** 'शब्द अनित्य है' और **'शब्दस्यानित्यत्वम्'**-शब्द में अनित्यता है' का प्रयोग किया है।[१९] किन्तु प्रतिज्ञा-सूत्र कि व्याख्या में उन्होंने साध्य के स्वरूप में **'धर्मेण धर्मिणो विशिष्टस्य'** इस रूप से धर्मविशिष्टधर्मी की स्थापना की है।[२०]

तर्कभाषा (केशवमित्र) में भी सन्दिग्ध-साध्यधर्म से युक्त (आश्रय) को **'पक्ष'** कहा गया है।[२१] प्रशस्तपाद के अनुसार अविरोधी (प्रत्यक्ष आदि के विरुद्ध न होने वाला), साध्य धर्म से युक्त पक्ष (धर्मी) का कथन (उद्देश) प्रतिज्ञा है अर्थात् बोध कराने के लिए अभीष्ट (प्रतिपिपादयिषित्) धर्म सहित धर्मी (पक्ष) को हेतु (अपदेश) का विषय बनाने के लिए कहना ही प्रतिज्ञा है, जैसे वायु द्रव्य है।[२२] वायु में द्रव्यत्व धर्म की सिद्धि करने का इच्छुक व्यक्ति द्रव्यत्व विशिष्ट वायु का कथन करता है। पूर्वमीमांसा में जिज्ञासित धर्मविशिष्ट धर्मी को ही पक्ष के रूप में स्वीकार किया है।[२३] सांख्य, योग ओर वेदान्त ग्रन्थों में पक्ष-लक्षण पर कोई विशेष विचार नही किया गया है।

जैन दर्शन में सिद्धसेन दिवाकर के अनुसार प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित होने वाले साध्य को स्वीकार करना पक्ष है।[२४] हेमचन्द्र ने स्पष्टतः 'पक्ष' को 'साध्य' का ही नामान्तर घोषित किया है।[२५]

(ख) विभिन्न बौद्धाचार्यो के मत में पक्ष (प्रतिज्ञा) का स्वरूपः-

न्याय-वार्तिकार उद्योतकर ने **'प्रतिज्ञा'** लक्षण पर विचार करते समय एक पूर्वपक्षी का मत उद्धृत किया

---

१७. साध्य-निर्देशः प्रतिज्ञा। न्यायसूत्र-१.१.३३
१८. न्यायभाष्य, पृ० ३०
१९. न्यायभाष्य, पृ० ३०८
२०. वही, पृ० २७२
२१. सन्दिग्धसाध्यधर्म-धर्मी पक्षः। तर्कभाषा,केशवमिश्र पृ० ११
२२. तत्रानुमेयोद्देशो विरोधी प्रतिज्ञा प्रतिपादयिषित धर्म विशिष्टस्य धर्मिणोऽपदेशविषयमापादयितुमुद्देशमात्रं प्रतिज्ञा यथा **'द्रव्यं वायुः'**। प्रशस्तपादभाष्य, पृ० १६७
२३. जिज्ञासितधर्मविशिष्टश्च पक्ष इत्युक्तम्। मानमेयोदय,पृ० ६६
२४. न्यायवतारं, का० १४
२५. पक्षः इति साध्यस्यैव नामान्तरमेतत्। प्रमाण-मीमांसा, पृ० ४५

है- **'पक्षो य: साधयितुमिष्ट:'**[२६] अर्थात् पक्ष वह है जिसे सिद्ध करना इष्ट होता है। यहाँ उद्योतकर ने तो यह निर्देश नहीं किया कि यह लक्षण किसका है, किन्तु वाचस्पति मिश्र ने इस लक्षण को स्पष्ट रूप से वसुबन्धु का बतलाया है।[२७] पाश्चात्य विद्वान् स्टेफन एनेकर द्वारा प्रस्तुत **'वादविधि'** की व्याख्या के आधार पर भी यह स्वीकार किया जा सकता है कि **'पक्ष'** का यह लक्षण बौद्ध-आचार्य बसुबन्धु का ही है।[२८]

यद्यपि दिङ्नाग ने कतिपय संभावित दोषों के कारण **'प्रतिज्ञा'** को अनुमानवाक्यावयव के रूप में स्वीकार नहीं किया है, तथापि उन्होंने उसका लक्षण स्थापित किया है-**'साध्यत्वेनेप्सित: पक्षो विरुद्धार्थो निराकृत:'**[२९] अर्थात् जिसका विरुद्ध अर्थ के द्वारा निराकरण न किया गया हो तथा जो साध्य रूप से अभीष्ट हो वह **'पक्ष'** कहलाता है। प्रमाणवार्तिक के वृत्तिकार आचार्य मनोरथनन्दी के अनुसार यह लक्षण दिङ्नाग के **'न्यायमुख'** नामक ग्रन्थ से उद्धृत है, अत: निश्चित रूप से यह दिङ्नाग का ही है। यहाँ एक बात ध्यातव्य है कि दिङ्नाग ने **'प्रतिज्ञा'** के स्थान पर **'पक्ष'** शब्द का प्रयोग किया है।

धर्मकीर्ति और धर्मोत्तर ने भी इस विषय की अपने-अपने ग्रन्थों में चर्चा की है। धर्मकीर्ति कहते हैं, **'स्वरूपणैव स्वयम् इष्टोऽनिराकृत: पक्ष:'**[३०] अर्थात् पक्ष वह है जो वादी द्वारा (स्वयं) साध्य के रूप में स्वीकृत हो तथा जिसका (प्रत्यक्ष के द्वारा) निराकरण न किया गया हो। वस्तुत: धर्मकीर्ति का यह लक्षण न्यायप्रवेश में दिए गए लक्षण का ही परिष्कृत रूप प्रतीत होता है।

(ग) न्यायप्रवेश में पक्ष (प्रतिज्ञा) का स्वरूप:-

न्यायप्रवेश में **'पक्ष'**(प्रतिज्ञा) की परिभाषा इस प्रकार मिलती है-**पक्ष: प्रसिद्धो धर्मी**[३१] अर्थात् प्रसिद्ध धर्मी ही **'पक्ष'** कहलाता है। यहाँ प्रसिद्ध **'धर्मी'** लक्षण भाग है और **'पक्ष'** लक्ष्य भाग है। स्वयं न्यायप्रवेशकार ने अपने ही लक्षण को स्पष्ट करते हुए लिखा है- **'प्रसिद्धविशेषणेन विशिष्टतया स्वयं साध्यत्वेनेप्सित:'**[३२] प्रसिद्ध विशेषण से विशिष्ट होता हुआ जो विषय (स्वयं) वादी को साध्य रूप से अभीष्ट हो, वह पक्ष या धर्मी कहलाता है। हरिभद्रसूरि के अनुसार जो अर्थ अभिव्यक्त किया जाता है वह **'पक्ष'** होता है उसी को 'साध्य भी कहते हैं, क्योंकि वादी के द्वारा उसी का सिद्ध किया जाना अभीष्ट होता है। उस साध्य का स्वरूप क्या है, इसको प्रकट करते हुए कहा गया है-**'स च धर्मविशिष्टो धर्मी'**[३३] धर्म से विशिष्ट धर्मी ही पक्ष कहलाता है। विभिन्न अन्य मतों का निराकरण करते हुए वृत्तिकार ने स्पष्ट किया है कि केवल धर्म(अग्नि)वादी का साध्य नहीं होता, न केवल धर्मी (पर्वत) ही साध्य होता है, न वे दोनों स्वतन्त्र रूप से ही साध्य होते हैं और न उन दोनों का सम्बन्ध ही

---

२६. न्यायवार्त्तिक, पृ० ११३

२७. तथा 'पक्षो य: साधयितुमिष्ट:' इत्यत्रापि च वसुबन्धुलक्षणे.....। न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका, पृ० २७३

२८. The topic (paksa) is the object of sense or understanding one wishes to investigate' Anacker. Stefan, Seven works of Vasubandhu. P. 38

२९. प्रमाणवार्तिक वृत्ति, ४.८६ की अवतरणिका

३०. न्यायबिन्दु, ३.३८; न्याय-बिन्दु-टीका, पृ० २३५

३१. न्यायप्रवेश, भाग-१, पृ० १, प. ६

३२. वही, पं० ३-४

३३. न्यायप्रवेशवृत्ति, पृ० १३, पं० २-३

साध्य होता है। इन सबसे अलग उसका साध्य तो धर्म-धर्मी में रहने वाली विशेषणता और विशेष्यता ही होती है यथा अग्नि रूप विशेषणता से युक्त पर्वत की विशेषता साध्य है, वही पक्ष है।[३४]

'**पक्ष: प्रसिद्धो धर्मी**' में आए हुए 'धर्मी शब्द को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि '**कृतकत्वादि**' धर्म जिसमें रहते हैं वह '**धर्मी**' कहलाता है जैसे शब्दादि[३५] यहाँ '**प्रसिद्ध**' शब्द भी स्पष्टीकरण के योग्य है। '**प्रकर्षेण सिद्धमिति प्रसिद्धम्**'[३६] अर्थात् प्रकृष्ट रूप से सिद्ध '**प्रसिद्ध**' कहलाता है। जो वादी और प्रतिवादी दोनों को (प्रत्यक्षादि) प्रमाण की सामर्थ्य से स्वीकृत हो वही '**प्रसिद्ध**' है।[३७] यहाँ शंका उठाई जा सकती है कि जब '**धर्मी**' वादी और प्रतिवादी दोनों को पहले से ही स्वीकृत है तो फिर उसे सिद्ध करने की आवश्यकता ही क्या है? इस शंका का समाधान विद्वान् संपादक श्री ए. बी. ध्रुव के द्वारा इस प्रकार किया गया है, '**धर्मी**' वादी, प्रतिवादी को केवल दृष्टान्त स्थल पर ही सिद्ध है, साध्य रूप में तो सिद्ध करना शेष है, क्योंकि यदि ऐसा न होता तो अनुमान की आवश्यकता ही न होती।[३८]

न्यायप्रवेश के पक्ष-लक्षण की व्याख्या के अन्तर्गत '**स्वयम्**' शब्द भी आया है, जिसका प्रयोजन इस तथ्य पर बल देना है कि साध्य-धर्म (अग्नि) स्वयं वादी को ही सिद्ध करने के लिए अभीष्ट है। यद्यपि शास्त्रार्थ के अन्तर्गत अन्य भी कई '**धर्म**' हो सकते हैं, किन्तु इस विशेष सन्दर्भ में वादी का अभीष्ट साध्य वही है।[३९] '**स्वयम्**' शब्द की प्रयोजनीयता धर्मकीर्ति व धर्मोत्तर ने भी अपने-अपने ग्रन्थों में इसी प्रकार स्पष्ट की है।[४०]

न्यायप्रवेशकार ने '**पक्ष**' के उपर्युक्त लक्षण के साथ यह भी कहा है कि '**प्रत्यक्षाद्यविरुद्ध इति वाक्यशेष:**'[४१] अर्थात् पक्ष के लक्षण वाक्य में '**प्रत्यक्षाद्यविरुद्ध**' पद का भी अध्याहार होना चाहिए। ग्रन्थकार ने यहाँ ऐसा क्यों किया, इस प्रश्न के उत्तर में हरिभद्रसूरि कहते हैं कि कुछ अनुमानवाक्यों में पक्षधर्म प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों के विरुद्ध प्रस्तुत कर दिए जाते हैं, जिनसे पक्ष या प्रतिज्ञावाक्य में दोष की प्राप्ति हो सकती है। इस प्रकार के दोषों का निराकरण करने के लिए ही ग्रन्थकार ने पक्षलक्षण में '**प्रत्यक्षाद्यविरुद्ध**' पद का अध्याहार करना भी आवश्यक समझा।[४२]

अत: न्यायप्रवेश के अनुसार पक्ष (प्रतिज्ञा) का समुदित लक्षण इस प्रकार समझा जा सकता है- 'प्रत्यक्षाद्यविरुद्ध प्रसिद्ध विशेषण से विशिष्ट प्रतिपन्न हो तथा प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाणों से जिसका कोई विरोध न होता हो ऐसे विशिष्ट धर्म से युक्त धर्मी ही '**पक्ष**' कहलाता है, जो वादी को स्वयं सिद्ध करना अभीष्ट होता है। '**न्यायप्रवेशसूत्रम्**' में उपलब्ध पक्ष (प्रतिज्ञा) का यह स्वरूप उत्तरवर्ती धर्मकीर्ति, धर्मोत्तर आदि आचार्यों ने भी स्वीकार किया है।

---

३४. न धर्ममात्रं, न धर्मी केवल:, न स्वतन्त्रमुभयं, न च तयो: सम्बन्ध: किन्तु धर्मधर्मिणो विशेषणविशेष्यभाव:। न्यायप्रवेशवृत्ति,पृ० १५, पं० २३,२४
३५. धर्मा: कृतकत्वादयस्तेऽस्य विद्यन्ते इति धर्मी शब्दादि:। न्यायप्रवेशवृत्ति, पृ० १४, पं० २३-२४
३६. न्यायप्रवेश पर ए. बी. धुव कृत टिप्पणी पृ० १४
३७. वादिप्रतिवादिभ्यां प्रमाणबलेन प्रतिपन्नम्। न्यायप्रेशवृत्ति, पृ० १४, पं० १
३८. न्यायप्रवेश पर ए.बी. धुव कृत टिप्पणी पृ० १४
३९. वही, पृ० १६
४०. द्र०-न्यायबिन्दु, ३.३८द्र न्यायबिन्दु टीका, पृ० २३५
४१. न्यायप्रवेश, भाग १, पृ० १, पं० ७
४२. [illegible]

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २००९ अङ्क १२ (पृ०१२०-१२३)

आत्मानुभूति : पाश्चात्त्य एवं औपनिषदिक चिन्तन

डॉ० अर्चना श्रीवास्तव[1]

अतीन्द्रिय सत्ता का ज्ञान अनुभूति के द्वारा ही सम्भव है। अनुभूति के द्वारा आत्मा का अस्तित्व, अमरता, ईश्वर का अस्तित्व तथा ईश्वर एवं जीव में ऐक्य का बोध होता है। जब मनुष्य सीमित तथा इन्द्रिय प्रत्यक्ष से सन्तुष्ट नहीं होता तो वह अनुभूति का आश्रय लेता है। वह सम्पूर्ण सत्ता का प्रत्यक्ष साक्षात्कार करना चाहता है, जो किसी न किसी प्रकार की अनुभूति से ही सम्भव है। इस्लामी रहस्यवादियों जैसे **गजाली** ने अनुभूति को ही वास्तविक ज्ञान माना था, किन्तु उनके अनुसार अनुभूति एक विशेष प्रकार का ज्ञान है जो विचार एवं प्रत्यक्षानुभव से पूर्णतः भिन्न है। अनुभूति में सत्ता का प्रत्यक्ष अनुभव है। इसके द्वारा हम आत्मा तथा ईश्वर को वैसे ही जानते हैं, जैसे इन्द्रिय प्रत्यक्ष में वस्तुओं को, इसमें सत्ता का ज्ञान सम्पूर्णता में होता है।

पाश्चात्त्य दार्शनिकों में बर्कले का मन्तव्य है कि सत्ता अनुभवमूलक है। इसे **'दृश्यत इति वर्तते'**, **'यत् सत् तद् दृश्यम्'** या **'सत्यम् दृश्यम्'** या **'यत् दृश्यम् तत् सत्'** इत्यादि रूपों में वर्णित किया जाता है। इन सभी उक्तियों का अर्थ एक ही है और वह है कि सत् वही है, जो दृश्य है और जो दृश्य नहीं है, उसे सत् की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। सत्य वही है, जो अनुभव का विषय हो अथवा जिसका अनुभव किया जा सके। सत्ता अनुभवमूलक है, इस उक्ति के दो अर्थ हैं-प्रथम तो यह कि किसी वस्तु की सत्ता अनुभव करने में है। इस दृष्टि से आत्मा और ईश्वर सत्ता की श्रेणी में रखे जा सकते हैं। दूसरे अर्थ के अनुसार **'सत्ता अनुभवमूलक है'** इसका अभिप्राय यह है कि 'उसी की सत्ता मान्य है, जो अनुभव का विषय हो सकता है।

विश्व की आधारभूत सत्ता, जीव और ईश्वर का स्वरूप, जीवन का चरम लक्ष्य इत्यादि के विषय में जिज्ञासा मानव-मन की स्वाभाविक प्रवृत्ति है, जहाँ से दर्शन का उदय होता है। विश्व के मूल तत्त्व सम्बन्धी मीमांसा अर्थात् सत्ता मीमांसा को तत्त्वज्ञान कहते हैं। तत्त्व-मीमांसा के अन्तर्गत दृश्य जगत् से परे परम तत्त्व का अध्ययन करते हैं। इसके अतिरिक्त दृश्य जगत् की समस्यायें भी इसके अध्ययन के अन्तर्गत हैं। ज्ञान-मीमांसा का शाब्दिक अर्थ हुआ-ज्ञान की मीमांसा जिसके अन्तर्गत ज्ञान सम्बन्धी समस्याओं का विवेचन होता है।

आधुनिक दर्शन की दो प्रमुख समस्याये हैं- (१) तत्त्व-मीमांसीय (२) ज्ञान-मीमांसीय। तत्त्व-निरूपण के विचारणीय तीन तत्त्व हैं- (१) आत्मा (२) बाह्य जगत् एवं (३) ईश्वर। ज्ञान-मीमांसीय समस्या के पक्ष हैं- (१) ज्ञान का स्रोत क्या है? ज्ञान की उत्पत्ति अनुभव से होती है या बुद्धि से या अनुभव और बुद्धि दोनों से? (२) ज्ञान का स्वभाव क्या है? (३) ज्ञान की प्रामाणिकता की कसौटी क्या है? (४) ज्ञान की सीमा क्या है? हमारा ज्ञान इन्दियानुभव तक ही सीमित है अथवा हमारा ज्ञान इन्द्रियानुभव की सीमा का अतिक्रमण भी कर सकता है? आधुनिक दर्शन की एक विशेषता यह भी है कि इसमें चैतन्य के साथ-साथ आत्म-चैतन्य पर अन्त तक विचार किया जाता है। डेकार्ट्स के पूर्व **तत्त्व-मीमांसा** पर विशेष ध्यान दिया जाता था, डेकार्ट्स ने **ज्ञान-मीमांसा** के बाद तत्त्व-मीमांसा अर्थात् ईश्वर, जगत् एवं आत्मा पर चिन्तन किया। स्पिनोजा एवं लाइब्निज ने तत्त्व-मीमांसा को अधिक महत्त्व दिया। **बर्कले** ने **ज्ञान** एवं **तत्त्व** दोनों पर समान रूप से ध्यान केन्द्रित किया,

---

१. डॉ० अर्चना श्रीवास्तव, वरिष्ठ प्रवक्ता संस्कृत-विभाग, महिला महाविद्यालय, किदवईनगर, कानपुर

परन्तु साध्य **तत्त्व-मीमांसा** ही था। काण्ट ने ज्ञान-मीमांसा पर विशेष बल दिया तत्पश्चात् आधुनिक दर्शन पुनः तत्त्व-मीमांसा की ओर प्रवृत्त हुआ।

भारतीय परिप्रेक्ष्य में तात्त्विक दृष्टि से ज्ञान परम-तत्त्व का स्वरूप है, पर व्यावहारिक दृष्टि से हम ज्ञान को एक प्रक्रिया के रूप में ले सकते हैं। विशुद्धात्मा तो ज्ञान से अभिन्न है, पर जीवात्मा को बाह्य संसार को जानने के लिये प्रक्रिया करने की आवश्यकता होती है। जीव एक इकाई न होकर दो घटकों का समुच्चय है-प्रथम अन्तःकरण और द्वितीय साक्षी।

अन्तः करण भौतिक है, जो पाँच तत्त्वों से बना है। **साक्षी** चेतन-तत्त्व है, जो अन्तःकरण से भिन्न होते हुये भी उसे प्रकाशित करने में मदद देता है। साक्षी को अन्तःकरण से बिल्कुल भिन्न भी नहीं माना जा सकता क्योंकि अद्वैत वेदान्त के अनुसार तत्त्व **दो** नहीं वरन् **एक** हैं। साक्षी और अन्तःकरण दोनों सापेक्षिक हैं।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार ज्ञान दो प्रकार का होता है-प्रथम अपरोक्ष ज्ञान और द्वितीय परोक्ष ज्ञान। शाश्वत चैतन्य वस्तुतः केवल एक है जिसे ब्रह्म, परम तत्त्व या मूल सत्ता कहते हैं। किन्तु उपाधियों के भेद के कारण वह अनेक प्रकार का प्रतीत होता है। सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय उसी चिन्मय विश्व शक्ति का शब्द रूप विग्रह है, ऋग्वेद में सर्वत्र उस मूल सत्ता का प्रतिपादन मार्मिक रूप में किया गया है -

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति[२] **पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्**[३]

शङ्कराचार्य ने जो मत प्रतिपादित किया कि तत्त्व ज्ञान केवल अपरोक्षानुभूति द्वारा ही सम्भव है, इस निष्कर्ष पर वैदिक चिन्तक ऋग्वेद के युग में ही पहुँच चुके थे। शंकर के अनुसार अन्तः करण वह अधिष्ठान है, जहाँ प्रमेय-चैतन्य, प्रमाण-चैतन्य तथा प्रमातृ चैतन्य के बीच तादात्म्य स्थापित हो जाता है, तभी अपरोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति होती है। **'अयमात्मा ब्रह्म, अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि, सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** इत्यादि श्रुतिवाक्य इसके प्रमाण हैं। शङ्कर का स्पष्ट मत है कि दृष्ट के आधार पर ही अदृष्ट की व्याख्या की जा सकती है- **दृष्टाच्चादृष्टसिद्धिः।**[४]

शङ्कराचार्य के **अनुभव** का तात्पर्य **लौकिक प्रत्यक्ष** एवं **अलौकिक प्रत्यक्ष** दोनों ही हैं। उनमें परस्पर कोई विरोध नहीं है, क्योंकि दोनों का क्षेत्र पृथक् है, प्रत्येक का अपने क्षेत्र में उच्चतम स्थान है। ब्रह्म न तो **प्रत्यक्ष** के द्वारा जाना जा सकता है, न **अनुमान** द्वारा और न **तर्क** द्वारा। फलतः साधारण जनों के लिये ब्रह्म को जानने का एकमात्र उपाय **श्रुति-प्रमाण** ही है। क्योंकि व्यावहारिक जगत् की वस्तुओं के लिए लौकिक प्रत्यक्ष की प्रधानता है तथा पारमार्थिक जगत् के लिए श्रुति ही एक मात्र प्रमाण है। परन्तु श्रुति के विषय में शंकर का कहना है कि वही श्रुति प्रमाण हो सकती है, जो अनुभव से अनुमोदित हो। प्रो० रामचन्द्र रानाडे ने ण्दहूेल्मून एल्नि० में ईश्वरानुभव विभाग के शीर्षक के अन्तर्गत जिन उपनिषद् वाक्यों को उद्धृत किया है, वे एक स्वर से घोषित करती हैं कि ईश्वर को देखकर, सुनकर, वाणी से, मन से, तप से, कर्म से किसी भी प्रकार नहीं जाना जा सकता -**न चक्षुषा पश्यति कश्चैनम्।**[५] **नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।**[६] **न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा**

---

२. ऋग्वेद १.१६४.४६
३. ऋग्वेद१०.९०.२
४. शारीरक भाष्य २.२.२
५. कठोपनिषद २/६/९

वा।[७]

प्रो० रानाडे के अनुसार तर्क श्रुतिसापेक्ष है और श्रुति अनुभवसापेक्ष। यह अनुभव अन्त: प्रज्ञा को होता है और बौद्धिकज्ञान से उच्चस्तरीय है। इसीलिए प्रो० रानाडे अन्त: प्रज्ञा को अतिबौद्धिक कहते हैं। तो क्या अन्त:प्रज्ञा का बुद्धि से कोई सम्बन्ध नहीं है ? इसका समाधान है कि अन्त:प्रज्ञा बुद्धि से आगे का स्तर है। उपनिषद् वाक्य **आत्मा वा अरे द्रष्टव्य:, श्रोतव्यो मन्तव्य:**[८] को साधन बनाकर रानाडे ने विकास के स्तरों पर प्रकाश डाला है। आत्मा देखने योग्य है यह जिज्ञासा का स्तर है। '**अरे**' का प्रयोग स्पष्ट करता है कि इस अवस्था में कितना विस्मय होता है। इस विस्मयपूर्ण जिज्ञासा के उदय के विना ईश्वर साक्षात्कार का प्रयत्न नहीं होता। ग्रीक दार्शनिक प्लेटो एवं **अरस्तू** विस्मय से ही दर्शन की उत्पत्ति मानते हैं। उपनिषदों के अनुसार **प्रथम** जिज्ञासा की दृष्टि आत्मा की ओर होती है। इसीलिए ईसाई जगत् ने '**अपने आपको जानो**' का उपदेश दिया। 'डेकार्ट' ने '**अहं**' की प्रतिष्ठा के आधार पर ईश्वर की प्रतिष्ठा की। सन्त आगस्टाइन, सि फेलोर सम एवं रेने डेकार्ट्स का कॉजिटो एर्गो सम अर्थात् **मैं विचार करता हूँ इसलिए मै हूँ** इसी तथ्य को स्पष्ट करते हैं कि '**आत्मा**' का कभी निराकरण नहीं किया जा सकता। अत: आत्मज्ञान सर्वाधिक आसन्न ज्ञान है, जिस पर कभी सन्देह नहीं किया जा सकता।

द्वितीय सोपान पर **आत्मानं विजानीयादहमस्मीति पुरुष:**[९] अर्थात् यह पुरुष जो मेरे अन्तर में अहं प्रतीति उत्पन्न करता है, मैं हूँ। आध्यात्मिक अनुभव के **तृतीय** सोपान में '**अयमात्मा ब्रह्म**'[१०] जो द्वितीय स्तर पर अनुसन्धेय था, उसके प्रति ब्रह्म भाव उत्पन्न करने का उपदेश किया गया है। किन्तु अभी द्वैत की स्थिति है, क्योंकि आत्मा और ब्रह्म की एक दूसरे से पृथक् प्रतीति बनी हुई है। शंकर के अनुसार जहाँ तक द्वैत की प्रतीति है, वहाँ तक प्रमाण-प्रमेय व्यवहार का क्षेत्र है। **चतुर्थ** स्तर पर '**अहं ब्रह्मास्मि**'[११] (मैं ही ब्रह्म हूँ) का भान होता है। प्रो० रानाडे ने इस ज्ञान को न्यायवाक्यीय युक्ति से निष्कर्ष रूप में प्राप्य दिखलाया है। उनके अनुसार यदि मैं की प्रतीति करने वाला अन्तरपुरुष '**आत्मा**' है और यदि वह '**आत्मा**' ब्रह्म है तो '**मैं ब्रह्म हूँ**'........न्यायवाक्यीय निष्कर्ष है।

इस प्रक्रिया से स्पष्ट होता है कि जो व्यक्ति यह निश्चय करेगा कि '**मै आत्मा हूँ**' और '**आत्मा ब्रह्म है**' उसके लिए '**मैं ब्रह्म हूँ**' एक अनिवार्य यौक्तिक स्थापना होगी। यहाँ एक बात ध्यातव्य है कि अभी चतुर्थ सोपान तक ईश्वर साक्षात्कार प्रयत्न में बुद्धि मार्गदर्शन करती है।

पाँचवे सोपान पर '**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**'[१२] 'यह सब कुछ ब्रह्म है' की प्रतीति को रखा गया है। प्रो० रानाडे के अनुसार यह ज्ञान '**अहं ब्रह्मास्मि**' (मैं ब्रह्म हूँ) और '**तत्त्वमसि**' (वह तू है) को समन्वित करने से उत्पन्न होता है। यदि 'मै ब्रह्म हूँ और तू भी ब्रह्म है, 'तो मै और तू अभिन्न हैं।' दोनों में अभेद स्थापित हो जाने पर

---

६. वही, २/९/१२
७. मुण्डकोपनिषद्, ३/२/८
८. बृहदारण्यकोपनिषद् २/५
९. (बृहदा०उप०, ४/४/१२)
१०. (बृहदा०उप०, २/५/१९)
११. (बृहदा०उप०, १/४/१०)
१२. छान्दोग्योपनिषद ३.१४.१

यह बोध होता है कि संसार में जो कुछ भी दिखलाई देता है-मन और प्रकृति, आत्म और अनात्म-सब कुछ ब्रह्म ही है।

वैदिक चिन्तन में आद्यन्तपर्यन्त मूल सत्ता अर्थात् परम तत्त्व को अनुभूतिजन्य बतलाया गया है। तैत्तिरीय उपनिषद में त्रिशंकु ऋषि ब्रह्म का साक्षात्कार करके आनन्दातिरेक में उन्मन होकर कह उठते हैं-

अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्। अहमन्नादो ३ऽहमन्नादो ३ऽहमन्नादः।

परम तत्त्व से ऐकात्म्य की अनुभूति करते हुये वह कहते हैं कि मैं इस देह वृक्ष या संसार वृक्ष का प्रेरयिता हूँ। इन उद्गारों में आनन्दातिरेक है तथा द्वैत का सर्वथा अभाव है। यही ईश्वर का साक्षात्कार है, परमात्मा का साक्षात्कार है, ब्रह्म का साक्षात्कार है।

अनुभूति की महती विशेषता यह है कि ब्रह्म का रसास्वाद करने के उपरान्त साधक को यह स्पष्ट अनुभूति हो जाती है कि ईश्वरानुराग या ब्रह्म साक्षात्कार से बढ़कर विश्व की किसी वस्तु में सुख नहीं है। यही ब्रह्मानन्द है। ये अनुभूतियाँ बुद्धि की सीमाओं से परे होती हैं। बौद्धिक अनुभूतियाँ अतीन्द्रिय ज्ञान एवं अतीन्द्रिय अनुभव हैं, जिस समय इनकी उपलब्धि हो जाती है, उस समय इनकी सत्यता की सिद्धि हेतु किसी बौद्धिक तर्क की आवश्यकता नहीं रह जाती।

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २००९ अङ्क १२ (पृ०१२४-१२९)

धार्मिक मत-मतान्तरों में वैदिक पुनर्जन्म सिद्धान्त की अखण्डित मान्यता

डॉ० अमित चौहान[1]

वैदिक धर्मानुसार ईश्वर सत्, चित् व आनन्द स्वरूप है। प्रकृति केवल सत् है प्रकृति जड़ भी है अर्थात् चेतनतारहित इसलिए उसे आनन्द की आवश्यकता नहीं आत्मा सत् और चित् तो है, परन्तु वह आनन्दरहित है। लेकिन चेतन जीवात्मा को इसकी महती आवश्यकता प्रत्येक पल अनुभव होती है। इस आनन्द को वह आनन्दस्रोत-ईश्वर से ही प्राप्त कर सकता है, परन्तु इसके लिए उसे एक योग्यता बनानी पड़ती है, तभी वह इस आनन्द को पा सकता है, चूँकि जीवात्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है। इसलिए अच्छे और बुरे सभी प्रकार के कार्य वह करता है। अच्छे कार्यों का फल सुख व बुरे कार्यों का फल दुःख ईश्वर की कर्मफल व्यवस्था में उसे प्राप्त होता है। जीवात्मा अच्छे-बुरे कर्मो को करते हुए जब अपनी योग्यता, आनन्द अर्थात् मुक्ति के लिए प्राप्त कर लेता है, तब उसे वह प्राप्त हो जाता है, परन्तु ऐसी योग्यता, न होने तक वह जीवात्मा अपने अच्छे-बुरे कर्मों का भोग, भोगने हेतु विभिन्न योनियों में बार-बार जन्म (शरीरधारण) लेता है। उसे मनुष्य इतर योनियों में भी जन्म लेना पड़ता है। धर्म के मूल, सर्वमान्य, सर्वप्राचीन, स्वतः प्रमाण ग्रन्थ वेद का कहना है कि-

अनच्छये तुरगातु जीवमेजद् ध्रुवं मध्य आ पस्त्यानाम्।
जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः।।[2]

परमेश्वर शरीरों के बीच में रहने वाला अविनाशी, शीघ्र गति वाले जीव को गति देता हुआ तथा प्राणशक्ति सम्पन्न करता हुआ रहता है। मृत (शरीर) का न मनने वाला जीव अपने गुणों तथा पाप कार्मो के कारण मरण धर्मी शरीर के साथ समान-स्थान वाला होकर जगत् में बार- बार आता है। आनन्द पिपासु जीवात्मा आनन्द प्राप्ति तक पुनः पुनः शरीर धारण के लिए ईश्वर से प्रार्थना करती है।

अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्यन्यं चिक्युर्न नि चिक्युरन्यम्।।[3]

अमरणधर्मा यह नित्य आत्मा मरणधर्मा भौतिक शरीर के साथ एक स्थान में रहने वाला होता है एवं भूतात्मा अन्नोपलक्षित भोग से गृहीत होता है। अशुभ कर्म करके नीचे जाता है और शुभ कर्म करके ऊपर जाता है। वे शरीर और आत्मा दोनों सर्वदा विभाग पूर्वक वर्तमान रहते हैं। लोक में सर्वत्र गमन करने वाले कर्मफल भोग के लिए लोकान्तर में गमन करते रहते हैं।[4]

वैदिक मत का यह कर्मफल आधारित पुनर्जन्म का सिद्धान्त धर्म के ज्ञान क्षेत्र का एक अत्यधिक महत्त्वूपर्ण सिद्धान्त है। जीवात्मा द्वारा परम आनन्द के हेतु पुनः-पुनः शरीर धारण (पुनर्जन्म) का वर्णन करते हुए वेद में कहा गया है कि-

---

१. डॉ० अमित चौहान, श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.
२. ऋग्वेद-१/१६४/३
३. ऋग्वेद १/१६४/३८
४. मन्त्रों के अर्थ- वैदिक धर्म का स्वरूप-प्रा. रामविचार पृ. ११५ से उद्धृत

यथा हान्यनुपूर्व भवन्ति यत्र ऋतुभिर्यन्ति साधु।
यथा न पूर्वमपरो जहातयेवा धातरायूंषि कल्पयैषाम्॥[५]

अर्थात् जिस प्रकार दिन के उपरान्त रात्रि और रात्रि के बाद दिन का क्रम सम्यक्तया अनवरत गति से चलता है, जिस प्रकार एक ऋतु के बाद दूसरी ऋतु नियम से आती है और जिस प्रकार हमारे पूर्वजन्मकृत कर्म भावी जीवन से सम्बद्ध होते हैं, उसी प्रकार परमात्मा देव प्राणमय संसार को पुनः-पुनः आयु से संयुक्त करें-

असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राणमिह नो धेहि भोगम्।
ज्योक् पश्येम सूर्यमुच्चरन्तमनुमते मृळया नः स्वस्तिः॥[६]

अर्थात् हे प्राण विद्याविद् परमेश्वर! हमारे शरीर में फिर दृष्टि, फिर प्राण को धारण करा, हमें भोगों के भोजन की शक्ति दो, हम लम्बे समय तक उदय को प्राप्त हुए सूर्य को देखें। हे उत्तम मति वाले! हमें सुख से सुखी कर।

आवागमन अर्थात् पुनर्जन्म की इस वैदिक अवधारणा को कोरी कल्पना मानने के कोई भ्रान्ति न समझ ले। अतः ऋषियों ने इसे तार्किक आधार पर भी सिद्ध किया है। न्याय दर्शन में लिखा है कि-

पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धाज्जातस्य हर्षभयशोकसम्प्रतिपत्तेः।[७]

अर्थात् पहले अभ्यास की हुई स्मृति के लगाव से उत्पन्न हुए को हर्ष, भय, शोक की प्राप्ति होने से आत्मा नित्य है और उसका आवागमन होता है। तत्काल जन्मा बालक हर्ष, भय, शोक आदि से युक्त देखा जाता है और वे हर्षादि पूर्व जन्म में अभ्यास की हुई स्मृति के अनुबन्ध से ही उत्पन्न होते हैं, क्योंकि विना पूर्वाभ्यास के स्मृति का अनुबन्ध नहीं होता और पूर्वाभ्यास, विना पूर्वजन्म के नहीं होता।[८] इसी आधार पर मोक्ष (आनन्द) प्राप्ति की लालसा भी पुनर्जन्म व पूर्वजन्म को बताती है। पुनर्जन्म की यह अवधारणा वेद के उपरान्त धर्म के प्रांगण में उत्पन्न सभी मतों ने ग्रहण की है। पारसी मत में इस विषय का वर्णन उस शास्त्रार्थ से प्रकट होता है, जो पशुओं और मनुष्यों के मध्य हजरत गुलशाह के दरबार में हुआ था।[९] इस शास्त्रार्थ के अन्त में मनुष्य पशु से कहता है कि तुम ईश्वरीय ज्ञान से उन्नति करके मनुष्य बनकर क्या करोगे, हम तुमसे श्रेष्ठ हैं और विभिन्न जन्मों में उन्नति करके मुक्ति पाकर देवता बन सकते हैं। इस पर पशु कहते हैं कि निःसन्देह आपकी महत्ता है, परन्तु आप उन्नति के साधनों पर न चले तो फिर पशु बनोगे। यहाँ स्पष्ट ही सुकर्म करके अनेक बार शरीर धारण करते हुए उत्तरोत्तर उन्नति करने का संकेत है। पारसी पुस्तकनामा मिहाबाद में लिखा है कि पुराना चोला छोड़कर नया शरीर धारण करना अनिवार्य है। अपने कर्म व ज्ञान के अनुसार प्रत्येक मनुष्य स्वर्ग व नक्षत्रों में स्थान पाता तथा वहाँ सदैव रहता है। जिसने अच्छे कर्म किए है और जो संसार में आना चाहता है, वह राजा मन्त्री शासक व धनी पुरुष का जन्म धारण करता है, जिससे वह अपने कर्मों का फल पा सके।[१०] उपर्युक्त लेख पं० गंगा प्रसाद जी सासान पञ्चम

---

५. ऋग्वेद-१०/१८/५
६. ऋग्वेद-१०/५९/६
७. न्यायदर्शन ३/१/१९
८. वैदिक धर्म का स्वरूप-प्रा. रामविचार पृ. ११९
९. मत मतान्तरों का मूल स्रोत- पं.लक्ष्मण जी आर्योपदेशक पृ.१८/३६
१०. मत मतान्तरों का मूल स्रोत- पं. गंगा प्रसाद उपाध्याय-चीफ जस्टिस पं.११२

की टीका उद्धृत करते हैं। वहाँ लिखा है-अशुभ कर्मों का अशुभ और शुभ कर्मों का शुभ फल भोगते हैं, क्योंकि यदि ईश्वर कुकर्मों का दण्ड न दे तो वह न्यायकारी नहीं हो सकता। पुस्तकनामा मिहाबाद में आगे लिखा है-जो लोग कुकुर्मी हैं, उन्हें पहले मनुष्य शरीर में ही दु:ख दर्द का दण्ड दिया जाता है। उदाहरणार्थ-रोग, माता के गर्भ में तथा उसके बाहर पीड़ा, आत्मघात, क्रूर और हानिकारक जीवों द्वारा कष्ट पाना, मृत्यु द्वारा ये सब जन्म ग्रहण करने की तिथि से मरने तक अपने पिछले कर्मों के परिणाम हैं और यही बात वस्तुओं के उपभोग के विषय में सत्य है।[११]

महात्मा बुद्ध ने आत्मा के स्वरूप के विषय में न तो यह कहा- आत्मा शरीर से भिन्न है और न ही यह कहा कि आत्मा शरीर से अभिन्न है। आत्मा मूर्त है अथवा अमूर्त ? मृत्यु के बाद भी इसका कोई अस्तित्व रहता है या नहीं ? इस प्रकार के अनेक प्रश्नों के उत्तर में वे सदा मौन धारण किए रहे।[१२] इसलिए उन्हें अज्ञेयवादी भी कहा गया है।[१३]

बौद्ध लोग आवागमन के सिद्धान्त को उचित मानते हैं। लैथभ्रज की पुस्तक **'भारत का इतिहास'** से बुद्ध के सिद्धान्त की पुष्टि होती है। डॉ० डब्यू० हण्टर ने भी यही साक्षी दी है। ऐसा ही बौद्ध मत के प्रसिद्ध विद्वान टी०डब्ल्यू० डेविड ने भी मानते हुए कहा है कि बुद्ध का आवागमन के सिद्धान्त में विश्वास था।[१४] बुद्ध ने अपने शिष्यों से कहा हे भिक्षुओ! यह कहना संभव नहीं है कि इस लम्बी यात्रा में कौन कितनी बार माता, पिता, भाई, बहिन, पुत्र या पुत्री रहा। इस यात्रा का आरम्भ नहीं गिना जा सकता है।[१५] यमराज से पकड़े हुए मनुष्य की रक्षा न अनेक पुत्र, न पिता, न बन्धु तथा न जाति के लोग कर सकते हैं।[१६]

बौद्ध साहित्य में पुनर्जन्म के सम्बन्ध में कहा है कि वही दीप जल रहा है, उसी प्रकार जीवन के संस्कार, भाव आदि के द्वारा दूसरे की सन्तति जारी हो जाती है और आत्मा का तारतम्य जारी रहता है।[१७] निर्वाण प्राप्ति की योग्यता के लिए बौद्धों का कहना है कि जब तक रूप, वेदना, प्रत्यक्ष, प्रवृत्ति तथा चेतना नामक पांच स्कन्धों के रूपीकरण की तारतम्यता का विनाश न हो जाए, तब तक निर्वाण की अवस्था नहीं आती। निर्वाण गति के पूर्व आत्मा को पुनः-पुनः शरीर धारण करना पड़ता है।[१८] आज भी बौद्ध धर्म गुरुओं को पदासीन करने में उनके पुर्नजन्म को आधार बनाया जाता है। बौद्ध मत में आत्मा द्वारा पुनः शरीर धारण के वैदिक सिद्धान्त को लगभग ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया है। जैन आचार्यों का कहना है कि आत्मा स्वकर्म करता है और स्वकृत कर्मों का फल भी भोगता है। इन कर्मों की ही वजह से वह संसार में आकर प्राप्त किए गए शरीर के अनुपात में संकोच,

---

११. मत मतान्तरों का मूल स्रोत- पं.लक्ष्मण जी आर्योपदेशक पृं.१२३
१२. धर्म दर्शन मनन और मूल्यांकन,भाग-१ देवेन्द्र कुमार शास्त्री पृं.९८
१३. धर्म का आदि स्रोत- पं. गंगा प्रसाद पृं. ३३
१४. मत मतान्तरों का मूल स्रोत- पं.लक्ष्मण जी आर्योपदेशक पृं.३६
१५. संयुक्त निकाय २/१७८
१६. धम्मपद- २८८
१७. तुलनात्मक धर्म दर्शन याकूब मसीह- पृं. ७५

१८. तदैव पृं. ७६

विस्तार के अनुसार देह प्रमाण होता है। वह स्वयं ज्ञाता है और द्रष्टा भी है। प्रवचनसार में लिखा है।[१९]

जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो।
सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणाम सब्भावो।।[२०]

अर्थात् जब वह अपने इन कर्मों का क्षय कर लेता है, तब वह मोक्ष का भागी बन जाता है। वह कूटस्थनित्य नहीं हैं, बल्कि उत्पाद व्यय है, वह निर्गुण नहीं, बल्कि अपने गुणों से युक्त है।[२१] स्याद्वादमंजरी में वैदिक मत के अनुसार ही जीवात्मा का वर्णन करते हुए कहा गया है-

अहं सुखी अहं दुःखी इति अन्तर्मुखस्य प्रत्ययस्य आत्मालम्बनतयैवोपत्तेः।[२२]

अर्थात् मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, इत्यादि प्रकार का जो अन्तर्मुख (स्वसंवेदन) होता है, उससे सिद्ध होता है कि आत्मा है। हितरूप साधनों का ग्रहण और अहितरूप साधनों का परित्याग प्रत्यत्नपूर्वक किया जाता है, चूँकि यह प्रयत्न, 'किया' है। इसलिए क्रियाओं का जो अधिष्ठाता है, वही तो आत्मा है। सुख-दुःख आदि गुण हैं। गुण किसी गुणी के विना निराश्रित नहीं रहते, ये गुण जिसके आश्रित हैं, वही तो आत्मा है।[२३] छहढ़ाला, ढाल-१/२ में कहा गया है कि प्रत्येक आत्मा का मुख्य लक्ष्य है- अनन्त सुख, दुःख सभी को अप्रिय है।[२४] इस अनन्त सुख की प्राप्ति के लिए यदि सुमार्ग पर चला तो निश्चित ही तत्त्वबोध करके मोक्ष प्राप्त करेगा और यदि कुमार्ग पर चला तो अनन्तकाल तक संसार में बार-बार जन्म लेकर भटकता रहेगा।[२५] अन्य जैन ग्रन्थों में इसका समर्थन करते हुए लिखा है-वश में न किए गये क्रोध तथा अभिमान और निरन्तर बढ़ते हुए कपट तथा लोभ-ये चारों खींचने वाले दोष पुर्नजन्म रूपी वृक्ष की जड़ों को सींचते रहते हैं।[२६] जीव कभी क्षत्रिय, कभी वर्णसंकर, कभी कीड़ा, कभी पतंगा तथा चींटी भी बनता है।[२७] जो लोग गृहस्थ होते हुए भी अनेक प्रकार की शिक्षाओं द्वारा सुव्रत धारण करते हैं, वे मनुष्य योनि को प्राप्त होते हैं, क्योंकि जीवात्मा कर्मानुसार फल पाते हैं।[२८]

इस प्रकार जैन दर्शन में जीवात्मा के गुण, उसका कर्म स्वातन्त्र्य, उसका चरम लक्ष्य, चरम लक्ष्य की प्राप्ति का साधन- सुकर्म व कर्मानुसार पुर्नजन्म की वैदिक मान्यता को ही स्थान दिया गया है। जैन दर्शन, वैदिक मत से पृथक् दृष्टिगोचर नहीं होता।

बाइबिल में आवागमन के बहुत से प्रमाण यही बताते हैं कि ईसा मत में पुर्नजन्म की वैदिक मान्यता को ज्यों का त्यों स्थान दिया गया है। बाइबिल के भजन-संहिता नामक अध्याय में लिखा है- जो तू उन्हें देता है, वे

---

१९. धर्म दर्शन-मनन और मूल्यांकन भाग २, देवेन्द्र मुनि शास्त्री पृं.२३८
२०. प्रवचन सार-९
२१. धर्म दर्शन-मनन और मूल्यांकन भाग २, देवेन्द्र मुनि शास्त्री पृं.२३७
२२. स्याद्वादमंजरी-१७
२३. तदेव पृं. २३८ पर स्याद्वादमंजरी-१७ से उद्धत
२४. जैनदर्शन-सम्यक् ज्ञा, दर्शन के प्रेक्ष्य में रत्नत्रय के प्राक्कथन से उद्धत। जैन साध्वी सुभाषा
२५. जैनदर्शन-रत्न साध्वी सुभाषा की पुस्तक में शुभाशंसा प्रो. धर्म चन्द जैन पृं.१
२६. दशवैकालिक सूत्र-८/४०
२७. उत्तराध्ययन सूत्र ३/४०

चुन लेते हैं। तू मुट्ठी खोलता है तो वे उत्तम पदार्थों से तृप्त होते हैं। तू मुख फेर लेता है तो वे घबरा जाते हैं। तू उसकी सांस ले-लेता है तो उनके प्राण छूट जाते हैं और वे फिर मिट्टी में मिल जाते हैं। तू अपनी ओर से सांस भेजता है और वे पुनः उत्पन्न हो जाते हैं। और तू पृथिवी को पुनः नया कर देता है।[२९]

प० लक्ष्मण जी[३०] ने बाइबिल में पुर्नजन्म को सिद्ध करने वाली पं० लेखराम जी की एक प्रबल युक्ति दी है। जिसमें पं० लेखराम लिखते हैं कि- ईसा मसीह के जन्म से पूर्व जो नबी हुए वे सब एक ही आत्मा के अलग-अलग जन्म थे। और ईसा मसीह का स्वयं भी उसी नबी आत्मा के रूप में जन्म था।

१. इस नबी आत्मा का पहला जन्म ईसा से ३३१७ वर्ष पूर्व **'हनूक'** नाम से था।

२. इस नबी आत्मा का दूसरा जन्म ईसा से ९१० वर्ष पूर्व **'एलिया'** नाम से था।

३. इस नबी आत्मा का तीसरा जन्म ईसा से ८९६ वर्ष पूर्व **'मत्ती'** नाम से था।

४. इस नबी आत्मा का चौथा जन्म ईसा से ३१७ वर्ष पूर्व **'युहन्ना'** नाम से था।

बाइबिल के दानिय्येल अध्याय में राजा नबूकदनेस्सर को आए स्वप्न की व्याख्या करते हुए संत दानिय्येल ने कहा कि तू मनुष्यों के बीच से निकाला जाएगा और मैदान के पशुओं के संग रहेगा, तू बैलों की नाई (तरह) घास चरेगा और आकाश की ओस से भीगा करेगा और सात युग तुझ पर बीतेंगे, जब तक कि तू न जान ले कि मनुष्यों के राज्य में परम प्रधान ही प्रभुता करता है और जिसे चाहे उसे देता है।[३१] इस कारण हे राजा! मेरी यह सम्मति स्वीकार कर कि यदि तू पाप छोड़कर धर्म करने लगे और अधर्म छोड़कर दीन-हीनों पर दया करने लगे, तो सम्भव है कि ऐसा करने से तेरा चैन बना रहे।[३२] फिर बारह महीने बीतने पर ऐसा ही हो गया।[३३] यह कथा अधर्म के कारण मनुष्य से इतर नीच योनियों मे आत्मा के जन्म लेने की बाइबिल की मान्यता को स्पष्ट करती है। इस प्रकार पुनर्जन्म का वैदिक मत का सिद्धान्त बाइबिल को भी मान्य है।

इस्लाम की धर्म पुस्तक कुरआन में कहीं भी आवागमन के सिद्धान्त के विरुद्ध कोई स्पष्ट विचार नहीं मिलता, अपितु ऐसी अनेक आयतें हैं जो पुर्नजन्म को सिद्ध करती हैं। उन्हीं के आधार पर पुनर्जन्म के सम्बन्ध में इस्लाम मत की दो विचारधाराओं ने जन्म ले लिया है। एक इसके पक्ष में तो दूसरा विरोध में है।[३४] इनके जनाहिय, हदीसय, मअम्रिय, किशान्या, हाशमी, कामिल, सुफी, गाली, ईस्माईलिय आदि सम्प्रदाय इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। पुनर्जन्म का वैदिक सिद्धान्त स्वीकार करने वाली कुरआन की कुछ आयतें निम्न हैं।

अल्लाह ही तुम्हें जीवन दिया है, वहीं तुम्हें मृत्यु देगा। फिर वही तुम्हें जीवित करेगा। सचमुच आदमी नां समझ है।[३५]

अल्लाह बीज में से और गुठली में से अखुंआ फोड़ निकालता है। वह मृत से जीवित और जीवित से मृत

---

२९. बाइबिल भजन संहिता- १०४/२०-३०

३०. मत मतान्तरों का मूल स्रोत- पं. लक्ष्मण जी आर्योपदेशक पृ.३६-३०

३१. बाइबिल दानिय्येपल- ४/२५

३२. बाइबिल दानिय्येपल- ४/२७

३३. बाइबिल दानिय्येपल- ४/२९-३३

३४. गीता और कुरान सुन्दर लाल पृ.३३ व वैदिक धर्म का स्वरूप प्रा. रामविचार पृ. ११९

३५. कुरआन- २२/६६

करता है। यह अल्लाह ही के काम हैं। फिर क्यों तुम उससे फिरे हुए हो।[३६] तुम अल्लाह से कैसे इन्कार क सकते हो? तुम मर चुके थे और उसने तुम्हें जीवित किया, वह तुम्हें फिर मृत करेगा। और अन्त में तुम उसी वे पास जाओगे।[३७] हमने तुममें मृत्यु स्थापित की और हमारे लिए यह सम्भव नहीं कि तुम्हारी तरह अन्यों को जन दें और तुमको फिर से परिस्थिति में जन्म दें सके जिसका पता नहीं।[३८] और हम इस बात में विवश नहीं कि बदल दें तुम्हें तुम्हारे और उत्पन्न करें तुम्हें दोबारा उस आकार मे प्रकार में जिसे तुम इस समय नहीं जानते और पहल जन्म तो तुम्हें जान लिया, फिर उससे शिक्षा क्यों नहीं लेते हो।[३९] इसमें भी सन्देह नहीं कि इस्लामिक विद्वान् इस पुनर्जन्म के सिद्धान्त से इन्कार करते हैं, परन्तु कुरआन में दी गई उपर्युक्त आयतों से प्रकट होता है कि वेदमत क यह सत्य धार्मिक सिद्धान्त त्यागा नहीं जा सकता। सिक्ख मत के सर्वमान्य, प्रथम गुरु- गुरुनानक देव जी कं रचनावली के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उन्होंने भी वैदिक पुनर्जन्म सिद्धान्त को जीव की उन्नति के लिए सत पाया। उनका कहना था कि मनुष्य के लिए अतीत जीवन उसके वर्तमान का ही अंश है और वर्तमान जीवन उसवे भविष्य का आधार है। जीवन का यह प्रवाह आदि काल से चला आ रहा है।

आवागउणु रचाइ उपाई मेदनी।

परमात्मा ने आवागमन की रचना करके ही सृष्टि की रचना की।[४०]

आसा राग की वार में विषय का स्पष्ट उल्लेख है कि कर्त्ता ने इस जगत् की रचना की है और उसी ने यह पुर्नजन्म का चक्र चलाया है।[४१]

जिनि करतै कारण कीआ लिखित आवण जाणु॥
जंमणु मरण हुकमु है भौ आवै जाइ।

इस प्रकार यह जन्म और मृत्यु उसी के आदेशानुसार है।[४२] जीव को बार-बार जन्म क्यों लेना पड़ता है इसका कारण गुरुनानक देव ने अहं भाव माना है। इसी अहं भाव के कारण पुनर्जन्म के चक्र में फँसना पड़ता है इसके अतिरिक्त मन सुख प्रवृत्ति के कारण असत्य को न मानना, प्रभु नाम का विस्मरण, अज्ञान व मोह के कारण भी पुर्नजन्म के पास में बँधना पड़ता है।[४३] यह विवेचना सिद्ध करती है कि ज़ीवात्मा के पुनः शरीर धारण करने का पुनर्जन्म सिद्धान्त सभी मताम्तान्तरों को वेदों के अनुरूप मान्य है।

---

३६. कुरआन- ६/९६
३७. कुरआन- २/२८
३८. कुरआन- ५६/२८
३९. कुरआन- ५६/७२
४०. मलार म०। गुरुनानक रचनावली-७२२
४१. आसा म० बार गुरुनानक रचनावली-२८६
४२. आसा म० बार गुरुनानक रचनावली-३०४
४३. गुरुनानक रचनावली- १७६, २०४, १००, १२०, ५८८, २११ सभी पते-गुरुनानक वाणी में वैदिक धर्मदर्शन डॉ० गुरुप्रीत सिंह पृ. ९८, ११०, १११ उद्धत।

रुकुल-शोध-भारती सितम्बर २००९ अङ्क १२ (पृ०१३०-१३६)

ऋषि दयानन्द की धर्मविषयक विश्व-दृष्टि

डॉ. सोहनपाल सिंह आर्य[1]

वर्तमान वैश्वीकरण के दौर में जहाँ पूंजीवादी विकास निरन्तर वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रगति के फलस्वरूप यह विश्व क्षेत्र, भाषा और संस्कृतियों में बंटा हुआ बड़ी त्वरित गति से एकीकरण की दिशा में अग्रसर हुआ है।[2] वहाँ इसके साथ अलग धार्मिक आस्थाओं में आपसी मतभेद के चलते कटुता एवं टकराव की दिशा में भी यह विश्व उसी तेज गती से आगे बढ़ चुका है।[3] जिसकी अभिव्यक्ति आये दिन आस्थागत विवादों, हिंसात्मक, संघर्षों और टकरावों के रूप में सामने आ रही है। मजहब आधारित आंतकवाद दुनिया की सर्वविदित वास्तविकता बन चुका है। नया दौर इसी कारण संवेदनशील मानवतावादी चिंतकों का एक बड़ा वर्ग वर्तमान दुरावस्था के लिये धार्मिक आस्था को इसके लिए उत्तरदायी मान रहा है और इसी आधार पर वह धार्मिक आस्था के औचित्य पर प्रश्नचिह्न भी खड़ा कर रहा है, क्योंकि विभिन्न धार्मिक समुदायों में परस्पर द्वेष कटुता और संघर्ष के तत्त्व पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। इस कारण धार्मिक आस्था के ऊपर प्रबुद्ध वर्ग की उपयुक्त आपत्ति स्वाभाविक प्रतीत होती है, परन्तु इसके अलावा धार्मिक आस्था का एक अन्य महत्त्वपूर्ण पहलू भी सकारात्मक भी है, जो उपर्युक्त नकारात्मक पहलू से अधिक प्रभावशाली है, अर्थपूर्ण तथा उपयोगी है। धर्म के इसी सकारात्मक पहलू के कारण विभिन्न धार्मिक समुदाय आतरिक अनुशासन तथा एकता के सूत्र में बंधे रहते हैं। इसके अलावा वर्तमान भागमभाग और प्रतिस्पर्धा की दौड़ में धार्मिक आस्था का उपयोग मानसिक शान्ति एवं संतोष पाने के लिये किया जा रहा है। जो शान्ति, संयम और संतोष का वर्तमान युग में सबसे बड़ा सम्बल और साधन भी सिद्ध हुआ है।[4] क्या यह स्वयं में कम उल्लेखनीय और आश्चर्यजनक वस्तुथिति है ?

प्रस्तुत सन्दर्भ में जहाँ तक ऋषि दयानन्द की धर्म सम्बन्धी विश्व दृष्टि का प्रश्न है, - जो प्रस्तुत शोध आलेख का मुख्य विचारणीय विषय भी है। इस सम्बन्ध में शोधकर्ता का यह कहना है कि ऋषि दयानन्द की धर्म विषयक दृष्टि मूलतः वेदों पर आधारित है।[5] किन्तु वेदों से भिन्न अन्य वैदिक साहित्य को भी वेदानुकूल होने पर वह स्वीकार करते हैं। जिसका अभिप्राय यह है कि चारों वेद मूलतः ईश्वरीय ज्ञान हैं, - सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, अग्नि, वायु आदि प्राकृतिक पदार्थों की भाँति ही परमेश्वर ने एक-एक वेद का प्रकाश एक-एक ऋषि के अन्तःकरण में सृष्टि के आदि में किया है[6] ताकि मनुष्यमात्र वैदिक ज्ञान का यथायोग्य उपयोग करते हुए सांसारिक भोग एवं मोक्ष

---

१. डॉ. सोहनपाल सिंह आर्य, रीडर दर्शनशास्त्र विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.

२. संयुक्त राष्ट्र संघ यूरोपीय संघ, आशियान, दक्षेस आदि।

३. दुनिया में हो रही मुठभेड़ों की राजनीति संसार के धार्मिक तथा सांस्कृतिक विभाजनों के परिणाम के रूप में देखी जा रही है आमत्य सेन, हिंसा और अस्मिता का संघर्ष राजपाल पृ०८१

४. इसी आधार पर आइन्स्टीन ने विज्ञान एवं धर्म में समन्वय स्थापित किये जाने पर बल दिया था। द्रष्टव्य- डॉ. सोहनपाल सिंह आर्य, कार्लमार्क्स और ऋषि दयानन्द समाज दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन पृ. ३०३

५. स्वामी दयानन्द : सत्यार्थ प्रकाश, सार्व.आ.प्रा. सभा, २००२, पृ. ५६६ ।

६. उपर्युक्त, पृ. १९२-१९३ ।

को प्राप्त कर सके। ऋषि की दृष्टि में जग रचना के मूल में रचनाकार परमेश्वर का यही मुख्य प्रयोजन भी है।[७]

ऋषि दयानन्द का वेद सम्बन्धी यह दृष्टिकोण न केवल वेदों के अन्त:साक्ष्यों पर आधारित है, अपितु इसके साथ-साथ ब्राह्मण, उपनिषद्, वैदिक दर्शन तथा मन्वादि स्मृतिकारों के मतों पर भी आधारित है,[८] किन्तु इसके साथ-साथ ऋषि दयानन्द ने अपने वेद सम्बन्धी सिद्धान्तों को प्रभावशाली तर्कों से भी स्थापित किया है। धार्मिक आस्थाओं के साथ-साथ तर्क विवेचना बुद्धि की महत्ता को स्वीकार करके ऋषि दयानन्द ने श्रद्धा एवं मेधा में अद्भुत सामञ्जस्य स्थापित किया है।[१०] ऋषि दयानन्द की धर्मविषयक विश्व दृष्टि की यह अनूठी विशेषताएं हैं- जो उन्हें अन्य धर्माचायों से विशिष्ट स्थान प्रदान करती हैं। उनकी धर्म विषयक दृष्टि वेदों पर आधारित होने के कारण एक प्राचीनतम भी है। इस विश्व दृष्टि के आधार पर भारतवर्ष न केवल सुदूर अतीत में विश्वगुरु के महनीय पद को पा चुका है, अपितु उत्थान-पतन के कालक्रम को पार करता हुआ यह महान् देश पुनः उस प्रतिष्ठित पद को पा सकता है।

इस विश्व दृष्टि की निरन्तर गतिशीलता इसके सनातन बोध में निहित है। वह सनातन सत्ता है, परमात्मा? जो अखिल ब्रह्माण्ड में अन्तः बाह्य रूप में ओत-प्रोत है। यजुर्वेद का यह मन्त्र कहता है कि जो सम्पूर्ण प्राणियों को परमात्मा में ही निरन्तर देखता है और सब प्राणियों में परमात्मा को देखता है, वह किसी से कभी घृणा नहीं करता है।[११] यही सनातन बोध वेदों से निःसृत होकर अष्टादश पुराणों तक पहुंचते पहुंचते किस अद्भुत कल्पना, योजना, रस, अलंकारों से युक्त वरहावतार, कच्छपावतार, नृसिंहावतार आदि के रूप में अभिव्यक्त होता है, यह साहित्य रसिकों के अध्ययन का रुचिकर विषय हो सकता है। परन्तु दार्शनिक दृष्टि से देखने की बात यह है कि वराह, कच्छप जैसे सृष्टि के उपेक्षित प्राणियों में भी उसी भगवद् सत्ता के दर्शन यह समत्व की मूल दृष्टि क्या मूलतः वैदिक नहीं है? आध्यात्मिक बोध एवं सर्वांगीण सामाजिक क्षमता ये दोनों वैदिक विश्व दृष्टि की महती विशेषताएं हैं। इसीलिए दयानन्द सरस्वती आध्यात्मिक बोध के जिस तल स्पर्शी धरातल पर खड़े होकर समग्र विश्व पर दृष्टिपात करते हैं तो उन्हें न जाति ऊँच-नीच और लैंगिक भेद-भाव अपनी ओर आकर्षित कर पाते और न ही साम्प्रदायिक स्वार्थ के आकर्षण ही उन्हें अपने पाले में खींच पाते हैं।[१२] उन्होंने यह भी कहा कि -'यदि मैं पक्षपात करता तो आर्यावर्त में प्रचालित मतों में से किसी एक मत का आग्रही होता, किन्तु जो-जो आर्यावर्त व अन्य देशों में अधर्मयुक्त चाल-चलन है, - उसका स्वीकार और जो धर्मयुक्त बातें हैं, उनका त्याग नहीं करता, न करना चाहता हूँ ...कयोंकि ऐसा करना मनुष्य-धर्म से से बहिः है।[१३]

---

७. डा. सोहनपाल सिंह आर्य, कार्ल मार्क्स और ऋषि दयानन्द, अम्बिका पुस्तक सदन, २००२ पृ. १२२ ।
८. स्वामी दयानन्द, ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, १९८७, वेदोत्पत्ति विषय तथा वेदनित्यत्व विषय पृ. ७-२९ ।
९. स्वामी दयानन्द, सत्यार्थ प्रकाश, उप० पृ १९४ ।
१०. स्वामी दयानन्द, उपदेश मञ्जरी, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, १९९८, पृ. ९१
११. यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानु पश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥ यजु. ४०/६ ।
१२. प्रस्तुत सन्दर्भ में समय-समय पर विभिन्न धर्माचायों एवं उच्चपदस्थ लोगों द्वारा ऋषि दयानन्द को दिये जाने वाले प्रलोभन यहाँ विचारणीय हैं।
१३. स्वामी दयानन्द, सत्यार्थ प्रकाश, उप. पृ. ५६४ ।

यही सत्य और न्याय पर आधारित पक्षपातमुक्त एवं सर्वकल्याणकारी धार्मिक चिन्तन ऋषि के प्रत्येक ार्य में दृष्टिगोचर होता है। इसकी पुष्टि में चाहे उनके द्वारा लिखित विस्तृत एवं गम्भीर साहित्य उल्लेख करें ाथवा उनके द्वारा स्थापित आर्य समाज,[१४] परोपकारिणी सभा[१५] तथा गौकृष्यादि रक्षिणी सभा[१६] के मार्ग दर्शक ाद्धान्तों का अवलोकन करे, उनके जीवन सम्बन्धी विवरणों के अध्ययन से हर किसी को यह कौतूहल तथा ाश्चर्य हो सकता है-कि कैसे अनेक बार विष दाताओं को उन्होंने बन्धनमुक्त कराया? और प्राणरक्षा में उनकी ाहायता की। छोटे-मोटे हमले व अपमान झेलना तो मानो उनके दैनन्दिनी जीवन का अंग बन चुके थे। विचार ावं व्यवहार की यह अद्भुत एकता उस ठोस आध्यात्मिक धरातल कि उपज मात्र थी जिस पर ऋषि दयानन्द न ावल जीवन्त रूप में विराजमान थे। अपितु मानव मात्र को उस ओर जाने के लिये अहर्निश प्रेरित एवं दिशा ार्देशित भी करते रहे। ऋषि की आध्यात्मिक शक्ति एवं दिव्य आभा से गुरुदत्त इतने चमत्कृत एवं अभिभूत हो ाठे कि वर्षों से पल्लवित उनका अनीश्वरवाद ऋषि के अन्तिम दर्शन मात्र से सर्वदा के लिए तिरोहित हो गया।[१७] ाृषि की दृष्टि कितनी व्यापक थी और उनकी चेतना का फलक कितना विस्तारित था? इस के लिए कुछ उनके ाथन यहाँ उल्लेखनीय है। यथा- मैं अपना मन्तव्य उसी को जानता हूँ कि जो तीन काल में सबको एक सा मानने ाोग्य है।[१८] किन्तु ऐसा मन्तव्य जो देश काल निरपेक्ष हो, उसे स्पष्ट करते हुए ऋषि ने आगे लिखा है कि 'कि जो ाक्षपातरहित, न्यायाचरण, सत्यभाषणादि युक्त ईश्वराज्ञा, वेदों से अविरुद्ध है, उस को **'धर्म'** और जो पक्षपात ाहित अन्यायाचरण मिथ्याभाषणादि ईश्वराज्ञाभङ्ग वेद विरुद्ध है, उसको **'अधर्म'** मानता हूँ।[१९]

ऋषि के इन कथनों से विदित होता है कि धर्म विषयक उनकी दृष्टि किसी देश विदेश अथवा काल ाशेष तक सीमित नहीं थी, अपितु सार्वजनिक सार्वभौम तथा सार्वकालिक महत्त्व पर आधारित थी। जिसके लिए ान्होंने स्वतन्त्र सिद्धान्त, साम्राज्य सार्वधनिक धर्म और सनातन नित्य धर्म जैसे व्यापक, सर्वग्राही शब्दों का प्रयोग ाकया है।[२०]

उनकी दृष्टि में ऐसे सनातन नित्य धर्म का कोई भी सच्चा जिज्ञासु और न्याय प्रिय विरोध नहीं करता। ाृषि का मानना है कि यद्यपि मनुष्य की आत्मा सत्य का जानने वाला है, तथापि अपने प्रयोजन की सिद्धि, हठ, ाराग्रह और अविद्या आदि दोषों के कारण सत्य को छुड़कर अत्य की ओर झुक जाता है।[२१] किन्तु ऐसा करना ानुष्य धर्म से बाध्य है और इसके साथ-साथ ईश्वर की आज्ञा के भी विरुद्ध है जो कि वेदों में वर्णित है। इसके ातिरिक्त- ईश्वर की आज्ञा का ज्ञान मनुष्य को फिर भी होता है। जब वह किसी कार्य की ओर प्रवृत्त होता है,

---

४. द्रष्टव्य-आर्य समाज के नियम क्रम सं. ४-१० तक विशेष रूप से।
५. डॉ० सोहन पाल सिंह आर्य, उप पृ. २३० ।
६. उप पृ. २२९-२३० ।
७. भारतीय, डॉ. भवानी लाल, नवजागरण के पुरोधा-दयानन्द सरस्वती, प्र.सं.वि.सं. २०४०, वैदिक पुस्तकालय परोपकारिणी सभा-अजमेर, पृ. ५४४ ।
८. स्वामी दयानन्द, सत्यार्थ प्रकाश, उप० ५६४ ।
९. उपर्युक्त पृ. ५६६ ।
०. उपर्युक्त पृ. ५६४ ।
१. उपर्युक्त पृ. १० ।

यदि कोई कार्य सत्य, न्याय, पवित्रता और परोपकार आदि ईश्वरीय गुणों से युक्त है तो उसकी अन्तरात्मा में आनन्द उत्साह आदि उत्पन्न होता है। किन्तु इसके विपरीत-जब वह असत्य, अन्याय और परहानि जैसे निन्दित कर्मों में लगता है; तब उसे भय, लज्जा, अन्याय और शंका आदि होती है। दयानन्द के मतानुसार-'ऐसी प्रेरणा तथा चेतावनी प्रत्येक मनुष्य को ईश्वर द्वारा मिलती है, अन्तरात्मा की पुकार ऋषि दयानन्द ईश्वरीय प्रेरणा। आदेश के रूप में देखते।[२२]

सुकरात कॉट जैसे पाश्चात्त्य मनीषियों ने भी अन्तरात्मा की आवाज को नैतिक प्रमाण के रूप में स्वीकार किया है। किन्तु ऋषि दयानन्द की धर्म विषयक विश्व दृष्टि को सुसंगत रूप में प्रस्तुत करने के लिए उन कसौटियों का यहाँ उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है, - जिनके आधार पर धर्म तत्त्व का समुचित परीक्षण किया जा सके। इन कसौटियों में एक प्रमुख कसौटी का उल्लेख प्रकारान्तर से ऊपर भी किया जा चुका है। जिसके अनुसार ऋषि दयानन्द की दृष्टि में धर्म वह है- जिसे किसी देश या काल की सीमा में न बांधा जा सके। स्पष्टतः ऐसा धर्म सार्वभौम सनातन स्वरूप पर आधारित होना आवश्यक है।[२३]

इसके अतिरिक्त धर्म विषय एक अन्य कसौटी है-कणाद मुनि द्वारा स्वीकृत धर्म की परिभाषा; जिसे ऋषि दयानन्द ने भी स्वीकार किया है। इसके अनुसार धर्म वह है- जो मनुष्य के लौकिक एवं पारलौकिक कल्याण की सिद्धि का समाधान हो।[२४] इस कसौटी को स्वीकार कर लेने के पश्चात् वे सभी कार्य सांसारिक कार्य धर्म विरुद्ध हो जाते हैं, जो लौकिक सुख एवं पारलौकिक मुक्ति में से किसी एक पर बल देते हैं। इस प्रकार के एकांगी लक्ष्य मनुष्य के सर्वांगीण विकास के मार्ग में बाधक बनते हैं। उदाहरणतः प्राचीन भारतीय चार्वाक तथा आधुनिक पाश्चात्य भोगवादी ये दोनों मनुष्य के लौकिकतावाद की चरम अभिव्यक्तियां हैं। किन्तु दूसरी ओर ब्रह्म सत्य, जगत् मिथ्या, संन्यासवाद और वैराग्य केन्द्रित ज्ञानमार्ग मनुष्य के पारलौकिक कल्याण और मुक्ति को ही मानव जीवन का एक मात्र ध्येय समझ बैठे हैं। ऋषि दयानन्द के मतानुसार ये दोनों प्रवृत्तियाँ एकांगी हैं। इसके प्रतिपादक आचार्य धर्म के वास्तविक मर्म को नहीं समझ पाये। इसलिए देर-सवेर इनसे ग्रसित व्यक्ति भटकाववाद का शिकार हो जाता है। इससे मनुष्य को बचाने का एक ही मार्ग है- धर्म विषयक समन्वित विश्व दृष्टि को स्वीकार करना। अभ्युदय एवं निःश्रेयस्-जिसके दो प्रमुख पक्ष हैं। अभ्युदय के अन्तर्गत अर्थ एवं काम-ये दो लौकिक पुरुषार्थ आते हैं। ऋषि दयानन्द के मतानुसार अर्थ वह है, जो धर्म से ही प्राप्त किया जाये, अन्यथा फिर वह धर्मविरुद्ध होने के कारण अनर्थ संज्ञक है।[२५] और काम वह है जो धर्म और अर्थ से सिद्ध किया जाये।[२६] इस दृष्टि से धर्म लौकिक पुरुषार्थ की संसिद्धि का साधन धर्म का दूसरा विचारणीय पक्ष निःश्रेयस् है। जिसे मुक्ति मोक्ष, निर्वाण तथा परम पुरुषार्थ आदि के नाम से भी जाना जाता है। ऋषि दयानन्द मुक्ति के साधनों के रूप में योगाभ्यास, धर्मानुष्ठान, विद्या, सत्संग, सुविचार एवं पुरुषार्थ आदि को स्वीकार किया है।[२७] इससे यह सिद्ध होता

---

२२. दयानन्द ग्रन्थ माला, प्र. भाग, वि. २०३८, सत्यार्थ प्रकाश, पृ० १२७ ।
२३. उपर्युक्त टिप्पणी सं. १९ ।
२४. स्वामी दयानन्द ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, उपर्युक्त पृ० ८४ ।
२५. स्वामी दयानन्द, सत्यार्थ प्रकाश, उप. पृ. ५६८ ।
२६. उपर्युक्त पृ. ५६७ ।
२७. उपर्युक्त पृ. ५६७ ।

है कि ऋषि दयानन्द की दृष्टि में मुक्ति के लिए धर्मानुष्ठान एक महत्त्वपूर्ण साधन है। आचार्य शंकर और उनके अनुयायी दार्शनिक मुक्ति मार्ग में बाधा समझते हैं। अतः उनके अनुयायियों के लिए ऋषि की धर्म विषयक विश्व दृष्टि को समझना आवश्यक है। उनके अनुसार धर्म विश्व और समाज की मूल धारक शक्ति है। विश्व धारक सत्ता के रूप में ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी सर्वशक्तिमान् तथा निराकार आदि गुणों से युक्त है और जगत् की रचना एवं व्यवस्था आदि का नियमन करता है। उसी नियमनकारी शक्ति एवं विधान को वेदों में ऋषि के नाम से प्रतिपादित किया गया है,[२८] किन्तु सृष्टि का मूल ऋत तत्त्व मानव समाज में जब सत्य, न्याय, प्रगति परोपकार, अंहिसा आदि नैतिक धार्मिक मूल्यों के रूप में प्रतिष्ठित होता है, तब उसे वैदिक चिन्तन परम्परा में धर्म के रूप में जाना जाता है।[२९] ऋषि दयानन्द का कथन प्रस्तुत सन्दर्भ में उल्लेखनीय है-सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य असत्य को विचार करके करने चाहिए।[३०] इसी के साथ-साथ ऋषि का यह कथन भी द्रष्टव्य है-परमेश्वर की आज्ञा धर्म, अवज्ञा- यह अधर्म, विधि- यह धर्म, निषेध- यह अधर्म, न्याय- यह धर्म अन्याय- यह अधर्म, सत्य- यह धर्म, असत्य- यह धर्म निष्पक्षपात- यह धर्म और पक्षपात- यह अधर्म।[३१] यदि सत्यमूलक धर्म है। विचारणीय प्रश्न यह है कि सत्य क्या है ? इस के उत्तर में ऋषि दयानन्द **प्रमाणैरर्थपरीक्षणम् न्यायः**-इस सूत्र में सत्य/धर्म के निर्धारण की एक महत्त्वपूर्ण कसौटी की ओर संकेत कर रहे हैं। किन्तु सत्यार्थ प्रकाश में उन्होंने पञ्च परीक्षा के रूप में इसी सत्यधर्म की निर्धारक कसौटी को विस्तारित एवं व्यवस्थित किया है। इस कसौटी के अनुसार परीक्षा पाँच प्रकार की होती है। किसी विचार मत के सत्य असत्य का निर्धारण इन पाँच परीक्षाओं पर आधारित है[३२]-

१.- जो ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव तथा वेद विद्या के अनुकूल हो वह सत्य/धर्म और प्रतिकूल हो वह असत्य/अधर्म है !

२.- प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, ऐतिह्य, सम्भव और अभाव-इन आठ प्रमाणों से जो प्रमाणित हो वह सत्य और इनके विरुद्ध अप्रमाणित वह असत्य।

३.- तीसरी कसौटी सृष्टिक्रम है- जो-जो विचार, मत या धारणा सृष्टि क्रम के अनुकूल हो वह सत्य और प्रतिकूल हो वह असत्य !

४.- सत्य असत्य के निर्धारक की चौथी कसौटी है- आप्त, ऋषि-मुनियों का आचरण एवं मर्यादा इनके अनुरूप सत्य और इनसे विरुद्ध असत्य।

५.- पाँचवी परीक्षा है अपनी आत्मा की पवित्रता एवं विद्या जो इनके अनुकूल हो वह सत्य/धर्म और इनके विरुद्ध हो असत्य या अधर्म।

धर्म-अधर्म की निर्धारक कसौटियों के प्रसंग में ऋषि दयानन्द द्वारा प्रस्तुत धर्म के ग्यारह लक्षण भी यहाँ उल्लेखनीय हैं। ऋषि दयानन्द की दृष्टि में मनुष्य के जो-जो कार्य इन लक्षणों के जो अनुरूप हो वह धर्म और जो प्रतिकूल हो वह अधर्म माना जाएगा। धर्म-अधर्म के निर्धारण के लिऐ यह एक महत्त्वपूर्ण कसौटी है। जिसे ऋषि

---

२८. अथर्व. काण्ड १२/अनु. ५/मं. ८

२९. अथर्व का. १२/अनु ५। म १/२ पर स्वामी दयानन्द का भाष्य ऋग्वेदादि पृ० ७५

३०. आर्य समाज का ५ वां नियम ।

३१. स्वामी दयानन्द उपदेशमञ्जरी, उप पृ. ९ ।

३२. स्वामी दयानन्द, सत्यार्थ प्रकाश, उप पृ. ५८ ।

दयानन्द के बाद विशेषतः महात्मा गांधी ने अपने निजी तथा राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन के दौरान सफलता पूर्वक प्रयोग भी किया।

ऋषि दयानन्द ने धर्म सम्बन्धी अन्य दस लक्षण महर्षि मनु द्वारा प्रतिपादित भी स्वीकार किये हैं। मनु का वचन है -**धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्या सत्यं क्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥**[३३] अर्थात् धैर्य, क्षमा, मन का निग्रह, अस्तेय, शारीरिक और मानसिक शुद्धि, इन्द्रिय निग्रह, बुद्धि, विद्या सत्य और अक्रोध ये धर्म के दस लक्षण हैं। ऋषि की दृष्टि में धर्म का सच्चा ज्ञान उन्हीं को प्राप्त होता है। जो अर्थ एवं काम के प्रति आसक्त नहीं होते और धर्म के जानने हेतु वेद परम प्रमाण है।[३४]

इसी लिए ऋषिवर ने वेद के पढ़ने-पढ़ाने और सुनने-सुनाने को आर्यों का परम धर्म घोषित किया है[३५] यही परम धर्म सदाचारण के रूप में सामने आना आवश्यक है। अन्यथा ऐसा 'पढ़ना-पढ़ाना, व सुनना-सुनाना किस काम का ?- जो व्यक्ति के आचरण में गुणात्मक परिवर्तन न कर सके।

आइन्स्टीन धर्म में सांमजस्य स्थापित किये जाने के लिए प्रयास करते रहे, उनकी दृष्टि में धर्म आस्था का प्रतिनिधित्व करता है, जबकि विज्ञान बुद्धि का दोनों का सम्मिलन आइन्स्टीन की दृष्टि में मानव जाति के उज्ज्वल भविष्य का तात्विक आधार होगा।[३६]

यही तात्विक आधार ऋषि दयानन्द के धार्मिक बुद्धिवाद की प्रमुख विशेषता है। इससे ऋषि की धर्म विषयक विश्व-दृष्टि की प्रभावी पहुँच का पता चलता है। इस विश्व दृष्टि का फलित यह है कि इसके आधार पर एक ओर आध्यात्मिक अनुभूति एवं दिव्य सन्देशों का संरक्षण सम्भव है। किन्तु दूसरी ओर धर्म के नाम पर नाना प्रचलित तर्क विरुद्ध, प्रमाण विरुद्ध, सृष्टि क्रम और ऐतिहासिक क्रम के विपरीत अन्धविश्वासों, पाखण्डों तथा कुप्रथाओं पर भी प्रभावशाली रोक लगा पाना सम्भव है, जैसा कि स्वयं ऋषि दयानन्द के धर्म सम्बन्धी विचारों एवं कार्यों से विदित होता है।

आधुनिक युग के कुछ प्रमुख विचारक--जिसमें स्वामी विवेकानन्द और महात्मा गांधी प्रमुख हैं। वे आस्थागत विवादों को हल करने के लिये सर्व धर्म समभाव के सिद्धान्त का समर्थन करते हैं।[३७] उनकी दृष्टि में सभी धार्मिक पन्थ ईश्वर की ओर ले जाने वाले मार्ग हैं। इसलिए किसी भी मतपन्थ को हीन या श्रेष्ठ न समझा जाये अपितु सबके प्रति समभाव विकसित किया जाये। जो जो शिक्षायें सभी में प्रेरक, कल्याण एवं अध्यात्म पोषी हैं, - उन सभी का सकंलन रक्षण किया जाये तथा परस्पर समन्वय स्थापित किया जाये। ऋषि दयानन्द ने भी इस मूलक दृष्टिकोण को यह कहते हुए स्वीकार किया है कि जो-जो बातें सब के अनुकूल सब में सत्य हैं उनका ग्रहण और जो एक दूसरे से विरुद्ध बातें है उनका त्याग कर परस्पर प्रीति से वर्तें वर्त्तावें तो जगत् का हित होवे।[३८]

---

३३. मनु० ६/९२
३४. सत्यार्थ प्रकाश- चतुर्थ सं० २००२, सा. आ. प्रति. सभा, नई दिल्ली, पृ. २४७ ।
३५. आर्य समाज का चतुर्थ नियम ।
३६. स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में सभी धर्म सत्य है हम केवल सब धर्मों को सहन नहीं करते, वरन् उन्हें स्वीकार भी करते हैं।- पत्रावली भाग- २. पृ. ४ ।
३७. स्वामी दयानन्दः सत्यार्थ प्रकाश, उप. पृ. १० ।
३८. स्वामी दयानन्दः उप. पृ. ३६६ ।

ऋषि दयानन्द की धर्म विषेयक विश्व दृष्टि संसार व्यापिनी सर्व सर्वधारक क्षमता से युक्त है। क्योंकि उसका मूल स्रोत केवल सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् तथा कल्याणकारी, सृष्टि कर्ता पालक परमेश्वर है। अतः परमेश्वर द्वारा निःसृत धर्म सम्पूर्ण मानव जाति के लिए एक ही हो सकता है। इस रोचक प्रश्नोत्तर के जरिये ऋषि दयानन्द धर्म विषयक एकत्ववाद का प्रतिपादन करते हैं-प्रश्न आप सबका खण्डन करते आते हो, परन्तु अपने-अपने धर्म में सब अच्छे हैं। खण्डन किसी का न करना चाहिये। उत्तर- धर्म सबका एक होता है वा अनेक? जो कहो, अनेक होते हैं तो एक दूसरे के विरुद्ध होते हैं वा अविरुद्ध जो कहो कि विरुद्ध होते हैं तो एक के विना दूसरा धर्म नहीं हो सकता और जो कहो अविरुद्ध है तो पृथक्-पथृक् होना व्यर्थ है। इसलिए धर्म और अधर्म एक ही है अनेक नहीं।[३९] वह है ईश्वरीय गुण, कर्म तथा स्वभाव के अनुकूल आचरण करना। उनके प्रतिकूल आचरण अधर्म मूलक है। सम्प्रदाय या पंथ निरपेक्ष राजनीति वर्तमान दौर की एक प्रमुख वास्तविकता है। क्योंकि पंथ बाहुल्य देश में किसी पंथ विशेष को राजनीति में हस्तक्षेप की अनुमति नहीं दी जा सकती। हाँ सनातन धर्म/शाश्वत मानव मूल्यों को राष्ट्रोत्थान का आधार बनाया जाना आवश्यक है, जो राष्ट्र का सच्चा धारक आधार बन सके। इसी परिप्रेक्ष्य में महर्षि दयानन्द का यह विचार प्रांसगिक हो जाता है कि एक धर्म एक भाषा और एक लक्ष्य बनाये विना देश का पूर्ण हित एवं राष्ट्रोन्नति होना सम्भव नहीं है।

३९. उपर्युक्त. पृ. २६६ ।

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २००९ अङ्क १२ (पृ०१३७-१४०)

स्वामी दयानन्द के अनुसार मुक्ति के साधन

डॉ. भारत वेदालंकार[1]

महर्षि दयानन्द उपासना को (जो वेद एवं योगदर्शन-सम्मत है) मोक्ष का प्रधान साधन स्वीकार करते हैं। स्वामी जी मुक्ति के मार्ग (साधन) का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि- मुक्ति का जो मार्ग है, सो अणु अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म है। उस मार्ग से सब दुःखों के पार सुगमता से पहुँच जाते हैं, जैसे दृढ़ नौका से समुद्र को तर जाते हैं, तथा जो मुक्ति का मार्ग है वह प्राचीन है दूसरा कोई नहीं मुझको वह ईश्वर की कृपा से प्राप्त हुआ है। उसी मार्ग से विमुक्त मनुष्य सब दोष और दुःखों से छूटे हुए, विचारशील और ब्रह्मवित्, वेदविद्या और परमेश्वर के जानने वाले जीव, अपने सत्य पुरुषार्थ से सब दुःखों का उल्लंघन करके, सुखस्वरूप ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं।[2] उसी मोक्षपद में शुक्ल-श्वेत, शुद्ध घनश्याम, पीला श्वेत, हरा और लाल ये सब गुण वाले लोक-लोकान्तर ज्ञान से प्रकाशित होते हैं। यही मोक्ष का मार्ग परमेश्वर के साथ समागम के पीछे प्राप्त होता है। उसी मार्ग से ब्रह्म का जानने वाला, तथा शुद्धस्वरूप और पुण्य का करने वाला मनुष्य मोक्षसुख को प्राप्त होता है, अन्य प्रकार से नहीं।[3] जो परमेश्वर प्राण का प्राण, चक्षु का चक्षु, श्रोत्र का श्रोत्र, अन्न का अन्न और मन का मन है, उसको जो विद्वान् निश्चय करके जानते हैं, वे पुरातन और सब से श्रेष्ठ ब्रह्म को मन से प्राप्त होने के योग्य मोक्षसुख को प्राप्त होके आनन्द में रहते हैं। जिस सुख में किंचित् भी दुःख नहीं है।[4]

जो अनेक ब्रह्म अर्थात् दो, तीन, चार, दश, बीस जानता है, वा अनेक पदार्थों के संयोग से बना जानता है, वे बार-बार मृत्यु अर्थात् जन्म-मरण को प्राप्त होता है, क्योंकि वह ब्रह्म एक और चेतनमात्र स्वरूप ही है, तथा प्रमादरहित और व्यापक होके सब में स्थिर है, उसको मन से ही देखना होता है, क्योंकि ब्रह्म आकाश से भी सूक्ष्म है।[5] जो परमात्मा विक्षेपरहित, आकाश से परम सूक्ष्म अर्थात् जन्म-मरण रहित और महाध्रुव अर्थात् निश्चल है। ज्ञानी लोग उसी को जान के अपनी बुद्धि को विशाल करें और वह इसी से ब्राह्मण कहाता है।[6] याज्ञवल्क्य कहते हैं, हे गार्गि! जो परब्रह्म, नाश, स्थूल, सूक्ष्म, लघु, लाल, चिक्कन, छाया, अन्धकार, वायु, आकाश, सङ्ग, शब्द, स्पर्श, गन्ध, रस, नेत्र, करण, मन, तेज, प्राण, मुख, नाम, गोत्र, वृद्धावस्था, मरण, भय, आकार, विकास,

---

१ डॉ. भारत वेदालंकार, प्रवक्ता (धर्म, दर्शन एवं संस्कृति) श्रद्धानन्द वैदिक शोध-संस्थान, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार

२ अणुः पन्था वितरः पुराणो माथ्ठं स्पृष्टो (अनु) वितो मयैव। तेन धीरा अपियन्ति ब्रह्मविद उत्क्रम्य स्वर्गं लोकमितो विमुक्ताः॥ शत० १४.७.२.११

३ तस्मिञ्छुक्लमुत नीलमाहुः पिङ्गलं हरितं लोहितं च। एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तस्तेनैति ब्रह्मवित्तैजसः पुण्यकृच्च॥ शत० १४.७.२.१२

४ प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्यान्नं मनसो ये मनो विदुः। ते निचिक्युर्ब्रह्म पुराणमग्र्यं मनसैवाप्तव्यं नेह नानास्ति किं चन॥ शत० १४.७.२.२१

५ मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति। मनसैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुवम्॥ शत० १४.७.२.२२

६ विरजः पर आकाशात् अज आत्मा महाध्रुवः। तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः॥ शत० १४.७.२.२३

संकोच, पूर्व, अपर, भीतर, बाह्य अर्थात्, बाहर, इन सब दोष और गुणों से रहित मोक्षस्वरूप है, वह साकार पदार्थ के समान किसी को प्राप्त नहीं होता और न कोई उसको मूर्त्त द्रव्य के समान प्राप्त होता है, क्योंकि वह सबमें परिपूर्ण, सबसे अलग, अद्भुतस्वरूप परमेश्वर है। उसको बाह्य इंद्रियों से प्राप्त करने वाला कोई नहीं हो सकता, जैसे मूर्त्त द्रव्य चक्षुरादि इन्द्रियों से साक्षात् कर सकता है, क्योंकि वह सब इन्द्रियों के विषयों से अलग और सब इन्द्रियों का आत्मा है।[७]

दयानन्द चार साधन और अनुबन्ध-चतुष्टयादि को मोक्ष की पृष्ठभूमि निर्मित करने में सहयोगी साधन मानते हैं। महर्षि दयानन्द के अनुसार चार साधन और अनुबन्ध चतुष्टयादि से सम्पन्न व्यक्ति ही मोक्ष का अधिकारी होता है।[८]

दयानन्द के अनुसार प्राथमिक चार साधन विवेक, वैराग्य, षट्क-सम्पत्ति एवं मुमुक्षुत्वादि हैं। सत्पुरुषों के संग से '**विवेक**' अर्थात् सत्यासत्य, धर्माधर्म, कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निश्चय अवश्य करें। पृथक्-पृथक् जानें और शरीर अर्थात् जीव पञ्चकोशों का विवेचन करें। एक '**अन्नमय**' जो त्वचा से लेकर अस्थिपर्यन्त का समुदाय पृथिवीमय है। दूसरा '**प्राणमय**' जिसमें प्राण अर्थात् जो भीतर से बाहर जाना, '**अपान**' जो बाहर से भीतर आता है, '**समान**' जो नाभिस्थ से होकर सर्वत्र शरीर में रस पहुँचाता, '**उदान**' जिससे कंठस्थ अन्नपान खींचा जाता है और बल पराक्रम होता है, '**व्यान**' जिससे सब शरीर में चेष्टा आदि कर्म जीव करता है। तीसरा '**मनोमय**' जिसमें मन के साथ अहंकार, वाक्, पाद, पाणि, पायु और उपस्थ पाँच कर्म इन्द्रियाँ हैं। चौथा '**विज्ञानमय**' जिसमें बुद्धि, चित्त, श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ जिनसे जीव ज्ञानादि व्यवहार करता है। पांचवाँ '**आनन्दमय कोश**' जिसमें प्रीति प्रसन्नता, न्यून आनन्द, अधिकानन्द, आनन्द का आधार कारण रूप प्रकृति है। ये पाँच कोष कहाते हो। इन्हीं से जीव सब प्रकार के कर्म, उपासना और ज्ञानादि व्यवहारों को करता है।

तीन अवस्थाएं हैं- एक '**जागृत**' दूसरी '**स्वप्न**'**और** तीसरी '**सुषुप्ति**' अवस्था कहाती है। तीन शरीर हैं- एक '**स्थूल**' जो दीखता है। दूसरा पाँच प्राण, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच सूक्ष्मभूत और मन तथा बुद्धि इन सत्रह तत्त्वों का समुदाय '**सूक्ष्मशरीर**' कहाता है। यह सूक्ष्म शरीर जन्ममरणादि में भी जीव के साथ रहता है। इसके दो भेद हैं- **एक भौतिक** अर्थात् जो सूक्ष्म भूतों के अंशों से बना है। **दूसरा स्वाभाविक** जो जीव का स्वाभाविक गुण रूप है। यह **दूसरा अभौतिक शरीर** मुक्ति में भी रहता है। इसी से जीव मुक्ति में सुख भोगता है। **तीसरा कारण** जिसमें सुषुप्ति अर्थात् गाढ़ निद्रा होती है वह प्रकृति रूप होने से सर्वत्र विभु और सब जीवों के लिए एक है। **चौथा तुरीय शरीर** वह कहाता है, जिसमें समाधि से परमात्मा के आनन्दस्वरूप में मग्न जीव होते हैं। इसी समाधि संस्कारजन्य शुद्ध शरीर का पराक्रम मुक्ति में भी यथावत् सहायक रहता है।

इन सब कोष, अवस्थाओं से जीव पृथक् है, क्योंकि जब मृत्यु होता है, तब सब कोई कहते हैं कि जीव निकल गया। यही जीव सबका प्रेरक, सबका धर्ता, साक्षी, कर्ता, भोक्ता कहाता है। जो कोई ऐसा कहे कि जीव,

---

७ एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमस्पर्शमगन्धमरसमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुंखमनामागोत्रमजरममरमभयममृतमरजोऽशब्दमविवृतमसंवृतमपूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यं न तदश्नोति कं चन न तदश्नोति कश्चन॥ शत० १४.६.८.८

८ चार साधन और चार अनुबन्ध अर्थात् साधनों के पश्चात् ये (श्रवणचतुष्टय) कर्म करने होते हैं। इनमें से जो इन चार साधनों से युक्त पुरुष होता है यही मोक्ष का अधिकारी होता है।

कर्ता, भोक्ता नहीं तो उसको जानो कि वह अज्ञानी, अविवेकी है। क्योंकि विना जीव के जो ये सब जड़ पदार्थ है इनको सुख-दु:ख का भोग वा पाप-पुण्य कर्तृत्व कभी नहीं हो सकता। हाँ! इनके सम्बन्ध से जीव पाप पुण्यों क कर्ता और सुख-दु:खों का भोक्ता है।

जब इन्द्रियाँ अर्थों में मन इन्द्रिय और आत्मा मन के साथ संयुक्त होकर प्राणों को प्रेरणा करके अच्छे य बुरे कर्मों में लगाता है, तभी वह बहिर्मुख हो जाता है। उसी समय भीतर से आनन्द, उत्साह, निर्भयता और बु कर्मों में भय, शंका, लज्जा उत्पन्न होती है। वह अन्तर्यामी परमात्मा की शिक्षा है। जो कोई इस शिक्षा के अनुकूल वर्त्तता है, वही मुक्तिजन्य सुखों को प्राप्त होता है। और जो विपरीत बर्त्तता है, वह बन्धजन्य दु:ख भोगता है।

दूसरा साधन 'वैराग्य' अर्थात् जो विवेक से सत्यासत्य को जानता हो उसमें से सत्याचरण का ग्रहण और असत्याचरण का त्याग करना विवेक है- जो पृथिवी से लेकर परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों के गुण, कर्म, स्वभाव को जानकर उसकी आज्ञापालन और उपासना में तत्पर होना, उससे विरुद्ध न चलना, सृष्टि से उपकार लेना विवेक कहाता है।

तत्पश्चात् **तीसरा साधन- 'षट्क सम्पत्ति'** अर्थात् छ: प्रकार के कर्म करना- एक **'शम'** जिससे अप आत्मा और अन्त:करण को अधर्माचरण से हटाकर धर्माचरण में सदा प्रवृत्त रखना। दूसरा **'दम'** जिससे श्रोत्रादि इन्द्रियों और शरीर को व्यभिचारादि बुरे कर्मों से हटाकर जितेन्द्रियत्वादि शुभ कर्मों में प्रवृत्त रखना। तीसरा **'उपरति'** जिससे दुष्ट कर्म करने वाले पुरुषों से सदा दूर रहना। चौथा **'तितिक्षा'** चाहे निन्दा, स्तुति, हानि, ला कितना ही क्यों न हो, परन्तु हर्ष शोक को छोड़ मुक्ति साधनों में सदा लगे रहना। पांचवाँ **'श्रद्धा'** जो वेदादि सत शास्त्र और इनके बोध से पूर्ण आप्त, विद्वान् सत्योपदेष्टा महाशयों के वचनों पर विश्वास करना। छठा **'समाधान** चित्त की एकाग्रता से छ: मिलकर एक **'साधन'** तीसरा कहाता है।

चौथा 'मुमुक्षत्व' अर्थात् जैसे क्षुधा तृषातुर को सिवाय अन्न जल के दूसरा कुछ भी अच्छा नहीं लगता वैसे विना मुक्ति के साधन और मुक्ति के दूसरे में प्रीति न होना।

ये चार साधन और चार अनुबन्ध अर्थात् साधनों के पश्चात् ये कर्म करने होते हैं। इनमें से जो इन चा साधनों से युक्त पुरुष होता है वही मोक्ष का अधिकारी होता है। दूसरा **'सम्बन्ध'** ब्रह्म की प्राप्ति रूप मुक्ति प्रतिपाद्य और वेदादि शास्त्र प्रतिपादक को यथावत् जानकर अन्वित करना।

तीसरा 'विषयी' सब शास्त्रों का प्रतिपादन विषय ब्रह्म उसकी प्राप्ति रूप विषय वाले पुरुष का ना विषयी है। **चौथा 'प्रयोजन'** सब दु:खों की निवृत्ति और परमानन्द को प्राप्त होकर मुक्ति सुख का होना। ये चा अनुबन्ध कहलाते हैं। तदनन्तर 'श्रवणचतुष्टय एक श्रवण' जब कोई विद्वान् उपदेश करे तब शान्त, ध्यान देक सुनना, विशेष ब्रह्मविद्या के सुनने में अत्यन्त ध्यान देना चाहिए, क्योंकि यह सब विद्याओं में सूक्ष्म विद्या है सुनकर दूसरा **'मनन'** एकान्त देश में बैठ के सुने हुए का विचार करना। जिस बात में शंका हो पुन: पूछना औ सुनते समय भी वक्ता और श्रोता उचित समझे तो पूछना और समाधान करना। तीसरा **'निदिध्यासन'** जब सुन और मनन करने से नि:सन्देह हो जाये, तब समाधिस्थ होकर उस बात को देखना समझना कि वह जैसा सुना थ विचारा था वैसा ही है या नहीं? ध्यानयोग से देखना। चौथा **'साक्षात्कार'** अर्थात् जैसा पदार्थ का स्वरूप गु और स्वभाव हो वैसा यथातथ्य जान लेना ही **'श्रवणचतुष्टय'** कहाता है।[१] कोई मनुष्य क्षणमात्र भी कर्म, उपासन

१ सत्यार्थ प्रकाश- स्वामी दयानंद सरस्वती कृत नवम समु० मोक्ष प्रकरण पृ०- १६५-१६७ ६

और ज्ञान से रहित नहीं होता। इसलिए धर्मयुक्त सत्य भाषणादि कर्म करना और मिथ्या भाषणादि अधर्म को छोड़ देना ही मुक्ति का साधन है।[१०]

(प्रश्न) मुक्ति और बन्धन किन-किन बातों से होता है ?

(उत्तर) परमेश्वर की आज्ञापालने, अधर्म्म, अविद्या, कुसंग, कुसंस्कार, बुरे व्यसनों से अलग रहने और सत्यभाषण, परोपकार, विद्या, पक्षपातरहित न्याय, धर्म की वृद्धि करने, पूर्वोक्त प्रकार से परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना और उपासना अर्थात् योगाभ्यास करने, विद्या पढ़ने, पढ़ाने और धर्म से पुरुषार्थ कर ज्ञान की उन्नति करने, सबसे उत्तम साधनों को करने और जो कुछ करे वह सब पक्षपातरहित न्यायधर्मानुसार ही करें, इत्यादि साधनों से मुक्ति और इनसे विपरीत ईश्वराज्ञा भंग करने आदि काम से बन्धन होता है।[११]

इसके आगे स्वामी जी मुक्ति प्राप्ति के विशेष उपाय बताते हैं। वे कहते हैं- जो मुक्ति चाहे वह जीवनमुक्त अर्थात् जिन मिथ्याभाषणादि पाप कर्मों का फल दुःख है, उनको छोड़ सुखरूप फल को देने वाले सत्यभाषणादि धर्माचरण अवश्य करे, जो कोई दुःख को छुड़ाना और सुख को प्राप्त होना चाहे वह अधर्म को छोड़ धर्म का पालन अवश्य करे, क्योंकि दुःख का पापाचरण और सुख का धर्माचरण मूल कारण है।[१२]

इस प्रकार संक्षिप्त रूप से स्वामी दयानन्द के अनुसार मोक्ष के साधन को इस शोध पत्र में प्रस्तुत किया गया है।

---

१० सत्यार्थ प्रकाश ऋषि दयानन्द कृत नवम समुल्लास मुक्ति विषय पृष्ठ- १५८

११ सत्यार्थ प्रकाश ऋषि दयानन्द कृत नवम समुल्लास मुक्ति विषय पृष्ठ- १६१

१२ सत्यार्थ प्रकाश ऋषि दयानन्द कृत नवम समुल्लास मुक्ति विषय पृष्ठ- १६५

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २००९ अङ्क १२ (पृ०१४१-१४७)

कौटिल्य अर्थशास्त्र में वर्णित राज्य-व्यवस्था

डॉ० दीपा गुप्ता[१]

प्राचीन राज्य व्यवस्था उतनी ही पुरानी है जितनी कि यहाँ की सभ्यता, संस्कृति और धर्म। प्राचीन भारतीय साहित्य में राज्य व्यवस्था को राजधर्म,[२] राजनीति, राज्यशास्त्र,[३] दण्डनीति[४] नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि शब्दों से सम्बोधित किया गया है।[५] अधिकांश प्राचीन ग्रन्थों में यह उल्लेख आता है कि प्रारम्भ में लंबे काल तक कोई शासन व्यवस्था नहीं थी। परन्तु आगे कठिनाइयां आने पर प्रजा ने अपने ही किसी व्यक्ति को शक्ति देकर राजा बना दिया। **'अथर्ववेद'** में उल्लेख है कि प्रारम्भ में समस्त जनपद व राष्ट्र विराट् अर्थात् राजा से रहित था। इस कारण प्रजा भयभीत थी कि क्या यह ऐसा ही रहेगा।[६] इस भय से मुक्ति के लिये राजा का चुनाव किया गया। 'मनु- ने यह लिखा है कि- 'जब सभी भयाकुल हो, इधर-उधर दौड़ने लगे और विश्व में कोई स्वामी नहीं था तब विधाता ने इस विश्व की रक्षा की रक्षा हेतु राजा का प्रणयन किया।'[७] किन्तु ऐतरेय ब्राह्मण में उल्लेख है कि देवों ने राजा के न रहने पर अपनी दुर्दशा देखी और एकमत से उनका चुनाव किया अर्थात् प्रजा ने स्वयं राजा चुना।[८] पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार पहला आर्य राजा वैवस्वत मनु को चुना गया था।[९]

प्राचीन भारत में अनेक शासन प्रणालियां प्रचलित रही हैं। इन सभी शासन पद्धतियों का इतिहास वैदिक काल से उपलब्ध होता है। किन्तु वैदिंक काल और महाकाव्यों के काल का राजनीतिक इतिहास निश्चित और क्रमशः सुलभ नहीं है। तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व से पहले राज्य-व्यवस्था पर कोई ग्रन्थविशेष नहीं लिखा गया था। अतः प्राचीन भारत की शासन पद्धति के विषय में जो भी जानकारी प्राप्त होती है, वह प्राचीन भारतीय साहित्य यथा वेदों, ब्राह्मणों, धर्मसूत्रों, धर्मशास्त्रों, उपनिषदों, पुराणों, महाकाव्यों, जैन-बौद्ध ग्रन्थों, कतिपय ऐतिहासिक और साहित्यिक ग्रन्थों से होती है। इनके अतिरिक्त प्राचीन भारत की शासन पद्धति पर लिखे गये मूल ग्रन्थ यथा कौटिल्य अर्थशास्त्र, कामन्दकीय नीतिसार आदि विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय हैं।[१०]

हिन्दू काल के राजनीतिक इतिहास के विषय में उपर्युक्त भारतीय साहित्यिक सामग्री के अतिरिक्त

---

१. डॉ० दीपा गुप्ता, प्रवक्ता प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, हरिद्वार, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उत्तराखण्ड)
२. मनुस्मृति, अध्याय ७, श्लोक नं. १, वोल्यूम, प्रकरणम्-राजधर्मव्याख्या पृष्ठ संख्या-१ सम्पादक-महामहोपाध्याय गंगानाथ झा।
३. महाभारत, शान्तिपर्व, १,१५८-६३
४. हिन्दू धर्मकोश, डॉ. राजबलि पाण्डेय, पृ.सं. ३१०, ३११
५. कौटिल्य अर्थशास्त्र एवं शुक्रनीति की राज्य व्यवस्थाएं, डॉ. कमलेश अग्रवाल, पृ.सं..१
६. विरड् वा इदमग्र आसीत्तस्या जाताया: सर्वमबिभेदियमेवेदं भविष्यतीति॥ अथर्ववेद ८.१०.१
७. मनुस्मृति, ७/३
८. ऐतरेय ब्राह्मण, १/१४
९. कौटिल्य अर्थशास्त्र एवं शुक्रनीति की राज्य व्यवस्थाएं, डॉ. कमलेश अग्रवाल, पृ.सं.१
१० पूर्ववत्, पृ.सं. १

कतिपय जानकारी ग्रीक एवं चीनी लेखकों से भी प्राप्त होती हैं। इसी के साथ भारतीय शासन पद्धति के जानकारी के स्त्रोतों में पुरातत्त्व विद्या का भी एक सराहनीय योगदान सिद्ध हुआ है। कतिपय पुरातात्विक स्रोतों ने भी भारतीय शासन पद्धति के विषय में सुदृढ़ प्रमाण दिये हैं। पुरातत्त्व में प्राचीन अभिलेखों, मुद्राओं, प्राचीन खण्डहरों एवं स्मारकों का अध्ययन सम्मिलित है।[११] इस प्रकार प्राचीन भारतीय शासन पद्धति के विषय में हमें इस प्रकार के साधनों से पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है। प्राचीन राज्य व्यवस्थाओं की व्यापक जानकारी के सम्बन्ध में डॉ. जायसवाल का कथन है कि 'हमें इस विषय का ज्ञान कराने वाले साधन मुख्यत: हिन्दू साहित्य के विस्तृत क्षेत्र में मिलते हैं। वैदिक, संस्कृत तथा प्राकृत ग्रन्थों और इस देश के शिलालेखों तथा सिक्कों में रक्षित लेखों में हमें इस विषय की बहुत सी बातें ज्ञात होती हैं।[१२]

कौटिल्य अर्थशास्त्र एक सामान्य परिचय

प्राचीन भारतीय के राजनीतिशास्त्र में कौटिल्य का स्थान सबसे ऊंचा है। कौटिल्य को शासन कला और कूटनीति का महान् प्रतिपादक माना जाता है। **'कौटिल्य का अर्थशास्त्र'** राजनीति शास्त्र का सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। **'सेलेटोरे'** के अनुसार-'प्राचीन भारत की राजनीतिक विचारधाराओं में सर्वाधिक ध्यान देने योग्य कौटिल्य की विचारधारा है।'[१३]

कौटिल्य की यह विचारधारा उनके गहन अध्ययन और चिन्तन का परिणाम थी। वह स्वयं अर्थशास्त्र के विषय में कहते हैं- पृथ्वी की प्राप्ति और उसकी रक्षा के लिये पुरातन आचार्यों ने जितने भी अर्थशास्त्र विषयक ग्रन्थों का निर्माण किया, उन सबका सार-संकलन कर अर्थशास्त्र की रचना की गयी है।'[१४] आज अर्थशास्त्र, समाज से आशय केवल इकॉनोमिक्स अर्थात् धनविषयक ज्ञान से लिया जाता है, जिसे प्राचीन काल में वार्त्ताशास्त्र के नाम से पुकारा जाता था।[१५] कौटिल्य काल में अर्थशास्त्र, समाज शास्त्र, न्याय शास्त्र, युद्धशास्त्र, आदि को सम्मिलित किया जाता था।[१६] कौटिल्य के अनुसार पृथ्वी के लाभ एवं पालन के लिये उपायों का विवेचन करने वाला शास्त्र अर्थशास्त्र है।[१७] अर्थशास्त्र के प्रथम आचार्य देवगुरु बृहस्पति थे। वात्स्यायन ने अपने **'कामसूत्र'** में बृहस्पति के अर्थशास्त्र का उल्लेख किया है।[१८] आचार्य कौटिल्य को चाणक्य और विष्णुगुप्त के नाम से भी सम्बोधित किया जाता है। चणक पुत्र होने के कारण उन्हें चाणक्य और कुटिल राजनीतिज्ञ होने के कारण कौटिल्य कहा जाता है। कौटिल्य का वास्तविक पितृ-प्रदत्त नाम विष्णुगुप्त है।[१९] अर्थशास्त्र के रचयिता कौटिल्य ही हैं और इसकी रचना ईसा से लगभग तीन शताब्दी पूर्व हुई।

---

११. प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचार एवं संस्थाएं, डॉ. हरिश्चन्द्र शर्मा, पृ.सं.१७
१२. हिन्दू राजतन्त्र रामचन्द्र वर्मा अनुवादक-हिन्दू पॉलिटि, डॉ० जायसवाल खण्ड १, पृ.सं.५०
१३. एंसिएंट एडियन पॉलिटिकल थॉट एण्ड इंस्टीटयूशन्स, बी.ए. सेलेटोरे, पृ.सं. ५०
१४. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम्-१.१
१५. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् १.२
१६. पूर्ववत् १.१
१७. कौटिल्य अर्थशास्त्र-१५-१
१८. कामसूत्र, वात्स्यायन १.४
१९. कौटिल्य अर्थशास्त्र एवं शुक्रनीति की राज्य व्यवस्थाएं डॉ. कमलेश अग्रवाल, पृ.सं. ११

कौटिल्य अर्थशास्त्र में वर्णित राज्य-व्यवस्था

कौटिल्य अर्थशास्त्र प्राचीन भारतीय राजनीति का सबसे अधिक स्पष्ट, वैज्ञानिक एवं विस्तृत ग्रन्थ है, जिससे तत्कालीन राजनीतिक विचारों और संस्थाओं का व्यापक परिचय प्राप्त होता है। राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कौटिल्य ने कहा है कि राज्य से पूर्व समाज में मात्स्य न्याय फैला हुआ था। मात्स्य न्याय अर्थात् 'बली दुर्बल को दबा बैठता है।'[२०] कौटिल्य का कहना है- 'जब दण्ड का प्रयोग नहीं होता तब मात्स्य न्याय की दशा उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि दण्डधर के अभाव में बलवान् व्यक्ति दुर्बल को खा डालता है।'[२१]

कौटिल्य ने कौटिल्य मानते हैं कि राज्य मनुष्यों से मिलकर बनता है। एक स्थान पर उन्होंने कहा है कि मनुष्यों से रहित जनपद राज्य नहीं होता है।'[२२] कौटिल्य ने राज्य की सात प्रकृतियां स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड और मित्र मानी हैं।[२३] कौटिल्य ने राज्य की विभिन्न प्रकृतियों का उल्लेख किया है। उन्होंने राजा के स्वरूप का वर्णन करते हुए उसको कार्यपालिका का सर्वोच्च अधिकारी माना है। उसके बाद मन्त्रियों का नाम लिया गया है, जो राजा को परामर्श देते हैं और शासन कार्यों को संचालित करते हैं। दुर्ग को राज्य की रक्षा के लिये आवश्यक माना गया है, जबकि जनपद या भूभाग राज्य के अस्तित्व का एक भौतिक आधार है। कोष राज्य की जनता की सुख व समृद्धि के लिये अनिवार्य है। दण्ड के विना राज्य में शान्ति व्यवस्था नहीं की जा सकती। इन सबके अतिरिक्त मित्र राज्यों का होना राज्य के अस्तित्व एवं सुरक्षा के लिये जरूरी माना गया है।[२४] आचार्य कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित राज्य व्यवस्था न केवल विशाल मौर्य साम्राज्य को नियन्त्रित करती थी, बल्कि दूरदर्शन वाले स्थानों का भी प्रभावी प्रशासन करती थी। **'कौटिल्य अर्थशास्त्र'** राज्य संचालन के लिये सदियों तक एक मार्गदर्शक ग्रन्थ रहा है। **'बी.ए. सेलेटोरे'** के अनुसार- 'प्राचीन भारत की राजनीतिक विचारधाराओं में सबसे अधिक ध्यान देने योग्य कौटिल्य की राजनीतिक विचारधारा है।'[२५]

कौटिल्य अर्थशास्त्र में राजा एवं प्रजा

प्राचीन भारतीय मनीषी ही नहीं बल्कि यूरोपीय विचारक भी राजा एवं राज्य की उत्पत्ति से पूर्व ऐसी समाज व्यवस्था की कल्पना करते हैं, जिसमें प्रजा नैतिक मूल्यों का अनुसरण करते हुए जीवनयापन करती थी। पहले न राज्य था न राजा था, न दण्ड था न दाण्डिक (दण्ड देने वाला) था। धर्म से ही सब प्रजा परस्पर एक दूसरे की रक्षा करती थी।[२६] राज्य एवं राजा की उत्पत्ति से पूर्व की यह स्वप्रेरित व्यवस्था चिर-स्थायी न रह सकी, कालान्तर में उसमें अनेक दोष उत्पन्न हो गये। समाज को एक भयावह स्थिति का सामना करना पड़ा, जिसके गर्भ

---

२०. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् १/४
२१. बलीयानबलं हि ग्रसते दण्डधराभावे, कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् १/४
२२. प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएं, परमात्मा शरण पृ.सं०. १५७
२३. स्वाम्यमात्यजनपद दुर्ग कोश दण्ड मित्राणि प्रकृतयः, कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम्, ६/१, पृ.सं. २५७
२४. प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचार एवं संस्थाएं, डॉ. हरिश्चन्द्र शर्मा, पृ.सं. ८९
२५. एंसिएंट इंडियन पॉलिटिकल थॉट एण्ड इंस्टीटयूशन्स-बी.ए. सेलेटोरे, पृ.सं. १४९
२६. नैवं राज्यं न राजाऽऽसीन्न च दण्डो न दाण्डिकः धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्॥ महाभारत, शान्तिपर्व, ५९.१४

में से राज्य एवं राजा की उत्पत्ति हुई। कौटिल्य ने राजा को ही राज्य कहा है।[२७] प्राचीन भारतीय विचारकों ने राजा की उत्पत्ति को राज्य की उत्पत्ति का आधार माना है। इन्होंने राजा एवं राज्य की उत्पत्ति में कोई अन्तर नहीं किया है।[२८]

प्राचीन भारतीय विद्वानों ने राजा या राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में समय-समय पर अनेक विचार प्रस्तुत किये, जिसको विभिन्न सिद्धान्तों के रूप में प्रतिपादित किया गया।[२९] जो निम्नांकित हैं- १. दैवीय सिद्धान्त २. ऋषियों द्वारा राजा की नियुक्ति का सिद्धान्त ३. सुरक्षा का सिद्धान्त ४. कर्म का सिद्धान्त ५. सामाजिक समझौते का सिद्धान्त ६. विकासवादी सिद्धान्त। कौटिल्य ने राजा को मानव जीवन के लिये एक महत्त्वपूर्ण, आवश्यक एवं कल्याणकारी संस्था माना है। आचार्य कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सामाजिक समझौते के सिद्धान्त को व्यक्त किया है। अर्थशास्त्र में प्रथम अधिकरण के १२ अध्याय में स्पष्ट उल्लेख है कि जैसे छोटी मछली को बड़ी मछली खा जाती है, इसी प्रकार प्राचीन काल में बली दुर्बल को दबा बैठता है। इसी मात्स्य न्याय से अभिभूत प्रजा ने मिलकर वैवस्वत मनु को अपना राजा नियुक्त किया।[३०] उन्होंने राजा को कृषि उपज का छठा भाग, व्यापार की आय का दसवां भाग देने का निश्चिय किया। इसके बदले में राजा ने प्रजा के कल्याण का दायित्व अपने ऊपर लिया। यही कौटिल्य द्वारा उल्लिखित राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सामाजिक समझौते का सिद्धान्त था।

कौटिल्य ने राजा की आवश्यकता और महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए कहा है कि राज्य के सप्तांगों में राजा का स्थान सर्वोपरि है। राजा ही राज्य का मूल स्रोत है। राज्य की शासन प्रणाली में राजा शासन की धुरी होता है। शासन का सक्रिय संचालन और शासन को गति प्रदान करना राजा का एकमात्र लक्ष्य होता है। जिस राज्य में राजा द्वारा प्रजा को रक्षण प्रदान किया जाता है, ऐसे राज्य में सब प्रकार की उन्नति होती है।[३१] कौटिल्य के अनुसार राजा के १६ गुण इस प्रकार हैं-देवबुद्धि, दूरदर्शी, धैर्य-सम्पन्न, धार्मिक, सत्यवादी, सत्यप्रतिज्ञ, कृतज्ञ, उत्साही, उच्चाभिलाषी, शीघ्र कार्य करने वाला, दृढ़ बुद्धि, कर्तव्य निपुण, सर्वगुण सम्पन्न, शास्त्र बुद्धि से युक्त, शौर्ययुक्त, सामन्तों को वश में करने वाला।'[३२]

वैदिक साहित्य में उल्लेख आता है कि प्रजा की रक्षा करना, उसे धर्म पर चलाना, सुख सम्पत्ति और न्याय प्रदान करना तथा दुष्टों को दण्ड देना राजा के प्रमुख कर्तव्य हैं।[३३] कौटिल्य के अनुसार प्राचीनकाल से ही राजा को कर्तव्यों का पालन करने के लिये बहुत अधिकार प्राप्त थे।[३४] वस्तुतः कर्तव्यों का प्रतिपालन ही अधिकारों की परिणति होता है। अतः बहुत से कर्तव्यों में से ही अधिकार प्रतिध्वनित होते हैं।

---

२७. कौटिल्य अर्थशास्त्र ८.२

२८. शुक्रनीति में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएं, डॉ० पद्मनाभ शर्म, पृ.सं. १५

२९. प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं राज़नीतिक विचार एवं संस्थाएं, डॉ. हरिशचन्द्र शर्मा, पृ.सं. १९८/२१६

३०. कौटिल्य, अर्थशास्त्र १/१२

३१. कौटिल्य अर्थशास्त्र एवं शुक्रनीति की राज्य व्यवस्थाएं डॉ. कमलेश अग्रवाल, पृ.सं. ४३.४३

३२. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम्, वाचस्पति गैरोला, ६.१

३३. धर्मशास्त्र का इतिहास, डॉ० पी.वी. काणे, वो. ॥ पृ.सं. ६०१

३४. कौटिल्य, अर्थशास्त्र, २/१

आचार्य कौटिल्य ने राजा एवं प्रजा के सम्बन्ध को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बताया है। कौटिल्य का राजा प्रजावत्सल है। अत: प्रजारूपी शिशु के पालन के लिये राजा ही उत्तरदायी है।[३५] कौटिल्य ने प्रजा से राजा का सम्बन्ध इन्द्र और यम के रूप में भी स्थापित किया है। राजा इन्द्र के समान प्रजा के अनिष्ट का निवारण करता है और यम के समान उसको दण्ड देता है।[३६] कौटिल्य ने राजा को प्रजा के लिये एक आदर्श माना है। उसका आदर्शचरित प्रजा हेतु अनुकरणीय होना चाहिए। कौटिल्य ने वास्तविक अर्थों में राजा एवं प्रजा का सम्बन्ध पिता और पुत्र की भाँति बताया है।[३७]

कौटिल्य अर्थशास्त्र में शासन प्रणाली

प्राचीनकाल में शासनपद्धति का प्रचलित रूप राजतन्त्र था। इसलिए आचार्य कौटिल्य ने राजा को सर्वोच्च एवं शक्तिशाली स्वीकार करते हुए शासन की आधार-शिला माना है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में वर्णित शासन प्रणाली के अन्तर्गत मन्त्री-परिषद् का एक अहम् स्थान था। जिसकी सहायता से राजा राज्य के सभी कार्य सम्पन्न करता था। कौटिल्य ने मन्त्रियों को राज्य रूपी गाड़ी का दूसरा पहिया माना है, जिसके अभाव में अकेला पहिया अर्थात् राजा गाड़ी को आगे नहीं बढ़ा सकता। मन्त्री परिषद के सदस्यों की संख्या के सम्बन्ध में कौटिल्य का विचार है कि 'राजा को तीन अथवा चार मन्त्रियों से मन्त्रणा करनी चाहिए।' कौटिल्य ने मन्त्री परिषद् की मन्त्रणा को गोपनीय रखने की भी बात कही है, क्योंकि मन्त्रणा का फूट जाना राजा और मन्त्री परिषद् दोनों के लिये घातक है।[३८] कौटिल्य अर्थशास्त्र के अनुसार शासन प्रणाली में मन्त्री परिषद् के अतिरिक्त अन्य शासकीय अधिकारी भी थे। यथा पुरोहित (कौटिल्य की शासन व्यवस्था में पुरोहित का महत्त्वपूर्ण स्थान था। जिसकी योग्यता निर्धारित की जाती थी।) कौटिल्यानुसार- 'पुरोहित उच्चकुलोत्पन्न, शील गुण सम्पन्न, वेद वेदांगों का ज्ञाता, ज्योतिष शास्त्र में निपुण एवं दण्डनीति में पारंगत हो।'[३९] पुरोहित के अतिरिक्त युवराज, सेनापति, मन्त्री इत्यादि।

कौटिल्य ने स्थानीय प्रशासन के सम्बन्ध में भी अपने विचार प्रस्तुत करते हुए राज्य के दो महत्त्वपूर्ण भाग बताये हैं- दुर्ग और जनपद। कौटिल्य ने दुर्ग को पुर अथवा नगर का पयार्यवाची माना है। कौटिल्यानुसार दुर्ग को चार भागों में बांटा जाना चाहिए और प्रत्येक भाग के लिये एक स्थानिक नाम का कर्मचारी नियुक्त किया जाना चाहिए। स्थानिक के अधीन गोप नामक कर्मचारी रखे गये हैं। स्थानीय प्रशासन का दूसरा अंग जनपद था। कौटिल्य के अनुसार- 'जनपद ऐसा हो, जिसके बीच में तथा सीमान्तों में किले बने हों, जिसमें यथेष्ट अन्न पैदा हो, विपत्ति के समय वन पर्वतों द्वारा आत्मरक्षा की जा सके, जो कंकर पत्थर तथा जंगली जानवरों से रहित हो, जो नदी-तालाबों से सुसज्जित हो, जो लकड़ियों तथा हाथियों से युक्त हो, जहाँ की जलवायु उत्तम हो।'[४०] कौटिल्य के अर्थशास्त्र में ग्राम प्रशासन का भी उल्लेख है। प्रत्येक ग्राम का एक एक शासक होता था, जिसको 'ग्रामिक' कहा

३५. कौटिल्य का युद्ध दर्शन, डॉ० लल्लन जी सिंह पृ.सं०. ५०
३६. कौटिल्य, अर्थशास्त्र १/१२
३७. पूर्ववत्
३८. कौटिल्य, अर्थशास्त्र, वाचस्पति गैरोला १/१४
३९. कौटिल्य, अर्थशास्त्र वाचस्पति गैरोला १/८
४०. कौटिल्य, अर्थशास्त्र, वाचस्पति गैरोला १/२१

जाता था। ग्राम प्रशासन के कार्य में ग्रामिक की सहायता के लिये अन्य कर्मचारी भी नियुक्त किये जाते थे।[४१]

कौटिल्य अर्थशास्त्र में न्यायिक एवं दण्ड व्यवस्था

आचार्य कौटिल्य समुचित न्याय को राज्य का प्राण मानते हैं। उनका दृढ़ मत है कि जो राज्य अपनी प्रजा को न्याय प्रदान नहीं करता, वह शीघ्र नष्ट हो जाता है। उनके अनुसार न्याय का उद्देश्य प्रजा के जीवन और सम्पत्ति की रक्षा करना तथा असामाजिक तत्त्वों को दण्डित करना है। कौटिल्य की न्याय व्यवस्था के अनुसार राज्य के सभी व्यक्ति एक समान माने गये हैं। कौटिल्य अर्थशास्त्र में न्यायाधीश पद हेतु आवश्यक गुण और योग्यताओं का प्रतिपादन किया गया है। अर्थशास्त्र में उल्लिखित है कि 'पूर्ण विद्वान्, पवित्र कुलोत्पन्न, वृद्ध, तर्क में निपुण और अपने कर्तव्य में सावधान व्यक्तियों को ही न्यायाधीश बनाना चाहिए।'[४२] समस्त न्यायिक कार्यवाहियां राज्य के नाम से होती थीं। अतः न्याय की सर्वोच्च सत्ता राजा ही था। जो प्रत्येक मामले में अन्तिम निर्णय देने का अधिकार रखता था। अर्थशास्त्र में दो प्रकार के न्यायालयों का उल्लेख है-१ धर्मस्थनीय न्यायालय २. कंटक शोधन न्यायालय। धर्मस्थानीय न्यायालयों के न्यायधीश धर्मस्थ एवं कंटक शोधन न्यायालयों के न्यायाधीश प्रवेष्टा कहलाते थे।[४३]

कौटिल्य के अनुसार राजा को इन न्यायाधीशों के पदों पर उन्हें अमात्यों को नियुक्त करना चाहिए जो कुशल ज्ञानवान् और शुद्ध चरित्र लिये हों। कौटिल्य अर्थशास्त्र में दण्ड व्यवस्था का भी विस्तृत वर्णन मिलता है। आचार्य कौटिल्य ने राज्य में अनुशासन रखने के लिये ही दण्ड का प्रभावी विधान किया है। दण्ड कौटिल्य की न्याय व्यवस्था का व्यावहारिक पक्ष है। उनके अनुसार न्याय की अवस्थिति दण्ड पर निर्भर है। चारों वर्णो, आश्रम के लोग अपने अपने धर्म (कर्तव्य) का पालन करें और सदाचार में प्रवृत्त रहें, यही कौटिल्य की दण्ड व्यवस्था का प्रमुख उद्देश्य है।[४४] आचार्य कौटिल्य का मत है कि काम, क्रोध, लोभ, मान, मद और हर्ष ये छह शत्रु कभी भी मनुष्य को उत्तेजित कर उसको अधर्म और दुराचरण की ओर प्रवृत्त कर देते हैं। अतः इनके नियन्त्रण के लिये दण्ड की आवश्यकता पड़ती है। कौटिल्य के अनुसार राजा ही मुख्यतः दण्ड देने का अधिकारी होता है, लेकिन उसका दण्ड निष्पक्ष, स्वार्थरहित एवं न्यायोचित होना चाहिए। उसके दण्ड में पुत्र और शत्रु का भेद नहीं होना चाहिए। क्योंकि ऐसा दण्ड ही लोक और परलोक दोनों की रक्षा करता हैं

कौटिल्य अर्थशास्त्र में गुप्तचर एवं रक्षा (सैन्य) व्यवस्था

आचार्य कौटिल्य ने राजनीतिक समस्याओं के समाधान हेतु गुप्तचर व्यवस्था को राज्य के लिये आवश्यक बतलाया है। उनके अनुसार किसी एक राज्य की रक्षा गुप्तचरों के उपयोग पर निर्भर होती है।'[४५] कौटिल्य ने राज्य व्यवस्था में सहायक ९ प्रकार के गुप्तचरों का वर्णन किया है। इन गुप्तचरों को कौटिल्य ने दो श्रेणियों में बांटा है-१ स्थायी गुप्तचर २. भ्रमणशील गुप्तचर। आचार्य कौटिल्य के अनुसार 'एक देशभक्त, विश्वासपात्र वाक्पटु तथा वेष बदलने में निपुण व्यक्ति को ही गुप्तचर नियुक्त करना चाहिए।' कौटिल्य ने गुप्तचरों के कर्तव्यों का भी विधान किया

---

४१. मौर्य साम्राज्य का इतिहास, सत्यकेतु विद्यालंकार पृ. २२४

४२. कौटिल्य, अर्थशास्त्र, वाचस्पति गैरोला ४/१

४३. कौटिल्य, अर्थशास्त्र, वाचस्पति गैरोला १/९

४४. फिलास्फी ऑफ धर्मस् जे.एच. गांगुली, वोल्यम॥ पृ.सं. ९५

४५. कौटिल्य अर्थशास्त्र १/१९

है। जैसे प्रजा के सुख-दुःख की सूचना राजा को देना, प्रजा के द्वारा राजा के विरुद्ध रचित षड्यन्त्रों की सूचना राजा तक पहुंचाना राजा के परिजनों के चरित्र की राजा को नियमित जानकारी देना, शत्रु के राज्य के विषय में सभी बातें पता कर राजा को सूचित करना, शत्रु के राज्य में जाकर फूट डालना तथा उन्हें उनके राजा के विरुद्ध भड़काना इत्यादि। इस प्रकार कौटिल्य अर्थशास्त्र में वर्णित गुप्तचरों के योगदान को सराहनीय कहा जा सकता है। कौटिल्य अर्थशास्त्र की राज्य व्यवस्था में रक्षा व्यवस्था अर्थात् सैन्य संगठन भी कम उल्लेखनीय नहीं है। कौटिल्य ने सैन्यशक्ति को सुरक्षा और शान्ति का महत्त्वपूर्ण साधन बताया है। इनके अनुसार 'सैन्यशक्ति सम्पन्न राजा के मित्र तो बने ही रहते हैं, उसके शत्रु भी मित्र बन जाते हैं।'[४६]

कौटिल्य अर्थशास्त्र में उल्लिखित है कि सैन्यशक्ति उच्च कोटि की राज्य व्यवस्था और राज्य की आर्थिक सुदृढ़ता के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। कौटिल्य ने सेना के ६ प्रकार बताये हैं। १. वंश परम्परागत सेनाएं २. भाड़े की सेनाएं ३. लड़ाकू सेनाएं ४. मित्रदेश की टुकड़ियां ५. शत्रु देश की टुकड़ियां ६. जंगली जातियों की सेनाएं इत्यादि।

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में कहा है कि सेना में वंशानुगत लोगों को ही भर्ती किया जाये, जो स्थायी रूप से रह सके। जिनके स्त्री बच्चे राजवृत्ति पाकर संतुष्ट हों। युद्ध के समय जिनको आवश्यक सामग्री से लैस किया जा सके, जो कभी हार न खाते हों, दुःख को सहन कर सकें, युद्धकौशलों से परिचित हों, हर प्रकार के युद्ध में निपुण हों। सबसे अहम् बात यह है कि राजा के लाभ और हानि में हिस्सेदार बनें। इन सभी गुणों से युक्त सेना ही दण्ड सम्पन्न है। कौटिल्य ने सैनिकों के व्यक्तिगत निर्वाह के साथ साथ उनके परिवार के सदस्यों की यथोचित देखभाल को राज्य का उत्तरदायित्व बताया है। कौटिल्य ने, अन्य आचार्यों का यह मत कि जो सैन्य दल क्रम में ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों द्वारा गठित होते हैं, वे उसी क्रम से अच्छे कहे जाते हैं, को नहीं माना है। उनके अनुसार सुन्दर ढंग से प्रशिक्षित क्षत्रियों का दल या वैश्यों या शूद्रों का दल ब्राह्मणों के सैन्यदल से कहीं अधिक अच्छा होता है, क्योंकि शत्रु लोग ब्राह्मणों के चरणों में झुककर उन्हें अपनी ओर कर सकते हैं।[४७] राजा की सेना के प्रबन्ध आदि के विषय में कौटिल्य के अर्थशास्त्र में विशद वर्णन मिलता है। यथा सेनाप्रबन्ध कैसा हो, आक्रमण के लिये प्रस्थान कब और कहाँ होना चाहिए, बाह्य या आन्तिरक आपत्तियां दूर करने के क्या उपाय हैं, देशद्रोहियों और शत्रुओं के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए, शिविर आदि की व्यवस्था कैसी हो इत्यादि।[४८] इसी भाँति सेना के निवास स्थान, व्यूह रचना आदि पर विशद वर्णन मिलता है।

इस प्रकार कौटिल्य अर्थशास्त्र में वर्णित राज्य व्यवस्था के अध्ययन से एक कल्याणकारी राज्य की धारणा स्पष्ट होती है। आचार्य कौटिल्य की राज्य व्यवस्था में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इसमें सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक व्यवस्था को एक सर्वोच्च स्थान दिया गया है। कौटिल्य ने कहा है कि 'सभी प्रकार की सामाजिक धारणाओं एवं धर्म का पालन करते हुए तथा अर्थ का संवर्धन करते हुए राज्य का संचालन किया जाना चाहिए।'[४९] क्योंकि इनका अनुकरण राज्य और समाज को वैभव सम्पन्न बनाने के लिए नितान्त आवश्यक है। यही कारण है कि आचार्य कौटिल्य जैसे महान् मनीषी द्वारा प्रतिपादित राज्य व्यवस्था के सम्बन्ध में जो सिद्धान्त वर्णित किये गये हैं, वे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं और वे आज भी निराशा के अन्धकार में आशा के दीप जलाते हैं।

---

४६. कौटिल्य, अर्थशास्त्र ८/१
४७. कौटिल्य, अर्थशास्त्र ९/२
४८. कौटिल्य, अर्थशास्त्र ९/१-७ एवं १०/१-६

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २००९ अङ्क १२ (पृ०१४८-१५३)

शासन और पर्यावरण

डॉ० विजयलक्ष्मी[1]

अयमस्तु धनपतिर्धनानामयं विशां विश्वपतिरस्तु राजा[2] राजा प्रजाओं में अद्वितीय बल उत्पन्न करने वाला हो अर्थात् शासन का कर्त्तव्य है कि वह प्रजा में वीर्यबल, ज्ञानबल, आत्मबल, धनबल और कलाबल की वृद्धि करे। यजुर्वेद के ९ वें व १० वें अध्याय में राजा के कर्त्तव्यों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वह कृषि की उन्नति करे, जनकल्याण करे, राष्ट्र की श्रीवृद्धि करे, जनता में राष्ट्रिय भावना का विकास तथा विशाल प्रजातन्त्रीय राज्य की स्थापना उसका लक्ष्य हो। राज्य की समस्त प्रजा का हितचिन्तन एवं अपने राष्ट्र की उन्नति के साथ-साथ विश्व कल्याण भी सोचे[3]। मन्त्रों का अभिप्राय है कि शासन को ऐसे उपाय अपनाने चाहिए जिससे राष्ट्र सर्वविध उन्नत तथा स्वस्थ हो। उन्नति का प्रथम हेतु शारीरिक स्वास्थ्य ही है।[4] स्वास्थ्य रक्षा हेतु आवश्यक है कि पर्यावरण के प्रति लोग संवेदनशील हों। पर्यावरण के संवर्धन तथा संरक्षण के लिए समाज कृतसंकल्प हो, पदार्थों के उपयोग के सम्बन्ध में समाज का दृष्टिकोण बदले। पर्यावरणशुद्धि के लिए उत्कट इच्छा जगे। सहयोग, सहिष्णुता, समभाव, सामञ्जस्य, सहानुभूति जैसे उदात्तभाव न केवल सामाजिक परिवेश के संशोधन के कारण बनते हैं, अपितु स्वच्छ व सुरम्य पर्यावरण के साथ-साथ ऐसी पृष्ठभूमि का निर्माण होता है, जहाँ विना किसी अतिरिक्त श्रम के जीवहिंसा जैसे अमानवीय कृत्य की दूषित मनोवृत्ति भी स्वत: हतोत्साहित होती है, क्योंकि पशुपक्षी और छोटे बड़े सभी जीवजन्तु प्रकृति के अलंकार तो हैं ही, साथ ही अपने-अपने तरीके से पर्यावरण प्रदूषण को दूर करने में अत्यन्त उपादेय हैं। गिद्ध भारत जैसे कृषि प्रधान देश के लिए बहुत लाभकारी पक्षी है। इस विषय में माइक पाण्डे लिखते हैं-**गिद्ध आज लुप्त होने के कगार पर है, जब कि पर्यावरण को स्वच्छ बनाए रखने में गिद्ध का असाधारण योगदान है। गिद्ध के लुप्त होने की क्षतिपूर्ति विज्ञान भी नहीं कर सकता है। अपने देश में एक समय ८,७०,००००० लाख (आठ करोड़ सत्तर लाख) गिद्ध थे, लेकिन अब ९९ फीसदी मर चुके हैं। जाहिर है कि इसके चलते पर्यावरण पर व्यापक रूप से विपरीत असर पड़ा है, क्योंकि भारत एक कृषिप्रधान देश है। जहाँ मवेशियों की संख्या ८० करोड़ के आस पास है। इनमें से हर साल १० से २० करोड़ मवेशी मरते हैं। इनको चट करने के लिए गिद्ध ही थे, लेकिन आज गिद्ध नहीं होने के कारण मरे हुए मवेशियों को ठिकाने लगाने की कोई पुख्ता व्यवस्था नहीं है।**[5] महाकवि कालिदास शाकुन्तल द्वारा जीव रक्षा का सन्देश देते हैं कि राजन् साधे हुए बाण को इस मृग पर मत चलाइये, क्योंकि आप के शस्त्र पीड़ितों की रक्षा के लिए हैं

---

१. डॉ० विजयलक्ष्मी, संस्कृत प्रवक्त्री, एस. डी. कॉलेज, मुजफ्फरनगर (उ. प्र.)

२- अथर्ववेद ४.२२.३१

३- यजुर्वेद ९.२२ --- कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा र; 9यै त्वा पोषाय त्वा। वही १०.२ ---राष्ट्रदा राष्टं मे देहि --। वही ९.४० ---महते जानराज्याय --। वही १०.४ ---स्वराज स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त। जनभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त। विश्वभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त --।

४- कुमारसम्भवम् ५.३३, शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।

५- खतरे में जीवों की दुनिया, दैनिक जागरण समाचारपत्र, सम्पादकीय पृष्ठ, दिनाँक- २४.१२.२००७

निरपराध पर प्रहार के लिए नहीं।[६] भवभूति उत्तररामचरित में हाथी[७] जैसे बृहत् काय पशु को भी सीता द्वारा पुत्रवत् पालना कर संवर्धित किए जाने का वर्णन करते हैं तथैव वहीं मयूर[८] जैसा पक्षी भी पालित हुआ है। प्राचीन साहित्य के कवि अथवा लेखक का हर पात्र प्रतिप्राणी की रक्षा में तत्पर दिखाई देता है। इसीलिए उस साहित्य में पर्यावरण प्रदूषण जैसे शब्दों का नितान्त अभाव है।

लेकिन आधुनिक काल में यह दूषण की समस्या मानव की स्वार्थजन्य उपभोग की अन्धी प्रवृत्ति के कारण विकरालरूप धारण कर रही है। अत: न शुद्ध वायु है, न जल अथवा अन्य कोई प्राकृतिक तत्त्व। बहुत सारा जीव जगत् इसके कारण नष्ट हो चुका है, तो कुछ, नष्ट होने की सीमा रेखा को छूने को आतुर है। फिर भी मानव सीख नहीं ले रहा है। कुछ जीवविज्ञानी इनके महत्त्व को समझते हुए प्रकृति के संरक्षक समस्त जीवों की रक्षा के लिए सतत चिन्तित हैं और अपने लेखों आदि के माध्यम से शासन और सामान्य समाज को सचेत करने के दायित्व का निर्वाह करते हुए नजर आते हैं। साम्प्रतिक काल के जाने माने ऐसे ही एक पर्यावरणविद माइक पाण्डे के जीवों की रक्षा के वशीभूत चिन्ताजन्य विचार मननीय हैं। वे लिखते हैं- **हमने अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए पानी को प्रदूषित कर दिया। इसका खामियाजा सिर्फ मानवता को ही नहीं बल्कि छोटे छोटे जीवों को भी चुकाना पड़ रहा है। प्रतिवर्ष कई लाख पक्षी सिर्फ तालाब का प्रदूषित पानी पीने के कारण अपनी जान गँवा देते हैं। साथ ही प्रदूषित पानी पीने के कारण इनके अण्डों का छिलका इतना कमजोर हो जाता है कि जब पक्षी इन अण्डों को सेने के लिए इनके ऊपर बैठते हैं तो अण्डा फूट जाता है। इसके कारण बच्चों का प्रजनन नहीं हो पाता है। यही मुख्य कारण है जिसके चलते पक्षियों की संख्या घटती जा रही है। समस्या यह है कि हम यह मानने को तैयार नहीं हैं कि कुदरत ने जिन जीवों को बनाया है उनकी अपनी एक अलग अहमियत है। एक आम आदमी इन जीवों के संरक्षण में बहुत बड़ा योगदान दे सकता है। सबसे पहले तो हम खेतों में रासायनिक खादों और कीटनाशकों का उपयोग न करें। इसके स्थान पर जैविक खाद और नीम के पत्तों को कीटनाशक के रूप में उपयोग को प्राथमिकता दें। वैज्ञानिकों का कहना है कि गौरैया के लुप्त प्राय: होने की वजह बाजरे में कीटनाशकों का उपयोग है। चूंकि बाजरे के खेतों में कीटनाशकों का उपयोग किया जाता है और उसी दवा से दूषित बाजरे के दानों को गौरैया खाती है इसीलिए उसकी प्रजनन की क्षमता खत्म होती जा रही है। साथ ही शहरों में पक्षियों के पीने के लिए छत के ऊपर या बालकनी में किसी बर्तन में पानी रख दें उसे प्रत्येक दिन बदल दें ताकि पक्षियों को प्रदूषित पानी न पीना पड़े। पानी के प्रदूषण और अभाव के कारण साइबेरियन क्रेन जैसा पक्षी भी आज दुर्लभ पक्षी की श्रेणी में है। कुछ वर्ष पहले यह पक्षी अच्छी खासी तादाद में प्रवास के लिए भरतपुर आता था लेकिन आज इसकी संख्या नगण्य है, क्योंकि भरतपुर में पानी का अभाव है। पानी अगर है भी तो प्रदूषित है। बड़े दु:ख की बात है कि जिस देश में बुद्ध, महावीर और अशोक जैसे महापुरुषों ने जन्म लिया, आज वहीं कितने ही जीवों के अस्तित्व पर खतरा मंडरा रहा है। हिन्दू धर्म में लगभग प्रत्येक देवी देवता के साथ किसी न किसी रूप में एक जानवर जुड़ा हुआ है। इसके**

६- अभिज्ञानशाकुन्तलम् १.११, तत्साधुकृतसंधानं प्रतिसंहर सायकम्। आर्तत्राणाय व: शस्त्रं न प्रहर्तुमनागसि॥
७- उत्तररामचरितम् ३.१५, ---सोऽयं पुत्रस्तव मदमुचां वारणानां विजेता यत्कल्याणं वयसि तरुणे भाजनं तस्य जात:॥
८- वही ३.१८, अतरुणमदताण्ड[illegible]:।
मणिमकट इवोच्छिखः कदम्बे नदति स एष वधसखः शिखण्डी॥ वही ३.१८

व्यापक मायने हैं कि हम हर जीव के प्रति आदर का भाव रखें। अगर हम ऐसा नहीं करते हैं तो ज्ञान की क्या अहमियत है? लोगों को यह समझना चाहिए कि प्रत्येक जीव की कुदरत की व्यवस्था में क्या अहमियत है?[९] इस प्रसंग में ऋग्वेद का एक मन्त्र द्रष्टव्य है-

एकं चमसं चतुरः कृणोतन तद् वो देवा अब्रुवन् तद् व आगमम्।
सौधन्वना यद्येवा करिष्यथ साकं देवैर्यज्ञियासो भविष्यथ॥[१०]

मन्त्र का भावार्थ करते हुए सातवलेकर महोदय लिखते हैं- गृहस्थियों को चाहिए कि वे अपने अन्न के चार भाग करें। प्रथम घर वालों के लिए, द्वितीय अतिथियों के लिए, तृतीय सेवकों के लिए और चतुर्थ पशुपक्षियों के लिए। यह देवों की आज्ञा है, जो इस प्रकार करता है उसकी सभी प्रशंसा करते हैं।

वैदिक संस्कृति में नित्य करणीय पञ्च महायज्ञों का विधान है।[११] उन ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ तथा बलिवैश्वदेवयज्ञ नामक पञ्चमहायज्ञों में बलिवैश्वदेवयज्ञ से तात्पर्य पशुपक्षियों के संरक्षण से ही है। ये प्रतिदिन करणीय हैं।[१२] ऐसा कोई दिवस नहीं है जिस दिन आप इनका अहित चिन्तन कर सकें। निज उदरपूर्ति हेतु इन निरीह प्राणियों के अस्तित्व को मिटा देना तो स्वप्न में भी ध्यातव्य नहीं है। वेद में अनेक स्थानों पर सभी प्राणियों के कल्याण की कामना की गई है। यथा -

यथा शमसद् द्विपदे चतुष्पदे विश्वं पुष्टं ग्रामे अस्मिन् अनातुरम्[१३]**।**

तथा अथर्ववेद में -

मा नो हिंसिष्टं द्विपदो शं चतुष्पदः।[१४]

वेद में जिन अश्वमेध, गोमेध आदि यज्ञों की चर्चा आती है, उनमें आये मेध पद का अभिप्राय ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार घी, अन्न पौष्टिक भोज्य पदार्थ हैं।[१५] अतः गोमेध का अभिप्राय हुआ- गौ आदि उपकारक पशुओं की रक्षा और समृद्धि। गौ दुग्ध से लोग हृष्ट, पुष्ट, बलिष्ठ, यशस्वी, तेजस्वी, प्रतापी होते हैं, यह सत्य है। लेकिन गौ दूध तभी लाभकारी होता है, जब गाय ने उत्तम स्थान का शुद्ध जल पिया हो तथा शुद्ध घास खाई हो।[१६] अथर्ववेद के पृथिवी सूक्त में भी खाद्यान्न तथा पेय सम्बन्धी सुन्दर वर्णन उपलब्ध होता है-

यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यामन्नं कृष्टयः सम्बभूवुः।
यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत् सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु॥[१७]

अर्थात् जिस भूमि में सागर, महासागर, नद, नदी, तालाब, कुए, बावड़ी, नहर, झीलें इत्यादि खेती को

९- खतरे में जीवों की दुनिया, दैनिक जागरण समाचारपत्र, सम्पादकीय पृष्ठ, दिनाँक- २४.१२.२००७

१०- ऋग्वेद १.१६१.२

११- मनुस्मृति ३.७०, अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्। होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥

१२- वही ३.६९, तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः। पञ्च क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम्॥

१३- यजुर्वेद १६.४८

१४- अथर्ववेद ११.२.१

१५- शतपथब्राह्मण ३.८.३.१, सर्वेषां वा एष पशूनां मेधो यद् व्रीहियवौ। तथा- तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.९.१२.१, मेधो वा आज्यम्।

१६- अथर्ववेद ४.२१.७, प्रजावतीः सूयवसे उशन्तीः शुद्धाः अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः।

१७- वही १२.१.३

पानी मिलने के बड़े-बड़े साधन हैं और जिस भूमि में सब तरह का विपुल अन्न पैदा होकर सब को खाने को मिलता है। जिससे प्राणी मात्र सुखी है तथा जिसमें कारीगर लोग कला कौशल में कुशल हैं। किसान लोग खेती के काम में प्रवीण हैं और अन्य लोग भी उद्योगी हैं, वह पृथिवी हमें सदैव उत्तम-उत्तम भोग्य पदार्थ और ऐश्वर्य देने वाली हो। वेद कहता है कि जल शुद्ध हो तथा उत्तम स्थान का हो। हम सब इस तथ्य से परिचित हैं कि गाय जो कुछ खाती पीती है उसका प्रभाव उसके दूध पर पड़ता है। जल का भी यह नियम है कि वह स्थान के गुण दोष अपने साथ ले आता है, इसीलिए कई स्थानों का जल दस्त लगाने वाला तथा कई स्थानों का ज्वर उत्पन्न करने वाला होता है। अत: शुद्ध जल स्वस्थ जीवन हेतु आवश्यक है। समाचार पत्रों में प्रतिदिन दूषित जल का उल्लेख रहता है। गंगा आदि पवित्र नदियों में स्नान करने से पुण्यलाभ की बात इसीलिए कही गई है कि इन नदियों का जल पावन तथा औषधीयुक्त था। जिसमें स्नान से आधि-व्याधि का शमन ही मुख्य हेतु था। ... आज भी अनेक रोगों के प्रशमनार्थ उपयोगी है। प्राकृतिक चिकित्सा इसका ज्वलन्त उदाहरण है। लेकिन ये सारी की सारी प्रक्रिया शुद्ध जल पर आधारित है, इसमें सन्देह नहीं। जल शुद्ध हो इसके लिए सरकारी प्रयास भी उतने ही आवश्यक हैं, जितने व्यक्तिगत। समाचार पत्रों, टी. वी., रेडियो द्वारा दिए गए उद्बोधन जन सामान्य में जागरूकता लाने का उचित व सशक्त माध्यम हैं। विज्ञापन के इस युग में प्रचार माध्यमों की भूमिका को उपेक्षित नहीं किया जा सकता है। बात शिक्षा-प्रसार या राजनीतिक उठा पटक की ही नहीं है, न जाने कितनी ही गली सड़ी कुरीतियों विषयक जागरूकता लाने में संचारमाध्यमों का अपूर्व योगदान है। ९-१० बजे तक सोने वाले लोगों का ब्राह्ममुहूर्त में जागरण तथा आसन प्राणायाम करना इस तथ्य के जीवन्त उदाहरण हैं। इनमें व्यक्ति विशेष अथवा संस्था विशेष के परिश्रम व भूमिका का यद्यपि अपना महत्त्व है, तथापि दो तीन वर्षों के स्वल्प काल में सारे विश्व में योग का डंका बजाना संचारक्रान्ति का वरदान है। यद्यपि सरकार द्वारा जनहित में हाथ धोने व प्रतिदिन स्नान करने की बात टी. वी. व रेडियो के माध्यम से की जा रही है, लेकिन जलसंकट तथा उस पर भी अशुद्ध जल की विकट समस्या के प्रति लोगों की सजगता के लिए ये प्रयास ऊँट के मुँह में जीरे के समान हैं। जल स्वत: तो अशुद्ध हो नहीं रहा उसका कारण हम सब हैं। इस प्रसंग में ऋग्वेद में अतीव रमणीय वर्णन है-

पूर्वीरस्य निष्षिधो मर्त्येषु पुरू वसूनि पृथिवी बिभर्ति।
इन्द्राय द्याव ओषधीरुतापो रयिं रक्षन्ति जीरयो वनानि॥[१८]

अर्थात् परमात्मा ने मनुष्य को प्राकृतिक संसाधनरूपी महत्त्वपूर्ण उपहार दिए हैं। ये ईश्वरीय अक्षय धन की रक्षा करते हैं, ये हैं-सूर्य चन्द्र आदि द्युलोक, पृथिवी, वृक्ष, वनस्पतियाँ, जल, नदियाँ, जल के स्रोत झरने और वन। वैदिक साहित्य में इन्हें देव कहा गया है निरुक्त में आचार्य यास्क लिखते हैं- **देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा।**[१९] देव वह है जो कुछ देता है, स्वयं प्रकाशित है, अन्यों को प्रकाशित करता है अथवा द्युलोकस्थ है। इस दृष्टि से पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, मेघ आदि सभी देव हैं, क्योंकि ये संसार का उपकार करते हैं। अत: वैदिक ऋषियों ने कृतज्ञता स्वरूप इन्हें देव कहा है।

जल अशुद्धि का कारण पटाखे, वाहन, फैक्ट्रियाँ, शस्त्र, आणविक विस्फोट आदि हैं। इनसे न केवल भूमिस्थ, अपितु वृष्टि का जल प्रदूषित हुआ है। प्रदूषित आकाशीय जल का जीवन्त दृष्टान्त हम अम्ल वर्षा के रूप

१८- ऋग्वेद ३.५१.५

में देख सकते हैं। अथर्ववेद के चतुर्थ काण्ड का १५वाँ सूक्त वृष्टिपरक है। इसका देवता पर्जन्य है। सारा का सारा सूक्त पठनीय है। यथा-चारों दिशाओं में बादल आ जाएँ, वायु जोर से बहे, उस वायु से मेघ आकाश में आ जाएँ और बड़ी गर्जना के साथ बड़ी वृष्टि हो।[२०] मेघ हमारे लिए उत्तम जल का दान करने वाले हों। जलों के रस अर्थात् विभिन्न वृक्ष, वनस्पतियाँ औषधीयुक्त हों। वृष्टि की धारायें भूमि को समृद्ध करें।[२१] सप्तम मन्त्र अतीव रमणीय है-

सं वोऽवन्तु सुदानव उत्सा अजगरा उत। मरुद्भिः प्रच्युता मेघा वर्षन्तु पृथिवीमनु॥[२२]

अर्थात् जल देने वाले मेघ सब की रक्षा करें, भूमि पर उत्तम वृष्टि हो। अतिवृष्टि और अनावृष्टि का निराकरण करते हुए वेद में कामना की गई है कि **निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो नः ओषधयः पच्यन्ताम्, योगक्षेमो नः कल्पताम्**[२३] मन्त्र में पर्जन्य का यथासमय बरसना, वृक्ष, वनस्पतियों का फलयुक्त होना तथा प्रजा का योगक्षेम प्राप्त होने की कामना की गई है। सारा का सारा पर्जन्य सूक्त इतना जीवन्त है कि पाठक के अन्तस्तल में गर्जना करते हुए मेघों का दृश्य साक्षात् उपस्थित हो जाता है। इस मनोहर दृश्य की कामना सृष्टि का सम्पूर्ण जीवजगत् करता है, क्योंकि मेघ समस्त संसार को जीवनी शक्ति प्रदान करता है। यजुर्वेद के एक मन्त्र में ऐसा ही सुन्दर वर्णन प्राप्त होता है।[२४] लेकिन मनुष्य की अतिस्वार्थपूर्ण प्रवृत्ति ने इस आनन्द प्रदात्री प्राकृतिक प्रक्रिया को जीव-जन्तुओं, वृक्ष-वनस्पतियों हेतु विकृत कर दिया है। अत: समय-समय पर उसके विकरालरूप का सामना करना पड़ रहा है। न केवल जनसामान्य अपितु विश्व के अग्रणी देश भी इस संवेदनशील मुद्दे पर कितने संवेदनाहीन हैं, बताते हुए पूर्व केन्द्रियमन्त्री जगमोहन दैनिकजागरण में लिखते हैं- **पर्यावरण पर संयुक्त राष्ट्र का एक विशाल सम्मेलन १९७२ में स्काटहोम में हुआ था। जिसे बहुत अधिक चर्चा मिली। सम्मेलन में सभी देशों तथा संयुक्त राष्ट्र एजेंसियों ने मानव पर्यावरण के संरक्षण और सम्वर्धन का संकल्प व्यक्त किया। लेकिन आज स्थिति क्या है? समग्र पर्यावरण १९७२ के अपेक्षा आज कहीं बदहाल स्थिति में है। प्रत्येक वर्ष विश्व २४ अरब टन मृदा गँवा रहा है, १० अरब एकड़ कृषि योग्य भूमि नष्ट हो रही है। ४ करोड़ ४० लाख एकड़ वन नष्ट हो रहे हैं। डेढ करोड़ एकड़ नए रेगिस्तान बन रहे हैं। जरूरत से १६० अरब टन ज्यादा पानी का दोहन हो रहा है। वातावरण में बड़े पैमाने पर कार्बनडाई आक्साइड भरी जा रही है। विश्व की दस बड़ी नदियाँ जिनमें गंगा और नील भी शामिल हैं, खतरे का सामना कर रही हैं। लगभग ६० प्रतिशत पर्यावरण पर विपरीत प्रभाव पड़ रहा है और करीब २ हजार प्रजातियाँ प्रतिमाह नष्ट हो रही हैं। ----वर्तमान विश्व व्यवस्था को संचालित करने वाली तथा लोगों की जीवन शैली तय करने वाली मूल शक्तियों ने इतिहास को विपरीत दिशा में मोड़ दिया है। क्योटो प्रोटोकॉल १९९७ का उदाहरण लें इसका उद्देश्य ग्रीन हाऊस गैसों के उत्सर्जन को नियन्त्रित करना था विकसित देशों को सामूहिक रूप से अपने उत्सर्जन को १९९० के स्तर से ५ प्रतिशत कम पर लाना था। बाली सम्मेलन में किसी ने गम्भीरता से यह सवाल नहीं उठाया कि विकसित देशों ने कार्बन उत्सर्जन को कम करने के लिए १९९७ से क्या किया। यदि यह सवाल किया जाता तो यही**

२०- अथर्ववेद ४.१५.१, समुत्पतन्तो प्रदिशो नभस्वतीः समभ्राणि वातजूतानि यन्तु। महऋषभस्य नदतो नभस्वतो वाश्रा आपः पृथिवीं तर्पयन्तु॥

२१- वही ४.१५.२, समीक्षयन्तु तविषाः सुदानवोऽपां रसा ओषधीभिः सचन्ताम्। वर्षस्य सर्गा महयन्तु भूमिं पृथग्जायन्तामोषधयो विश्वरूपाः॥

२२- वही ४.१५.७

२३- यजुर्वेद २२.२२

२४- यजुर्वेद ३६.१०, शन्नो वातः पवतां शन्नस्तपतु सूर्यः। शन्नः कनिक्रदद्देवः पर्जन्योऽभिवर्षतु॥

सामने आता कि कार्बन उत्सर्जन कमी करना तो दूर यह प्रत्येक देश में व्यवहारिक रूप से बढ़ गया है।[२५] आज मनुष्य प्राकृतिक संसाधनों का उपभोग इतना अधिक कर रहा है कि प्राकृतिक संतुलन बिगड़ गया है।

इलैक्ट्रॉनिक उत्पाद भी पर्यावरण प्रदूषण का बहुत बड़ा कारक हैं। इस विषय में मनीष त्रिपाठी लिखते हैं- **पर्यावरण को और अधिक प्रदूषित करने में ई-वेस्ट बहुत बड़ी समस्या है। इलैक्ट्रॉनिक वेस्ट अर्थात् कबाड़ घोषित किये गए इलैक्ट्रॉनिक उत्पाद। भारत में अभी ई-वेस्ट की मात्रा कुल उत्पादित कचरे का मात्र एक प्रतिशत है। लेकिन यह कोई खुश होने की वजह नहीं है। कारण यह है कि विकसित देश भारत और ऐसे ही अन्य एशियाई देशों में अपना ई-वेस्ट भेज देते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि अपना देश एक बहुत ही जहरीले कबाड़ का अड्डा बनता जा रहा है और समय रहते इससे निपटने के उपाय नहीं किये गए तो विकराल समस्या खड़ी हो जाएगी- --- ये ई-वेस्ट इतना खतरनाक इसलिए है, क्योंकि इसके निस्तारण में विषैली गैसें और हजारों तरह के नुकसानदेह रसायनों का निकास होता है। इन सभी किस्म के ई-वेस्टों में सर्वाधिक विषैला कचरा कम्प्यूटर का माना गया है। जहाँ पर ई-वेस्ट को जलाया गलाया नहीं जाता, वहाँ पर इसको जमीन में गाड़ दिया जाता है। वहाँ पर इस कचरे से रिसने वाले प्रदूषक तत्त्व जमीन की उत्पादकता को कम करने के साथ ही भूगर्भ जल भी दूषित कर देते हैं। ई-वेस्ट के धुँए से डायाक्सिन जैसी जहरीली गैसें निकलती हैं और इससे सिलिकासिस, अस्थमा तथा कई बार हवा में लेड की अधिकता के कारण मौत भी हो जाती है।**[२६] इस प्रदूषित वायुमण्डल को सुधारना दु:साध्य अवश्य है, लेकिन असाध्य नहीं। हम सब इसमें अपना योगदान दे सकते हैं। हममें से प्रत्येक जहाँ भी है, यह संकल्प ले कि वायुप्रदूषण नहीं करेंगे। अनिवार्य कारणों यथा यानों द्वारा या व्यवसाय के माध्यम से जितना प्रदूषण हो जाता है, उसको यथासम्भव कम करने के साथ-साथ प्रदूषण के निराकरण का उपाय करें। आसपास वालों को इस सम्बन्ध में जागरूक करने का भरपूर प्रयास करें। **सरकार को भी दीपावली, होली, नववर्ष, विवाह आदि उत्सवों पर पटाखों, आतिशबाजी पर रोक लगा देनी चाहिए। कम से कम इनके सीमित प्रयोग का अध्यादेश तो अविलम्ब जारी करना चाहिए। पालन न करने पर कठोर दण्ड का प्रावधान हो। इस सम्बन्ध में नेताओं पर भी लगाम कसने की आवश्यकता है, चुनाव चाहे छोटा हो या बड़ा जीत के जश्न में पर्यावरण सम्बन्धी नियमों की धज्जियाँ उड़ जाती हैं। बिना कठोर नीति के इनका निराकरण सम्भव नहीं।** अथर्ववेद कहता है- मैं प्रकाशमान्, तेजस्वी, दीप्तिमान् बनूँ तथा जो पृथिवी का अनावश्यक दोहन करते हैं, उन्हें नष्ट कर दूँ।[२७] स्वयंसेवी संस्थाएँ पर्यावरण सुधार के लिए प्रयासरत हैं लेकिन सरकारी सहयोग भी इस दिशा में अत्यन्त आवश्यक है। जब तक इस विषय को सशक्तता से नहीं उठाया जायेगा, तब तक अपेक्षित परिणाम नहीं मिलेंगे। नैतिकता तथा समय की माँग है कि नेता, अभिनेता तथा समस्त बुद्धिजीविवर्ग जनसामान्य के समक्ष इस तरह के आदर्श उदाहरण प्रस्तुत करें, जिससे लोग पर्यावरण रक्षा जैसे अतिसमसामयिक विषय पर गम्भीरता से सोच सकें। सामाजिक तथा धार्मिक नेता भी समाज में जागरूकता फैलाने के लिए आगे आयें। राजनीतिकदल भी पर्यावरण-रक्षा जैसे आन्दोलनों को अपना सक्रिय सहयोग दें। जिससे वेद के शब्दों में कह सकें- **माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।**[२८]

२५- बाली में बला टालने का काम - लेख, सम्पादकीय पृष्ठ, दैनिक जागरण २७.१२.२००७

२६- तकनीक का जहर है ई-वेस्ट - लेख, दैनिक जागरण २२.१२.२००७

२७- अथर्ववेद १२.१.५८, त्विषीमानास्मि जूतिमान वान्यान् हन्मि दोधत।

२८- वही १२.१.१२

रुकुल-शोध-भारती सितम्बर २००९ अङ्क १२ (पृ०१५४-१६१)

मनु की राजव्यवस्था की वर्तमान में प्रासंगिकता

डॉ. कामना जैन[१]

पौराणिक आख्यान के अनुसार मनु को मानव जाति का पिता माना जाता है। मनु द्वारा रचित 'मनुस्मृति' एक ऐसा धर्मशास्त्र है, जिसमें मनुष्य के जीवन से सम्बन्धित प्रत्येक पक्ष, बाल्यावस्था से लेकर वृद्धावस्था तक की समस्त जीवन शैली को वर्णित किया गया है। मनुष्य के जीवन के समस्त सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं ...तिक पहलुओं की चर्चा भी विस्तारपूर्वक की गई है। इस कारण ही भारतीय साहित्य जगत् में मनुस्मृति को सर्वाधिक प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। जिसका वर्चस्व आज भी पहले की ही भांति विद्यमान है। हिन्दू विधि जगत् में भी मनुस्मृति को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। भविष्य के अनुगमन के लिए उन समस्त सिद्धान्तों का वर्णन ही मनुस्मृति के १२ अध्यायों में किया गया है। प्राचीनकाल से ही भारत एक धर्म प्रधान देश रहा है। समाज की व्यवस्था सुचारू रूप से चले इसका सर्वप्रमुख दायित्व राजा का होता है। कहा भी गया है- **'यथा राजा तथा प्रजा।'** अतः मनु के अनुसार राजपद धारण करने का अधिकार केवल उसी व्यक्ति को है जो वीर, सत्यवादी, बुद्धिमान् एवं धर्म के अनुसार आचरण करने वाला हो। राजा को पिता के वात्सल्य भाव से अपनी प्रजा के पालन व कल्याण में सदैव तत्पर रहना चाहिए। समस्त सुख, ऐश्वर्य आदि होते हुए भी निराकार भाव से उनका उपभोग करना चाहिए। राज्य, प्रजा एवं कोष की सुरक्षा एवं वृद्धि हेतु ही निरन्तर मनन एवं कार्यरत रहना चाहिए। मनु के अनुसार राजा का पद प्रजा से कर ग्रहण करके कोष बढ़ाना नहीं है, वरन् उचित मात्रा में कर लेकर उस धन का प्रजा के कल्याण एवं रक्षा हेतु ही पुनः उपयोग करना है। शायद इन्हीं व्यवस्थाओं के कारण ही प्राचीन काल के भारत की संस्कृति एवं राज्य व्यवस्था पूरे विश्व में एक अद्वितीय स्थान रखती थी। वर्तमान समय में भी देश का एक राजा, जिसे हम प्रधानमंत्री कहते हैं, जनता के ही द्वारा चुना जाता है, किन्तु आज हम देश में प्रत्येक स्तर पर विभिन्न समस्याओं से जूझ रहे हैं। विश्व में अपनी वह पुरानी उत्कृष्ट छवि खोते जा रहे हैं। सरकार की अस्थिरता व जीवन मूल्य गिरते-मिटते जा रहे हैं। अतः प्रस्तुत लेख में मनु द्वारा प्रतिपादित तत्कालीन राजव्यवस्था एवं वर्तमान में चल रही राजव्यवस्था का विवेचन करने का संक्षिप्त प्रयास किया गया है। जिसके द्वारा हम अपनी राजनीति के दूषित तथ्यों को समझकर उसे शुद्ध करने का प्रयास करें एवं भारत को पुनः विश्व गुरु होने का अवसर प्राप्त हो।

विश्व की समस्त प्राचीनतम सभ्यताओं के ऊपर भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति अपना एक विशिष्ट एवं अद्वितीय स्थान रखती है। ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर ऐसा माना जाता है कि पुरातनकाल में ही यहाँ पुराणों, रामायण, महाभारत जैसे धर्मग्रन्थों की रचना हो गई थी। हमारे अमूल्य प्राचीन ग्रन्थों में मनुष्य की दैनिक जीवनचर्या से लेकर मृत्योपरान्त तक के कर्त्तव्यों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। यहाँ तक कि सामाजिक व्यवस्था, धार्मिक संस्कारों, राजा की उत्पत्ति, गुण, उसके कार्य, व्यवहार, न्याय सम्बन्धी आदि मानव जीवन से सम्बन्धित प्रत्येक महत्त्वपूर्ण पहलू का विशद वर्णन किया गया है। किन्तु यह अति निराशाजनक है कि राजनीति शास्त्र के अन्तर्गत हम केवल पाश्चात्य जगत् के विचारकों को ही अधिक महत्त्व देते हैं। राज्य, शासक, प्रजा, दण्ड, वैदेशिक संबंधों, युद्ध राजनीति आदि के सम्बन्ध में पाश्चात्य जगत् के विचारकों को ही अधिक प्रामाणिक माना

१ डॉ. कामना जैन, प्रवक्ता, राजनीति विज्ञान विभाग, एस.एस.डी. (पी.जी.) कॉलेज, रुड़की, हरिद्वार

जाता है। किन्तु यदि हम मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति, कौटिल्यकृत अर्थशास्त्र आदि का अध्ययन-मनन करेंगे तो हमें राज्य से सम्बन्धित प्रत्येक विषय पर स्पष्ट नीतिगत विचार मिलते हैं।

प्राचीन भारतीय विचारकों को राजनीति के क्षेत्र में उतना प्रश्रय ना प्राप्त होने का कारण सम्भवतः यह हो सकता है कि भारतीय विद्वान् महीषियों ने 'राज' से अधिक 'धर्म' को महत्ता दी है। जैसा कि कहा गया है-

न वै राज्यं राजासीत् न दण्डो न च दाण्डिकः।
धर्मणैव प्रजा सर्वा रक्षति स्म॥'[२]

सृष्टि के प्रारम्भ में न कोई राज्य था न राजा, न दण्ड, ना ही दण्ड देने वाली कोई शक्ति, फिर भी समाज में कोई अव्यवस्था नहीं थी, क्योंकि समस्त प्रजा धर्म के द्वारा परस्पर एक-दूसरे की रक्षा करती थीं।

राजा और दण्ड की आवश्यकता ही तब उत्पन्न हुई जब मनुष्य में लोभ ने प्रवेश किया और लोभ तो समस्त बुराइयों की जड़ है, मानव ने उचित व अनुचित माध्यमों से परिग्रहण करना आरम्भ कर दिया। जब सामाजिक व्यवस्था, अव्यवस्था में परिणित होने लगी तब ऋषियों ने एक शासक की आवश्यकता अनुभव की और सब ऋषियों ने मिलकर मनु को अपना शासक चुन लिया।[३] हमारे देश की विगत हजारों वर्ष पुरानी अनुश्रुति परम्परा में मनु का नाम और चरित्र दृढ़तापूर्वक चिरन्तन सत्य के रूप में ही स्वीकार किया गया है। प्रसिद्ध टीकाकार गोविन्दराज ने भी 'वेदों' में पारंगत महर्षि कहकर उनका परिचय दिया है तथा वे ही प्रथम प्रजापति स्वीकार किए गए हैं।[४] पुराणों में तो उनका वंशक्रमानुगत विवरण भी उपलब्ध है। यहाँ मुख्य तथ्य यह है कि पुराणानुसार स्वायंभुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामल, वैवस्तव आदि १४ मनु माने गए हैं और उनमें से प्रत्येक का अपना अलग मन्वन्तर (समय) निर्धारित किया गया है। इनमें स्वायंभुव मनु सबसे पुरातन तथा वैवस्तव मनु वर्तमान मन्वन्तर के प्रवर्तक माने जाते हैं। अब क्योंकि हमारा वर्तमान मन्वन्तर मनु वैवस्तव के नाम से ही प्रचलित है तथा उन्हीं से सूर्यवंश एवं चन्द्रवंश की समस्त शाखा-प्रशाखाओं की उत्पत्ति मानी गई है,[५] अतः हम यहाँ अपने आदि पुरुष के रूप में उन्हें ही अपना प्रथम अर्ध्य चढ़ाकर श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

मनुस्मृति में २५०० से भी अधिक श्लोक हैं जो कि बारह अध्यायों में विभक्त हैं। अतः समस्त का अध्ययन व वर्णन करना यहाँ पर सम्भव न हो पाने के कारण मनु की राजव्यवस्था का संक्षिप्त अध्ययन करने का प्रयास किया गया है।

मनुस्मृति समस्त मानवता के लिए लिखी गई है।[६] इसमें श्रेष्ठ समाज व्यवस्था के लिए विधानों-कानूनों का निर्धारण भी है और साथ ही मानव को मुक्ति प्राप्त कराने वाले आध्यात्मिक उपदेशों का निरूपण भी है। यह व्यक्ति एवं समाज के लिए धर्मशास्त्र एवं आचारशास्त्र है, तो साथ ही सामाजिक व्यवस्थाओं को सुचारू रूप में रखने के लिए 'संविधान' भी है।[७]

---

२. महा० १२,५९,१४
३. स्वामी दीक्षानन्द सरस्वती, मनुस्मृतेर्मानवार्ष भाष्यम्, प्रथमं काण्डम्, कुसुमलता आर्य प्रतिष्ठान, गाजियाबाद, पृ. २
४. दे. ऋग्वेद संहिता (१/८०/१६; १/११४/२; २/३३/१३)
५. स्वामी दीक्षानन्द सरस्वती, पूर्वोक्त, पृष्ठ ३
६. एम.एमः शकधर, द मिस अण्डरस्टूड मनु, इण्डियन एक्सप्रेस, मई ०१, १९९४
७. प्रो. सुरेद्र कुमार, अनुवादक, मनुस्मृति, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, पृष्ठ- ३, १९८५

मनु के राजनीति सम्बन्धी विचार

मनु भारतीय राजनीति के पिता कहे जाते हैं। उनके अनुसार राजा का सर्वप्रमुख कर्तव्य जनता को शांति व सुरक्षा का वातावरण प्रदान करना है। उनके सुप्रशासन सम्बन्धी विचार आधुनिक समय के कल्याणकारी राज्य की धारणा से साम्यता लिए हुए प्रतीत होते हैं।[८]

वर्तमान में प्रजातन्त्र को शासन की सर्वश्रेष्ठ शासन व्यवस्था माना जाता है और मनुस्मृति के अनुसार ऋषियों द्वारा मनु को राजा चुना जाना प्रजातन्त्रात्मक भावना का ही द्योतक है। राजा की शक्तियों, कर्तव्यों, किये जाने व ना किये जाने वाले समस्त कार्यों का उल्लेख मनुस्मृति के सप्तम व अष्टम अध्याय में वर्णित है।

मनुस्मृति के अनुसार समाज और राज्य की सुरक्षा के लिए ही राजा का पद बनाया गया है। अत: राजा को आठ विशिष्ट गुणों से युक्त होना चाहिए।

इन्द्राऽनिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हत्य शाश्वती:॥[९]

अर्थात राजा इन्द्र अर्थात विद्युत के समान शीघ्र ऐश्वर्यकर्त्ता, पवन के समान सबको प्राणवत् प्रिय और हृदय की बात जानने वाला, यम के समान पक्षपात रहित, न्यायाधीश के समान बर्तने वाला, सूर्य के समान धर्मविद्या का प्रकाशक, अन्धकार अर्थात् अविद्या अन्याय का निरोधक, अग्नि के समान दुष्टों को भस्म करने वाला, वरुण अर्थात् बांधने वाले के सदृश दुष्टों को अनेक प्रकार से बाँधने वाला चन्द्र के तुल्य श्रेष्ठ पुरुषों को आनन्ददाता, धनाध्यक्ष कुबेर के समान कोषों को भरने वाला सभापति हो।[१०]

वर्तमान में भी चुनावों के दौरान वही दल सफल होता है, जो जनता की सुख सुविधाओं का अधिकाधिक ध्यान रखते हुए अपने दल की नीतियाँ बनाता है। जनता आज भी शासक से वही सनातन अपेक्षा रखती है कि जनता को पक्षपातरहित समुचित न्याय मिले। यह अलग बात है कि चुनावों में विजय प्राप्त करने के बाद दलीय नेता अपना चुनावी घोषणा पत्र भूल जाते हैं। न्याय की बात करें तो पहले पीड़ित पक्ष को न्याय तुरंत मिल जाता था और आज वर्षों लग जाते हैं।

कानून की रक्षा एवं उसका पालन कराने हेतु ही राज्य व सरकार अस्तित्व में आयी हैं। सामाजिक समझौते द्वारा राज्य की उत्पत्ति सम्बन्धी विचार के पाश्चात्य प्रवर्त्तक थॉमस हॉब्स का विचार भी यही है कि प्रारम्भ में अराजकता, शक्तिशाली का हित सर्वोपरि एवं मत्स्य न्याय को समाप्त करने के लिए समस्त जनता ने मिलकर अपना एक शासक चुना, जिसे अपनी समस्त शक्तियाँ समर्पित कर दीं और उससे यह आशा की गयी कि वह समाज में सर्वकल्याण हेतु कानून एवं दंड की व्यवस्था करे।

दण्ड सम्बन्धी विचार

मनुस्मृति के अन्तर्गत जहाँ राजा को सुशासन की नीतियाँ बतायी गयी हैं, वहीं समाज में अस्थिरता लाने

८. के. श्री रंजनी सुब्बाराव, मनु के प्रशासन सम्बन्धी विचार, द इण्डियन जनरल ऑफ पॉलिटिकल साइंस, वॉल्यूम-LXVI नं. ३, जुलाई-सितम्बर २००५, पृष्ठ- ५००

९. मनु०७.४

१०. मनुस्मृति, ७:३७-५३

वाले असामाजिक तत्त्वों के लिए दण्ड की भी व्यवस्था की गयी है। मनुस्मृति के सप्तम अध्याय में लिखा है-

दण्डः शास्ति प्रजा सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधा॥[११]

इसका तात्पर्य यही है कि प्रजा को दण्ड के भय द्वारा अनुशासन में रखा जा सकता है, दण्ड के द्वारा ही प्रजा की रक्षा होती है। जब प्रजा सुप्तावस्था में होती है तब दण्ड ही जागता है और एकान्त में होने वाले अपराधों को भी दण्ड भय के द्वारा ही रोका जा सकता है। तुलसीदास जी ने भी दण्ड भय की महत्त्व बताते हुए रामायण के पञ्चम अध्याय सुंदरकाण्ड में लिखा है-**भय बिनु होई न प्रीति।**

राजा का स्वानुशासन

यहाँ महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि सर्वप्रकारेण शक्ति संपन्न होते हुए भी राजा निरंकुश नहीं बन सकता, क्योंकि वह राजधर्म की शक्ति से बाध्य है। मनु राजधर्म के माध्यम से राजा की निरंकुशता पर रोक लगाते हैं और उसे लोकहित में कार्य करने के लिए प्रेरित करते हैं। कठोर प्रशिक्षण एवं अनुशासन में रहकर ही कोई व्यक्ति शासक पद के लिए मनुस्मृति में वर्णित विशिष्टि गुणों से युक्त हो सकता है। मनुस्मृति के अन्तर्गत राजा की दिनचर्या इस प्रकार निर्धारित की गयी है कि उसके पास भोग विलास हेतु कोई अवसर ही शेष न रहे। मनु के अनुसार राज पद की गरिमा जनकल्याण में रत रहने से ही है। **अथर्ववेद** में भी वर्णित है कि **ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति।**[१२] इससे स्पष्ट है कि राजा जितेन्द्रिय अर्थात ब्रह्मचारी रहकर ही तपस्या से राष्ट्र की रक्षा कर सकता है। अतः स्पष्ट है कि राज्य की बागडोर संभालना तपस्वी जीवन जीने के समान है। राष्ट्र व जनता के लिए स्वयं को भूलकर, अपना सर्वस्व राष्ट्र को अर्पित कर देना, जनता के सुख में सुखी एवं दुःख में दुःखी होकर उस दुःख को दूर करना आदि ही राजधर्म का प्रमुख कर्त्तव्य है।

हमारे देश के स्वतन्त्रता सेनानियों ने अपने सर्वस्व बलिदान से ही भारतमाता को १८० साल की ब्रिटिश गुलामी से मुक्त कराया। धर्म, भाषा, जाति, क्षेत्र से ऊपर उठकर आजादी की मांग की। देश की आजादी की खातिर अपना परिवार, सुख सम्पत्ति सब त्यागकर, ब्रिटिश सरकार के निर्मम अत्याचार सहे और बिना किसी मान व माल की आशा के अपने प्राणों की आहुति तक दे दी।

यह एक विसंगति ही है कि आज भारत भूमि की भाग्यरेखा ऐसे व्यक्तियों के हाथों में है जो अपने पूर्वजों के अमूल्य बलिदान को भूल गये हैं। राजधर्म से धर्म को निकालकर स्वहित के लिए केवल राज करना चाहते हैं। देश की राजनीति अब मूल्यों और सिद्धान्तों पर नहीं चल रही। यह व्यक्तिपरक, धर्म और जाति पर आधारित होती जा रही है। अभी जो चुनाव प्रक्रिया है, उसमें ऐसे लोगों की संख्या बढ़ती जा रही है जिनका उद्देश्य राजनीति के माध्यम से लाभ कमाना है, जनसेवा नहीं।[१३] देश को पतन से बचाने के लिए आवश्यकता इस बात की है कि नेतावर्ग को समझना चाहिए कि झूठ के पांव अधिक लम्बे नहीं होते। अतः यदि दीर्घकाल तक सत्तासीन होना चाहते हैं तो जनता से जुड़कर उनकी समस्याओं को समझकर उसके निदान हेतु उपाय खोजें। जैसा कि **अब्राहिम लिंकन** का भी मानना था कि जनता के एक निश्चित भाग को प्रत्येक समय मूर्ख बनाया जा सकता है और सारी

---

११. मनु०७.१८
१२. अथर्ववेद ११/५/४
१३. सभाष कश्यप : राष्ट्रीय सहारा, हस्तक्षेप, १७ मार्च ०९

जनता को एक निश्चित समय पर मूर्ख बनाया जा सकता है, किंतु यह कदापि सम्भव नहीं है कि सभी व्यक्तियों को प्रत्येक समय मूर्ख बनाया जा सके।[१४]

राजा एवं उसका मन्त्रिमण्डल

एक बड़े राज्य व उसकी सीमाओं का ध्यान अकेला राजा नहीं रख सकता। अतः राजा को अपने सहायतार्थ एक मन्त्रिमण्डल का गठन करना होता है जो कि राज-काज के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार से राजा की सहायता करे। मन्त्रियों की नियुक्ति के सम्बन्ध में मनुस्मृति बताती है कि राजा अपने ही राज्य में उत्पन्न, शास्त्रों के ज्ञाता, वीर, कुलीन, धर्मात्मा, अनुभवयुक्त राजभक्तों की सब प्रकार से परीक्षा करके मन्त्री चुने एवं उन्हें विभिन्न विभागों में नियुक्त करे। राजा को स्वयं इन सबका निरीक्षण करना चाहिए। उपरोक्त प्रक्रिया को अपनाते हुए हमारे देश में चुनावों के बाद सर्वप्रथम प्रधानमंत्री अपने विभिन्न विभागों के लिए मन्त्रियों का चयन करते हैं उन्हें विभिन्न विभाग सौंपते है व उन्हें अपने दल, विभाग एवं देश के प्रति श्रद्धा व गोपनीयता की शपथ दिलाई जाती है। विभागों का बँटवारा करते समय प्रधानमंत्री इस बात का विशेष ध्यान रखते हैं कि प्रतिभाशाली, योग्य, अनुभवी व्यक्तियों को ही विभाग का उत्तरदायित्व सौंपा जाए। हालांकि वर्तमान में गठबंधन की राजनीति के परिणामस्वरूप राजनीतिक अस्थिरता पैदा हो गई है। राजनीतिक अस्थिरता के ही कारण जातिवाद, धार्मिक उन्माद, क्षेत्रीयता तथा अलगाववाद जैसी विचारधारायें आज भारत में चरम सीमा पार कर गयी हैं। साथ ही अपराधी माफिया तत्वों का भी राजनीति में बोलबाला हो गया है। इन अपराधी तत्वों के कारण विभिन्न क्षेत्रीय पार्टियों के अन्दर जनतांत्रिक प्रणाली का विखंडन होता जा रहा है। क्षेत्रीय पार्टियों की भूमिका पूर्णतः सौदेबाजी में बदलती चली गई। राजनीतिक अस्थिरता का भयंकर दुष्परिणाम यह है कि मात्र एक सांसद वाली पार्टी भी सौदेबाजी के तहत प्रधानमंत्री पद हड़प लेने का सपना देखती है।[१५] यह सौदेबाजी की दूषित प्रथा देश के भविष्य के लिए अच्छा संकेत नहीं है।

राज्य संचालन हेतु प्रशासनिक व्यवस्था

राज्य के सुसंचालन हेतु मनुस्मृति में प्रशासनिक व्यवस्था का भी उल्लेख मिलता है। मनुस्मृति के अनुसार एक-एक ग्राम में एक-एक प्रधान पुरुष को रखे, दश ग्रामों के ऊपर फिर दूसरा और बीस ग्रामों के ऊपर तीसरा, उन्हीं सौ ग्रामों के ऊपर चौथा और उन्हीं सहस्र गामों के ऊपर पांचवा पुरुष रखे अर्थात् जैसे आजकल एक ग्राम में एक पटवारी, उन्हीं दश ग्रामों में एक थाना और दो थानों पर एक बड़ा थाना और उन पांच थानों पर एक तहसील और दस तहसीलों पर एक जिला नियत किया गया है।

राज्य संरक्षण के लए मनु प्रोक्त नियंत्रण केन्द्र-कार्यालय-व्यवस्था-तालिका

१.	केन्द्रीय कार्यालय राजधानी अर्थात् राजा का किला	७/६९-७६
२.	प्रत्येक नगर में एक सचिवालय	७/१२१
३.	सौ गांवों पर एक मुख्य कार्यालय	७/११४-११७

---

१४. , बी.डी. महाजन, पॉलिटिकल थ्योरी, एस चांद एण्ड कम्पनी लि., नई दिल्ली, पृष्ठ- ७९९

१५. तुलसीराम, राष्ट्रीय सहारा, हस्तक्षेप, २७ मार्च ०९

४. २० गांवों पर कार्यालय ७/११४-११७
५. १० गांवों पर कार्यालय ७/११४-११७
६. ५ गांवों पर कार्यालय ७/११४-११७
७. २ गांवों पर फिर एक कार्यालय ७/११४-११७

प्रत्येक कार्यालय का कर्तव्य है कि अपने से ऊपर के कार्यालयों को प्रतिदिन की गतिविधियों से सूचित करें।

मनु ने विभिन्न श्लोकों में समुचित राज्य संचालन के लिए तीन सभाओं की संरचना तथा उनमें काम करने वाले अधिकारियों का उल्लेख किया है। स्वतन्त्रता के पश्चात् हमने केवल ब्रिटिश संसदीय प्रणाली को अपनाया है, अन्यथा आज भी भारत में मनु द्वारा उल्लिखित प्रणाली का ही अनुसरण किया जा रहा है। अन्तर केवल यह है कि उन्हें सभा न कहकर 'पालिका' कहा जाता है। वर्तमान में तीन पालिकाएँ[१६] राज्य सम्बन्धी व्यवस्थाओं को निपटाती हैं-

१. विधानपालिका (विधान बनाने वाली परिषद्)
२. कार्यपालिका(इन नियमों को क्रियात्मक रूप देने वाली अधिकारी)
३. न्यायपालिका (न्याय करने वाले अधिकारी)

मनु ने कर ग्रहण के सम्बन्ध में भी कहा है कि जैसे- जौंक, बछड़ा और भंवरा थोड़े-थोड़े भोग्य पदार्थ को ग्रहण करते हैं, वैसे राजा को प्रजा से थोड़ा-थोड़ा वार्षिक कर लेना चाहिए। मनु प्रोक्त करव्यवस्था सर्वप्राचीन एवं सर्वाधिक मान्य है। मनु सर्वप्रथम सामाजिक व्यवस्थाओं के प्रवर्तक थे। एक राजा के रूप में उन्होंने इन व्यवस्थाओं को लागू कर समाज को व्यवस्थित एवं संगठित किया। अन्य व्यवस्थाओं की तरह जिस करव्यवस्था का उन्होंने निर्धारण किया था, लगभग वैसी ही कर प्रणाली आज तक चलती आ रही है। इससे ज्ञात होता है कि मनु की व्यवस्थाओं और मनुस्मृति की समाज में सर्वोच्च मान्यता थी।[१७]

न्यायपालिका सम्बन्धी विचार

मनुस्मृति के अष्टम अध्याय में न्याय सम्बन्धी सिद्धान्तों का उल्लेख किया गया है। मनुस्मृति के अन्तर्गत राजा को न्यायालयों में जाकर मुकदमों के निर्णय के लिए न्यायसभा में प्रवेश की अनुमति भी दी गई थी।

दोनों ओर के साक्षियों को सुनकर ही राजा या न्यायाधीश को न्याय करना चाहिए और जो मिथ्या बोले वे यथायोग्य दण्डनीय हो। मनुस्मृति में साक्ष्य लेने की विधि का भी उल्लेख किया गया है। वादी-प्रतिवादी के साक्षियों से वकील इस प्रकार पूछे कि- 'हे साक्षी लोगो! इस कार्य में इन दोनों के परस्पर कर्मों में जो तुम जानते हो उसे सत्य के साथ बोलो, क्योंकि तुम ही इस कार्य में साक्षी हो।'[१८] आज भी हमारे न्यायालयों में किसी भी व्यक्ति की गवाही लेने से पूर्व उसे भगवद्गीता की शपथ दिलाई जाती है और उससे यह आशा की जाती है कि वह सत्य ही बोलेगा। असत्य गवाही देने वाले के लिए भी मनु ने दण्ड की व्यवस्था की है। विभिन्न अपराधों के लिए

---

१६. प्रो. सुरेन्द्र कुमार, पूर्वोक्त, पृष्ठ- ५५५-५५७
१७. उपरोक्त, पृष्ठ- ५६३

विभिन्न प्रकार के दण्ड भी मनुस्मृति में बताए गए हैं, साथ ही राज्य की सम्पत्ति अर्थात् तालाब, नदी, शस्त्र, अन्न भंडार, यज्ञशालाओं आदि को तोड़ने वालों को भी कठोर दण्ड देने के लिए कहा गया है। चिकित्सक वर्ग को भी दंड से वंचित नहीं किया गया है। मनुस्मृति के नवम अध्याय में स्पष्टत: उल्लिखित है कि-

चिकित्सकानां सर्वेषां मिथ्या प्रचरतां दम:।
अमानुषेषु प्रथमो मानुषेषु तु मध्यम:॥[१९]

इसका तात्पर्य यह है कि जो चिकित्सक गलत उपचार करें उन्हें दण्ड मिलना चाहिए। पशुओं की गलत चिकित्सा करने वालों को 'प्रथम साहस' का तथा मनुष्यों की गलत चिकित्सा करने वाले पर 'मध्यम साहस' का दण्ड लगाना चाहिए। चोरी, सैंध, लूट आदि के सम्बन्ध में मनु कहते हैं कि राजा को प्रमाण उपलब्ध होने पर ही किसी को अपराधी घोषित करने व दण्ड देने का अधिकार है। दण्ड देते समय, अपराधी की स्थिति, आयु आदि को भी ध्यान में रखना चाहिए।

सृष्टि के आदिकाल से लेकर वर्तमान तक की राज्य व्यवस्था को मनुस्मृति विचारों एवं नीतियों का एक आधार प्रदान करती है। मनु के वचनों के सम्बन्ध में कहा गया है-

मनुर्वै यत्किंचावदत् तद् भैषजम्।[२०] अर्थात् मनु ने जो कुछ भी कहा है वह मानव जाति के लिए परम औषधि के समान कल्याणकारी है। प्राचीनकाल से मनुस्मृति के अनुकूल आचरण को प्रतिष्ठा सूचक माना जाता है। आजकल भी न्यायालयों में न्याय दिलाने में मनुस्मृति का महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है। सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्थाओं के प्रसंग में मनुस्मृति का उल्लेख अनिवार्य रूप से होता है और इससे मार्गदर्शन भी प्राप्त किया जाता है।[२१]

निष्कर्ष- मनु की राज्य व्यवस्था का अध्ययन करने के पश्चात् कहा जा सकता है कि एक आदर्श एवं कल्याणकारी राज्य बनाने के लिए मनु ने राज्य सम्बन्धी प्रत्येक विषय की व्याख्या की है। मनु का मानना था कि राजा के शासन में ही चारों युग होते हैं-

कृतत्रेतायुगं चैव द्वापरं कलिरेव च।
राज्ञो वृत्तानि सर्वाणि राजा हि युगमुच्यते॥[२२]

अर्थात् राजा जैसा राज्य बनाना चाहता है, उस राज्य में वही युग बन जाता है-सतयुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग और कलयुग ये सब राजा के ही आचार व्यवहार विशेष हैं। इस प्रकार राजा ही युगनिर्माता है।[२३] यह बात हमारे देश के नेतावर्ग को समझनी चाहिए। भ्रष्टाचार-बेईमानी का नारा लगाने की अपेक्षा एक बार आत्ममन्थन करके विचार करना चाहिए कि क्या वे वास्तव में भारत भूमि को प्रगति मार्ग में ले जा रहे हैं। जिस जनता ने उन्हें देश की शासन-व्यवस्था की बागडोर कल्याण एवं विकास के लिए सौंपी है, उससे वे वास्तव में जनहित कार्य कर रहे हैं या मात्र स्वहित में लगे हैं।

---

१९. मनु०९.२८४
२०. तैत्तिरीय संहिता, २/२/१०/२
२१. प्रो. सुरेन्द्र कुमार, पूर्वोक्त, पृष्ठ- ३
२२. मनु०९.३०१
२३. मनुस्मृति, नवम अध्याय

हमें गर्व होना चाहिए कि मनु ने सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन का स्पष्ट एवं सुव्यवस्थित दर्शन दिया है। उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त देश और काल की सीमाओं से ऊपर है।

मनु के चिन्तन की व्यापकता और उसके महत्त्व को स्पष्ट करते हुए डॉ० **केवल मोटवानी लिखते हैं**- 'मनु किसी एक राष्ट्र व जाति के न होकर सम्पूर्ण विश्व के हैं। उनकी शिक्षायें किसी एक पृथक् समुदाय, जाति या सम्प्रदाय के लिए नहीं, अपितु समस्त मानवता के लिए हैं। वे समय की सीमा लांघकर मानव के चिन्तन तत्व से सम्बन्ध रखने वाली हैं।'[२४] यह सत्य है कि मनु के प्रशासन सम्बन्धी विचार किसी एक देश के लिए नहीं, वरन् सम्पूर्ण संसार से सम्बन्धित है। फिर मनु के उत्तराधिकारी हम भारतवासियों की राजनीतिक व्यवस्था इतनी दूषित क्यों? यह एक अत्यन्त गहन विचारणीय प्रश्न है।

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २००९ अङ्क १२ (पृ०१६२-१६६)

महाभारत में नारी सशक्तीकरण

डॉ० नरेन्द्र कुमार आर्य[1]

महाभारत लौकिक संस्कृत साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थों में द्वितीय महाकाव्य है। महाभारत को वैदिक संस्कृति का प्रतिपादक ग्रन्थ माना जाता हैं। जो संस्कृति, सभ्यता, वेदों में प्रदर्शित एवं प्रतिपादित थी। उसका प्रभाव महाभारत पर पड़ा है, जिस प्रकार वैदिक साहित्य में कर्तव्याकर्तव्य के द्वारा शुभ-अशुभ का ज्ञान कराया गया है। उसी प्रकार से महाभारत में भी युधिष्ठिरादि के द्वारा शुभ एवं मंगलकारी तथा दुर्योधन आदि के द्वारा अशुभ कर्तव्यों का बोध कराया गया है। जब कोई श्रेष्ठ पुरुष श्रेष्ठ आचरण करता है, तो शेष लोग प्रमाण मान कर वैसा ही करते हैं।[2]

वैदिक साहित्य में जो श्रेष्ठ व मंगलकारी आविष्कृत हुआ और उसके बाद के साहित्य पर उसका भरपूर प्रभाव पड़ा और ज्ञान-विज्ञान का अनुसरण हुआ है। वैदिक समाज में, वर्ण आश्रम, शिक्षा, दण्ड, राज्यादि की व्यवस्थाएँ थीं। महाभारत में भी वैसी ही दृष्टिगोचर होती है। परिवार समाज की लघु इकाई है, व्यक्तियों से परिवार बनता है और परिवारों से समाज और समाज से राष्ट्र की परिकल्पना संभव होती है। परिवार का प्रारम्भ गृहस्थाश्रम से होता है और उसका उद्देश्य सभी को संतुष्ट रखते हुए राष्ट्र को सबल बनाना होता है।

महाभारत में मुख्य रूप से एक ही कुल में जन्मे दो राजकुमारों की चर्चा की गई है। इन दोनों राजकुमारों को महाकवि वेद व्यास जी ने नायक और खलनायक के रूपों में चित्रित किया है। इसके अतिरिक्त कुछ सहायक चरित्र भी है, जिन पर अच्छी व बुरी दोनों ही संस्कृतियों का प्रभाव है। महाभारत में वैदिक परिवार का स्वरूप अनेक प्रकार से देखा जा सकता है। परिवार के जैसे आदर्श तथा कर्तव्य वेदों में प्रतिपादित हैं, प्रायः वही महाकवियों ने निर्धारित किये हैं।

महाभारत में नारी का महत्त्व

वेदों में नारी की महिमा का अत्यन्त गौरवपूर्ण उल्लेख देखने को मिलता है। नारी ऋग्वेद में २४ और अर्थवेद में १९८ मन्त्रों को प्रत्यक्ष कियां है।[3] वहाँ स्त्री को सावित्री[4] आत्मा का आधा अंश[5] गृहलक्ष्मी को साक्षात् श्री माना गयां है।[6] इन सब भावों से प्रभावित होकर आचार्य मनु महाराज ने कहा है....... **यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः**[7] का उद्घोष किया था। इस विषय में ऋग्वेद की ऋचा कहती है-

---

१. डॉ० नरेन्द्र कुमार आर्य, अध्यक्ष संस्कृत विभाग, हे०न०ब०ग० केन्द्रीय विश्वविद्यालय स्वामी रामतीर्थ परिसर बादशाहीथौल, टिहरी गढ़वाल उत्तराखण्ड
२. श्रीमद्भगवद्गीता०३/२१
३. वेदों में नारी डॉ० कपिल देव द्विवेदी पृ. सं००५
४. स्त्री सावित्री जै. उप. ब्रा. २७.१०-१७
५. तैत्तिरीय ब्रा.०३.०३.०३.०५
६. तै० ब्रा००३.०९.०४.०७
७. मनुस्मृति०३.५६

यथा- **साम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव। ननान्दरि म्रज्ञी भव सम्राज्ञी देवृषु॥**[८] अर्थात् हे वधू ! तू ससुर, सास, ननद और देवरों के गृहस्वामिनी के रूप में रहना। नारी के विषय में अथर्ववेद में कहा है। यथा..... **शिवा भव पुरुषेभ्यः गोभ्योः अश्वेभ्यः शिवा। शिवास्मै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवा नो इहैधि।**[९] हे नारी! सभी पुरुषों, गायों, घोड़ों के लिए तुम सुखकर होना, भूमि के लिए सुखदायी होना, हम सब के लिए सुखकारी होना। इस प्रकार सभी वेदों में नारी की विशेषताओं का वर्णन हुआ है।

नारी सशक्तिकरण के जो सूत्र वेदों में बताए गए हैं, यदि उनका अनुकरण किया जाये तो आज नारी किसी प्रकार अबला नहीं रह पायेगी। महाकवि वेद व्यास ने नारी के इसी सम्मान को महाभारत में चित्रित किया है। महाभारत की कुछ नारियां इसके प्रमाण हैं। कुछ विद्वान् महाभारत को नारी के पूर्ण सम्मान का काव्य नहीं मानते हैं, परन्तु ऐसा नहीं हैं।

गंगा

महाराज शान्तनु की महारानी गंगा महाभारत में नारी सशक्तीकरण की उदाहरण है। महाराज शान्तनु के गंगा के गर्भ से आठ पुत्र उत्पन्न हुए, परन्तु किसी कारणवश जाह्नवी पुत्री अपने पुत्रों को गंगा नदी में प्रभावित कर देती थी। इस विषय में यथा

जातं जातं च सा पुत्रं क्षिपत्यम्भसि भारत।
प्रीणाम्यहं त्वामित्युक्त्वा गंगास्रोतस्यमज्जयत्॥[१०]

जो जो पुत्र उत्पन्न होता, उसे गंगा नदी के जल की धारा में फेंक देती और कहती (वत्स! इस प्रकार शाप से मुक्त करके) मैं तुम्हें प्रसन्न कर रही हूँ। ऐसा कहकर जाह्नवी पुत्री अपने प्रत्येक बालक को गंगा की धारा में डुबो देती थी। जाह्नवी पुत्री गंगा के इस अन्यायपूर्ण व्यवहार को देखकर महाराज शान्तनु चुप-चाप न रह सके और हँसते हुए अपनी पत्नी से पुत्रों के प्राण बचाने के उद्देश्य से कहा-

मा वधीः कस्य कासीति किं हिनत्सि सुतानिति।
पुत्रघ्नि सुमहत् पापं सम्प्रातं ते सुगर्हितम्।[११]

इस बालक का वध मत कर, तू किसकी कन्या है ? कौन है ? क्यों अपने ही बेटे की हत्या किए जा रही है ? पुत्र घातिनी ! तुझे पुत्र हत्या का अत्यन्त निन्दित पाप लगेगा। राजा शान्तनु की बात सुनकर गंगा कहती है-

पुत्रकाम न ते हन्मि पुत्रं पुत्रवतां वर।
जीर्णस्तु मम वासोऽयं यथा स समयः कृतः॥[१२]

हे पुत्र की इच्छा करने वाले नरेश! तुम पुत्रवानों में श्रेष्ठ हो। मैं तुम्हारे इस पुत्र को नहीं मारुँगी, लेकिन

---

८. ऋग्वेद १०.८५.४६
९. अथर्ववेद०३.२८.०३
१०. महाभारत आदिपर्व ८९.१३
११. महाभारत आदिपर्व ९८.१६
१२. महाभारत आदिपर्व ९८.१७

यहाँ मेरे रहने का समय अब समाप्त हो गया है, क्योंकि पहले ही शर्त हो चुकी है।[१३] यहाँ पर एक महारानी की हठधर्मिता है, क्योंकि गंगा महाराज शान्तनु की किसी भी प्रकार की रोक टोक में रहना नहीं चाहती है। महाराज शान्तनु गंगा से केवल इतना ही कहते हैं कि तुम अपने ही सात पुत्रों की हत्या कर चुकी हो। इतना कहने मात्र से ही, गंगा महाराज शान्तनु को छोड़कर सदा नारी सम्मान के लिए चली जाती है। फिर भी महाराज शान्तनु नारी के वचनों को पूरा करते हैं। यह नारी सम्मान की पराकाष्ठा है। काशीराज की तीनों पुत्रियों को महाराज भीष्म अपने भाई विचित्रवीर्य हेतु हरण कर हस्तिनापुर ले आते हैं, तब काशिराज की बड़ी अम्बा महाराज भीष्म से कहती है कि महाराज मैं पहले ही शाल्व नरेश को वरण कर चुकी हूँ।[१४]

वेदों के पारंगत विद्वान् ब्राह्मणों के साथ विचार विमर्श करके भीष्म ने काशिराज की ज्येष्ठ पुत्री अम्बा को शाल्व नरेश के यहाँ जाने की अनुमति दे दी। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि महाभारत काल में भी नारियों को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता रहा है, क्योंकि अम्बा को सम्मान पूर्वक शाल्व नरेश के पास भेजना, यहाँ पर नारी को दिये गये सम्मान को दर्शाता है।

कुन्ती

महाभारत में नारी सम्मान का दूसरा उदाहरण है-कुन्ती। कुन्ती महर्षि दुर्वासा को अपने सेवाभाव से प्रसन्न कर लेती है और ऐसे शिष्य या शिष्या के विषय में सोचना एक गुरु का कर्तव्य बनता है और इस लिए महर्षि दुर्वासा अपने परम कर्तव्य को विचार करते हुए इस विषय में कुन्ती से कहते हैं।[१५] पृथा पर आने वाले भावी संकट का विचार करके उनके धर्म की रक्षा के लिए उसे एक वशीकरण मन्त्र दिया और उसके प्रयोग की विधि बता दी और दुर्वासा कुन्ती से सम्मानपूर्वक कहते हैं-**यं यं देवं त्वमेतेन मन्त्रेणावाहयिष्यसि।**[१६] बेटी तुम इस मन्त्र से जिस देवता का आह्वान करोगी, वह देवता तुम्हारे समक्ष प्रस्तुत होंगे। कुन्ती स्वयम्वर विवाह से विवाहित होकर महाराज पाण्डु के साथ घर आती है, तब कुन्ती महाराज पाण्डु के साथ, अनेक प्रकार के महत्त्वपूर्ण कार्यों का सम्पादन भी करती है। जब महाराज पाण्डु वानप्रथाश्रम के लिये जाते हैं, तब उनको समझाती हुई कुन्ती उनसे कहती है-**शरीरस्यापि मोक्षाय स्वर्ग्यं प्राप्य महाफलम्।**[१७] हे राजन्! आपकी तपस्या स्वर्गदायक महान् फल की प्राप्ति कराकर इस शरीर से भी मुक्ति दिलाने में समर्थ हो सकती है और आप तप के प्रभाव से स्वर्ग लोक के स्वामी हो सकते हैं। महाराज पाण्डु अपनी धर्मपत्नी कुन्ती से सन्तान के विषय में कहते हैं-**अपत्यं नाम लोकेषु प्रतिष्ठा धर्मसंहिता।।**[१८]

सम्पूर्ण लोकों में संतान ही धर्ममयी प्रतिष्ठा का प्रतिपादन करने वाली होती है। ऐसा धीर पुरुष मानते हैं, तत्पश्चात् कुन्ती महाराज पाण्डु से आज्ञा प्राप्त कर देवताओं से युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन को प्राप्त करती है। महाभारत काल में एक महत्त्वपूर्ण कड़ी मानी जाती है। इसे ही महाभारत काल का अंग प्रत्यंग कहा जा सकता है

१३. महाभारत पृ. सं. ३०१

१४. महाभारत आदिपर्व १०२.६४

१५. महाभारत आदिपर्व ११०.०६

१६. महाभारत आदिपर्व ११०.०७

१७. महाभारत आदिपर्व ११८.२८

१८. महाभारत आदिपर्व ११९.२८

और भविष्य में आगे चलकर कुन्ती अपने बच्चों को अनेक बार महत्त्वपूर्ण निर्देश देती है। अपनी पुत्रवधुओं को पतिव्रता से लेकर अनेक विषयों के सम्बन्ध में मार्ग निर्देशन करती रहती है। चाहे अतिथि सेवा हो या धर्मपरायणता की शिक्षा हो। वह हमेशा अपने पुत्रों को उन्नति के शिखर पर देखना चाहती है और यही कारण रहा है कि पाण्डव रीति नीति व अपने विद्या रूपी कला-कौशल में निपुण रहे हैं। महाभारत काल में कुन्ती स्तम्भ की भाँति नजर आती है। वह हमेशा निर्भीक जीवन यापन करती हुई दिखाई पड़ती है।

द्रौपदी

महाभारत काल में नारी सम्मान का ये तीसरा उदाहरण है। जब युधिष्ठिर जुए के अन्त में सम्पत्ति व द्रौपदी तक हार जाते हैं। तब दुर्योधन अपने मित्र सूतपूत्र कर्ण को, द्रौपदी को सभा में लाने के लिए भेजना है और द्रौपदी सूतपूत्र प्रतिकामी से कहती है-

एतज्ज्ञात्वा समागच्छ ततो मां नय सूतज्ञ।
ज्ञात्वाचिकीर्षितमहं राज्ञोयास्यामि दु:खिता।।[१९]

हे सूतनन्दन! यह जानकर आओ। तब मुझे ले चलो। राजा क्या करना चाहते हैं? यह जान कर ही सभा में चलूँगी। उसके तत्पश्चात् ही दु:शासन के द्वारा द्रौपदी को सभा में बलपूर्वक लाया जाता है। तब द्रौपदी चेतावनी पूर्ण शब्दों में कहती है-**धर्म्या स्त्रियं सभां पूर्वे न नयन्तीति न श्रुतम्।**[२०]

हे सभासदो! मैंने सुना है कि पहले लोग धर्मपरायण स्त्री को सभा में नहीं लाते थे, किन्तु इन कौरवों के समाज में वह प्राचीनतम सनातन धर्म नष्ट हो गया है। द्रौपदी अपमानित होने के बाद भी धर्म की बातें कर रही है। द्रौपदी के मन में दुर्योधन के प्रति अपार घृणा और द्वेष की भावना भरी हुई है, परन्तु फिर भी वह धर्म और अधर्म के विषय में चर्चा कर रही है। वह धर्म से पीछे नहीं हट रही है, बल्कि अधर्म को नष्ट करना चाहती है। द्रौपदी एक धर्मपरायण नारी है और इसलिए वह धर्म के विषय में कहती है यथा .... **नावमन्ये न गहे च धर्म कथन्चन।**[२१]

हे कुन्ती नन्दन! मैं धर्म की अवहेलना या निन्दा किसी प्रकार भी नहीं कर रही हूँ। द्रौपदी धर्म की बात को ही महत्त्व देती है और कहती है कि व्यक्ति जब तक पुरुषार्थ नहीं कर सकता है, तब वह अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता है। कुन्ती धर्म के विषय में धर्मराज युधिष्ठर से कहती है-**यद्धययं पुरुष: किंचित् कुरुते वै शुभाशुभम्।**[२२] पुरुष इस संसार में जो भी शुभ अशुभ कर्म करता है, ईश्वर द्वारा विहित पूर्व कर्मों के फल का उदय समझना चाहिए। इस कर्म के विषय में श्रीकृष्ण जी ने भी कहा है कि मनुष्य के लिए कर्म ही प्रधान है और कर्म से ही वह उन्नति को प्राप्त करता है।

महाराज युधिष्ठर द्रौपदी की बातों को सुनकर उसका मनन करने का जो निश्चय किया था, बल्कि ऐसा करके द्रौपदी को सम्मानित किया और सम्मान ही स्त्री सशक्तिकरण का प्रतीक है।

---

१९. महाभारत आदिपर्व ६७.०८
२०. महाभारत आदिपर्व ६९.०९
२१. महाभारत आदिपर्व ३२.०१
२२. महाभारत आदिपर्व ३२.२२

दूसरी ओर कौरव भी अपनी-अपनी पत्नियों के साथ अलग-अलग ही नहीं वरन् भिन्न-भिन्न स्थानों में रहतें थे। महाभारत में महर्षि वेद व्यास जी ने बड़ा ही विचित्र वर्णन किया है। ये सभी विभिन्न नगरों में रहते हुए भी संयुक्त परिवार के अंग थे। निष्कर्ष रूप से लेकर महाभारत में वैदिक पारिवारिक स्वरूप में परिवार में नारी का महत्त्व, गंगा कुन्ती, द्रौपदी, से लेकर माता-पिता-पुत्र सम्बन्ध और भाई का प्रेम व परिवार का अधिकार एवं संयुक्त परिवार का विशिष्ट चित्रण देखने को मिलता है। यह महाभारत के सौन्दर्य की एक विचित्र छटा है। यह अपने आप में बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं।

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २००९ अङ्क १२ (पृ०१६७-१७७)

काव्यप्रकाशटीकाकर्तुर्भट्टगोपालस्य स्वोपज्ञान्युदाहरणानि

डॉ० उमाकान्तचतुर्वेदी[1]

वाग्देवतावतारो मम्मटः स्वकीय समयं यावद् विरचितस्य काव्यशास्त्रस्य समेषामपि सिद्धान्तपथानां कृत्स्नवित्। ध्वनिमार्ग एवास्य सिद्धान्तमार्गः। कविसंविदमारभ्य रसिकसंविदं यावदुद्यत्प्रवाहा येयं कविकर्मप्रवणा सरस्वती, सा हि कार्त्स्न्येनैव प्रतिपन्ना काव्यप्रकाशस्य काव्यलक्षणप्रबन्धेन। श्रीमद्भगवद्गीतादिग्रन्थानामिवास्यापि काव्यप्रकाशस्य टीकाबाहुल्यम्। अत एवोक्तं महेश्वरभट्टाचार्येण-

काव्यप्रकाशस्य कृता गृहे गृहे टीकास्तथाप्येष तथैव दुर्गमः।
सुखेन विज्ञातुमिमं य ईहते धीरः स एतां निपुणं विलोक्यताम्॥[2]

तत्र टीकाकृत्सु गोविन्दठक्कुरः गोकुलनाथः भीमसेनदीक्षितस्तथा चान्येऽपि टीकाकाराः शास्त्रसम्पत्रेषु भृशमादृताः। अथापि साहित्याचूडामणिकारमिमे नातिशेरते। काव्यप्रकाशस्य विमर्शिनीति प्रथितायाष्टीकायाः अपरं नाम साहित्यचूडामणिरिति। लौहित्योपाह्वो भट्टगोपालो ह्यस्याः रचयिता। अयमेव हि केवलः साहित्यसम्प्रदायवेत्ता अन्ये सर्वेऽपि शास्त्रान्तरवासनावासितान्तःकरणाः विचक्षणाः पद-वाक्य-प्रमाणादिसिद्धान्तसरण्या काव्यप्रकाशं व्याचख्युः। स हि भरत भामहोद्भटदण्डिवामनरुद्रटानन्दवर्धनधनञ्जयभोजकुन्तकाभिनवगुप्तरुय्यकाणां ग्रन्थान्, तन्मतानि चाक्षरशोऽनुशील्य काव्यप्रकाशं व्याख्यत्। भरतमुनेर्नाटकशास्त्रं बीजं खलु साहित्यसिद्धान्तमहीरुहस्य अतो भाहामारभ्येतावत्कालं यावदखण्ड एव साहित्यशास्त्रस्य सम्प्रदायः। परं दौर्भाग्यवशादनेके ग्रन्थाः विलुप्तिङ्गताः न हि केवलं भट्टनायकादीनां विवरणादयो ग्रन्था एव विलुप्ताः, अन्यान्यपि काव्यप्रकाशरूपस्य मानससरसो यानि पूरकाणि साहित्यस्रोतांसि तानि नाद्यापि सुलभानि। गोविन्दठक्कुरादिभिस्तानि अनालोच्यैव पूर्वपक्षाः कल्पिताः। व्याख्यातानि चोत्तराणि। येन काव्यप्रकाशपाथोनिधिनिर्मन्थने मतभेदोऽजनि। निर्मिताश्च तैस्तैर्भूयस्यष्टीकाः। चूडामणिकारश्चूडामणिर्हि साहित्यमर्मवित्सु। स पुनः पूर्वपक्षानिमान् साहित्यशास्त्रस्य प्राचीनेभ्यो ग्रन्थेभ्योऽवचिनोति, प्रशमयति चोत्तरपक्षस्वरूपविष्यकं सन्देहसन्दोहम्। महामतिरयं व्यक्तिविवेकादिषु व्यक्तिविरोधीन्यपि तत्त्वानि बाढमाद्रियते। पदे पदे च ह्येषामुद्धरणप्रदानेन समेधयते काव्यप्रकाशस्य प्रामाणिकताम्। माहनुभावोऽयमानन्दवर्धनस्येवाभिनवगुप्तस्यापि, भामहस्योवोद्भटस्यापि वामनस्येव रुद्रटस्यापि प्रमेयपदार्थान् यथास्थानं प्रतिपाद्य विस्मापयत्येव सर्वान् समीक्षकसन्दोहान्। किं बहुना, अभिनवगुप्तस्य कविसहृदयाख्यसरस्वतीतत्त्वमेव समुपोढयौवनमत्यर्थं नरीनृत्यते विमर्शिन्याम्। शास्त्रान्तरेष्वपि वाक्यपदीय-प्रमाणवार्तिक-श्लोकवार्तिक-स्पन्दकारिका-ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-तन्त्रालोकप्रभृतीन् ग्रन्थान् प्रस्तूय, संस्तूय च तच्छास्त्रसिद्धान्तसरणीमनुक्षणमुपस्थापयत्येव स्वीयं महामेधावित्वम्। नेदृशी स्थितिर्गोविन्दठक्कुरगोकुलनाथादीनां टीकासु।

यद्यपि श्रीविद्याधरचक्रवर्तिनो बृहती नाम्नी काव्यप्रकाशटीका संप्रदायानुसारिणीति प्रसिद्धिः, किन्त्वेतस्याष्टीकायाः बृहतीत्वं सम्प्रदायप्रकाशिनीत्वमित्युभयमपि काव्यप्रकाशविमर्शिनीनाम्नि

१.डॉ० उमाकान्तचतुर्वेदी, राष्ट्रीयसंस्कृतसंस्थानम्, त्रिवेणीनगरम्, जयपुरम्-३०२०१८
२ का.शा. इतिहास(काणे), पृ.३४३

साहित्यचूडामणावाञ्जस्येन प्रतिपदं प्रकाशते। प्राचीनालङ्कारिकग्रन्थसन्दर्भाणामिवात्र दर्शनग्रन्थानां, विशेषतः काश्मीरशैवशास्त्रादिसन्दर्भाणामपि नितान्तमेवौदार्येण तलस्पर्शित्वेन च निगूढमुपस्थापनमवलोक्यते। किञ्च, विचारणायामयं मननतरितीर्णविद्यार्णवस्य तैलङ्गोत्कर्षशिरोमणेर्जगन्नाथस्यापि न केवलं पाण्डित्यप्रकर्षं परिचिनोति अपितु अमुष्याखर्वगर्वकवलीकृतसकलकविराजहंसा जृम्भा अपि तथैव-

कविर्लोकि वाग्मी गमक इति ये केचन गुणैरखर्वं गर्वेयुः परपरिभवाम्भसुभटाः।
समायोगे तेषां सह सदसि गोपालकविना, कथङ्कारं तिष्ठेदशिथिलमहङ्कारगरिमा।।[३]

अपि च चानिशं मधुधारामुद्गिरन्ती अस्य सरसाऽपि सरस्वती क्वाचिच्चण्डीयत्यपि। यथाऽत्रैव ग्रन्थस्यान्ते-

दिशं दिशमविक्लवप्रतिहतलोचनसञ्चरन्नधीरपुरुषोज्झितेऽध्वनि महाध्वनि प्रेक्ष्यताम्।
अयं स परमो मम प्रतिभटोऽस्तु कोऽप्यस्ति चेदयं चतुरचण्डिमा विरुदडिण्डिमस्ताड्यते।।[४]

एवं सर्वतन्त्रस्वतन्त्रो भट्टगोपालः कदा कुत्र वा जनिमवाप्य समलञ्चकार भारतभुवमितीदानीमपि विद्यावतां विसंवादः। कतिपयैः प्रमाणैः प्रथममेतदेवास्माभिर्विचारणीयम्। शारदातनयः भावप्रकाशनमित्याख्येऽलङ्कारग्रन्थे आत्मनः पितुर्नाम भट्टगोपाल इति निर्दिशति। यो ह्यधीताखिलविद्यः शारदासमुपासक आसीत्। मन्ये असावेवास्य भट्टगोपालश्चूडामणेः कर्ता, इति कतिपयैः प्रमाणैर्विज्ञायते-

१.शारदातनयः भावप्रकाशनस्य प्रथमाधिकरणे आभिः कारिकाभिः स्वीयं परिचयं प्रस्तौति-

आर्यावर्ताह्वये देशे स्फीतो जनपदो महान्।
मेरुत्तर इति ख्यातस्तस्य दक्षिणभागतः।।५।।
ग्रामो माठरपूज्याख्यो द्विजसाहस्रसम्मितः।
तत्र लक्ष्मणनामासीद्विप्रः काश्यपवंशजः।।६।।
त्रिंशता ऋतुभिर्विष्णुं तोषयामास वेदवित्।
वेदानां भाष्यमकरोन्नाम्ना यो वेदभूषणम्।।७।।
तस्य श्रीकृष्णनामासीत् पुत्रः कृष्ण इवापरः।
वेदानधीत्य निखिलान् शास्त्राण्यप्यखिलानि च।।८।।
स पुत्रार्थी महादेवं वाराणस्यामतोषयत्।
तस्यासीद् भट्टगोपालनामा सूनुः सुलोचनः।।९।।
अष्टादशसु विद्यासु बहुशः स कृतश्रमः।
उपास्य शारदां देवीं पुत्रं लेभे गुणोत्तरम्।।१०।।
तमाह्वयत् पिता प्रीतः शारदातनयाख्यया।
अधीतवेदवेदाङ्गो वर्धमानः पितुर्गृहे।।११।।

अतः सुस्पष्टमेवारोहति बुद्धिपदं यद्भट्टगोपालः वेदवेदाङ्गेषु निष्णातः भावप्रकाशनकर्तुः शारदातनयस्य पिताऽऽसीदिति नात्र मनागपि संशीतिः। लौहित्यश्चोपाधिश्चूडामणिकारस्य।

---

३ का.प्र.वि.पृ.४८५

२. साहित्यचूडामणि-सुधासागरेति टीकाद्वयविभूषितस्य काव्यप्रकाशस्य सम्पादकास्सुधीवरा अस्माकमादरणीयाः म.म.पं. रेवाप्रसादद्विवेदिनोऽपि विविधाभिर्युक्तिभिश्चूडामणेर्विधातारं भट्टगोपालं, शारदातनयस्य पितरं भट्टगोपालञ्च देशकालसम्प्रदायायादिभिरविशेषमेवाङ्गीकुर्वन्ति। तथा हि-

(क) चूडामणेष्टीकायाः विमर्शिनीत्यपराभिधानेन, नियतिपरामर्शादिशब्दानां शैवागमरीत्या व्याख्यानेन, आरम्भतोऽवसानं यावद् ग्रन्थे पदे-पदे स्पन्दकारिका-ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-वाक्यपदीयादिशैवामगसिद्धान्तपरिपूर्णानां ग्रन्थानामुद्धरणात् शैवागमसाम्प्रदायिकः कश्मीरदेशवासी ह्ययं जन इत्याञ्जस्येनानुमातुं शक्यते।

(ख) अलङ्कारसर्वस्वोद्धरणादनुद्धनुरणाच्च तत्पश्चाद्वर्तिनामलङ्काररत्नाकरालङ्कारविमर्शिनीप्रभृतीनां महत्त्वमण्डितानामलङ्कारग्रन्थानामवश्यमेवास्य द्वादशत्रयोदशयिशुवर्षशतकयोः सन्धिकाल एवास्य स्थितिकालोऽनुमातुं शक्यते।

(ग) किञ्च, केरलीयदेशस्य कुलशेखरनाम्नो (११२५ ई.) नृपतेः साहित्यचूडामणौ स्मरणात्तस्यैवास्थानगोष्ठीशेखरालङ्कारोऽस्य उपर्युक्त एव कालः समर्थ्यते।

(घ) पदवाक्यप्रमाणादिशास्त्राणां पारदृश्वनाऽमुना भारत-भामह-दण्डिप्रभृतीनां साहित्यसम्प्रदायानामामूलचूलमनुशीलनं कुर्वता काव्यप्रकाशो व्याख्यायिष्ट, यत्रैतदुपजीव्यानां समेषामपि साहित्यस्रोतसामुद्धाराय प्रायतिष्ट। इदंप्रथमतया रत्नापणकारः कुमारस्वाम्येव। (१५००ई.) अस्य चूडामणिं स्मरतीति नास्य कुमारस्वाम्यपेक्षयाऽधिकं प्राचीनत्वमिति विभावनीयम्।

(ङ) शारदातनयोऽभ्यस्तशैवशास्त्रः। यीशुसंवत्सरस्य द्वादशत्रयोदशशतकीयसन्धिकाल एवास्य स्थितिकालः। भारतस्य दक्षिणदिगेवास्याभिजनः। भट्टगोपालस्यापि त एव देशकालसम्प्रदायः अतश्चूडामणिकार एवास्य पिता। भावप्रकाशनोक्त्या शारदातनयोऽपि तत्पितुः शारदायाः उपासनायाः प्रतिफलम्। एवं शारदोपासना समानो धर्म उभयोर्भट्टगोपालयोः। भट्टगोपालः प्रत्युल्लासारम्भं सरस्वतीमभिष्टौति तथा च न विस्मरति उल्लासपर्यवानेऽपि तामिमां वाग्देवताम्। अथापि चूडामणौ शारदा सरस्वतीनाम्ना स्तूयते, तत्र तु शारदेतयाख्ययेति विशेषः केवलमेकैव। एवमुभयोरभेदप्रत्यायकानामन्येषां हेतूनां सति सम्भवे, वाग्देवतायाः शारदानाम्नाऽनुल्लेखस्य भेदसाधकत्वं पंक्तिरथनाम्ना समुल्लेखस्य दशरथे तद्भिन्नसाधकत्वात्किञ्चित्करत्वमेवेति मन्ये।

एवं शारदातनयपिता भट्टगोपाल एव चूडामणिकारो भट्टगोपालः। ततश्चार्यावर्तस्य मेरूत्तर इति स्फीतो महान् जनपदः। तस्यार्वाच्यां माठरपूज्यनाम्नि विहितवसतिः, काश्यपः सम्पादितत्रिंशद्विष्णुयागो वेदभाष्यनिर्माता लक्ष्मणनामपितामहः, श्रीकृष्णनामपितृको भट्टगोपालः। यो हि काश्यामुपास्य परां देवतां शारदामवाप शारदातनयाभिधं तनुजन्मानमिति माधवाचार्येण धर्मशास्त्रीयव्यवस्थासु प्रामाणिकत्वेन स्मर्यमाणे गोपालभट्ट एवायमिति काव्यप्रकाशस्य सम्पादकानां श्रीमतां रेवाप्रसादद्विवेदिमहाशयानां मतं तेषामेव भूमिकाभागतः, समुद्धृत्य सहृदयानां समक्षं प्रस्तुतम्।

३. किन्तु भावप्रकाशनग्रन्थस्य सम्पादकः, काव्यप्रकाशस्य टीकाकारो भट्टगोपालः शारदातनयपितुर्भट्टगोपालाद्भिन्न इत्युल्लिखति, तथा हि 'कुछ विद्वानों का कहना है कि मम्मटप्रणीत काव्यप्रकाश के टीकाकार भट्टगोपाल और शारदातनय के पिता भट्टगोपाल दोनों एक हैं। लेकिन दोनों का अभिन्न ठहराना युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि मम्मट के पश्चात किसी भी लेखक ने टीकाकार भट्टगोपाल को उद्धृत नहीं किया है। कुमारस्वामी ने, जिसका समय १५ वीं शताब्दी निश्चित है, टीकाकार भट्टगोपाल को उद्धृत किया है। इससे सिद्ध

होता है कि टीकाकार भट्टगोपाल का समय १५वीं शताब्दी का पूर्वार्ध है, जबकि शारदातनय १२वीं शताब्दी में ही हो गये, तो क्या उनके पिता उनसे परवर्ती काल में हुये होंगे? अतः शारदातनय के पिता भट्टगोपाल के साथ टीकाकार भट्टगोपाल के साम्य की सम्भावना एक हास्यास्पद दुराग्रह ही कहा जा सकता है।"[५]

परं नैतन्मतं सद्युक्तिमयम्। पञ्चदशयिशुशतकजातेन कुमारस्वामिना भट्टगोपालस्य उल्लेखः न तस्य परकालिकत्वसाधकत्वे नियामकं न वा, पूर्वकालिकसद्भावसाधने दुष्टिरूपम्। अतोऽनयोः एकत्वसाधकं द्वितीयमेव मतमस्माकं बुद्धा अद्वितीयम्।

इदानीमस्य काव्यवैभवमालोच्यते। केचित्केवलं कवयन्ति। समालोचनमात्रपरिमितलोचनधियः सुधियो भवन्ति केचित्। कतिपये चैतदुभयविरहिणो विद्वांसोऽपि भूयसा भवन्ति भाग्यभाजो मुकुलितलोचना आनन्दास्वादनमात्रपरमाः। एतत्त्रितयं समुदितरूपेण क्वचिदेव केषुचिद्भवति भव्येषु। किञ्च, विमर्शिन्याः विमर्शैनैतत्त्रितयं विभाति भट्टगोपाले। प्रमिताक्षरोऽप्यसौ सर्वस्वोद्घाटनपटुः। प्रमाणयति चायं पदे-पदे मम्मटोत्कटवैदुष्यं प्राचामाचार्याणामुद्धरणेन। साहित्यसिद्धान्तविदोऽस्य काव्यसृष्टा अपि सिद्धत्वं साधयन्ति चूडामणा उदाहृतानि स्वोपज्ञानि पद्यपुष्पाणि। यानि दर्शं दर्शं न मनागपि हर्षं मुष्णाति सहृदयहृदयम्। अत एवं मम क्षुद्रापि धीरधीरायत इवास्मिन् क्षोदिष्टे निबन्धे निवेदयितुं कवयितुश्चतुरचण्डिमानमनवद्यञ्च कवित्वप्रतिभानम्।

चमत्कारचिन्तामणिः परिमलश्चेत्युभा अस्य रचने चूडामणा उद्धृते। तत्रादिमः शैवागमसिद्धान्तोद्घाटनपटुः दर्शनविमर्शनपरो वा कारिकात्मक इत्युद्धरणमेकमवलोक्यानुमीयते, तथा हि-**'यथा चोक्तं मया चमत्कारचिन्तामणौ वस्तु चेत्कथमित्याभ्य**-

रजतानुभवे शुक्तिर्न चिन्तामधिरोहति। शुक्तिकायाः प्रतीतौ च दूरे रजतवासना॥
बाधेन मेलके भाव्यं स कदाचिन्न लभ्यते। एवं बाधस्य दौर्बल्याद् भ्रान्तत्वं संविदो वृथा॥
यद् वृद्ध्योर्न विरोधोऽस्ति मिथो बाधानभिज्ञयोः॥[६]

एवमनेकत्रास्य ग्रन्थस्य शैवागमसिद्धान्तस्योद्धरणानि टीकायामवलोकयितुं शक्यते। अथापरः 'परिमलः' कदाचिन्निबन्धात्मा टीकाग्रन्थो वेत्यत्रानिर्णयमेवावगाहते मतिः। यतो हि तद्विषये केवलम्। **'तन्मदीयेषु परिमलप्रभृतिषु प्रबन्धेषु .....'** इत्येतावन्मात्रमेवोक्तं विमर्शिन्याम् ७२३ मते पृष्ठे।

काव्यप्रकाशस्य चूडामणौ टीकायामादितो ग्रन्थपरिपूर्तिं यावदुदाहरणात्मकानि पञ्चदश पद्यानि, येषु त्रीणि पद्यानि द्विरावृत्तानीति अष्टादशसु स्थलेषूक्तानि। पुनश्च मङ्गलात्मकानि सहैव काव्यशास्त्रीयपरम्परोद्घाटनपराणि संख्ययैकषष्टिपद्यानि। एवमाहत्य षट्सप्ततिः पद्यानि टीकायां 'ममैवे' ति कृत्वोद्धृतानीत्यसंशयमेव टीककर्तुः स्वोपज्ञानि। एकचत्वारिंशत्पद्यानि **'यथा ममैवे'**त्यादिनिर्देशं विनैवोक्तानि, येषु द्वे गर्वोक्तिपरे इति कविकृत एव ते। किञ्च, अन्यान्यपि कविप्रणीतान्येवेति शैल्या स्वीकर्तुं शक्यन्ते। एवं सङ्कलनयामुष्यां टीकायां कविरचितानि सप्तदशोत्तरमेकशतं पद्यानि विद्यन्ते। परमत्र विस्तरभिया केवलं काव्यप्रकाशीयतत्त्वोद्घाटनपराणि उदाहरणमयानि पञ्चदश एव पद्यानि विशदीक्रियन्ते, तथा हि-

श्रीमन्मम्मटाचार्यः काव्यलक्षणप्रसङ्गे **'यः कौमारहरः'** स एव हि वरस्ता एवेति काव्यलक्षणस्योदाहरणं प्रस्तूय **'रसस्य च प्राधान्यात्रालङ्कारता'** इति वृत्ता उल्लिखति। अस्यायं भावः रसस्य च

---

५ द्र. भावप्रकाशन, भूमिका, पृ० १, चौ. सं. सीरीज द्वि सं. १९८३

६ काव्यप्रकाशविमर्शिनी पृ. ६८२।

प्राधान्याप्राधान्यलक्षणमवस्थायुगलं भवति। तत्र रसभावाद्यपेक्षयान्यस्य वाक्यार्थस्य रसभावादेर्वा अप्राधान्यं तद्गण्यतामलङ्कारत्वेन, यत्र च रसभावादीनां प्राधान्यं तत्र तस्यालङ्कार्यत्वमेवं। तदुक्तं ध्वनिकृता-

तत्परावेव शब्दार्थौ यत्र व्यङ्ग्यं प्रति स्थितौ।
ध्वनेः स एव विषयो मन्तव्यः सङ्करोज्झितः॥[७]
प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः।
काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादि रसादिरिति मे मतिः॥[८]

परं मितवाङ् मम्मटो रसप्राधान्ये **'यः कौमारहरः'** इति केवलमलङ्कार्यस्यैव रसास्योदाहरणमुपस्थापितवान्। नैषां रसभावादीनामप्राधानानाम्। टीकाकारः प्रथमं शृङ्गारकरुणयोर्मध्ये वाक्यार्थीभूतस्य करुणरसस्यैकं प्रसिद्धं पद्यमुदाहरति- **'अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः'** इति, अत्र करुणरसस्य प्राधान्यादलङ्कार्यता, अप्राधान्याच्च शृङ्गारस्यालङ्कारता भवति। पुनश्च वाक्यार्थीभूतस्य भावप्राधान्यस्योदाहरणप्रसङ्गे स्वीयां मन्दाक्रान्तामवातारयति, यथा 'ममैवेत्युद्धरणेन-

किं ते गण्डे कितव! कुटिलाताम्रमालग्नमेतत्। किं तन्मुग्धे परिमृशतु ते पाणिराज्ञतमाः किम्।
प्रष्टव्योऽयं? प्रणयकलहेष्वस्त्रमर्धं सुधांशोरित्यालापो रहसि शिवयोः पेशलस्त्रायतां वः॥[९]

अर्थात् हे कितव! एतत् ते गण्डे आलग्नं कुटिलाताम्रं किम्? हे मुग्धे! तत् किं ते पाणिः परामृशतु। आः आज्ञातं किं? प्रणयकलहेपु सुधांशोः अर्धमस्त्रम्, इति रहसि शिवयोः अयं प्रष्टव्यः पेशलः आलापः वः त्रायतामिति वाक्यसम्बन्धः। अत्र पार्वतीपरमेश्वरयोरन्योन्यप्रणयजन्योभयनिष्ठा रतिः शृङ्गारः। तद्विषयिणी कविनिष्ठा रतिश्च भावविषयतामालम्बते। एवमत्र पार्वतीपरमेश्वरविषयकस्य कविवर्तिनो रतेर्भावत्वमुपगतस्य वाक्यार्थतया प्राधान्यादलङ्कार्यता, शृङ्गारस्य चाप्राधान्यादलङ्कारता बोध्या।

तृतीयोल्लासे आर्थीव्यञ्जनायाः निरूपणप्रसङ्गे वक्तृबोद्धव्यादीनां वैशिष्ट्याद व्यङ्ग्यार्थप्रकाशनमेकैकेनोदाहरणेन कृतवान् ग्रन्थकारः। **'सर्वेषां प्रायशोऽर्थानां व्यञ्जकत्वमपीष्यते।'** इत्यादिनाऽर्थान्तरव्यञ्जनसामर्थ्ये प्रतिपादितेऽपि पुनश्चोक्तं मम्मटेन- **'वक्त्रादीनां मिथः संयोगे द्विकादिभेदेन।'** अथैतेषां व्यञ्जकत्वं न केवलमेकैकेन वक्तृवैशिष्ट्येन, बोद्धव्यवैशिष्ट्येनापितु एकत्रैव द्वित्रादीनां वक्तृ-बोद्धव्यादीनामन्योन्यं योगेनापि गृह्यते। किन्तु मम्मटेन नैतदुदाहृतम्। श्रीभट्टगोपालः **'दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि! क्षणमिहाप्यस्मिन् गृहे दास्यसी'**त्यत्र वाच्यादर्थान्तरप्रतीतौ वक्तृबोद्धव्यादीनामनेकेषां वैशिष्ट्याद् व्यञ्जकत्वं प्रदर्श्य लक्ष्यादर्थान्तरप्रतीतावनेकेषां वैशिष्ट्येन व्यङ्ग्यार्थबोधकत्वे स्वीयां प्राकृतमयीमार्यामुल्लासयति। तत्र लक्ष्यस्य यथा ममैवत्यादिना-

गामउड-घरपडोहर-सनीडरच्छाए वच्छा मा वच्च।
जत्थ वइवेढमूले दिट्ठिविसो अत्थि सुव्वए सप्पो।[१०]

अत्र माता पुत्रमुपदिशति-हे वत्स! ग्रामीणगृहपृष्ठान्तरे सनीडरथ्यायां मा व्रज। यत्र वृत्तिबन्धमूले

---

७ ध्वन्यालोक १/१३
८ ध्वन्यालोक २/५
९ का.प्र.वि.पृ.-२२

(वृक्षबन्धमूले) दृष्टिविषः सर्पः अस्ति इति श्रूयते। अत्र हालिकस्नुपायाः सर्प इति साध्यावसानलक्षणया कथनम्। तस्याः निश्चयमेव परिहरणीयत्वप्रख्यापनं व्यङ्ग्यम्। तत्र च मातुर्वक्तृत्वम्। पुत्रस्य बोद्धव्यता **'गामउडेत्यादिना देशः, जत्थ वइवेढमूले'** इत्यादिना, मा वच्च इत्यादिनां च व्रजनस्य प्रकृतत्वात् प्रस्तावः। एवं वक्तृबोद्धव्यादीनामनेकेषां वैशिष्ट्यादत्र लक्ष्यादर्थान्तरावगमो भवति। किञ्च, व्यङ्ग्यार्थदर्थान्तरव्यञ्जकतायामपि स्वीयामेवार्यामुपन्यस्यति टीकाकारः।

चुम्बसि जगपावेन्ती दूअं सहि! कीस कर पओट्ठगअं।
मा मण्ण ईसालुभत्ता बिम्बोट्ठुज्झ पाविट्ठां॥[११]

अत्र काचित् सखी नायिकां ब्रूते- हे सखि! हे बिम्बोष्ठि! दूरं जल्पयन्ती करप्रकोष्ठगतं कथं चुम्बसि। तव ईर्ष्यालुभर्ता पापिष्ठं मा मन्येत इति। अत्र बिम्बभ्रान्त्या शुकस्तवाधरं खण्डयिष्यतीति व्यङ्ग्यार्थः। ततश्च **'कस्य वा न होई रोषो'** इत्यादिवदनेकधा व्यङ्ग्यार्थप्रतीतिः, तत्र लिख्यते प्रपञ्चप्रसङ्गात्। अत्र सख्याः वक्तृत्वम्, नायिकायाः बोद्धव्यता, कीसं चुम्बसि इति निषेधे चुम्बनस्य प्रकृतत्वात् प्रस्तावः, बिम्बोष्ठीति वाच्यम्, मा मन्येतेति वाक्यम् अनयोपपतेः सन्निधिश्च सम्भवी। कीसं इत्यस्य संस्कृत **'कीर'** इति स्वीकृते सति अर्थोपपत्तौ महाँल्लाभः सम्पद्यते।

चतुर्थे उल्लासे भावध्वनेरुदाहरणप्रसङ्गे देव-मुनि-नृप-पुत्रादिगोचरां रतिं भावत्वेनाङ्गीकुर्वाणो मम्मटोपाध्यायो देवविषयां मुनिविषयाञ्च रतिं क्रमेण **'कण्ठकोणविनिविष्टमीश ते हरत्यघं सम्प्रतीत्यादि'** चोदाहृत्योल्लिखति-**'एवमन्यदपि उदाहार्य्यमिति'**। तत्र नृपगोचरां रतिं भावत्वेनोदाहर्तुकामश्चूडामणिकारो स्वीयं स्रग्धरावृत्तमुपस्थापयति-

सोऽयं नीलस्तुरङ्गो मम यवनपतिः प्राभृतं प्राहिणोद् यं
भद्रः सोऽयं गजो मे समिति विलुलिता येन सौवीरसेना।
सेयं मे वामनेत्रा समजनि समरो यत्कृते राजपुत्रै-
रेवं कारागवाक्षे कुलतिलक! भवद्वैरिणो व्याहरन्ति॥[१२]

कस्माच्चिद् राज्ञः पराजिताः कारागारे बद्धाः राजपुत्राः कारागारस्य गवाक्षात् स्वकीयान् गजान्, घोटकान्, स्त्रियश्चावलोकयन्तो मिथो व्याहरन्ति, तथा हि- यवनपतिः यं प्राभृतं प्राहिणोत् सोऽयं मम नीलस्तुरङ्गः, समिति येन सौवीरसेना विलुलिता सोऽयं मे भद्रः गजः, यत्कृते राजपुत्रैः समरः समजनि सेयं मे वामनेत्रा, हे कुलतिलक! कारागवाक्षे भवद्वैरिणः एवं व्याहरन्तीति सम्बन्धः। अत्र कविनिष्ठायाः नृपविषयायाः रतेर्भावस्योदाहरणम्। मित्रविषयायाः रतेर्भावस्यापि स्वीयमेव शार्दूलविक्रीडतमुदाहरणमुखेनोपस्थापयति-

रे रे कापुरुषापवादपटवः पथ्यं कटु श्रूयता-
मित्थं हन्त पलायितुं किमु वयं पत्या प्रतिष्ठापिताः।
अप्यन्यत्कपयः प्रियापरिभवप्रक्षालनादुद्धुरो
रामः क्रूरधनुर्धरो यदि वृथा वैक्लव्यमारभ्यते॥[१३]

अत्र लङ्कायां सङ्गरे कुम्भकर्णस्योद्धतं रौद्रञ्च स्वरूपमवलोक्य पलायमानान् वानरान् प्रतिबोधयतः

---

११ का.प्र.वि.पृ.९८
१२ का.प्रा.वि.पृ. १५८
१३ का.प्र.वि.पृ. १५९

सुग्रीवस्येयमुक्तिः-रेरे कापुरुषापवादपटवः। कटु पथ्यं श्रूयताम्। हन्त! कितु वयम् इत्थ पलायितुं पत्या प्रतिष्ठापिताः। अप्यन्यत् (हे) कपयः प्रियापरिभवप्रक्षालनादुद्धुरः क्रूरधनुर्धरो रामो यदि तदा वैक्लव्यं वृथा आरभ्यते। अत्र सुग्रीवनिष्ठा रामविषयिणी- रतिः भावकोटिमाटीकते।

'रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः भावः प्रोक्तः' इत्युक्तं मम्मटेन। अर्थादञ्जितः व्यञ्जितः, न तु वाच्यवाचकभावखलीकृतः व्यभिचारी भावो भवतीति निर्वेदग्लानिशङ्काऽसूयाश्रमालस्यदैन्यचिन्तामोहव्रीडा-जडताविषादावहित्थाव्याधित्रासविर्तकादीनां व्यभिचारिणामेकत्रैव व्यञ्जनया भावत्वमुपगतानामुदाहरणं प्रदर्शयितुमात्मनः शार्दूलविक्रीडितं पद्यमुल्लिखति टीकाकृत्, तथा हि-

स्वैराटोपसहिष्णु हन्त विजहौ स्वं सल्लकीनां वनं
लेभे डिण्डिमपट्टबन्धललितां लक्ष्मीं न राजाङ्गणे।
वातव्याकुलिते जरत्प्रवहणे बद्धो विघूर्णन्मुहु-
र्मध्येवारिधिकुञ्जरेन्द्रकलभः कष्टां दशामश्नुते॥[१४]

इत्यत्र निर्वेदग्लानिशङ्कासूयाश्रमालस्यदैन्यचिन्तामोहव्रीडाजडताविषादावहित्थाव्याधित्रासवितर्कादयो बहवो व्यभिचाररिणो व्यज्यन्ते इति व्यञ्जितस्य व्यभिचारिभावस्योदाहरणम्।

चतुर्थे उल्लासे 'पदैकदेशरचनावर्णेष्वपि रसादयः' इत्यस्याः कारिकायाः व्याख्याने आचार्यो मम्मटः प्रकृति प्रत्ययोपसर्गनिपातादीनां शृङ्गारव्यञ्जकत्वमुपपाद्य ग्रन्थविस्तरभियोपसंहरति तथा च लिखति- 'एवमन्येषामपि बोद्धव्यमिति'[१५] तत्र प्रकृतिप्रत्ययादीनां द्योतकत्वमुपादयन् भट्टगोपालस्तत्रोपग्रहस्य, यथा ममैव इति कृत्वैकं इति कृत्वैकं स्वीयामनुष्टुपं भावव्यञ्जकतायामुदाहरति-

अभुञ्जत भुवं प्राञ्चो देव बाहुर्भुनक्ति ते।
राजवत्यो यतस्तेषां राजन्वत्यस्तु ते प्रजाः॥[१६]

हे देव! प्राञ्चो भुवम् अभुञ्जत ते बाहुर्भुनुक्ति। यतस्तेषां प्रजा राजवत्यः, ते प्रजास्तु राजन्वत्यः अति वाक्यार्थः। अत्र भुज्धातुः पालनाऽभ्यवहारयोरर्थयोः धातुपाठे पठितः। स्वरितत्वलक्षणेन उभयपदी। **'अभुञ्जत'** इति लङि आत्मनेपदे रूपं भुनक्तीति तु परस्मैपदे। **भुजोऽनवने।**[१७] इति सूत्रेण अनवने (उपभोगे) आत्मनेपदं भवति। ओदनं भुङ्क्ते, बुभुजे पृथिवीपालः पृथिवीमेव केवलम्, वृद्धो जनो दुःखशतानि भुङ्क्ते इज्यादिषु भुजेरर्थः उपभोगपरः। अवने (पालनेऽर्थे) तु परस्मैपदं भवति। महीं भुनक्ति इति। प्रकृते च प्राञ्चो भुवम् अभुञ्जत इत्यत्र निन्दा ते बाहुर्भुनक्ति इत्यत्र स्तुतीत्यर्थो व्यज्यते। एतादृशः प्रयोगस्य निन्दास्तुतिपरं प्रयोजनम्। **'राजवत्यो'** मतुपि ङीपि बहुवचने रूपम्, राजा अस्ति आसां प्रजानामिति ताः राजवत्यः। राजन्वत्यस्तु **'राजन्वान् सौराज्ये'**[१८] इति सूत्रेण सौराज्ये गम्यमाने राजन् शब्दान् मतुपि **'मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः'**[१९] इति वत्वे, निपातनान्

१४ का.प्र.वि.पृ.० १५९
१५ काव्यप्रकाश पृ. २२२
१६ का.प्रा.वि. पृ. २२३।
१७ अष्टा०१.३.६६.
१८ अष्टा०८.२.१४
१९ अष्टा०८-२-९

नलोपाभावे 'उगितश्च'[२०] इत्यनेन ङीपि राजन्वती पदं सिद्ध्यति अर्थात् अन्ये राजानो भुवं करादानादध्यवहरन्ति, वर्णनीयस्तु पालयति। एवं राजवत्योऽन्येषां प्रजाः वर्णनीयस्य तु राजन्वतय इति।' 'सुराज्ञि देशे राजन्वान् स्यात् ततोऽन्यत्र राजवानित्यमरवचनात् प्रकृते उभाभ्याम् पदाभ्यां भिन्नार्थः द्योत्यते। अत्रैकस्मादेव धातोरर्थभेदेन क्रियाभेदः पदभेदश्च जातः। अतः पद-प्रकृति-प्रत्ययादीनां व्यञ्जकता भवतीति ज्ञेयम्।

चतुर्थ एवोल्लासे ध्वनिविवेचनप्रसङ्गे त्रिरूपेण सङ्करेण, एकरूपया संसृष्ट्या चेति चतुर्भिर्गुणने ध्वनेरानन्त्यं प्रदर्शितम्। तत्र संयोग शृङ्गारात्मनि पद्ये सङ्करसंसृष्टिभ्यां मिश्रणे **'खणपाहुणि आ देअर'** इति विप्रलम्भ शृङ्गारस्य च स्निग्धश्यामलेति द्वे उदाहरणे प्रस्तुते। इदानीं भावध्वनिरपि संकरसंसृष्टिभ्यां व्यज्यते इति प्रदर्शयितुं स्वीयं शार्दूलविक्रीडितमवतारयति टीकाकारः-

सौभाग्याय नमस्तवास्तु यदशं त्वत्कल्पमन्यं जनं
धत्ते वक्षसि वल्लभो घटयति भ्रातैव ते कौस्तुभः।
इत्यालीपरिहाससंभृतरुषं संलक्ष्य लक्ष्मीं प्रिया-
माकल्पानवधीरयन्नवतु वो देवः पुराणः पुमान्॥[२१]

सौभाग्याय नमः अस्तु। यदयं तव वल्लभः त्वकल्पमन्यजनं वक्षसि धत्ते। कौस्तुभं ते भ्रातैव घटयति। इत्यालीपरिहाससंभृतरुषं प्रियाः लक्ष्मी संलक्ष्य देवः पुराणः पुमान् आकल्पान् अवधीरयन् वः अवत्वित्यन्वयः।

अत्र सौभाग्याय नमः इति वस्तुनोपालम्भे व्यज्यते। यत्र नमः पदस्यौल्वण्यम्। तस्य चानुग्राह्यस्य कौस्तुभो घटयतीति व्यस्तुव्यंग्येन लक्ष्मीप्रतिबिम्बनध्वनिनानुग्राहकेण सङ्करः। भ्रातैवेतिशब्दक्तिसमुद्भवस्य नायिकाहङ्कारभङ्गस्य व्यंग्यस्य प्रतिबिम्बलाभादालीपरिहास इत्यर्थशक्तिसमुत्थितस्य काव्यलिङ्गस्य च पूर्ववत् सङ्करः। क्वचित् संशयविषयतया च पार्यते निर्वोढुम्। सर्वैश्चामीभिर्भावैः भगवद्गोचरायाः कविसम्बन्धिन्याः रतेः सङ्करः। अवधीरयन्नित्यत्र तेषामेव व्यञ्जकतान्तं निमज्जनमिति सिद्धम्।

सप्तमे उल्लासे पद-तदेकदेश-वाक्यगतान् दोषान् विवृण्वन् वाक्यनिष्ठस्य विधेयाविमर्शदोषस्य विषयमुपस्थाप्य काव्यप्रकाशकारो मूले लिखति यत्तदोर्नित्यसम्बन्धः? इति धिया उभयोरेकत्र प्रयोगोऽनिवार्यो भवति तथापि प्रक्रान्तप्रसिद्धानुभूतार्थविषयस्तच्छब्दो यच्छब्दोपादानं नापेक्षते। एवमेव यच्छब्दस्तूत्तरवाक्यानुगतत्वेनोपात्तः सामर्थ्यात् पूर्ववाक्यानुगतस्य तच्छब्दस्योपादानं नापेक्षते। यथा 'साधु चन्द्रमसि पुष्करैरित्यस्मिन्'[२२] पद्ये। प्रागुपात्तस्तु यच्छब्दस्तच्छंब्दोपादानं विना साकांक्षः द्वयोरुपादाने तु निराकांक्षत्वं प्रसिद्धमिति। अत्र चूडामणिकारः महता चातुर्येण एतत् यदुपक्रमं तदुपसंहाररूपं वाक्यं, विपर्ययेणोक्ते व्यत्यासरूपं च वाक्यम् इति द्वयमपि एकत्रैव स्वीकीये पद्ये प्रदर्शयति। यथा-

ये शिलाशकलशङ्कया रसस्राविणीषु करकासु निस्पृहाः।
अर्थिनश्च सलिले त एव ते ये हि विश्वविमुखास्त्वदुन्मुखाः॥[२३]

अत्र **'ये शिलाशकलशङ्कया रसस्राविणीषु करकासु निस्पृहाः ते एव सलिले अर्थिनः** (भवन्ति)। ते ये

---

२० अष्टा०६-३-४५

२१ का.प्र.वि.पृ. २३०

२२ काव्यप्रकाश पृ. ३४५

२३ का.प्रा. विमर्शिनी, पृ. ३४५

हि विश्वविमुखास्त्वदुन्मुखाः' इत्यत्र ये हि विश्वविमुखाः ते त्वदुन्मुखाः इति यत्तदोर्व्यत्यासे निराकांक्षत्वं सम्पन्नमिति द्वयोः प्रकारयोरेकस्मिन्नेव पद्ये उदाहरणं प्रदर्श्य स्वीयं पाण्डित्यप्रकर्षं महाकवित्वञ्च प्रकाशयति।

सप्तमोल्लास एव वाक्यमात्रगतानां दोषाणां विवेचनप्रसङ्गे अर्धान्तरैकवाचकं दोषं स्पष्टयति टीकाकारः स्वोपज्ञेनानुष्टुप्छन्दसा। अर्धगततमप्रधानहेत्वाद्यर्थकमेकं वाचकं यत्र तदर्धान्तरैकवाचकम् **'नार्धे किञ्चिद्वाक्यं समाप्यमिति'** नियमः। तद्द्विविधम्- द्वितीयार्धगतैकवाचकं प्रथमार्धं, प्रथमार्धगतैकवाचकं द्वितीयार्धम्। तत्र प्रथमं द्वितीयार्धगतैकवाचकमुदाहृतं ग्रन्थकर्त्रा 'मसृणचरणपातमित्यादिनां। द्वितीयं, प्रथमार्धगतैकवाचकमुदाहरति चूडामणिकारः स्वीयेन पद्येन-

वक्षःस्थलं मुकुन्दस्य, कौस्तुभाङ्कं कपर्दिनः।
चूडालो बालचन्द्रेण जटाजूटश्च पातु वः॥ [२४]

मुकुन्दस्य कौस्तुभाङ्कं वक्षःस्थलं, कपर्दिनः बालचन्द्रेण चूडालो जटाजूटश्च वः पातु अत्यन्वयः। अत्र पूर्वार्धगतैकवाचकमुत्तरार्धं जटाजूट इति पदमतोऽर्धान्तरैकवाचकत्वनामको दोषः।

सप्तमे उल्लासे पद-वाक्य-अर्थगतान् दोषान् उद्भाव्य पुनस्तेषु दोषेषु यथासम्भवं गुणीकारोपाधिमभिधातुकामो मम्मटः प्रथममपुष्टार्थतया शङ्कितमदुष्टं समर्थयति- **'कर्णावतंसादिपदे...'** इत्यादिना। तत्र **'अस्याः कर्णावतंसेनेत्यत्र कर्णादिशब्दाः कर्णादिस्थितिं प्रतिपत्तये'** इत्यादिकं समाहितं मम्मटमहोदयेन। टीकाकारोऽपि प्रसङ्गेऽस्मिन् स्वीयं पद्यमुदाहरति। इदञ्च चतुर्थे उल्लासे अञ्जितव्यभिचारिणो भावसंबलनप्रसङ्गे (पृ. १५९) पूर्वमुद्धृतमिति अत्र केवलं प्रकृतं विवेच्यते, तथा हि **'मध्ये वारिधिकुञ्जरेन्द्रकलभः कष्टां दशामश्नुते'** इत्यत्र करिकलभशब्दस्तादूप्यप्रतिपत्तये मन्तव्यम्। यतो हि कलभस्य कुञ्जरेन्द्रेण तादूप्यमत्यन्तश्लाघ्यत्वनिबन्धनं, तादात्विकी शोच्यता च प्रतिपद्यते। रसनिष्ठदोषनिपरूपणप्रसङ्गे ग्रन्थकृद्वर्णयति यत् 'क्रोधं प्रभो संहर संहरेतिवद् भ्रुकुट्कादिविकारवर्जितः सद्यः फलदः क्रोधः दिव्येष्वेव वर्णनीयः। एतदुदाहरणे विमर्शिनीकारोऽपि स्वीयां स्रग्धरामवतारयति-

'अक्ष्णः कोणेन विद्युत्कणिरणमुचा पश्यति क्रोधवश्ये
यस्मिन्नम्लानपुष्पस्तिमितमधुलिहो देवदारोरधस्तात्।
उन्मीलद्धूमलेखाविलिखितगगनो लब्धवानिक्षुधन्वा,
दावज्वालावलीढस्फुटितफलदशां शाल्मलीगुल्मलीलाम्॥ [२५]

अत्रायं भावः, यस्मिन् क्रोधवश्ये अक्ष्णः विद्युत्कणकिरणमुचा कोणेन पश्यति अम्लानपुष्पस्तिमितमधुलिहो देवदारोः अधस्ताद् उन्मीलद्धूमलेखाविलिखितगगनः इक्षुधन्वा शाल्मलीगुल्मलीलां दावज्वालावलीढस्फुटितफलदशां लब्धवान् इति। अत्र भगवतो मारारेः क्रोधाग्निना सद्यो भस्मीभूतस्य कामदेवस्य वर्णनं वर्णनानुगुणम्।

प्रतिकूलविभावादिग्रहं गुणीकर्तुं मम्मटः **'सञ्चायादेर्विरुद्धस्ये'**ति कारिकामवतारयति। तस्यायं भावः, प्रकृतविरुद्धं व्यभिचार्यादि बाध्यत्वेनोच्यते तदा दूरे दोषत्वम्, प्रत्युत् प्रकृतरसपरिपोषकतया गुणत्वमेव।' विरोधिनां भावनां बाध्यत्वेनावस्थानमङ्गभावप्राप्तिर्वेति द्विविधो गुणीकारः। उक्तञ्च ध्वनिकारेण-

२४ का.प्र.वि.पृ. ३७२

विवक्षिते रसे लब्धप्रतिष्ठे तु विरोधिनाम्।
बाध्यानामङ्गभावं वा प्राप्तानामुक्तिरच्छला।। [२६]

तत्र प्रथमं बाध्यत्वेनोक्तिरित्युदाहृतं स्वयमेव मम्मटेन- **'क्वाकार्यं शशलक्ष्मण'** इयादिना। द्वितीयमङ्गभावं प्राप्तानामित्यस्योदाहरणं टीकाकारः स्वीयेनानुष्टुब्वृत्तेन ददाति'-

कर्दमादपि यत् कार्ष्ण्यं कज्जलस्य विशिष्यते।
गुणमेव हि तत्तस्य चक्षुष्मन्तः प्रचक्षते।। [२७]

अष्टमे उल्लासे माधुर्यगुणं व्याख्याय ओजोगुणस्य वर्णने चूडामणिकारेण स्वोपज्ञं पद्यमुदायिते। यथा-

खलजिह्वावलीढस्य काव्यस्य श्रवणार्हता।
श्वदंष्ट्रया विमृष्टस्य कुणपस्येव कल्पते।। [२८]

खलजिह्वावलीढस्य काव्यस्य श्रवणार्हता श्वदंष्ट्रया विमृष्टस्य कुणपस्येव कल्पते इत्यर्थः। एतेन शुद्धमोजो व्याख्यातम्। अष्टमे उल्लासे मम्मटभट्टः गुणगणनावसरे प्रथमं वामनोक्तान् दश शब्दगुणान् आलोच्यार्थगुणालोचनप्रसङ्गे कथयति यत्, प्रौढिः पञ्चविधा भवति-(१) पदार्थे वाक्यरचनम् (२) वाक्यार्थे पदाभिधा (३) व्यासः (४) समासः (५) अस्य अर्थस्य साभिप्रायत्वकथनरूपा च। उक्तञ्च -

पदार्थे वाक्यरचनं वाक्यार्थे च पदाभिधा।
प्रौढिर्व्याससमासौ च साभिप्रायत्वमस्य च।। [२९]

तत्र पदार्थे वाक्यरचनमित्यस्योदाहरणं यथा ममैव इति कृत्वा ददाति टीकाकारो गोपालभट्ट :-

लोचनेनैव जानन्ति लोके ये केचन ध्वनिम्।
भुजङ्गा एव ते किन्तु वमन्त्यमृतमाननैः।। [३०]

अर्थात् लोके ये केचन ध्वनिं लोचनेनैव जानन्ति ते भुजङ्गा एव, किन्तु आननैः अमृतं वमन्ति इत्यन्वयः। अत्र चक्षुः श्रवसो लक्षणे पदार्थे पूर्वार्धाकारं वाक्यं रचितम्। वाक्यार्थे पदाभिधा इत्यस्य च-किं ते गण्डे कितवे त्याद्युदाहरण (द्र० भावध्वनेरुदाहरणप्रसङ्गे)। अत्र कपोलस्थले मम लग्नचन्द्रलेखामुद्राङ्कस्त्वां नखक्षतशङ्कया क्षोभयतीति वाक्यार्थेऽऽज्ञातमिति पदमभिहितम्। इत्थं धारणस्योपरि न ततपरिज्ञानमपीत्यहो ते धार्ष्ट्यातिशय इति वाक्यार्थे आः किमिति पदमभिहितम्। व्यासो यथा स्वीयेनैव शार्दूलविक्रीडितेन-

बीजस्यार्पणमालबालघटना कुल्याम्भसो योजनं
रक्षा कण्टकशाखयेति सकलस्तुल्यः क्रियासंग्रहः।
दुर्लङ्घो विषमः स्वभावमहिमा पत्रप्रकाण्डोदयो
माधुर्ये विपरीतमिक्षुरभवन्निम्बश्च निम्बः स्वयम्।। [३१]

---

२६ ध्वन्या, ३-२०
२७ का. प्र.वि.पृ. ४६१
२८ का.प्र.वि.पृ. ४९०
२९ का.प्र.पृ. ४९१

अत्र स्वभावस्य दृष्टान्तपूर्वकं व्याख्यानं कृतमिति व्यासः। अस्यैव समासो यथाऽनुष्टुब्वृत्तेन उदाहरति-

एकस्मादेव सरसो वृक्षाणामम्बुसारणी।
स रसो विषयः कस्मादुभयोरिक्षुनिम्बयोः॥ [३२]

अत्रायं भावः। रचनायां क्वचित् संक्षिप्तस्य समासेन कथनं भवति, क्वचिच्च व्यासेन। अत्र **'एकस्मादेव सरसो'** इत्यनुष्टुब्वृत्ते यद्वस्तु समासेनोक्तं तदैव बीजस्यार्पणमालबालघटनेत्यादिनां पद्येनोच्यते। इदं व्यासेन कथनमित्यस्योदाहरणमवधेयम्। एवमस्मिन्नेव प्रसङ्गे अन्यान्यपि पद्यानि उद्धरणविवरणशून्यानि, भाषादृष्ट्या टीकाकर्तुः पद्यैः साम्यत्वमुपगतानि सन्ति, तथापीह नाकलितानि। जिज्ञासुभिः टीकायामेव-४९३-३९५ पृष्ठे द्रष्टव्यानि।

नवमे उल्लासे श्लेषालङ्कारवर्णनप्रस्तावे ग्रन्थकारो मम्मटः श्लेषप्रतिभोत्पत्तिहेतुरलङ्कारान्तरं भवतीत्यादिरूपम् अलङ्कारसर्वस्वकारस्य मतं व्याकुर्वन् **'आदाय चापमचलमि'**त्यादिषु पद्येषु विरोधादिकमलङ्कारमेवाङ्गीकरोति प्राधान्येन, न श्लेषत्वम्। प्रसङ्गेऽस्मिन् टीकाकारोऽपि **'यथा ममैव'** इत्यादिनिर्देशेन श्लेषसंवलितेऽपि वाक्ये प्रधानीभूतापह्नुत्यलङ्कारस्योदाहरणं प्रस्तौति अनुष्टुप्छन्दसा-

कालोऽयं हीनपुन्नागः केसरी वर्तते वने।
प्रकाशन्ते नखाः यस्य पलाशमुकुलच्छलात्॥ [३३]

अर्थात् वने हीनपुन्नागः केसरी कालोऽयं वर्तते, यस्य पलाशमुकुलच्छलाद् नखाः प्रकाशन्ते इति। अत्र **'हीनपुन्नागः, कालः'** इत्यादयः शब्दाः, श्लिष्टाः। दशमे उल्लासे विभावनालङ्कारप्रसङ्गे श्रीभट्टगोपालः स्वीयं पद्यमुदाहरति तथा हि-

अकुङ्कुमालेपमकामनिद्रमनासवास्वादमरोषलीलम्।
सन्ध्यामयूखैः क्षणमङ्गनानां रागोऽयमारोहति गण्डरेखाम्॥ [३४]

अर्थादयं रागः अकुङ्कुमालेपम्, अकामनिद्रम्, अनासवास्वादम्, अरोषलीलम् क्षणं सन्ध्यामयूखैः अङ्गनानां गण्डरेखाम् अधिरोहति इति सम्बन्धः। अत्र गण्डरेखायां रागाधिरोहे कुङ्कुमलेपनादि कारणं निवर्त्यते, उच्यते च सन्ध्यामयूखलक्षणमिति संक्षेपः। मम्मटेन च **'कुसुमितलताभिरहते'**त्याद्युदाहृतम्। अत्र मदस्य प्रसिद्धं यदासवाख्यं करणं तदभावेऽपि यौवनं हेतुत्वेनोपनिबद्धं, मदस्य द्वैविध्येप्यभेदाध्यवसायादेकत्वम्।

एवं काव्यप्रकाशविमर्शिन्यामुदाहरणप्रसङ्गे समागतानि टीकाकर्तुः स्वोपज्ञानि पद्यानि मया संक्षेपेण निर्दिष्टानीत्यलम्।

---

३१ का.प्र.वि.पृ. ४९२
३२ का.प्र.पि.पृ. ४९३
३३ का.प्र.वि.पृ. ५३२

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २००९ अङ्क १२ (पृ०१७८-१८३)

चित्रपर्णी : जीवन मूल्यों का अद्भुत संयोग

डॉ० मञ्जुलता शर्मा[1]

जब बालमन ने अपने सपनों के पंख पसारे होंगे तब उसे कहानियों के झूले में झुलाया गया होगा, परियों की जादुई छड़ी ने उसे आकाश के तारों से मिलाया होगा, चमकते हुए इन्द्रधनुष के सात रंगों ने उसे सतरंगी दुनियाँ की ओर चलने का संकेत भी दिया होगा। ऐसे सच्चे संसार में छोटी-छोटी बातें कब किस्से-कहानी बन गईं, कोई नहीं जानता। अतः कथाकारों का जन्म भी माँ की लोरी के साथ ही हुआ होगा। क्योंकि लोरी में सुर लय और ताल का समन्वय भले ही हो, परन्तु उसकी आत्मा में कोई कथा ही छिपी होती है, जो अपने नन्हे दुधमुहे के लिए मातृत्व का आंचल बन जाती है। बृहद् कलेवर को लघुकथाओं में समेटना एक चमत्कार है और अभिराज राजेन्द्र मिश्र की **'चित्रपर्णी'** इसी चमत्कार का अवतार है। इस लघुकथा संग्रह में भावोन्मेष का उत्ताल सागर है, मानव मनोविज्ञान की सचित्र व्याख्या है और लोकजीवन की आराधना है।

अभी आप **'इक्षुगन्धा'** की मिठास और **'राङ्गडा'** की समस्याओं से रूबरू ही हुए थे कि चित्रपर्णी ने जीवनमूल्यों के साठ पायदानों पर दस्तक दे दी। लेखक की जिजीविषा ने शब्दों का आकार ले लिया। उनका आस-पड़ौस, मित्र-सम्बन्धी, सब चित्रवीथी के गलियारों में भ्रमण कर उठे। वैयक्तिक आत्मीय संवेदनाएँ घर बनाने लगीं और सम्पूर्ण समाज राष्ट्र विश्व लेखक के जीवन मूल्यों से जुड़ गया। इस कथा-संग्रह में न तो संघर्षों का इतिहास और न आध्यात्मिक मूल्यों का चिन्तन, बल्कि ऐसा लगता है कि जैसे कथाकार अपने भोगे हुए हर पल को अत्यन्त सरल सहज रूप में आपसे बाँटना चाहता है। चित्रवीथी का सम्पूर्ण परिवेश पाठक से अपरिचित नहीं है। हमने **'छागबलि'**[2] जैसी बलिप्रथा को देखा नहीं तो सुना अवश्य है, **'मायानन्द'**[3] जैसे ढोंगी, कुपात्र साधुओं को समाज के पतन में भागीदारी निभाते भी देखा है और दोगली राजनीति का अनुभव भी किया है। अतः इन कथाओं को पढ़ने पर ऐसा प्रतीत होता है जैसे हम समाज के प्रत्येक हिस्से को समीप से देख रहे हैं और मूल्यों की परिवर्तनशीलता से हतप्रभ हैं। अभिराज राजेन्द्र मिश्र ने सम्पूर्ण विश्व को यथार्थ में निहारा है, उनकी कथाएँ कल्पना के बिछौने बिछा कर नहीं लिखीं गई, अपितु वह ट्रेन की भीड़भाड़ में,[4] बनारस के घाटों पर[5] इलाहाबाद की गलियों में,[6] ग्रीष्म के ताप में,[7] और शिमला की पहाड़ियों पर[8] लिखी गई हैं। उनके जीवन को यदि आत्मकथा के आलोक में देखना है तो चित्रपर्णी के वातायन आपके लिए खुले हुए हैं। आपसे बात करते-करते वे

---

१. डॉ० मञ्जुलता शर्मा, अध्यक्ष संस्कृत विभाग सैण्ट जॉन्स कॉलेज आगरा
२ क्र.सं.चित्रपर्णीपृष्ठांक
३ क्र.सं.चित्रपर्णीपृष्ठांक ३४
४ क्र.सं.चित्रपर्णीपृष्ठांक ३४
५ क्र.सं.चित्रपर्णीपृष्ठांक ६५
६ क्र.सं.चित्रपर्णीपृष्ठांक ६३
७ क्र.सं.चित्रपर्णीपृष्ठांक १९
८ क्र.सं.चित्रपर्णीपृष्ठांक ३६

आपको कब अपना कथा पात्र बना दें, यह पता ही नहीं चलता। वात्सल्यामृतम्[९] इसी प्रकार की कथा है। जिसमें भाई हर्षदेव माधव के जीवन का सच कहा गया है। इस घटना को माधव ने मुझे भी बताया था, अतः कथा को पढ़ते ही मेरे मन में वह घटना पुनर्जीवित हो उठी।

वस्तुतः डॉ० मिश्र जी की इन कथाओं में मिर्जापुर, जौनपुर, इलाहाबाद, बनारस, मीरगंज, संजानगंज, दौनाईग्राम के साथ-साथ शिमला का समरहिल भी आपको मिलेगा। इसमें उनके केवल अपने जीवनमूल्यों की प्रतिध्वनि ही नहीं है, अपितु वहाँ नगरीय सभ्यता के साथ-साथ सुदूर ग्रामीण अञ्चलों की चौपालें भी मुखरित हो उठी हैं।[१०]

'चित्रपर्णी' की दो विशेषताओं के कारण साहित्य में अपने विशिष्ट स्थान की दावेदारी है। प्रथमतः इसमें अभिराज ने लघुकथा की आत्मा को समझा है, क्योंकि इसकी भूमिका में उन्होंने स्वीकार किया है-**कामं लघुकथायाः कलेवरं पृष्ठमितं स्यात् पृष्ठद्वयमितं वा। परन्तु मूललघुकथा एकवाक्यमितैव भवति।** उनकी अधिकांशतः कथाएँ इस सच को स्वीकार करके लिखी गयी हैं। जैसे 'वरावेषणम्'[११] में पुत्री के लिए वर तलाश करती विधवा माँ जिस लड़के का अपनी पुत्री के लिए खोज पाई है, वह उसकी विपद्गाथा से द्रवित होकर उसी से विवाह करना चाहता है और अन्त में मात्र एक वाक्य में कथा अपनी पूरी स्थिति बयाँ कर जाती है। **विवाहार्थमसौ समुद्यतः। परन्तु मया सहैवेति तस्य दृढो निश्चयः।**[१२] अरे यह क्या? पाठक हतप्रभ ठगा सा देखता रह जाता है। इसी प्रकार एक बहुत लघुकथा कोऽनुकरणीय[१३] भी अर्धपृष्ठात्मक कथा होने पर भी एक पंक्ति में अपना उपदेश अपना उद्देश्य व्यक्त कर देती है। पिता पुत्र से यह कहता है कि देखो द्वार पर कोई है, परन्तु तुम उस से कहना मैं घर पर नहीं हूँ, तब पुत्र पूछता है पिता आप और गुरु दोनों ही सत्य बोलने को कहते हैं तो आज झूठ बोलने का आदेश क्यों? इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं। अतः बालक से यह कहकर कि आगन्तुक को कमरे में बैठा दो मैं आ रहा हूँ, यह कथा का अन्त नहीं है, कथा तो इस पंक्ति से समाप्त होती है- **मनसि में विचारद्वन्द्वमिव समुत्थितमासीत्- भो को नु खल्वनुकरणीयः? असत्योपदेष्टाऽहं, सत्यपक्षधरो ममात्मजो वा?**[१४] इसमें द्वन्द्व शब्द का प्रयोग सराहनीय है, जो अनिश्चितता को ही व्यक्त नहीं करता, अपितु दो बातों के जोड़े के मध्य निर्णय करने को सूचित करता है।

इसके अतिरिक्त एक कथा **'नियुक्ति'**[१५] भी सूक्तिवाक्यात्मक कहानी कही जा सकती है। साक्षात्कार के विषय में अनेक लेखकों की कथा को मैने पढ़ा है, परन्तु इस कथा में यद्यपि कथावस्तु तो वही है कि महाविद्यालयों में नियुक्ति विषयक ढोंग किए जाते हैं, परन्तु जिसकी एप्रोच (पहचान) मन्त्रिस्तर की होती है, उस की नियुक्ति चाहे अनचाहे होती है। सुखानन्दभारती महाविद्यालय में भी इसी प्रकार का दिखावा होता है और अन्त

---

९ क्र.सं.चित्रपर्णीपृष्ठांक ४४, २१
१० क्र.सं.चित्रपर्णीपृष्ठांक ११९
११ क्र.सं.चित्रपर्णीपृष्ठांक २७
१२ क्र.सं.चित्रपर्णीपृष्ठांक २४
१३ क्र.सं.चित्रपर्णीपृष्ठांक २५
१४ क्र.सं.चित्रपर्णीपृष्ठांक ४६
१५ क्र.सं.चित्रपर्णीपृष्ठांक ४१

में शिक्षामन्त्री का साला जो तृतीय श्रेणी प्राप्त है, हिन्दी भी ठीक नहीं बोल पाता, संस्कृत विषय का प्रवक्ता बना दिया जाता है। परन्तु मिश्र जी की यह कथा अन्य कथाओं से इसलिए भिन्न है, क्योंकि इसकी केवल एक पंक्ति सम्पूर्ण कथा की प्रतिध्वनि है- **एवं संस्कृत प्रवक्तृपदेऽसंस्कृतस्य नियुक्तिर्जाता।**[१६] यदि पाठक सम्पूर्ण कथा को न भी पढ़े तो यह सूक्ति अवश्य ही उसे गलत नियुक्ति का संकेत दे देगी।

इस प्रकार चित्रपर्णी की अनेक कथाओं में पदे-पदे ऐसे बिन्दु चिह्नित किए हैं, जिनमें सम्पूर्ण कथा का सार निहित है। यद्यपि लघु कथाओं में बनमाली बिश्वाल ने भी बहुत सम्यक् प्रयोग किए हैं और कथा वस्तु में अन्त तक आकर्षण बनाए रखने के लिए रोचक विषयों का प्रतिपादन किया है। उनकी कथाएँ भी पाठक को बांधती हैं। परन्तु सम्भवत: इस प्रकार के सूक्ति वाक्य अभिराज राजेन्द्र मिश्र की चित्रपर्णी में अधिक दृष्टव्य हैं। चित्रपर्णी की दूसरी विशेषता है- मनोभावों का सजीव चित्रण। यह मनोभाव पल-पल आंखमिचौनी खेलते हैं। लेखक ने अपनी समस्त कथाएँ बन्धन मुक्त होकर लिखी हैं, यही कारण है कि कथा की आत्मा मरी नहीं है। इस विषय में यदि आप मिश्र जी का मन्तव्य जानना चाहते हैं तो राङ्गा की भूमिका (पृष्ठ ६) पर दृष्टिपात आवश्यक है, उन्होंने स्वीकार किया है कि मुझे लगने लगा कि मैं अपनी कथाओं में नकेल विरहित बलीवर्द की तरह झूम-झूमकर चलता हूँ। साहित्य संरचना में कोई भी बन्धन सहा नहीं जाता, चाहे वह शास्त्रीय हो चाहे लौकिक। कविता में कवि स्वयं अभिव्यक्त होता है, परन्तु कथा में सम्पूर्ण समाज राष्ट्र, अथवा विश्व। कथा का परिवेश मुझे काव्य के परिवेश से बृहत्तर प्रतीत होता है जाने क्यों?[१७] सम्भवत: इसी मन्तव्य के कारण मिश्र जी की बेबाक शैली हमें चित्रपर्णी में भी दिखाई देती है वे न तो किसी सामाजिक दबाव से डरते हैं और न कोई राजनैतिक प्रतिष्ठा उन्हें भयभीत करती है वे तो जो देखते हैं उसे त्रिकाल दृष्टा ऋषि की भाँति कह देते हैं। अपने व्यक्तित्व के समान ही सपाट बयानी उनकी कथाओं में है। विना किसी लाग लपेट के कही गई ये कथाएँ स्पष्ट जीवनमूल्यों की संवाहक बन गई हैं।[१८]

इस शोधपत्र द्वारा बासठ कथाओं की कथावस्तु प्रस्तुत करना मेरा उद्देश्य नहीं है। मुझे तो आपको चित्रपर्णी के द्वार तक पहुँचाना है। इसके चित्र कितने संवेदनशील और मन भावन हैं, यह बात आप तक पहुँचनी चाहिए। कुछ कथाएँ मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर लिखी गई हैं तो कुछ सामाजिक कुरीतियों की ओर इशारा करती हैं, कुछ कथाओं में दोहरे जीवन मूल्यों की बात कही गई है तो कुछ शिक्षा, संस्कार और देवकृपानुभव को आप तक पहुँचाती हैं।[१९] कुछ कहानियों में लेखक ने उन नियमों और मर्यादाओं का स्वयं पालन किया है, जिन्हें वे सामान्य व्यक्तियों के लिए उपयोगी मानते हैं। जैसे **'इदम्प्रथमतया'** कथा में लेखक ट्रेन में सफर कर रहे हैं, उसका शौचालय बहुत दुर्गन्धमय और गन्दा है। लोग उसके दरवाजे पर जाकर नाक मुँह सिकोड़ रहे हैं। परन्तु नल चलाने का साहस कोई नहीं करता। पता नहीं किसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं? जबकि गाँधी जी ने कहा था कि अपना शौचालय स्वयं साफ करो। अन्त में लेखक ने स्वयं ही उसका अनुकरण करके एक आदर्श उपस्थित किया

---

१६ क्र.सं.चित्रपर्णीपृष्ठांक ४२

१७ १६.राङ्गाभूमिका भाग पृष्ठांक -६

१८ १७.चित्रपर्णी९२

१९ क्र.सं.चित्रपर्णीपृष्ठांक १२, १४, ४३, ९६, १०९, ९५

गान्ध्युपदिष्टमार्गमवलम्ब्य कियान् हर्षो मनसि समजायतेति वक्तुं नाहमिदानीं पारये।[२०] यह हर्ष जीवनमूल्यों को स्वीकार करने का उन्हें जीवन में उतारने का है। इसके अतिरिक्त **'वृद्धामहिषी'**[२१] वृद्धों के प्रति सम्मान, जामाता, दहेज प्रथा का समाधान[२२], **'अभिनयः'** दोहरे चरित्र का स्फुटन[२३] **'लिखितमपि ललाटे'**[२४] भाग्य की प्रबलता, **'वाहनसार्थक्यं वेतनम्'** आदि असहायों के प्रति सहृदता को व्यक्त करती है।[२५] कुछ कथाएँ अपना अतिरिक्त प्रभाव छोड़ती हैं। जैसे दुस्सहम् कथा नौकरशाही के विकृत रूप को व्यक्त करती है। जिसमें पद्माकर शुक्ल रक्षाधिकारी रूप में नियुक्त होकर शासन कार्य करता है। इसी बीच पुलिस अधीक्षक के रूप में किसी रजक (रिजर्वेशन से) की नियुक्ति होती है, वह एक मीटिंग में सामाजिक व्यवस्था की मीमांसा करते हुए ब्राह्मणों के लिए बहुत ही असंस्कृत दुर्वचनों का प्रयोग करता है, सभी अधिकारी अपनी नौकरी की परवशता में मौन रहकर सब सहन करते हैं। पर पद्माकर शुक्ल क्रोधित होकर उस अधीक्षक पर प्रहार करता है और उसे क्षतविक्षत कर देता है, अन्त में अपना त्यागपत्र देकर कहता है कि साथियो **यत् स्वाभिमानं विक्रीय आत्मानञ्च विलय्य शासनसेवा न कार्या।**[२६] वस्तुतः यह स्वाभिमान लेखक का अपना स्वाभिमान है। **'ज्योतिषमाहात्म्यम्'**[२७] कथा लघु हास्य को जन्म देती है, **पितृहृदयम्**[२८] हृदयपरिवर्तन की कथा है जो एक डाकू के हृदय को पिता का हृदय बना देती है। **'कं दारकं लालयेत्'**[२९] वृद्धावस्था में एकाकी रह जाने की पीड़ा को व्यक्त करती है। **'पितृभक्ति'** दोहरे चरित्र को **नियतिकौशलम्** भाग्य की प्रबलता को, **'गुरुदक्षिणा'** शिष्य के समर्पण को **'यशोलिप्सा'** धन और यश की वेदी पर व्यक्तिगत आत्मीय सम्बन्धों के स्वाहा हो जाने की कथा है।[३०] मिश्र जी का समस्त साहित्य भारतीय संस्कृत और मूल्यों की स्थापना का पक्षधर रहा है अतः प्रत्येक संग्रह में हमारे संस्कार कहीं न कहीं अपनी उपस्थिति दर्ज करा जाते हैं। चित्रपर्णी की अभिरुचि[३१] कथा भी आधुनिकता का स्वांग करने वाली नवयुवतियों पर कटाक्ष है। हम पाश्चात्त्य संस्कृति के प्रवाह में इस तरह बहे हैं कि दोनों किनारे हमसे छूट रहे हैं। यही कारण है जब विपुल जो इन्जीनियर है, उसके लिए अति आधुनिक कन्या दिखाई जाती है, परन्तु पूर्ण संस्कारित विपुल उसकी छोटी बहिन जिसे बाँये पैर में कुछ दोष है, लेकिन भारतीय संस्कारों से संवलित है, पत्नी के रूप में स्वीकार करना चाहता है और कहता है-**तस्या बहुलगुणसन्निपाते एकमात्रस्य तस्य दोषस्य न कापि**

---

२० क्र.सं.चित्रपर्णीपृष्ठांक ६४
२१ क्र.सं.चित्रपर्णीपृष्ठांक ३८
२२ क्र.सं.चित्रपर्णीपृष्ठांक १०
२३ क्र.सं.चित्रपर्णीपृष्ठांक १३
२४ क्र.सं.चित्रपर्णीपृष्ठांक १०५
२५ क्र.सं.चित्रपर्णीपृष्ठांक ३६, ३३, ४७
२६ क्र.सं.चित्रपर्णीपृष्ठांक ९१-९३
२७ क्र.सं.चित्रपर्णीपृष्ठांक ९६
२८ क्र.सं.चित्रपर्णीपृष्ठांक ७०
२९ क्र.सं.चित्रपर्णीपृष्ठांक ११४
३० क्र.सं.चित्रपर्णीपृष्ठांक ९४, १२०, ४४, ५८

गणनासीत्।[३२] वास्तव मे यह दोष तो ईश्वरप्रदत्त है, परन्तु असंस्कृत होना अपने जीवनमूल्यों से अपरिचित होना तो हमारा स्वयं का दोष है। इससे प्रतीत होता है कि मिश्र जी भारतीय संस्कृति के कुशल चितेरे हैं और अधिकांश कथाओं में उन्होंने इसका निर्वहन किया है।

समालोचना की दृष्टि से चित्रपर्णी की कुछ कथाएँ उतनी प्रभावी नहीं बन पाई हैं। गौर्यावर: कथा समाचार पत्र की कटिंग सी.प्रतीत होती है, जिसमें बचईसिंह की पुत्री गौरी रूपगुण से सम्पन्न है, परन्तु निर्धनता और पत्नी की विक्षिप्तता के कारण वह उसका विवाह नहीं कर पाता। पड़ौसी के विवाह में विक्षिप्त पत्नी का पुत्र को गोद में बैठाकर रुदन करना और वहीं किसी युवक का विवाह कर लेना खबरीलाल की खबर जैसा लगता है। **पात्रत्वम्** का प्रारम्भ बहुत ही मार्मिक है, परन्तु अन्त उतना ही प्रभावी प्रतीत नहीं होता। इसमें कथा का जीवन तत्त्व तो सुरक्षित है, परन्तु इसका अन्त अस्पष्ट है। इसी प्रकार **'प्रीतियोग' 'नियति कौशलम्' पञ्चाशद्वर्षपरवर्ति पत्रम्** आदि कथाओं के अन्त उतने प्रभावी नहीं बन सके हैं।

काष्ठभाण्डम्'[३३] अपरिपक्व व्यक्तित्व को व्यक्त करती है। इसका नायक मन्दबुद्धि है, परन्तु विद्यालय प्रबन्धक की मूढ़ा पुत्री से विवाह करके वह उन्नति कर जाता है, दूसरों के लिखे आंग्लभाषा के पत्र संगोष्ठियों में पढ़कर लोगों को आश्चर्यचकित कर देता है, एक दिन किसी अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठी में शोधपत्र के अन्त में जब विदेशी अंग्रेजी में प्रश्न पूछते हैं तो वह बगलें झांकने लगता है, तब अपने राष्ट्र के मान को सुरक्षित रखने के लिए कोई दूसरा व्यक्ति उठकर समाधान प्रस्तुत करता है। ऐसा प्राय: देखने को भी मिलता है कि हम दिखावे में यह भी भूल जाते हैं कि काठ की हांडी एक बार ही चढ़ती है। अभिराज ने इस कथा में एक बात बहुत अच्छी कही है कि जब दुर्गुणी व्यक्ति की पदोन्नति होती है, तब दुर्गुण बढ़ते हैं और जब प्रतिभाशील व्यक्ति की पदोन्नति होती है, तब सांस्कारिक गुणों का विकास होता है। अत: समाज में श्रेष्ठ मूल्यों की स्थापना के लिए श्रेष्ठ गुणी व्यक्तियों की प्रतिष्ठा आवश्यक है।

एवं हि मन्दबुद्धौ प्रवक्तरि पदोन्नते कृते मन्दबुद्धेरेव पदेन सहोन्नतिर्जायते। प्रतिभाशीले पदोन्नते सति प्रतिभाया उन्नतिभर्वति।

वास्तविकता यही है अल्पज्ञ की अन्तत: पोल खुल ही जाती हैं, अत: हम जो भी हैं, स्वयं को उसी रूप में स्वीकार एवं प्रदर्शित करें।

कलापक्ष की दृष्टि से मिश्र जी के लिए कुछ भी कहना सूर्य को दीपक दिखाना है। शब्दों के सर्जक होने के नाते आप प्रत्येक भावभूमि में नये शब्द गढ़ लेते हैं, भ्रमणशीलता के कारण आंचलिक भाषा भी आपकी अनुगामिनी हो जाती है। मुहावरों के प्रयोग से मिश्र जी ने कथाओं को स्वाभाविकता प्रदान की है **'रजकसारमेयो जात:** (पृष्ठ १००) में धोबी का कुत्ता होना, काठ की हांडी चढ़ना और खून पी जाना (पृष्ठ १०३) आदि अनेक प्रयोग सराहनीय हैं। लघुकथाओं का शिल्प जितना सुगढ़ होना चाहिए, उतना चित्रपर्णी कथाओं में द्रष्टव्य है। लेखक की रचनाधर्मिता ने कथाओं के साथ न्याय किया है। कुछ कथाएँ जीवनमूल्यों की प्रत्यक्ष वकालत करती हैं, और कुछ कथाओं में संस्कारवश इन मूल्यों का रूप उतर आया है। इस प्रकार चित्रपर्णी में जीवन मूल्यों का अद्भुत संयोग दिखाई देता है। यद्यपि लेखक ने **'इक्षुगन्धा'** और **'राङ्गा'** कथा संग्रह द्वारा कथासाहित्य के क्षितिज

---

३२ क्र.सं.चित्रपर्णीपृष्ठांक ६९

३३ क्र.सं.चित्रपर्णीपृष्ठांक १०८

पर श्रेष्ठता की जो लम्बी लकीर खींची है, उसके समक्ष दूसरी लकीर खींचना बहुत ही दुःसाध्य है, परन्तु अनुभवों को शब्द देने का गुरुतर दायित्व **'चित्रपर्णी'** ने बखूबी निभाया है। इसकी कथाएँ जीवन को इसी रूप में भोगने का आश्वासन देती हैं। समाज की चेतना, लेखक की चेतना बन जाती है और वह यथार्थ को कथा के रूप में कह जाते हैं। जीवन की कटुता भी रससिक्त कथा बनकर आत्मविभोर कर देती है।

'चित्रपर्णी' दुःख-सुख, वेदना-व्याकुलता, जातिव्यवस्था, अन्धविश्वास, सहृदयता, शिक्षा और संस्कार, दोहरे चरित्र, गृहकलह, वृक्षों के प्रति सम्मान, सम्बन्धों की ऊष्मा और ढोंगी साधुओं के आचरण के चित्रों से सुसज्जित चित्रवीथी है। इसके सामाजिक और सांस्कृतिक परिवेश अपनत्व का अनुभव कराते हैं। अतः यदि गहनता से देखा जाए तो इस कथासंग्रह में लोरी जैसी तरलता ही नहीं, अपितु अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति भी है, क्योंकि जहाँ इसमें एक और परिवहन मन्त्री का दोहरा चरित्र है, नियुक्ति में सिफारिश है, ऊर्ध्वरिता तपस्वी की काली करतूते हैं, अन्धविश्वास की पीड़ा है, दहेजप्रथा की विभिषिका है, वहीं दूसरी ओर मेजर की सदाशयता, प्रबन्धक की सहृदयता, वृद्धों का सम्मान, दायित्वबोध, देवकृपानुभव, गुरु के प्रति कृतज्ञता, गरीबों की सहायता, धर्मभीरुता और गांधी जी के सिद्धान्तों के पालन की प्रतिबद्धता है।

वस्तुतः चित्रपर्णी मानव जीवन के उन सभी मूल्यों की ओर संकेत करती है, जो मनुष्य की जीवनयात्रा के अविभाज्य अंग हैं। इसमें **'इक्षुगन्धा'** की तरुणाई और राज्ञा की प्रौढ़ता भले ही न हो, परन्तु अपनी सुकुमारता के ब्याज से यह समाज में जीवन मूल्यों की स्थापना का वचन अवश्य देती है। छोटी-छोटी बातें कब किस्से कहानी बन गईं यह बताती है चित्रपर्णी।

बासठ कथाएँ-बासठ दिन कहीं श्रेष्ठ जीवन मूल्य
कही दिल की व्यथा यही है 'चित्रपर्णी' की आत्मकथा।

गुरुकुल-शोध भारती सितम्बर २००९ अङ्क १२ (पृ०१८४-१९३)

कालिदास एवं प्रसाद के काव्य में चाक्षुष बिम्ब

डॉ० सत्य प्रकाश शर्मा[1]

महान् नाटकार एवं महाकवि कालिदास तथा जयशंकर प्रसाद-भारतीय साहित्य की महान् विभूति हैं। इन्होंने अपनी रचनाओं से साहित्य को समृद्ध किया है। साहित्य इनसे गौरवान्वित हुआ है। दोनों महान् नाटककार हैं, अप्रतिम कवि हैं तथा प्रेम एवं सौन्दर्य के अमर गायक हैं। इनके लिए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के निम्न उद्गार उल्लेखनीय हैं-'वाल्मीकि और व्यास की कविता के समान ही उनकी कविता भी शक्तिशाली और महनीय चरित्रों की सृष्टि करने में समर्थ हुई है। सुकुमारता के साथ सुशीलता का मानसिक मृदुता के साथ चारित्रिक दृढ़ता का, अपार वैभव के साथ विपुल वैराग्य का-सौन्दर्य के साथ धर्म का-ऐसा मणिकांचन योग संसार के साहित्य में विरल है।'[2] यही मत प्रसाद जी के काव्य के लिये भी सत्य है।

बिम्ब पाश्चात्त्य समीक्षाशास्त्र का एक सशक्त प्रतिमान है। अत: वहाँ के आलोचनाशास्त्र में बिम्ब का अत्यन्त सूक्ष्म, विस्तृत एवं अनेकश: प्रतिपादन होना स्वाभाविक है। बिम्ब सम्बन्धी कुछ प्रमुख पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों के विचार निम्नवत् हैं-

ड्राईडन के मत से- **'बिम्ब विधान कविता की उत्कृष्टता का परिचायक ही नहीं, प्रत्युत उसका प्राणतत्त्व है।'**[3]

सी०डी० लेविस के अनुसार- **काव्य-बिम्ब न्यूनाधिक परिमाण में ऐन्द्रियता के तत्त्व से समंजित कुछ अंशों में अलंकृत शब्द चित्र-चित्र है, जिसके संदर्भ में किसी मानवीय संवेदना की अन्तर्ध्वनि रहती है तथा जो एक विशिष्ट काव्यात्मक अनुभूति पाठकों में उद्दीप्त कर सकता है।'**[4]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार- **'काव्य में बिम्ब स्थापना प्रधान है।'**[5]

डॉ० नगेन्द्र के मत से- **'बिम्ब एक प्रकार का चित्र है जो किसी पदार्थ के साथ विभिन्न इन्द्रियों के सन्निकर्ष से प्रमाता के चित्त में उद्बुद्ध हो जाता है।'**[6]

डॉ० भगीरथ मिश्र के विचार से- **'वस्तु भाव या विचार को कल्पना या मानसिक क्रिया के माध्यम से इन्द्रियगम्य बनाने वाला व्यापार ही बिम्बविधान है।'**[7]

डॉ० केदारनाथ सिंह के अनुसार- **'बिम्ब वह शब्द चित्र है जो कल्पना के द्वारा ऐन्द्रिय अनुभवों के आधार पर निर्मित होता है।'**[8]

---

१. वरिष्ठ प्रवक्ता, हिन्दी विभाग राज० स्नातकोत्तर महाविद्यालय लोहाघाट (उत्तराखण्ड)
२. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-८ कालिदास की लालित्य योजना, पृ०-१२५
३. दि पोइटिक इमेज, पृ० १७
४. कामायनी महाकाव्य का दर्शन: डॉ. रमाशंकर तिवारी के पृ०-४०८ से उद्धृत
५. चिन्तामणि भाग १, पृ०-२९२
६. काव्यबिम्ब पृ०-५
७. काव्यशास्त्र, पृ०-२५२

उपर्युक्त पाश्चात्त्य एवं भारतीय विद्वानों का अध्ययन करने के उपरान्त हम कह सकते हैं कि विचारों, भावनाओं या अनुभूतियों को ऐन्द्रिय अनुभूतियों के आधार पर पुनः प्रत्यक्ष करने वाले शब्द चित्र को ही बिम्ब कहते हैं। बिम्ब एक प्रकार का शब्द चित्र है जिसका निर्माण कल्पना के द्वारा होता है तथा उसके निर्माण का आधार ऐन्द्रिय अनुभव होता है।

यद्यपि भारतीय काव्यशास्त्र में बिम्ब के नाम से चिन्तन नहीं किया गया है, तथापि उसमें काव्य के तत्त्व एवं रूप का सूक्ष्म गंभीर विवेचन विद्यमान है। चूंकि मूर्त्तन-प्रक्रिया काव्य में अनिवार्य होती है और मूर्त्तन प्रक्रिया का अनिवार्य सम्बन्ध बिम्ब से भी है। इसलिए यहाँ बिम्ब विषयक चिन्तन विद्यमान है। इस विषय में डॉ० नगेन्द्र के विचार महत्त्वपूर्ण हैं- 'कल्पना की सृष्टि होने के कारण बिम्ब का सम्बन्ध अलंकार, ध्वनि, वक्रता के साथ अधिक घनिष्ठ है और रीति के साथ अपेक्षाकृत कम है। अलंकार विधान में सादृश्यमूलक अलंकार प्रायः बिम्बात्मक होते हैं, जिनसे सादृश्य प्रतीयमान रहता है। उनमें बिम्ब की स्थिति और भी निश्चित रहती है।'[९] दृष्टान्त एवं निदर्शना अलंकारों के लक्षणों में बिम्ब शब्द का प्रयोग हुआ है-

(क) दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम्।[१०]

(ख) यत्र बिम्बानुबिम्बत्वं बोधयेत् सा निदर्शना।[११]

भारतीय काव्यशास्त्र में बिम्बों का अनेक रूपों में विवेचन हुआ है, परन्तु अप्रत्यक्ष रूप में बिम्ब सादृश्यमूलक अलंकार, लक्षणा, ध्वनि तथा वक्रोक्ति के अधिक निकट हैं।

काव्य में सौन्दर्य का सन्निवेश करने वाले साधनो में बिम्ब का स्थान महत्त्वपूर्ण है। किसी बात को समझने के लिये हम उसे कल्पना द्वारा मानस में प्रत्यक्ष करते हैं। गूढ़ से गूढ़ एवं दुरूह से दुरूह विषय भी रूपायित कर देने पर स्पष्ट हो जाते हैं। इसीलिए आचार्य शुक्ल ने कविता में बिम्बग्रहण की अनिवार्यता पर जोर दिया है-'**कविता में अर्थग्रहण से जोर नहीं चलता है, बिम्बग्रहण अपेक्षित होता है।**'[१२] बाह्य जगत् का बोध हमें ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से होता है। कविता के मानस-प्रत्यक्षीकरण में इन ज्ञानेनिन्द्रयों का योग होता है। काव्य में शब्दार्थ के अवलम्ब से रूप, ध्वनि, प्राण, रसना, तथा स्पर्श की सजीव अनुभूतियां चित्रांकित हो जाती हैं। डॉ. फतह सिंह का कहना है-'चक्षु, श्रोत्र, जिह्वा, नासिका तथा त्वचा के माध्यम से जिस सौन्दर्य की अनुभूति होती है, उसकी तुलना हम उस सौन्दर्य से भी कर सकते हैं, जो हमें काव्य के माध्यम से प्राप्त होती है और प्रायः जिसे रसानुभूति की संज्ञा दी जाती है। कालिदास आदि कवियों के काव्य में हमें जिस सौन्दर्य की प्रतीति होती है, वह चक्षु, श्रोत्र, जिह्वा, नासिका तथा त्वचा से ग्राह्य सौन्दर्य तो नहीं है, परन्तु तत्त्वतः वह उससे भिन्न भी नहीं है, क्योंकि वस्तुतः विश्लेषण करने पर काव्य जिस मानस प्रत्ययों अथवा चित्रों के माध्यम से सहृदय पाठक को सौन्दर्यानुभूति प्रदान करता है, वे चक्षु, श्रोत्र जिह्वा, नासिका तथा त्वचा द्वारा प्रदत्त रूप, शब्द रस, गंध एवं स्पर्श

---

८. आधुनिक हिन्दी कविता में बिंब विधान, पृ०-२३ ?
९. आस्था के चरण, पृ० १६७
१०. साहित्य दर्पण, १०/५०
११. साहित्य दर्पण- १०/५० ५१
१२. चिन्तामणिः भाग-१ पृ. ४५

के मानस प्रत्यय अथवा चित्र ही होते हैं। अस्तु काव्य का सौन्दर्य मानस-ग्राह्य है।'[२३] इस प्रकार काव्य के सौन्दर्य के लिये बिम्बयोजना का महत्त्व असंदिग्ध है।

बिम्बों का वर्गीकरण

कुछ विद्वानों ने बिम्बों को वर्गीकृत करने के लिये विषयवस्तु को आधार बनाया है। कुछ ने भाव को आधार बनाया है तो कुछ विद्वानों ने शैली को। आचार्य ने कल्पना की तीन कोटियां बतायी हैं और उसके आधार पर बिम्बों की तीन कोटियां निर्धारित की हैं- प्रत्यक्ष रूप विधान, स्मृत विधान तथा कल्पित रूप विधान। डॉ० नगेन्द्र ने ऐन्द्रिय आधार पर बिम्बों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है- १-दृश्य, २. श्रव्य ३. स्पृश्य ४. घ्रातव्य एवं ५-रस्य या आस्वाद।[१४] डॉ० केदारनाथ सिंह, डॉ. कुमार विमल आदि विद्वानों ने बिम्बों को अनेक प्रकार से वर्गीकृत किया है। इन सभी विद्वानों के अध्ययन के उपरान्त बिम्बों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है-

(अ) अमिश्र ऐन्द्रिय बोधों पर निर्भर बिम्ब

१-चाक्षुष बिम्ब, २-श्रावण बिम्ब, ३-घ्रातव्य बिम्ब ५- स्पर्श बिम्ब ६- गत्वर बिम्ब।

(ख) कलात्मक अभिव्यक्ति भंगिमा पर निर्भर बिम्ब-

१- शब्द बिम्ब, २- वर्ण बिम्ब, ३-व्यंजनाप्रवण सामाजिक बिम्ब, ४- असंवेष्टित या प्रसृत बिम्ब, ५- व्यापार विधायक बिम्ब, ६- विशेषण निर्भर बिम्ब, ७-कल्पनाश्रयी तिर्यक् बिम्ब।

(ग) मिश्र ऐन्द्रिय बोधों पर निर्भर बिम्ब

१- वेगोद्रेदक बिम्ब, २- सह संवेदनात्मक बिम्ब।

(घ) उदात्त बिम्ब।

कालिदास एवं प्रसाद के काव्य में चाक्षुष् बिम्ब

जहाँ कविता को पढ़ने से उसका काल्पनिक शब्दचित्र नेत्रों के समक्ष उपस्थित हो जाता है, तो वहाँ बिम्ब होता है। प्रेम से आपूरित एवं सौन्दर्य-प्रधान कविता में चाक्षुष बिम्बों की प्रधानता होती है। ये कवि चाक्षुष प्रतीति को अधिक महत्त्व देते हैं। चाक्षुष प्रतीति की प्रधानता के कारण ही कालिदास एवं प्रसाद के काव्य में चाक्षुष बिम्ब अधिक मिलते हैं।

कला (कविता) की रचना-प्रक्रिया पर विचार किया जाये तो पता चलता है कि कलाकार की मानसी सृष्टि है। कला का जन्म सर्वप्रथम कलाकार के मानस में ही होता है। महर्षि वाल्मीकि ने लिखा है-

मनसैव कृतां लंका निर्मिता विश्वकर्मणा।[१५]

रचना-प्रक्रिया के सूक्ष्म किन्तु मार्मिक संकेत कालिदास में मिलते हैं-

चित्रे निवेश्य परिकल्पित सत्वयोगाद्
रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृतानु।

---

१३. भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका पृ. ५

१४. काव्य बिम्बः पृ. ९
१५. रामायण ४/२/२२

स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे
धातुर्विभुत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्याः॥[१६]

उक्त श्लोक के विषय में डॉ० नगेन्द्र की टिप्पणी है-'शकुन्तला के सौन्दर्य की रचना करने के लिये कदाचित् विधाता ने पहले एक (सर्वांग सुन्दर) चित्र बनाया और फिर उसमें प्राण का संचार किया या सौन्दर्य के (सर्वश्रेष्ठ) उपादानों का संचय किया और फिर उसके आधार पर मानसी कल्पना के द्वारा उसके रूप का निर्माण किया। इस प्रकार की एक और ही स्त्री-रत्न की सृष्टि हो गयी, जो सामान्य से सर्वथा भिन्न थी। यहाँ कलाकृति की रचना-क्रिया का अत्यन्त सटीक वर्णन किया गया है। कलाकार सौन्दर्य के उपकरणों का अपनी **'भावना'** के अनुरूप संघटन कर कृति की रचना करता है।[१७]

महाकवि तुलसीदास भी मानस'- कथा के आदि प्रणेता के मुख से कहलाते हैं-

रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा।[१८]

प्रमुख पाश्चात्त्य दार्शनिक एवं सौन्दर्यशास्त्रीय विचारक वेनदेतो क्रोचे ने भी कला का जन्म कलाकार के मानस में माना है।[१९]

उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष है कि कविता में चाक्षुषता अनिवार्यतः विद्यमान रहती है, क्योंकि भावों एवं विचारों का चित्र प्रथम कवि के मानस में कौंधता है, तदुपरान्त भाषा एवं शैली के अवलम्ब से वह उसे बिम्बरूप में अभिव्यंजित करता है।

कालिदास जी काव्य-सृष्टि रूप, शब्द, घ्राण, स्पर्श आदि के ताने -बाने से बनी होने के कारण भावात्मक-रसात्मक एवं आह्लादक है। यद्यपि इन्होंने प्रकृति की रमणीयता का मोहक वर्णन किया है, तथापि उनका मुख्यवर्ण्य-विषय नारी-सौन्दर्य है। इन्होंने नारी की देह-यष्टि के सुन्दर काव्य बिम्ब प्रस्तुत किये हैं। मुख, कपोल, केश, चिबुक, कण्ठ, ग्रीवा, स्तन, जंघाओं आदि के रमणीय बिम्बों से इनके काव्य आपूरित हैं। शोभा, सौन्दर्य एवं नवयौवन से युक्त शकुन्तला के रूप का चाक्षुष बिम्ब प्रस्तुत है-

अधरः किसलय-रागः कोमल-विटपानुकारिणौ बाहू।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमंगेषु सन्नद्धम्॥[२०]

कालिदास ऐसे सौन्दर्य को विधाता का अनुपम वरदान मानते हैं। **'कुमारसम्भवम्'** में वे कहते हैं-

कुले प्रसूतिः प्रथमस्य वेधसः त्रिलोक-सौन्दर्यमिवोदितं वपुः।
अमृग्यमैश्वर्यं सुखं नवं वयः तपः फलं स्यात्किमतः परं वद॥[२१]

विधाता (हिरण्यगर्भ नामक प्रजापति) के कुल में जन्म तीनों लोकों के सौन्दर्य से समन्वित शरीर,

---

१६. अभिज्ञानशाकुन्तलम् १/२१
१७. अभिज्ञानशाकुन्तलम् पृ. ११९
१८. रामचरितमानस-१ १/३४/५
१९. पाश्चात्य साहित्य चिंतन, निर्मला जैन पृ. ११५
२०. अभिज्ञानशाकुन्तलम् १/२१

समृद्धि का सुख और नवीन वय (चढ़ती जवानी) इनसे बढ़कर तपस्या का फल और क्या हो सकता है।

नारी-सौन्दर्य की महिमा से मण्डित चाक्षुष् बिम्बों की अधिकता का कारण बताते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं- 'कालिदास ने नारी सौन्दर्य को महिमा मण्डित देखा है। इसका मुख्य कारण उनकी यही निसर्ग-सौन्दर्य दर्शिनी दृष्टि है। भारतीय धर्म-साधना में देवी-देवताओं के किशोर रूप का ही ध्यान किया जाता है- **'वय: कैशोरकं ध्यायेत।'** क्योंकि इसी अवस्था में शरीर और मन में आद्याशक्ति, विधाता की आदि सिसृक्षा का श्रेष्ठ विलास, अपनी चरम सीमा पर आता है। शोभा का अनुप्राणक धर्म यौवन माना गया है।'[२२]

महाकवि जयशंकर प्रसाद ने श्रद्धा के मुसकान के माधुर्य का मनोरम बिम्ब प्रस्तुत किया है। शकुन्तला के अधरों की भाँति श्रद्धा के अधर भी किसलयवत् हैं-

और उस मुख पर वह मुस्क्यान
रक्त किसलय पर ले विश्राम।
अरुण की एक किरण अम्लान
अधिक अलसाई हो अभिराम।। [२३]

उक्त माधुर्य-बिम्ब के प्रति डॉ० रमाशंकर तिवारी का कथन है- 'यहाँ कवि ने एक प्रकृति-सुलभ बिम्ब की भावना की है' -लाल पल्लव पर प्रत्यूष की एक चमकीली किन्तु अलसाई किरण पड़ी हो। इस सहायक बिम्ब के नियोजन से श्रद्धा के रक्तिम मुख पर खिलने वाली मुस्कान की माधुरी का अभीष्ट बिम्ब अंकित किया गया है। मुसकान से फूटने वाली मधुर चमक के संवेदन के लिये रक्त किसलय पर विश्राम करती हुई शिथिल रश्मि का उपमान अत्यन्त व्यंजनापूर्ण है। विश्राम करने तथा अलसाई पड़ी रहने में स्वत: एक अन्य बिम्ब, ऐसी मुग्धा का बिम्ब जो सुरतिश्रम से शिथिल होकर कोमल सेज पर विश्राम कर रही हो, संकेतित हो गया है। अत: यहाँ कवि ने पहले मानव संसार से एक बिम्ब लिया और उससे प्रकृति जगत् के एक दूसरे बिम्बों को संवारा और तब, इस दूसरे बिम्ब से अपने अभीष्ट बिम्ब का अंकन किया। श्रद्धा की वह मुस्कान उसके अन्तस् की किस भाव-माधुरी को आलोकित करती है, यह शब्दातीत है। मानव-सौन्दर्य से प्रकृति-जीवन का शृंगार-सौन्दर्य से मानव-जीवन के प्रति शृंगार-इस विनिमय व्यापार की भावना कितनी रोमांटिक कितनी मधुर है।'[२४] यहाँ डॉ० तिवारी ने कहीं अधर का उल्लेख नहीं किया है। वस्तुत: किसलय का उपमान है। रूपकातिशयोक्ति के माध्यम से कवि व्यंजना कर रहा है कि श्रद्धा के लाल-लाल अधरों पर मुस्कान स्थाई रूप से विद्यमान है, जैसे प्रात:कालीन सूर्य की लाल-लाल किरणें किसलयों पर विश्राम कर रही हों। किसलय का प्रयोग कालिदास के **'अधर: किसलयराग:'** की याद दिला रहा है।

चाक्षुष् बिम्बों में गत्वरता का समावेश कर कालिदास एवं प्रसाद ने अद्भुत सौन्दर्य की सृष्टि की है। कालिदास गतिपरक अंग-भंगिमाओं से युक्त हिरन का चाक्षुष इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं-

ग्रीवाभंगाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टि:
पश्चार्धेन प्रविष्ट: शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम्।

---

२२. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली-८ कालिदास की लालित्य योजना पृ. १७६
२३. कामायनी, पृ० ४७

दर्भैर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति॥[२५]

उपर्युक्त श्लोक से महाकवि के प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण का ज्ञान होता है। प्रत्येक चरण में हिरण का एक स्वरूप लक्षित किया जा सकता है। दौड़ता हुआ हिरण पीछा करते हुए रथ को बार-बार भयाकुल नेत्रों से गर्दन मोड़कर देखता है। दूसरे चरण में पीछे के शरीर को आगे के आधे शरीर में प्रविष्ट करने (शरीर को सिकोड़ने) की क्रिया का कलात्मक यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया गया है, जो कालिदास सदृश महान् कवि के वश की ही बात है।

पद्मिनी नायिका शकुन्तला के मुखमण्डल पर उड़ते हुए भौंरे की चाक्षुष प्रतीति अत्यन्त मनोहारी है। इसमें भौंरे की गतिमयता के साथ-साथ शकुन्तला की गतिमयता का चित्रांकन साथ-साथ हुआ है। नेत्रों की चञ्चलता, हाथों को हिलाकार भ्रमर को रोकना तथा भ्रमर का गुनगुनाते हुए कपोलों, नेत्रों एवं अधरों पर मंडराना कितना प्रभावोत्पादक है-

चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदुकर्णान्तिकचरः।
करौ व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरम्
वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती॥[२६]

सौन्दर्य के शिल्पी महाकवि की दृष्टि गत्वर चाक्षुष बिम्बों में कम रमी है, तथापि जहाँ कहीं भी उन्होंने गत्वरता का बिम्ब बनाने का प्रयास किया है, वहाँ वे अत्यन्त रमणीयता की सृष्टि करने में सफल हुए हैं। **'मालविकाग्निमित्र'** में चलित नृत्य का नमनीय वर्णन इस प्रकार उपस्थित किया है कि नर्तकी की अंगभंगिमाएं और भावमुद्राएं उसमें पूरी गतिमयता के साथ चित्रित हो गयी हैं-

वामं सन्धिस्तमितवलयं न्यस्य हस्तं नितम्बे
कृत्वा श्यामा विटपिसदृशं स्रस्तमुक्तं द्वितीयम्।
पादांगुष्ठालुलितकुसुमे कुट्टिमे पातिताक्षं
नृत्यादस्याः स्थितमतितरां कान्तमृज्वायताक्षम्॥[२७]

प्रसाद जी ने कामायनी के रहस्य सर्ग में प्रभावशाली एवं दिव्योज्ज्वल बिम्ब अंकित किया है-शंकर के ताण्डव नृत्य द्वारा। यह नृत्य भव्य है, विराट् है। कुमारसंभव में भी शंकर को आलोक पुरुष के रूप में चित्रित किया गया है। वे शक्ति एवं सत्ता के अखण्ड पुंज हैं। उनका नृत्य प्रकाश का कल्लोल है, जिसमें मधुर लोल लहरियां उठ रही हैं। यह शंकर की लीला की स्पन्दनपूर्ण अभिव्यक्ति है। नटराज मंगल-चेतन हैं। उनके सानन्द नर्तन से सृजन तथा संहार के प्रभावकारी दृश्य घटित हो रहे हैं-

आनन्द पूर्ण ताण्डव सुन्दर
झरते थे उज्ज्वल श्रम-सीकर

---

२५. अभिज्ञानशाकुन्तलम् १/७
२६. अभिज्ञानशाकुन्तलम् १/२३
२७. मालविकाग्निमित्र

बनते तारा हिमकर दिनकर
उड़ रहे धूलि-कण से भूधर
संहार-सृजन से युगल पाद-
गतिशील अनाहत हुआ नाद।
बिखरे असंख्य ब्रह्माण्ड गोल
युग त्याग ग्रहण कर रहे तोल,
विद्युत् कटाक्ष चल गया जिधर
कंपित संसृति बन रही उधर
चेतन परमाणु अनन्त बिखर
बनते, विलीन होते क्षण भर।[२८]

डॉ. रमाशंकर तिवारी का कहना है कि शंकर की शाश्वत सत्ता की प्रकाशमयता एवं शक्तिमत्ता का, उनकी सर्जन एवं संहार की अखंड सामर्थ्य का तथा उनके लीलामूलक आनन्दपूर्ण नर्तन का ऐसा दिव्य एवं विराट् बिम्ब हिन्दी साहित्य में अन्यत्र उपलब्ध नहीं है।[२९]

प्रसाद जी का प्रकृति निरीक्षण भी अत्यन्त सूक्ष्म है। मानवीकरण के माध्यम से उन्होंने रजनी का सु[illegible] चाक्षुष बिम्ब प्रस्तुत किया है। कालिदास की भाँति प्रसाद ज़ी भी यौवन के कवि हैं। नारी के चित्रण में उनकी दृ[illegible] बहुशः रमी है। स्थूल के प्रति विद्रोह की भावना होने के कारण उन्होंने प्रायः रूपकातिशयोक्ति, मानवीकरण आ[illegible] के ब्याज से ही नारी सौन्दर्य के सूक्ष्मचित्र उपस्थित किए हैं। संध्या सुनहली साड़ी से आवेष्टित आकाश रू[illegible] सागर के तट पर आती है तो रजनी किसी ईर्ष्या के कारण उसकी साड़ी फाड़ देती है और वह हंसने लगती है। कवि ने रजनी को अभिसारिका नायिका के रूप में चित्रित किया है-

घूंघट उठा देख मुस्क्याती
किसे ठिठकती-सी आती,
विजन गगन में किसे भूल- सी
किसको स्मृति-पथ में लाती।
पगली! हां सम्हाल ले, कैसे
छूट पड़ा तेरा अंचल?
देख बिखरती है मणिराजी-
अरी उठा बेसुध चञ्चल।
फटा हुआ था नील वसन क्या
ओ यौवन की मतवाली!
देख, अकिंचन जगत लूटता

२८. कामायनी पृ० - [illegible]
२९. [illegible]

तेरी छवि भोली-भाली।[३०]

अपने प्रियतम प्रभात से मिलने रजनी हाँफती हुई जा रही है। उसका स्वरूप मुग्धा का है। वह प्रियतम के ध्यान में इतनी मग्न है कि उसे अपने वस्त्रों की भी सुधि नहीं है। नील वसन का फट जाना, उसकी ओर ध्यान न जाना, हांफना-ये सब रति-विश्रान्त अभिसारिका के गुण हैं। इस बिम्ब के विषय में डॉ० फतह सिंह का मत है-'कामायनी में रजनी का जैसा सुन्दर चित्र मिलता है, वह संभवत: अन्यत्र दुर्लभ है। रात का विश्व में बार-बार आना जाना, रात्रि-पवन का चलना, नक्षत्र मंडित निशा का खिलखिलाना तथा नैश वातावरण की स्तब्धता इन सब प्रत्येक चित्रण में एक नयी प्रतिभा और अनूठी कला का परिचय मिलता है।'[३१]

चाक्षुष बिम्बों में वर्णों का प्रयोग महत्त्वपूर्ण होता है। डॉ० कुमार विमल का मत है-'चाक्षुष बिम्बों के साथ वर्णबोध का घनिष्ठ सम्बन्ध है। वर्ण-बोध चाक्षुष बिम्बों को कलापूर्ण चित्रात्मक सौन्दर्य प्रदान करता है।'[३२] सुधी समीक्षक डॉ० सूर्यप्रसाद दीक्षित का विचार है-'सौन्दर्य के सम्मूर्तन एवं बिम्ब-विधान के लिए रंगों का बोध अपरिहार्य है। रंग-योजना की समुचित अनुभूति प्राप्त किये विना कोई कवि की बिम्बविधायिनी कल्पना जिस रूप (फॉर्म) की प्रस्थापना करती है, उसमें मात्र स्थूल रेखाएं ही आ पाती हैं, समग्र रूप नहीं। अत: वस्तु के सहज-स्वाभाविक चित्रांकन के लिये रंगारंग का सम्यक् निर्वाह आवश्यक है।'[३३]

प्रसाद का वर्ण- बोध रंजक एवं विकसित है। उन्होंने वर्णसाम्य एवं वर्ण-व्यतिरेक के माध्यम से अपने विकसित वर्णबोध का परिचय दिया है। विस्तृत हिमराशि पर फिसलती हुई सूर्य की पीली किरणों का जो दृष्टिरंजक रूप प्रस्तुत किया है, उसमें उनकी वर्णसाम्य के बोध की विशिष्टता व्यंजित होती है-

नवकोमल आलोक बिखरता
हिमसंसृति पर भर अनुराग।
सित सरोज पर क्रीड़ा करता
जैसे मधुमय पिंग पराग।[३४]

प्रसाद जी ने अनेक चाक्षुष बिम्बों में विरोधी वर्णों (कलर-कॉण्ट्रास्ट) की कलात्मक योजना की है। उदाहरण प्रस्तुत है-

(क) सोने की सिकता में मानो
कालिन्दी बहती भर उसास,
स्वर्गंगा में इन्दीवर की
या एक पंक्ति कर रही हास।[३५]

(ख) नील परिधान बीच सुकुमार

---

३०. कामायनी आशा सर्ग पृ. ४३/४४
३१. कामायनी सौन्दर्य: डॉ. फतह सिंह पृ. २०२
३२. छायावाद का सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन पृ. १८०
३३. छायावादी काव्य का व्यावहारिक सौन्दर्यशास्त्र पृ. १६६
३४. कामायनी पृ. २७

खुल रहा मृदुल अध्रखुला अंग।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ बन बीच गुलाबी रंग।[३६]

पहले उद्धरण में स्वर्णिम सिकता और कालिन्दी की धारा तथा स्वर्गंगा और इन्दीवर की पंक्ति के सौन्दर्य को वर्ण-व्यतिरेक के माध्यम से प्रस्तुत किया है। काले ऊन की पट्टिका से बंधे श्रद्धा के स्वर्णिम पीन पयोधरों की छटा दर्शनीय है। दूसरे उदाहरण में नील, परिधान के मध्य श्रद्धा के अधखुले गोरे अंग (उरोज) के लिये श्याम मेघों से आच्छादित नभ में गुलाबी रंग की बिजली की कल्पना की है। प्रसाद काव्य में ऐसे अनेक बिम्बों की छटा देखी जा सकती है।

कालिदास का वर्ण-बोध **'ऋतुसंहारम्'** में उनके प्रखर वर्ण बोध का परिचय प्राप्त होता है। उन्होंने आंखों के लिये प्रायः नीलकमल उपमान का प्रयोग किया है। वे अधर के लिये अपने प्रिय उपमान किसलय राग का प्रयोग नहीं भूलते हैं। नीली आंखों से निकले श्वेत आंसू की बूंदें वियोगिनी के अरुण अधरों को धो रहे हैं।

विलोचनेन्दीवरवारिबिन्दुभिर्निषिक्तबिम्बाधरचारुपल्लवाः।
निरस्तमाल्याभरणानुलेपनाः स्थिता निराशाः प्रमदाः प्रवासिनाम्।।[३७]

प्रिय अपनी प्रियतमा से वसन्तऋतु की महिमा का गायन करता है। वसन्त सुन्दर तथा सुरीली लगने वाली कोयल की मीठी ध्वनियों से रमणियों की मीठी बातों का उपहास कर रहा है, कुन्द पुष्पों की धवलिमा से नायिका के श्वेत दसनों का उपहास कर रहा है, तथा उसके कर-किसलय का उपहास मूंगे के समान लाल-लाल पल्लवों द्वारा कर रहा है-

परभृतकलगीतैर्ह्लादिभिः सद्वचासि
स्मितदशनमयूखकुन्दपुष्पप्रभाभिः।
करकिसलयकान्ति पल्लवैर्विद्रुमाभैः
उपहसति वसन्तः कामिनीनामिदानीम्।।[३८]

रूप नेत्र का विषय है इसलिए नेत्र-भावित रूप को बिम्बों में बांधकर मूर्त अभिव्यक्ति देते समय चाक्षुष बिम्बों की बहुलता हो जाना सहज है। कालिदास एवं प्रसाद-दोनों का काव्य आद्यन्त सौन्दर्य-स्नात है। प्रसाद के चाक्षुष बिम्बों पर कालिदास के बिम्बों का गहरा प्रभाव है। कालिदास ने नारी के जिस रूप को काव्य का विषय बनाया है, वह आनाघ्रात पुष्प, अलून, किसलय, अनाविद्ध रत्न एवं अनास्वादित मधु सदृश नवीन एवं चित्ताकर्षक है। उनका स्पष्ट मत है कि रूप चेतना का परिष्कार करता है, उन्नयन करता है। पापवृत्ति की ओर उन्मुख होने वाला या करने वाला रूप वस्तुतः रूप है ही नहीं-

यदुच्यते पार्वतिः पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः।[३९]

महाकवि प्रसाद ने भी ऐसे ही निष्कलुष रूप एवं सौन्दर्य को चाक्षुष् प्रतीति का विषय बनाया है-

---

३६. वही४६

३७. ऋतुसंहारम्, द्वितीय सर्ग, बारहवां श्लोक

३८. वही ६/३१

३९. कुमारसंभवम् ५/३६

उज्ज्वल वरदान चेतना का सौन्दर्य जिसे सब कहते हैं।
जिसमें अनन्त अभिलाषा के सपने सब जगते रहते हैं।[४०]

इस प्रकार कालिदास एवं प्रसाद के चाक्षुष बिम्बों में वयः सौन्दर्य प्रकृति सौन्दर्य, मानवीय देह-यष्टि, वर्ण-बोध आदि में अद्भुत साम्य मिलता है। वस्तुतः इन दोनों महान् कवियों ने इन बिम्बों के माध्यम से अपने अपने काव्यों में अतीव लालित्य का सृजन किया है।

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २००९ अङ्क १२ (पृ०१९४-२०४)

महाकवि कालिदास के ग्रन्थों में दीप-वर्णन

डॉ० (श्रीमती) गीता शुक्ला[1]

महाकविकालिदासं वन्दे वाग्देवतागुरुम्।
यज्ज्ञाने विश्वमायाति दर्पणे प्रतिबिम्बितम्।। [2]

किसी ग्रन्थ की उपादेयता विशेषत: उस ग्रन्थ की लोकप्रियता पर निर्भर होती है। जो ग्रन्थ विद्वान् तथा अविद्वान् को समान रूप से प्रिय होते है, वे ही अतिप्रशंसनीय होते हैं और उन्हीं की उपादेयता मान्य होती है। महाकवि कालिदास के सभी ग्रन्थों के इस प्रकार मान्य होने से उनकी उपादेयता स्वयं सिद्ध है। प्रत्येक ग्रन्थ कवि की बहुदर्शिता का साक्षी है।

वस्तुत: भारतीय धर्म, दर्शन, शिल्प एवं साधना में जो कुछ उदात्त है, जो कुछ ललित है, जो कुछ मोहन है, जो कुछ दृप्त एवं महनीय है, उसका प्रयत्न पूर्वक सजाया सँवारा रूप कालिदास का काव्य है।

कालिदासगिरां सारं कालिदाससरस्वती।
चतुर्मुखोऽथवा ब्रह्मा विदुर्नान्ये तु मादृशा:।। [3]

अर्थात् कालिदास की वाणी को आज तक तीन व्यक्तियों ने समझा है, एक तो विधाता ब्रह्मा ने, दूसरे वाग्देवी सरस्वती ने, तीसरे स्वयं कालिदास ने। मेरे सदृश अल्पज्ञ उनको ठीक से समझने में सर्वथा असमर्थ हैं।

जब आचार्य मल्लिनाथ की कोटि के विद्वान् कालिदास की योग्यता के विषय में ऐसा कहते हैं तो सुधी जन स्वयं अनुमान कर सकते हैं कि वे कितने योग्य थे। महाकवि कालिदास के ग्रन्थों से प्राप्त उपदेश कान्तासम्मित उपदेशवत् हैं और सद्य: परनिर्वृत्ति तो होती है, कहा जा सकता है कि प्राय: सभी काव्यप्रयोजन सिद्ध हैं।

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवतेरक्षतये।
सद्य: परनिर्वृत्तये कान्तासम्मिततयोपदेश युजे।। [4]

उत्कृष्टता प्रदर्शित करने के लिए दीप में **'प्र'** उपसर्ग लगाकर प्रदीप शब्द का प्रयोग किया जाता है। दीप शब्द दिवादिगण की **'दीप्'** धातु से निष्पन्न है जिसके अर्थ हैं-चमकना, जगमगाना, जलना प्रकाशित होना, दहकना और प्रज्वलित होना आदि। दीप शब्द की व्युत्पत्ति है- दीप्यते अनेन इति दीप:।[5] दीप्+णिच्। दीपक, जवाइन, मोरशिखा और दीया इसी अर्थ मे प्रयुक्त होते हैं।[6]

---

१. डॉ० श्रीमती गीता शुक्ला रीडर, संस्कृत विभाग भ०दी०आ० क० स्नातकोत्तर महाविद्यालय लखीमपुर-खीरी। आवास- डॉ० श्रीमती गीता शुक्ला W/0 श्री पंकज शुक्ला १४१/ए काशीनगर लखीमपुर खीरी उ०प्र० पिन २६२७०१
२. हलायुध
३. मल्लिनाथ
४. काव्यप्रकाश
५. संस्कृत-हिन्दी शब्दकोश
६. अमर कोश

भारतीय संस्कृति में दीप-दान का अत्यन्त महत्त्व है। दीप-प्रज्वलन के विना कोई पूजा अर्चना, स्थापना तथा शुभकार्य का आरम्भ सम्पन्न नहीं होता। प्रतिवर्ष आने वाले पर्व दीपावली पर आह्वान होता है कि हम दीप-शिखा के समान तिल-तिल जलकर भी युग में आलोक बिखेरें। कलुषित कालिमा को दूर कर वास्तविक छवियों को परखें, प्रतिबिम्बित होती हुई समष्टिगत कल्याण की भावना के रूप में युक्त वास्तविक स्वरूप को जानें। पावन पर्वों की धरोहर संजोएँ, इस प्रकार समाज बहुमुखी विकास की ओर उन्मुख होता है। दीप-अवली की दिव्यतम अनुभूति से जब मानव का अन्तस् आलोकित होकर जगमगा उठता है। तब स्व और पर की खाई स्वयं पट जाती है और मानव एक समन्वयात्मक संबल से युग को सँवारने के लिए यत्नशील होकर महामानव की गरिमा से मण्डित हो जाता है।

मिट्टी से बने हुये एक नन्हें से दीप में समाये उत्सर्ग को विरले ही समझ पाते हैं। विश्वकवि कालिदास ने दीप के महत्त्व को समझा, जाँचा-परखा और उसी के प्रकाश में अपनी कल्पना को प्रकाशित करके विश्व के सर्वोच्च पद पर आसीन हो गये। उनके समस्त ग्रन्थ दीप-वर्णन से जगमगा उठे। न केवल ग्रन्थ बल्कि स्वयं कालिदास को दीपवत् कहा गया है-

म्लायन्ति सकला: कालिदासेनासन्नवर्त्तिना।
गिर: कवीनां दीपेन मालतीकलिका इव॥[७]

अथात् समीपवर्ती दीपक से मालती कलिकाओं की भाँति, समीपवर्ती कालिदास द्वारा कवियों की कलायुक्त वाणियाँ भी म्लान हो जाती हैं।

यद्यपि महाकवि कालिदास की ४१[८] अन्य रचनायें भी मानी गयी हैं। परन्तु सर्वमान्य सात रचनाओं में दीप-वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है।

महाकाव्यों में दीप-वर्णन-

निम्नलिखित प्राचीन आनुभविकोक्ति से स्पष्ट होता है कि महाकवि को एक जातीय सर्वज्ञ होना चाहिये।

न सा विद्या न सा रीतिर्न तच्छास्त्रं न सा कला।
जायते यत्र काव्याङ्गमहो भारो महान्कवे:॥

महाकवि कालिदास की प्रतिभा का उदात्त स्वरूप इन महाकाव्यों में अवलोकनीय है।

रघुवंश महाकाव्य में दीप-वर्णन-

रघुवंश में सूर्यवंशी ३१ राजाओं का वर्णन १९ सर्गों में किया गया है। रघुवंश संस्कृत महाकाव्यों में शिरोमणि ग्रन्थ है, जिसमें महाकाव्यों के निष्कर्ष पर दृष्टि रखते हुये कवि ने इस ग्रन्थ को हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है।[९] रघुवंश महाकाव्य में कालिदास ने अपनी विस्मय जनक प्रतिभा द्वारा वर्ण्यबिम्ब को उद्भासित करने वाली अपनी अपूर्व क्षमता से विषयों की विविधता को एक मनोवांछित अन्विति में अनुस्यूत कर दिया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि महाकवि कालिदास को दीप-वर्णन में असीम आनन्द आता है, दीप के त्याग

---

७. धनपाल ति० म० पृ० २५
८. विक्रमोर्वशीय भूमिका पृ० ६
९. महाकवि कालिदास - डॉ० रमाशंकर तिवारी पृ० ११२

और उत्सर्ग पर न्यौछावर होने के कारण कवि की दीप से अत्यन्त आत्मीयता है, इसलिये रघुवंश महाकाव्य के १६ श्लोकों में दीप-वर्णन किया गया है। छठे सर्ग के सरसठवें श्लोक **'संचारिणी दीपशिखेव... ....स स भूमिपालः'**[१०] में प्रयुक्त दीप-वर्णन के कारण ही महाकवि कालिदास को **'दीपशिखा'** उपाधि प्राप्त हुई है। यह वर्णन विविध रूपों में प्राप्त होता है।

१. तामन्तिकन्यस्तबलिप्रदीपा...प्रातरनूदतिष्ठत्॥[११]

अर्थात् राजा दिलीप पत्नी सुदक्षिणा सहित पास में रखे हुये पूजोपहार और दीपक वाली नन्दिनी के निकट बैठे। विना दीपक के कोई अनुष्ठान पूर्ण नहीं होता तो भला राजा दिलीप नन्दिनी (एक तो गाय, दूसरे कामधेनु की पुत्री) की पूजा विना दीपक के कैसे करते?

२. अरिष्टशयां..समर्पिता इव।[१२]

अर्थात् रघु के जन्म के समय रघु के स्वाभाविक तेज से प्रसूति गृह के दीपक चित्रलिखित से हो गये अर्थात् निस्तेज हो गये। सूर्यवंशी होने के कारण रघु का स्वाभाविक तेज से युक्त होना कोई आश्चर्य नहीं तभी तो आधी रात के दीप भी एकाएक हतकान्ति हो जाते हैं। यह वर्णन स्पष्ट करता है कि चित्र में चित्रित दीप न प्रकाशमान हो सकता है और न प्रकाशित कर सकता है।

३. सरलासक्त...स्नेह दीपिकाः।[१३]

अर्थात् हिमालय की जड़ी-बूटियाँ रात्रि में रघु के सैनिकों के लिये दीपक का कार्य कर रही थीं। पर्वतीय वनस्पतियों का दीप के रूप में प्रयोग किया जाना वस्तुतः महाकवि कालिदास की सूझ-बूझ का परिचायक है, क्योंकि रघु जैसे स्वाभाविक तेज से युक्त व्यक्ति का दीपक भी तो स्वाभाविक तेज से युक्त होना चाहिये। इस दीप-वर्णन के मूल में दीपक को तो महत्त्व दिया जाना तो है ही साथ ही वृक्षों व वनस्पतियों के महत्त्व को भी दर्शाया गया है।

४.रूपं तदोजस्वि..दीप इव प्रदीपात॥[१४]

अज के जन्म का वर्णन है। अज रूप सौन्दर्य व गुणों में अपने पिता रघु के समान हैं, जैसे एक दीप से जलाया गया दूसरा दीपक हो। इस दीप वर्णन में प्रकारान्तर से दीपक का प्रकाशकत्व या प्रकाशक रूप ही वर्णित है। तेज से ही तेज की उत्पत्ति सम्भव है। अन्यत्र भी कहा गया है-

नप्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात्।[१५]

प्रायः देखने में आता है कि पुत्र पिता से अधिक गुणों वाला होता है, तभी पहले दीप उससे जलाया गया अर्थात् उत्पन्न प्रदीप है।

---

१०. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिट्रेचर - डॉ० एस०के०डे०
११. रघुवंश - सर्ग २ श्लोक २४
१२. तत्रैव - सर्ग ३ श्लोक १५
१३. तत्रैव - सर्ग ४ श्लोक ७६
१४. तत्रैव - सर्ग ५ श्लोक ३७
१५. अभिज्ञान शाकुन्तम् - सर्ग १ श्लोक २७

५. सञ्चारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा।

नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपाल:।[१६]

अर्थात् पति को स्वयं वरण करनें वाली वह इन्दुमती रात्रि में गमन करती दीपक की लौ के समान जिस-जिस राजा को छोड़कर आगे बढ़ गई उस राजा ने मार्ग की अट्टालिका के समान अन्धकार अर्थात् उदासीन भाव को प्राप्त किया। इसी दीप--वर्णन के कारण महाकवि कालिदास ने दीपशिखा की उपाधि प्राप्त की है। इस दीप-वर्णन से स्पष्ट है कि अन्धेरा किसे अच्छा लगता है, इसीलिए तो दीपशिखा सी इन्दुमती जिस राजा को छोड़कर आगे बढ़ जाती थी, वह कान्तिहीन हो जाता था।

कवि की सभी नायिकायें साधना पथ से ही सर्वोच्च शिखर पर पहुँची हैं, इन्दुमती का दीपशिखा सी दिव्यता से युक्त होना अतिशयोक्ति नहीं हैं, यथा नाम तथा गुणा की सार्थकता सिद्ध हो रही है कि आठवें सर्ग के ३८वें श्लोक में कवि द्वारा इसी भाव को पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया गया है कि इन्दुमती का असीम स्नेह राजा अज से बिछुड़ने पर किस प्रकार असहनीय हो जाता है।

६. जात: कुले ....विनिवृत्तये य:।[१७]

काकुस्थ वंश में उत्पन्न होने के कारण दिलीप को कुल दीपक कहा गया है अर्थात् जैसे दीपक प्रकाश करता है, इक्ष्वाकुवंश में उत्पन्न दिलीप उतने ही प्रभावशाली है। इतने तेजस्वी दिलीप के तेज से इन्द्र का ईर्ष्यायुक्त हो जाना स्वाभाविक ही हैं।

७. वपुषा करणोज्झितेन..दीपार्चिरुपैति मेदिनीम्॥[१८]

इस दीप वर्णन में जो भाव है उसे कालिदास के अतिरिक्त और कौन वर्णित कर सकता है, इसमें अज का वर्णन है, जब अज पत्नी इन्दुमती पर पुष्प माला गिरती है और वह मृत होकर गिर जाती है, तब राजा अज भी मूर्छित होकर गिर जाते हैं, क्योंकि गिरते हुये तेल की बूँदों के साथ ही लौ गिर जाती है। दीपशिखा के समान इन्दुमती के अभाव में प्रकाशित कैसे रह सकता है?

८. स ललितकुसुप्रवालशय्यां..त्रियाम्॥[१९]

इस दीप-वर्णन में पुन: महौषधियों का दीपक के रूप में प्रयोग किया गया है। राजा दशरथ के शिकार के लिये जाने पर जंगल की जलती हुयी महौषधियां दीपिकायें हो गयीं, एक स्थान पर युद्ध के लिये जाने पर रघु के प्रसंग और यहाँ आखेट के लिए जाने पर राजा दशरथ के प्रसंग मे यह दीपवर्णन कवि की कुशलता का परिचायक है।

९. रघुवंशप्रदीपेन..इवाभवन्॥[२०]

अर्थात् रघुवंश के दीपक के समान प्रकाशमान् अपरिमित तेजस्वी उस राम से प्रसूति गृह में रखे दीपक

---

१६. रघुवंश - सर्ग ६ श्लोक ६७
१७. तत्रैव - सर्ग ६ श्लोक ७४
१८. तत्रैव - सर्ग ८ श्लोक ३८
१९. तत्रैव - सर्ग ९ श्लोक ७०
२०. तत्रैव - सर्ग १० श्लोक ६८

मानों फीके पड़ गये, एक स्थान पर रघु को दीपक के समान तेजस्वी बतलाने वाले कवि ने इसमें रघुकुल के दीपक के रूप में वर्णित करके राम की तेजस्विता को प्रदर्शित किया है।

१०. निर्विष्टविषय स्नेहः..प्रदीपार्चिरिवोषसि।[२१]

इस दीप-वर्णन में एक महान् संदेश छिपा हुआ है कि जैसे प्रकाशमान तेजस्वी दीपक ही प्रकाशित करने में समर्थ होता है वैसे ही मनुष्य भी प्रकाशमान होकर परोपकार व त्याग की सामर्थ्य रखता है। इसमें वृद्धावस्था को प्राप्त राजा दशरथ को प्रातःकालीन दीपक के समान बतला कर उनकी निस्तेजता को वर्णित किया गया है, अतः समय रहते अपने कार्यों को पूर्ण कर लेना चाहिये। स्नेहहीन दीपक किसी का हित नहीं कर सकता।

११. ता इंगुदीस्नेहकृतप्रदीपम्..वितेरुः॥[२२]

श्रीराम द्वारा निर्वासित सीता जब महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में प्रसवकाल तक निवास हेतु जाती है तो इंगुदी के तेल से जलते हुए दीपक के प्रकाश वाली पर्णकुटी उन्हें दी जाती है। इस दीप-वर्णन में दीपक के महत्त्व को तो देखिये कि चाहे घर हो चाहे वन, चाहे राजभवन हो चाहे आश्रम, दीपक के विना कार्य व्यापार सम्भव नहीं।

१२. अथार्धरात्रेस्तिमितप्रदीपे..वनितामपश्यत्॥[२३]

अर्थात् कुश ने आधी रात में शयन गृह में टिमटिमाते हुये दीपक के प्रकाश में एक स्त्री को देखा। इस दीप-वर्णन में यह बतलाया गया है कि टिमटिमाता हुआ दीपक किसी स्वरूप को पूर्णरूपेण प्रकाशित नहीं कर सकता है, अतः टिमटिमाओ नहीं प्रकाशमान रहो, तभी दूसरों को प्रकाशित कर सकोगे।

१३. रात्रावनाविष्कृतदीपभासः..गवाक्षाः॥[२४]

श्रीरामचन्द्र जी के महाप्रयाण के पश्चात् अयोध्या की अनाथ अधिष्ठानी एक स्त्री के रूप में कुश के पास आती है और कहती है कि आजकल अटारियों के झरोखों से रात को दीपक की किरणें निकलती दिखाई नहीं देती हैं। कितना स्वाभाविक वर्णन है जब व्यक्ति अवसाद ग्रस्त होता है तब उसे प्रकाश अच्छा नहीं लगता है। वियोग का वर्णन होने के कारण दीपक के न जलने की बात कही गयी है और स्वाभाविकता यह है कि शयन के समय टिमटिमाता हुआ दीपक ही रुचिकर लगता है।

१४. अर्पितस्तमितदीपदृष्टयो..शिशिररात्रयोः ययुः॥[२५]

यह दीप-वर्णन अत्यन्त विचित्र है। ऐसा वर्णन कालिदास सरीखा कवि ही कर सकता है। जो दीपक प्रकाशक हैं, पथ-प्रकाशक है, वे ही राजा अग्निवर्ण की रतिक्रीड़ा के साक्षी हो जाते हैं और हों भी क्यों न? अपराधियों के अपराध के साक्षी न हों तो उन्हें अपेक्षित दण्ड नहीं मिलता। राजा अग्निवर्ण के निरंकुश काम क्रीड़ाओं में लिप्त हो जाने पर दीपक का इससे अच्छा प्रयोग और किस रूप में हो सकता था।

---

२१. तत्रैव - सर्ग ११ श्लोक ६८
२२. तत्रैव - सर्ग १२ श्लोक १
२३. तत्रैव - सर्ग १४ श्लोक ८१
२४. तत्रैव - सर्ग १६ श्लोक ४
२५. तत्रैव - सर्ग १६ श्लोक २०

१५. व्योम...दीपभाजनम्॥[२६]

राजा अग्निवर्ण के क्षय रोग हो जाने पर उसके शरीर की क्षीणता की उपमा बची हुयी दीपक की लौ से दी गई है। निरंकुश रतिक्रीड़ा से होने वाले दुष्प्रभाव का वर्णन है।

१६. स...न प्रदीप इव वायुतम्यगात्॥[२७]

इस दीप-वर्णन से राजा अग्निवर्ण की मृत्यु को उपामित किया गया है। जैसे हवा के सामने दीपक का वश नहीं चलता वैसे ही क्षय रोग से राजा को बचाया नहीं जा सका। अतः दुर्व्यसन रूपी हवा के झोकों से अपने ज्ञानदीप को बचाये रखना ही बुद्धिमानी है।

इस प्रकार रघुवंश महाकाव्य ही नहीं अन्यत्र भी वर्णन है कि रघु की उदारता, दानशीलता और गरिमा के कारण यह वंश रघुवंश कहलाया।[२८] आज भी समाज में वही त्याग व जन-सेवा अपेक्षित है, जो उनकी वंश परम्परा से चली आई है। तभी तो बापू रामराज्य को साकार करना चाहते थे। जिनके कारण दशहरे व दिपावली की शृंखला चली आ रही है।

कुमारसम्भव महाकाव्य में दीप-वर्णनः-

यह महाकाव्य महाकवि कालिदास की परिपक्व लेखनी का अन्यतम उदाहरण है।

प्राक्तन संस्कृत साहित्य में कुमारसम्भव का वही स्थान है, जो आंग्ल साहित्य में मिल्टन कृत पैराडाइज लॉस्ट का है। यह महाकाव्य पद्धति की अपने युग की श्रेष्ठतम रचना है। कुमार सम्भव महाकाव्य के सात श्लाकों में दीप-वर्णन प्राप्त होता है। प्रथम सर्ग में

१. वनेचराणां वनितासखानां.......................................सुरतप्रदीपाः॥[२९]

अर्थात् जिस हिमालय पर्वत में रात में चमकने वाले ज्वालामुखी नामक वृक्ष विशेष गुहारूपी गृहों में प्रकाशमान होते हुये वहाँ के वनेचर मिथुनों के विना तेल के जलने वाले सुरतोपयुक्त दीपक का कार्य करते हैं। इस दीप-वर्णन में वृक्षों का दीपक के रूप में प्रयोग वृक्षों के महत्त्व को प्रदर्शित करता है। वास्तव में दीप नहीं बल्कि प्रदीप हैं, तभी तो विना तेल के जलकर प्रकाश फैलाते हैं। प्रकृति शरणागत पालक है, यह भाव भी ध्वनित होता है।

२. प्रभामहत्या शिखयेव दीपः.....................................विभूषितश्च॥[३०]

अर्थात् जैसे ज्योति से दीपक, मंदाकिनी से गगन, संस्कृतवाणी से विद्वान् वैसे ही पार्वती से हिमालय पवित्र तथा सुशोभित हुआ। इस प्रकार दीपक की शोभा, महत्ता व पवित्रता ज्योति से ही है। क्योंकि विना लौ के प्रकाश सम्भव नहीं। वस्तुतः महाकाव्य की नायिका पार्वती की गरिमा दीप-वर्णन के माध्यम से ही परखी जा सकती है। इस वर्णन से कवि ने प्रकृति के आंचल को भी दीप-ज्योति से जगमगा दिया है। दीपक की ज्योति को पार्वती का उपमान बनाकर प्रस्तुत करने की कल्पना कितनी सुन्दर है। गौरवर्णी पार्वती के रूप सौन्दर्य व गुणों की

---

२६. तत्रैव - सर्ग १९ श्लोक ४२
२७. तत्रैव - सर्ग १९ श्लोक ५१
२८. कालिदास- महर्षि अरविन्द घोष
२९. कुमारसम्भव सर्ग १ श्लोक १०

उपमा उज्ज्वल, धवल, श्वेता बाती की शिखा से ही की जा सकती है।

३. ज्वलन्मणिशिखाश्चैनं..पर्युपासते॥[३१]

अर्थात् रात्रि में वासुकि आदि सर्प अपने फणों को ऊँचा कर प्रत्येक स्थान में हवा से नहीं बुझने वाले दीपक बनकर फणमणियों से अन्धकार को दूर करके तारकासुर की सेवा करते हैं। सत्य ही है, तारकासुर के सम्मुख और कौन सा दीपक जल सकता है। सर्पों की मणियाँ ही उसके लिये दीपक का कार्य करती हैं और वह भी न बुझने वाले। यह दीप-वर्णन समाज की सच्चाई को उद्घाटित कर रहा है, असुरों के दीप-कार्य को विषैले सर्प ही पूर्ण कर सकते हैं। आज भी आसुरी प्रवृत्तियों को दुष्टों का आश्रय व मार्गदर्शन प्राप्त है।

४. अवृष्टिसंरम्भ..प्रदीपम्॥[३२]

अर्थात् निवात स्थान में स्थित दीपक के समान शरीर को निश्चल बनाये हुये शंकर को देखा। दार्शनिकता का स्पर्श करते हुये समाधिस्थ शिव की निश्चलता व स्थिरता को बतलाने के लिये निर्वात स्थान के दीपक को उपमान बनाया गया है। वेदान्त, श्रीमद्भगवद् गीता[३३] आदि दार्शनिक ग्रन्थों में वायुरहित स्थान में दीप की शिखा प्रकम्पित नहीं होती निश्चल हो जाती है।

५. गत एव न ते..धूमिताम्॥[३४]

शंकर जी के द्वारा कामदेव को भस्मसात् कर दिये जाने पर रति दुःखी होकर मित्र वसन्त से बोली-मैं हूं निर्वापित दीप की शोक रूपी धूम को उगलने वाली वर्तिका। इस दीप-वर्णन में कामदेव की पत्नी रति अपने को उस निर्वापित दीप-वर्तिका के समान बतलाती है, जो प्रकाशित नहीं होती, बल्कि धूम्र ही उत्पन्न करती रहती है। रति शोक भी उस धूम्र के समान है, वैसे भी साहित्य में सुख व हास का रंग श्वेत तथा दुःख का श्याम माना गया है।

६. भालेक्षणाग्नौ..उज्ञघर्ष॥[३५]

अर्थात् शंकर जी ने अपने ललाट में जलने वाले नेत्र रूपी दीपक से स्वयं काजल पारकर पार्वती जी के नवीन कमल जैसे नेत्रों में लगा दिया और अंगुली रगड़ दिया। कितना सुन्दर वर्णन, अद्वितीय प्रयोग कि शंकर जी का नेत्र काजल पारने वाले दीपक का कार्य करता है। सीधा नेत्र दीप-शिखा जैसा ही प्रतीत होता है।

७. ज्ञानप्रदीपेन..तव गोचरं तत्॥[३६]

अर्थात् हे प्रभो! आप अज्ञान रूपी अन्धकार को मिटाने वाले, कभी भी न बुझने वाले तथा सर्वदा होने वाले अपने ज्ञानरूपी प्रदीप से इस संसार के भूत, वर्तमान और भविष्य की सब बातें जान लेते हैं, इसीलिये आप सर्वज्ञ के नाम से पुकारे जाते हैं। तारकासुर से रक्षा का आश्वासन देने पर इन्द्र का कथन है कि इस वर्णन में

---

३१. तत्रैव - सर्ग २ श्लोक ३८
३२. तत्रैव - सर्ग ३ श्लोक ४८
३३. यथा दीपो निवातस्थो नेंगते सोपमा स्मृता।
३४. कुमारसम्भव-सर्ग ४ श्लोक ३०
३५. तत्रैव - सर्ग ९ श्लोक २६
३६. तत्रैव - सर्ग १२ श्लोक ४९

ज्ञानदीप को त्रिकालदर्शी बताया गया है। दीपक तो केवल वर्तमान को प्रकाशित करता है, परन्तु ज्ञानरूपी दीपक से युक्त व्यक्ति भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों को जान सकने वाले हो सकते हैं।

इस प्रकार महाकाव्यों में दीप-वर्णन की विविधता का अवलोकन करने के पश्चात् खण्डकाव्यों या गीतिकाव्यों को प्रस्तुत किया जा रहा है। महाकवि कालिदास ने अपने खण्डकाव्यों में दीप-वर्णन लगभग न के बराबर किया है।

ऋतुसंहार महाकवि कालिदास की सर्वप्रथम कृति है। संस्कृत साहित्य में एकमात्र ऐसी कृति जिसमें छः ऋतुओं का वर्णन एक साथ प्राप्त होता। १४४ श्लोक छः सर्गों में उपनिबद्ध हैं। मेरे शोध के अनुसार एक भी श्लोक में दीप-वर्णन नहीं है। दीपक का विविध रूपों में वर्णन करने वाले कवि के लिये बड़ी विचित्र बात है कि इसमें इस वर्णन का अभाव है।

मेघदूत प्रौढ़ एवं प्रांजल रचना है। ११५ पद्यों में विरह व्यक्ति यक्ष का मार्मिक चित्रांकन किया गया है। पूर्वमेघ में ६३ तथा उत्तरमेघ में ५२ श्लोक हैं। आचार्य मल्लिनाथ ने अपनी टीका में १२१ श्लोक स्वीकार किये हैं। मेघदूत में केवल एक स्थान पर दीप-वर्णन प्राप्त होता है।

नीवीबन्धोच्छ्वसित शिथिलं..........................विफल प्रेरणा चूर्णमुष्टिः॥[३७]

अर्थात् वहाँ दीप-वर्णन (अलकापुरी) के प्रेमी रति के समय अपनी प्रेमिकाओं के वस्त्र हटाने लगते हैं, तो वे लाज से संकुचाकर मुट्ठी में गुलाल भरकर जगमगाते हुये रत्नदीपों पर फेंकने लगती हैं, परन्तु वह प्रयास व्यर्थ ही जाता है, क्योंकि रत्नदीप भला कहाँ बुझने वाला है।

नाट्यग्रन्थों में दीपवर्णन

कालिदास की दीर्घ सांसारिक अनुभूति तथा लोक व्यवहार की गूढ़ प्रवीणता का परिचय हमें उनके नाटकों से मिलता है।[३८]

मालविकाग्निमित्रम् कालिदास की प्रथम कृति होने पर भी नाट्यकला की दृष्टि से एक उत्कृष्ट रचना है। नाटक के सारे पात्र सारी घटनायें एवं अवस्थायें एक उद्देश्य अग्निमित्र की प्रणयसिद्धि की पूर्ति में सहायक हैं। कथानक की विभिन्न घटनायें बड़े कौशल से कल्पित हैं। कथानक के रचना-संकोच में कालिदास ने बड़ी कुशलता दिखाई है।[३९] मालविकाग्निमित्र में एक स्थान पर दीपवर्णन हुआ है, जिसमें बताया गया है कि आँखें होते हुये भी अन्धकार में देखा नहीं नहीं जा सकता अर्थात् साधन सम्पन्न जन ही विघ्न मुक्त कार्य का सम्पादन कर सकते हैं।

अथ सप्रतिबन्धं प्रभुरधिगन्तुं सहायवानेव।
दृश्यं तमसि न पश्यति दीपेन विना सचक्षुरपि॥[४०]

अर्थात् आँख वाला मनुष्य भी अन्धेरे में विना दीपक के कुछ नहीं देख पा सकता।

---

३७. मेघदूत उत्तरमेघ ७वाँ श्लोक
३८. संस्कृत साहित्य का इतिहास- आचार्य बलदेव उपाध्याय पृ० ४९८
३९. कालिदास एक अध्ययन- प्रो० जी० सी० झाला पृ० १०४

विक्रमोर्वशीय में दीप-वर्णन

द्वितीय नाट्यकृति के रूप में विक्रमोर्वशीय विश्वविश्रुत है। यह त्रोटक है जो कि उपरूपकों की श्रेणी में आता है। विक्रमोर्वशीय में कुल चार स्थानों पर दीप-वर्णन हुआ है। द्वितीय अंक में २१वें श्लोक के पश्चात् विदूषक के संवाद में देखिये-

१. विदूषक- न खल्वक्षिदु:खितोऽभिमुखे दीपशिखां सहते।

अर्थात् जिसकी आँखें आ गयीं हों, उसे सामने रखे हुये दीपक की लौ थोड़े ही भाती है। महाकवि कालिदास केवल मनोवैज्ञानिक ही नहीं शरीर विज्ञान के भी बड़े कुशल ज्ञाता थे। कितना स्वाभाविक वर्णन है अस्वस्थ होने पर ही दीपशिखा अच्छी नहीं लगती है और यदि आंखें ही दु:खती हों, तब तो कहना ही क्या? वही दीप जिसके प्रकाश के विना कार्य व्यापार सम्भव नहीं होता।

२. उत्कीर्णा इव..................................।
संध्यामंगल दीपिका विभजते शुद्धान्तवृद्धो जन:॥[४१]

अर्थात् रनिवास के बूढ़े नौकर नहा धोकर फूलों से सजे हुये भवनों में संध्या के पूजन के लिये जलते हुये दीपक ला-लाकर यथास्थान सजाये दे रहे हैं। प्रस्तुत वर्णन राजद्वार का है। संन्ध्या के समय दीपक जलाया जाना रात्रि के अन्धकार से बचने के लिये तो आवश्यक है ही, साथ ही द्वार पर जलता हुआ दीपक शुभ माना जाता है और देखने में भी सुन्दर लगता है। भारतीय संस्कृति में संध्या के समय दीप-प्रज्वलन तथा द्वार को प्रकाशित करना अनिवार्य तथा शुभ माना जाता है। विवाह आदि मांगलिक अवसरों पर भी दीप से द्वार को सजाया जाता था। आज इसका रूप विद्युत् झालरों ने ली लिया है।

३. परिजन वनिताकरर्पिताभि: परिवृत एष विभाति दीपिकाभि:।
गिरिव..यष्टि:॥[४२]

कंचुकी के द्वारा कहा जा रहा है कि महाराज विक्रम पुरुरवा के चारों ओर हाथों में दीपमाला लिये हुये जो बहुत सी दासियाँ चली आ रही हैं, उनसे महाराज उस पर्वत के समान चमक रहें हैं, जिसके दोनों ढालों पर कनेर के फूले हुये पेड़ खड़े हों। दीपक की लौ कनेर की तरह बतलाई गयी है, दोनों ओर दासियों के हाथों में दीपक हैं, मध्य में पुष्ट शरीर राजा है, जो कि उन्नत विशालकाय पर्वत के समान प्रकाशमान है, अन्यत्र भी जड़ी बूटियों रूपी दीपकों से प्रकाशित पर्वतों का वर्णन किया गया है।

विक्रमोर्वशीय के ही तृतीय अंक में सातवें तथा आठवें श्लोक के मध्य में राजा का एक संवाद है।

४. राजा- अभिव्यक्तायां चन्द्रिकायां किं दीपिका पौनुरुक्त्येन। तद्विश्राम्यन्तु भवत्य:।

अर्थात् जब चारों ओर इतनी चाँदनी छिटकी हुई है। तब ये दीपक क्यों जला रखे हैं? कितना स्वाभाविक वर्णन है फैली हुयी चाँदनी में दीपक के प्रकाश की क्या आवश्यकता? दीपक तो अन्धकार को दूर करने के लिये होता है। इसके अतिरिक्त किसी भी चीज का सदुपयोग ही करना चाहिये दुरुपयोग नहीं, इसे भी बतलाने का प्रयास किया गया है। एक राजा की दृष्टि से कितनी महत्त्वपूर्ण बात है। आज के राजाओं नेताओं के लिये संदेश है।

---

४१. विक्रमोर्वशीय - सर्ग श्लोक २

अभिज्ञान- शाकुन्तलम् में दीप-वर्णन

अभिज्ञानशाकुन्तलम् कालिदास की नाट्य कृतियों में अन्तिम होने के कारण उनकी परिपक्व मेधा का जीवन्त स्फुरण है। अभिज्ञान शाकुन्तलम् नाट्य कालिदास के ग्रन्थों में ही शीर्ष स्थानीय नहीं है, अपितु वह संस्कृत-नाट्य-मणिमाला का शोभायमान सुमेरु है।[४३]

१. अभिज्ञानशाकुन्तलम् के प्रथम अंक में ही वैखानस का संवाद है-**सदृशमेतत्पुरूवंश प्रदीपस्य भवतः** अर्थात् आप जैसे पुरुवंश के दीपक को ही यही शोभा देता है, आपके लिये यही उचित है।

यह वर्णन उस समय का है, जब राजा मृग को निशाना बनाकर धनुष पर बाण चढ़ा लेता है, परन्तु इसे मत मारो यह आश्रम का मृग है, सुनकर धनुष से बाण उतार लेता है, तब वैखानस कहता है- जैसे सम्यक् प्रज्वलित दीप ही प्रकाशित करता है, वैसे ही उत्तम राजा अपने सम्पूर्ण वंश का प्रकाशक होता है। इस दीप-वर्णन के माध्यम से यह बतलाया गया है।

२. क्षणात् प्रबोधमायाति लंघ्यते तमसा पुनः।
निवारयतः प्रदीपस्य शिखेव जरतो मति'॥[४४]

अर्थात् मुझ वृद्ध पुरुष की बुद्धि बुझते हुये दीपक की ज्वाला के सदृश क्षणभर में जागृत हो जाती है और फिर क्षणभर में अन्धकार (अज्ञान) से आवृत्त हो जाती है।

कंचुकी का कथन है इस दीप-वर्णन में वृद्ध पुरुष की बुद्धि को बुझते हुये दीपक की शिखा से उपमित किया गया है और यह बतलाया गया है कि व्यक्ति को युवावस्था में ही उचित निर्णय ले लेना चाहिए। समय रहते करणीय कार्य सम्पन्न कर देना चाहिए जब बुद्धि प्रदीप्त रहती है, अन्यथा वृद्धावस्था में करणीय अकरणीय की क्षमता समाप्त होने पर पश्चाताप के अतिरिक्त कुछ नहीं।

३. अभिज्ञान शाकुन्तलम् के षष्ठ अंक में सानुमति का एक संवाद है- **हा धिक् हा धिक्! सति खलु दीपे व्यवधानदोषेणैषोऽन्धकारदोषमनुभवति।** अर्थात् जैसे दीपक के होते हुये भी बीच में ओट पड़ जाने से अँधेरा हो जाता है, वैसे ही इस राजा का मोह भी हो गया है।

दर्शनीय है यह दीप-वर्णन भी, क्योंकि राजा दुष्यन्त दुर्वासा शाप रूपी व्यवधान के कारण मोहग्रस्त हैं और निर्बाध या अव्यवहित प्रकाश ही प्रकाशन में समक्ष होता है। यह व्यवधान कर्तव्यपालन में प्रमाद के कारण उत्पन्न हुआ है। अतः इससे बचने का प्रयास करना चाहिये।

इस प्रकार समस्त कृतियों में दीप-वर्णन का अवलोकन कर हम यह कह सकते हैं कि दीपक हम सबको वही प्रेरणा प्रदान करता है कि उसके आलोक में हम स्वयं को और विश्व को देख सकें समझ सकें और वह आलोक हो आत्मीयता का, स्नेह का, समन्वय का और विश्व बन्धुत्व की भावना का। जिसमें सभी भेदभाव मिट जायें और ऐसा आलोक प्रस्फुटिक हो जो अपने में समाहित कर सत्य, अहिंसा आदि मानव मूल्यों का आभास कर आज के त्रस्त युग को उबारे।

आज स्वार्थपरता की विभीषिका से ग्रस्त मानवता को उसी आलोक की आवश्यकता है, उसी आलोक

---

४३. संस्कृत साहित्य का इतिहास- आचार्य बलदेव उपाध्याय, वाराणसी
४४. अभिज्ञान शाकुन्तलम् - सर्ग ५ श्लोक ३ पाठभेद से कुछ ही संस्करणों में

की अपेक्षा है। इन कृतियों के दीप-वर्णन के माध्यम से कोई भी भूला-भटका अपने गंतव्य तक पहुँच सकता है अतः हम चाहे जिस क्षेत्र में हों यदि अपने कर्तव्य पालन की प्रेरणा दीप-शिखा के दीप-वर्णन से लें तो निःसंदेह यह पृथ्वी स्वर्ग रूप में साकार हो सकती है। अतः सत्य ही कहा गया है। जब तक संस्कृत भाषा है, सुधी-सहृदय कालिदास के ग्रन्थों की तीर्थयात्रा करते रहेंगे, जब तक कालिदास की कविता है, तब तक भारतीय संस्कृति के विशिष्ट अर्थ लोक प्रख्यात रहेंगे।[४५]

१. मेघदूत एक अध्ययन-प्रो० वासुदेव शरण अग्रवाल वाराणसी, पृ० १७

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २००९ अङ्क १२ (पृ०२०५-२१२)

महाकवि भवभूति और उनका पाण्डित्य

डॉ० ललित कुमार गौड़[1]

संस्कृत साहित्य-जगत् में अद्वितीय प्रतिभा के धनी महाकवि भवभूति मूर्धन्य विद्वान् हैं। वे संस्कृत नाट्य-साहित्य के ऐसे देदीप्यमान नक्षत्र हैं, जिनकी दूरगामिनी ज्योति काल की बाधाओं को छिन्न-भिन्न करती हुई दिग्-दिगन्त को अवभासित एवं अनुप्राणित करती आ रही है। वे किसी के उपदिष्ट मार्ग का अनुसरण न करके स्वयं अपना पथ प्रशस्त करने वाले हैं।

संस्कृत-साहित्य-कोश में वर्णन मिलता है कि- ये संस्कृत नाट्य-साहित्य के युग-प्रवर्त्तन करने वाले प्रतिभाशाली कलाकार हैं, जो कई दृष्टियों से महाकवि कालिदास को भी पीछे-छोड़ देते हैं।[2] ऐतिहासिक दृष्टि से अयथार्थ होते हुए भी निम्नलिखित कथन उक्त तथ्य का परिचायक है-

नाटके भवभूतिर्वा वयं वा वयमेव वा।
उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते॥[3]

भवभूति के पूर्वज दक्षिणापथ में स्थित विदर्भ प्रदेश के पद्मपुर में निवास करते थे। वे काश्यप गोत्र तथा कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा के अनुयायी एवं ब्रह्मवादी थे। वे पञ्चाग्नि का सेवन करने एवं सोमयज्ञ के करने वाले थे। **'उदुम्बर'** उनकी उपाधि थी।[4] कुछ परिवर्तित रूप में इसी प्रकार का परिचय **'मालतीमाधव'** नाटक में उपलब्ध होता है, जो निम्नवत् है-

अस्ति दक्षिणापथे पद्मपुरं नाम नगरम्। तत्र ब्राह्मणाः केचित्तैत्तिरीयाः पंक्तिपावनाः काश्यपाः पञ्चाग्नयः सोमपायिनो धृतव्रता उदुम्बरनामानो ब्रह्मवादिनः प्रतिवसन्ति।

ते श्रोत्रियास्तत्त्वविनिश्चयाय भूरिश्रुतं शाश्वतमाद्रियन्ते।
इष्टाय पूर्ताय च कर्मणेऽर्थान् दारानपत्याय तपोऽर्थमायुः॥[5]

भवभूति के पूर्वजों को पंक्तिपावन बताते हुए जगद्धर ने लिखा है कि **'पंक्तिपावनाः' पंक्तौ भोजनादिगोष्ठ्यां पावना अग्रभोजिनः पवित्र वेत्यर्थः। यद्वा यजुषां यस्तु साम्नां यश्चापि पारगः अथर्वशिरसोऽध्येता ब्राह्मणाः पंक्तिपावनः'** अर्थात् वैदिक आचार एवं प्रवचन करने वालों में अग्रगण्य, चान्द्रायण आदि धार्मिक नियमों के पालक, सोमपान करने वाले तथा उदुम्बर नामधारी ब्रह्मवेत्ता थे। स्मृतिकार मनुसम्मत जोषडंग सहित चारों वेदों में अग्रगण्य हों, श्रोत्रिय के वंश में जिनका जन्म हो, उन्हें पंक्ति पावन जानना चाहिए। यथा-

अग्र्याः सर्वेषु वेदेषु सर्वप्रवचनेषु च।
श्रोत्रियान्वयजाश्चैव विज्ञेयाः पंक्तिपावनाः॥[6]

---

१. डॉ० ललित कुमार गौड़,संस्कृत, पालि एवं प्राकृत विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र
२. डॉ० राजवंश सहाय 'हीरा' संस्कृत-साहित्य-कोश, पृष्ठ ३३
३. बलदेव उपाध्याय, संस्कृत सुकवि समीक्षा, पृ० ३३३-३३८
४. पी०वी० काणे, हिस्ट्रीऑफ धर्मशास्त्र, भाग-२, पृष्ठ ६७९
५. भवभूति, मालतीमाधव, १/७

बादरायण ने ब्रह्म के विषय में **'जन्माद्यस्य यतः'** सूत्र के अन्तर्गत बताया है कि जिससे सभी प्राणियों के जन्म, स्थिति एवं प्रलय होते हैं, वही ब्रह्म है।[७] ब्रह्मवादिन् का सामान्यतया यहाँ यह अर्थ लिया जाता है कि जो केवल ब्रह्म को जीव और जगत् की मूल धुरी मानकर चलता है, वहीं नहीं अपितु उसके स्वरूप की विविध व्याख्याओं में निष्णात है, वही उनका कुशल उपदेष्टा है।

भवभूति के नाम के विषय में पर्याप्त मतभेद है। उनके नाटकों में **'श्रीकण्ठपदलाञ्छनभवभूति'** नाम मिलता है। इस मतभेद का मुख्य आधार स्वयं भवभूति द्वारा विहित प्रयोग है। भवभूति के टीकाकारों ने भवभूति एवं श्रीकण्ठ पदों को लेकर अपने विचार व्यक्त किये हैं, उनसे प्रश्न और भी उलझ गया है। उन टीकाकारों के विचार इस प्रकार है-

त्रिपुरारि-**श्रीकण्ठपदं लाञ्छनं यस्य सः। भवभूतिरिति व्यवहारे तस्येदं नामान्तरम्।**

जगद्धर-**श्रीः सरस्वती कण्ठे यस्य स श्रीकण्ठः। तद्वाचकं पदं लाञ्छनं चिह्नं यस्य सः नाम्ना श्रीकण्ठः प्रसिद्धया भवभूतिरित्यर्थः।**

वीरराघव-**श्रीकण्ठपदं लाञ्छनं नाम यस्य सः। 'लाञ्छनं' नामलक्ष्मणोः इति रत्नमाला। पितृकृतनामेदम्।...... 'साम्बा पुनातु भवभूतिपवित्रमूर्तिः' इति श्लोकरचनासन्तुष्टेन राज्ञा भवभूतिरिति ख्यापितः।**

घनश्याम- **श्रींकण्ठ इति पदं नाम 'लाञ्छनं' व्यवहारः यस्य श्रीकण्ठाख्य इत्यर्थः। श्रीकण्ठस्य पदे पादावेव 'लाञ्छनं' विरुदं यस्येति वार्थः। शिवपादाब्जनिरत इति यावत्।...... भवात् शिवात् भूतिः भस्म सम्पत् यस्य ईश्वरेणैव जातु द्विजरूपेण विभूतिर्दत्ता, तदा प्रभृति भवभूतिरिति प्रसिद्धो जातः इति च परावरविदो विदन्ति।**[८]

महामहोपाध्याय पी०वी० काणे के अनुसार भवभूति के पद्य सूक्तिग्रन्थों तथा साहित्यशास्त्र के ग्रन्थों में प्रचुर मात्रा में उद्धृत हैं, परन्तु सर्वत्र वे भवभूति के नाम से ही उद्धृत किये गये हैं, श्रीकण्ठ नाम कहीं नहीं हैं। इन नाटकों के टीकाकार भवभूति से कईसौ वर्ष पीछे हुए और बहुत संभव रूप में उनके साथ कोई निश्चित या प्राचीन परम्परा नहीं रखते तथा कल्पनाओं पर आश्रित रहें हैं।[९] तदनुसार वास्तविक नाम भवभूति ही है, अन्य सब विशेषण अथवा उपाधियाँ ही हैं।

महाकवि भवभूति के काल-निर्धारण में कल्हणकृत राजतरङ्गिणी में आया वर्णन महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है। उसमें उल्लेख है कि भवभूति तथा वाक्पतिराज के आश्रयदाता यशोवर्मा को काश्मीर-नरेश ललितादित्य ने पराजित किया और अपनी विजयपताका वाक्पतिराज के गौडदेश तक फैलायी। कनिंघम के अनुसार ललितादित्य के राज्यारोहण का समय ६९३ ई० है। शंकर पाण्डुरंग पण्डित ललितादित्य के राज्य का समय ६९५-७३२ ई० बताते हैं।[१०] अन्य साक्ष्यों से भी महाकवि का काल निर्धारित होता है। वे कालिदास से

---

६. मनुस्मृति, ३/१८४

७. बादरायण, ब्रह्मसूत्र, १/२

८. डॉ० अयोध्या प्रसाद सिंह, भवभूति और उनकी नाट्य-कला, पृष्ठ ३

९. उत्तररामचरित की प्रस्तावना, पृष्ठ २

१०. शंकर पाण्डुरंग पण्डित, गउडवहो की उनकी प्रस्तावना, पृष्ठ २०६

निश्चितरूपेण परवर्ती हैं, जिनके ग्रन्थों से वे परिचित हैं।[११] वे बाण से भी परवर्ती हैं, क्योंकि बाण उनसे अपरिचित हैं। इसके अतिरिक्त भवभूति का सर्वप्रथम निर्देश करने वाले राजशेखर (८८२-९२०) हैं, जिन्होंने निम्न पद्य में भवभूति का निर्देश किया है-

बभूव वल्कीकभवः पुरा कविस्ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम्।
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया स वर्तते सम्प्रति राजशेखरः॥[१२]

वामन ने अपने ग्रन्थ **'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति'** में भवभूति के पद्य उद्धृत किए हैं। महावीरचरित के **दोर्दण्डाञ्चितचन्द्रशेखरधनुर्दण्डावभंगोद्यत**[१३] को वामन ने गौड़ी रीति के उदाहरण के रूप में लिया है।[१४] इसी प्रकार उन्होंने **'उत्तररामचरित'** के **'इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयोः'**[१५] को रूपक के दृष्टान्त के रूप में उद्धृत किया है।

कल्हण के अनुसार वामन काश्मीरी राजा जयादित्य के मन्त्री थे-

मनोरथः शंखदत्तश्चटकः सन्धिमांस्तथा।
बभूवुः कवयस्तस्य वामनाद्याश्च मन्त्रिणः॥[१६]

जयादित्य का समय ७७९-८१३ ई० है। इस दृष्टि से वामन का समय भी आठवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध तथा नवीं का चतुर्थांश माना जा सकता है। अतः भवभूति इससे पूर्व ही रहे होंगे। इसलिए भवभूति का समय सातवीं सदी का अन्तिम चरण तथा आठवीं सदी का प्रथम चरण निर्धारित किया जा सकता है।

गुरु के गौरव को प्रतिष्ठापित करते हुए स्वयं भवभूति ने अपने गुरु का नाम ज्ञाननिधि अभिहित किया है। उन्हें यथार्थनामा ज्ञान की राशि बताया है। यथा -

श्रेष्ठः परमहंसानां महर्षिणां यथाङ्गिराः।
यथार्थनामा भगवान् यस्य ज्ञाननिधिः गुरुः॥[१७]

वे यह भी कहते हैं कि सज्ज्नों के गुणों से मरी रचना का कौन सा गुण भला प्रख्यापित न होगा, क्योंकि जिसके अर्थात् मेरे यथार्थ नाम वाले भगवान् ज्ञाननिधि गुरु हैं। यथा -

गुणैः सतां न मम को गुणः प्रख्यापितो भवेत्।
यथार्थनामा भगवान् यस्य ज्ञाननिधिर्गुरुः॥[१८]

सम्प्रति महाकवि भवभूति के पाण्डित्य से सम्बद्ध तथ्यों का उद्घाटन करना हमें अभिप्रेत है। परम्परागत रूप से ज्ञात होता है कि भवभूति के पितामह का नाम भट्टगोपाल था। भवभूति के पिता का नाम नीलकण्ठ था।

---

११. महावीरचरित टोडरमल-सम्पादित की भूमिका, पृष्ठ ३९-४३
१२. राजशेखर, बालरामायण, १/१६
१३. भवभूति, महावीरचरित, १/५४
१४. वामन, काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, १/२/१२
१५. भवभूति, उत्तररामचरित, १/३८
१६. राजशेखर, काव्यमीमांसा, परिशिष्ट क, पृष्ठ २९९
१७. भवभूति, महावीरचरित, १/५

नीलकण्ठ बड़े यशस्वी थे। भवभूति की माता का नाम जातूकर्णी था। इनका स्वयं का नाम श्रीकण्ठपदलाञ्छन भवभूति था। भवभूति व्याकरण, न्याय और मीमांसा में निष्णात थे। यथा –

तदामुष्यायणस्य तत्रभवतो वाजपेययाजिनो महाकवेः पञ्चमः सुगृहीतनाम्नो भट्टगोपालस्य पौत्रः पवित्रकीर्तेर्नीलकण्ठस्य आत्मभवः श्रीकण्ठपदलाञ्छनः पदवाक्यप्रमाणज्ञो भवभूतिर्नाम जातूकर्णीपुत्रः कविर्मि- - - - - - भवन्तो विदां कुर्वन्तु।[१९]

विद्या की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती पर भवभूति को पूर्ण अधिकार था और इसका उन्हें अभिमान भी था कि यह वाणी को वश में रखने वाले क्रान्तदर्शी कवि (भवभूति) की रचना है। उसकी कथा राम से सम्बधित है और उसके वाक्यों के प्रयोज्य अथवा सारांशों के ग्रहण में कसौटी की तरह उस नाटक के सामाजिक भी हमें मिले हैं।[२०]

यहाँ तक भी वर्णन मिलता है कि भवभूति का वैदुष्य इस स्तर तक उच्चकोटि का था कि सरस्वती उनकी वशवर्तिनी थीं। जिस दिशा में जैसे चाहा वैसे ही उन्होंने सरस्वती को घुमाया। यथा- **'यं ब्रह्माणमियं देवी वाग्वश्येवानुवर्तते।'**[२१] उन्हें विद्वत्ता का रिक्थ परम्परया उपलब्ध हुआ था। उनके नाटक साहित्यशास्त्र में उनके प्रगाढ पाण्डित्य के परिचायक हैं। कुमारिलभट्ट के श्लोकवार्तिक पर टीका लिखने के कारण इनका प्रौढ़ मीमांसक होना भी स्वतः सिद्ध है। महाकवि के द्वारा अपने नाटकों में पदवाक्यप्रमाणज्ञ विशेषण द्वारा स्वतः स्पष्ट कर दिया गया कि वे व्याकरण, न्याय तथा मीमांसा के पण्डित थे। मालतीमाधव में उनके वेद, उपनिषद्, सांख्य तथा योग के ज्ञाता होने का प्रमाण उपलब्ध हो जाता है। यथा –

यद्वेदाध्ययनं तथोपनिषदां सांख्यस्य च
ज्ञानं तत्कथनेन किं न हि ततः कश्चिद् गुणो नाटके।
यत्प्रौढित्वमुदारता च वचसां यच्चार्थतो गौरवं
तच्चेदस्ति ततस्तदेव गमकं पाण्डित्यवैदग्ध्ययोः॥[२२]

अर्थात् जो वेदों का अध्ययन एवं उपनिषद्, सांख्य और योग का ज्ञान है, उसके कथन अथवा उपदेशादि का क्या प्रयोजन है, क्योंकि उसके द्वारा नाटक में कोई वैशिष्ट्य नहीं आता। वाक्यों में जो औदार्य एवं प्रागल्भ्य है, अर्थ में जो गौरव है, यदि यह सब विद्यमान है तो वही नाटककार के पाण्डित्य एवं नैपुण्य का परिचायक है।

नवनवोन्मेषलिनी प्रतिभासम्पन्न महाकवि भवभूति को अपनी रचना और पाण्डित्य पर पूर्ण विश्वास है। कदाचित् कोई उनकी कृति की अवज्ञा करता है तो उनकी पूर्ण आस्था है कहीं और कभी इसका प्रशंसक भी कोई होगा –

ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
जानन्ति ते किमपि तान्प्रति नैष यत्नः।
उत्पत्स्यते मम तु कोऽपि समानधर्मा

१९. पी०वी० काणे, हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, भाग २, पृष्ठ ६७९
२०. भवभूति, महावीरचरित, १/४
२१. वही, उत्तररामचरित, १/२
२२. वही, मालतीमाधव, १/८

कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी॥[२३]

प्रस्तुत श्लोक की जगद्धर ने निर्णयसागर संस्कार के सप्तम एवं अष्टम पृष्ठ पर टीका लिखी है, जिसका आशय इस प्रकार है कि तीन प्रकार के पुरुष होते हैं- १. मूर्ख २. अद्वैत वेदान्ती जो काव्य-रस में विरस होते हैं और ३. सहृदय रसिक। जो कोई मूर्ख हमारे नाटकों की निन्दा करते हैं वे अल्पज्ञ हैं या मूर्ख हैं। उनके लिए यह मेरी कृति नहीं हैं। दूसरे प्रकार के पुरुष वैषयिक सुख से विमुख हैं, थोड़ा भी परब्रह्म को जानते हैं और मेरी निन्दा करते हैं, उनके हेतु भी मेरा प्रयास नहीं, वे नमस्कार्य हैं, क्योंकि सम्राट् के लिए कौपीन नहीं बुना जाता है। तृतीय प्रकार का जो मेरा समानधर्मी है, वह कहीं उत्पन्न होगा अथवा है क्योंकि काल असीमित है और पृथ्वी भी अति विस्तीर्ण है।

एतदतिरिक्त महाकवि भवभूति के नाटकों में उनके वैदिक साहित्य से सम्बद्ध विस्तृत ज्ञान का होना ज्ञात होता है। उनके नाटक उत्तररामचरित में यह विषय दृष्टिगत होता है। यथा-

आविर्भूतज्योतिषां ब्राह्मणानां
ये व्यवहारास्तेषु मा संशयोऽभूत्।
भद्रा ह्येषां वाचि लक्ष्मीर्निषिक्ता
नैते वाचं विप्लुतार्थां वदन्ति॥[२४]

यहाँ महर्षि वसिष्ठ की पत्नी महारानी कौसल्या से कह रही हैं कि ब्रह्मतेज का साक्षात्कार करने वाले ब्राह्मणों के जो कथन हैं, उनमें आपको सन्देह नहीं होना चाहिए, क्योंकि उनकी वाणी में मंगलमयी समृद्धियाँ नित्य निवास करती हैं। ऐसे ब्राह्मण कभी फलहीन वाणी को नहीं बोलते।

भवभूति के उक्त श्लोक पर ऋग्वेद के अधोलिखित मन्त्र का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है-

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि॥[२५]

अर्थात् जैसे सूप से सत्तू को स्वच्छ कर लेते हैं, वैसे ही बुद्धिमान् श्रेष्ठ पुरुष जिस समय बुद्धि-बल से वाणी को प्रस्तुत करते है, उस समय वे प्रेम भाव से युक्त ज्ञानी लोग मित्रता के भावों को जानते हैं, उनकी वाणी में कल्याणकारक मंगलमयी लक्ष्मी निवास करती है।

प्रस्तुत मन्त्र के अन्तिम चरण तथा उपर्युक्त श्लोक के तृतीय चरण दोनों में ही साम्य स्पष्ट दृष्टिगत होता हैं। अस्तु, हम कह सकते हैं कि कवि के मस्तिष्क में ऋग्वेद के इस मन्त्र का संस्कार था और उसने कवि को समान विषय की अभिव्यक्ति हेतु अभिप्रेरित किया था।

इसके अनुरूप ही उत्तररामचरित का निम्नलिखित श्लोक भी भवभूति के वैदिक ज्ञान की ओर संकेत करता है -

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च यत्र पुण्याश्च सम्पदः।

---

२३. वही, १/६
२४. वही, उत्तररामचरित, ४/१८
२५. ऋग्वेद १०/७१/२

वैराजा नाम ते लोकास्तैजसा: सन्तु ते शिवा:।। [२६]

अर्थात् जहाँ आनन्द, प्रमोद, तथा अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्वाभिध सिद्धियाँ हैं, वे **'वैराज'** नामक ब्रह्म-सम्बन्धी सर्वोच्च लोक तुम्हें इस प्रकार तपस्या के फलस्वरूप प्राप्त हों।

महाकवि का प्रस्तुत श्लोक ऋग्वेद के अधोलिखित मन्त्र को दृष्टिगत कर रचित किया प्रतीत होता है -

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुद: प्रमुद आसते।
कामस्य यत्राप्ता: कामास्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परिस्रव।। [२७]

अर्थात् जहाँ आनन्द और हर्ष, आह्लाद और प्रमोद ये चार प्रकार के आनन्द हैं। जहाँ अभिलाषी की सारी कामनाएँ पूर्ण होती हैं, वहाँ मुझे अमर कर दो। हे इन्दो! तुम इन्द्र के लिए बहो।

उक्त मन्त्र का प्रथम चरण भवभूति के उपर्युक्त श्लोक के प्रथम चरण से साम्य रखता है।

ऐतरेय-ब्राह्मण के अन्तिम अध्याय में पुरोहित प्रशंसा वर्णित की गयी है। भवभूति इससे अछूते नहीं रहे हैं। महावीरचरित में ऋषि विश्वमित्र सूर्यवंशी राजा दशरथ के कुलपुरोहित वसिष्ठ महर्षि की प्रशंसा में कह रहे हैं -

न तस्य राष्ट्रं व्यथते न रिष्यति न जीर्यति।
त्वं विद्वान् ब्राह्मणो यस्य राष्ट्रगोप: पुरोहित:।। [२८]

अर्थात् उसका राष्ट्र न कभी कहीं सें भयभीत होता है, न तो परस्पर कभी लड़ता है और न कभी शिथिलता को प्राप्त होता है, जिसे तुम्हारे जैसा विद्वान् ब्राह्मण राष्ट्ररक्षक पुरोहित प्राप्त है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण के अश्वमेध-त्याग का वर्णन भवभूतिकृत **'उत्तररामचरित'** के चतुर्थ अंक में अश्वमेध-यज्ञ प्रकरण को पूर्णतया प्रभावित करते हैं। इससे कवि का अंगों सहित यजुर्वेद का अध्येता होना सिद्ध हो जाता है।

श्रीमद्भागवतमहापुराण में याज्ञवल्क्य ऋषि का वर्णन मिलता है। उन्होंने सोचा कि मैं ऐसी श्रुतियाँ प्राप्त करुँ, जो मेरे गुरुजी के पास भी न हों। इसके लिए वे सूर्य भगवान् का उपस्थान करने लगे-

याज्ञवल्क्यस्ततो ब्रह्मन्छन्दांस्यधिगवेषयन्।
गुरोरविद्यमानानि सूपतस्थेऽर्कमीश्वरम्।। [२९]

पुराणों की इसी प्रसिद्ध वैदिकज्ञान-परम्परा से भवभूति सुपरिचित हैं। वे महावीरचरित में परशुरामजनक को सूर्यशिष्य याज्ञवल्क्य का शिष्य कह रहे हैं -

त्वां ब्रह्मण्य: किल परिणतश्चापि धर्मेण युक्त-
स्त्वां वेदान्तेष्वचरममृषि: सूर्यशिष्य: शशास।। [३०]

---

२६. भवभूति, उत्तररामचरित, २/१२
२७. ऋग्वेद, ९/११३/११
२८. भवभूति, महावीरचरित, ३/१८
२९. श्रीमद्भागवतमहापुराण, १२/६/६६

उक्त प्रकरणों से पता चलता है कि भवभूति पुराणों एवं वैदिक-परम्परा से सुपरिचित थे।

उपनिष्दों के गूढ़ तत्त्व भी भवभूति के ग्रन्थों में पर्याप्त मात्रा में सन्निविष्ट हैं। यह उनके पाण्डित्य का पृथक् वैशिष्ट्य होता है। यथा -

अथ स्वस्थाय देवाय नित्याय हतपाप्मने।
त्यक्तक्रमविभागाय चैतन्यज्योतिषे नमः॥[31]

अर्थात् स्वाधार में अवस्थित, उत्पत्ति एवं विनाशरहित, जरा-मृत्यु आदि दुःखों तथा पापों से विमुक्त, चैतन्यात्मक ज्योति के प्रकाशकर्त्ता, पूर्वापर एवं उत्पत्ति विनाश आदि क्रमों से विहीन सनातन दीप्तिमान् भगवान् (ब्रह्म) को नमस्कार है।

प्रस्तुत पद्य उपनिषदों के विभिन्न वाक्यों से सामंजस्य रखता है। यथा -

एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं, नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्।
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा, सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्राह्ममेतत्॥[32]

यहाँ आत्मा, परमात्मा एवं प्रकृति विषयक ब्रह्म कहा गया है -

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।[33]

चेतनों अर्थात् आत्माओं का नित्य, चेतन, एक ईश्वर है और कामनाओं को पूर्ण करता है।

तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्।[34]

वह ईश्वर सब ज्योतियों की ज्योति हैं, उसी का देव भजन करते हैं और उपासना करते हैं। इसके अतिरिक्त भवभूति लिखते हैं-ऋषिगण कहते हैं कि जो लोग आत्महत्या करते हैं वे मरने पर प्रगाढ़ अन्धकारयुक्त सूर्यहीन लोक में जाते हैं -**'अन्धतामिश्रा ह्यसूर्या नाम ते लोका प्रेत्य प्रतिविधीयन्ते, य आत्मघातिनः' इत्येवमृषयो मन्यन्ते।**[35]

यही कथन उपनिषद् के अधोलिखित मन्त्र की ओर इंगित करता है-

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥[36]

व्युत्पन्न कवि भवभूति के पाण्डिय का एक पक्ष यह भी है कि वे साहित्यशास्त्र के सिद्धान्तों से भी गहनतया परिचित हैं। उनकी **एको रसः करुण एव निमित्तभेदात्**[37] द्वारा करुण रस के प्राधान्य की स्थापना पुष्ट

---

३१. वही, १/१
३२. श्वेताश्वतरोपनिषद्, १/१२
३३. वही, ६/१३
३४. बृहदारण्यकोपनिषद्, ४/४/१६
३५. भवभूति, उत्तररामचरित, ४/३ के पश्चात्
३६. ईशावास्योपनिषद्, ३
३७. भवभूति, उत्तररामचरित, ३/४७

हुई है तथा रसों के अनेक प्रकारों एवं प्रयोगों में वे दक्ष हैं। यथा-**भूम्नां रसानां गहना प्रयोगा:।**[३८]

यह भी ध्यातव्य है कि क्षेमेन्द्र की 'औचित्य विचार चर्चा', 'राजशेखरकृत', काव्यमीमांसा', 'बालरामायण', 'धनंजयप्रणीत', 'दशरूपक' धनपालरचित 'तिलकमंजरी', वामनकृत 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति', कल्हणकृत 'राजतरंगिणी' और महिमभट्टकृत 'व्यक्तिविवेक' आदि ग्रन्थों में महाकवि भवभूति के ग्रन्थों के भरपूर दृष्टान्त उद्धृत कर अपने-अपने सिद्धान्तों की स्थापनाएँ की गई हैं। इससे बढ़कर कवि के पाण्डित्य का क्या बखान किया जाए? निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि महाकवि भवभूति के ग्रन्थों में वेद, व्याकरण, दर्शन, वेदाङ्ग साहित्य आदि सभी की ज्ञानराशि भरी पड़ी है।

सरस्वती भी उनकी वशवर्तिनी होकर चली है। अत: निर्णीत होता है कि भवभूति नैसर्गिक प्रतिभा-सम्पन्न विश्वविख्यात पण्डित हैं।

३८. वही, मालतीमाधव, १/४

गुरुकुल-शोध भारती सितम्बर २००९ अङ्क १२ (पृ०२१३-२१९)

वाल्मीकि-रामायण और राचरितमानस के आलोक में रावण का चरित्र

डॉ० मृदुल जोशी[1]

वाल्मीकि ने रावण की उद्दंडता और स्वेच्छाचारिता के मूल में मनोवैज्ञानिक कारणों को ढूँढने की चेष्टा की है। उन्होंने रावण के पिता ऋषिप्रवर पुलस्त्य-पुत्र वैस्रवण और राक्षस-वंशजा सुमाली नंदिनी कैकसी के विवाह को जबरन थोपे गये विवाह की दृष्टि से देखा है, जिसके मूल में सुमाली द्वारा लंका को हड़पने की घिनौनी वृत्ति कार्य कर रही है।[2] वैस्रवण तत्कालीन सामाजिक-नैतिक-व्यवस्था के आगे विवश है, जहाँ स्त्री के प्रेम-प्रसंग को ठुकराना अमानवीय समझा जाता है। अपनी अनिच्छा, विवशता, घृणा की भावना की अभिव्यक्ति वह दोनों के परस्पर मिलने से आने वाली संतानों की भयावह परिकल्पना के रूप में दे देता है।[3]

जहाँ माता-पिता में परस्पर प्रेम न हो, बलात् निर्वाह करने की विवशता हो, संतान ऐसी अवस्था में घोर असुरक्षा का अनुभव करती है। असुरक्षा जन्य मनोग्रन्थियाँ एक जटिल चरित्र का निर्माण करती हैं। यही कारण है कि रावण का चरित्र अनेक सद्गुणों के होते हुए भी स्वेच्छाचारी, आततायी, क्रूर और उद्दण्ड व्यक्ति के रूप में उभरा है।

तुलसी की भावभूमि तर्क व मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के निष्कर्ष पर खरी नहीं उतरती। उन्होंने कथा के प्रतिनायक की स्वेच्छाचारिता के मूल में पूर्व-जन्मलब्ध 'शाप' को प्रतिस्थापित किया है, जिसका कोई तार्किक आधार नहीं है। रावण यहाँ नियति नटी के हाथों नर्तन करता हुआ निर्दोष प्रतीत होता है। तुलसी के प्रतिनायक की उपस्थिति के मूल में चार संदर्भों की चर्चा की है। उनके द्वारा रावण-जन्म की चार कथायें गढ़ी गयी हैं-जय-विजय की,[4] जलंधर की,[5] शिव-गणों का[6] और प्रतापभानु की।[7] इन सभी कहानियों के मूल में कहीं न कहीं, कोई

---

१. डॉ० मृदुल जोशी, प्रवक्ता हिन्दी विभाग, कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, हरिद्वार

२. वाल्मीकि रामायण, उत्तर काण्ड, ९/१-५

३. श्रृणु तस्मात् सुतान् भद्रे यादृशाञ्जनयिष्यसि। दारुणान् दारुणाकारान् दारुणाभिजनप्रियान्॥ प्रसविष्यसि सुश्रोणि राक्षसान् क्रूरकर्मणः॥ वा०रा० उत्तर०का० ९/२३-२४

४. भगवान विष्णु के द्वारपाल जय और विजय ब्राह्मण के शाप वश क्रमशः हिरण्यकश्यपु और हिरण्याक्ष हुये, जो क्रमशः वराह और नृसिंह भगवान द्वारा मारे गये। ये ही अगले जन्म में रावण और कुम्भकर्ण हुए। तुलसी लिखते है-होई नरहरि दूसर पुनि मारा। जन प्रहलाद सुजस बिस्तारा॥ रामचरितमानस, बालकाण्ड, १२१/३४ कुम्भकरन रावन सुभट सुर बिजई जग जान॥ रामचरितमानस, बालकाण्ड, १२२

५. जलंधर नाम का एक राक्षस था। देवता एक बार उससे युद्ध में पराजित हो गए। देवताओं की ओर से शिवजी ने उसके संहार का बीड़ा उठाया लेकिन शिवजी को बार-बार पराजय का मुख देखना पड़ा। वास्तव में जलंधर की पत्नी एक सती नारी थी उसी के सतीत्व वशात् शिवजी युद्ध जीत नहीं पा रहे थे। शिवजी ने छल से उसका पतिव्रत भंग किया। क्रोधित होकर सती ने उन्हें शाप दिया। सती के शाप को सत्य सिद्ध करने के लिए भगवान ने अवतार लिया और सती का पति जलंधर रावण रूप में आया। तुलसी इस कथा को इस रूप में शब्दबद्ध करते हैं-तासु श्राप हरि दीन्ह प्रमाना। कौतुकनिधि कृपाल भगवाना॥ तहाँ जलंधर रावन भयऊ। रन हति राम परम पद दयऊ। रामचरितमानस, बालकाण्ड, १२१/१ और मानस बालकाण्ड, १२३/३-४

न कोई शाप है, जो रावण-जन्म का कारण बन रहा है। इतना तो स्पष्ट है कि वाल्मीकि की सूक्ष्म तार्किक विवेचन शक्ति तुलसी की भावुकता पर भारी पड़ती दिखाई देती है।

रामायण का प्रतिनायक लंकेश्वर अपने पद, प्रताप व ऐश्वर्य के समान ही तेज, सुवेश और सौन्दर्य का समुच्चय है। वाल्मीकि ने रावण की उपमा सौन्दर्य-उदधि कामदेव से की है-

कामदर्पमदैर्युक्तं जिह्मताम्रायतेक्षणम्।
समक्षमिव कंदर्पमपविद्धशरासनम्॥[८]

लंका में प्रविष्ट हनुमान रावण के उदात्त व्यक्तित्व से सहसा प्रभावित होते हुए दृष्टिगोचर होते हैं-

अहो रूपमहो धैर्यमहो सत्त्वमहो द्युतिः
अहो राक्षसराजस्य सर्वलक्षणयुक्तता।[९]

वाल्मीकि रामायण के सुन्दर काण्ड में हनुमान के मुख से व उत्तरकाण्ड के समग्र दशम सर्ग में रावण की सौन्दर्य व तेजस्विता का वर्णन है।[१०] उसके अपरूप सौन्दर्य के कारण ही अनेक युवतियाँ उस पर मोहित थीं-
प्रमदा मदनेनैव मोहिताः काश्चिदागताः।[११]

वाल्मीकि ने तो यहाँ तक कहा है कि रावण ने किसी भी कन्या का अपहरण विना उसकी इच्छा के नहीं किया हैं-**न तत्र काश्चित् प्रमदाः प्रसह्य वीर्योपपन्नेन गुणेन लब्धाः॥**[१२]

---

६. कथा आयी है कि नारद एक सुन्दर राजकन्या पर मोहित हो गये। उसे वरण करने हेतु उन्हें अपरूप सौन्दर्य की आवश्यकता थी जिसकी याचना उन्होंने विष्णु भगवान् से की। विष्णु भगवान् ने उन्हें भयंकर कपि-रूप प्रदान किया। नारद को इसका ज्ञान नहीं था। राजकन्या द्वारा वरण न किये जाने पर वे उद्वेलित थे। उस परिणय-समारोह में उपस्थित शिव-गण इस कौतुक को देख रहे थे। उन्होंने हँसकर नारद से दर्पण में अपना मुख देखने को कहा। नारद अपना भयंकर रूप देखकर क्रोधित हो गए और उन दोनों को शाप दे डाला। तुलसी के अनुसार- होहु निसाचर जाइ तुम्ह कपटी पापी दोऊ। हँसेहु हमहि सो लेहु फल बहुरि हँसेहु मुनि कोउ॥ रामचरितमानस, बालकाण्ड,, १३५

७. रामचरितमानस में वर्णित है कि कैकय नरेश सत्यकेतु के दो पुत्र प्रतापभानु और अरिमर्दन थे। उत्तराधिकार से प्रतापभानु राजा हुए और उन्होंने अपने पराक्रम से विश्व-विजय प्राप्त की। वे अत्यन्त धार्मिक और प्रजापरायण राजा थे। प्रतापभानु से पराजित एक राजा वन में भागकर तपस्वी के कपट वेश में रहने लगा। उसने प्रतापभानु को चालाकी से अपने प्रभाव में लेकर ब्राह्मण भोजन करवाया और उसमें ब्राह्मणों को निमंत्रित कर विविध प्रकार के सामिष आहार के मध्य मनुष्य मांस परोसवा दिया। प्रतापभानु को इस छल का पता नहीं था। ज्योंही ब्राह्मण भोजन के लिए बैठे, आकाशवाणी ने उन्हें सावधान कर दिया। ब्राह्मणों ने प्रतापभानु को सपरिवार निशाचर होने का शाप दे दिया। यही कारण था रावण बनने का जहाँ उसके कुटुम्बी भाई बन्धु के रूप में जन्मे- रामचरितमानस, बालकाण्ड, १७२/२-३, बालकाण्ड, १७३, बालकाण्ड १७५/१-३, रामचरितमानस, बालाकाण्ड १७६

८. वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड, १८/२३

९. वाल्मीकि रामायण, सुन्दरकाण्ड, ४९/१७

१०. वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड, १०/२३-२५, वाल्मीकि रामायण, गोरखपुर प्रेस संस्करण, हिन्दी भाषान्तर सहित, पृ० ८८५, वाल्मीकि रामायण, गोरखपुर प्रेस संस्करण, हिन्दी भाषान्तर सहित, पृ० ८८६

११. वाल्मीकि रामायण, सुन्दरकाण्ड, ५६९

१२. वाल्मीकि रामायण, सुन्दरकाण्ड, ९/७१

उनके अनुसार रावण ने बल और पराक्रम से सम्पन्न होने पर भी किसी भी स्त्री की इच्छा के विरुद्ध बलात् उसका अपहरण नहीं किया है। वहीं तुलसी का रावण बलात्कारी और अत्याचारी प्रतीत होता है-

देव जच्छ गंधर्व नर किंनर नाग कुमारि
जीति बरीं निज बाहुबल बहु सुन्दर बर नारि॥[१३]

तुलसी के भक्तिभरित हृदय ने रावण को अपने इष्ट राम के शत्रु-रूप में देखा है। इस दृष्टि से उसका चित्रण राम की पक्षधरता के कारण तटस्थ नहीं रह पाया है। यही कारण है कि रामचरितमानस में रावण की सुगठित देहयष्टि भी भयावह रूप में अंकित है-

अंगद दीख दसानन वैसे। सहत प्राण कज्जल गिरि जैसे,
भुजा बिटप सिर सृंग समाना। रोमावली लता जनु नाना॥
मुख नासिका नयन अरु काना। गिरि कन्दरा खोह अनुमाना॥[१४]

वाल्मीकि रामायण में रावण की उपस्थिति उग्र तपस्वी के रूप में भी आयी है, लेकिन इसका कारण अपने सौतेले पुत्र की तेजस्विता को देखकर द्वेष व प्रतिहिंसा में जलती माता केकसी को समाश्वासित करना रह है-

सत्यं ते प्रति जानामि भातृतुल्योऽधिकोऽपि वा।
भविष्याम्योजसा चैव संताप त्यज हृद्गतम्।[१५]

हीनता की ग्रंथि से ग्रसित महत्त्वाकांक्षी रावण की उग्र तपस्या का स्वरूप कुछ इस रूप में सामने आत है-

दशवर्षसहस्रं तु निराहारो दशाननः। पूर्णवर्षसहस्रे तु शिरश्चाग्नौ जुहाव सः॥
एवं वर्षसहस्राणि नव तस्यातिचक्रमुः। शिरांसि नव चाप्यस्थ प्रविष्टानि हुताशनम्॥
अथ वर्षसहस्रे तु दशमे दशमं शिरः। छेत्तुकामे दशग्रीवे प्राप्तस्तत्र पितामहः।[१६]

ब्रह्मा के प्रसन्न होकर वरदान माँगने की स्थिति में **नास्ति मृत्यु समः शत्रुरमरत्वमंह वृणे**[१७] कहते हु अमरत्व की याचना करने और ब्रह्मा द्वारा असमर्थ्य जताने पर **सुपर्णनागयक्षणां दैत्यदानवरक्षसाम्। अवध्योऽ प्रजाध्यक्ष देवतानां च शाश्वत।**[१८]

कहकर गरुड़ नाग, यक्ष, दैत्य, दानव, राक्षस तथा देवताओं द्वारा न मारे जा सकने का वरदान हस्तगत किया है। रावण का यह रूप खुदी को उस बुलन्दी तक पहुँचाने का रहा है, जहाँ खुदा स्वयं आकर उसकी मर्जी पूरी करता है। रामचरितमानस के तुलसी ने केवल रावण की तपस्या का संकेत भर दया है-

---

१३. रामचरितमानस, बालकाण्ड, १८२ ख
१४. रामचरितमानस, लंकाकाण्ड, १८/१-२
१५. वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड, ४५
१६. वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड, १०/१०-१२
१७. वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड, १०/१६
१८. वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड, १०/२१-२२

कीन्ह विविध तप तीन्हुहुँ भाई, परम् उग्र नहीं बरनि सो जाई।[१९]

वाल्मीकि ने रावण की शूरवीरता की भी विस्तार से चर्चा की है। रामायण में रावण ने अपने चाचा[२०] यक्ष-पति कुबेर,[२१] राजा मरुत्,[२२] अयोध्या के राजा अनरण्य,[२३] यमराज,[२४] निवात कवच,[२५] बहनोई विद्युजिह्व,[२६] वरुण पुत्र,[२७] इन्द्र[२८] इत्यादि को या तो पराजित कर या मृत्युदण्ड देकर अपने अखण्ड शौर्य का परिचय दिया है। तुलसीदास भी उसके शौर्य का लोहा मानते प्रतीत होते हैं, लेकिन उन्होंने इसकी विस्तार से चर्चा न करके केवल- **ब्रह्मसृष्टि जहँ लगि तनु धारी, दसमुख बसवर्ती नर नारी**[२९] कहकर तुलसीदास रावण को विश्व-विजेता घोषित करते हैं।

रवि ससि पवन वरुण घनधारी। अग्निकाल जम सब अधिकारी।
किन्नर सिद्ध मनुज सुर नागा। हठि सबही के पंथहि लागा।[३०]

कहकर सूर्य, चन्द्र, पवन, वरुण, अग्नि, यम, किन्नर, सिद्ध, मनुज, सुर, नाग, आदि को रावण द्वारा विजित किये जाने की बात भी कहते हैं। सर्वतोविजयी कहलाने की आकांक्षा उसे प्रतिस्पर्धी ढूँढने के लिए विवश करती है-

रन मद मत्त फिरई जग धावा। प्रतिभट खोजत कतहुँ न पावा।[३१]

यह भावना उसे शनैः शनैः निरंकुश बना डालती है, जिसके फलस्वरूप वह उन ब्राह्मणों, ऋषि वर्ग का भी द्रोही हो उठता है जो देवों के सहायक हैं। फलतः वह उनके नित्य नैमित्तिक शुभ कर्मों को बाधित करने से भी बाज नहीं आता।[३२] प्रतिपग मिलती सफलता उसे दम्भी, अहंकारी और कामुक बना देती है। वाल्मीकि ने स्वयं रावण के मुख से कही गयी दैवीय शक्तियों में उसके आतंक का परिचय दिया है।[३३] लेकिन तुलसीदास ने

---

१९. रामचरितमानस, बालकाण्ड, १७६/१
२०. वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड, ११/१०-३४
२१. वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड, १५/३७-३८
२२. वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड, १८/२
२३. वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड, १९/२२-२३
२४. वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड, २२/४९-५०
२५. वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड, २३/१३-१४
२६. वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड, २३/१७-१८
२७. वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड, २३/४८-४९
२८. वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड, २९/३०-४२
२९. रामचरितमानस, बालकाण्ड, ८१/६
३०. रामचरितमानस, बालकाण्ड, ८१/५-६
३१. रामचरितमानस, बालकाण्ड, १८१/५
३२. तिन्ह कर मरन एक विधि होई। कहउँ बुझाई सुनहुँ अब सोई। द्विज भोजन मख होम सराधा। सबकै जाइ करहु तुम्ह बाधा। रामचरितमानस, बालकाण्ड, १८०/४

३३. वाल्मीकि रामायण, अरण्यकाण्ड, ४८/३, ४८/५, ४८/१९, ४८/८

रामचरितमानस में रावण के अहंकार को मतिमन्दता, अज्ञान और दुष्ट के हठ के रूप में देखा है।

वाल्मीकि ने रावण को एक योग्य राजा और कुशल प्रशासक के रूप में चित्रित किया है, जो अपने गुणों के कारण इन्द्र के समतुल्य है-

स रावण: शस्त्रभृतां मनस्विनां महाबलानां सभितौ मनस्वी।

तस्यां सभायां प्रभया चकासे मध्ये वसूनामिव वज्रहस्त:।[३४]

यह विवेकी[३५] और व्यवहार कुशल[३६] और मन्त्रणा के महत्त्व को जानने वाला है।[३७] प्रजा का धन-धान्य ऐश्वर्य सम्पन्न होना, उसकी कुशल शासन-व्यवस्था का ही परिणाम है।[३८] तुलसी ने लंकापुरी के वैभव के चित्रण के साथ रावण की शासन-व्यवस्था का संकेत तो दिया है।[३९] लेकिन वाल्मीकि के रावण के समान विवेकी नहीं दिखलाया है। वह अपेक्षाकृत स्वेच्छाचारी, अहंकारी, दंभी और मनमानी करने वाला है। बार-बार वह गुप्तचरों और मन्त्रियों की मन्त्रणा का उपहास उड़ाता नजर आता है और चापलूस मन्त्रियों से घिरा दिखाया गया है।[४०] पति-रूप में रावण वाल्मीकि और तुलसी दोनों के ही द्वारा पट्टमहिषी मन्दोदरी को उचित सम्मान देता दृष्टिगत होता है। वाल्मीकि की मन्दोदरी अपने पति से पूर्णतया सन्तुष्ट दिखायी देती है।[४१] वहीं तुलसी का रावण भी मंदोदरी के प्रति मर्यादित व्यवहार करता दृष्टिगत होता है जब वह मन्दोदरी की नीतिगत बातें विना प्रतिवाद के

---

३४. वाल्मीकि रामायण, युद्धकाण्ड, ११/३२

३५. वाल्मीकि रामायण, युद्धकाण्ड, ५९/४१

३६. वाल्मीकि रामायण, अरण्यकाण्ड, ३१/९

३७. वाल्मीकि रामायण, युद्धकाण्ड, ६/५

३८. वाल्मीकि रामायण, सुन्दरकाण्ड, ४/२१-२७

३९. कनक कोट बिचित्र मनि कृत सुंदरायतना घना। चउहट्ट हट्ट सुबट्ट बीथीं चारु पुर बहु बिधि बना॥ गज बाजि खच्चर निकर पदचर रथ बरूथन्हि को गनै। बहुरूप निसिचर जूथ अतिबेल सेन बरनत नहिं बनै॥ बन बाग उपबन बाटिका सर कूप बापीं सोहहीं। नर नाग सुर गंधर्ब कन्या रूप मुनि मन मोहहीं। कहुँ माल देह बिसाल सैल समान अतिबल गर्जहीं। नाना अखारेन्ह भिरहिं बहुबिधि एक एकन्ह तर्जहीं॥ करि जतन भट कोटिन्ह बिकट तन नगर चहुँ दिसि रच्छहीं। कहुँ महिष मानुष धेनु खर अज खल निसाचर भच्छहीं॥ सुन्दरकाण्ड, छन्द २/१२-२१ जानत परम दुर्गअति बंका। लंकाकाण्ड, ३८/९

४०. बूझेसि सचिव उचित मत कहहू। ते सब हँसे मष्ट करि रहहू। जितेहु सुरासुर तब श्रम नाहीं। नर बानर केहि लेखे माहीं॥ सुन्दरकाण्ड, ३६/८-९ रिपु उतकरष कहत सठ दोऊ। दूरि न करहु इहाँ हइ कोऊ। सुन्दरकाण्ड, ३९/३ मम पुर बसि तपसिन्ह पर प्रीती। सठ मिलु जाइ जिन्हहि कहु नीती॥ अस कहि कीन्हेसि चरन प्रहारा। सुन्दरकाण्ड, ४०/५-६ बिहसि दसानन पूँछी बाता। कहसि न सुक आपानि कुसलाता॥ पुनि कहु खबरि बिभीषन केरी। जाहि मृत्यु आई अति नेरी॥ सुन्दरकाण्ड, ५२/३-४ बूढ़ भएसि न त मरतेउँ तोही। अब जनि नयन देखावसि मोही॥ लंकाकाण्ड, ४८/३ तब रावन मयसुता उठाई। कहै लाग खल निज प्रभुताई॥ सुनु तैं प्रिया बृथा भय माना। जग जोधा को मोहि समाना॥ बरुन कुबेर पवन जग काला। भुज बल जितेउँ सकल दिगपाला। देव दनुज नर सब बस मोरें। कवन हेतु उपजा भय तोरें। लंकाकाण्ड, ७/१-४

मान लेता है।[४२]

वाल्मीकि का रावण अप्रतिम योद्धा होने के साथ ही साथ कुशल सेनापति भी है। रावण की युद्धनीति स्पृहणीय है, जहाँ चतुर गुप्तचरों का जाल बिछा है। वे समय-समय पर शत्रुपक्ष के बलाबल की जानकारी देते रहते हैं।[४३] रावण की कुशल भेदनीति का परिचय शुक और सारण से की गयी वार्ता में भी मिलता है।[४४] रामचरितमानस में भी तुलसी का रावण युद्धनीति के चारों अंगों का प्रयोग करता दिखाई पड़ता है-**बहुविधि खल सीतहि समुझावा, साम दाम भय भेद देखावा।**[४५] शत्रु पक्ष के बलाबल को जानने के लिए तुलसी का रावण भी शुक सारण को शत्रु-सेना के पास भेजता है।[४६] रावण द्वन्द्व युद्ध, अस्त्र युद्ध, शस्त्र युद्ध- सभी प्रकार के युद्ध कौशल में निष्णात है। सुग्रीव, गवाक्ष, गवैय, सुषैण, ऋषभ, ज्योतिर्मुख, नल,[४७] नील,[४८] लक्ष्मण[४९] और यहाँ तक कि हनुमान् भी कभी-कभी रावण के समक्ष विवश दिखाई देते हैं।[५०] रावण तो साहसी योद्धा के समान राम को भी ललकारता है-**रक्षसामद्य शूराणां निहतानां चमूमुखे। त्वां निहत्य रणश्लाघिनः करोमि तरसा समम्॥**[५१] वाल्मीकि रामायण में तो राम की सहायतार्थ इन्द्र,[५२] अगस्त्य[५३] तक आ खड़े दिखाई देते हैं, तब कहीं राम रावण को पराजित कर पाते हैं। तुलसी का रावण अतुलित बलशाली तो दिखाया गया है, लेकिन उसकी शक्ति स्पृहणीय नहीं दिखाई देती। उसके शौर्य प्रदर्शन की पृष्ठभूमि में राम का गौरव भी महिमा मंडित प्रतीत होता है।

वाल्मीकि और तुलसी दोनों ने ही रावण को अपरूप सौन्दर्य, बल-बुद्धि, ज्ञान सम्पन्न राजा के रूप में चित्रित किया है। दोनों ने ही उसे कठिन तपस्या रत और तेजस्वी दिखाया है। लेकिन वाल्मीकि ने जहाँ उसके बल और पराक्रम को तटस्थ रूप में चित्रित किया है, वहीं तुलसी अपने इष्ट राम के प्रति अपार भक्ति प्रदर्शित करते हुए उनके प्रतिपक्षी के रूप में रावण को देखते हुए उसे अहंकारी, खल, दुष्ट, मदान्ध, अत्याचारी रूप को बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत करते प्रतीत होते हैं। वाल्मीकि की लेखनी राजा के रूप में रावण की प्रतिष्ठा को बनाये रखे हैं। वहीं तुलसी उसे अन्यायी, अत्याचारी राजा के रूप में चित्रित करते हुए एक खलनायक के रूप में प्रस्तुत करते चले हैं। तुलसी की रामचरितमानस में रावण के शक्ति व्यंजक प्रसंग प्रायः उपेक्षित कर दिये गये हैं और वह तो

---

४२. सुनत वचन पुनि मारन धावा। मयतनया कहि नीति बुझावा, रामचरितमानस, सुन्दरकाण्ड, ९/४
४३. वाल्मीकि रामायण, अरण्यकाण्ड, २४/२६
४४. वाल्मीकि रामायण, युद्धकाण्ड, २५/२-८
४५. सुन्दरकाण्ड, ८/३
४६. जबहिं विभीषण प्रभु पहिं आए। पाछे रावण दूत पठाए। रामचरितमानस, सुन्दरकाण्ड, ५०/४
४७. वाल्मीकि रामायण, युद्धकाण्ड, ५९/४१
४८. वाल्मीकि रामायण, युद्धकाण्ड, ५१/४२-४४
४९. वाल्मीकि रामायण, युद्धकाण्ड, ५९/८५-९०
५०. वाल्मीकि रामायण, युद्धकाण्ड, ५९/१०५, १०९-११०
५१. वाल्मीकि रामायण, युद्धकाण्ड, ५९/६८-६९
५२. वाल्मीकि रामायण, युद्धकाण्ड, १०२/५६
५३. वाल्मीकि रामायण, युद्धकाण्ड, १०२/१-२१

अनेक स्थलों पर उपहासास्पद बन उठा है।[५४] तुलसी राम की उदारता को महिमा-मण्डित करना चाहते हैं इसीलिए रावण को वह राम के द्वारा दुर्लभ गति प्रदान करते हुए दिखाई पड़ते हैं।[५५] वहीं वाल्मीकि का रावण मृत्योपरान्त राम द्वारा वीरोचित सम्मान पाता प्रदर्शित किया गया है।

---

५४. वाल्मीकि रामायण, युद्धकाण्ड, १०५, रामचरितमानस लंकाकाण्ड, ३१ क-३, रामचरितमानस, लंकाकाण्ड, ९७/३, रामचरितमानस, लंकाकाण्ड, ८३/१, रामचरितमानस, लंकाकाण्ड, ९७/८

५५. रामचरितमानस, लंकाकाण्ड, १०४

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २००९ अङ्क १२ (पृ०२२०-२२२)

संस्कृतवाङ्मये ज्योतिर्विज्ञानम्

डॉ. श्रीधर मिश्र[1]

भारतीय ज्ञानराशि की विविध विधाओं के अन्तर्गत भारतीय ज्योतिर्विज्ञान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं परम उपयोगी विद्या है। ऋग्वेद संहिता[2] और तैत्तिरीय ब्राह्मण में[3] भी इस ज्योतिर्विज्ञान का भी वर्णन किया गया है। मुण्डकोपनिषद् में भी अपरा विद्या के रूप में चारों वेदों के साथ षडङ्ग में ज्योतिष की भी गणना की गई है।[4] विष्णुपुराण में वर्णित अठारह विद्याओं में ज्योतिष भी एक महत्त्वपूर्ण विद्या है।[5] इस ज्योतिर्विज्ञान का उपयोग हमारे धार्मिक एवं व्यावहारिक कार्यों के साथ ही साथ सामाजिक, राजनीतिक क्षेत्रों में भी सनातन काल से सतत होता आ रहा हैं। इस ज्योतिर्विज्ञान के कारण संस्कृत साहित्य की महत्ता एवं उपादेयता विश्व स्तर पर है। सूर्यादि ग्रहों एवं आश्विनादि नक्षत्रों के गणित तथा फलित का वर्णन करने वाला शास्त्र ज्योतिषशास्त्र है, जो ज्योतिर्विज्ञान के अर्थ में योगारूढ़ हो गया है। इस ज्योतिष के साथ प्रयुक्त विज्ञान शब्द अपने वैशिष्ट्य का द्योतक है। कूर्मपुराण में ज्योतिर्विज्ञान के विज्ञान शब्द का अर्थ बताया गया है-**विज्ञानं निर्मलं सूक्ष्मं निर्विकल्पं पदमव्ययम्।** अर्थात् निर्मल, सूक्ष्म निर्विकल्पक और विकाररहित ज्ञान विज्ञान है, यह अनुभव जन्य ज्ञान होता है, इससे भिन्न शास्त्रजन्य ज्ञान होता है। अतः वेद की ही भाँति चक्षुस्वरूप ज्योतिर्विज्ञान भी अपरिवर्तनीय सूक्ष्म एवं निर्मल है।

मानव समाज अपने सभी कार्यों को सकुशल सम्पन्न करना चाहता है साथ ही उस कार्य का उत्तम फल भी। इसके लिए कार्य प्रारम्भ का उपयुक्त समय इस कालविधान शास्त्र ज्योतिष से ही प्राप्त करता है। इस ज्योतिर्विज्ञान के विना हमारे श्रौत एवं स्मार्त कर्म सिद्ध नहीं हो सकते, अत एव जगत् के हित साधन के लिए ब्रह्मा ने पूर्वकाल में ही इसकी रचना की।

विनैतदखिलं श्रौतं स्मार्त कर्म न सिद्ध्यति।
तस्माज्जगद्धितायेदं ब्रह्मणा निर्मितं पुरा।।[6]

विविध प्रकार के यज्ञ एवं अनुष्ठानों के लिए वेद प्रवृत्त हैं और जितने भी वैदिक यज्ञ हैं, उनका अनुष्ठान कालाधीन है और इस काल का निश्चय कालविधानशास्त्र **ज्योतिर्विज्ञान**' से होता है अत एव इसी कारण इस ज्योतिर्विज्ञान के ज्ञाता को सर्वज्ञ कहा गया है-

वेदास्तु यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः कालानुपूर्वा विहिताश्च यज्ञाः।
तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं यो ज्यौतिषं वेद से वेद सर्वम्।।[7]

---

१. डॉ. श्रीधर मिश्र, गो०वि०वि०गोरखपुर
२. ऋग्वेद संहिता २.३.२२.१६४
३. तैत्तिरीय ब्राह्मण २.४.६
४. मुण्डकोपनिषद १.५
५. विष्णुपुराण ३.७.२८.२९
६. नारद संहिता अध्याय एक
७. विष्णुधर्मोत्तरपुराण २.१७४

यद्यपि ज्योतिर्विज्ञान के अनेक गौण प्रयोजन हैं, किन्तु इसका मुख्य उद्देश्य कालविधान ही है। इस विद्या के द्वारा ही समस्त षोडश संस्कारों का एवं तिथि, नक्षत्र आदि पर निर्धारित दीपावली, विजयादशमी, जन्माष्टमी आदि सुनिश्चित किये जाते हैं। इस विद्या के काल विधान के आधार पर ही दर्श, पौर्णमास आदि लौकिक, वैदिक यज्ञों एवं महालयादि पैतृक यज्ञों के अनुष्ठान सम्पन्न होते हैं।

इस ज्योतिर्विज्ञान के प्रवर्तक के रूप में नारद संहिता, काश्यपसंहिता एवं पराशरसंहिता में ब्रह्मा, सूर्य, वशिष्ठ, अत्रि मनु, सोम, लोमश, मरीच, अंगिरा, व्यास, नारद, शौनक, भृगु, च्यवन, यवन, गर्ग, कश्यप एवं पराशर आदि अठारह प्रवर्तकों के नाम प्राप्त होते हैं। ये सभी भारतीय अमर विभूतियां हैं। इस ज्योतिर्विज्ञान के स्वरूप के सम्बन्ध में नारद संहिता में देवर्षि नारद ने कहा है -

सिद्धान्तसंहिता होरारूपस्कन्धत्रयात्मकम्।
वेदस्य निर्मलं चक्षुर्ज्योतिः शास्त्रमनुत्तमम्॥[८]

अर्थात् सिद्धान्त, संहिता और होरा रूप स्कन्धलयात्मक अति उत्तम ज्योतिषशास्त्र वेद का निर्मल नेत्र है। नेत्र स्वरूप होने के कारण वेदाङ्गों में इसकी प्रधानता स्वतः सिद्ध हो जाती है, क्योंकि अनेकानेक अंगों से युक्त परिपूर्ण मूर्तिपुरुष यदि नेत्रहीन है तो उसका जीवन शून्य है। अतः ठीक ही कहा गया है -

वेदस्य चक्षुः किल शास्त्रमेतत् प्रधानताङ्गेषु ततोऽर्थजाता।
अङ्गैर्युतोऽन्यैः परिपूर्णमूर्तिश्चक्षुर्विहिनः पुरुषो न किञ्चित्॥[९]

इस ज्योतिर्विज्ञान के प्रथम सिद्धान्त स्कन्ध का लक्षण भास्कराचार्य[१०] ने अपने ग्रन्थ के गणित अध्याय में बताया है कि त्रुटिकाल से लेकर प्रलय के अन्तराल तक की गणना सूर्यादि ग्रहों की चाल पृथ्वी, नक्षत्र, ग्रहों के स्थान आदि का वर्णन जिस गणितशास्त्र में किया जाता है, उसे ज्योतिर्विज्ञान का सिद्धान्तस्कन्ध कहते हैं। इस विज्ञान के दूसरे संहितास्कन्ध का वर्णन करते हुए बृहत्संहिता में वराहमिहिर[११] ने कहा है कि सूर्य आदि ग्रहों, नक्षत्रों, सप्तर्षियों आदि के उदय एवं अस्त के द्वारा मानव के सभी व्यावहारिक विषयों का वर्णन जिस संहिता में है, इसे संहितास्कन्ध कहते हैं। इस स्कन्ध का दूसरा नाम व्यवहारशास्त्र भी है। इस ज्योतिर्विज्ञान के तीसरे होरास्कन्ध का लक्षण होरा रत्नग्रन्थ में बलभद्रमिश्र[१२] ने बताया है कि राशि, भेद, लग्न, ज्ञान, आदि नाना फलों का विचार होरास्कन्ध में होता हैं, इस स्कन्ध का दूसरा नाम जातक है। कल्याण वर्मा ने सारावली में होरा का अर्थ करते हुए कहा है कि अहोरात्र शब्द के आदि आकार और अन्त त्रकार् वर्ण को त्याग देने पर होरा शब्द बनता है।[१३] यह मूल ज्योतिर्विज्ञान चार लाख श्लोकों में है। महर्षि शौनक ने कहा है- **चतुर्लक्षं तु ज्यौतिषम्।**

भारतीय ज्योतिर्विज्ञान के अनुसार आकाश शून्य नहीं है। अपार क्षेत्र वाले इस आकाश में सूर्यादि

---

८. नारद संहिता १.४
९. वृद्धवसिष्ठ- सिद्धान्त मध्यमाधिकार - श्लोक ८
१०. त्रुट्यादिप्रलयान्तकालकलना मानप्रभेदः क्रमा सिद्धान्तः स उदाहृतोऽत्र गणितस्कन्ध प्रबन्धे बुधैः। भास्कराचार्यः सिद्धान्त शिरोमणि।
११. वराहमिहिरः बृहत्संहिता १.२.१
१२. बलभद्र मिश्रः होरा रत्न
१३. कल्याण वर्मा : सरांवली २.२-९

ज्योतिर्मय लोक, नक्षत्रादि स्थित हैं। ऋक्संहिता एवं शतपथ ब्रह्मण के अनेक उद्धरणों से स्पष्ट है कि नक्षत्र चान्द्रमास, सौरमास, मलमास, ऋतुपरिवर्तन, दक्षिणायन-उत्तरायण के साथ-साथ आकाश चक्र में सूर्य की महिमा का तात्त्विक ज्ञान ऋषियों ने हमें प्रदान किया है। ज्योतिर्विज्ञान नक्षत्र विद्या भारत से ही विश्व में फैलती गयी, फिर भी भारतीय एवं पाश्चात्त्यों के ज्योतिर्विज्ञान में थोड़ा अन्तर है। सूर्य के संक्रमण के आधार पर राशियों के नाम पर मेष आदि द्वादश सौरमासों को मान्यता दी गई है। पूर्णचन्द्र की अर्थात् पूर्णिमा की रात्रि में नक्षत्र विशेष के पास चन्द्रमा को देखकर चान्द्रमासों का ज्ञान हुआ। जैसे चित्रा से चैत, विशाखा से वैशाख आदि नामकरण किया गया। पाश्चात्त्य देशों में भारतीय ज्योतिर्विज्ञान का प्रकारान्तर से जो भी प्रसार-प्रचार हुआ वही उसके एतद्विषयक ज्ञान का मूल था, पाश्चात्त्यों ने भारतीय ज्योतिर्विज्ञान से तो ग्रहण किया जो रवि, चन्द, भौमादि के नाम से आबद्ध था। परन्तु महीनों का नाम अवैज्ञानिक ढंग से रखा। अत: जनवरी-फरवरी आदि का सम्बन्ध सूर्य, चन्द की गति से नहीं है। अत: पाश्चात्त्यों की मास एवं वर्ष की गणना अनर्गल सी है और भारतीय नक्षत्र विद्या ज्योतिर्विज्ञान की शैली सर्वथा पूर्ण एवं वैज्ञानिक है।

पाश्चात्त्यों ने चन्द्र के स्थान में पृथ्वी को ग्रह माना है और राहू-केतु को छोड़कर यूरेनस, नेपच्यून और प्लुटो इन तीनों ग्रहों के मिलाकर कुल दस ग्रह मान्य हैं। अत: ग्रहगति के विषय में भी भारतीय एवं पाश्चात्त्य ज्योतिर्विज्ञान के गणना में अन्तर है। वराहमिहिर की बृहत्संहिता में केतु अर्थात् पुच्छल ताराओं का वर्णन आता है। उन्होंने शुभकेतु और धूमकेतु नाम से दो किया है। दर्शनीय, शोभनीय सीधे, छोटे और श्वेत वर्ण के केतु को शुभकेतु नाम दिया है और इसके विपरीत स्वभाव वाले देखने में अशुभ को धूमकेतु कहा है।

संस्कृत साहित्य के बृहत्संहिता में उल्काओं के विषय में जो वर्णन प्राप्त होता है, वह आधुनिक पाश्चात्त्य ज्योतिर्विज्ञान की अपेक्षा कहीं अधिक समृद्ध है। वराहमिहिर ने द्विलोक से फलोपभोग करके गिरने वाले लोक के नाम से पुकारा है, जबकि पाश्चात्त्य ज्योतिर्विदों ने उन्हें निहारिका पुंज के रूप में माना है। इसका कारण भारतीय दृष्टिकोण का आध्यात्मिक होना है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण होने के कारण भारतीय मनीषा को ज्योतिर्लोकों में भी धर्मतत्त्व की चमक दिख पड़ी है। पुराकाल से दृष्ट एवं अनुभूत होने के कारण हमारा यह ज्योतिर्विज्ञान सर्वथा पूर्ण है। ज्योतिर्लोक में अर्थात् आकाश में होने वाली प्रमुख घटनाओं के विषय में भारतीय गणना अत्यन्त सटीक उतरती है, परन्तु पाश्चात्त्य विज्ञान जड़वादी है और सर्वत्र जड़बुद्धि की प्रधानता को द्योतित करता है। अत: पाश्चात्त्यों का ज्योतिर्विज्ञान सर्वथा अपूर्ण है और संस्कृत वाङ्मय का भारतीय ज्योतिर्विज्ञान धार्मिक जीवन के लिए परम उपयोगी है। अत: मानव जीवन में संस्कृत ज्योतिर्विज्ञान की महिमा असीम एवं अपार है। इसीलिए शास्त्र में कहा गया है-यथा-

शिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा।
तथा वेदाङ्गशास्त्राणां ज्योतिषं मूर्ध्नि स्थितम्।। [१४]

१४. नारद संहिता: एक

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २००९ अङ्क १२ (पृ०२२३-२२७)

प्राचीन भारतीय संस्कृति में यज्ञ

डॉ. रवीन्द्र सिंह[1]

ओ३म् अ॒ग्निमी॑ळे पु॒रोहि॑तं य॒ज्ञस्य॑ दे॒वमृ॒त्विज॑म्। होता॑रं रत्न॒धात॑मम्॥[2] में अग्नि देव की स्तुति के साथ यज्ञ का वर्णन भारतवर्ष में यज्ञ का प्राचीनतम ऐतिहासिक-साहित्यिक साक्ष्य है। यह इस तथ्य का भी स्पष्ट प्रमाण है कि प्रारम्भिक वैदिक काल के आने तक भारतवासी न केवल यज्ञ की विधा से सुपरिचित हो चुके थे, बल्कि इसका गहन मर्म भी समझ चुके थे। वेदों में सबसे अधिक मन्त्रों की संख्या अग्नि एवं यज्ञ के संदर्भ में है, जो इस युग में यज्ञ[3] के चतुर्दिक् विकास एवं लोकप्रियता की परिचायक है। यहाँ यह तथ्य भी उभर कर सामने आता है कि यज्ञ के बीज भारत में चिर प्राचीन प्रागैतिहासिक युग में छिपे हुए हैं, अन्यथा इनका प्रस्फुटन एवं विकास प्रारम्भिक वैदिक युग में देखने को न मिल पाता।

सिन्धु घाटी की सभ्यता से प्राप्त पुरातात्त्विक अवशेष इस सत्य को पुष्ट करते हैं, कालीबंगा, लोथल, बनवाली एवं राखीगढ़ी के उत्खननों से प्राप्त अग्निवेदियाँ इसका प्रबल प्रमाण है। ये वेदियाँ वस्तुतः मिट्टी के बने गड्ढे थे, जिनमें प्रत्येक का आकार लगभग ४५x४५ सेंटीमीटर था।[4] काली बंगा में प्राप्त अग्निवेदियाँ एवं समस्त सामग्री किसी धार्मिक या याज्ञिक अनुष्ठान के संकेत देती है। लोथल में आयताकार एवं वृत्ताकार अग्निवेदियाँ मिली हैं, जिनका उपयोग साकलिया के अनुसार मूलतः पारिवारिक अनुष्ठानों के लिए किया जाता था।[5] इसी तरह प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता वाकणकर को लुप्त सरस्वती नदी के किनारे हड़प्पाकालीन स्थलों से अग्निवेदियों के प्रमाण मिले हैं।[6]

इस तरह सिन्धु-सरस्वती सभ्यता के प्राक्ऐतिहासिक काल में हम यज्ञ के स्पष्ट प्रमाण पाते हैं और यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि भारत के चिर अतीत से प्रारम्भ यज्ञ की विधा, वैदिक युग तक जीवन का अभिन्न अंग बन गई थी। इसे वैदिक संस्कृति का मेरुदण्ड भी कहें तो अतिशयोक्ति न होगी। वस्तुतः यह इसके सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक जीवन का केन्द्रिय तत्त्व था। वैदिक युग में यज्ञ की महत्ता सर्वोपरि थी, जो व्यक्ति को पावन, पवित्र और कर्मठ बनाता था।[7]

उत्तर वैदिक काल में कर्मकाण्डों एवं यज्ञों का महत्त्व इतना बढ़ गया था कि पुरोहितों ने प्रत्येक कार्य

---

१. डॉ. रवीन्द्र सिंह, वरिष्ठ प्रवक्ता, भारतीय संस्कृति एवं पर्यटन प्रबन्धन विभाग, देव संस्कृति विश्वविद्यालय, शान्तिकुंज, हरिद्वार.

२. ऋ०१.१.१

३. ऋ.-११/१४०/१, ३/५५/१०, १/१४/१४, १/२६/९, १/९४/३, १/५९/३, १/५९/१, ७/२/१, १/५८/१, १/२६/४, ३/१/१७, १०/२/९, १/१२/४, ३/११/१८, ७/११/४, २/८/३, ८/४३/२४, ३/११/१८, ७/११/४

४. जैन, शर्मा, माथुर - भारतीय इतिहास प्रारम्भ से बारहवीं ईसवी तक, पृ. ४७

५. थपल्याल एवं शुक्ल सिंधु सभ्यता, पृष्ठ १७२

६. जैन, शर्मा, माथुर ७ वही पृ. ४८

७. डॉ. जयशंकर मिश्र - प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ. ६६४

यज्ञ से जोड़ दिया था।[८] सभी मनुष्यों के लिए याज्ञिक क्रिया को श्रेष्ठ बताया गया। इतना ही नहीं यह धारणा भी बलवती बनाई गई कि यज्ञ के द्वारा देवता भी वश में हो जाते हैं तथा बाध्य होकर मनुष्यों को मनवांछित वर प्रदान करते हैं।[९] इस प्रकार यज्ञ मनुष्य तथा देवताओं के बीच सम्बन्ध स्थापित करने वाला बन गया था। क्रमशः यज्ञों की संख्या बढ़ती गई तथा अनेक याज्ञिक प्रथाएँ प्रचलित हो गयीं, यथा- अग्निहोत्र, दर्श और पौर्णमास्य, अग्निष्टोम, षोडशी, अतिरात्र, पुरुषमेध, पञ्चमहायज्ञ आदि तत्कालीन समाज में प्रचलित थे तथा वाजपेय, राजसूय और अश्वमेध जैसे यज्ञों को सम्पन्न करना प्रतिष्ठा का प्रतीक माना जाता था।[१०]

इनमें अग्निहोत्र प्रातः-सायं दोनों समय किया जाता था, जिसमें घृतादि की आहुति दी जाती थी। पापों के क्षय और स्वर्ग की ओर ले जाने वाला यह सर्वोत्तम नाव के रूप में स्वीकार किया गया था।[११] पञ्चमहायज्ञ प्रत्येक गृहस्थ के लिए अनिवार्य था। इसके अन्तर्गत भूतयज्ञ, पितृयज्ञ, मनुष्ययज्ञ, देवयज्ञ और ब्रह्मयज्ञ सम्मिलित थे।[१२] राजसूय यज्ञ राजाओं द्वारा सम्पन्न किए जाते थे। डॉ० सत्यकेतु के अनुसार, राजसूय यज्ञ किए विना राजा राजपद पर आरूढ़ नहीं हो सकता था।[१३] अश्वमेध यज्ञ का आयोजन सार्वभौम राजा ही कर सकता था। उत्तरवैदिक काल में परीक्षित के वंशज जनमेजय का वर्णन आता है, जिसने आसन्दीवन में अश्वमेध यज्ञ किया था।[१४]

उत्तरवैदिक काल तक यज्ञीय कर्मकाण्ड बहुत बृहद् एवं जटिल रूप ले चुका था। ऋग्वेद में जहाँ सात प्रकार के पुरोहितों का उल्लेख है, ब्राह्मण काल तक यह संख्या १७ बन गई थी।[१५] शांख्यायन, आश्वलायन, कात्यायन श्रोतसूत्रों में पुराहितों के विभिन्न रूपों का जो विवरण उपलब्ध होता है वह यज्ञ तथा कर्मकाण्डों की अधिक जटिलता का प्रतीक है।[१६] इस दौरान यज्ञ जटिल, दुरूह व अतिव्यय सम्पन्न हो गए थे। यज्ञ में पशु की बली भी बड़ी संख्या में दी जाती थी।[१७] इस तरह उत्तरवैदिक काल में यज्ञ के कर्मकाण्डीय आडम्बर एवं विस्तार के नीचे धर्म की आत्मा दब सी गई थी।

अतः यज्ञ के प्रति उदासीनता का भाव उत्पन्न होने लगा था और इसके विकृत पक्ष के प्रति विरोध का भाव भी पनपने लगा था। इसके स्थान पर वास्तविक ज्ञान और आध्यात्मिक उत्कर्ष को ही प्रधानता दी जाने लगी। यह स्वीकार किया गया कि ज्ञान के अभाव में परलोक की प्राप्ति न तो यज्ञ से सम्भव है और न तप से, बल्कि यज्ञ में निहित धार्मिक भावना से ही सम्भव है।[१८] अतः ज्ञान की महत्ता सर्वोपरि मानी गयी। आरण्यकों में यज्ञ से

---

८. जसवीर सिंह मलिक - प्राचीन भारत में पौरोहित्य, पृ. १८
९. पंचविश - ब्रा. १/८/४/१
१०. जसवीर सिंह मलिक - प्राचीन भारत में पौरोहित्य, पृ. १९
११. शतपथ ब्रा. - अच्युत ग्रंथमाला, पृ. १९
१२. शतपथ ब्रा. ११/५/६
१३. डॉ. सत्यकेतु-प्राचीन भारतीय इतिहास का वैदिक युग, पृ. २८
१४. शत. ब्रा., ११/५/४/१
१५. मुखर्जी, डॉ. राधा कुमुद, हिन्दू सभ्यता पृ. २३२
१६. जसवीर सिंह मलिक- प्रा. भा. में पौरोहित्य पृ. २२
१७. राजबली पाण्डेय-भारतीय इतिहास की भूमिकात्र पृ. ५-६

सम्बन्धित दार्शनिक विचार और चिंतन को स्थान मिला तथा उसके कर्मकाण्डीय पक्ष को स्थगित किया गया। उपनिषदों में भी ज्ञानपक्ष की ही महत्ता प्रतिपादित की गई।[१९]

महाकाव्यों के समय तक वैदिक धर्म का स्वरूप बिलकुल परिवर्तित हो चुका था। पूर्व-वैदिक कालीन कर्मकाण्ड प्रधान तथा उत्तर वैदिक कालीन ज्ञान प्रधान धर्मों का समन्वय करके इस समय एक लोकधर्म का विकास किया गया जो सर्व साधारण के लिए सुलभ था।[२०] रामायण और महाभारत में अनेक वैदिक यज्ञों का उल्लेख मिलता है, परन्तु यज्ञों में होने वाली हिंसा का विरोध किया गया। यज्ञ को इस मुख्यत: चित्त शुद्धि का एक साधन मात्र स्वीकार किया गया।[२१] साधारणतः गृहस्थ, पञ्च,-महायज्ञ करता था, जिसमें पितरों, देवों, ब्राह्मणों, अतिथियों और भूतों को संतुष्ट किया जाता था।[२२] तत्कालीन युग में अश्वमेध और राजसूय यज्ञ भी प्रचलित थे। राम ने अश्वमेध[२३] यज्ञ किया था तथा युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ[२४] इस युग में नाग यज्ञ भी हुआ था, जिसे महाराज जनमेजय ने सम्पन्न किया था।[२५]

आध्यात्मिक उत्कर्ष के साधन के रूप में संध्या के साथ अग्निहोत्र समाज में प्रचलित थे। प्राचीन ऋषियों की दीर्घायु, यश, बुद्धि और आध्यात्मिक बल इसी के माध्यम से प्राप्त हुए थे।[२६] रामायण से विदित होता है कि राम और लक्ष्मण संध्या और अग्निहोत्र दोनों करते थे।[२७] युधिष्ठिर भी संध्या और अग्निहोत्र दोनों किया करते थे।[२८] इस तरह महाकाव्य काल में यज्ञ परिष्कृत रूप में प्रचलित था व समाज में इसका धार्मिक कृत्य के रूप में महत्त्वपूर्ण स्थान था।

किन्तु कालक्रम में यज्ञ की यह पावनता क्षीण होती गई छटी सदी ई.पू. तक यज्ञ कर्मकाण्ड पुनः अन्धविश्वास, जटिलता एवं हिंसा के अभिशाप से ग्रस्त हो गया था। फलस्वरूप इनके विरोध में एक बौद्धिक एवं धार्मिक क्रान्ति का सूत्रपात हुआ, जिसका स्वाभाविक परिणाम था- बौद्ध एवं जैन धर्म का उद्भव। इनके प्रसार के कारण वैदिक मान्यताओं को प्रबल आघात लगा, किन्तु चौथी शताब्दी ई. पू. तक मौर्य वंश की स्थापना हुई। इस समय वैदिक यज्ञों का पुनः प्रचार हो रहा था। वैदिक कालीन पौराहित्य प्रथा की लुप्त प्रतिष्ठा पुनः स्थापित हो रही थी। अन्तर केवल इतना था कि कर्मकाण्ड अब पूर्व की भाँति जटिल नहीं रह गए थे।[२९] मैगस्थनीज ने एक स्थान

---

१९. डॉ. जयशंकर मिश्रा- प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ. ६६८
२०. के.सी. श्रीवास्तव- प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति, पृ. ६४
२१. वही,
२२. रामायण- १३/३७/१७, महाभारत, शांतिपर्व, २७०/१०
२३. वाल्मीकि रामायण उत्तरकाणड, ९९ सर्ग
२४. महाभारत, समापर्व, १२/१८
२५. महाभारत, आदिपर्व, ५६/४-११
२६. महाभारत, अनुशासन पर्व, १०/१/१८
२७. रामायण, १/२९/३१-३२, २/४६/१३, ७/३६/६१
२८. महाभारत, ३/२६/५

पर लिखा है कि सम्राट् (चन्द्रगुप्त) जिन चार अवसरों पर महल से बाहर निकलता था, यज्ञ उनमें से एक था।[३०] अर्थशास्त्र में वर्णित राजप्रसाद के निकट बनी यज्ञशाला (इज्यास्थान) से भी तत्कालीन ब्राह्मणधर्म में यज्ञों की महत्ता प्रामाणित होती है।[३१]

मौर्येतर काल में यज्ञ पुन: अपने उत्कर्ष की ओर अग्रसर होता है। शुंग वंश के प्रथम शासक पुष्यमित्र शुंग ने अपने शासन काल में वैदिक धर्म की मान्यताओं एवं परम्पराओं को पुन: स्थापित किया। कतिपय पुरातात्त्विक साक्ष्य भी उपर्युक्त तथ्यों की पुष्टि करते हैं। प्रथम अभिलेख कनिष्क के शासन काल में चौबीसवें वर्ष अंकित मथुरा के निकट ईशापुर ग्राम से उपलब्ध हुआ है। इसके अनुसार भारद्वाज गोत्र के एक ब्राह्मण रुद्रिल के पुत्र द्रोणिल ने ९२ रात्रि तक चलने वाला एक यज्ञ सम्पन्न किया था।[३२] एक अन्य यूप स्तंभ लेख में सप्तसोम यज्ञ से संबंधित सात यूपों के निर्माण का उल्लेख है।[३३] भूतपूर्व उदयपुर राज्य के भंदासा नामक स्थान से प्राप्त अभिलेख में ६० दिन तक चलने वाले यज्ञ का उल्लेख है।[३४] इसी प्रकार भूतपूर्व कोटा राज्य के बड़वा नामक स्थान से प्राप्त अभिलेख में त्रिरात्र यज्ञ सम्पन्न किए जाने का उल्लेख है।[३५] इन अभिलेखों से प्रमाणित होता है कि शुंग-सातवाहन काल में वैदिक यज्ञों को सम्पन्न करने की परम्परा पुन: प्रारम्भ हो गयी थी। पुष्यमित्र शुंग ने स्वयं अपने साम्राज्य को सुस्थिर करने के लिए अश्वमेध यज्ञ किया था।[३६] अयोध्या अभिलेख में पुष्यमित्र को दो अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान करने वाला (द्विरश्वमेधयाजिन:) कहा गया है।[३७] डॉ०. आर. भण्डारकर के शब्दों में, वैदिक धर्म के पुनरुत्थान का क्षेत्र पुष्यमित्र को देना चाहिए। इसमें सहयोग एक राजसूय तथा दो अश्वमेध यज्ञ करने वाले गौतमी पुत्र शतकर्णी आदि सातवाहन राजाओं ने भी किया।[३८] नयनिका के ननाघाट अभिलेख से ज्ञात होता है, उसी शासक ने अग्न्यावेध, अन्वराम्भनीयं, गवमयानं, अगीरसतीरमं, अप्तोर्यम, अंगीरसमयान, गार्गतीरात्र, छान्दोगयवमान, अत्रीरांत्र, त्रयोदरात्र, दशरात्र, आदि यज्ञ भी किए।[३९]

इस तरह शुंग एवं सातवाहन शासकों द्वारा किए गए यज्ञ वैदिक धर्म के पुनरुत्थान के सूचक हैं। यह विकास क्रमश: बढ़ते हुए अपने चरम में गुप्तकाल में दिखाई पड़ता है। हालांकि गुप्तकाल के उदय से पहले भी भारशिवों ने गंगा के तट पर दशाश्वमेध घाट पर दस अश्वमेध यज्ञ करके वैदिक धर्म को लोकप्रिय बनाया था।[४०] किन्तु इसे राजसंरक्षण प्रदान करने व उसे राज्य धर्म बनाने का कार्य गुप्तवंश के लिए ही रह गया था। यह कार्य

---

३०. मेगस्थनीज का भारतवर्षीय विवरण पृ. २
३१. वही,
३२. Ancient India, p. 240
३३. Indian Antiqueti vol58, p53
३४. Ancient India, Vol 23, p. 245
३५. Archeological Survey of India Report-1906, p.59
३६. डॉ. राजबली पाण्डेय- भारतीय इतिहास की भूमिका, पृ. १६१
३७. श्री रामगोपाल - प्राचीन भारतीय अभिलेख व संग्रह, खण्ड १, पृ. १६४
३८. Volume of Eastern and Indian Studies, pp. 29-30
३९. श्री राम गोयल पूर्वोक्त पृ. ४२४
४०. Epigraphica Indica, vol. 1, p. 269

गुप्त सम्राटों ने बखूबी किया। इस युग में तैंतीस करोड़ देवताओं और उनकी मूर्त्तियों का उद्भव हो चुका था। १६ संस्कार प्रचलित थे, जिनमें यज्ञ प्रक्रिया अभिन्न रूप से जुड़ी थी। इस युग में समुद्रगुप्त और कुमारगुप्त द्वारा अश्वमेध यज्ञ को सम्पन्न करने का प्रमाण मिलते हैं।[४१] समुद्रगुप्त ने दिग्विजय के पश्चात् अश्वमेध यज्ञ किया था। इस यज्ञ की स्मृति में प्रचलित की गई मुद्राओं में एक तरफ यज्ञ स्तम्भ में बँधे घोड़े का चित्र है तथा दूसरी तरफ समुद्रगुप्त की महारानी हाथ में चंवर लिए हुए है तथा अश्वमेध यज्ञ क्रम अंकित है।[४२] चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वारा यज्ञ सम्पन्न करने के प्रमाण काशी के दक्षिण में स्थिति नगवा नामक स्थान से उपलब्ध एक घोड़े की मूर्त्ति है, जिस पर चन्द्रगुप्त लिखा है।[४३] इसी तरह अपने पितामह तथा अपने पिता की तरह कुमारगुप्त ने भी अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न किया। इसको प्रमाणित करता एक सिक्का मिला है, जिसमें एक ओर घोड़े पर जीन कसी है तथा दूसरी ओर **अश्वमेध महेन्द्र**' लिखा है।[४४] इस संदर्भ में डॉ० राधाकुमुद मुखर्जी का यह कथन सही प्रतीत होता है कि गुप्तकाल में वैदिक धर्म, अश्वमेध यज्ञ, वाजपेय अथवा पञ्च महायज्ञ आदि यज्ञों के सम्पादन द्वारा सुरक्षित था।[४५]

वाकाटक के शासन में भी यज्ञ प्रचलित थे। हिन्दू धर्म शास्त्रों में निर्दिष्ट कई यज्ञ वाकाटकों ने किए। प्रवरसेन को सातों यज्ञ करने का श्रेय दिया जाता है और कहा जाता है कि उसने चार अश्वमेध यज्ञ किये।[४६] हर्षवर्धन के समय भी यज्ञ के प्रचलन का उल्लेख मिलता है, हर्षचरित में यज्ञों का वर्णन आया है तथा उनसे उठते धुएँ का उल्लेख अनेक स्थानों पर प्राप्त होता हैं। थानेश्वर का उल्लेख करते हुए बाण लिखते हैं कि इसकी दशों दिशाएँ यज्ञों की सहस्रों ज्वालाओं से देदीप्यमान रहती थीं।[४७] यह इस समय यज्ञ के व्यापक प्रचलन को स्पष्ट करता है। इसी तरह राष्ट्रकूट शासकों के काल में यज्ञों के प्रचलन का उल्लेख मिलता है। दन्तिदुर्ग ने उज्जयिनी या उज्जैन में '**हिरण्यगर्भ**' यज्ञ किया।[४८]

इस तरह हमें प्राचीन भारत में (प्रारम्भ से लेकर बारहवीं सदी तक) यज्ञों की महान् परम्परा का अविरल प्रवाह गतिमान् दृष्टिगोचर होता है, जिसके बीच-बीच में कुछ मंदी के दौर अवश्य आते हैं, किन्तु यह धारा कभी लुप्त नहीं हुई।

यज्ञ राष्ट्र के अतीत कालीन गौरव का नहीं, बल्कि वर्तमान एवं भावी युगों का भी गौरवपूर्ण सत्य है। इसमें अपनी शाश्वत उपादेयता के साथ सामयिक उपयोगिता भी निहित है। यही कारण है कि युग समस्याओं के समाधान में निरत कतिपय भारतीय एवं विदेशी विद्वान् भी इसके वैज्ञानिक एवं चिकित्सकीय पक्ष पर अध्ययन कर रहे हैं।

---

४१. वी.डी. महाजन- प्रा. भा. का इतिहास, पृ. ३७२
४२. डॉ. रमेशचन्द्र मजूमदार- भारतीय जन का इतिहास- वाकाटक गुप्त युग, फलक ३,१
४३. वासुदेव उपाध्याय- गुप्तकाल साम्राज्य का इतिहास, खण्ड-१, पृ. ९९
४४. वही, पृ. १०८
४५. राधाकुमुद मुखर्जी - प्राचीन भारत, पृ. ४२
४६. वी.डी. महाजन - प्राचीन भारत का इतिहास, पृ. ५७५
४७. हर्षचरित, पृ. १४७

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २००९ अङ्क १२ (पृ०२२८-२३३)

वाल्मीकिरामायणे पञ्चमहायज्ञाः

हरीश चन्द्र गुरुरानी[1]

संस्कृतिः कस्यचिदपि मानवसमाजस्य जीवनमूल्यानां शिक्षा-संस्कार-गुण-धर्म-कला-दर्शन-पर्वमहोत्सवादिनां परिचायिका वर्तते। यदि सभ्यता मानवसमाजस्य बाह्यभौतिकवातावरणं समुन्नयति तर्हि संस्कृतिः मानवस्य अन्तःस्थभावानां, संस्काराणां, ज्ञान-कर्म-दर्शन-योगादिनां च संवर्द्धनं करोति। शतपथब्राह्मणे कथितं यत् **सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा॥**[2] मानवसंस्कृतेः मूलं देशकालसीमां च त्यक्त्वा सर्वत्र एकसमानं भवति। भारतीयसंस्कृतिः हृदयेन, बुद्ध्या, निर्मलज्ञानेन च जीवनं सुन्दरं सार्थकं च कर्तुमेका विधा वर्तते। एकत्वादनन्तं प्रति, अन्धकारादालोकं प्रति, भेदादभेदं प्रति, विरोधात् संयोगं प्रति, अनेकत्वादैकं प्रति अज्ञानात् विवेकं प्रति च एषैव अस्माकं संस्कृतिर्वर्तते।[3] या संस्कृतिरस्मभ्यं भेदादभेदं प्रति शिक्ष्यति सा केवलं कल्पनामात्रन्नास्ति, अपितु एतदस्माकं प्रत्यक्षव्यवहारे वर्तते। भारतीयसंस्कृतेः वैशिष्ट्यं बहु समृद्धमस्ति समन्वयभावना, अध्यात्मम्, ज्ञानम्, पञ्चमहायज्ञाः, योगः, भक्तिकर्मोपासना पुरुषार्थचतुष्टयेतानि महत्त्वपूर्णानि तत्त्वानि सन्ति यानि मानवसमाजं मुहुर्मुहुः परिष्कुर्वन्ति।

भारतीयसंस्कृतेः अंगभूताः पञ्चयज्ञाः सन्ति, येषां सम्पादनेन मनुष्यः स्वकर्तव्यं परिपाल्य स्वजीवनं धन्यं करोति। पञ्चयज्ञानां स्वरूपमत्यन्तं सरलं सामान्यं चास्ति। किन्तु एतदन्तर्गते यज्ञधर्मस्य स्वरूपं दृग्गोचरी भवति। एते पञ्च महायज्ञाः सर्वेषां गृहस्थानां कृते अनिवार्या आसन्। एतेषु गृहस्थानां निहितत्यागः, सर्वभूतानुकम्पादीनां भावना, धार्मिकोच्चादर्शानां परिणतिर्भवति स्म। एते पञ्चमहायज्ञाः सामाजिकसांस्कृतिकदृष्ट्यापि महत्त्वपूर्णा आसन्। सर्वेषां गृहस्थानां कृते पञ्चयज्ञसम्पादनानन्तरं भोजनग्रहणस्य विधानमासीत्। शतपथब्राह्मणे भूतयज्ञः, मनुष्ययज्ञः, पितृयज्ञः, देवयज्ञः, ब्रह्मयज्ञश्च एते यज्ञाः पञ्चमहायज्ञरूपेण उल्लिखितास्सन्ति।[4]

भूतयज्ञः

भूतयज्ञस्य बलिहरणसम्बन्धे प्राचीनग्रन्थेषु विविधविधिविधानं निर्दिष्टमस्ति। आश्वालयनगृह्यसूत्रे लिखितं यद् देवयज्ञेन सम्बद्ध-देव-वरुण-वृक्ष-वनस्पति-इन्द्र-यम-विश्वदेव-राक्षसादिनां कृते भूतयज्ञे बलिविधानमस्ति। मनुः कथयति यत् गृहस्थः सावधानं भूत्वा श्वानेभ्यः, पतितादिभ्यः, रुग्णेभ्यः, काकेभ्यः, कीटेभ्यः अन्नं प्रदद्यात्।[5] भूतयज्ञः श्रेष्ठतमं व्रतमस्ति। सर्वेषां जीवानां पोषणमेतेन यज्ञेन भवति। मनुष्यः, गौ, अश्वः, श्वानः, काकं इत्यादयः प्राणिनः भूतास्सन्ति। एतेषां कृते भोजनमन्नं जलं, तृणानि इत्यादीनि वस्तूनि दत्त्वा सन्तुष्टकरणं नाम भूतयज्ञः कथ्यते। रामायणे भूतयज्ञस्य स्थाने बलिवैश्यदेवकर्मणः चर्चा अस्ति। पञ्चयज्ञेषु बलिवैश्यदेवयज्ञस्यानुपालनं

---

१ हरीश चन्द्र गुरुरानी शोधसहायकः, संस्कृतविभागः, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वारम्

२ शतपथब्राह्मण ४.२.२.२७ स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती

३ वाल्मीकि रामायण में मूल्य चेतना पृष्ठ सं.५१

४ शतपथब्रह्मणम् ११.५.६

५ मनुस्मृतिः ३.९२

रामायणकाले सर्वेषु आश्रमेषु क्रियते स्म। दण्डकारण्यनामके वने ये आश्रमा आसन् तेषु बलिवैश्यदेवयज्ञः प्रतिदिनं भवति स्म। येन तत्र वातावरणं समीचीनमासीत्।

बलिहोमार्चितं पुण्यं ब्रह्मघोषनिनादितम्।
पुष्पैश्चान्यैः परिरक्षितं पद्मिन्या च सपद्मया।।[६]

श्रीरामः पर्णकुटी प्रवेशात् पूर्वं बलिवैश्वदेवकर्म, रुद्रयागं, वैष्णवयागं कृत्वा वास्तुदोषशान्त्यर्थं मंगलपाठमकरोत्।[७]

रामस्य वनगमनानन्तरं दशरथस्य मृत्योः पश्चादयोध्यां दृष्ट्वा भरतः कथयति यत् गृहस्थानां गृहेषु मार्जनं न भवति। ते श्रीविहीना अभवन्। तेषां गृहेषु बलिवैश्वदेवकर्म न भवति, कुटुम्बीजनाः भोजनं न प्राप्नुवन्ति।[८] अयोध्यायां कौशल्यायाः पुरोहितेन सर्वेषामुपद्रवानां शान्त्यर्थं आरोग्यप्राप्त्यर्थं विधिपूर्वकमग्नौ होमं कृत्वा हवनात् अवशिष्टेन हविष्येन अग्निकुण्डस्य बहिः दश इन्द्रादि दिक्पालानां कृते बलि अर्पिता।

उपाध्यायः स विधिना हुत्वा शान्तिमनामयम्।
हुतहुतव्यावशेषेण बाह्यं बलिमकल्पयत्।।[९]

मनुष्ययज्ञः

अतिथिसत्कारः एव मनुष्ययज्ञः, नृयज्ञः, वा अतिथियज्ञः नामभिः ज्ञायते। तैत्तिरीयसंहितायां निर्दिष्टोऽस्ति यद्यदा गृहे अतिथेः पादार्पणं भवति तदा तस्मै आतिथ्यं दीयते।[१०] तैत्तिरीयोपनिषदि समावर्तनसंस्कारसमये गुरुः शिष्याय अतिथिसत्कारमुपदिशति- अतिथि देवो भव।[११] मनुः स्वग्रन्थे लिखति यत् य एकस्मै दिवसाय न तिष्ठति वा य एकरात्रि एव वासं करोति तस्मै अतिथिरुच्यते। यतोहि तस्य आगमनस्य नियता तिथिर्न भवति। न विद्यते तिथिर्यस्य सः अतिथिरुच्यते।

एकरात्रं तु निवसन्नतिथिर्ब्राह्मणः स्मृतः।
अनित्यं हि स्थितो यस्मात्तस्मादतिथिरुच्यते।।[१२]

शांखायनगृह्यसूत्रे लिखितं यत् कृषिक्षेत्रे पतितमन्नं संग्रह्य स्वजीविका संचाल्यमाणस्य, अग्निहोत्रं क्रियमाणस्य गृहस्थस्य गृहे यदि ब्राह्मणः अतिथिसत्कारं विनैव गच्छति तदा तस्य सर्वाणि पुण्यफलानि नष्टानि

---

६ अरण्यकाण्डम् १.६

७ अयोध्याकाण्डम् ५६.३१

८ अयोध्याकाण्डम् ७१.३७.३८

९ अयोध्याकाण्डम् २५.२९

१० तैत्तिरीयसंहिता १.११.२

११ तैत्तिरीयोपनिषद् १.११.२

१२ मनुस्मृति ३.१०२

भवन्ति।[१३]

रामायणे राजा दशरथः श्रद्धया गृहागतान् सर्वानतिथिवर्यान् ब्रह्मवर्चसा तेजसा तपसा प्रदीप्तवान् विश्वामित्रादयान् पुरोहितान् अतिथीन् विलोक्य राजा प्रसन्नवदनेन अर्घ्यादिभिरलंकारैः सम्पूजितवान्। अर्घ्यादिभिः पूजनानन्तरं विश्वामित्रेण कुशलक्षेमं पृष्टम्।

स दृष्ट्वा ज्वलितं दीप्त्या तापसं संशितव्रतम्।
प्रहृष्टमनसो राजा ततोऽर्घ्यमुपाहरत्॥[१४]

राजादशरथः विश्वामित्रं कथयति भवादृशमतिथिं प्राप्य मम जीवनं धन्यं जातम्। अद्य भवतः आगमनेन एवं प्रतीयते यथा कश्चिद् मृत्युशय्यायां शयमानः अमृतं प्राप्नोति, अप्राप्तवस्तु लब्धम्, कस्यचिद् महोत्सवेन हर्षोदयः संजातः तथैव भवतः आगमनमत्र जातम्।

यथामृतस्य सम्प्राप्तिर्यथा वर्षमनूदके।
यथा सदृशदारेषु पुत्रजन्माप्रजस्य वै॥
प्रणष्टस्य यथा लाभो यथा हर्षो महोदयः।
तथैवागमनं मन्ये स्वागतं ते महामुने॥
कं च ते परमं कामं करोमि किमु हर्षितः।
पात्रभूतोऽसि मे ब्रह्मन् दिष्ट्या प्राप्तोऽसि मानद।
अद्य मे सफलं जन्म जीवितं च सुजीवितम्॥[१५]

यदा सीतया सह रामलक्ष्मणौ तपसाश्रममण्डलं प्रविष्टवन्तः तदा सर्वे तपस्विनो सीतारामयोः लक्ष्मणस्य च सत्कृतिं कृत्वा मङ्गलमाशीर्वादं प्रदत्तवन्तः। प्रियान् अतिथीन् पर्णशालायां संन्यवेशयन् सर्वभूतहितेरताः महर्षयः।[१६]

अत्रैनं हिमहाभागाः सर्वभूतहितेरताः।
अतिथिं पर्णशालायां राघवं संन्यवेशयन्॥[१७]

भगवान् रामः भारद्वाजाश्रममतिथिं रूपेण समागतः। मुनिना रामाय आतिथ्यसत्काररूपेण गौ, अर्घ्यं, जलं समर्पितम्।[१८] एवं प्रकारेण अतिथिः प्रसंगे हनुमान् मैनाकशिखरे क्षणमेकं तिष्ठति। मैनाकः हनुमन्तमतिथिः मन्यते। सः हनुमन्तं कथयति यत् धर्मपरायणस्य विज्ञपुरुषस्य कृते सामान्यजनोऽपि अतिथिरूपेण पूजनीयो भवति। भवत्सदृशः असाधारणपुरुषः शौर्यवान् तु नूनमेव पूजनीयो वन्दनीयो वर्तते।

---

१३ शांखायनगृह्यसूत्रम् २.१७.१

१४ बालकाण्डम् -१८.४३

१५ बालकाण्डम् १८.५०-५३,

१६ अरण्यकाण्डम्-१.१५

१७ अरण्यकाण्डम् १.१५

१८ अयोध्याकाण्डम् ५४.१७-१८

अतिथिः किल पूजार्हः प्राकृतोऽपि विजानता।
धर्मं जिज्ञासमानेन किं पुनर्यादृशो भवान्॥[19]

पितृयज्ञः

मनुना पितृयज्ञसम्पादनस्य त्रयो विधयः प्रस्तुताः -१. तर्पणेन, २. बलिहरणेन, ३. प्रतिदिनश्राद्धकर्मणा च। पितृयज्ञस्य तात्पर्यं प्रतिदिवसं श्राद्धे पिण्डदानं न भवति अपि च न हि पार्वणश्राद्धविधीनां पालनेनैव भवति। पितृयज्ञः मानवजीवने महत्कर्तव्यं वर्तते। मातृ-पितृ-गुरुणामाज्ञायाः पालनं, तेषां मृत्योरनन्तरं तैः निर्दिष्टाचरणस्य निर्वहनं, तेषां कीर्तिं यशं च उत्तरोत्तरप्रसारणं नाम पितृयज्ञः ' वर्तते।

रामायणे वाल्मीकिना कथितं यत् यः पुत्रः पितुः दोषान् सम्यक् करोति सः लोके सन्ततिर्मन्यते, यः एतद्विपरीतं करोति तस्मै सन्ततिर्न वक्तुं शक्यते।

पितुर्हि समतिक्रान्तं पुत्रो यः साधु मन्यते।
तदपत्यं मतं लोके विपरीतमतोऽन्यथा॥[20]

वाल्मीकिनापि उक्तं यत् स एव पुत्रो वर्तते यः पुन्नाम नरकात् पितृणामुद्धारं करोति अतस्तस्मै पुत्रोच्यते, सः एव पुत्रोऽस्ति यः सर्वतः पितृणां रक्षामाचरति। रामायणे कथितं यत् मानवैः गुणवान्, कीर्तिमान् बहु पुत्राणामिच्छा कर्तव्या। तेषु कश्चिदेकः गयायाः यात्रां कुर्यात्, येन पितृणामुद्धारो जायते।

पुन्नाम्नो नरकाद् यस्मात् पितरं त्रायते सुतः।
तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः पितॄन् यः पाति सर्वतः॥
एष्टव्या बहवः पुत्रा गुणवन्तो बहुश्रुताः।
तेषां वै समवेतानामपि कश्चिद् गयां व्रजेत्॥
एवं राजर्षयः सर्वे प्रतीता रघुनन्दन।
तस्मात् त्राहि नरश्रेष्ठ पितरं नरकात् प्रभो॥[21]

देवयज्ञः

अग्नौ स्वाहा शब्देन हविः, समिधा अर्पणमेव देवयज्ञः मन्यते। एतदर्थं मनुना होमाय देवयज्ञः उक्तम्। याज्ञवल्क्यस्य कथनमस्ति यत् प्रथमं देवपूजा तदनन्तरं देवयज्ञः कर्तव्यः।[22] समेषां स्मृतिग्रन्थानां विधानमस्ति यत् प्रत्येकगृहस्थः प्रतिदिनं प्रातः सायं च यज्ञं कुर्यात्। अस्य देवयज्ञस्योद्देश्यं भवति देवाः प्रसन्नाः भवेयुः, येन वयं मंगलमयानि अभिष्टानि प्राप्नुयाम। रामायणे श्रीरामः लक्ष्मणश्च विश्वामित्रस्य यज्ञे प्रविष्टवन्तौ। श्रीरामलक्ष्मणाभ्यां विश्वामित्रस्याश्रमे रात्रिविश्रामं कृत्वा प्रातःकाले स्नानं विधाय शुद्धमनसा प्रातःकालस्य सन्ध्योपासनायां नियमपूर्वकं

---

१९ सुन्दरकाण्डम् १.११९

२० अयोध्याकाण्डम् १०६.१५

२१ अयोकाण्डम् १०६.१२-१४

२२ याज्ञवल्क्यस्मृतिः १.१००

सर्वश्रेष्ठस्य गायत्रीमन्त्रस्य जपं कृतम्। जपं प्रपूर्य अग्निहोत्रं विधाय विश्वामित्रस्य चरणवन्दनां कृतवन्तौ।[२३] विश्वामित्रस्य रामलक्ष्मणयोः सन्ध्योपासनाया उल्लेखः रामायणे प्राप्यते।[२४] श्रीरामस्य वनगमनसमये कौशल्या पुष्पमालादिभिः, गन्धादिभिः, विविधोपचारैः, स्तुत्यादिभिश्च देवपूजनं करोति। सा श्रीरामस्य मंगलकामनायै अग्निमानीय विदुषा ब्राह्मणा विधिपूर्वकं मखं कारयति।[२५] रामायणे सुयज्ञस्य मध्याह्नकाले सन्ध्योपासनायाः[२६] श्रीरामस्य सन्ध्योपासनायाश्च[२७] वर्णनमस्ति। रामायणे देवयज्ञकर्मणि आहवनीय त्रिविधाग्निनामुल्लेखः प्राप्यते।[२८] एवं प्रकारेण देवयज्ञ सम्बन्धी सन्ध्योपासनायाः अग्निहोत्रशब्दानां प्रयोगः पदे-पदे दृश्यते।[२९]

ब्रह्मयज्ञः

ब्रह्मयज्ञविषये सर्वेषु ब्राह्मण-गृह्यसूत्र-धर्मसूत्र-स्मृतिग्रन्थेषु च उक्तं यत्। प्रतिदिनं वेदाध्ययनमेव ब्रह्मयज्ञो वर्तते।[३०] यः प्रतिदिनं स्वाध्यायं करोति लोकेऽस्मिन् सः त्रिगुणितं फलमाप्नोति। अस्मिन् यज्ञे देवाय दुग्धं, घृतं, सोमरसं च प्रदीयते। येन देवः प्रसन्नं भूत्वा ब्रह्मयज्ञकर्तुः कृते सुरक्षां, सम्पत्तिं, आयुं, बीजं, सत्त्वं, सर्वाणि मंगलद्रव्याणि च प्रददाति। ब्रह्मचर्यपूर्वकं मातापित्रोः गुरूणामाचार्याणां च सेवा तेषामाज्ञायाः पालनं, तेभ्यः निष्ठापूर्वकं वेदाध्ययनं करणमेव ब्रह्मयज्ञः वर्तते। रामायणे श्रवणकुमारस्य मृत्युं ज्ञात्वा तस्य पिता भणति यत् इदानीमहं वेदपुराणादिनां स्वाध्यायं कुर्वन् कस्य मुखात् शास्त्रचर्चां श्रोष्यामि।[३१] श्रवणकुमारस्य पिता कथयति भो पुत्र! स्वाध्यायेन तपसा समेषां प्राणिभूतानामाश्रयभूतं ब्रह्मणः प्राप्तिर्भवति, त्वमपि प्राप।[३२]

भगवान् रामो वेदज्ञाने परिनिष्ठितो वर्तते, अतः स्वाध्यायः स्वल्पोऽस्ति। हनुमान् सीतया रामस्य वेदज्ञानविषये वदति यत् श्रीरामः वेदशिक्षां सम्यक् जानाति। विद्वत्सु तस्य महत्सम्मानं वर्तते। सः चतुर्षु वेदेषु, षड् वेदाङ्गेषु, धनुर्वेदे च निष्णातो विद्वानस्ति।[३३] माल्यवान् रावणं युद्धं मा करोतु इति परामर्शं प्रददन् कथयति यदेते द्विजाः प्रमुखानां यज्ञानामायोजनं कुर्वन्ति, उच्चस्वरेण वेदपाठं कुर्वन्ति च।[३४] वेदानामुच्चस्वरपाठेन सह स्वाध्यायभावः

---

२३ बालकाण्डम् २९.३१-३२

२४ बालकाण्डम् ३०.२६

२५ अयोध्याकाण्डम् २५.२६-२७

२६ अयोध्याकाण्डम् ३२.३

२७ अयोध्याकाण्डम् ५३.१

२८ अयोध्याकाण्डम् १३.२३

२९ अयोध्याकाण्डम् ६४.३३

३० शतपथब्राह्मणम् ११.५.३-८

३१ अयोध्याकाण्डम् ६४.३२

३२ अयोध्याकाण्डम् ६४.४३

३३ सुन्दरकाण्डम् ३५.१४

सन्निहितो वर्तते।

ब्रह्मणा रामस्य स्तुतिं कुर्वन् कथ्यते यत् भवानेव सहस्रशाखास्वरूपं शृंगैः, कोटिविधिवाक्यस्वरूपं मस्तिष्कैश्च युक्तः वेदस्वरूपमहावृषभो वर्तते। भवानेव त्रयाणां लोकानामादिकर्ता स्वयंभूर्वर्तते। भवानेव सिद्धः साधकानामाश्रयो पूर्वजो वर्तते। यज्ञः, वषट्कारः, ओंकारश्चापि भवानेव वर्तते। श्रेष्ठपरमात्मा अपि भवानेव विद्यते।

सिद्धानामपि साध्यानामाश्रयश्चापि पूर्वजः।
त्वं यज्ञस्त्वं वषट्कारस्त्वमोंकारः परात्परः॥[35]

एवं प्रकारेण श्रीराम एव ब्रह्म अस्ति, श्रीराम एव स्वाध्यायो वर्तते, श्रीराम एव सर्वाः विद्याः वेदश्चास्ति। वस्तुतः पञ्चयज्ञानां सारोऽपि स्वाध्याय एव वर्तते। स्वाध्यायं विना कश्चिदपि मनुष्यः पञ्चयज्ञानां, सांस्कृतिक-सामाजिक-आध्यात्मिकमहत्त्वानां स्वरूपं ज्ञातुं न शक्नोति।

---

३४ युद्धकाण्डम् ३५.१९

३५ युद्धकाण्डम् ११७.१८-१९

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २००९ अङ्क १२ (पृ०२३४-२३८)

व्यापार-प्रबन्धने मूलतत्त्वानि

सुश्रुतः सामश्रमी[1]

कस्यापि मानवस्य, समाजस्य राष्ट्रस्य वा रक्षणायाथवा धारणाय सप्त तत्त्वानि अनिवार्याण्यभिहितानि अथर्ववेदस्य द्वादशकाण्डस्य प्रथमसूक्तस्य प्रथमे मन्त्रे। स च मन्त्र इत्थमस्ति।

सत्यं बृहद् ऋतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।

सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरूं लोकं पृथिवी नः कृणोतु।[2]

बृहत् सत्यम्, बृहद् ऋतम्, उग्रम्, दीक्षा, तपः, ब्रह्म यज्ञश्चेमानि तत्त्वानि पृथिवीं तत्रस्थान् प्राणिनश्च धारयन्ति रक्षन्ति पुष्णन्ति च। या भूमिमाता प्राणिनां भूतकालस्य वर्तमानकालस्य रक्षिका (पत्नी) वर्तते सा एव पृथिवी भविष्यति सर्वविधं प्रकाशं करोति, मार्गदर्शनं करोतिं।

अत्र यानि तत्त्वानि राज्यस्य राष्ट्रस्य वा धारकाणि सन्ति तान्येव व्यापारप्रबन्धने मूलतत्त्वानि नात्र संशयावकाशः। व्यापारस्य लक्ष्यमस्ति धनार्जनम्। धनं विना जन्तूनां जीवनं नैव चलति। पुरुषः अर्थस्य दासोऽभिहितः अर्थस्य पुरुषो दासः। पुरुषार्थचतुष्टये अर्थस्य विशिष्टं स्थानं, धनं विना किमपि कार्यं कर्तुं न शक्यते। अत एव नीतिग्रन्थेषु स्पष्टमुदीरितं सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ते पुनरपि तत्रोपदिष्टं यत् धनान्यर्जयध्वं धनार्जनोपायेषु व्यापारोऽपि महत्त्वपूर्णं साधनम्। वस्तुतस्तु कस्यचिदपि व्यापारस्य मूले धनार्जनेच्छैव प्रधानतया दृश्यते। धनार्ज़नप्रबन्धने व्यापारप्रबन्धनमपि जायते। धनार्जनं व्यापार प्रबन्धनञ्च परस्परं भावयतः।

१. सत्यम्

तदर्थं प्रथमं तत्त्वमस्ति सत्यम्, सत्येनैव मनसः शुद्धिर्जायते, यथा चाह मनुः मनः सत्येन शुध्यति[3] मनश्च संकल्पविकल्पात्मकं कथ्यते। मनः यदि सत्येन शुद्धं भवति तदा व्यापारे स्वतः शुचिता समायाति। शुचितां विना शौचं विना वा किमपि कार्यं साधुतया न सम्पादयितुं शक्यते। शौचस्य गणना मनुना दश धर्मेषु कृता खलु। शौचं पञ्चविधं प्रोक्तं शास्त्रेषु, वाक्शौचं, मनःशौचं, अंगशौचम्, अर्थशौचम्। एतेषु सर्वेषु अर्थशौचं सर्वश्रेष्ठं भणितम्-

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं विशिष्यते।[4]

विदुरो भणति योऽर्थतः शुचिः स शुचिः न मृद्वारि शुचिः अर्थात् यः अर्थेन पवित्रोऽस्ति अर्थव्यवहारे स्वच्छोऽस्ति स एव वस्तुतः शुचिरस्ति, मृदा वारिणा या शुचितास्ति सा वृथा वर्तते चेत् धनतः शुचिता नास्ति। यः खलु वित्तव्यवहारे कृष्णः स खलु हृदयेनापि कृष्णो मन्यते-वित्तकृष्णो हृदा कृष्णः तस्मात् अर्थशुचिता सर्वश्रेष्ठा शुचिता, सा च मनसि शुचिते सति तिष्ठति, मनश्च सत्येन शुद्धं भवति। अतः सत्यं व्यापारस्य प्रथममूल्यम्।

वाचा यत् वचनं दत्तम्, लेखन्या वा यत् प्रतिज्ञातं निर्णीतं वा, तस्य पालनं चेत् क्रियते तर्हि व्यापारः सततं

---

१. सुश्रुतः सामश्रमी, प्राध्यापक संस्कृत-विभाग, आर्य स्नातकोत्तर महाविद्यालय, पानीपत हरियाणा।

२ अथर्व० १२/१/१

३ मनु०५.१०९

४ मनु०५.१०६

वृद्धिं याति, समृद्धिं प्रति नयति। यदि सत्यप्रतिज्ञां कृत्वासत्यमाचर्यते, वचनभंगो विधीयते तर्हि व्यापारहानिः सुनिश्चिता।

अद्यतनकालेऽपि प्रत्यहमसंख्यरूप्यकाणां व्यापारो मुखवचनेनैव भवति, यदि मुखे सत्यमस्ति तर्हि उत्तरोत्तरं लाभ एव नो चेत् व्यापारे हानिः पतनं चानिवार्यं नाम। वेदेषु स्पष्टं कथितं सत्येनोत्तभिता भूमिः।[5] अतः व्यापारे सत्यं सर्वात्मना अनिवार्यम्। यत्र सत्यमस्ति तत्रैव विजयते, सत्यमेव जयते नानृतम् यस्मिन् कर्मणि सत्यं नास्त्यसत्यमस्ति तत्र केवलं पतनमेव पतनम्। अत एव महर्षिदानन्दः आर्यसमाजस्य दशनियमेषु पञ्चसु तावत् सत्यस्य प्रयोगं करोति पञ्चमे नियमे च स्पष्टं लिखति-**'सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य का विचार करके करने चाहियें।'**[6] तत्रैव चतुर्थे नियमे प्रावोचत्-**'सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा अद्यत रहना चाहिये।'**[7] तत्सत्यं च बृहत् स्यात्। नीतिग्रन्थेपाषु सत्य सर्वश्रेष्ठो धर्मः, पापञ्च परमसत्यं भणितम्- **'नहि सत्यात् परो धर्मो नानृतात् पातकं परम्।'**

२. ऋतम्

व्यापारप्रबन्धनस्य द्वितीयं मूलतत्त्वं ऋतमस्ति। **'ऋतम्'** इति पदम् ऋगतौ धातोर्निमितं भवति। गतेस्त्रयोऽर्थाः ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्चेति। व्यापारे सर्वविधं ज्ञानमनिवार्यम्। के व्यापारसिद्धान्ताः, किं किं तत्र करणीयं का कीदृशी च योजना निर्मातव्या, कीदृशानि वस्तूनि संगृह्याणि, कियद्धनं योजनीयं कुतः धनं प्रापणीयं केन सह संवादः करणीयः, कस्य कथञ्च सेवाः ग्राह्या इत्यादि ज्ञानमावश्यकम्।

गतिशब्दस्य द्वितीयोऽर्थः गमनमस्ति, तत्र च **'चरैवेति चरैवेति'** इत्यस्य भावः स्पष्टः। आशयोऽयमस्ति यत् कर्म करणीयं, परिश्रमः करणीयः, परिश्रमं विना किमपि कार्यं न सिध्यति। जीवने सत्यता चेदस्ति किन्तु परिश्रमः नास्ति तर्हि कार्यं न सिध्यति, केवलम् उद्यमेन हि सिध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः। उद्योगी, उद्यमी परिश्रमी वा पुरुष एव लक्ष्मीं लभते। उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः। व्यापारप्रसङ्गे यथा यथाधिकः परिश्रमो विधीयते तथा-तथाधिकं फलं प्राप्यते। ऐतरेय-ब्राह्मणे ७-१५ मध्ये एकः रोचकः प्रसंगः आयाति तत्र स्पष्टमुदीरितं यत् यः परिश्रमेण श्रान्तः नास्ति स श्रियं न लभते नानाश्रृान्तस्य श्रीरस्ति परमेश्वरः तस्यैव सहायकः भवति यः कार्यं करोति परिश्रमं करोति इन्द्र इच्चरतः सखा।[8]

यः कार्यं विहाय उद्यमं परित्यज्य उपविशति तस्य ऐश्वर्यं भाग्यं वैभवं वापि उपविशति। यः उत्तिष्ठति तस्य भाग्यमैश्वर्यं वाप्युत्तिष्ठति। यः शेते तस्य भाग्यमपि शेते, यः जागर्त्ति तस्य भाग्यमपि जागर्त्ति, तस्मात् गमनं करणीयं कार्यमाचरणीयं, परिश्रमो विधेयः।

शेते भग आसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः।
शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगः॥[9]

अत्र भगशब्दः ऐश्वर्यवाचकोऽपि वर्त्तते, स च षड्विधः

---

५ ऋ०१०.८५.१
६ आर्यसमाज के दश नियम
७ आर्यसमाज के दश नियम
८ ऐतरेय-ब्राह्मण ७-१५
९ ऐ ब्रा. ७-१५

ऐश्वर्यस्य समस्तस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।

ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥

परिश्रमी व्यापारी, धर्मं यशः श्रियं सर्वविधं वैभवं ज्ञानादिकं च प्राप्नोति, यस्मिन् व्यापारे कर्म नास्ति ऋतं नास्ति तत्र व्यापारिणः सर्वस्वं विनश्यति।

पुनरपि तत्रैव ब्राह्मणे निर्दिष्टं **'चरन् वै मधु विन्दति'**[१०] मधुपदमानन्दवाचकं, पृ प्रीतौ धातोश्च व्यापारः निर्मितः, धनप्राप्त्या अन्यवस्तुप्राप्त्या वा आनन्दप्राप्तिः व्यापार एवास्ति। अतः यः श्रमं करोति स धनं सुखादिकं च प्राप्नोति। ब्राह्मणस्यास्मिन् भागे उपदिष्टं चतुर्वारं **'चरैवेति चरैवेति'** इदमेव ऋतं पदे संगुप्तम्।

ऋतपदं दृढसिद्धान्तानामपि वाचकं, व्यापारविषये ये केऽपि सिद्धान्ताः सन्ति तेषां स्वाध्यायधिया चिन्तानमपि कार्यमेव। तच्च ऋतं परिश्रमः कार्यं वा बृहद् स्यात् प्राचुर्येण स्यात्। महान् परिश्रमः कार्यः। सिद्धान्तानां दृढतया पालनं करणीयमित्याशयः। ऋतं पदं व्यवस्थाया अपि द्योतकन्नु।

३. उग्रम्

'उग्रम्' पदस्याशयोऽस्ति क्षत्रियस्य तेजः उग्रता वा उग्रं वै क्षत्रियस्य रौद्रं तेजः व्यापारे तेजसः महती आवश्यकतास्ति, नीतिग्रन्थे लिखितं **'साहसे श्रीर्वसति'** यः दुःसाहसं करोति स व्यापारी एव धनं लभते, यः सुखेन सर्वं प्राप्तुमिच्छति सः अन्ततः दुःखं लभते, यः साहसं कृत्वा विपत्तिमाह्वयति विपत्स्वपि विघ्नेष्वपि कार्यं न त्यजति स सर्वविधं लाभं लभते।

विघ्नास्तु प्रत्येकस्मिन् कर्मणि समायान्ति, तेष्वपि यः व्यापारी संघर्षं करोति स सर्वत्र जयं लभते। अत एव नीतिग्रन्थे त्रिविधा जनाः कथिताः सन्ति। प्रथमे ते ये विघ्नभ्येन कार्यमेव नारभन्ते, द्वितीयाः जनाः ते सन्ति ये कार्यारम्भं तु विदधति किन्तु विघ्नेषु समुपागतेषु त्यजन्ति, ते एव मध्यमपुरुषाः भवन्ति, प्रथमकोटिकः जनाः अधमाः नीचाः वा निगद्यन्ते, ते च उत्तमाः जनाः व्यापारिणो वा भवन्ति ये विघ्नैः हन्यमाना अपि कार्यं व्यापारं न त्यजन्ति।

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः
प्रारभ्य चोत्तमजनाः न परित्यजन्ति॥[११]

यः व्यापारः प्रारब्धः तस्य पूर्णता कथंचिदपि प्रापणीया, विपत्सु न भेतव्यम्,-कदाचित् हानिरपि भवति तदा धैर्यं न त्याज्यम्। **'त्याज्यं न धैर्यं विधुरेऽपि काले'**।[१२] इत्येवोग्रपदस्य संक्षेपतः आशयः।

४. दीक्षा-

दीक्षा चतुर्थं तत्त्वमस्ति। तस्यार्थोऽस्ति संकल्पशक्तिः, व्यापारे कश्चन नु कश्चन संकल्पः आवश्यकः, उद्देश्यनिर्धारणं करणीयम्। किं करणीयं कथं करणीयं किमर्जनीयं, कति चार्जनीयं कति समये चार्जनीयमिति

---

१० ऐ.ब्रा. ७-१५

११ पञ्चतन्त्र

१२ पञ्चतन्त्र

लक्ष्यनिर्धारणं तदर्थञ्च समर्पितमनसा प्रयास एव दीक्षा भवति। प्रत्येकस्मिन् कर्मणि लक्ष्यप्राप्तौ विघ्नाः समायन्ति, विपदः परिवेष्टयन्ति तथापि साहसं न त्याज्यं, लक्ष्यं न विस्मरणीयं, लक्ष्यपूर्त्यै संकल्पो नैव हेयः, तदा सफलता एव सफलता मिलति, संकल्पवान् जन एव वीरः कथ्यते वीर एव च वसुन्धरां भुनक्ति, वीरभोग्या वसुन्धरा।

न्यायमार्गानुसरणेन संकल्पपूर्तिः सुनिश्चिता, न्यायमार्गः सत्यमाश्रयते, यत्र सत्यतास्ति तत्र विजयश्रीरस्ति यत् प्रारब्धं तत् पूरणीयमेव। यस्य पर्वतस्यारोहरणमारब्धं तस्य शिखरं प्राप्तव्यमेव इति संकल्प एव दीक्षा विद्यते। व्यापारे लक्ष्यं यदि स्पष्टं परिश्रमश्चेत् महान् तत्प्राप्तुं, तर्हि तस्य प्राप्तिः सरला एव सरला। दीक्षां विना संकल्पं विना सर्वं दुष्करं नाम।

५. तपः

तपः पञ्चमं तत्त्वं व्यापारकार्ये। तपः शब्दस्यार्थः सहनशक्तिः अस्ति। क्षमावृत्तिः धैर्यम् इत्यनयोः परिचायकः तपःशब्दो वर्तते यत् कर्मापि क्रियते, तत्र कदाचित् हानिः, कदाचित् लाभः, कदाचित् जयः कदाचित् पराजयः, केनापि कर्मणा क्वचित् यशः प्राप्तिः क्वचित् च अपयशो भवति। सर्वासु परिस्थितिषु अविकृतिरेव तपः **विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः**[१३] या कापि परिस्थितिरागच्छति तस्यां धैर्यं न त्याज्यम्। कर्तव्यमार्गो न हेयः। लक्ष्यं न विस्मरणीयम्। लक्ष्यप्राप्तौ कष्टं यत् आगच्छति तत् सोढव्यमेव, बाधा या सामायाति सा दूरीकरणीयैव। कदाचित् कटुशब्दाः, कठोराः वा शब्दाः श्रूयन्ते श्रावयन्ते चं, तत्रापि विनम्रता न हेया, सर्वस्थितिषु समान्यव्यवहार एव तपो वर्त्तते। यः वणिक् साध्वसाधु वा श्रुत्वापि शान्तः तिष्ठति, स चातुर्येण सर्वाणि कार्याणि साधयति।

६. स्वाध्यायः

स्वाध्याय एव ब्रह्म कथितम् स्वाध्यायो वै ब्रह्म तत् ब्रह्म च षष्ठं तत्त्वं व्यापारमार्गे। स्वाध्यायपदस्यार्थद्वयं स्वस्याध्यायः। व्यापारे यदस्माभिः कार्यं विधीयते तस्य प्रत्यहं समीक्षा विधेया। लाभहानिचिन्तनं करणीयम्। लक्ष्यं यन्निर्धारितं तत् प्राप्यते न वा, का बाधा समायाति इति चिन्तनीयम्, कथं तस्या निराकरणं विधातव्यमित्यपि सततं निश्चेतव्यम्। स्वस्य कार्याणामध्ययनं स्वाध्यायस्य प्रथमोऽर्थः। नीतिशास्त्रकारा वदन्ति।

ब्राह्मे मुहूर्त्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्[१४] प्रत्यहं प्रातः काले अर्थविषये चिन्तनं विधेयम्, धर्मादर्थश्च कामश्च[१५] इति विचार्य चिन्तनीयं यदस्माकं व्यापारः धर्मानुकूलं चलति न वा सत्यमनुसरति न वा।

शास्त्राणामध्ययनमपि स्वाध्यायः कथ्यते यः व्यापारः क्रियते तस्य सूचकानि यानि पुस्तकानि स्युः तानि पठनीयानि। पुस्तकानि चेन्न सन्ति तर्हि ये तत्र ज्ञातारो व्यापारिणः सन्ति, ये तस्मिन् व्यापारे अनुभवशीलाः नराः सन्ति तैः सह परामर्शः करणीयः। तदनुसारं चाचरणीयम्। सर्वमिदं स्वाध्यायस्यैवाङ्गम्। शास्त्राध्यनमपि स्वाध्यायो भण्यते। व्यापारिणां चासावपि विधेयस्तेन मनः शान्तं तिष्ठति, सत्यासत्यमार्गः प्रशस्तो भवति यस्य वस्तुनः विषयस्य व्यापारो विधीयते तद्विषये संततं सोपानमारूढाः कथं व्यवहरन्ति इति तेषां कार्यविधिं ज्ञात्वा निर्णेतव्यं तथा चाचरणीयम्।

---

१३ कालिदास

१४ मनु०४.९२

७. यज्ञः

यज्ञः अन्तिमं तत्त्वं व्यापारस्य। यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु इति धातोः यज्ञशब्दो निर्मीयते। देवपूजा इत्यनेन ये वृद्धाः सन्ति व्यापारविषये अध्येतारः ज्ञातारो वा सन्ति, येषां माध्यमेन व्यापारो वृद्धिं याति तादृशाः जनाः सेव्याः पूजनीयाश्च तेषां मार्गदर्शनं प्राप्तव्यम्। यद्धनमधिकं योजनीयमस्ति तत्रोदारधिया धनदानं करणीयम्। धनेन धनमायाति। संघर्षः प्रतिस्पर्धा च उभौ अनिवार्यौ। संघर्षे न भेतव्यम्, प्रतिस्पर्धायाः पलायनं न करणीयं, धनं देयमस्ति चेत् अधिकाधिकं दातव्यम्, स्वपात्रता अर्जनीया। पात्रत्वात् जनः धनं लभते।

संगतिकरणमपि आवश्यकम्, कदाचित् एकेन जनेन महान् निवेशः न कर्त्तुं शक्यते। चत्वारः पञ्चाधिका वा मिलित्वा धननिवेशं कुर्युः।

अल्पानामपि वस्तूनां संहतिः कार्यसाधिका।
तृणैर्गुणत्वमापन्नैः बध्यन्ते मत्तदन्तिनः॥

वेदस्याप्ययमादर्शः **संगच्छध्वं संवदध्वम्**'[१६] ये व्यापारधियो जनाः सन्ति तैः सहालपनं संगतिश्च विधेया एव। बहवो जनाः मिलित्वा संगठिताः भूत्वा यज्ञभावनया व्यापारं कुर्युः तदा लाभ एव।

सम्प्रति शेयरयुगं (अंशयुगम्) चलति, तत्रापि नैकेषां जनानां रूप्यकाणि यान्ति, सर्वे लाभं लभन्ते, धैर्यत्यागे सति कदाचित् हानिरपि जायते, साऽपि सोढव्या, य अन्येषां जीवनं गृहीतुमिच्छन्ति तैः स्वजीवनदानेऽपि प्रमादो न विधेयः।

यज्ञः त्यागवृत्तिं शिक्षयति, त्यागवृत्त्या सर्वेषामेव लाभः। अतः यज्ञोऽपि महत्त्वपूर्णं तत्त्वं व्यापारविधौ। ये व्यापारिणः व्यापारप्रबन्धने एतेषां सत्यम् ऋतोग्रदीक्षा-तपः-ब्रह्म-यज्ञानां मूलतत्त्वानां प्रयोगं विदधति ते लाभमेव प्राप्नुवन्ति। भूमिः तेषामेव भूमिपुत्राणां रक्षां करोति। राजा शासकः शासनं वा तेषामेव नराणां साहाय्यमाचरति।

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २००९ अङ्क १२ (पृ०२३९-२४२)

STRESS MANAGEMENT AND CONCEPT OF ANAESTHESIA IN AYURVEDA

Dr. S.K.Joshi[1]

Stress is a state of physical or mental tension or strain resulting from a number of factors, which tend to change an existent equilibrium of brain. Stress is an unavoidable in human being and is a especially complex phenomenon in present modern technological society. It is been linked with coronary heart disease, psychosomatic disorders and various other mental and physical problems. Incidence of stress is increasing day by day in the society through out the world. It is more pronounced in the so-called advanced society then the orthodox, society. Ischaemic heart disease, hypertension, anxiety neurosis, headache, migrain, insomnia, thyrotoxicosis, Irritable bowel syndrome, chronic peptic ulcers and diabetes are most common stress disorders.

Psychosomatic stress plays and important role in the manifestation of these diseases. Excessive stimuli received through different sense organs lead to increased activity of the psychic center of the brain. Mental strain leads to excessive liberation of acetylcholine, catacholamine etc neurohumors from brain. Which cause many systemic diseases. Hypertension is common disorder of stress and strain in human life. The stress is maximum in the middle age of the life span. Changing lifestyle, worries and responsibilities at this age are supposed to create the condition of stress.

This occurs as a result of increased sympathoadrenomedullary activity of limbic and hypothamic region of brain. Through this process catecholamines level goes high which produce general vasoconstriction and hypertension. In many factors of hypertension, the hypothalamic factor plays an important role. These activities also lead to the various functional disorders of heart. Cardiac neurosis, paroxysmal tachycardia and neuro circulatory asthenia are commonest ailments of heart due to stress.

One cannot prevent the stress but can prevent the effect of stress on the body and mind. It is very important how one is responding to the situation of stress? Usually the treatment of stress consists of a combination of counseling or psychotherapy, meditation, *pranayama* and other *yogic* practices especially *marma-chikitsa*.

Numerous drugs, foods, and food supplements, health drinks are also used for the stress management. In Indian medicine, many herbs are known as anti-stress and nervine tonic. *Brahmi, Manduka parni, Sankhapuspi, Jatamansi, Tagara* and *Vacha* are commonly used herbs for the stress management.

A number of surgical operations are exclusively discussed in *Susruta Samhita*. It is apparent that compression of any nerve may lead to the numbness, loss of sensation and pain of the particular part of the body for a moment or for some time. In *Sharira sthana*, chapter six of *Susruta Samhita* it is mentioned that the injury to the *marmas* may lead to loss of sensation of touch, taste and other sense organs.

It is undoubted that the advances of anesthesia have promoted the accomplishments of surgery ever. Major surgical operations on different organs of body are carried out only with the help of anesthesia. For any major operation muscle relaxation, controlled respiration and

---

1. Dr. S.K.Joshi Additional Medical Superintendent, Govt. Ayurvedic College and Hospital, Gurukul, Kangri. Hardwar

management or regulation of vital functions of the body organs are necessary along with the proper anesthesia. Current anesthesiology runs on persistently with the search for less harmful or total harmless anesthetic drugs. Technique of anesthesia also changed in many ways in the same direction. In the practice of anesthesia, wide use of local and regional anesthesia is popularized now a day to avoid the dangers and unwanted sequel of general anesthesia or death. Present use of local anesthesia is directly connected with the discovery of cocaine. Afterwards the morphine was added to cocaine for the wide approach. The use of procaine considerably improved regional and spinal anesthesia. The methods of regional anesthesia were developed along with the infiltrating anesthesia. In recent time both infiltration and conduction local anesthesia were not only improved but also applied combined in major surgical cases, particular intra abdominal surgery.

In *Bhojaprabandha*, the administration of some kind of anesthetic by inhalation before the surgical operation can be ascertained. The medicine is named as *Moha churna* and the reference is related to the operation of the cranium. The ingredients of the anesthetic agent are not enumerated in the text. There is no clear description of anesthesia in the texts of *Ayurveda*, but a number of major and minor operative procedures are mentioned descriptively in the *Susruta Samhita*. It is unbelievable that such major operations can be done without any anesthetic procedure. As we know that *Susruta Samhita* is basically a surgical text, and may not have the description of anesthesia in it. For identifying the concept of anesthesia in *Ayurveda* one has to explore other contemporary medical and technical literature. In those days during the operative procedures the surgeon was very much aware of the utility of anesthetic agents to produce insensibility to pain stimulus. *Maharshi Charaka* and *Susruta* both accepted the use of wine to produce the insensibility to pain. In reference to *Mudha garbha chikitsa, Charaka* has mentioned that wine should be prescribed after the extraction of dead fetus before the full term of pregnancy to alleviate the pain of operative process.

Susruta remarks, "It is mandatory that the patients who are addicted to drink and those who can not bear pain should be fed the alcohol containing drink before the operation. *Surasára, Ahiphena* and *Bhanga* are the most common substances used to produce insensibility to pain in those days. Especially in reference to the alcohol it is mentioned as *madakari.* Concentrating the views on the meaning of *Mada* the *Charaka* has mentioned that it is the state of relaxation and appraisal.

The fishermen in many remote areas of Himalayas use a number of folk medicines to sedate the fishes. The bark of Tejowati / Tumburu (Zanthoxylum armatum) is used for the same purpose. Possibly effective anti stress and anaesthetic drugs are as follows.

Manduk Parni (Brahmi)

FamilyUmbelliferae

Latin name-Centella asiatica (Linn.) Urban

Chemical Composition- It contains Hydrocotyline, $C_{22}H_{32}O_8N$- Alkaloid, Asiaticoside-Glycoside, Vallerine, Regin, Pectic acid, Sterol, Fatty acid, Tannin, Volatile oil, Ascorbic acid, Asiatic acid etc

Shankh Puspi

FamilyConvolvulaceae

Latin nameConvolvulus Pluricaulis Chois

Chemical Composition- Sankh Puspin- Alkaloid,

Vacha

FamilyAraceae

Latin nameAcorus Calamus Linn. (Sweet flag)

Chemical Composition- It contains Asaryl aldehyde with two active ingredients A-Asarone and B-Asarone. Acorin, Eugenol, Caffeine are another components.

Jatamansi

FamilyValerianaceae

Latin nameNordostachys jatamansi DC

Chemical Composition- It contains about two percent volatile oil.

Tagar

FamilyValerianaceae

Latin nameValeriana Wallichii DC

Chemical Composition- The root contains Valrianic acid.

The underground rhizomes form the Indian Valerian, is derived form the plant Valeriana jatamansi belonging to the genus Valeriana Linn. of Valerianaceae. This family includes more than 250 species, distributed chiefly in the cold regions of the northern hemisphere. Many species also occur in the Chile, Brazil, South Africa, South and S.E. tropical Asia.

In *Ayurveda*, Indian Valerian is recognized by the Sanskrit name *Tagara* used in many *Ayurvedic* preparations for epilepsy (*apasmara*), abdominal colic (*udara shoola*), headache (*sirah shoola*), eye diseases (*akshi roga*) and disorders of *tridosha*.

Indian Valerian is prescribed as a remedy for nervous unrest and emotional troubles; is also used as incense, perfumery and as an insect repellent. The dried roots and rhizomes yield sweet smelling oil, which is used as an adjunct of certain flavors for tobacco, honey, and root beer types. The drug has also yielded a new group of Iridoid or monoterpene derivatives known as valepotriates, which are useful as tranquilizers and sedatives.

(V. Jatamansi), occurring only in the Himalayas and another species, V. hardwickii wall, is infrequently used in place of V. jatamansi; there is an ever increasing demand for the crude drug leading to its indiscriminate exploitation.

Valeriana arnottiana- it is a perennial rhizomatous herb with succulent roots, leaves are pinnate with long stalks are unequal in size; the leaves have 5-9 leaflets, the lowest pair is alternate while the others are opposite. Leaf margin is roughly teethed. Flowers are small and white appear in large dense clusters. The plant population is seen in the hills of Nilgiris and Palani.

Valeriana beddomii- the herbs that grow up to 30 cm tall, Leaves are pinnate. Leaflets are many narrow and usually linear with terminal ones being egg shaped.

Valeriana hookeriana- the plant is a perennial herb, which grows up to 100cm tall. Stem is smooth but bearded at the nodes. Leaves are pinnate.

Properties of Valeriana jatamansi as described in the classical texts of *Ayurveda-*

Rasa (taste)-*Tikta, kashaya,*

Virya (potency)- *Sita,*

Dosa karma (action on *dosas)- Kapha pitta nasaka, Vata nasaka*

Dhatu karma (action on *dhatus)- Rakta dosha hara*

Karma (action)- *Hrdya, Balya, Kanti-prasadin, Medhya, Madakari,*

Rogaghnata(indication)- *Tvak roga, Visa, Daha, Visarpa*

Part used:- Root;

Visishta yoga (formulation): *Mamsyadi kvatha, Raksoghna ghrta* etc.

These leaves sometime measure up to 50-cm. Flowers appear in compact clusters with a long stalk. Fruits are ridged and hairy. The plant is a herb stout rootstock grows up to 50 cm tall. Stem is smooth with hairy nodes. Flowers are pink and appear in small clusters with a long stalk. It is seen in the hills of Nilgiris. Chemical analysis of the underground parts of V. arnottiana has essential oil content is higher than V. jatamansi.

A number of pharmaceutical preparations are available and used for stress, anxiety, pain and insomnia containing aforementioned ingredients. Now the question arises, how does the combination works? Different pharmaceutical and clinical researches indicate that, this combination acts as a mild tranquillizer, brain tonic. It stimulates the neuronal activity and gives strength to the nerves. It also improves the memory. Many of the components are well-known brain and nervine tonic. It improves the mental function and improves the stress threshold. It has sedative and sleep-enhancing properties. It can potentiate the sleep enhancing properties of neuro humours. It is safe sedative/hypnotic choice in patients with mild to moderate insomnia. It is also used in patients with mild anxiety. These drugs have been used in *Ayurvedic* medicine for centuries as a nerve tonic.

It is well known for its memory enhancement, antiepileptic and immunomodulatorry properties in the traditional Indian system of medicine, With this combination Ayurveda, offering non-specific resistance (adaptogens) towards stress.

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २००९ अङ्क १२ (पृ०२४३-२४८)

EFFECT OF YOGA ON LOCUS OF CONTROL AND MENTAL HEALTH OF MALE STUDENTS OF KURUKSHETRA UNIVERSITY

Dr. Usha Lohan[2]

The purpose of this study was to examine the effect of yoga on locus of control and mental health of male students of Kurukshetra University, Kurukshetra. The sample consisted of 60 female students of age 18 through 25 years. Purposive sampling technique was used to draw a sample of 60 female students i.e. 30 yoga practitioners and 30 non- yogic female students of Kurukshetra University. Each subject completed the locus of control questionnaire (J. B. Rotter,s, 1966) which is a forced choice instrument, consisting of 29 pairs of statement. The results of the study showed that mental health and internalized locus of control scores of yoga practitioners are better than non-yoga practitioners. The students following yogic path have self constructive behavior. Yogic techniques including certain asana, pranayam, and meditation, dhyana, tratak etc. have been found quite useful and effective in managing behavior, mental strength and motivation for achievement. The non-yogic students have more scores on external locus of control scale i.e. they are under the control of powerful others like chance, fate, luck etc. They are less independent.

"Although yoga has existed in India from times before the memory of humanity...the need for its physical and psychospiritual benefits has never been greater than in the world today." – Joanna Cashman,

INTRODUCTION

Man is a social being. Every individual is unique in his personality. Just as physical fitness helps our bodies to stay strong, mental fitness helps us to achieve and sustain a state of good mental health. When we are mentally healthy, we enjoy our life and environment, and the people in it. We can be creative, learn, try new things, and take risks. We are better able to cope with difficult times in our personal and professional lives. The person who is emotionally and mental healthy always shows concerns for other. He or she has the ability to take care of his own and other closed ones. A person must have good self-esteem and self-confidence in order to remain physically and mentally active.

Mental health means much more than just the absence of mental illness. It is about physical and emotional well-being, about having the strength and capacity to live a full and creative life, and also the flexibility to deal with its ups and downs.

Yoga is a scientific system of physical and mental practices that originated in India more than three thousand years ago. According to Patanjali, yoga is "Yogaschittavritti Nirodhah" i.e.withdrawl of sense organs from the worldly objects. Geeta defines yoga as the "evenness of temper". Practically speaking, yoga is a science which deals with the health of the body and harmony of mind. Its ultimate objectives are 'self-identification' and 'self-perfection'. The yoga sutras are also aimed to attain this. The yoga sutras have five niyamas namely shaucha, santosha, tapas, swadhayaya and ishwarpranidhan, which helps us introspect and turn inward.

---

2. Department of Physical Education, K.U. Kurukshetra

When we turn inward and experience self-compassion, this naturally extends to others and ultimately helps us feel deeply grounded in life's meaning and purpose. Yoga is a way of communicating with the inner self, counteracting helplessness & weakness, increasing self-esteem and enhancing internal locus of control.

Locus of control is an expectancy variable which refers to a person's belief about what causes the good or bad results in his or her life, either in general or in a specific area such as health or academics. Locus of control was formulated within the framework of Rotter's "social learning theory of personality". The social learning theory suggests that behavior is influenced by social or environmental factors and not psychological factors alone, but the psychological situation represents the individual's unique combination of potential behaviors and their value to him or her. It is in the psychological situation that a person's expectations and value interact with the situational constraints to exert a powerful influence on behavior.

Locus of control can either be internal (when the person believes that s/he has a control on self or his/her life) or external (when one believes that the environment, some higher power, or other people control his decisions and life). Internal – LOC individuals are more likely to be achievement-oriented because they see that their own behavior can result in positive effects, and they are more likely to be high achievers as well(Findley & Cooper, 1983). An internal person believes that he has control over his fate and achievement and that effort and reward will be correlated operationally. Such person perceives oneself as having ability, skill, motivation, and other personal dispositions which are effective in manipulating the things in order to attain desired consequences. Persons having Internal LOC are more resistant to social pressures and dedicated to the pursuits of excellence and independence as compared to people with external locus of control. People exercising External LOC tend to be less independent and also are more likely to be depressed and stressed (Benassi, Sweeney & Dufour, 1988; Rotter, 1954). They are under the control of powerful others like chance, luck, fate etc. They perceive that 'the system' will determine how well he can do and those rewards are distributed by such powerful others in a random fashion.

In locus of control, yoga is a contemporary expression of qualities that have always been familiar to the world like emotional confidence, cognitive and behavioral autonomy, and presence of mental strength, self-awareness, self-efficacy and motivation for achievement by practising yogic exercises. Practicing yoga regularly helps one to face ebbs and lows of life with courage and valour.

Yoga, as a path to self-understanding, takes the awareness from the external to the internal and brings about a realization that the only true satisfaction that can be gained from this existence is through being at peace with oneself. No matter how much we externalize our being; there is nothing external that can give us lasting happiness or deep ongoing satisfaction. When we begin to understand that events and things cannot bring ongoing peace, we begin to understand that we have the means to this peace within.

The way we view ourselves has a direct bearing on what we believe which can affect relationships and our expectations of the world. Yoga is a tool for gaining body-mind awareness to enhance whatever spiritual/religious beliefs you have. A yoga session will leave you felling energized and relaxed. You will work your muscles and will properly align your bones; you will breathe deeply, oxygenating the lungs and blood; you will experience true deep relaxation. By bringing awareness to the body, and working the muscles, you are able to more deeply relax them then from any other form of exercise. You will gain a deeper appreciation of your body and mind through yoga in a way that no other exercise program will.

Yoga is a way of moving into stillness or peace. By following the path laid out by Patanjali, we begin to let go of outside influences and become more in tune with what is happening inside. Patanjali's eight fold path leads us inward and away from the external. Yoga provides a path that takes us from an external to an internal locus of control. In effect, by peeling away the layers of attachment to our body-mind complex and the 'things' of the world, we begin to move 'inside' and move closer to awareness of our true nature, the Self.

How one reacts to stress has more influence on wellness than the severity of the actual stress event. Positive coping behavior leads to healthy immune function, while poor coping behavior does just the opposite. Feelings of helplessness are especially destructive to immunity in times of stress, but as they decrease, the stress response lessens and the immune system flourishes. Through yoga, a practitioner develops and fine-tunes her or his body and experiences deep feelings of well-being that are available during relaxation, which is an integral and essential conclusion to a yoga practice. These combine to develop what is called in the psychological literature an internal locus of control.

The study was planned with the following objectives:-

- To study if significant differences exist in the LOC and mental health of yogic male students.
- To study if significant differences exist in the LOC and mental health of non-yogic male students.
- To find out the differences in the and internal LOC of yogic and non- yogic male students.
- To find out the differences in the and external LOC of yogic and non- yogic male students

HYPOTHESIS

There exists a significant difference between the loc and mental health of yogic and non- yogic male students.

METHODOLOGY

This research study employed descriptive survey method which is a comparative study of locus of control between yogic and non-yogic male students of Kurukshetra University, Kurukshetra. The sample consists of 60 male students of age 18 through 25 years. Purposive sampling technique was used to draw the sample of 60 male students i.e. 30 yogic practitioners and 30 non-yogic students from the population.

The researcher used the J. B. Rotter's scale (1966) for Locus of control. It is a self-administering test for college students. The administration of the test generally takes 20- 30 minutes. This scale is a forced choice instrument, which consist of 29 pairs of statements, out of which 23 are scored. There are 6 filler items (Item no. 1, 8, 14, 19, 24, 27), which are not scored.

Data analysis to compare the locus of control between yogic and non-yogic male students was done by computing't' values. The data collected are analysed and interpreted and results are presented in the following section:

TABLE- 1

SIGNIFICANCE OF DIFFERENCE BETWEEN THE MEAN EXTERNAL &

Group level	No. of subjects	Mean	S.D	SED	t-ratio	Significance level
Internal locus of control	30	14.57	3.29	0.86	7.058	Significance at 0.05 & 0.01 level
External locus of control	30	8.5	3.29			

Table -1 reveals that mean internal locus of control score of yogic male students is 14.57 which is higher than the external locus of control scores of yoga practitioners. The significance of difference between the mean locus of control scores of the two groups comes out to be 7.058, which is greater than the table value at both 0.05 and 0.01 level of significance. Hence, this can be interpreted to mean that there is a significant difference between the internal and external locus of control of yogic male students. The male students practicing yoga are found to have better internal locus of control.

TABLE- 2
SIGNIFICANCE OF DIFFERENCE BETWEEN THE MEAN EXTERNAL & INTERNAL LOCUS OF CONTROL SCORES OF NON-YOGIC MALE STUDENTS

Group level	No. of subjects	Mean	S.D	SED	t-ratio	Significance level
Internal locus of control	30	11.3	3.05	0.79	0.54	Significance at 0.05 & 0.01 level
External locus of control	30	11.73	3.05			

Table -2 reveals that mean external locus of control score of yogic male students is 11.73 which is higher than the internal locus of control scores of non- yogic practitioners. The significance of difference between the mean locus of control scores of the two groups comes out to be 0.54, which is greater than the table value at both 0.05 and 0.01 level of significance. Hence, this can be interpreted to mean that there is a significant difference between the internal and external locus of control of non- yogic male students. The male students not practicing yoga are found to have lesser internal locus of control.

TABLE- 3
SIGNIFICANCE OF DIFFERENCE BETWEEN INTERNAL LOCUS OF CONTROL SCORES OF YOGIC AND NON-YOGIC FEMALE STUDENTS

Group level	No. of subjects	Mean	S.D	SED	t-ratio	Significance level
Yogic internal locus of control	30	14.57	2.66	0.69	4.74	Significance at 0.05 & 0.01 level
Non- yogic internal locus of control	30	11.3	2.66			

It is evident from table-3 that the mean scores of yogic male students on internal LOC are 14.57 and that of non-yogic students are 11.3. This shows that the male students practising yoga have more internal locus of control as compared to non- practitioners. The significance of difference between the mean internal LOC scores comes to be 4.74 which is significant at both levels i.e. 0.05 and 0.01. Thus, an inference can be drawn that there is a significant difference between the internal LOC of yogic and non- yogic students.

TABLE- 4

SIGNIFICANCE OF DIFFERENCE BETWEEN EXTERNAL LOCUS OF CONTROL SCORES OF YOGIC AND NON- YOGIC MALE STUDENTS

Group level	No. of subjects	Mean	S.D	SED	t-ratio	Significance level
Yogic external locus of control	30	8.5	2.76	0.71	4.55	Significance at 0.05 & 0.01 level
Non- yogic external locus of control	30	11.73	2.76			

It is evident from table-4 that the mean scores of non- yogic male students on external LOC are 11.73 and that of yogic students are 8.5. This shows that the female students not practising yoga have more external locus of control as compared to yoga practitioners. The significance of difference between the mean external LOC scores comes to be 4.55 which is significant at both levels i.e. 0.05 and 0.01. Thus, an inference can be drawn that there is a significant difference between the external LOC of yogic and non- yogic students.

The analysis and interpretation of data led to the following results:

- There is significant difference between internal and external locus of control of yogic male students, as practice of yoga asana (postures) addresses wellness on a whole-body level. It helps in forming self-constructive behavior that is psychologically beneficial and health promoting which in turn increases the internal locus of control.

- There is significant difference between internal and external locus of control of non-yogic male students. The external locus of control is found to be higher in non-yogic male students as negative thinking lowers self-esteem and immune function in addition to creating physical tension.

- There is significant difference between internal locus of control of yogic and non-yogic male students, as yoga sadhna encourages slow and mindful movements of the body and breath.

- There is a significant difference between external locus of control of yogic and non-yogic male students.

Thus, it can be concluded that yoga reduces the effects of stress and induces feeling of calm and peacefulness, combats depression and anxiety, counteracts helplessness and weakness, thus increases self-esteem and internalized locus of control. Yogic techniques including certain

in managing behavior, mental strength and motivation for achievement. Mental Health is the balance between all aspects of life - social, physical, spiritual and emotional. It impacts on how we manage our surroundings and make choices in our lives - clearly it is an integral part of our overall health. To enjoy good mental health, it is essential to maintain a realistic but positive view of one self. Hence, it can be empirically stated that yoga provides a path that takes one from an external to an internal locus of control.

REFERENCES

Anderson, A. and Hamilton, R.J. (2005). Locus of control, self- efficacy, and motivation in different schools: Is moderation the key to success. *Journal of Psychology.* Vol.25 (5), 517-535.

Eleanor, C. (1989). *How yoga works: An introduction to somatic yoga.* Freeperson press.

Farhi, D. (2000). *Yoga mind, body, and spirit: A return to wholeness.* New York: Henry Holt & co.

Georg, F. and Stephen, B. (1993). *Living your yoga: A comprehensive guide for daily life.* Putnam publishers.

Julian, J. W. and Katz, S.B. (1968). Internal vs. external control and value of reinforcement. *Journal of Personality and Social Psychology.*

Kumar, A. and Pathak, N. (1986). Locus of control in female athletes and non-athletes. India: Proceedings of national conference on sports psychology.

Lester, D. and Young (1999). External vs. internal attributions in suicide and their implications for crisis intervention and suicide prevention. *Psychological Reports.* Vol. 85(2), 393-396.

Saraswati, V. (2005). *Practical yoga psychology.* India: Yoga Publication Trust.

Svagyana. (2008). Yoga –the internal locus of control. *Journal of Yoga.*

विद्वत्परिचय:

१. प्रो. ज्ञान प्रकाश शास्त्री, अध्यक्ष श्रद्धानन्द वैदिक शोधसंस्थान एवं सम्पादक गुरुकुल-शोध-भारती, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.
२. प्रो० अमरनाथ पाण्डेय, एन १/३०, ए-९ नगवा, वाराणसी-२२१००५
३. डॉ० रूप किशोर शास्त्री, रीडर वेद विभाग, गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उत्तराखण्ड)
४. डॉ० सत्यदेव निगमालंकार, रीडर-श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार.
५. डॉ नीरज शास्त्री, प्रोजेक्ट फैलो श्रद्धानन्द वैदिक शोधसंस्थान, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.
६. प्रो. मनुदेव बन्धु, अध्यक्ष वेद-विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
७. डॉ० दिनेश चन्द्र शास्त्री, रीडर वेद विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
८. डॉ० देवेंन्द्र कुमार गुप्ता, रीडर प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
९. डॉ० मीरा रानी रावत, रीडर-संस्कृत विभाग, आर्य कन्या महाविद्यालय, हरदोई
१०. डॉ० ब्रह्मदेव, रीडर संस्कृत-विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
११. डॉ० रविन्द्र कुमारी, नागपाल भवन, १४० पटेल नगर, हिसार हरियाणा पिन-१२५००१
१२. डॉ. ईश्वर भारद्वाज, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, मानवचेतना एवं योग विज्ञान विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
१३. डॉ० व्रजेश कुमार पाण्डेय, उपाचार्य संस्कृत-विभाग, राजकीय महिला महाविद्यालय, हल्द्वानी नैनीताल, उत्तराखण्ड।
१४. आराधना शोधछात्रा, छत्रपति शाहूजी महाराज विश्वविद्यालय, कानपुर
१५. डॉ० राजेश्वर मिश्र, आचार्य संस्कृत विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र
१६. डॉ० देवी सिंह. संस्कृत, पालि एवं प्राकृत विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र
१७. डॉ. श्रीमती लक्ष्मी मोर, अध्यक्षा संस्कृत-विभाग, आर. के.एस.डी. पी.जी. कालेज, कैथल
१८. डॉ० अर्चना श्रीवास्तव, वरिष्ठ प्रवक्ता संस्कृत-विभाग, महिला महाविद्यालय, किदवईनगर, कानपुर
१९. डॉ० अमित चौहान, अंशकालिक प्रवक्ता, (धर्म, दर्शन एवं संस्कृति) श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.
२०. डॉ. सोहनपाल सिंह आर्य, रीडर दर्शनशास्त्र विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.
२१. डॉ. भारत वेदालंकार, अंशकालिक प्रवक्ता (धर्म, दर्शन एवं संस्कृति) श्रद्धानन्द वैदिक शोध-संस्थान, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार
२२. डॉ० दीपा गुप्ता, प्रवक्ता प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, हरिद्वार, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उत्तराखण्ड)
२३. डॉ. विजय लक्ष्मी, संस्कृत प्रवक्त्री, एस. डी. कॉलेज, मुजफ्फरनगर (उ. प्र.)

२४. डॉ. कामना जैन, प्रवक्ता राजनीति विज्ञान विभाग, एस.एस.डी. (पी.जी.) कॉलेज, रुड़की, हरिद्वार
२५. डॉ० नरेन्द्र कुमार आर्य, अध्यक्ष संस्कृत विभाग, हे०न०ब०ग० केन्द्रीय विश्वविद्यालय स्वामी रामतीर्थ परिसर बादशाहीथौल, टिहरी गढ़वाल उत्तराखण्ड
२६. डॉ० उमाकान्तचतुर्वेदी, राष्ट्रीयसंस्कृतसंस्थानम्, त्रिवेणीनगरम्, जयपुरम्-३०२०१८
२७. डॉ० मञ्जुलता शर्मा, अध्यक्ष संस्कृत विभाग सैण्ट जॉन्स कॉलेज आगरा
२८. डॉ० सत्य प्रकाश शर्मा, वरिष्ठ प्रवक्ता, हिन्दी विभाग राज० स्नातकोत्तर महाविद्यालय लोहाघाट (उत्तराखण्ड)
२९. डॉ० श्रीमती गीता शुक्ला रीडर, संस्कृत विभाग भ०दी०आ० क० स्नातकोत्तर महाविद्यालय लखीमपुर-खीरी। आवास-द्वारा-श्री पंकज शुक्ला १४१/ए काशीनगर लखीमपुर खीरी उ०प्र० पिन २६२७०१
३०. डॉ० ललित कुमार गौड़,संस्कृत, पालि एवं प्राकृत विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र
३१. डॉ० मृदुल जोशी, प्रवक्ता हिन्दी विभाग, कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, हरिद्वार
३२. डॉ. श्रीधर मिश्र, गो०वि०वि०गोरखपुर
३३. डॉ. रवीन्द्र सिंह, वरिष्ठ प्रवक्ता, भारतीय संस्कृति एवं पर्यटन प्रबन्धन विभाग, देव संस्कृति विश्वविद्यालय, शान्तिकुंज, हरिद्वार.
३४. हरीश चन्द्र गुरुरानी शोधसहायकः, संस्कृतविभागः, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वारम्
३५. सुश्रुतः सामश्रमी, प्राध्यापक संस्कृत-विभाग, आर्य स्नातकोत्तर महाविद्यालय, पानीपत हरियाणा।
३६. डॉ. सुनील जोशी, राजकीय आयुर्वैदिक कालेज, गुरुकुल काँगड़ी, हरिद्वार.
३७. डॉ. उषा लोहानी, शारीरिक शिक्षा विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

शोधलेख विषयक दिशानिर्देश

-भारती गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय की षाण्मासिक शोध-पत्रिका है। यह प्रमुख रूप से वेद,
किक साहित्य, धर्म, दर्शन, संस्कृति, योग, आयुर्वेद तथा अन्य प्राच्यविद्या से सम्बन्धित शोधपरक
काशित करने के लिये कृतसङ्कल्प है।

-भारती में शोधनिबन्ध मूल्याङ्कन कराने के पश्चात् प्रकाशित किये जाते हैं। अतः विद्वान् लेखकों से
वे वही निबन्ध इस पत्रिका के लिये प्रस्तुत करें, जो सब प्रकार से शोध की कसौटी पर खरे हों।

मौलिक होना चाहिये। किसी अन्य विद्वान् की पुस्तक अथवा निबन्ध की नकल करके निबन्ध भेजना
ध तथा अपनी प्रतिभा का हनन है।

-भारती में केवल शोध-निबन्ध ही प्रकाश किये जायेंगे। जिनमें शोध-प्रविधि का प्रयोग नहीं किया
खों को प्रकाशित करना सम्भव नहीं होगा।

त्रिका में पूर्व प्रकाशित निबन्ध को पुनः प्रकाशित करने के लिये कृपया न भेजें। निबन्ध की मूलप्रति
: प्रकाशित करने के लिये भेजें।

में लेखक का निष्कर्ष सुसङ्गत, प्रमाणिक एवं तथ्यों पर आधारित तथा परम्परा से पोषित होना चाहिये।
ो बढ़ावा देने वाले निबन्धों को प्रकाशित करना सम्भव नहीं हो सकेगा, अतः अन्धविश्वास का समर्थन
बन्ध कृपया न भेजें।

-भारती में प्रकाशन हेतु शोधनिबन्ध की मूलप्रति प्रेषित करें, फोटो स्टेट प्रति स्वीकार्य नहीं होगी। साथ
त लेख भी स्वीकार नहीं होंगे। अतः विद्वानों से अनुरोध है कि टंकण के उपरान्त शोधन करके लेख
ससे लेख शुद्धतम रूप में प्रकाशित किया जा सके।

े अनुरोध है कि टंकण के समय **फुटनोट निबन्ध के अन्त में दें,** जिससे उनको यथास्थान प्रस्तुत करने में

समय यह ध्यान रखना अपेक्षित है कि निबन्ध **'कृतिदेव 010'** फोण्ट तथा साइज १४ में टाइप किया
क उपरान्त, शोधन करके सी.डी. बनवाकर प्रेषित करें।

े भी अपने निबन्ध प्रेषित कर सकते हैं। ईमेल का पता है – **gyanprakashshastri@gmail.com**
ईमेल के साथ-साथ लेखक को अपने शोधलेख की हार्ड कॉपी प्रेषित करना भी आवश्यक है, जिससे
लिये शोधलेख प्रेषित किया जा सके।

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

श्री स्वामी श्रद्धानन्द अनुसंधान प्रकाशन केन्द्र के प्रकाशन

क्र.सं.	पुस्तक का नाम	कीमत रु.
1.	स्वामी श्रद्धानन्द	500 रु.
2.	वेद का राष्ट्रिय गीत	200 रु.
3.	श्रुतिपर्णा	95 रु.
4.	वैदिक साहित्य संस्कृति एवं समाज दर्शन	500 रु.
5.	वेद और उसकी वैज्ञानिकता	300 रु.
6.	शोध सारावली	220 रु.
7.	भारतवर्ष का इतिहास (दो खंडों में)	350 रु. प्रति खंड
8.	क्लासिकल राइटिंग ऑन वैदिक एण्ड संस्कृत लिट्रेचर	80 रु.
9.	दीक्षालोक	500 रु.
10.	स्वामी श्रद्धानन्द के सम्पादकीय लेख	500 रु.
11.	स्वामी श्रद्धानन्द की सम्पादकीय टिप्पणियां	450 रु.
12.	कुलपुत्र सुनें	300 रु.
13.	ग्लिम्पस आर्फ इनवायरमेन्टल परसेप्ट्स ऑफ वैदिक लिट्रेचर	50 रु.
14.	स्वामी श्रद्धानन्द समग्र मूल्यांकन	300 रु.
15.	पं0 इन्द्रविद्यावाचस्पति कृतित्व के आयाम	300 रु.
16.	बातें मुलाकातें	125 रु.
17.	वेदों की वर्णन शैलियां	50 रु.
18.	हिन्दी काव्य को आर्यसमाज की देन	400 रु.
19.	श्रुति विचार सप्तक	500 रु.
20.	स्तूप निर्माण कला	55 रु.
21.	ईशोपनिषद्भाष्य	40 रु.
22.	इन्द्रविद्यावाचस्पति	40 रु.
23.	भारतवर्ष का इतिहास (तृतीय खंड)	55 रु.
24.	अग्निहोत्र	25 रु.
25.	वेद विमर्श	25 रु.
26.	आधुनिक भारत में वक्तृत्व कला की प्रगति	25 रु.
27.	आहार	35 रु.
28.	वैदिक वन्दना गीत	25 रु.
29.	ऋषिदेव विवेचन	25 रु.
30.	विष्णु देवता	25 रु.
31.	सोम	20 रु.
32.	ऋषि दयानन्द का पत्र व्यवहार	25 रु.
33.	अध्यात्म रोगों की चिकित्सा	40 रु.
34.	गुरुकुल की आहुति	12 रु.
35.	ब्राह्मण की गौ	25 रु.
36.	ऋषि-रहस्य	25 रु.
37.	धर्मोपदेश (भाग प्रथम और द्वितीय)	25 रु. प्रति खंड
38.	वैदिक कर्त्तव्य शास्त्र	40 रु.
39.	मेरा धर्म	500 रु.
40.	गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय कलेण्डर भाग-1	250 रु.

विश्वविद्यालय से प्रकाशित होने वाली पत्रिकाओं का विवरण

क्र.सं.	पत्रिका	मूल्य
1.	गुरुकुल पत्रिका	वार्षिक मूल्य 100 रु
2.	वैदिक पॉथ	वार्षिक मूल्य 100 रु
3.	प्राकृतिक एवं भौतिकीय शोध विज्ञान पत्रिका	वार्षिक मूल्य 500 रु
4.	आर्य भट्ट	वार्षिक मूल्य 100 रु
5.	गुरुकुल बिजनेस रिव्यू (GBR)	वार्षिक मूल्य 100 रु

नोट :-ये सभी पुस्तकें कुलसचिव, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के नाम ड्राफ्ट भेजकर निम्न पते से प्राप्त की जा[सकती] है। क्रमांक १ से १२ एवं क्रमांक १८ तथा १९ पर ५० प्रतिशत तथा अन्य सभी पुस्तकों पर २० प्रतिशत की छूट देय [है]।

पुस्तकें मंगाने का पता :- पुस्तकालयाध्यक्ष/व्यवसाय प्रबन्धक, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-२४९४०४ (उत्तरा[खण्ड])

मुद्रक : किरण ऑफसेट प्रिंटिंग प्रेस, कनखल, हरिद्वार फोन : 01334-245975, 9837007222